वेदों एवं पुराणों में आर्य एवं जनजातीय संस्कृति

स्कॉलस्टिका कुजूर

वेदों एवं पुराणों
में
आर्य एवं जनजातीय संस्कृति

वेदों एवं पुराणों
में
आर्य एवं जनजातीय संस्कृति

खण्ड 1

डॉ० स्कॉलस्टिका कुजूर
एम०ए० (द्वय), पी-एच०डी, डी० लिट्
आचार्य एवं भूतपूर्व अध्यक्ष,
संस्कृत विभाग, राँची विश्वविद्यालय, राँची

EASTERN BOOK LINKERS
EBL
ईस्टर्न बुक लिंकर्स
दिल्ली : : (भारत)
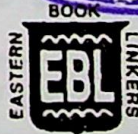
प्रकाशक :

ईस्टर्न बुक लिंकर्स

5825, न्यू चन्द्रावल, जवाहरनगर,
दिल्ली-110007
दूरभाष : 23850287, 32919869
e-mail : ebl@vsnl.net
books@eblindology.com
Web site: www.eblindology.com

प्रथम संस्करण : 2009

मूल्य : 3000.00 (2 भागों में)

ISBN : 978-81-7854-157-0 (2 भाग)
वेदों एवं पुराणों में आर्य एवं जनजातीय संस्कृति

टाईप सैट : अजय प्रिंटिंग वर्कस, दिल्ली

मुद्रक : आर. के. प्रिंट सर्विस, दिल्ली

शिखरस्थ शिक्षाविद् डॉ० अनुज कुमार धन

माननीय पूर्व सदस्य संघ लोक सेवा आयोग नई दिल्ली

कुलपति—केन्द्रीय विश्वविद्यालय नार्थ ईस्टर्न, हिल यूनिवर्सिटी शिलांग, पटना विश्वविद्यालय, पटना एवं राँची विश्वविद्यालय, राँची को सादर समर्पित

पुत्री :
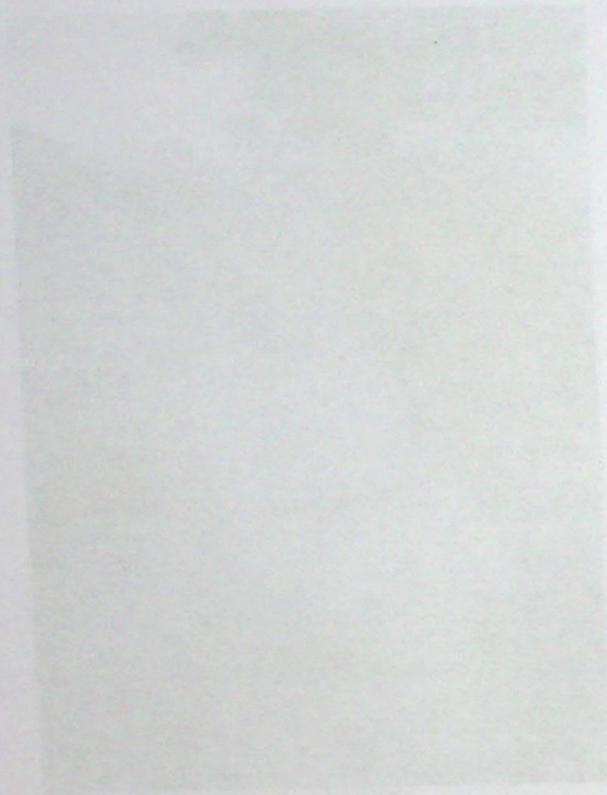
स्कॉलस्टिका कुजूर

भूमिका

वेदां एवं पुराणों में आर्य एवं जनजातीय संस्कृति (तुलनात्मक अध्ययन) नामक यह पुस्तक पाठकों की सेवा में प्रस्तुत है। विश्व संस्कृति एवं विश्व साहित्य के इतिहास में वेदों का स्थान अत्यन्त ही महत्वपूर्ण है। विश्व के सांस्कृतिक इतिहास की कितनी ही गुत्थियाँ वैदिक साहित्य की सहायता से सुलझाई जा सकती हैं। प्राचीन विश्व को संस्कृति का पाठ पढ़ाने वाले भारतीय आर्यों के रहस्य को वेद ही समझा सकते हैं। गौतम धर्मसूत्र के प्रथम सूत्र के अनुसार वेद ही धर्म का मूल है—वेदो धर्ममूलम् (1.1)। आर्यों की सामाजिक, आर्थिक, धार्मिक, राजनैतिक स्थिति को जानने के लिए वैदिक साहित्य को दो भागों में बाँटा गया है—(1) पूर्व वैदिक युग के साहित्य जिसमें वेद आते हैं और (2) उत्तर वैदिक युग की साहिताएँ, उपनिषद्, गृह्यसूत्र, धर्मसूत्र आदि ग्रन्थ आते हैं। मैंने आंशिक रूप से महाभारत और रामायण को भी छूने का प्रयास किया है।

वैदिक साहित्य से सामग्री के संकलन के लिए मेकडॉनल के "वैदिक-इण्डेक्स" और विश्वबन्धु द्वारा सम्पादित विभिन्न वैदिक ग्रन्थों की वैयाकरण पदसूचियों से विशेष रूप से सहायता मिली है। वैदिक साहित्य-विषयक ग्रन्थों में ऋग्वेदीय मन्त्रों के बहुत से परस्पर विरोधी अनुवाद मिलते हैं। अत: इन स्थलों के लिए गैल्डनेर द्वारा निर्धारित अर्थ को प्राय: प्रमाणिक माना गया है।

जनजातियों की संस्कृति लिखित नहीं है, यह बुजुर्गों द्वारा दूसरी पीढ़ी को दी जाती है। जनजातियों का कोई लिखित दस्तावेज या ग्रन्थ अपना नहीं है। फिर भी इनकी संस्कृति के अध्ययन के लिए मैंने मुंडा, उराँव, खड़िया पर लिखी गई शरतचन्द्र राय की पुस्तक को आधार माना है। फिर भी इनकी वास्तविक आर्थिक, धार्मिक, सामाजिक, राजनैतिक आदि स्थितियों को जानने के लिए मुझे इन जनजातियों के बीच सुदूर गाँवों में जाना पड़ा। अत: जनजातियों के बारे जो भी तथ्य मैंने दिए हैं, वे वास्तविक हैं। झारखण्ड एवं छत्तीसगढ़ के जनजातियों का ही इस पुस्तक में विशेष उल्लेख किया गया है।

प्रस्तुत पुस्तक छ: अध्यायों में विभक्त है। प्रथम अध्याय में संस्कृति का अर्थ प्रकृति एवं मूल तत्व पर प्रकाश डाला गया है। द्वितीय अध्याय में आर्य जाति के सामान्य परिचय में उनकी शारीरिक बनावट, मूलस्थान, व्यवसाय, धार्मिक विश्वास राजनैतिक अवस्था का सामान्य

परिचय दिया गया है। इसी प्रकार जनजातियों की सामान्य विशेषताओं पर प्रकाश डाला गया है तृतीय अध्याय में वैदिक संस्कृति पर विस्तार से चर्चा की गई है। इसके अन्तर्गत विज्ञान की दिशाएँ, कलाएँ, आर्यों की सामाजिक, राजनैतिक, धर्मिक जीवन, उनके आहार-विहार, वेश-भूषा पर गहरा अध्ययन करके ठोस तथ्य संकलन किए गए हैं।

चतुर्थ अध्याय में झारखण्ड एवं छत्तीसगढ़ में पाई जाने वाली मुख्य जनजातियों के बारे में विस्तार से बतलाया गया है। यहाँ मैं कहना चाहूँगी कि झारखण्ड में पाई जानी वाली मुख्य जनजातियाँ (उराँव, मुंडा, खड़िया, हो, संथाल, बिरहोर, असुर, सौरिया) का ही वर्णन हुआ है।

पंचम अध्याय में पौराणिक साहित्य एवं जनजातियों के धार्मिक विश्वास पर गहन शोध कार्य हुआ है। इस अध्याय में आर्य और प्राक् आर्य के समन्वय के सूत्रों पर शोध हुआ जिससे यह सिद्ध हुआ कि शिव अनार्यों के देवता हैं।

षष्ठ अध्याय में वैदिक देवता और जनजातियों के देवताओं पर विस्तार से चर्चा की गई है।

वैदिक आर्यों की संस्कृति को जानने के लिए मूल वैदिक ग्रन्थों को आधार बनाया गया है।

स्कॉलस्टिका कुजूर

राँची, 26 जनवरी 2009

विषय सूची

पृष्ठ सं.

पृष्ठ सं.

पृष्ठ सं.

अध्याय 3
आर्य जाति का विशिष्ट परिचय

पृष्ठ सं.

अध्याय 4
जनजातीय संस्कृति का स्वरूप

पृष्ठ सं.

अध्याय 5
आर्य तथा आर्येतर संस्कृतियों का समन्वय

अध्याय 6

आर्य और जनजातियों के धार्मिक विचारों का तुलनात्मक अध्ययन

पृष्ठ सं.

अध्याय 1

संस्कृति का स्वरूप

संस्कृति क्या है? इस प्रश्न को लेकर विद्वानों में बड़ा मतभेद रहा है। संस्कृति शब्द संस्कृत से निष्पन्न है। इसलिए अंग्रेजी शब्द 'कल्चर' से उसकी तुलना करके उसकी व्यापक अर्थाभिव्यक्ति को ग्रहण करना संभव नहीं। सम् उपसर्ग कृ धातु से भूषण में सुट् आगम और क्तिन् प्रत्यय जोड़कर 'संस्कृति शब्द बनता है। अतः मनुष्य की भूषणयुक्त सम्यक् कृति या चेष्टाएँ ही 'संस्कृति' हैं। मनुष्य की चेष्टाओं का क्षेत्र जितना विस्तृत है, संस्कृति का क्षेत्र भी उतना ही विस्तृत है। इस दृष्टि से किसी देश तथा जाति की संस्कृति की जानकारी प्राप्त करने के लिए उसके साहित्य, आचार-विचार और धर्म आदि की जानकारी प्राप्त करनी आवश्यक है।

हम देखते हैं कि आज इतने सुविस्तृत मानव-समाज की सभी जातियों एवं धर्मों की संस्कृतियों में कुछ बातें समान हैं। ऐसी बातें जो समस्त मानवता पर समान रूप से लागू होती हैं, अतः वे जन सामान्य द्वारा सहज ही स्वीकृत हैं। इतिहास के संदर्भ में यदि इसका मूल कारण खोजा जाये तो यही सिद्ध होता है कि मनुष्य अपनी मूलावस्था में एक था और संस्कृति उसकी एकता का दृढ़ आधार थी। उसी के द्वारा विश्व समाज को एकमंच में बैठाया जा सकता है। जातियों, राष्ट्रों और व्यक्तियों के द्वारा कल्पित सीमाओं, पन्थों एवं मतभेदों के बावजूद भी उनमें जो मानवता का भाव अन्तर्निहित है वही 'संस्कृति' है।

'संस्कृति' शब्द का आज जिस अर्थ में प्रयोग हो रहा है, उससे उसकी वास्तविकता संकुचित हो गई है। भारतीय वाङ्मय, परम्पराओं और जीवन में संस्कृति की जो निरन्तर धारा आदि काल से प्रवाहित होती चली आ रही है, उसको उस रूप और अर्थ में नहीं लेने के कारण प्रायः आलोचकों द्वारा यह कहा गया है कि 'संस्कृति' की दृष्टि से भारत का स्तर ऊँचा नहीं है। परन्तु स्थिति सर्वथा इसके विपरीत है। भारतीय मनीषियों ने संस्कृति के आधार को उच्च पैमाने पर किया है। संक्षेप में कहा जा सकता है कि भारतीय दृष्टि से संस्कृति को मानव-धर्म के रूप में स्वीकार किया गया है। मानव जीवन के जो संस्कार और परिष्कार हैं, जिनमें 'मानवता' का निर्माण हुआ है, वे ही संस्कृति के मूल उपादान हैं। उन्हीं से भारतीय संस्कृति की उदात्त एवं व्यापक परम्परा का प्रवर्तन हुआ है। जीवन को संस्कृत और परिष्कृत कैसे बनाया जा सकता है, इसका विश्लेषण आचार प्रधान धर्मशास्त्रीय ग्रन्थों में किया गया है। वहाँ सर्वप्रथम चरित्र को उन्नत बनाने की शिक्षा दी गई है। चरित्र को उन्नत बनाने के लिए अच्छे

आचारों, अच्छे विचारों और संस्कारों की आवश्यकता है। इन सदाचारों, सद्विचारों एवं संस्कारों का संबंध वैयक्तिक तो होता ही है, किन्तु उससे समस्त मानव समाज भी प्रभावित होता है। भारतीय दृष्टि से व्यक्ति-व्यक्ति का चरित्र ही राष्ट्र के चरित्र का निर्माण करता है। व्यक्ति-व्यक्ति की उपलब्धियाँ जब व्यापक हो जाती हैं तो उन्हें राष्ट्रीय प्रतीक के रूप में मान्यता प्राप्त हो जाती है, तब वे 'संस्कृति' के नाम से जानी जाती हैं।

साहित्यकारों ने सामाजिक आकर्षण एवं बौद्धिक श्रेष्ठता को प्रकट करने के लिए 'संस्कृति' शब्द का प्रयोग किया है। संस्कृत और संस्कृति दोनों ही शब्द 'संस्कार' से बने हैं। संस्कार के अर्थ हैं कुछ कृत्यों की पूर्ति करना। एक मनुष्य सामाजिक जीवन में विभिन्न प्रकार के संस्कार सम्पन्न करता है। इस क्रम में उसे विभिन्न प्रकार की भूमिकायें निभानी पड़ती हैं। अत: संस्कृति का अर्थ हुआ, विभिन्न संस्कारों— द्वारा सामूहिक जीवन के लक्ष्य की प्राप्ति।

संस्कृत एक ऐसा शब्द है जिसे विभिन्न व्यक्ति विभिन्न अर्थों में प्रयोग करते हैं। एक साहित्यकार इस शब्द को जिस अर्थ में लेता है, वह एक साधारण व्यक्ति की कल्पना से भिन्न होता है। यद्यपि यह शब्द साधारण दीखता है, फिर भी इसकी वैज्ञानिक ढंग से परिभाषा देना अत्यन्त कठिन है। साधारण बोल चाल की भाषा में संस्कृति का अर्थ शील स्वभाव, सभ्य व्यवहार तथा मधुर वाणी आदि है, किन्तु मानव-विज्ञान में इसके अर्थ व्यापक हैं।

मनुष्य पशु से भिन्न है। पशु समाज के पास संस्कृति नाम की कोई वस्तु नहीं, जबकि संस्कृति मानवीय समाज की प्रमुख विशेषता है। मनुष्य को प्रकृति की ओर से कुछ ऐसी मानसिक तथा शारीरिक विशेषताएँ प्राप्त हैं, जिनके कारण वह संस्कृति का निर्माण करने के योग्य हो सका है। सब से सर्वोच्च मनुष्य का विकसित मस्तिष्क है। उसकी मेधावी शक्ति उसकी सब से बड़ी शक्ति है जो उसे अन्य प्राणियों से अलग कर देती है। इसी मानसिक शक्ति के कारण मनुष्य प्रतीक (Symbol) बनाकर उन्हें अर्थ प्रदान करता है। इसी आधार पर भाषा का विकास हुआ और भाषा ने मानवीय संस्कृति के आदान-प्रदान तथा प्रसार में अधिक सहायता पहुँचाई।

संस्कृति मानवीय समाज की प्रमुख विशेषता है। विद्वानों के विचारों को देखने से पूर्व हम संस्कृति के विषय में कुछ जान लें—

समाज वह जन समूह है, जिसके उद्देश्य समान हैं, और जिसके सदस्य परस्पर सहयोग से जीवन यापन करते हैं। समाज का निर्माण उसके प्रत्येक और सभी लोगों के लाभ के लिए कुछ सर्वस्वीकृत मान्यताओं के आधार पर होता है। समाज इन्हीं मान्यताओं द्वारा संचालित होता है। ये मान्यतायें, सामाजिक आवश्यकता के अनुसार परिवर्तित होती रहती हैं। प्रत्येक व्यक्ति को समाज के नियम, सिद्धान्त, प्रतिमान तथा मूल्यों का पालन करना पड़ता है। ये पद्धतियाँ, प्रतिमान समाज में एक पीढ़ी को हस्तान्तरित किये जाते हैं, और इन्हें सामाजिक विरासत के रूप में स्थापित किया जाता है। इस प्रकार यह सम्पूर्ण प्रणाली, ज्ञान, प्रतिमान, मूल्य तथा प्रथाएँ समाज की अभौतिक संस्कृति बन जाती हैं। इसी प्रकार मनुष्य अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए तथा अपने जीवन में सुख प्राप्ति के लिए कुछ यन्त्रों, उपकरणों, भवनों तथा मशीनों का निर्माण करता है, जिन्हें भौतिक संस्कृति कहा जा सकता है। संस्कृति के ये दोनों पक्ष

भौतिक तथा अभौतिक मानव द्वारा निर्मित हुए हैं, और मानवीय समाज की मुख्य विशेषता के रूप में स्थित हैं।

संस्कृति इस प्रकार उन सारे भौतिक और अभौतिक वस्तुओं की सम्पूर्ण ईकाई है, जिन्हें मनुष्य ने अपने सामाजिक जीवन में निर्माण किया है। इसके विपरीत प्रकृति उन वस्तुओं का प्रतीक है, जिन्हें मनुष्य द्वारा नहीं बनाया गया है जैसे जल, थल, पहाड़, वायु, लकड़ी, लोहा इत्यादि।

संस्कृति की निम्नलिखित एक परिभाषा भी द्रष्टव्य है—

संस्कृत के जिस धातु और प्रत्यय के योग से यह शब्द व्युत्पन्न हुआ है, उसके अनुसार संस्कृति का अर्थ है— अलंकृत, सम्यक् कृति अथवा चेष्टा। जिन रचनाओं और चेष्टाओं से मनुष्य अपने जीवन के सभी क्षेत्रों में उन्नति करता हुआ सुख-शान्ति की व्यवस्था करता है, उसे संस्कृति कहेंगे। संस्कृति का अर्थ है— सजाना, संवारना, पवित्र करना आदि। संस्कृति शब्द संस्कार से भी जुड़ा है, जिसका अर्थ है— पूरा करना, शिक्षा, अंतः शुद्धि आदि संस्कृति से मुख्यतः अन्तःकरण के संस्कार का अर्थ लिया जाता है, यों कुछ लोग इसे सभ्यता का भी पर्याय मान लेते हैं जबकि ये दोनों ही अलग-अलग होती हुई भी परस्पर संबद्ध हैं। सभ्यता यदि मनुष्य के वाह्य विकास का नाम है, तो संस्कृति मनुष्य की आंतरिक चेतना के विकास की संज्ञा। सभ्यता से उन आविष्कारों, उत्पादन के साधनों और सामाजिक-राजनीतिक संसाधनों का अर्थ लिया जाता है, जिनसे मनुष्य की जीवन यात्रा सरल हो जाती है। इसके विपरीत चिंतन और कलात्मक सृजन की क्रियाओं को संस्कृति कहते हैं, जो जीवन के लिए प्रत्यक्षतः उपयोगी न होती हुई भी उसे समृद्ध बनाती हैं। इस दृष्टि से विभिन्न शास्त्रों-दर्शनों में होने वाले चिंतन, साहित्य, चित्र, मूर्ति, नृत्य-संगीत, आदि कलाओं तथा लोकोपकार आदि के नैतिक आदर्शों एवं व्यापारों को संस्कृति कहा जाता है। रेल, तार, वायुयान आदि वैज्ञानिक आविष्कार आदि सभ्यता के चिन्ह हैं, तो सत्य, त्याग, काव्य, दर्शन अदि संस्कृति के प्रतीक हैं। इस प्रकार मनुष्य की आंतरिक चेतना का नाम ही संस्कृति हैं। सत्य, अहिंसा, प्रेम, दया, क्षमा, आदि आत्मिक मूल्यों का महत्व किसी क्षेत्र विशेष तक सीमित नहीं, वह सार्वभौम है। इसी से आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी कहते हैं— ''मैं संस्कृति को किसी देश विशेष या जाति विशेष की अपनी मौलिकता नहीं मानता। मेरे विचार से सारे संसार के मनुष्यों की एक सामान्य मानव संस्कृति हो सकती है, यह दूसरी बात है कि वह व्यापक संस्कृति अब तक संसार में अनुभूत और अंगीभूत नहीं हो सकी है।''

सामान्य मानव संस्कृति की भावना स्वीकृत नही हो सकी, वो आंतरिक चेतना की अपेक्षा वाह्य व्यापारों पर ध्यान के कारण, संस्कृति की अपेक्षा सभ्यता को अधिक महत्व देती है इसी से विभिन्न संस्कृतियों की चर्चा होने लगी है। पाश्चात्य संस्कृति, आदिवासी संस्कृति आदि। हर क्षेत्र के लोग अपनी संस्कृति को विशिष्ट और सम्मानजनक मानने लगे हैं। इसी से विभिन्न संस्कृतियों में इतना वैषम्य दीखने लगा है और आपसी संघर्ष सामने आने लगे हैं। देश-काल के अनुसार वाह्य रूप एवं कर्तव्य व्यापार में विषमताएँ तो रहेंगी ही, क्योंकि परिवर्तन प्रकृति का शाश्वत नियम है— परिवर्तन वो लोग चाहें या न चाहें, होंगे ही। किसी एक का प्रभाव दूसरे पर पड़ेगा ही। कोई भी संस्कृति सदा एक समान नहीं रह सकती। उस पर बदलते हुए समय का प्रभाव तो पड़ेगा ही। भारतीय संस्कृति को ही लें, तो वह आज

अनेक संस्कृतियों के मेल से बनी हई संस्कृति है। इसका अतीत आश्रित मूल स्वरूप आज भी बना रहे, इसकी कल्पना नहीं की जा सकती।

आज पूरा विश्व सांस्कृतिक संकट के दौर से गुजर रहा है। आज संस्कृति की क्या स्थिति है? सभ्यता ने संस्कृति को पराजित कर दिया है। भौतिकवादी दृष्टि ने मनुष्य को इतना आक्रान्त कर रखा है कि उसका विवेक समाप्त हो गया है। आज हम झूठ, बेइमानी, हिंसा, विद्वेष और संघर्ष के युग में हैं। संस्कृति के नहीं, विकृतियों के युग में हैं। अपने देश को ही लें, हर स्तर पर भ्रष्टाचार व्याप्त है। लोग सत्ता और लोभ के लिए कोई भी कुकर्म करने को तैयार हैं— डॉ. सिद्धनाथ कुमार-तरंग भारती 1 मई 2003 समाज, मनुष्य और संस्कृति का संबंध।

प्रसिद्ध युनानी दार्शनिक अरस्तू का कथन है कि मनुष्य एक सामाजिक प्राणी है। वह अपने सहयोगियों के साथ जीवन व्यतीत करने में सुख का अनुभव करता है। वह समाज में ही जन्म लेता है और समाज में ही रहकर अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति करता है। जिस मनुष्य में यह गुण नहीं होता, उसे पशु या देवता समझना चाहिये। वस्तुतः समाज के अभाव में मनुष्य की और मनुष्य के अभाव में समाज की कल्पना ही नहीं की जा सकती है। हाब्स, लाक तथा रूसो ने मनुष्य और समाज के संबंध को सामाजिक समझौते के सिद्धान्त पर आधृत माना है। इस सिद्धान्त के अनुसार शक्तिशाली लोगों ने अपनी स्वतंत्रता की रक्षा के लिए मिलजुलकर समझौते के आधार पर एक व्यवस्था बनायी, और उसे ही समाज कहा गया। मानव इतिहास में कभी ऐसा समय नहीं रहा है, जब मनुष्य रहा हो और उसका समाज न हो।

व्यक्ति और समाज के संबंधों की व्याख्या करने की दृष्टि से यह सिद्धांत अपूर्ण है, क्योंकि समाजीकरण और व्यक्ति के विकास के लिए समाज का होना आवश्यक है। जब तक मनुष्य अन्य मनुष्यों के संपर्क में नहीं रहेगा, तब तक वह सच्चे अर्थों में मनुष्य नहीं हो सकता। मैकाइबर और पेज ने बताया कि मनुष्य सामाजिक विरासत की देन है, अर्थात्-संस्कृति के आधार पर ही मनुष्य के विकास, मूल्य, प्रवृत्तियों आदि का निर्माण होता है। मनुष्य अपने समाज की परम्पराओं, प्रथाओं और आचरण संबंधी नियमों से परिचित होने पर ही उचित, अनुचित का निर्णय करता है। इस संस्कृति का निर्माण विभिन्न युगों के चिन्तन,एवं प्रयत्न के आधार पर होता है। संस्कृति समाज विशेष के लोगों का सीखा हुआ व्यवहार है और शताब्दियों का संचित ज्ञान है। इसमें ज्ञान, विकास परम्परा, प्रथाएँ, सामाजिक मूल्य, धर्म और मानव निर्मित सभी वस्तुएँ एवं उपकरण आ जाते हैं। संस्कृति सामाजिक संरचना और सामाजिक व्यवस्था दोनों को प्रभावित करती है। जैसे-जैसे किसी समाज विशेष की संस्कृति में परिवर्तन आता है, वैसे-वैसे समाज में परिवर्तन आता है। संस्कृति के आधार पर ही यह निश्चित होता है कि समाज विशेष के व्यक्ति कैसा व्यवहार करेंगे। इस प्रकार स्पष्ट है कि व्यक्ति और समाज का संबंध अन्योन्याश्रित है और इन दोनों के जीवन की गति का नियमन संस्कृति द्वारा होता है।

संस्कृति और सभ्यता

संस्कृति और सभ्यता के पारस्परिक संबंध को लेकर अनेक विद्वानों ने अनेक तरह के मत निर्धारित किये हैं। किसी ने दोनों को भिन्न और किसी ने अभिन्न सिद्ध किया है।

तुलनात्मक दृष्टि से यदि दोनों की प्रकृति का अध्ययन किया जाये, तो प्रतीत होता है कि संस्कृति का आधार मुख्यतः आचारों और सभ्यता का आधार मुख्यतः विचारों से है। आचारों से प्रकृति का और विचारों से सभ्यता का निर्माण हुआ है। इस दृष्टि से आचारों और विचारों का जो पारम्परिक संबंध है। संस्कृति और सभ्यता का समान्यत: वही संबंध है। किसी दुराचारी व्यक्ति में सद्विचारों का योग होना संभव नहीं है। इसी प्रकार किसी विचार शून्य व्यक्ति में सदाचारों का होना प्रायः कठिन है। इससे यह सिद्ध होता है कि आचारों और विचारों का परस्पर अभिन्न संबंध है। अतः संस्कृति और सभ्यता दोनों परस्परापेक्ष्य सिद्ध होती हैं।

सभ्य शब्द का सामान्य अर्थ होता है शिष्ट। सभ्य से सभ्यता शब्द बनता है, जिसका अर्थ हुआ शिष्टता। सभ्यता या शिष्टता एक सामाजिक गुण है। मनुष्य एक सामाजिक प्राणी है और सभ्यता का उदय भी समाज से ही हुआ है। इस दृष्टि से मानव का सभ्यता से गहरा संबंध है। किसी व्यक्ति तथा राष्ट्र या जाति की सभ्यता का ज्ञान उसके रहन सहन रीति रिवाज, खान-पान तथा भाषा साहित्य से किया जाता है। यही आचार शास्त्र है। ये आचार ही संस्कृति के मापक, परिचायक और निर्धारक हैं। संस्कृति का सामान्य अर्थ होता है संस्कार करना या परिमार्जन करना। संस्कारहीन व्यक्ति को कोई सभ्य नहीं कह सकता है। इस रूप में भी संस्कृति का संबंध आत्मा, मन तथा अन्तःकरण से है। संस्कृति के द्वारा उच्च्व मानसिक उपलब्धि होती है। उपलब्धि का क्षेत्र भौतिक भी हो सकता है और आध्यात्मिक भी। किसी संस्कृत व्यक्ति से तात्पर्य उसके उन गुणों से होता है, जो उसके चरित्र, मन और आत्मा में निहित होते हैं। सभ्यता भी एक गुण है, जो कि व्यक्ति तथा समाज द्वारा उत्पादित होता है।

संस्कृति और सभ्यता की पहचान के लिए उनका सूक्ष्म विश्लेषण आवश्यक है। ज्ञान दो प्रकार के हैं— एक अनुभवजन्य और दूसरी बुद्धिजन्य। अनुभवजन्य ज्ञान संस्कृति का और बुद्धिजन्य ज्ञान सभ्यता का आधार है। अनुभवजन्य ज्ञान सत्य और बुद्धिजन्य ज्ञान परिवर्तनशील होने के कारण संस्कृति नित्य और सभ्यता परिवर्तनशील होती है। इस दृष्टि से संस्कृति किसी व्यक्ति द्वारा उत्पादित नहीं हो सकती। उसका संबंध जन समुदाय से है। किन्तु सभ्यता व्यक्ति द्वारा उत्पादित होती है।

संस्कृति और सभ्यता में कोई विशेष अन्तर नहीं है। दोनों के उपादान तथा आधार एक हैं। वे उपादान हैं भूमि, जल, वायु, आचार-विचार, वेश-भूषा और भाषा साहित्य। रहन सहन की जो शिष्टता या सम्यक् चेष्टा है उसे ही सभ्यता कहा गया है। उसी सम्यक् चेष्टा का नाम संस्कृति है। संक्षेप में कहा जा सकता है कि दोनों सर्वथा असम्बद्ध न होते हुए भी परस्पर भिन्न हैं। संस्कृति का संबंध अंतर्जगत और सभ्यता का वाह्य जगत से है।

भौगोलिक परिवेश एवं संस्कृति

यह निर्विवाद सत्य है कि मनुष्य के सामाजिक जीवन पर भौगोलिक परिवेश का विशेष प्रभाव पड़ता है। मनुष्य के सामाजिक, आर्थिक, राजनीतिक और शारीरिक पक्षों के साथ ही उसके सांस्कृतिक विकास पर भी भौगोलिक परिवेश का प्रभाव पड़ता है। विद्वानों के एक वर्ग ने इसे भौगोलिक निश्चयवाद की संज्ञा दी है। इनके अनुसार मनुष्य का प्रत्येक क्रियाकलाप भौगोलिक परिवेश (पर्यावरण) से ही निर्धारित होता है। इसी के अन्तर्गत नक्षत्रों, ग्रहों और भौगोलिक दशाओं का संबंध, ज्योतिषशास्त्र, मानव जीवन से जोड़ते हैं, इस मत का समर्थन यूनानी विचारक और भारतीय चिन्तकों ने भी किया है। अंग्रेजी

इतिहासकार थामस वकल ने संस्कृति पर भौगोलिक प्रभाव का उल्लेख करते हुए कहा है, ''मनुष्य'' के व्यवहार से लेकर सभ्यता, धर्म और विज्ञान तक सभी दिशाएँ भौगोलिक पर्यावरण का ही परिणाम हैं। फ्रांसीसी दार्शनिक विक्टर कार्लिन का कथन है, ''मुझे एक देश का मानचित्र दे दीजिए, उस देश की स्थिति, जलवायु और समस्त प्राकृतिक दशाओं को बता दीजिए, उसकी प्राकृतिक उपज, वनस्पति तथा जीव जन्तु दे दीजिए और मैं पहले ही यह बता देने का दावा करता हूँ कि उस देश के व्यक्ति क्या होंगे और उनका इतिहास में क्या स्थान होगा। यह कथन अल्पकालीन नहीं वरन् सभी युगों में सत्य है।''

भौगोलिक परिवेश संस्कृति के विभिन्न पक्षों, जैसे— खान-पान, वेश-भूषा, आवास-प्रतिमान, कला, साहित्य, प्रथाओं आदि को भी प्रभावित करता है। मनुष्य जिस स्थान पर रहता है, वहाँ उत्पन्न होने वाली वस्तुओं का खान-पान में प्रयोग करता है। जैसे समुद्र के किनारे रहने वाले मछली खाते हैं, बंगाल के लोग चावल और मछली का प्रयोग करते हैं। उसी प्रकार ठंढे स्थानों के लोग मांस और शराब का अधिक प्रयोग करते हैं, जबकि गर्म प्रदेश के लोग प्रायः शाकाहारी होते हैं। भौगोलिक परिवेश से साहित्य और कला पर भी प्रभाव पड़ता है। जैसे पहाड़ी क्षेत्र के लोग तीव्र स्वर वाले वाद्यों का प्रयोग करते हैं, जबकि मैदानी क्षेत्र के लोग मन्द स्वर वाले यन्त्रों का। इसी तरह भौगोलिक परिवेश से मनुष्य के व्यवहार पर भी प्रभाव पड़ता है। लोम्ब्रोसो नामक विद्वान् का कथन है कि समतल भूमि में अपराध कम और घाटियों और पहाड़ों पर अधिक होते हैं। इसी तरह ठंढे स्थानों के निवासियों की कार्यक्षमता अधिक होती है जबकि गर्म स्थान के लोगों की कम।

यद्यपि भौगोलिक पर्यावरण का प्रभाव मनुष्य के सांस्कृतिक विकास की गति निश्चित करने वाले कारकों में महत्वपूर्ण है, फिर भी भौगोलिक परिवेश को मनुष्य अनुकूल बनाकर अपने मनोकूल सांस्कृतिक विकास करने में अनेक अवसरों पर सक्षम रहा है।

भौगोलिक परिवेश और संस्कृति के पारस्परिक संबंधों के विश्लेषण से स्पष्ट है कि भौगोलिक परिवेश, सांस्कृतिक विकास को प्रभावित करता है। किन्तु वैज्ञानिक आविष्कारों के प्रयोग द्वारा मनुष्य भौगोलिक परिवेश की दासता से कम मुक्त होता जा रहा है। इसीलिए कहा जाता है कि मनुष्य पहले प्रकृति का दास था किन्तु अब स्वामी होता जा रहा है।

मनुष्य न केवल वस्तु जगत के विषय में वरन् स्वयं अपने विषय में भी परिभाषाएँ गढ़ता और तोड़ता रहता है। सदियों तक यही कार्य करने के बावजूद वह आज भी एक स्वल्प परिभाषित प्राणी बना हुआ है। अब, जब कि ज्ञान के नये क्षितिज निरन्तर उद्घाटित होते जा रहे हैं और पहले की तरह किसी अन्तिम और पूर्ण ज्ञान की कल्पना अस्वीकृत हो गई है, यही मानना अधिक संगत होगा कि सापेक्ष रूप में यह स्थिति सम्भवतः सदैव बनी रहेगी।

पिछली दो शताब्दियों में उसकी कुछ नयी परिभाषाएँ विकसित हुई हैं। उनमें एक यह है कि मनुष्य संस्कृति-निर्माता प्राणी है। यह परिभाषा उसके संबंध में प्रचलित कई परिभाषाओं से अधिक संगत है, क्योंकि संस्कृति उसकी निजी उपलब्धि है, एक वैसी विशेषता जिसमें किसी दूसरी जाति की साझेदारी नहीं है। इसका कारण यह है कि संस्कृति की व्याख्या न तो केवल जैविकता के आधार पर की जाती है और न केवल सामाजिकता के आधार पर। यह बात दूसरी है कि न केवल मनोवैज्ञानिक,

वरन् कुछ मानव वैज्ञानिक भी इसकी प्रकृति का विश्लेषण केवल सहज प्रवृत्तियों और जैवी प्रवेगों के आधार पर करते हैं। जैसे यह कहा गया है कि ''मानव जाति की वैवाहिक संस्था कोई पृथक् घटना नहीं है, वरन् इसका प्रतिरूप कई पशु जातियों में विद्यमान है, और वह शायद किसी प्राक्-मानव पूर्वज से प्राप्त विरासत है। (वेस्टर मार्क : मानव विवाह-संस्था का इतिहास, प्रथम खण्ड: 1922-72) यह सही है कि अन्य जीव-जातियों की तरह मनुष्य में भी यौन भावना पायी जाती है, लेकिन इससे अधिक से अधिक यही प्रमाणित होता है कि उनकी तरह उसमें भी युग्मन की प्रवृत्ति विद्यमान है। इससे न तो विवाह-संस्था की व्याख्या की जा सकती है न विश्व में फैले विवाह प्ररूपों की। इनकी व्याख्या सांस्कृतिक इतिहास की अपेक्षा में ही सम्भव है। इसका अर्थ यह नहीं कि संस्कृति का जैविकता से कोई संबंध नहीं, बल्कि यही है कि यह जैविकता का बढ़ाव होते हुए भी उसका अतिक्रमण है। जैवी आनुवंशिकता के आधार पर संस्कृति की व्याख्या नहीं की जा सकती, क्योंकि यह आनुवंशिकता न होकर अर्जन है। आनुवंशिकता चींटी के लिए पीढ़ी दर पीढ़ी वह सब सुरक्षित रखती है, जो कि उसे प्राप्त है। लेकिन आनुवंशिकता सभ्यता के एक कण, एक विशिष्ट मानव प्राणी को भी कायम नहीं रखती और न रख सकी है, क्योंकि यह (उसे) कायम नहीं रख सकती है। (क्रोवर: 1917:178)। मानवाकार वानरजातियाँ सामाजिक हैं और व्यूहलर तथा अन्य जीव वैज्ञानिकों ने यह बतलाया है कि उनमें मनुष्य की तरह ही बुद्धि, अन्तर्दृष्टि और रचनात्मकता जैसी शक्तियाँ प्राप्त हैं। इसके बावजूद वे संस्कृति रहित हैं। इसके विपरीत, संस्कृति रहित मानव समाज एक असम्भवता है। इसका एक कारण बताया जाता है, मानव मस्तिष्क का विशेष स्वरूप। इससे मनुष्य में प्रतीकीकरण की क्षमता उत्पन्न हुई है। इस क्षमता से भी बड़ा कारण भाषा है। संरक्षण और संवहन की यह विशुद्ध मानवीय प्रक्रिया जो संस्कृति को सम्भव बनाती है, भाषा का ही अवदान है। अन्यथा व्यक्ति के स्वाभाविक गठन में बस जाने वाले विचार-और व्यवहार के सामूहिक अभ्यास कभी सम्भव नहीं हो पाते।

ये बातें अपने आप में इतनी स्पष्ट एवं स्वीकार्य हैं कि इस पर बहस की कोई विशेष सम्भावना नहीं है। सबसे बड़ी कठिनाई संस्कृति शब्द के अभिप्राय के संबंध से है। इसके सामान्य से लेकर शास्त्रीय प्रयोग तक विवादास्पद बने हुए हैं। यही कारण है कि कुछ समाज वैज्ञानिकों ने इसके अर्थगत अनिश्चय के कारण, इसके प्रयोग का बहिष्कार उचित माना है। लेकिन यह एक आत्यन्तिक धारणा है। यह शब्द सामाजिक विज्ञानों में से एक ऐसी केन्द्रीय स्थिति प्राप्त कर चुका है जिसके चारों ओर समाज, व्यक्तित्व आदि संकल्पनाओं का गठन किया गया है। ऐसी स्थिति में इसके अर्थ की व्याप्ति का निर्धारण कहीं अधिक उचित है। वस्तुत: अर्थ का वह विशेषीकरण ज्ञान की अनिवार्यता है क्योंकि पारिभाषिक महत्व के शब्द विश्लेषण, तुलना और मूल्यांकन के उपकरण बन जाते हैं। वे जितने पारदर्शी होंगे, उतने ही वे इन कार्यों के उपयुक्त सिद्ध होंगे।

इस संबंध में सबसे बड़ा द्वन्द्व संस्कृति और सभ्यता के अर्थ को लेकर है। टायलर ने कहीं संस्कृति, कहीं सभ्यता शब्दों का प्रयोग किया है। किन्तु आगे चलकर मानव विज्ञान, दर्शन आदि में इसके पार्थक्य की स्वीकृति पर बल दिया जाने लगता है। यह दूसरी बात है कि सामान्य व्यवहार में, और कभी-कभी उच्चतर ज्ञान में लेखकों द्वारा अपनाये गये दृष्टिकोण के कारण, इनका एक दूसरे के पर्यायवाची के रूप में प्रयोग बना हुआ है।

इसका कारण सभ्यता और संस्कृति द्वारा व्यक्त अभिप्रायों की वह समानता है जिसका प्रयोग कर इनका वैकल्पिक रूप में प्रयोग किया जा सकता है। सभ्य शब्द का आरंभिक अर्थ है सभा का सदस्य। लेकिन इस केन्द्रीय अर्थ से सीमान्त अर्थ विकसित हो जाते हैं और वे कालान्तर में इसका स्थान अधिकृत कर लेते हैं, तब यह कहा जाने लगता है कि सभ्य वह है जो सभा में बैठने का पात्र हो। इस तरह वह परिष्कृत व्यक्ति का पर्याय हो जाता है। प्राय: संस्कृति द्वारा जिस विशिष्ट अर्थ (मानसिक परिष्कार) को व्यक्त करने का प्रयास किया गया है, वह एक बड़ी सीमा तक, सभ्यता द्वारा व्यक्त हो जाता है। इसीलिए डा. देवराज की तरह यह नहीं कहा जा सकता कि संस्कृति ''मानव व्यक्तित्व और जीवन को'' समृद्ध करने वाली चिन्तन तथा कलात्मक सर्जन की · · · क्रियाएँ या मूल्यों का अधिष्ठान मात्र है। वे जो कुछ संस्कृति के विषयमें कहते हैं वहीं, सभ्यता शब्द में प्रच्छन्न अर्थगत सम्भावनाओं का विस्तार करने पर, उसके संबंध में कही जा सकती है।

इस द्वन्द्व से निष्कृति का उपाय वही है टायलर द्वारा विकसित संस्कृति की व्यापक संकल्पना को स्वीकार कर लिया जाये। टायलर इसे ''वह जटिल इकाई मानता है, जिसके अन्तर्गत ज्ञान, विश्वास, कला, आचार, विधि, रीति और अन्य वे क्षमताएँ और अभ्यास सम्मिलित हैं, जिन्हें मनुष्य समाज के सदस्य के रूप में अर्जित करता है (1871 प्रिमिटव कल्चर पृ 1)। इस तरह वह यह प्रतिपादित करता है कि संस्कृति परम्परा से अर्जित चिन्तन, अनुभव और व्यवहार संक्षेप में, मानसिक और क्रियात्मक व्यवहार की समस्त रीतियों की समष्टि है। यह संकल्पना मनुष्य के अध्ययन के लिए पर्याप्त महत्वपूर्ण सिद्ध हुई है और परवर्ती मानव वैज्ञानिकों की कार्य प्रणाली का आधार रही है। यह उनके द्वारा प्रस्तुत इसकी परिभाषाओं से भी स्पष्ट है। उदाहरणार्थ, यह कहा गया है कि इस सम्बन्ध में मैलिनोव्सकी की स्थिति भिन्न रही है, किन्तु अपने पूर्ववर्ती मानव वैज्ञानिकों से दृष्टिगत भेद के बावजूद उसने संस्कृति की जो परिभाषा दी है, वह टायलर की परिभाषा से बहुत भिन्न नहीं है : ''संस्कृति के अन्तर्गत वंशागत शिल्प-तथ्यों, वस्तुओं, तकनीकी प्रक्रियाओं, अभ्यासों तथा मूल्यों का समावेश हो जाता है।''

इस संकल्पना को स्वीकार कर लेने पर संस्कृति की उस संकुचित धारणा को बदलने की अपेक्षा हो जाती है जो इसे मानसिक पक्ष या मूल्यों तक सीमित कर देती है और जो समुदाय विशेष द्वारा निर्मित एवं व्यवहृत वस्तुओं तथा आचरित रीतियों और प्रथाओं को वाह्य या स्थूल मानकर उन्हें इससे पृथक करने का आग्रह करती है। वस्तुत: हमारे विचार, प्रयोजन और मूल्य ही हमारे क्रियात्मक व्यवहारों और उपलब्धियों का रूप ग्रहण करते हैं। इसीलिए संस्कृति को आन्तरिक और वाह्य, व्यक्त और अव्यक्त, इन दो पक्षों में विभाजित कर देखने की आवश्यकता है। व्यक्त संस्कृति-रीतियों, प्रथाओं, आचारों, कलाओं और विभिन्न प्रकार के शिल्प तथ्यों की समष्टि है तो अव्यक्त संस्कृति इन रूपों में मूर्त होने वाले मूल्यों और प्रयोजनों का समाहार। क्लकहॉन ने इन दोनों के लिए क्रमश: पैटर्न और संरूप (कॉनफिग्यूरेशन) शब्दों का प्रयोग किया है। ''लोग जो करते हैं या जो कुछ करना चाहिये, उसका सामान्यीकरण पैटर्न है, वे क्यों कुछ विशेष प्रकार के कार्य करते हैं या उन्हें (क्यों) उन कार्यों को करना चाहिये, इसका सामान्यीकरण संरूप है (1941-124)। संरूप वह है जिसमें सभी रूप समाहित हो जाते हैं। इस प्रकार यह संस्कृति विशेष की प्रेरक प्रवृत्तियों, अभिप्रायों की समष्टि का ही दूसरा नाम है। समाज में सदस्य के रूप में मनुष्य जो कुछ भी करता या सोचता है, वह अभिप्रायों और मूल्यों की विशेष पृष्ठभूमि से

संलग्न रहा करता है। यह अलग बात है कि वह हर स्थिति में उन्हें नहीं समझ पाता, क्योंकि न केवल व्यवहार वरन् विचार, मूल्यों आदि भी उसे परम्परा से प्राप्त होते हैं और वह उनके प्रति इस सीमा तक अनुकूलित हो जाता है कि वे उसके सहज अभ्यास बन जाते हैं।

इसका अभिप्राय यही होता है कि संस्कृति सार्थक या साभिप्राय होती है। इसे समझने के लिए इसकी पृष्ठभूमि में काम करने वाले अभिप्राय गुच्छों को समझना आवश्यक है। पिछले तीन-चार दशकों में मानव वैज्ञानिकों ने संस्कृति के इस अर्थ या मूल्य पक्ष पर पर्याप्त विचार किया है और क्योंकि यह विचार पृथक्-पृथक् संस्कृतियों के संदर्भ में हुआ है, इसलिए इस विषय की दर्शनशास्त्र की उन पुस्तकों से कहीं अधिक प्रामाणित और विश्वसनीय है जो जीवित सांस्कृतिक सन्दर्भों की उपेक्षा कर कुछ ''सार्वभौम''निष्कर्ष निकाल लेती है। डा. देवराज ने अपने ''संस्कृति का दर्शन विवेचन'' (नर-विज्ञानकृत संस्कृति की व्याख्या: 142-147) में जो कुछ लिखा है उसका अभिप्राय यही होता है कि मानव विज्ञान (नर विज्ञान) की संस्कृति-विषयक संकल्पना विवरणात्मक है और इसका न तो मूल्य विवेचन से सम्बन्ध है और न मूल्यांकन से। सच तो यह है कि मानव विज्ञान द्वारा प्रस्तुत संस्कृति की संकल्पनाओं या परिभाषाओं में कुछ विवरणात्मक है, तो कुछ मनौवैज्ञानिक, कुछ आदर्शात्मक है तो कुछ गठनात्मक। क्रोबर, क्लकहॉन, ओप्लर आदि के कार्यों से पूरा परिचय होने पर उन्होंने यह नहीं लिखा होता कि नर विज्ञान या पण्डित, मूल्यांकन के प्रश्न से कतराता है (पृ. 144)। यदि मानव विज्ञान मनुष्य की सभी क्रियाओं को महत्वपूर्ण मानता है (समान रूप में महत्वपूर्ण नहीं, जैसे कि डॉ. देवराज ने लिखा है) तो इसका कारण यही है कि यह मनुष्य की एक समग्रतामूलक संकल्पना प्रस्तुत करने का प्रयास करता है। दार्शनिक, साहित्यकार या शिक्षा-शास्त्री को, जो मनुष्य के पक्ष विशेष का अध्ययन करता है, यह अधिकार है कि वह अपनी संस्कृति को समग्रता में न देखकर उसके इस या उस भाग पर बल दे और अपनी एतद्विषयक संकल्पना का गठन करे, क्योंकि संकल्पनाएँ या परिभाषा सदैव शास्त्र या विज्ञान विशेष के प्रयोजन के अनुसार निर्मित होती हैं। लेकिन यह नहीं भूलना चाहिये कि हाथी का पाँव, हाथी नहीं है।

संस्कृति सामाजिक मनुष्य के जीवन की सबसे बड़ी वास्तविकता है। इसी साधन के द्वारा वह परिवेश के साथ अपना समायोजन करता है। उसके द्वारा अपनी संस्कृति को अर्जित करने की-संस्कृतीकरण की-यह प्रक्रिया आजीवन चलती रहती है। लेकिन जीवन के आरंभ से ही अपने को संस्कृति विशेष में पाने के कारण वह शायद ही इसे अपने ऊपर आरोपित अनुभव करता है। पूर्व प्रदत्त होने के कारण वह सहज हो जाती है। इसका चेतन धरातल पर अनुभव तभी होता है जब मनुष्य अपने से भिन्न संस्कृति के सम्पर्क में आता है।

संस्कृति विभिन्न पक्षों (जैसे-धर्म, भाषा, संगीत, अर्थव्यवस्था, परिवार आदि) में विभाजित रहती है, किन्तु इसके सभी पक्ष परस्पर संबंध और संकेन्द्रित होते हैं। इसकी व्यवस्था और नियमितता ही इसे वैज्ञानिक अध्ययन का विषय बनाती है। अध्येताओं ने इसे विशेषकों (न्यूनतम सार्थक ईकाइयों) और विशेषक-संकुलों में विभाजित कर यह निर्दिष्ट किया है कि यह विशेषण सह्य है। प्रत्येक संस्कृति विशेषक-संकुलों की एक सुनिश्चित ईकाई है। यह स्वीकृति हमें निष्कर्ष तक पहुँचाने में सहायता करती है, कि संस्कृति, अध्ययन के उपयोग के लिए गढ़ी गई एक संकल्पना है, जब कि संस्कृतियाँ वास्तविकता

है। हर संस्कृति का अपना एक विशिष्ट चरित्र है और यह उसे दूसरी संस्कृति से भिन्न बना देता है। विभिन्न समुदायों के तुलनात्मक अध्ययन का एक महत्वपूर्ण निष्कर्ष यह है कि किन्हीं पूर्व कल्पित सार्वभौम विश्वासों, धारणाओं और मूल्यों की अपेक्षा सापेक्ष विश्वासों, धाराओं और मूल्यों की चर्चा कहीं अधिक सार्थक है। मानसिक होते हुए भी मूल्य अपने परिणत अर्थात् व्यहृत रूप में वस्तुनिष्ठ होते हैं। मूल्य-व्यवस्था को व्यवहार व्यवस्था से इसके आचरित होने के सामाजिक संदर्भ से विच्छिन्न कर देखना वस्तु स्थिति का वैसा सरलीकरण है जो किसी भी मूल्य को सार्वभौम कह देने की सुविधा प्रदान कर देता है। दोनों व्यवस्थाओं को एक दूसरे से जोड़कर देखने पर यह प्रतीत होगा कि मानव जाति की बहुप्रचरित मानसिक एकता का दर्शन पुनर्विचार की अपेक्षा रखता है। आवश्यकता नहीं कि यह पुनर्विचार इसकी पूरी अस्वीकृति का रूप ग्रहण करे, किन्तु यह किन्हीं रहस्यवादी और गोल मटोल अर्थों में सभी धर्मों की समान चेतना या सभी मानव जीवन मूल्य की 'अभिन्नता' की चर्चा स्थगित कर देने की प्रस्तावना तो बन ही जाती है। विभिन्न संस्कृतियों के अध्ययन की तुलनात्मक सांख्यिकी यह बतलाती है कि मानव जातियाँ एक ही वास्तविकता का मूल्यांकन अलग-अलग रूपों में करती हैं। सुन्दर और कुरूप, शिव और अशिव, सार्थक और निरर्थक आदि धारणाओं और मूल्यों के सम्बन्ध में उनमें पर्याप्त मतभेद है। वस्तुतः हम जिस दुनिया में जीते हैं, वह कोई निरपेक्ष और हमारे आवेग से अरंजित ''शुद्ध'' वास्तविकता नहीं है। वह हमारी अपनी संस्कृति द्वारा परिभाषित हुई है, बल्कि यह कहना चाहिए कि परिभाषित रूप में ही हमें प्राप्त हुई है। इस सच्चाई और इसके वैचारिक अभिप्रायों को जिन्हें सम्मिलित रूप से सांस्कृतिक सापेक्षतावाद कहा गया है— सामाजिक विज्ञानों और मानविकी में वह महत्व नहीं मिला है जो कि इसका प्राप्य है। सांस्कृतिक सापेक्षतावाद मनुष्य की आकांक्षा में क्रांतिकारी परिवर्तन उपस्थित कर सकता है। इसे कुछ उदाहरणों द्वारा संकेतित किया जा सकता है।

भारतीय दस दिशाओं की कल्पना करते हैं जब कि यूरोपीय चार की और अमेरिका के प्यूब्लो इण्डियन छह की। प्यूब्लो पूर्व, पश्चिम, उत्तर और दक्षिण के अतिरिक्त ऊपर और नीचे को भी दिशाएँ मानते हैं। यूरोप में काला रंग शोक का प्रतीक है किन्तु प्लेन्स इण्डियनों में विजय और उल्लास का। चीन में श्वेत रंग शोक का प्रतीत है, जबकि चेरीको जाति में दक्षिण दिशा का। भिन्नता की यह स्थिति कला संबंधी धारणाओं से लेकर सामाजिक रीतियों और प्रथाओं तक विद्यमान है। हमारे संगीत में राग और लय, दोनों महत्वपूर्ण हैं, लेकिन बहुत सी अफ्रीकी जातियों के संगीत में लय महत्वपूर्ण है। उनकी दृष्टि में राग अधिक से अधिक लय का सहायक है। यूरोपीय संस्कृति एकपत्नीत्व को आदर्श मानती है और इस्लामी संस्कृति बहुपत्नीत्व को, जबकि भारत की कुछ जातियों में बहुपत्नीत्व आदर्श भी है और व्यवहार भी। इस तरह प्रतिमानों की सार्थकता स्थानीय या क्षेत्रीय होती हैं, और उनके संबंध में हर संस्कृति के अपने तर्क हैं। जिन्हें वह अकाट्य मानती है। यदि उन तथ्यों की परीक्षा उस संस्कृति की जीवन दृष्टि के सन्दर्भ में की जाये तो उसकी सार्थकता और संगति स्पष्ट हो जायेगी। यह बात दूसरी है कि हम जो भिन्न जीवन सन्दर्भों में जीते हैं उनसे सहमत नहीं हो पायेंगे। किन्तु हमारी यह असहमति ही विचार और व्यवहार व्यवस्थाओं की मूल्यों और आचारों की विविधता का सबसे बड़ा तर्क बन जाती है।

संस्कृति के अध्येताओं के लिए इस सापेक्षवाद के अनेक अभिप्राय हो जाते हैं। जब हर संस्कृति एक स्वतंत्र कार्यात्मक इकाई है, तो न तो किसी संस्कृति को श्रेष्ठ कहा जाना चाहिये और न हीन, न

तो महत्वपूर्ण और न महत्व रहित। इसलिए मूल्यांकन परक विशेषणों के रूप में आदिम और आधुनिक शब्दों का प्रयोग चिंत्य है। जब हम कुछ जातियों को आदिम कहते हैं तो सम्भवत: हमारा अभिप्राय यही होता है कि वे हमारे समकालीन जीवन की पूर्ववर्ती में हैं। स्थिति के उदाहरण हैं, अर्थात् हम तो बदलते रहे हैं, लेकिन वे जहाँ की तहाँ बनी हुई है। सच तो यह है कि वे जातियाँ भी बदलती रही हैं, और वे किसी आदिम जीवन-प्रणाली के उदाहरण नहीं हैं। यह सोचना भी कम भ्रान्त नहीं है कि आदिम संस्कृति सरल होती है और आधुनिक संस्कृति जटिल। आदिम संस्कृति भी उसी प्रकार बहुसंख्य विशेषकों और विशेषक-संकुलों से बनी हुई है, जिस प्रकार आधुनिक संस्कृति। हर संस्कृति के कुछ विशेष पक्ष उसके अन्य पक्षों की तुलना में अधिक विकसित और विस्तृत होते हैं, और यदि आधुनिक कही जाने वाली संस्कृति के कुछ पक्ष वैविध्यपूर्ण और जटिल हैं तो आदिम संस्कृति के भी। उदाहरणार्थ आस्ट्रेलियन कबीलों के कुल संबंध सूचक शब्दों में इतना सूक्ष्म विवेक मिलता है (फ्राल्केनवर्ग : किन ऐण्ड टोटस: 1962) कि उसकी समृद्धि और वैज्ञानिकता की तुलना में हमारी भाषाएँ अकिंचन प्रतीत होती हैं।

इसका एक अभिप्राय यह भी है कि हर संस्कृति का अपना एक विशेष साँचा है। अन्य संस्कृतियों के प्रभाव उसी साँचे में ढलकर रूपांतरित होकर उसका अंग बनते हैं। वे प्रभाव जो उसकी प्रकृति के मेल में नहीं होते, उसके द्वारा अस्वीकृत हो जाते हैं। इस प्रकार पर संस्कृतीकरण-एक संस्कृति द्वारा दूसरी संस्कृति के, प्रत्यक्ष या परोक्ष सम्पर्क के माध्यम से प्राप्त, प्रभावों का ग्रहण-जो कला, दर्शन, धर्म आदि क्षेत्रों में दिखायी पड़ता है, कभी निष्क्रिय नहीं होता। यह कहना संगत नहीं है कि केवल सबल और सक्रिय संस्कृतियाँ ही दुर्बल और निष्क्रिय संस्कृतियों को प्रभावित करती हैं। कोई भी संस्कृति निष्क्रिय नहीं होती और न वह सम्पर्क द्वारा प्राप्त प्रभावों को अनुकूलित और रूपान्तरित किये विना ग्रहण करती है। जिन्हें सबल संस्कृतियाँ कहा गया है कि वे वस्तुत: सफल संस्कृतियाँ है और इतिहास इस बात का साक्षी है कि वे भी अपने द्वारा पराजित संस्कृतियों से प्रभावित हुई हैं। अथर्ववेद में व्यक्त आर्य संस्कृति का बहुत कुछ ऐसा है जो अनुमानत: आर्येतर जातियों के सम्पर्क से आया है। आधुनिक काल में ब्राजील के पुर्तगीजों को एक ओर स्वयं उनके द्वारा बसाये गये नीग्रो जाति के विश्वासों, रीतियों और कलाओं ने प्रभावित किया है तो दूसरी ओर यहाँ के मूल निवासी रेड इण्डियनों ने। इस सम्बन्ध में किसी सर्वमान्य नियम का निर्धारण कठिन होते हुए भी यह कहा जा सकता है कि परसंस्कृतीकरण सर्वत्र चयनात्मक होता है और यह चयनात्मक संस्कृति विशेष के आन्तरिक गठन द्वारा निर्णीत होती है।

किन्तु इस सिद्धांत के अनेक अभिप्राय विवादास्पद हैं। सांस्कृतिक सापेक्षतावाद के नाम पर आदिम संस्कृतियों के विषय में यथास्थितिवाद की प्रस्तावना की जाती रहीं है। इनके प्रस्तावक इन्हें संग्रहालय की वस्तुएँ बनाये रखना चाहते हैं , जैसे नहीं बदलना ही संस्कृति का स्वभाव हो। सच तो यह है कि हर संस्कृति अधिक उपयोगी विकल्पों के उपस्थित होने पर प्रचलित व्यवहार- विधियों का त्याग कर देती है। ये विकल्प उसके आन्तरिक परिवर्तन द्वारा भी उत्पन्न होते हैं और वाह्य सम्पर्क या प्रसार द्वारा भी सामने आते हैं।

परन्तु इस सिद्धान्त का सबसे विवादास्पद अभिप्राय मानव प्रकृति की एकता का अस्वीकार है। क्या इसका अर्थ यह नहीं होता कि मानव समाज और संस्कृति में सामान्यक(समान तत्व) नहीं होते?

मैलिनोव्सकी ने बुनियादी आवश्यकताओं और उनसे उत्पन्न क्रियाओं की एक इसी प्रकार की सूची प्रस्तुत की है। लेकिन इस सिद्धान्त के समर्थक समानता या सामानयक का अर्थ संस्कृतियों में प्राप्य न्यूनतम तत्व अथवा हर (कॉमन डिनामिटर) से अधिक और कुछ नहीं मानते, क्योंकि भाषा, समाज, परिवार आदि रिक्त धारणाएँ हैं। वैसी धारणाएँ जो सांस्कृतिक सन्दर्भों में अपनी भिन्नता के कारण कोई सपाट या एकरूप संकल्पना नहीं बन पातीं। लेकिन सामान्यकों के अस्तित्व को रिक्त धारणा से कहीं अधिक गहरे अर्थ में-जैविक मनोवैज्ञानिक अर्थ में स्वीकार किया जाना चाहिये। इस स्वीकार के अभाव में यह सापेक्षवाद भी उतना ही अतिवादी हो जाता है जितनी कि मानवीय एकता की अद्वैतवादी धारणा। इस सिद्धान्त के ही एक अनुलोम भाषागत सापेक्षतावाद के प्रयोग में वेंजामिन ली वूर्फ ने ''भाषा निरपेक्ष और मनुष्य मात्र में समान'' अवर भाषिक स्तर का उल्लेख किया है। इस प्रसंग में एथनोलाजी (1965) में प्रकाशित ले मिनटर्न के ए क्रासकल्चर लिंग्विस्टिक एनेलिसिस ऑफ फ्रायडियन सिम्बांल्स (336-342) तथा इरविन एल. चाइल्ड और लियोन सिरोटो के ''वाक्वेले एण्ड अमेरिकन इस्थेटिक इवैलूएशन कॉमपेयर्ड (349-360) के निष्कर्षों की चर्चा की जा सकती है।

वस्तुतः सांस्कृतिक सापेक्षता को सांस्कृतिक गठन की विशिष्टता के अर्थ में स्वीकार किया जाना चाहिए, न कि उसकी अद्वितीयता के अर्थ में, जो इस सापेक्षतावाद को एक प्रकार का निरपेक्षवाद बना देने वाले मानव वैज्ञानिक संस्कृतियों की असम्बद्ध और अतुलनीय इकाइयों के रूप में प्रस्तावित करते हैं। लेकिन यह मान लेने पर संस्कृति का विज्ञान एक सम्भावना बन जाता है। इस विचार धारा की एक दूसरी सीमा भी है। यह शताब्दियों तक वाह्य सम्पर्क से दूर रह गये समाजों की भूमिका में जितनी संगत दिखाई पड़ती है, उतनी दीर्घ सम्पर्क की प्रक्रिया से गुजरने वाले समाजों की भूमिका में नहीं। हम जिस युग में जी रहे हैं, वह बढ़ते हुए अन्तर सांस्कृतिक संपर्कों-परसंस्कृतीकरण का युग है और उसमें विभिन्न समुदायों में सार्वभौम हरों या समान्यकों की वृद्धि की कल्पना निराधार नहीं मानी जायेगी।

मुख्य प्रश्न यह है— सांस्कृतिक सापेक्षतावाद से प्राप्त तथ्य और उनके ठीक विपरीत पड़ने वाली स्थितियाँ हमें किस निष्कर्ष तक ले जाती हैं? क्या उसी निष्कर्ष तक कि मानव संस्कृतियाँ अभिन्न हैं। मानव मूल्य एक जैसे हैं? परन्तु लगता है कि सामान्यकों की स्वीकृति सापेक्षतावाद की अस्वीकृति नहीं है। इसका अस्वीकार अवैज्ञानिक है, क्योंकि यह असंख्य और अकाट्य प्रमाणों पर आधारित है। दोनों दृष्टियों की सम्मिलित उपलब्धि यह है कि सभी मानव मूल्य सार्वभौम नहीं हैं। और जिन मूल्यों को सार्वभौम माना जा सकता है, वे अभिन्न या तद्‌रूप न होकर समतुल्य हैं, और यह भी कि किन्हीं मूल्यों को सार्वभौम कहने से पहले हमें विभिन्न संस्कृतियों में उनकी स्थिति की समीक्षा कर लेनी चाहिए।

मनुष्य एक साथ कई आयामों में जीता है। उसका एक आयाम उसकी जैविक आनुवंशिकता है, वह एक विशेष जीव जाति का सदस्य है और उसकी शारीरिक मानसिक क्रियाओं से बहुत गहरा संबंध है। उसका दूसरा आयाम उसका प्राकृतिक परिवेश है जो उसे अस्तित्व की सुविधाएँ देता है और न समाप्त होने वाली चुनौतियाँ भी। इससे समायोजन और उसका अनुकूलन करता हुआ ही वह बढ़ता आया है। उसका तीसरा आयाम उसकी संस्कृति है जिसे वह संकालिक और ऐतिहासिक, दोनों स्तरों पर एक साथ जीता है और जिसे व्यक्ति रूप में वह कभी सम्पूर्णता में ग्रहण नहीं कर पाता। वह इसे अर्जित करता है क्योंकि यह परम्परा है, वह इससे समायोजन करता है क्योंकि यह उसकी सामुदायिक

और समकालीन वास्तविकता है। संस्कृति की पारम्परिकता और सामुदायिकता, दोनों इतनी महत्वपूर्ण हैं कि ये इसे आधिवैयक्तिक और आधिसामाजिक, दोनों बना देती हैं। यदि इसके इन पहलुओं का औचित्य से अधिक महत्व दिया जाये तो इसका स्वरूप वहीं हो जाता है जो क्रोवर के 'आधिजैविक शीर्षक निबंध में प्रस्तावित हुआ है। क्रोबर द्वारा लिखित 'द सुपर आर्गेनिक' (अमेरिकन एंथ्रापालाजिस्ट, 19.7, 163-213) का मूल प्रतिपाद्य यह है कि संस्कृति आधिजैविक होती है। आधिजैविकता की यह धारणा पहले भी अपरिचित नहीं थी। क्रोवर से पहले हर्बर्ट स्पेन्सर ने भी संस्कृति के लिए इसी विशेषण का प्रयोग किया था। उसने विकास के तीन रूप माने थे— अजैविक, जैविक और अधिजैविक। अधिजैविक से उसका तात्पर्य जैविक का अतिक्रमण नहीं, वरन् समाज के रूप में उसका बढ़ाव है। किन्तु क्रोबर ने यह सिद्ध किया कि यह (समाज) जैविकता निरपेक्ष है। यह सच है कि मनुष्य की सभी उपलब्धियों की समष्टि है। मनुष्य ही इसका वाहक है और वह इसी में जीता है, किन्तु वह अपने आप में एक (स्वतंत्र) ईकाई है। (इसका) तत्वत: न तो व्यक्ति से कोई संबंध है और न मनुष्यों के योग से जिस पर कि वह टिकी हुई है। इसका अर्थ है कि संस्कृति निर्वैयक्तिक है और इसके विकास के अपने नियम हैं जिन पर व्यक्ति का कोई नियंत्रण नहीं है। इसलिए इसके स्वास्थ्य का अध्ययन इसकी सीमा में जीने वाले व्यक्तियों पर विचार किये बिना भी संभव है। संस्कृति की इस आधिजैविकता या निर्वैयक्तिता के-दूसरे शब्दों में सांस्कृतिक नियतिवाद के प्रमाण के रूप में उसने समानान्तर आविष्कार के उदाहरण प्रस्तुत किये हैं। डार्विन और वैलेस एक दूसरे के कार्य के एकदम अपरिचित थे, लेकिन उन्होंने एक ही समय जैविक विकासवाद के सिद्धान्त का प्रतिपादन किया। परस्पर अपरिचित अलेक्जेण्डर बेल और एलिशा ग्रे ने एक ही समय टेलीफोन का अविष्कार किया। आविष्कारों और अनुसंधानों की यह समानान्तरता इतनी विलक्षण है कि उनमें अधिकतम स्थितियों में पूर्ण समकालिकता दिखलाई पड़ती है। इस आधार पर यही सोचना संगत है कि संस्कृति की आन्तरिक सम्भावनाओं के एक विशेष बिन्दु पर पहुँच जाने के बाद ही ये अनुसंधान सम्भव हो पाते हैं। इन्हें ऐतिहासिक अनिवार्यता के रूप में देखने की आवश्यकता है, व्यक्ति विशेष की प्रतिभा या विशुद्ध संयोग के रूप में नहीं।

सामान्य रूप में यह सच है कि व्यक्ति अपनी संस्कृति द्वारा निर्णीत होता है और यही उसकी रचनात्मक अभिव्यक्ति का क्षेत्र निर्धारित करती है। संस्कृति, व्यक्ति या व्यक्तियों से अधिक बड़ी होती है। इन बातों को मानते हुए भी यह नहीं स्वीकार किया जा सकता कि व्यक्ति मशीन का बेजान पुर्जा भर है। इसके अनेक कारण हैं-व्यक्ति समाज और संस्कृति की व्यवहार इकाई है— उसी के माध्यम से उनकी निरन्तरता का वहन और कार्यन्वयन होता है। लोक साहित्य और संस्कृति, विज्ञान मात्र के लिए इस बात का बहुत महत्व है कि व्यक्ति और व्यक्तित्व, विज्ञान मात्र के लिए इस बात का बहुत महत्व है कि व्यक्तिऔर व्यक्तित्व किसी समरूप यथार्थ के नाम नहीं है। एक और वैसे व्यक्ति हैं जो बिना किसी जिज्ञासा या तर्क-वितर्क के परम्परा को सहज क्रिया के रूप में बरतते हैं तो दूसरी ओर सीमित संख्या में ही सही, वैसे व्यक्ति हैं जो उसके प्रति सजग और उसके पक्ष विशेष को अधिकृत करने में अभिरूचि रखने वाले होते हैं।

विभिन्न मानव शास्त्री विद्वानों के अनुसार संस्कृति की परिभाषा इस प्रकार है—

1. होबल के अनुसार 'संस्कृति सीखे हुए व्यवहार प्रतिमानों का कुल योग है।''

2. हरसेविट्स का विचार है कि ''संस्कृति मानव शास्त्रीय मानव की उन पद्धतियों का अध्ययन करता है, जो अपने प्राकृतिक पर्यावरण में सामंजस्य उत्पन्न करने के लिए निर्मित की है, एवं सामाजिक पर्यावरण तथा प्रथाएँ जिस प्रकार सीखी जाती हैं एवं एक पीढ़ी से दूसरी पीढ़ी तक हस्तान्तरित की जाती हैं।''
3. पिडिंग्टन के अनुसार ''संस्कृति भौतिक तथा मानसिक पर्यावरण का वह जटिल रूप है जिसके द्वारा मानव अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति करता है, तथा अपने को वातावरण (भौतिक) के अनुरूप बनाता है।''

कुछ मानव शास्त्रियों ने इसे सीखे हुए गुण के रूप में प्रस्तुत किया है। वे समझते हैं कि इसी कारण संस्कृति एक वंश से दूसरे वंश तक हस्तांतरित की जाती है।

4. लिंटन के अनुसार ''संस्कृति, ज्ञान, मनोवृत्ति, तथा प्राकृतिक व्यवहार के प्रतीमानों का कुल योग है जो किसी समाज के सदस्यों की विशेषता है, जो कि प्रशास्त्रीय पैतृक गुण का परिणाम नहीं है।''
5. रूथ बेनेदिक्त ने संस्कृति को एक प्रतिमान के रूप में मानते हुए कहा है कि ''व्यक्ति की भाँति संस्कृति भी विचार और क्रिया का एक बहुत कुछ सुस्थिर प्रतिमान है।''
6. विडने ने संस्कृति को कृषि के उत्पादक (Agrofacts), मानसिक तथ्यों (menlifacts), प्राविधिक तथ्यों (Arlifacts), तथा सामाजिक तथ्यों (Sociofacts) की उपज माना है। दूसरे शब्दों में संस्कृति में कृषि-संबंधी, कला, प्राद्योगिकी, सामाजिक संगठन, भाषा, धर्म, कला आदि का समावेश होता है।
7. सपीर के शब्दों में 'संस्कृति मानव जीवन की भौतिक और अभौतिक सामाजिक विरासत से बनी है।
8. रैडक्लिफ ब्राउन ने संस्कृति की परिभाषा इस प्रकार दी है— ''मानव के निरन्तर भौतिक और नैतिक सुधार के सभ्य अवस्थाओं की प्राप्ति को संस्कृति कहा जाता है।''

बोआस, बैनेडिक्ट तथा मारगेरेट आदि उपर्युक्त परिभाषा से तो सहमत हैं, परन्तु उसमें मानव द्वारा उपार्जित कुशलताओं, रीति-रिवाजों तक्षा आदतों का भी समावेश करते हैं। इन लोगों ने अपनी परिभाषाओं से स्पष्ट किया है कि संस्कृति रहन-सहन की एक प्रणाली है, एक सामाजिक विरासत है, जिसे व्यक्तिगत रूप से प्राप्त किया जा सकता है। इन विद्वानों ने संस्कृति के भौतिक एवं अभौतिक दोनों ही पक्षों को महत्वपूर्ण माना है, वे संस्कृति को मात्र आध्यात्मिक प्रदत्त वस्तु नहीं मानते हैं।

9. मडांक ने संस्कृति के कुछ तथ्यों की सूची प्रस्तुत की है जो कि विश्व के प्रत्येक मानव समूह के जीवन में मिलते हैं। इन तथ्यों में मुख्य इस प्रकार हैं— ''आयु के अनुसार समूह-विभाजन, समुदाय, संगठन, परिवार शासन-तंत्र, निकटाभिगम निषेध, रक्त संबंध, विवाह, उत्तराधिकार के नियम, सामाजिक स्तर भेद, खेल-कूद, शरीर सज्जा, गीत, नृत्य कला-शिक्षा, नीति, शिष्टाचार,

कक्षाएँ, पाक की विद्या, भोजन के निश्चित समय, अतिथि-सत्कार के नियम, पुनर्निर्माण कला, व्यक्तिगत नाम, जन्म मरण के संस्कार, अदृश्य जगत की शक्तियों पर अधिकार करने के साधन, धार्मिक उत्सव, जादू टोने संबंधी विश्वासों द्वारा क्रियाएँ, सम्पत्ति, व्यापार आदि।

10. श्यामचरण दूबे के शब्दों में "मानव मात्र के प्रत्येक समूह में इन तत्वों को केन्द्र-बिन्दु मानकर उनके चारों ओर जटिल भावनाओं, विश्वासों एवं प्रकारों का जाल क्रमशः फैलने लगता है जिसकी पूर्णता को हम संस्कृति कहते हैं।

11. विसलर के अनुसार सांस्कृतिक व्यवहार प्रकारों के सभी भिन्न रूप-संसार की विभिन्न संस्कृतियाँ इसी सर्वदेशीय-सर्वकालीन संस्कृति के स्वरूप की आधार-शिला पर विकसित होते हैं। इन तत्वों का जन्म मानव की शारीरिक एवम् मानसिक आवश्यकताओं से होता है। किन्तु उसकी जड़ में इस मूलभूत एकता के होते हुए भी संस्कृति के स्वरूप एवं मूल्यों में हमें अनेक महत्वपूर्ण एवं मौलिक भेद दिखाई पड़ते हैं।

12. प्रकार्यवादियों (Functionalist) ने संस्कृति को अध्ययन की एक इकाई माना है। उनके अनुसार प्रत्येक संस्कृति अपने समाज से सम्बन्धित है और उसके द्वारा समाज में अपने अस्तित्व को बनाये रखती है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि संस्कृति की परिभाषा के संबंध में विभिन्न मानवशास्त्रियों के विचार में भी भेद हैं।

संस्कृति : मतवादों की भूमिका में

भौगोलिक या वातावरणिक नियतिवाद बहुत पुराना है। इसका उपयोग यूरोपीय जातियों की श्रेष्ठता सिद्ध करने के लिए किया जाता रहा है। व्यक्त संस्कृति के सीमित भाग खाद्य सामग्री, वस्त्र, भवन-प्ररूप आदि की व्याख्या वातावरण के आधार पर की जा सकती है, किन्तु इसे प्रजातीय मनोविज्ञान, सांस्कृतिक गठन और जाति विशेष की प्रगति के निर्णायक के रूप में स्वीकार करना अपनी मान्यताओं का युक्तिकरण मात्र है। वातावरण से मनुष्य जितना प्रभावित होता है, उससे कहीं अधिक वह उसे प्रभावित करता है। वातावरण उसकी कच्ची रचनात्मक ऊर्जा की अभिव्यक्ति की कच्ची सामग्री भर है, क्योंकि न तो वस्त्र, परिधान की शैली का निर्धारण करती है और न खाद्य सामग्री पाक-विधि और भोजन प्रकार का। इस सिद्धान्त के प्रवक्ताओं ने अक्सर यह कहा है कि उष्ण प्रदेशों की संस्कृति यथास्थितिवादी और अगतिशील हुआ करती है। यदि यह सच है तो भारत तथा अन्य एशियाई देशों को न तो यूरोपीय प्रभुत्व से मुक्त होना चाहिये था और न प्रगति करने में सामर्थ्य ही।

संस्कृति का प्रजातीय सिद्धान्त उतना भी विचारणीय नहीं है जितना कि वातावरणिक नियतिवाद। इसकी मूलभूत मान्यता यह है कि विभिन्न प्रजातियों की मानसिक क्षमता और ऐतिहासिक भूमिका में भेद का मुख्य कारण उनका रक्त या रंगभेद है। संस्कृति और इतिहास, गोरी प्रजातियों की रचना है। अन्य (अर्थात् काली और पीली) प्रजातियाँ अपनी प्रकृति से हीन और निष्कृत हैं-वे कर्ता न होकर कृत और नियामक न होकर निर्णीत हैं। उनकी जैविक संरचना ही यह बतलाती है कि वे, गोरी प्रजातियों की दासता और आदेशपालन के लिए बनी हैं। किन्तु संस्कृति का सम्बन्ध प्रजाति के रंग से न होकर

सामाजिक-आर्थिक शक्तियों से है। जैविक संरचना और मानसिक क्षमता की दृष्टि से सभी प्रजातियाँ एक जैसी हैं और यदि किसी प्रजाति का सांस्कृतिक स्तर अधिक उन्नत है और किसी का कम तो इसके मूलों की खोज, प्रजाति विशेष की सामाजिक-आर्थिक व्यवस्था में की जानी चाहिये। इतिहास इस बात का साक्षी है कि अवसर मिलने पर सभी प्रजातियाँ आगे बढ़ी हैं।

सच तो यह है कि जब तक संस्कृति को मनुष्य की सामाजिक-सांस्कृतिक भूमिका में रखकर नहीं देखा जाता, तब तक न तो इसके स्वरूप की ही सही जानकारी हो सकती है और न इसके गतिविज्ञान की ही। इस दृष्टि से इसके संगत अध्ययन का पहला प्रपत्र टायलर का है, जिसने इसकी विकासवादी धारणा प्रस्तावित की और इसे क्रमिक स्थितियों में त्रिभाजित कर देखा। संस्कृति की यह विकासवादी धारणा डार्विन ''जीवजातियों का विकास'' (1956) से नहीं आई थी, वरन् अठारहवीं शताब्दी से ही, किसी न किसी रूप में, चली आ रही थी। यह कांट और कोम्त दोनों में विद्यमान थी। कांट ने मनुष्य को एक प्रगतिशील प्राणी के रूप में देखा और इस प्रगति को उसमें अन्तर्भूत ''जीवाणुओं और प्राकृतियों'' का परिणाम माना। उसने इतिहास पर विचार करते हुए यह कहा कि व्यक्ति अपनी स्वतंत्र इच्छा से विभिन्न प्रकार के कार्य करते हुए भी प्रकृति की एक निश्चित और प्रगतिशील योजना की पूर्ति कराते हैं। जिस कोम्त से टायलर प्रभावित हुआ था, उसने भी मानव इतिहास को विकास की तीन (धार्मिक → दार्शनिक → विधेयात्मक) स्थितियों में विभाजित किया और उन्हें प्रगति के प्राकृतिक नियम का फल कहा। उसने पशुता से भेदक विशेषता के रूप में जिस मनुष्यता की कल्पना की, सांस्कृतिक की कल्पना के समकक्ष है, और यह भी कहा कि इन क्रमिक स्थितियों से ही मनुष्य, मनुष्यता के आदर्श को उपलब्ध करता है।

कांट और कोम्त दोनों ने मानव विकास की प्रकृति को प्राकृतिक अर्थात् मानवीय संभावनाओं और ऐतिहासिक शक्तियों में सन्निहित माना। टायलर में भौतिक नियमों के रूप में इतिहास के नियमों की यह धारणा, कोम्त से प्राप्त हुई। उसने आदिम संस्कृति (1:1871) में कहा कि सांस्कृतिक विकास के नियमों का तथ्यमूलक अन्वेषण ही मनुष्य के अध्ययन की व्यवस्था दे सकता है। इस विकास की व्याख्या किसी दैवी विधान के आधार पर नहीं, वरन् प्राकृतिक गतिविज्ञान के आधार पर की जानी चाहिये। लेकिन कोम्त से प्रभावित होते हुए भी उसके द्वारा निर्दिष्ट तीन स्थितियों के स्थान में जिसका उल्लेख है, -वन्य, वर्वर और सभ्य। इन स्थितियों की कल्पना के पीछे उसके सामने आधुनिक और प्राचीन संस्कृतियों के संबंध में सुलभ समस्त सामग्री थी। इस समय तक एक ओर ग्रीक, रोमन, वैदिक और हिन्दु साहित्य में निबद्ध प्राचीन सामाजिक आचारों और विश्वासों की सामग्री संकलित हो चुकी थी तो दूसरी ओर अफ्रीका, आष्ट्रेलिया और अमरीका की समकालीन आदिम जातियों की जीवन प्रणाली से सम्बन्धित तथ्य भी। यह परम्परागत धारणा अखण्डित होती आ रही थी कि मनुष्य का इतिहास अगतिमूलक रहा है और यह भी किसी स्वर्ण युग से चलकर निरन्तर पतन की दिशा में यात्रा कर रहा है। इसके विपरीत यह धारणा विकसित होने लग गई थी कि मनुष्य निम्नतर से उच्चतर स्थितियों की ओर प्रगति करता गया है। टायलर ने यह कहा कि यदि आधुनिक यूरोपीय सभाओं को दो विपरीत सीमाओं पर रखकर अन्य सभी मानव जातियों को इनके मध्य में अवस्थित कर देखा जाय तो संस्कृति के सामान्य मापदण्ड का निर्धारण संभव है। इसके आधार पर यह कठिन नहीं होगा कि सभ्य से सभ्य जातियाँ भी

वन्य और वर्वर अवस्थाओं से गुजर कर ही अपनी वर्तमान अवस्था तक पहुँची हैं। वन्य अवस्था, फल संग्रह, आखेट और पत्थर के हथियार उपयोग की है। वर्वर अवस्था ने कृषिकर्म, धातु के उपयोग तथा ग्राम और नगरों की रचना की। अक्षरों का आरंभ यह घटना है जो वन्य और वर्वर समाजों से भिन्न सभ्य समाज की रचना करती है। संस्कृति की इस विकास मूलक धारणा को प्रमाणित करते हैं, वे अवशेष जो हर समाज में, अपनी पूर्ववर्ती स्थितियों से चले आये हैं और उनके समारकों के रूप में आज भी विद्यमान हैं। हर संस्कृति में ऐसी विश्वास रीतियाँ और प्रथाएँ जीवित हैं, जो निरर्थक और अबौद्धिक प्रतीत होती हैं, और जिनकी उपस्थिति का एक ही तर्क है-परम्परा।

सांस्कृतिक विकासवाद का सिद्धान्त— विवाह, परिवार, कला आदि पृथक्-पृथक् संस्थाओं के संदर्भ में अन्य कई व्यक्तियों द्वारा प्रस्तावित हो चुका था। स्विस विधिवेत्ता बाखोकेन ने "मुहररेस्ट" (मातृसत्ता 1981) में यह कहा था कि मातृसत्ता, पितृसत्ता की पूर्ववर्ती है। संस्कृति शब्द को आधुनिक अभिप्राय देने वाले जर्मन विद्वान क्लेम ने विभिन्न सामाजिक रीतियों और प्रथाओं के विश्लेषण द्वारा "मानव जाति के क्रमिक विकास की खोज और निर्धारण' करना चाहा था। लेकिन इस प्रकार के विद्वानों के पूरे समुदाय से टायलर की स्थिति भिन्न हो जाती है, क्योंकि उसने ही इस सिद्धान्त को एक व्यापक और व्यवस्थित भूमिका प्रदान की। वह अपने द्वारा निरुपित सिद्धान्त की सीमाओं के प्रति असावधान भी नहीं था। उसने विकास के नियमों को अवलोकित और अधीत तथ्यों के आधार पर किये गये सामान्यीकरण के रूप में ही स्वीकार किया और कभी विकास की निरन्तरता की किसी नियतिवादी धारणा का आग्रह नहीं किया। उसने स्पष्ट रूप में कहा कि ये स्थितियाँ या नियम "निर्देश मात्र हैं पूर्ण व्याख्या नहीं।" यद्यपि सम्मिलित रूप में मानव संस्कृति की विकासमूलक धारणा सही है किन्तु कुछ ऐसे उदाहरण मिल जाते हैं जिसमें वह अर्थात् संस्कृति अवरुद्ध भी हुई है और पतित भी। इसके अतिरिक्त वह केवल अपनी आन्तरिक सम्भावनाओं के कारण ही आगे बढ़ने में समर्थ नहीं हुई है, वरन् अन्य संस्कृतियों के कारण भी, बल्कि यह सच है कि वह प्राय: स्वयं विकसित न होकर वाह्य प्रभावों का फल रही है। संस्कृति की विकासवादी व्याख्या के प्रसंग में मार्गन का उल्लेख कई कारणों से आवश्यक है। उसके "आदिम समाज" (1977) ने एंजेल्स के माध्यम से पूरी मार्कसवादी विचारधारा को प्रभावित किया है। आज भी कुछ साधारण संशोधनों के साथ, साम्यवादी इतिहास चिंतन का एक प्रभावक व्यक्तित्व बना हुआ है। टायलर की तरह उसने भी सांस्कृतिक इतिहास को तीन स्थितियों में विभाजित किया और कहा— "ऐसा प्रतीत होता है कि ये तीन पृथक् अवस्थाएँ प्रगति के आवश्यक क्रम के रूप में सम्बन्धित हैं" (पृ. 2)। इसके आधार पर पूरी दुनिया के सामाजिक इतिहास पर विचार किया जा सकता है क्योंकि "स्रोत, अनुभव और प्रगति की दृष्टि से" पूरी मानव जाति का इतिहास एक जैसा रहा है। यहाँ तक मार्गन की स्थिति अन्य सांस्कृतिक विकासवादियों से बहुत भिन्न नहीं है, किन्तु उसका एक विचार सूत्र उसे इन सबों से अलग कर देता है। वह सांस्कृतिक और जैविक विकास में अनुपातिक संगति मानता है। उसकी दृष्टि में संस्कृति की विभिन्न स्थितियों को समानान्तर मस्तिष्कीय-मुख्यत: प्रमस्तिष्कीय विकास में खोजा जा सकता है। यह स्थापना स्वयं जैविकी दृष्टि से भी विवादास्पद है। जूलियन हक्सले ने अपने "इवाल्यूशन इन ऐक्शन की जिन तीन स्थितियों-प्राक् मानव, आदि मानव और मानव की चर्चा की है, उनका प्रमस्तिष्क के आकार के परिमाणगत (और गुणात्मक) परिवर्तनों से भी संबंध रहा है।

लेकिन मार्गन ने जिन तीन स्थितियों की चर्चा की है, वे हक्सले द्वारा निर्दिष्ट तीसरी अर्थात् मानव स्थिति से संबंध रखते हैं, जिसमें किसी प्रकार का जैविक (प्रमस्तिष्कीय) परिवर्तन नहीं हुआ है।

सांस्कृतिक विकासवादियों ने संस्कृति को उसके जीवित संदर्भ में देखने की अपेक्षा प्राप्त तथ्यों के आधार पर कुछ बने बनाये सूत्रों का समर्थन किया, और सामान्यीकरण की प्रवृत्ति को प्रोत्साहित किया। उचित तो यही था कि वे विभिन्न संस्कृतियों के रचना तंत्र के विश्लेषण से प्राप्त निष्कर्षो के आधार पर ही अपनी प्रमुख स्थापनाओं की परीक्षा करते। सांस्कृतिक विकासवाद की इन सीमाओं के कारण ही फ्रांज बोआज़ ने यह अनुभव किया कि यह सिद्धान्त सांस्कृतिक वास्तविकता की व्याख्या का अपूर्ण साधन है। वस्तुतः मानव समाज इतना विस्तृत है कि इसकी कोई भी सम्मिलित धारणा अनिश्चित और अमूर्त जैसी हो जाती है। जब तक सभी संस्कृतियों का अलग अध्ययन नहीं कर लिया जाता, तब तक यह संभव नहीं कि मानव संस्कृति मात्र के विकास की चर्चा की जाये। व्यावहारिक और वैज्ञानिक यही है कि सबसे पहले संस्कृति विशेष के ऐतिहासिक विकास का निरूपण किया जाये। बोआज़ द्वारा प्रस्तावित संस्कृति विशेष के ऐतिहासिक विकास के तथ्यमूलक अन्वेषण और निरूपण का यह सिद्धान्त जो इतिहासवाद कहलाता है, विभिन्न सांस्कृतिक विषयों के भौगोलिक वितरण और उनके आचारित रूपों के अध्ययन पर बल देता है। जब तक ऐसा नहीं किया जाता, तब तक यह संभव नहीं कि किसी संस्कृति पर पड़ने वाले प्रभावों की ओर उसकी अन्तर्वस्तु की क्रिया, प्रतिक्रिया की सही जानकारी प्रस्तुत की जा सके। हर संस्कृति, एक ओर परम्परा है जो विशेष प्रकार की ऐतिहासिक परिस्थितियों का परिणाम है तो दूसरी ओर उस परम्परा का अपने वर्तमान द्वारा उत्पन्न समस्याओं की भूमिका में किया गया विशिष्ट समायोजन। हम अधिकतम स्थितियों में उसकी चल रही प्रक्रिया-उसके गतिविज्ञान को ही उसके इतिहास की समझ की कुंजी मानने के लिए विवश हैं, क्योंकि ज्ञान की वर्तमान भूमिका में इससे अधिक कुछ भी नहीं किया जा सकता। अधिकांश आदिम जातियों के विषय में उन वर्तमान द्वारा प्रस्तुत सामग्री के अतिरिक्त और कुछ भी सुलभ नहीं। संस्कृति के अध्ययन में बोआज़ का सबसे बड़ा योग क्षेत्रीय कार्य पर बल और पूर्व कल्पित सूत्रों के आधार पर किये गये सामान्यीकरण की अपेक्षा हर संस्कृति के वैशिष्ट्य का स्वीकार है। संस्कृतियों के व्यवहारिक अध्ययन के अभाव में मानव विज्ञान, तत्व दर्शन है, विज्ञान नहीं। बोआज़ ने न केवल सांस्कृतिक विकासवादियों की कार्यप्रगति को अस्वीकार किया, वरन् उनकी कई मान्यताओं से भी अपनी असहमति प्रकट की। वह न तो यह मानने को तैयार था कि सांस्कृतिक विकास अन्ततोगत्वा प्रगतिमूलक है और न यही कि संस्कृतियाँ सरलता से जटिलता की दिशा में यात्रा करती हैं। विकास सदैव प्रगति नहीं है कि संस्कृतियों में उत्तरोत्तर जटिलता का विकास नहीं होता या कि संस्कृतियाँ अन्ततोगत्वा आगे नहीं बढ़ी हैं। लेकिन सांस्कृतिक विकास वादियों की यह धारणा सही नहीं थी कि समान स्थिति में अविस्थत संस्कृतियाँ समान होती हैं। जिस प्रकार आधुनिक कही जाने वाली संस्कृतियों में साम्य और भेद, दोनों हैं उसी प्रकार दूसरी संस्कृतियों में भी समानता समरूपता नहीं है।

मैलिनोव्सकी का कार्यवाद संस्कृति के संकलितरचना तंत्र के विश्लेषण को प्राथमिकता देता है। यह इतिहासवाद का विरोधी होते हुए भी एक अर्थ में उसका ही विस्तार है, क्योंकि उसने भी जीवित सांस्कृतिक वास्तविकता के अध्ययन को ही ऐतिहासिक विकास के निर्धारण का आधार बनाया था।

लेकिन मैलिनोव्सकी ने न तो वर्तमान सांस्कृतिक सामग्री के आधार पर ऐतिहासिक पुनर्निमाण के प्रयत्न को ही सार्थक माना और न अन्तर सांस्कृतिक तुलना को ही। ये प्रयत्न कभी अनुमान से आगे बढ़कर विज्ञान की कोटि में नहीं पहुँच पाते। उचित तो यही है कि विश्वासों और आचारों के इतिहास की खोज की अपेक्षा संस्कृति-विशेष के जीवित संदर्भ में उनकी सार्थकता अर्थात् कार्यात्मक मूल्य का अन्वेषण किया जाये। हर संस्कृति अपने आप में एक-एक अन्वित, सजीव और सक्रिय इकाई है। उसकी कोई भी वस्तु असंबंध और निरर्थक नहीं है। उसकी हर वस्तु सामाजिक गठन के संरक्षण और संचालन का साधन है। उसके 'कार्य' का अर्थ है सामाजिक व्यवस्था की निरन्तरता में उसकी यही उपयोगिता का योग। विश्वासों और व्यवहारों को इसी ''कार्य''— अपने मूल जीवन-संदर्भ से विचिछन्न कर देखने पर फ्रेजर और टायलर की तरह किताबी निष्कर्ष जो अक्सर वास्तविकता से अपनी संगति प्रमाणित नहीं कर पाते।

हर वास्तविक वस्तु को उसके संदर्भ में देखने पर बल एक ऐसी प्रस्तावना है जो पर्याप्त अन्तर्दृष्टिपूर्ण है और जिसने मानव संस्थाओं की अवगति में क्रान्तिकारी उपस्थित किया है; लेकिन मैलिनोव्सकी की कई मान्यताएँ पुनर्विचार की अपेक्षा रखती हैं। जैसे वह यह कहता है कि उत्पत्ति और कार्य में कोई भेद नहीं है, इसलिए उत्पत्ति की ऐतिहासिक व्याख्या अस्वीकार्य है।

इस बात पर विचार करना अनावश्यक है कि अमुक शिल्पतथ्य की उत्पत्ति कब हुई; क्योंकि इसका निर्णय संभव नहीं है। इसके विपरीत यदि इस बात पर विचार किया जाये कि उसकी उत्पत्ति क्यों हुई इसका समाधान किया जा सकता है। अभिप्राय यह है कि यदि विश्वासों और शिल्पतथ्यों पर विचार करने की प्रचलित ऐतिहासिक विधि के स्थान में उसके दृष्टिकोण को स्वीकार कर लिया जाये तो बहुत से प्रश्नों के पर्यवस्थिति बदली जा सकी है और अधिक विश्वसनीय समाधानों तक पहुँचा जा सकता है। वे समाधान उनके वर्तमान उपयोग में सन्निहित हैं।

किसी भी शिल्पतथ्य की उत्पत्ति का मूल, जैविक वातावरणिक है। ''इस तरह उत्पत्तियों की खोज वस्तुतः एक ओर मनुष्य की जैविक क्षमता तो दूसरी ओर वातावरण से उसके संबंध की भूमिका में सांस्कृतिक घटनावली का विश्लेषण बन जाती है। फार्क, तश्तरी से कौर को मुँह तक ले जाने का औजार है।'' इससे आगे बढ़कर इसकी उत्पत्ति की किसी ऐतिहासिक खोज का प्रयत्न व्यर्थ है।

मूल को अस्तित्व और उपादेयता से अभिन्न कर देखना कार्य और इस प्रकार संस्कृति की अधूरी व्याख्या को स्वीकार कर लेना है। भोजन का जैविक मनोवैज्ञानिक मूल, बुभुक्षा है, किन्तु यह न तो भोजन प्रकारों का निर्धारण करती है और न पाक विधियों का। किसी भी शिल्पतथ्य या उपयोगी वस्तु के विशेष स्वरूप की व्याख्या उसके इतिहास के सन्दर्भ में ही की जा सकती है। यह सच है कि संस्कृति, जैविक-परिवेशिक अपेक्षाओं से उत्पन्न होती है, लेकिन यह उन अपेक्षाओं तक ही सीमित नहीं है। स्वयं मैलिनोव्स्की को अपनी इस मान्यता की सीमा का किसी न किसी रूप में बोध रहा होगा, अन्यथा कोई कारण नहीं कि उसके जैसा अतिवादी, सीमा तक अपने पक्ष का समर्थन करने वाला व्यक्ति अपने ''सांस्कृतिक परिवर्तन का गतिविज्ञान'' में इस प्रकार का विचार प्रकट कराता : ''मैं समझता हूँ कि तथाकथित कार्यवाद इतिहासवादी दृष्टिकोण का न तो विरोधी है और न विरोधी हो सकता है। वरन् (यह) उसका आवश्यक पूरक है।'' (पृ. 34)

स्वाभाविक है कि कार्यवादी होने के कारण मैलिनोव्स्की अवशेष या उत्तर-- जीविका की धारणा को अस्वीकार कर देता है। संस्कृति में वैसा कुछ भी नहीं जो निरर्थक या विजातीय हो। जो मानते हैं कि इसमें पूर्वयुग से चले आते हुए वैसे विश्वास और रीतियाँ है जो कभी सार्थक या, साभिप्राय थे और अब असंगत हो गये हें, वे भूल जाते हैं कि यह (संस्कृति) अपने स्वभाव से ही अनुकूलनशील और संहत इकाई है। यदि पूर्वयुग की कोई प्रथा या रीति इसमें विद्यमान है तो इसका अर्थ यह है कि जिसने अपने को परिवर्तित स्थिति के अनुरूप बना दिया है, और इस प्रकार नया कार्यात्मक मूल्य अर्जित कर लिया है। यदि वह अनुपयुक्त हो जाती है तो उसका अस्तित्व समाप्त हो गया होता। ऊपर से यह युक्ति एकदम सही प्रतीत होती है, पर सच तो यह है कि उत्तर-जीवित रहने वाली हर वस्तु नया कार्यात्मक मूल्य अर्जित नहीं कर पाती और न पूरी सांस्कृतिक पर्यवस्थिति में अपने बौद्धिक संगति का विकास कर पाती है। यह सवाल उचित ही उठाया गया है कि मैलिनोव्स्की को वास्तविक और मिथ्या कार्यों में भेद करना चाहिये था। ''सांस्कृतिक परिवर्तन का गतिविज्ञान'' में सांयोगिक रूप से ही सही वह ''अवशेषों की प्रासंगिकता--की चर्चा करता भी है। फिर भी इसमें कोई संदेह नहीं कि इस प्रकार की स्वीकृतियाँ उसके पूरे साहित्य में विरल हैं।

संरूपवाद कार्यवाद से उपजा हुआ सिद्वान्त है जो इस प्रश्न का समाधान करता है कि संस्कृति को एक संहत इकाई बनाये रखने वाली- इसे परिचालित करने वाली शक्तियाँ कौन-सी है। संस्कृति के सभी अवयव परस्पर संबंधित हैं लेकिन यह सम्बद्धता यांत्रिक न होकर मनोवैज्ञानिक है। संस्कृति अभिप्रायों की एक जटिल संरचना है। यह अपने अन्तिम विश्लेषण में वस्तुनिष्ठ न होकर मानसिक है। सबसे पहले सेपीर ने भाषा के प्रसंग में संस्कृति के रचनातंत्र की इस विशेषता का उल्लेख किया। उसने यह कहा कि भाषिक व्यवहार (और इस प्रकार समस्त सांस्कृतिक व्यवहार) उन अभिप्रायों पर आधारित हैं जिन्हें समाज के सभी सदस्य स्वीकार और संप्रेषित करते हैं। संस्कृति की संरूपतावादी धारणा जिनके साथ क्रोबर का नाम सम्बद्ध है, मानव विज्ञान और दर्शनशास्त्र को एक दूसरे के समीप ला देती है।

इन मतवादों पर विचार करने के बाद यह परिलक्षित करना कठिन नहीं है कि इनका स्वरूप एक जैसा नहीं है। यह बात दूसरी है कि वे संस्कृति के विश्लेषण के क्रम में जैसे स्वाभाविक रूप में विकसित होते गये हैं। इनमें कुछ का दृष्टिकोण ऐतिहासिक है तो कुछ का रूपात्मक। रूपात्मक दृष्टि ने संस्कृति के आन्तरिक विधान को स्पष्ट किया है, किन्तु यह ऐतिहासिक दृष्टि का स्थानापन्न नहीं है। यह अनुभव ही सांस्कृतिक विकासवाद इधर पिछले तीन दशकों में, पुनर्जीवन के मूल में है। यह सच है कि सांस्कृतिक विकासवाद की चर्चा आधुनिक यूरोप के फैशन में शामिल नहीं है, लेकिन लेसली ह्याइट और गार्डन चाइल्ड जैसे विद्रानों ने इसे फिर से स्थापित करने का प्रयत्न किया है। लेसली ह्याइट ने अपनी ''संस्कृति का विकास'' (द इवाल्यूशन ऑफ कल्चर: 1951) की भूमिका में स्पष्ट रूप से यह लिखा हे :''इस पुस्तक में निरूपित विकास का सिद्धान्त टायलर के मानस विज्ञान 1881 ई. में व्यक्त सिद्धान्त से रंचमात्र भी भिन्न नहीं है, हालांकि इस सिद्धान्त का विकास, अभिव्यक्ति और उत्पत्ति कुछ बातों में भिन्न हो सकती है और है भी। संस्कृति का स्वरूप प्रविधि पर अवलम्बित है प्रविधि जीवन यापन की प्रणाली और स्तर में ही व्यक्त नहीं होती, वह व्यवहार के विशेष पैटर्न को भी जन्म देती है

और ये पैटर्न, प्रचलित पैटर्न के साथ, स्थानान्तरण, संशोधन आदि की प्रक्रिया के माध्यम से अपना समायोजन ढूँढ़ लेते हैं। प्रविधितंत्र का परिवर्तन दर्शन, धर्म-कला आदि क्षेत्रों को प्रभावित करता है, क्योंकि वे "मूलभूत प्राविधिक प्रक्रिया के गैरप्राविधिक रूप हैं।"

यहाँ इस बात का स्पष्टीकरण अनुसांगिक नहीं होगा कि सांस्कृतिक विकासवाद डार्विन और वैलेस द्वारा निरूपित जैविक विकासवाद से कहाँ तक अभिन्न है। यह स्पष्टीकरण इसलिए आवश्यक है कि सांस्कृतिक विकासवाद की जैविक विकासवाद का रूपान्तर या विनियोग समझ लिया जाता है। लेकिन दोनों की अध्ययन विधियों की तुलना करने पर इस बात में कोई संदेह नहीं रह जाता कि इनमें पर्याप्त भेद है। जैविक विकास एकमार्गी न होकर बहुमार्गी हुआ करता है और इसमें जीन के उत्परिवर्तन के जो नियम काम करते हैं, वे यादृच्छिक होते हैं। वे जिस जीवजाति की सीमा में घटित होते हैं उसके लिए सदैव उपकारक ही नहीं होते। लेकिन मॉर्गन, लेसली ह्वाइट आदि ने जिस 'विकास का सिद्धान्त' दिया है वह सदैव एकमार्गी, उपकारक और नियमबद्ध प्रकृति का है। यह प्रश्न स्वाभाविक है कि उनकी अध्ययन विधि को, वैज्ञानिक अर्थ में विकासवादी कहना कहाँ तक उचित है। इसका समाधान स्वयं जैविक विकासवाद कर देता है।

मानव जाति की स्थिति में यादृच्छिक और अंधविश्वास का स्थान निर्दिष्ट और प्रयोजनगर्भित विकास ने ले लिया। मनुष्य के साथ प्राणियों की दुनिया में यह प्रयोजन या सोदेश्यता नाम की नयी चीज उत्पन्न हुई है, जिसने नये प्रकार के नियन्त्रित विकास को जन्म दिया है। इसने जैविक विकास को बाधित कर दिया है। इसलिए मानव जाति के सन्दर्भ में उस सांस्कृतिक विकास की चर्चा को अवैज्ञानिक नहीं कहा जा सकता जो यादृच्छिक न होकर नियमित और उपकारक है।

इसका अर्थ यह नहीं है कि सांस्कृतिक विकासवाद द्वारा कार्यवाद और संरूपवाद नष्ट हो जाते हैं और यही कि ये सिद्धान्त सांस्कृतिक विकासवाद को रद्द कर देते हैं। संस्कृति के अध्ययन और विश्लेषण के क्रम में विकसित इन सभी मतवादों ने एक दूसरे के आग्रह का खण्डन करके इसके स्वरूप को बहुत कुछ स्पष्ट किया है, तथा इसके व्यवस्थित और बहुविध अध्ययन की सम्भावना उत्पन्न की है। लेकिन यह सत्य है कि सांस्कृतिक विकासवाद और अब गठनात्मक मानव विज्ञान के सिवा अन्य सभी मतवाद अन्तर सांस्कृतिक तुलना से कतराते रहे हैं। जब तक इन सिद्धान्तों के प्रवक्ता संस्कृतियों को आत्मबद्ध और स्वयंसीमित इकाइयाँ मानते रहेंगे तबतक वे संस्कृति के सही विज्ञान का विकास कर पाने में शायद ही सफल हो सकेंगे। लेकिन पिछले तीन दशकों की प्रवृत्ति यह बतलाती है कि इस दिशा में सोचने वालों की कमी नहीं रह गयी है (डा. दिनेश्वर प्रसाद-लोक साहित्य और संस्कृति का स्वरूप पृ. 81-83 संस्कृति मतवादों की भूमिका में पृ. 64-103)।

संस्कृति की समाजशास्त्रीय परिभाषा—

मैकाइबर और पेज के अनुसार —"संस्कृति हमारे दैनिक व्यवहार में, कला में, साहित्य में, धर्म में, मनोरंजन में और आनन्द में पाये जाने वाले रहन सहन और विचार के तरीकों में हमारी प्रकृति की अभिव्यक्ति है।

निर्मन तथा गिर्लन के अनुसार —''प्रत्येक समूह तथा प्रत्येक समाज में (आन्तरिक तथा वाह्य) व्यवहार के ऐसे प्रतिमानों का समूह होता है जो न्यूनाधिकरूप में सदस्यों में सामान्य होते हैं जो एक पीढ़ी से दूसरी पीढ़ी को हस्तांतरित होते हैं, तथा बच्चों को सिखाये जाते हैं और जिनमें निरन्तर परिवर्तन की संभावना रहती है। इन सामान्य प्रतिमानों को हम संस्कृति कहते हैं।

मरे के अनुसार : —''मानव अपने मस्तिष्क, व्यवहार, गुण आदि का जो विकास सृजन, उन्नति और सौन्दर्य वृद्धि करता है उसी का नाम संस्कृति है।''

अंग्रेजी कवि टी. एस. इलियट के अनुसार—''विशिष्ट व्यवहार, ज्ञानार्जन, कलाओं का सेवन इत्यादि के अतिरिक्त किसी जाति अथवा राष्ट्र के सम्पूर्ण कार्य जो शिष्टतापूर्वक हैं, उसकी संस्कृति के अंग हैं, जैसे घुड़दौड़, नावों की प्रतियोगिता, खान-पान का प्रकार, संगीत नृत्य इत्यादि।

प्रसिद्ध साहित्यकार के. एस. मुन्शी के अनुसार ''हमारे रहन सहन के पीछे जो हमारी मानसिक अवस्था, मानसिक प्रकृति है जिसका उद्देश्य हमारे जीवन को परिष्कृत, शुद्ध एवं पवित्र बनाना है तथा अपने लक्ष्य की प्राप्ति कराना है, वही संस्कृति है।''

संस्कृति की ऐतिहासिक परिभाषा—

डा. बुद्ध प्रकाश ने ''भारतीय-संस्कृति''नामक ग्रन्थ में संस्कृति को परिभाषित करते हुए कहा है कि ''संस्कृति, मनुष्य के उस कार्यकलाप का नाम है जो उसके निजी प्रयास से निष्पन्न होकर उसके जीवन की परिस्थिति का परिष्कार करता है। इसकी व्याख्या करते हुए उन्होंने लिखा है कि मनुष्य जगत् और जीवन को वैसे ही स्वीकार नहीं कर लेता जैसा प्रकृति ने इन्हें बनाया है। वह इनमें अपनी इच्छा, रुचि और आवश्यकता के अनुसार अपनी शक्ति, साधन और योग्यता के अनुरूप परिष्कार करता है। उसकी इस प्रक्रिया को ''संस्कृति'' कहते हैं।'

प्रसिद्ध इतिहासकार डा. गोविन्द चन्द पाण्डेय के अनुसार 'मूलतः संस्कृति जीवन की ओर एक विशिष्ट दृष्टिकोण है, अनुभव में मूल्यांकन और व्याख्या का एक विशिष्ट और मूलभूत प्रकार है। विचार, भावना, तथा आचरण के विभिन्न प्रस्तरों में संस्कृति की सिद्धि है।

किसी देश या जाति की परम्परागत विशिष्टताओं और लौकिक समृद्धि को उसकी 'सभ्यता' कहा जाता है। सभ्यता का संबंध मुख्यतः भौतिक आविष्कारों से, आत्मा मन तथा देह के सामंजस्य से होता है। ''संस्कृति'' सभ्यता का वह स्वरूप है जो मानसिक, बौद्धिक एवं आध्यात्मिक वैशिष्ट्य का द्योतक होता है। दूसरे शब्दों में 'संस्कृति' मानव तथा मानव समुदाय की मानसिक, बौद्धिक तथा आध्यात्मिक शक्तियों की अभिवृद्धि और परिष्करण की सूचक होती है। संस्कृति का मूल्य मात्र भौतिक समृद्धि से नहीं जाँचा जा सकता। किसी देश या जाति की आचरणपरक अनुश्रुति भी उसकी संस्कृति का द्योतक होती है। संस्कृति का अभ्युदय ऐसे शिक्षक और अनुशासन द्वारा होता है जिससे मनुष्य का बौद्धिक तथा नैतिक अभ्युत्थान साधित हो। उच्च्तर आध्यात्मिक जीवन के लिए सचेतन प्रयत्नशीलता को भी संस्कृति कहा जाता है। आध्यात्मिक जीवन का संबंध मनुष्य की आंतरिक स्थिति से होता है। जब आध्यात्मिक जीवन विकसित होता है तो वह संस्कृति का प्रयोग उच्चतर उद्देश्यों के लिए करता है।

संस्कृति की विशेषताएँ

1. संस्कृति मानव द्वारा निर्मित है। मानव की शरीर संबंधी विशेषताएँ एवं उसकी मानसिक क्षमताओं ने ही संस्कृति को जन्म दिया है। यह बात ऊपर बतायी गयी है कि मनुष्य की मेधावी शक्ति पशुओं की अपेक्षा बहुत उच्च है। अपने मस्तिष्क के कारण मनुष्य जटिल समस्याओं का समाधान करता है, प्रयोगों द्वारा ज्ञान प्राप्त करता है। भाषा का निर्माण कर सका है और सामाजिक विरासत, को परम्परा के रूप में एक वंश में दूसरे वंश तक हस्तान्तरित करता है। अपनी मानसिक तथा शारीरिक क्षमताओं के परिणाम स्वरूप ही मानव संस्कृति का निर्माण तथा विकास कर पाया है। कला, ज्ञान, प्रतिमान, विधान तथा भवन, फर्नीचर और कपड़े जैसी वस्तुओं को मनुष्य ने ही बनाया है।

    इस प्रकार हम अपने चारों ओर या तो सांस्कृतिक वस्तुओं या प्राकृतिक वस्तुओं जैसे जल, आग, धरती, पहाड़, इत्यादि को देखते हैं।

2. संस्कृति सीखा हुआ व्यवहार है। मनुष्य के व्यवहार कुछ तो प्राकृतिक या प्राणशास्त्रीय हैं और कुछ सीखे हुए होते हैं। मानव अपने जन्म से ही संस्कृति को देखता और सीखता रहता है।

    परन्तु प्रत्येक सीखे हुए व्यवहार को संस्कृति नहीं कहते हैं। मनुष्य के कुछ व्यवहार व्यक्तिगत होते हैं और कुछ सामूहिक। व्यक्तिगत सीखे हुए व्यवहार संस्कृति में सम्मिलित नहीं होते है। केवल वही व्यवहार संस्कृति के अन्तर्गत आते हैं, जो समुदाय के सभी या अधिकतर सदस्यों के व्यवहार होते हैं। इसीलिए इन्हें सामूहिक आदतें (group habits) कहते हैं।

3. संस्कृति संचारित या हस्तान्तरित होने का गुण रखती है। संस्कृति का स्थान और समय में संचारण होता है। जब एक वंश से दूसरे वंश को एक ही समाज की संस्कृति हस्तांतरित की जाती है तो यह संचारण समय के अनुसार होता है। और उसे परम्परा (Tradition) कहते हैं। इसी प्रकार जब किसी संस्कृति के कुछ गुण एक समाज से दूसरे समाज में चले जाते हैं, तो यह स्थानीय संचारण हुआ और इसे (Diffusio of culture) संस्कृति का प्रसार कहते हें।

    मानवीयसमाज में भाषा का बड़ा महत्त्व है। इसी के माध्यम से संस्कृति संचारित और हस्तांतरित की जाती है।

4. संस्कृति में संचय का गुण है। संस्कृति की एक अन्य विशेषता है उसकी संचयी प्रकृति। हर पीढ़ी अपनी पिछली पीढ़ी के कंधों पर खड़ी होती है। हर पीढ़ी अपनी संस्कृति अपनी आगे आने वाली पीढ़ी को हस्तान्तरित कर देती है। इस सामाजिक विरासत को नयी पीढ़ी स्वीकार कर लेती है, किन्तु अपने समय में वह कुछ न कुछ वृद्धि करती जाती है। इसी प्रकार तीसरी पीढ़ी, दूसरी पीढ़ी से प्राप्त संस्कृति को लेकर उसके आगे अपना कार्य आरम्भ करती है और इसमें कुछ न कुछ जोड़ देती है। इसी तरह पीढ़ी-दर पीढ़ी यह प्रक्रिया चलती रही और संस्कृति के आकार में वृद्धि होती रही। मानव संस्कृति का जो वर्तमान रूप हम देख रहे हैं,

वह संचय का परिणाम है। यही कारण है कि वर्तमान संस्कृति अपने भूत से हमेशा बड़ी तथा विस्तृत रहती है।

5. संस्कृति मानवीय आवश्यकताओं की पूर्ति करती है। मनुष्य अधिकांश आवश्यकताएँ रखता है, जिसकी संतुष्टि आवश्यकता है। संस्कृति का एक विशेष गुण मानवीय आवश्यकताओं की पूर्ति है। मालिनोविस्की का विचार है कि संस्कृति का प्रत्येक तत्व किसी न किसी मानवीय आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए होता है। बिना उपयोगिता तथा कार्य के कोई सांस्कृतिक तत्व जीवित नहीं रह सकता। कार्यवादियों का विचार है कि प्रत्येक सांस्कृतिक तत्व का सम्पूर्ण सांस्कृतिक ढाँचे में कोई न कोई कार्य अवश्य होता है। संस्कृति का यह कार्य उसके विकास में भी सहायता देता है। मनुष्य अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति तथा सुख के लिए नई-नई वस्तुओं का आविष्कार करता है इसीलिए यह कहा जाता है कि आवश्यकता आविष्कार को जन्म देती है।

6. संस्कृति में सामंजस्य तथा अनुकूलन का गुण है। मनुष्य इस संसार के विभिन्न प्रखण्डों तथा क्षेत्रों में रहता है। हर स्थान का अपना भौगोलिक महत्व है। कहीं रेगिस्तान है तो कहीं पहाड़, कहीं हरे भरे खेत हैं तो कहीं ऊँचे-ऊँचे पहाड़। इसी प्रकार कहीं अधिक ठंड पड़ती है तो कहीं गर्मी का प्रकोप होता है। संस्कृति की सहायता से मनुष्य भौगोलिक क्षेत्रों में अनुकूलन करता है और जीवित रह पाता है। विभिन्न स्थानों में रहने वाले लोगों की संस्कृतियों में विभिन्नता का यह मुख्य कारण है।

7. संस्कृति परिवर्तनशील है। संस्कृति नवीन परिस्थितियों में अनुकूलन करती रहती है। यही कारण है कि इसकी प्रकृति प्रगतिशील होती है।

8. संस्कृति आदर्श है। प्रत्येक समाज में एक विशेष संस्कृति होती है, जो अधिकांश गुणों के साथ व्यक्तियों तथा समूहों के लिए आदर्श होती है। एक संस्कृति व्यवहार, प्रतिमानों तथा सामाजिक मूल्यों का संकलन होती है। समाज के सदस्य इन आदर्शों के अनुसार ही व्यवहार करने का प्रयत्न करते हैं।

9. संस्कृति में सन्तुलन तथा संगठन होता है। प्रत्येक संस्कृति में सांस्कृतिक तत्व तथा तत्व समूह होते हैं। ये इकाइयाँ संगठित सूत्र में व्यवस्थित रूप में स्थापित होती हैं। यही कारण है कि संस्कृति में एक संतुलन तथा संगठन होता है, जिसे संस्कृति तंत्र कहते हैं। समस्त इकाइयाँ एक दूसरे के साथ इस प्रकार संबंधित और संगठित होती हैं कि सांस्कृतिक तन्त्र में एक सन्तुलन पाया जाता है, प्रत्येक इकाई दूसरी इकाइयों को प्रभावित करती तथा उनसे स्वयं भी प्रभावित होती है। यदि एक इकाई में परिवर्तन होता है तो उसका प्रभाव अन्य इकाइयों पर भी पड़ता है और वह उससे सामन्जस्य करने का प्रयत्न करती है। वह सामन्जस्य की प्रक्रिया सांस्कृतिक तत्व में सदैव चलती रहती है, इसी प्रक्रिया के कारण परिवर्तनशील स्थिति में भी संस्कृति का संतुलन तथा संगठन बना रहता है। यह गुण यदि किसी संस्कृति में न हो तो इकाइयाँ एक दूसरे से अलग हो जायें तथा सम्पूर्ण सांस्कृतिक ढाँचा ही अव्यवस्थित हो जाये।

10. संस्कृति मानव व्यक्तित्व के निर्माण में मौलिक होती है। प्रत्येक व्यक्ति कुछ अनोखे लक्षण रखता है, अर्थात् अन्य व्यक्ति वैसे नहीं रखते। कुछ ऐसे लक्षण होते हैं, जो प्रत्येक व्यक्ति में पाये जाते हैं। मनुष्य होने के नाते विभिन्न व्यक्तियों की शारीरिक तथा जीवनशास्त्रीय विशेषताएँ समान होती हैं। यह सांस्कृतिक प्रभाव का परिणाम है। एक संस्कृति में पले व्यक्तियों में समान लक्षण होते हैं, जो अन्य संस्कृतियों में पले व्यक्तियों के लक्षणों से भिन्न होते हैं। लिंटन के शब्दों में ''संस्कृति, व्यक्तियों के मौलिक व्यक्तित्व के ढाँचे का निर्माण करती है। यह ढाँचा संस्कृति के प्रभाव से विकसित होता है, प्रत्येक संस्कृति के कुछ प्रतिमान, मूल्य आदर्श होते हैं, जिनके अनुरूप ही उस संस्कृति में पले सदस्यों के व्यक्तित्व, विकसित होते हैं। यही कारण है कि भारतीय संस्कृति में पले हुए लोगों का मौलिक व्यक्तित्व अन्य संस्कृतियों में पले हुए व्यक्तियों से भिन्न है।

11. प्रत्येक मनुष्य की एक विशिष्ट संस्कृति होती है। प्रत्येक समाज अपनी भौगोलिक तथा मानसिक आवश्यकताओं के अनुरूप ही अपनी-अपनी संस्कृति का निर्माण करता है। यही कारण है कि प्रत्येक समाज की संस्कृति दूसरी संस्कृतियों से भिन्न होती है। इसमें कोई संदेह नहीं कि मानव आवश्यकताएँ समान होती हैं। यही कारण है कि कुछ सांस्कृतिक गुण प्रत्येक समाज में पाये जाते हैं। मर्डक के शब्दों में ''यह संस्कृति का सामान्य दर है।'' इसलिए इनकी पूर्ति के ढंग भी बहुत कुछ समान हैं। किन्तु प्रत्येक समाज अपने विशेष ढंग से अनेक आवश्यकताओं की पूर्ति करता है। विभिन्न संस्थाओं के रूप विभिन्न समाज में अलग-अलग हैं। अत: प्रत्येक समाज की संस्कृति विशिष्ट होती है।

मनुष्य ही संस्कृति का निर्माण करता है। व्यक्तियों के ही द्वारा संस्कृति विकसित होती है। इस दृष्टि से व्यक्ति संस्कृति से ऊपर दीख पड़ता है। किन्तु संस्कृति बहुत ही विस्तृत तथा व्यापक होती है। संस्कृति किसी विशेष व्यक्ति की रचना नहीं है। एक व्यक्ति संस्कृति के कुछ भाग का ही उपयोग कर सकता है, सम्पूर्ण संस्कृति का नहीं।

12. संस्कृति में सामाजिकता का गुण होता है। संस्कृति मानव द्वारा निर्मित होने पर भी उसकी प्रकृति सामाजिक होती है। वह एक समाज की सम्पूर्ण सामाजिक जीवन विधि का प्रतिनिधित्व करती है। यह व्यक्तित्व व्यवहार पर प्रत्यक्ष अथवा अप्रत्यक्ष रूप से अंकुश रखते हुए एक व्यक्ति से उससे अपने समाज के अनुरूप व्यवहार करने की अपेक्षा रखती है। किसी मानव समूह की संस्कृति में सदैव स्थिरता ही नहीं होती, उसमें परिवर्त एवं समायोजन का गुण भी विद्यमान रहता है। परम्परागत एवं रूढ़िगत समाज इसके अभाव में सांस्कृतिक पिछड़ेपन की स्थिति में जकड़े हुए होते हैं।

13. दूबे का कथन है कि प्रारंभ में मानव, संस्कृति का निर्माण करता है तथा फिर संस्कृति मानव के व्यक्तित्व के अनेक पक्षों को निर्मित करने लगती है। संस्कृति का प्रभाव मानव की शरीर रचना तथा मनोभावों के गठन पर भी पड़ता है। व्यक्ति और संस्कृति दोनों एक दूसरे को क्रमश: प्रभावित करते हैं, तथा संस्कृति व्यक्ति को एक विशेष साँचे में ढालती है।

संस्कृति किसी व्यक्ति निर्मित नहीं है। यह किसी समूह के अधिकांश व्यक्तियों के व्यवहारों आदतों एवं विचारों के स्वीकृत प्रतिमानों पर आधारित है। इससे यह बात स्पष्ट है कि संस्कृत व्यक्ति विशेष से ऊपर है।

फिर किसी एक व्यक्ति के कार्य, आदतें तथा व्यवहार, करने के बाद समाप्त हो जाते हैं, किन्तु संस्कृति की निरन्तरता पीढ़ी हस्तान्तरित होती रहती है। संस्कृति अधिकांश व्यक्तियों की अन्तः क्रियाओं की देन होती है, जो व्यक्तियें के जीवन तथा मृत्यु से संबंध नहीं रखती। किंतु संस्कृति की रचना तथा निरन्तरता की प्रक्रिया सदैव चलती रहती है।

व्यक्ति संस्कृति में जन्म लेता है। वह किसी संस्कृति में पाला-पोसा जाता है। इसलिए व्यक्ति का मौलिक व्यक्तित्व ढाँचा संस्कृति के अनुसार ही विकसित होता है। उसके व्यक्तित्व पर संस्कृति की छाप होती है। उसके व्यवहार, विचार तथा आदतों पर संस्कृति का प्रभाव निरन्तर पड़ते रहता है। व्यक्ति संस्कृति के आगे बहुत छोटा दीख पड़ता है। यही नहीं, सांस्कृतिक परम्पराओं में व्यक्ति परिवर्तन नहीं कर सकता। वह केवल उनसे अनुकूलन करता है। हर्बर्ट स्पेन्सर तथा बाद में क्रोबर ने संस्कृति को अधिसावयवी (super organic) बताया है। क्रोबर के विचार हैं कि संस्कृति व्यक्तियों के जीवन को विभिन्न रूपों से प्रभावित करती है। संस्कृति, मानव व्यक्तियें का निर्माण करती है। संस्कृति ही मानव को अन्य पशु संसार से उच्च्व स्थान प्रदान करती है। इस प्रकार संस्कृति अधि-सावयवी है। दूसरा यह कि सावयवी (organic) घटनायें संस्कृति को एक पीढ़ी तक हस्तान्तरित नहीं करती है। वंशानुक्रमण के द्वारा संस्कृति हस्तान्तरित नहीं होती। संस्कृति समूह में मानव अन्यः क्रियाओं द्वारा हस्तान्तरित होती है। इसलिए संस्कृति अधि-सावयवी है।

किन्तु इसका अर्थ यह नहीं है कि संस्कृति मनुष्य के बिना भी विकसित हो सकती है। यह बात याद रखनी चाहिये कि संस्कृति का निर्माता तथा जीवन दाता मनुष्य ही है। संस्कृति मनुष्य पर ही आधारित है। संस्कृति का अधिव्यक्ति तथा, अधि-सावयवी होने का केवल इतना ही अर्थ है कि संस्कृति किसी एक व्यक्ति पर निर्भर नहीं है। इसकी रचना, निर्माण, विकास व्यक्तियों के समूह द्वारा इतिहास में हुआ है। इस प्रकार यह समूह पर आधारित है।

सांस्कृतिक संबंध में कतिपय विरोधाभास

संस्कृति की मूल प्रकृति को समझने के लिए कुछ प्रकट विरोधाभासों का समाधान करना आवश्यक है। ये विरोधाभास इस प्रकार है—

1. मानव के अनुभव में संस्कृति सार्वभौमिक है किन्तु इसका प्रत्येक स्थानीय अथवा प्रादेशिक अभिव्यक्ति अद्वितीय है। संस्कृति सर्वत्र ही मानव समाजों में पाई जाती है। परन्तु प्रत्येक स्थान की भौगोलिक, आर्थिक, एवं सामाजिक भिन्नताओं के परिणामस्वरूप उसके स्वरूप में विशिष्ठता अथवा भिन्नता देखने को मिलती है। इस प्रकार संस्कृति की सार्वभौमिकता मानव समाज का गुण है, परन्तु प्रत्येक संस्कृति, दूसरी संस्कृति से भिन्नता लिए हुए होती है।

2. संस्कृति स्थिर है, किन्तु गतिशील भी है, तथा निरन्तर स्थायी परिवर्तन को व्यक्त करती

हे। परिवर्तन मानव समाज का अभिन्न अंग है। मानव की आवश्यकताओं, विचारों, एवं परिस्थितियों में होने वाला परिवर्तन संस्कृति को गतिशील बनाता है। इस प्रकार संस्कृति पूर्णतया स्थिर अथवा जड़ नहीं रहती है। हर्षकोविट्स के शब्दों में, ''संस्कृति स्थिर और सदैव परिवर्तनशील दोनों है। सांकृतिक परिवर्तन का केवल सांस्कृतिक स्थिरता की समस्या के अंश के रूप में ही अध्ययन किया जा सकता है। संस्कृति की स्थिरता को तभी समझा जा सकता है, जबकि परिवर्तन को रूढ़िवादिता के विरुद्ध मापा जा सके।''

3. संस्कृति हमारे जीवन की दिशा को अधिकतर निश्चित करती है, फिर भी हमारे सचेत विचारों में शायद ही प्रवेश करती हो। मानव जीवन पर्यन्त सांस्कृतिक परिवेश में ही रहता है, उससे विमुख होने की कल्पना भी नहीं कर सकता है। संस्कृति मानव के जीवन विधि का निर्धारण करती है। व्यक्ति मात्र चेतन में ही नहीं, अवचेतन रूप में भी सीखता है अथवा उसके अनुरूप व्यवहार करता है। इस प्रकार सीखने की प्रक्रिया में मात्र सचेतन प्रयत्न ही नहीं अचेतन क्रियाओं का भी समावेश होता है। कोई भी संस्कृति किसी अकेले प्राणी की पहुँच से परे है। संस्कृति स्वतंत्र रूप से अस्तित्व में रहती है। वह मानव से श्रेष्ठ है, इसीलिए संस्कृति के अनेक पक्षों तथा प्रभावों के विषय में हम पूर्ण रूप से अवगत नहीं हो पाते हैं।

संस्कृति के उपादान

संस्कृति के विषय में आवश्यक जानकारी के साथ-साथ यह भी जरूरी है कि इससे संबंधित अन्य विषयों का ज्ञान प्राप्त किया जाये।

1. **संस्कृति तत्त्व** (Culture traits or elements)

1917 में विस्लर ने अपनी पुस्तक 'मानव तथा संस्कृति (Man and Culture) में संस्कृति तत्व तथा संस्कृति तत्व समूह का वर्णन किया था। एक सांस्कृतिक तत्व सबसे पहले सरल भौतिक या क्रियात्मक प्रतिमान है जिसे हम जानते हैं, तथा वह तत्व ही वह ईंट है जिससे समाज की सम्पूर्ण संस्कृति बनी है। डा. दूबे के अनुसार संस्कृति तत्वों को हम संस्कृति के गठन की सरलतम व्यवहारिक इकाइयाँ मान सकते हैं।

इन परिभाषाओं से यह स्पष्ट है कि संस्कृति तत्व किसी भी संस्कृति की एक सरल इकाई है, जो भौतिक और अभौतिक दोनों ही हो सकती है। इन्हीं छोटी-छोटी इकाइयों से मिलकर संस्कृति की रचना हुई। किसी संस्कृति की रचना के विश्लेषण करने के लिए संस्कृति तत्वों की जानकारी आवश्यक है। छोटे-छोटे अनेक तत्वों से मिलकर संस्कृति तत्व का निर्माण होता है।

संस्कृति तत्व की विशेषता यह है—

1. अपनी उत्पत्ति के संबध में प्रत्येक संस्कृति तत्व का अपना एक इतिहास होता है। यह इतिहास संक्षिप्त भी हो सकता है।
2. इसकी दूसरी विशेषता यह है कि संस्कृति तत्व, संस्कृति की तुलना में स्थायी नहीं होता है। इसमें समय-समय पर परिवर्तन होते रहते हैं। इस प्रकार गतिशीलता संस्कृति तत्व की

विशेषता है।

3. किसी भी संस्कृति के अध्ययन के लिए संस्कृति तत्व का अध्ययन आवश्यक है। संस्कृति के अध्ययन तथा विश्लेषण का इसे प्राथमिक आधार माना गया है। संस्कृति तत्व के प्राथमिक आधारों पर ही सांस्कृतिक व्यवस्था आधारित है। ये अन्य इकाईयों के साथ इतने जुड़े हुए होते हैं, कि इन्हें पृथक करने में बड़ी कठिनाई होती है।

संस्कृति तत्व समूह : संस्कृति तत्वों के समूह को संस्कृति तत्व समूह कहते हैं। होबल के अनुसार ''संस्कृति तत्व समूह कुछ नहीं, किन्तु तत्वों का एक बड़ा समूह होता है, जो किसी संदर्भ के केन्द्र-बिन्दु के चारों ओर संगठित रहता है।'' इसका अर्थ है कि जब एक संस्कृति तत्व के साथ अन्य तत्व सम्मिलित हो जाते हैं तो उसे संस्कृति तत्व समूह कहते हैं। यह एक संस्था नहीं, किन्तु कई संस्थाओं में परस्पर संबंधी क्रिया का परिणाम है।

संस्कृति क्षेत्र : किसी भौगोलिक क्षेत्र में पाये जाने वाले संस्कृति तत्व समूह को संस्कृति-क्षेत्र कहते हैं। उन संस्कृति तत्वों का विकास कैसे हुआ, उनका प्रभाव क्षेत्र कितना है? कुछ विद्वानों का विचार है कि संस्कृति तत्व या संस्कृति तत्व समूह एक विशेष भौगोलिक क्षेत्र में फैलकर संस्कृति क्षेत्र का निर्माण करते हैं। होबेल के अनुसार ''एक संस्कृति क्षेत्र, भौगोलिक क्षेत्र के भाग के रूप में प्रमाणित किया जा सकता है, जिसमें कि सांस्कृतिक समानता की एक मात्रा होती है, जो उसे दूसरी संस्कृति से भिन्न करती है। संस्कृति तत्वों की समानता है इसी आधार पर संस्कृति-क्षेत्र की सीमा निर्धारित की जाती है।

संस्कृति-प्रतिमान : सर्वप्रथम 'संस्कृति प्रतिमान' का व्यवहार रूथ बेनेडिक्ट ने अपनी पुस्तक 'संस्कृति के प्रतिमान' में किया। उन्होंने बताया कि प्रत्येक में एक प्रभावशाली आदर्श, विचार और प्रवृत्ति होती है, जिसका प्रभाव सम्पूर्ण समाज पर और व्यक्तियों के व्यवहार पर पड़ता है। उचित या अनुचित का निर्धारण संस्कृति के मूल्य या प्रतिमान करते हैं। प्रत्येक संस्कृति के कुछ उद्देश्य आदर्श होते हैं, जो अन्य संस्कृतियों से भिन्न होते हैं। समाज के व्यक्ति इसी आदर्श के अनुसार अपना व्यवहार तथा व्यक्तित्व बनाते हैं। इसलिए मनुष्य की क्रियाओं को समझने के लिए समाज के आदर्शों को समझना आवश्यक है। संस्कृति के इन प्रतिमानों को संस्कृति का अध्ययन करते समय, अलग नहीं किया जा सकता। संस्कृति केवल संस्कृति तत्व समूहों का योग नहीं, और एक संस्कृति के उद्देश्य, आदर्श एवं मूल्य से अलग नहीं किया जा सकता। संस्कृति तत्व समूह की योजना का निर्धारण इन्हीं आदर्शों और मूल्य प्रतिमानों द्वारा किया जाता है।

व्यक्ति और संस्कृति : व्यक्ति एक समाज में जन्म लेता है, तो वह जीवनशास्त्रीय जीव में समान होता है। उसकी आवश्यकताएँ होती हैं, जिसकी पूर्ति अवश्य ही होनी चाहिए। किन्तु समाज के मूल्यों तथा आदर्शों से उसे कुछ भी सम्बन्ध नही होता। जैसे जैसे वह बढ़ता जाता है, समाज के व्यक्तियों, समूहों तथा मूल्यों का प्रभाव उसके व्यक्तित्व पर पड़ता जाता है। उसे अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति किस प्रकार करनी चाहिये, किस ढंग से दूसरे व्यक्तियों से व्यवहार करना चाहिये, अच्छाई और बुराई क्या है? आदि बातें व्यक्ति को समाज ही सिखलाती है। इस प्रकार उसका समाजीकरण जैसे— जैसे होता है उसमें मानवता की विशेषतायें तथा साभाजिक प्राणी के गुण बढ़ते जाते हैं। जब वह एक पूर्ण व्यक्ति

के रूप में बदल जाता है तो फिर उसके शारीरिक विकास के साथ-साथ सामाजिक गुणों का विकास भी होता है। अब वह केवल जीवशास्त्रीय पशु नहीं रहता बल्कि एक सामाजिक व्यक्ति हो जाता है। रूथ बेनेडिक्ट ने अपनी पुस्तक संस्कृतियों के प्रतिमान में इस बात को स्पष्ट रूप से सिद्ध कर दिया है। उन्होंने अपने अध्ययन द्वारा दिखाया है कि संस्कृति का प्रभाव व्यक्तियों के व्यक्तित्व पर किस प्रकार पड़ता है।

आदिवासी समाजों के अध्ययन द्वारा विभिन्न मानव शास्त्रियों ने बताया है कि किसी भी समाज में दो प्रकार के व्यक्ति होते हैं-एक तो वह जो संस्कृति के नियमों, प्रतिमानों तथा आदर्शों का पालन करते हैं। दूसरे वह जो उसके विरुद्ध कार्य करते हैं। लिंटन का कहना है कि संस्कृति का कार्य व्यक्ति के सामने एक आदर्श प्रस्तुत करता है। ऐसे मनुष्य जो समाज के मूल्यों तथा प्रतिमानों का पालन करते हैं, तथा उनके अनुकूल व्यवहार करते हैं, समाज उनकी प्रशंसा करता, उनके कार्य की सहायता करता और पुरस्कार देता है। लेकिन ऐसे व्यक्ति जो सामाजिक रूढ़ियों तथा मूल्यों के विरुद्ध जाते हैं, या उनका उल्लघंन करते हैं, समाज उनकी निन्दा करता है, दंडित करता और उन्हें हटाने की चेष्टा करता है।

किन्तु कुछ व्यक्ति समाज में ऐसे होते हैं, जो वर्तमान सामाजिक स्थिति में असन्तुष्ट होते हैं और समाज को ऊँचा उठाने के लिए, समाज के कल्याण के लिए तथा समाज सुधार के लिए आदर्श देते हैं। उनकी संख्या थोड़ी होती है।

संस्कृति के मूल तत्व

संस्कृति का निर्माण जिन तत्वों के योग से होता है विद्वानों ने निम्नलिखित तत्वों को मुख्यतः प्रभावी माना है।

1. दर्शन
2. धर्म
3. आध्यात्म
4. साहित्य एवं कला

1. दर्शन मनुष्य का महत्वपूर्ण तत्व है। दर्शन का संबंध तात्विक विवेचन से है। यह मनुष्य के चिन्तन का प्रतीक है, किन्तु जिन देशों के मनुष्य अपने ही जीवन संघर्ष में लगे रहते है, वहाँ संस्कृति के विकास का अवसर ही नहीं मिल पाता, दार्शनिक चिन्तन की बात तो दूर है। उदाहरण के लिए टुन्ड्रा प्रदेश अथवा सहारा के मरुस्थल में निवासियों का सारा समय जीवन की व्यवस्था में ही व्यतीत हो जाता है। इतिहास के प्राचीनतम युगों में जिन भूभागों में कृषि अथवा व्यापार की सुविधा थी, वहीं सभ्यता एवं संस्कृति का अधिक विकास हुआ। वहाँ के लोगों ने जगत के मूल तत्व को जानने के लिए चिंतन तथा विविध दर्शनों का विकास किया। ऐसी सभ्य जातियों में भी दार्शनिक चिंतन का रूप भौगोलिक स्थिति और जीवन के अनुरूप ही था। उदाहरण के लिए मेसोपोटामिया की सभ्यता अत्यन्त विकसित थी। उनकी सामाजिक व्यवस्था भौतिकवादी थी। इसलिए वहाँ के लोग दार्शनिक चिन्तन की ओर अग्रसर नहीं हुए। इसके विपरीत भारत, चीन और यूनान के ईसा की कई शताब्दियों पूर्व ही सामाजिक व्यवस्था

इस प्रकार की बन गई थी कि उसमें भौतिक सुख सुविधाओं की खोज के साथ-साथ दार्शनिक चिन्तन, संस्कृति का एक अनिवार्य अंग बन गया है।

आचारों और विचारों का समन्वय ही संस्कृति है। इस दृष्टि से भारतीय संस्कृति की समग्रता की खोज करने के लिए उसके विचार साहित्य का अनुशीलन करना आवश्यक है। दर्शन इस विचार के आगार हैं। भारतीय संस्कृति की गहनता, गम्भीरता, विशालता और प्राचीनता आदि विभिन्न पहलुओं का सम्यक् विश्लेषण उसके दर्शन साहित्य में निहित है। दर्शन इस देश की मौलिक चिन्ताओं की उपज है। यहाँ की संस्कृति की नींव उन्हीं पर आधारित है। भारतीय संस्कृति में आध्यात्मिक साधना का जो प्रभाव लक्षित होता है, उसका आधार भी वह तत्व चिन्तन ही है। षड् आस्तिक दर्शनों और लोकायतिक (चार्वाक) तथा जैन-बौद्ध आदि नास्तिक दर्शनों की समन्वित विचारधारा का परिणाम ही भारतीय संस्कृति है।

भारतीय विचारकों और चिन्तकों ने जिस विशाल एवं अगाध दर्शन साहित्य का निर्माण किया, वस्तुतः उसके मूल तत्व उसके प्रेरणा स्रोत वेदों में ही निहित थे। इसलिए भारतीय संस्कृति के मूलाधार आस्तिक विचार-धाराओं का अध्ययन करने से पूर्व वेदों की दार्शनिक भावना का अनुशीलन करना आवश्यक है।

वैदिक साहित्य की सर्वाङ्गकिता और उसके परवर्ती क्रमबद्ध विकास में उसकी दार्शनिक विचारधारा का महत्वपूर्ण योगदान रहा है। जीवन के प्रति वैदिकों का जो महान लक्ष्य रहा है उसके संदर्भ में तत्कालीन संस्कृति की दार्शनिक पृष्ठभूमि को सरलता से अवगत किया जा सकता है।

वेदों का उद्देश्य वस्तुतः दार्शनिक विचारों का प्रतिपादन करना नहीं था। वे धर्म के सर्वोच्य ग्रन्थ हैं, उनका उद्देश्य केवल धर्म का निरूपण करना भी नहीं था। वस्तुतः वह एक पूर्ण वाङ्मय है। परवर्ती विचारकों ने अपनी-अपनी रूचियों के अनुसार वेदों से विभिन्न तरह के विचारों को ग्रहण कर अपनी विचार धाराओं का विकास किया, इसे हम क्रमशः ब्राह्मण ग्रन्थों, आरण्यकों और उपनिषदों में पाते हैं। इन्हीं त्रिविध विचार धाराओं का व्यापक चिन्तन षड्दर्शनों में देखने को मिलता है। वेदों के ऋषियों ने जिस सर्वोपरि अदृष्ट शक्ति का चिन्तन किया वही दर्शन के उद्गम का केन्द्र बना।

सभी प्रकार की आस्तिक-नास्तिक विचार धाराओं में जीवन और जगत का परम लक्ष्य श्रेय, मुक्ति, मोक्ष, अपवर्ग या निर्वाण है। उसकी प्राप्ति के लिए सब का एक ही लक्ष्य है; दुख से छुटकारा पाना। जीवन जगत् की इस दुखमयता से छुटकारा पाने के लिए विभिन्न दर्शनों में पृथक-पृथक उपाय या मार्ग बताये गये हैं। दर्शन हमें जीवन जगत् की इसी निःसारता का दिग्दर्शन कराते हैं, जो हमें इस सुन्दर मानव जीवन प्रकृति की अपार महिमा से मण्डित यह विश्व, सहज की अपेक्षणीय तथा दुःखमय प्रतीत नहीं होता है। जीवन-जगत् के प्रति दर्शनों की जो उपेक्षा दृष्टिगत होती है, वैदिक भावना उससे सर्वथा भिन्न है। वहाँ जीवन का उद्देश्य उत्तरोत्तर उन्नति और प्रकाश की ओर ले जाना है। अज्ञान से प्रकाश की ओर बढ़ते हुए हम जीवन को उत्तरोत्तर उन्नति की ओर अग्रसर करें (उद्वयं तमसस्परि स्वः पश्यन्तः उत्तरम्-यजुर्वेद 20.2)

जीवन की उत्तरोत्तर उन्नति के लिए अज्ञान या अन्धकार से प्रकाश की ओर अग्रसर होने की यह वैदिक भावना ही दर्शनों की विभिन्न विचारधाराओं का कारण बनी। अज्ञान या अविद्या को ज्ञान या विवेक विद्या के द्वारा किस प्रकार दूर किया जा सकता है, अर्थात् वैदिक भावना के अनुसार जीवन की उन्नति के लिए प्रकाश को कैसे प्राप्त किया जा सकता है, इसका सम्यक निरूपण दर्शनशास्त्र में किया गया है। इसी तरह आत्मा, पुनर्जन्म, मोक्ष आदि के सम्बन्ध में वैदिक कवियों की जो स्थापनाएँ हैं, उपनिषदों तथा दर्शनों में उनकी विस्तृत मीमांसा की गयी है। इस प्रकार यह स्पष्ट है कि वेदों की सूक्ष्म तात्विक दृष्टि ही दर्शनों के उद्भव का कारण सिद्ध हुई।

संस्कृति के निर्माण में आचार, उसके बहिरंग और विचार, अन्तरंग पक्ष के सूचक हैं। दोनों की एकरूपता तथा समानता से ही उसकी सर्वाङ्गीणता बनती है। यह सर्वाङ् गीणता ही जीवन है। उसके भी अन्तरंग और बहिरंग दो पक्ष हैं। दोनों की खोज के लिए या दोनों का प्रत्यक्ष किये विना जीवन की जानकारी अधूरी है। सर्वांगीण जीवन दर्शन के लिए उसके दोनों पक्षों की जानकारी आवश्यक है।

इस दृष्टि से संस्कृति का, दर्शन से सहज संबंध सिद्ध होता है। संस्कृति के विकास में उसके जिस आध्यात्मिक पक्ष की चर्चा की गयी है, उससे भी यही ज्ञात होता है कि दर्शन की दिव्य दृष्टि किये बिना संस्कृति का मार्ग प्रशस्त हो ही नहीं सकता, इस दृष्टि से संस्कृति और दर्शन का घनिष्ट संबंध है।

2. धर्म

धर्म संस्कृति का एक प्रमुख अवयव है। धर्म शब्द तीन अर्थों में प्रयुक्त होता है—

(क) सामान्य मानव धर्म अथवा मानव मूल्य, जिसकी अभिव्यक्ति सदाचार के रूप में होती है।

(ख) साम्प्रदायिक धर्म— जिसका संचालन किसी धर्म प्रवर्तक द्वारा चलाये गये धर्म अथवा सम्प्रदायक के नियमों और धर्मग्रन्थों के अनुसार होता है।

(ग) लोक धर्म— जिसके अन्तर्गत घरेलू, व्रत, उत्सव और कथा वार्ता से लेकर डीहाबाबा, महादेव (पीपल), कुआँ, हल, ढोल, हाथी आदि की पूजा तक है। धर्म के सभी रूप मनुष्य की श्रद्धाबुद्धि की देन है। श्रद्धा और विश्वास के विना धर्म का अस्तित्व ही नहीं रह जाता है। मनुष्य के चार पुरुषार्थों में मोक्ष का स्थान धर्म के बाद आता है। मोक्ष तो अन्तिम फल है जो आत्मज्ञान का ही दूसरा नाम है किन्तु धर्म बुद्धि से होता है।

(क) सामान्य वर्ग— समाज में रहने वाले किसी व्यक्ति का ऐसा कोई काम नहीं हो सकता जो दूसरों को किसी न किसी रूप में प्रभावित करे। समाज में रहने वाला कोई भी व्यक्ति अकेला नहीं रहता। उसका संबंध अपने परिवार, ग्राम, नगर, राष्ट्र और विश्व मानव से प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप से जुड़ा हुआ रहता है। इसलिए उसका प्रत्येक कार्य दूसरों पर अच्छा या बुरा प्रभाव डालता है, व्यक्ति के उस व्यवहार को जो दूसरों पर बुरा नहीं, बल्कि अच्छा प्रभाव डालता है, सदाचार कहा जाता है। सदाचार को सामान्य धर्म इसलिए कहा जाता है कि इसे सभी देशों के लोग समान रूप से स्वीकार करते हैं। सदाचार के गुणों को ही मानव मूल्य भी कहा जाता है जैसे सत्य, अहिंसा, करुणा, प्रेम, सेवा भावना,

सहकारिता, परोपकार, समदृष्टि, न्यायप्रियता आदि। यदि व्यक्ति सत्य का दृढ़तापूर्व पालन करे, तो वह महान धार्मिक माना जाता है। राजा हरिश्चन्द्र इसके उदाहरण हैं। इसी तरह अहिंसा और करुणा के उदाहरण गौतम बुद्ध और ईसा मसीह हैं। ऐसे महान् व्यक्तियों के आदर्श आचरण को ही सदाचार कहा जाता है। ऐसे व्यक्ति किसी से घृणा नहीं करते, बल्कि मानव मात्र से प्रेम करते हैं। मानवता के इन्हीं गुणों को सहज रूप से पालन करना ही मानव मूल्य या सामान्य धर्म है। सामान्य धर्म का साधन विवेक है। प्रत्येक व्यक्ति को अधिकार है कि वह दूसरों द्वारा कही बातों को अन्धभाव से स्वीकार न करे, बल्कि अपने विवेक द्वारा उसकी अच्छाई बुराई के संबंध में निर्णय करे। विवेकहीन श्रद्धा अन्धी हाती है। अब विवेक प्रधान श्रद्धा ही सामान्य धर्म का प्रेरक तत्व है।

(ख) धर्म का दूसरा रूप वह होता है जिसे सम्प्रदाय, पंथ या मत कहा जाता है। इसका कारण श्रद्धा का वह रूप है जिसे विश्वास या आस्था कहा जाता है। इस प्रकार का धर्म, महान साधकों, पैगम्बरों अथवा दार्शनिक चिन्तकों द्वारा प्रवर्तित किया जाता है। ऐसे व्यक्तियों के कुछ शिष्य हो जाते हैं, जो उनके सिद्धान्तों के अनुसार अपने सम्प्रदाय या पंथ का संगठन करते और आचार या संहिता बनाते हैं, जिन्हें धर्म-ग्रन्थ कहा जाता है। इस प्रकार के साम्प्रदायिक धर्मों और मजहबों में से कुछ तो कालानान्तर में विलुप्त हो जाते हैं। और कुछ निरन्तर विकास करते हुए अपने मूल देश की सीमा को पार कर संसार के विभिन्न भागों में पहुँच जाते हैं। यदि उस सम्प्रदाय में मौलिक गुण होते हैं तो मानव जाति के लोग अपने आप उसकी ओर आकृष्ट होते और उसे अपना लेते हैं। किन्तु कुछ सम्प्रदाय ऐसे भी हैं, जिनका प्रचार तलवार के बल पर किया जाता है और अन्य धर्मावलम्बियों को उस सम्प्रदाय को अपनाने के लिए विवश किया जाता है। इस प्रकार की कट्टरता, सम्प्रदाय के मूल प्रवर्तक नहीं, बल्कि परवर्ती धर्म गुरुओं और राजाओं— बादशाहों द्वारा अपनाई जाती है। इसके विपरीत कुछ ऐसे भी सम्प्रदाय हैं, जिनका प्रचार दुनिया के बहुत बड़े भाग में शांतिपूर्ण ढंग से हुआ। इन धर्मों के प्रचारकों ने दूर-दूर के देशों में जाकर वहाँ के निवासियों का हृदय परिवर्तन करके अपने धर्म का प्रचार किया।

यदि सिद्धान्तों की दृष्टि से देखा जाये तो संसार के सभी साम्प्रदायिक धर्मों में मूलभूत एकता दिखाई पड़ती है। ऐसे सभी धर्मों का प्रवर्तन मानव जाति के कल्याण के लिए हुआ था और सब के सामान्य मानव धर्म तथा नैतिकता के सिद्धान्तों को स्थान दिया गया था। किन्तु बाद में सम्प्रदायों के अनुयायी इन मूल सिद्धान्तों को भुलाकर मूल रूढ़ियों को ही धर्म मानने लगे। इस तरह वाह्याडम्बर, पूजा की पद्धति, खान-पान के तरीके और वेश भूषा आदि को ही धर्म का लक्षण माना जाने लगा, क्योंकि इन्हीं से अनुयायियों के धर्म या समुदाय की पहचान होती थी। धर्म का यह स्थूल रूप मानव जाति के लिए बहुत ही हानिकारक सिद्ध हुआ है। इसीलिए कबीर, नानक, दयानन्द स्रस्वती आदि ने बाहरी आडम्बर को ढोंग बताकर उनका विरोध किया। किन्तु इन महान संतों ने जिन मतों और सम्प्रदायों की स्थापना की उनमें भी आगे चलकर वैसी ही रूढ़ियाँ घुस गयीं। इससे यह प्रमाणित होता है कि सामान्य मानव धर्म ही वास्तविक धर्म है और साम्प्रदायिक और शास्त्रीय धर्म मानव जाति के लिए अहितकर सिद्ध हुए हैं। इसी विचारधारा के परिणाम स्वरूप आधुनिक युग में धर्मों और सम्प्रदायों का महत्व कम हो गया है और उन्हें सामाजिक वस्तु न मानकर निजी वस्तु माना जाने लगा है। धर्म निरपेक्षता का सिद्धान्त इसी विचारधारा का परिणाम है।

(ग) लोकधर्म— लोकधर्म का तात्पर्य समाज की उन मान्यताओं से है, जिनका किसी सम्प्रदाय के सिद्धान्तों और धर्म ग्रन्थों से सीधा सम्बन्ध नहीं होता, फिर भी वे लोग-जीवन में साम्प्रदायिक धर्म के सामान्य रूचि के भीतर ही परिगणित होते हैं। इसका साधन श्रद्धा से अधिक अन्धानुकरण की प्रवृत्ति और भय की भावना है। इस कारण इसे वास्तविक धर्म नहीं माना जा सकता। इसके अन्तर्गत सामाजिक सम्बन्धों, लोक विश्वासों, रीति-रिवाजों, शकुन अपशकुन, स्वप्नफल, वस्त्र, भवन, खान-पान, शयन आदि से सम्बन्धित धाराओं को ग्रहण किया जाता है। समाज के लोग किसी विशेष सम्प्रदाय के अनुयायी होते हुए भी इन लोक प्रचलित धारणाओं और विश्वासों में बंधे रहते हैं इन्हीं को लोक रीति और लोक मत भी कहा जाता है। इनमें से अधिकांश तो अन्य विश्वासों पर आधारित रूढ़ियाँ होती हैं, जिन्हें छोड़ना समाज के लिए सहज नहीं होता। हिन्दू समाज में सोलह संस्कार माने गये हैं, सभी धर्म के ही अंग माने जाते हैं, यद्यपि, उनका हिन्दू धर्म के मूल सिद्धान्तों से कोई संबंध नहीं है। इसी तरह प्रेत पूजा, ब्रह्म और सती प्रथा , पीपल और कुएँ की पूजा, सर्प पूजा, विभिन्न प्रकार के व्रत, भूत, संबंधी अभिचार, यात्रा संबंधी शकुन आदि व्यवस्था और छुआछूत, कन्ठी माला, छापा तिलक, बकरे मुर्गे आदि की बलि, गृह निर्माण, कपड़ा लता के रंग आदि असंख्य बातें, सम्मिलित हैं। तुलसीदास ने साम्प्रदायिक धर्म को वेदमत और लोकधर्म को लोकमत कहा है—

लोकहु वेदहु कर मत एहू।

लोक विश्वासों की प्रबलता को देखकर ही सम्प्रदायों के आचार्य और पंडित भी इन्हें अपने सम्प्रदायों के अंग के रूप में स्वीकार कर लेते हैं।

धर्म के इन तीनों स्वरूपों को संस्कृति के अंग के रूप में ग्रहण किया जाता है। धर्म पर ही समाज आधारित रहता है और समाज की जीवन सम्बन्धी व्यापक और मूल अवधारणा ही धर्म के रूप में अभिव्यक्त होती है। इसलिए धर्म के इन तीनों रूपों को ही संस्कृति की वाह्याभिव्यक्ति माना जा सकता है। इनका मूल प्रेरक तत्व सूक्ष्म बोधात्मक ज्ञान होता है और इनकी सिद्धि के माध्यम से होता है। यदि दर्शन का पुरुषार्थ बौद्धिक धर्म और फल स्थूल बौद्धिक निःश्रेयस है तो धर्म का पुरुषार्थ व्यावहारिक धर्म या जीवन धर्म और फल सूक्ष्म निःश्रेयस है। जिस समाज में सामान्य मानव धर्म अर्थात् नैतिकता और सदाचार का जितना अधिक महत्व होता है, वह उतना ही सुसंस्कृत माना जाता है। इसी तरह उस संस्कृति को उच्च स्तरीय मानना चाहिये, जिसमें साम्प्रदायिक या शास्त्रीय धर्म, कट्टरवादी न होकर उदार और सहिष्णु हो तथा जिनके लोकधर्म में रूढ़िवादिता न हो।

इस तरह आत्मा या ब्रह्म की अनुभूति ही आध्यात्मिक सिद्धि है, जिसे पुरुषार्थ चतुष्टय में मोक्ष की संज्ञा दी जाती है। जिसे उस एकत्व का ज्ञान हो जाता है, वह त्रिविधि ज्ञान के प्रपंच अर्थात् माया से मुक्त हो जाता है। इसी को जीवन मुक्ति कहा जाता है। यह मोक्ष क्षणिक नहीं शाश्वत होता है। संक्षेपतः आध्यात्मविद्या का साधन आत्मानुभूति साधन आत्मा, पुरुषार्थ और मोक्ष है तथा फल आध्यात्मिक निःश्रेयस है। यह आध्यात्मिक विद्या निष्कर्षतः कहा जाता है कि धर्म अपने उपर्युक्त तीनों रूपों के निर्माण में विशेष महत्व रखता है।

संस्कृति और धर्म

धर्म की धरती पर संस्कृति की उत्पत्ति हुई है। धर्म की सीमाएँ शास्त्र द्वारा निर्धारित होती हैं। धर्म वही है जिसका शास्त्र निर्देश करे। धर्म को अलौकिक एवं अदृष्ट कहा गया है। उसकी अलौकिकता एवं अदृष्टता का प्रमाण शास्त्र है। संस्कृति में शास्त्र, संगत, आचार का समावेश होता है। वह आचार लौकिक भी है और अलौकिक भी। संस्कृति का अलौकिक पक्ष धर्म है और लौकिक पक्ष कर्म संस्कृत में जो आचार निर्दिष्ट है वह धर्म और कर्म दोनों में समंवय से बना है।

वस्तुतः देखा जाये तो संस्कृति और धर्म में कोई विशेष अन्तर नहीं हैं। हमारे यहाँ वेद को धर्म का मूल कहा गया है। धर्म का प्रतिपादन एक विधान करने वाली स्मृतियाँ भी वेदमूलक हैं। वेदमूलक स्मृतियों तथा पुराणों द्वारा प्रतिपादित सदाचार ही धर्म है। सदाचार और कर्तव्य, कर्तव्यों का समुचय संस्कृति है। सत्य, अहिंसा, अस्तेय, ब्रह्मचर्य, त्याग, तप और परोपकार आदि सार्वभौम कर्तव्य हैं। इस राष्ट्र में लोकायतिक, जैन ,बौद्ध, वैष्णव और शाक्त आदि जितने भी धर्मावलम्बी हुए हैं उन सब ने अपने-अपने पन्थों, मतों तथा सिद्धान्तों के प्रतिपादन एवं प्रवर्तन के लिए सार्वभौमित सामान्य कर्तव्यों से अपना सम्बन्ध बनाया। धर्म-उद्भावित इन कर्तव्यों पर राष्ट्र निर्भर है और जीवन में उनका आचरण ही वैदिक संस्कृति है।

संस्कृति की व्यापकता धर्म की व्यापकता से सिद्ध है। धर्म के छोटे-बड़े नदी नालों को अपने में समाहित करती हुई भारत की यह धर्मगंगा अपनी पावनता एवं महानता में सदा ही समरस बनी रही। जो जातियाँ यहाँ आकार बस गई, उनकी, और जो बार-बार आकर चली गईं किन्तु अपने चिन्ह यहाँ छोड़ती गईं, उनका भी रिक्थ अपने में समेट लिया। यह उदार एवं विशाल धर्म ही भारतीय या वैदिक संस्कृति है।

3. आध्यात्मवाद— आध्यात्म आत्मा की शिक्षा है। जिस तरह जगत के विविधात्मक ज्ञान का नाम भूत विद्या (भौतिक विज्ञान), मन की क्रियाओं के विज्ञान का नाम मनोविद्या (मनोविज्ञान), तर्क बुद्धि की तत्वन्वेषण परक क्रियाओं का नाम धर्म विद्या (दर्शन विज्ञान),श्रद्धाजन्य आचारात्मक क्रियाओं का नाम धर्म विद्या (धर्म ज्ञान) और हृदय की सौन्दर्यबोधक क्रियाओं का नाम रस विद्या (रसात्मक ज्ञान) है, उसी आत्मा की खोज से सम्बन्धित समस्त क्रियाओं का नाम आध्यात्म विद्या (आत्म ज्ञान) है। आत्म तत्त्व का, एकत्व है जिससे विधितत्वों का विकास हुआ। यह आत्मा तत्त्व अनेक व्यक्ति में अलग-अलग होते हुए भी वस्तुतः एक है, इसीलिए उसे सर्वात्मक और ब्रह्म भी कहा गया है। अपने ही तत्त्व को जान लेने का अर्थ है ब्रह्म को जान लेना। उसी उपलब्धि को आत्मज्ञान कहा जाता है और आत्मज्ञान ही ब्रह्मज्ञान है। भारतीय दर्शनों में ब्रह्मजीवन, जगत और माया के स्वरूप और पारस्परिक संबंधों के बारे में हजारों वर्षों से विचार मंथन होता आ रहा है और जीवन की मुक्ति के उपाय भी बताये जा रहे हैं। किन्तु दर्शनों के ज्ञान मात्र से जीव की मुक्ति या आत्मस्वरूप का ज्ञान नहीं हो सकता। वस्तुतः आत्मा या ब्रह्म वह निर्वचनीय सत्ता है जिसकी अनुभूति तो हो सकती है पर उसे प्रवचन या तर्क से नहीं समझाया जा सकता है। उसे प्राप्त करने के लिए स्वयं प्रयास करना पड़ता है। गुरु और ग्रन्थ इस आध्यात्मिक यात्रा के लिए केवल प्रवृत्ति उत्पन्न कर सकते हैं लक्ष्य तक नहीं पहुँचा सकते हैं। अपने

भीतर की इसी एकाकी यात्रा और लक्ष्य प्राप्ति की अनुभूति को ही आत्म ज्ञान कहा जाता है। आत्मज्ञान ही आत्मविद्या या आध्यात्म है। यह आध्यत्म विद्या ही संस्कृति का उच्चतम शिखर है, जिस देश या समाज में आध्यात्म विद्या का प्रचार होता है, वहाँ की संस्कृति सर्वोत्तम मानी जाती है। समाज भौतिक, मानसिक और बौद्धिक उन्नति द्वारा भौतिक और मानसिक सुख तथा बौद्धिक आनन्द तो प्राप्त कर सकता है, किन्तु उसका शाश्वत और निरपेक्ष आनन्द आध्यात्मिक चेतना से ही परिपूर्ण होता है, वह अमरत्व की उपलब्धि के कारण अमर होगा।

4. साहित्य और कला

ज्ञान का उच्चस्तरीय रूप रसात्मक अनुभूति है। वह अनुभति तर्क-बुद्धि जन्य ज्ञान से भी अधिक सूक्ष्म तथा प्राणवान् है। मानवीय भावों और सम्वेदनाओं के परिपाक से जो रस निष्पन्न होता है, उसी की चरम परिणति रसात्मक आनन्द है, जो मानव को साहित्य, संगीत, नृत्य, अभिनव, चित्र मूर्ति स्थापत्य आदि ललित कलाओं से प्राप्त होता है। इन कलाओं का भौतिक से प्रत्यक्ष संबंध नहीं है।

भौतिक वस्तुएँ मनुष्य के शारीरिक और मानसिक सुख का साधन बनती है, किन्तु ललित कलाओं द्वारा भौतिक प्रयोजनों की सिद्धि नहीं होती है। ललित कला में भौतिक वस्तुओं को माध्यम अवश्य बनाया जाता है, किन्तु जिस कला का माध्यम जितना ही अधिक सूक्ष्म होता है वह उतना ही प्रभावकारी होता है। इस दृष्टि से साहित्य और संगीत का माध्यम वाक्तत्व सर्वाधिक सूक्ष्म तथा स्थापत्य का माध्यम ईंट, पत्थर आदि सर्वादिक स्थूल है। इसी कारण स्थापत्य सभ्यता का अंग भी है। जब कि साहित्य और संगीत विशुद्ध रूप से संस्कृति के अवयव हैं। स्थापत्य और मूर्तिकला का वही भाग संस्कृति का अंग है, जो सौन्दर्य बोधात्मक आनन्द प्रदान करने की क्षमता रखता है।

ललित कलाओं में प्रयुक्त माध्यम का नहीं, बल्कि उस माध्यम के प्रयोग से उद्भूत सौन्दर्य का महत्व होता है। यह सौन्दर्य रचनात्मक होता है, प्राकृतिक नहीं। प्रकृति अनन्त सौन्दर्य का भण्डार होता है किन्तु उसके प्रदर्शन से प्राप्त होने वाला आनन्द मानवीय रचना के सौंदर्य से भिन्न होता है। मानव की रचनात्मक क्रिया शक्ति जिस सौन्दर्य को उत्पन्न करती है, वह कलात्मक सौन्दर्य है और उससे प्राप्त होने वाला आनन्द सौन्दर्य-बोधात्मक आनन्द है। वह आनन्द रचनाकार को अपनी रचनात्मक शक्ति द्वारा रचना की पूर्णता में और दर्शक, श्रोता या पाठक को उस रचना की प्रभावन्विता में प्राप्त होता है। रचना की सिद्धि यही है कि उससे स्रष्टा और भोक्ता (रचनाकार और रस ग्रहीता) दोनों को अपने भीतर ही सौन्दर्यनुभूति होती है, जिसका परिपाक सौन्दर्य बोधात्मक आनन्द के रूप में होता है। यह आनन्द भौतिक सुख की तुलना में चिरस्थाई और अक्षर (नष्ट न होने वाला) होता है। इसलिए इसे बह्मानन्द का सहोदर कहा जाता है। वह भौतिक प्रयोजन से परे होता हैं वह मनुष्य को एक ऐसी आन्तरिक शक्ति प्रदान करता है, जिसके सहारे वह मनुष्यता के सर्वोत्तम गुणों को उपलब्ध करता है। यह शक्ति मानव जाति की पथ प्रदर्शिका होती है। जो उसे असत् से सत् की ओर, अंधकार से प्रकाश की ओर और मृत्यु से अमरत्व की ओर ले जाता है।

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि साहित्य और कला को उनकी सूक्ष्मता और रसमयता के कारण ही संस्कृति का अंग माना जाता है। जिस देश या समाज में साहित्य और कला की स्थिति जितनी उन्नत और सम्पन्न होती है, वह उतना ही सुसंस्कृत माना जाता है। जहाँ साहित्य और कला को भौतिक प्रयोजनों की सिद्धि के लिए साधन रूप में प्रयोग किया जाता है अथवा केवल मनोविनोद और चमत्कार प्रदर्शन की वस्तु समझा जाता है, उसका सांस्कृतिक धरातल ऊँचा नहीं होता। संस्कृतियों और युग-युग जीवित रखने और उनके प्रवाह को गतिमान बनाए रखने वाली वस्तु, मुख्यतया ललित कला की है।

संस्कृति और विकास— विश्व की विभिन्न संस्कृतियों के निर्माण एवं विकास की अपनी अलग-अलग परम्परा रही है। उनके विकास के मूल में भिन्न-भिन्न परिस्थितियाँ रहीं है। किन्तु जब वे परस्पर एक दूसरे के संपर्क में आयी, तो उनमें आदान-प्रदान की भावना का उदय हुआ। यहाँ तक बढ़ा कि कभी-कभी वे एक दूसरी में विलीन भी हो गयीं। इतिहास में ऐसे भी उदाहरण देखने को मिलते हैं कि जातियाँ तथा राष्ट्र नष्ट हो गये, किन्तु उनकी सांस्कृतिक थाती किसी न किसी रूप में रही और समय पाकर पल्लवित हो उठी।

इस आधार पर यह मानना पड़ता है कि संस्कृति शाश्वत एवं सनातन है। विश्व की अनेक जाति तथा राष्ट्र की संस्कृति की अपनी अलग आत्मा होती है। यही आत्मतत्व संस्कृति का बीज कहा गया है जो प्रवाहरूप में नित्य बना रहता है। वृक्ष सूख जाता है, किन्तु उनका बीज अनुकूल समय पाकर फिर उग उठता है। इसी प्रकार जातियाँ तथा राष्ट्र नष्ट हो जाते हैं, किन्तु संस्कृति उनके बाद भी बनी रहती है।

संस्कृतियों में जो अनेकता या भिन्नता देखने को मिलती है, उसका कारण है, मानव वंशों की पृथकता। जब विरोधी रूप धारण कर उनमें संघर्ष हुआ, तो एक दूसरे के जीवन्त एवं उपादेय तत्वों को ग्रहण किया। संघर्ष में ही नहीं, सामंजस्य की स्थितियों में भी यही हुआ। एक संस्कृति द्वारा दूसरी संस्कृति की उपादेयता ग्रहण करने की यह परम्परा बहुत पुरातन है। संस्कृतियों के द्वारा पारस्परिक उपादान को ग्रहण करने की यह प्रवृति निरन्तर आगे बढ़ती गयी, विश्व की अन्य संस्कृतियों के विकास के मूल में चाहे जो भी कारण विद्यमान रहे हों, किन्तु भारतीय संस्कृति का विकास इसी रूप में हुआ।

संस्कृति के आरंभिक विकास दो रूपों में हुआ। एक रूप का निर्माण तो समाज की वास्तविक या प्रकृत अन्तरचेतना द्वारा हुआ और दूसरे का निर्माण पारस्परिक संघर्षों के कारण हुआ। वे दोनों कारण उसके विकास के आधार बने। इन आधारों ने उसको सतत नये-नये रूप दिये। ये नये रूप ही संस्कृति के 'परिवर्तन' कहे गये हैं। पूर्व की अपेक्षा आगे-आगे जो नव्य एवं रूचिकर है वही तो परिवर्तन है। इस दृष्टि से संस्कृति अपने नये भव्य रूप्रों से निरन्तर विकसित होती गई। विश्व की जो संस्कृतियाँ आगे बढ़ीं, उन्होंने अपने-अपने लिए लोक मंगल का स्थायी आधार और मानव आदर्शों को अपना सम्बल बनाया। यद्यपि प्रत्येक संस्कृति के विकास में देश,काल और परिस्थितियाँ एकमात्र कारण रहीं हैं, वे सभी युगों और परिस्थितियों में एक जैसे बने रहे और उन्हीं के द्वारा संस्कृति का निरन्तर विकास होता रहा।

संस्कृति का विकास दो रूपों में हुआ— आध्यात्मिक और अधिभौतिक। प्राकृतिक पदार्थों में

मानवकृत परिवर्तनों एवं संस्कारों से भौतिक संस्कृति का निर्माण हुआ। मानव को जिस क्रिया में उसकी आत्मा या प्रवृत्ति का संस्कार होता है, उसे संस्कृति का आध्यात्मिक पक्ष कहा जाता है। मानव ने अब तक जो भौतिक प्रगति की है, वही उसकी भौतिक संस्कृति का विकास है। इस प्रगति के अन्तर्गत विज्ञान, पशुपालन, शिल्प आदि का नाम लिया जा सकता है। इसी प्रकार मानव की आध्यात्मिक संस्कृति के अन्तर्गत धर्म, नीति, कलाएँ और साहित्य का उल्लेख किया जा सकता है। संस्कृति के ये दोनों पक्ष परिस्थितियों और वातावरण के अनुकूल परम्परा से न्यूनाधिक रूप में आगे बढ़ते गये।

आध्यात्मिक संस्कृति का संबंध आन्तरिक, और भौतिक संस्कृति का सम्बन्ध वाह्य जगत से होता है। इसलिए आध्यात्मिक संस्कृति का केन्द्र-स्थल आत्मा है। मनुष्य की आत्मा या अन्तस्थ में प्रस्तुत अनुभूतियाँ ही स्थूल पाषाण में मूर्ति को खोज लेती हैं। ऐसा वह इसलिए कर पाता है कि परम्परा द्वारा उसमें अनुभूतियाँ संचित होती हैं।

जनजातीय संस्कृति— बदलते परिवेश में जनजातियों की संस्कृति में भी बदलाव आये हैं, नवोदित झारखंड राज्य का 70714 कि. मी. में फैला यह भूभाग विश्व के प्राचीनतम भौगोलिक एवं प्रागैतिहासिक क्षेत्र में आता है।

इस प्राचीनतम वन्य प्रदेश में आदिकाल से आधुनिक काल के मध्य 30 जनजातियाँ निवास करती आयी हैं, जिनकी कुल जनसंख्या 1991 की जनगणना के अनुसार 604,4010 है। इन जनजातियों में प्रोटोऑस्ट्रोलॉयड के मुंडा, असुर, बिरहोर, खड़िया, आदि है। द्रविड़ मूल की जनजातियों में उराँव, संथाल, पहाड़िया आदि प्रमुख हैं। इन जनजातियों के सांस्कृतिक जीवन के विभिन्न पक्षों पर विभिन्न काल खण्डों, सामाजिक समूहों, विविध वास स्थलों (प्रवजन काल में) आदि का प्रभाव परिलक्षित होता है।

झारखंड की बहुरंगी एवं विविधतापूर्ण संस्कृति के अध्ययन से यह स्पष्ट होता है कि इस क्षेत्र में जनजातीय एवं गैर जनजातीय संस्कृति की दो अंतर्धाराएँ प्रवाहित होती रही हैं, जो विभिन्न संगम स्थलों पर एक दूसरे से मिलकर बहुरंगी बन गयी हैं। संस्कृति के दो रूप या भाग होते हैं— भौतिक संस्कृति में वे सामग्रियाँ आती हैं, जिसका मनुष्य निर्माण करता है— जैसे मकान, वस्त्र, उपकरण मशीन, आभूषण आदि। अभौतिक संस्कृति के अन्तर्गत अमूर्त वस्तुएँ यथा धर्म, रीति-रिवाज, लोक विश्वास, रूढ़ियाँ आती हैं। एक सबल और सशक्त संस्कृति के लिए दोनों पक्षों का विकास अवश्यक है।

झारखंड की भौतिक संस्कृति का प्रारंभ और वर्तमान यहाँ के जनजातियों के सामाजिक एवं आर्थिक जीवन से जुड़ा हुआ है। यहाँ के जनजातियों का आर्थिक जीवन या भौतिक संस्कृति आखेट (शिकार), कंदमूल ग्रहण, भूचास (shifting cultivation) पशुपालन, कुटीर उद्योग, कृषि तथा भौगौलिक विकास के विभिन्न चरणों से जुड़ा हुआ है। अभी भी आदिम जनजाति-बिरहोर, असुर, बिरजिया, कोरवा आदि शिकार और कंद मूल संग्रह कर अपना भरण-पोषण कर आदिम काल की संस्कृति को ढो रहे हैं।

अभी भी भूचास की परम्परा है। ऐसे लोग अभी भी भौतिक संस्कृति के क्षेत्र में अन्य उन्नत जनजातियों से पिछड़े हैं और पारिवारिक जीवन उनकी कतिपय सामाजिक एवं सांस्कृतिक मान्यताओं

पर आधारित है, जो समाज में उनकी निर्दिष्ट पहचान बनाता है। जनजातीय समुदायों में "गोत्र" (टोटेम) की प्रधानता है। गोत्र से जुड़े अधिकांश वस्तुएँ या तत्व प्रकृति से जुड़े हुए हैं, जिनकी मान्यता, संस्कृति एवं विशेषकर धार्मिक मान्यताओं पर आधारित है। उनके गोत्र के प्रतीक पशु, पक्षी, वृक्ष, फल-फूल आदि होते हैं, जो उनके लिए पवित्र एवं पूज्य माने जाते हैं। यही कारण है कि गोत्र के प्रतीक को पूज्य माना जाता है, और सामाजिक दृष्टि से सगोत्र विवाह पूरी तरह वर्जित है। गोत्र की पवित्रता भंग करने वाले को जनजातीय समाज कभी माफ नही करता।

जनजातीय समाज जिस धर्म को मानता है, उसे विद्वानों और समाज शास्त्रियों ने 'जीववादी' धर्म (एनिमिज्म या एनिमिस्टिक रेलिजन) माना है। इसे जीवित सत्तावाद या मानववाद भी कहा जाता है। इसके अनुसार प्रकृति के प्रत्येक तत्व में एक अदृश्य चेतन शक्ति वर्तमान है, जो पूरे विश्व को नियंत्रित एवं संचालित करती है। इसके अनुसार प्रत्येक चेतन एवं अचेतन पदार्थ में जीवन है।

अत: आदिम काल से ही जनजातियों द्वारा अलौकिक एवं अतिप्राकृतिक शक्तियों की पूजा की जाने लगी, जो आज भी उनके धार्मिक या सांस्कृतिक जीवन का महत्वपूर्ण अंग बना हुआ है। आज भी उनका पूजा स्थल किसी पवित्र वृक्ष (यथा सखुआ, करम आदि) अथवा वृक्ष समूह के बीच 'सरना स्थल' या 'जेहेर थान' नाम से अवस्थित मिलेगा। प्रकृति के विभिन्न स्थानों एवं तत्वों में उनके बोंगा (देवता), एरा (देवी) एवं रोआ या मुआ (प्रेत या पितर प्रेत) निवास करते हैं। आत्मा की अमरता एवं पुनर्जन्म की अवधारणा जनजातीय धर्म एवं लोक विश्वास में आदि काल से वर्तमान है। प्राय: प्रत्येक घर में 'अडिंग' होता है, जहाँ घर की महिलाएँ पके भोजन का एक भाग वहाँ अपने पूर्वज पितरों के नाम से अर्पित करती हैं। यही कारण है कि जनजातीय समुदाय में नामकरण संस्कार में पोते का नाम दादा के नाम पर रखने की परम्परा चली आ रही है। औद्योगीकरण और शहरीकरण ने उनके भौतिक जीवन के साथ-साथ उनकी भौतिक संस्कृति को काफी हद तक प्रभावित किया है। झारखण्ड के सुदूर देहातों एवं वन क्षेत्रों में बसने वाली जानकारियों एवं गैर जनजाति के लोगों की विपन्नता के कारण उनकी संस्कृति का विकास समान रूप से बाधित हुआ है। आधारभूत संरचना के विकास, शिक्षा की कमी तथा धार्मिक स्रोतों के अभाव ने सब को समान रूप से प्रभावित किया है। भौतिक संस्कृति की दृष्टि से झारखण्ड का पिछड़ापन इसी से सिद्ध होता है कि यहाँ गरीबी रेखा के नीचे जीवन बिताने वाले लोगों की संख्या 60 प्रतिशत के आसपास है।

जनजातीय समुदाय स्वभावत: भौतिक संस्कृति पर उतना जोर नहीं देती है। वह आज के संदर्भ में जीने की आदी है, और कल की चिंता से प्राय: अपने को मुक्त रखती है। बिरहोर जैसी घुमक्कड़ जनजाति का जीवन तो भौतिक दृष्टि से और भी दयनीय है। इस श्रेणी की जनजातियों की भौतिक संस्कृति या स्थिति वनों पर आधारित है और वनों के विकास से उनका जीवन सबसे अधिक प्रभावित हुआ है। बड़े समूह की जनजातियाँ मुंडा, हो, संथाल, उराँव आदि की भौतिक संस्कृति अधिक विकसित हुई है और उन पर गैर जनजातीय परंपराओं का प्रभाव स्पष्टत: परिलक्षित होता है।

भौतिक संस्कृति को अक्षुण्ण बनाये रखने और विकसित करने में ग्रामीण क्षेत्रों में लगने वाले साप्ताहिक हाट एवं मेलों का विशेष महत्व है। वे न केवल व्यापारिक केन्द्र होते हैं, वरन् विभिन्न प्रकार

के क्रय-विक्रय के साथ-साथ सांस्कृतिक आदान-प्रदान के केन्द्र भी होते हैं। परंपरागत अंग वस्त्र, आभूषण, वाद्ययन्त्र, कृषि उपकरण, उपस्कर आदि के साथ-साथ उनके आधुनिक एवं परिष्कृत स्वरूप भी देखने को मिलते हैं। ये सभी भौतिक संस्कृति में परिवर्तन एवं परिवर्धन के कारण बनते हैं। इसका प्रभाव समान रूप से पड़ता है।

जनजातीय समाज में अभौतिक संस्कृति का अत्यधिक महत्व है। जनजातियों का सामाजिक एवं पारिवारिक जीवन उनकी कतिपय सामाजिक धारणाएँ, उनका यह लोक विश्वास है कि विभिन्न देवी-देवताओं के साथ-साथ उनके पितर भी उनकी रक्षा करते हैं और उनके वंश वृद्धि में सहायक होते है।

जनजातीय धर्म के विभिन्न अनुष्ठानों के समय बलि प्रदान करने की प्रथा, आदि काल से चलती आ रही है। पशु या पक्षी को बलि देने के पीछे तीन लोक विश्वास कार्य करते हैं— जीव की बलि देकर जीव की रक्षा, संबंधित देवी, देवता या प्रेत को संतुष्ट एवं प्रसन्न करना तथा बलि पशु या मांस के साथ-साथ भोज-भात और हँड़िया (चावल की शराब) खिला-पिलाकर अपने समाज के लोगों को संतुष्ट करना। यह उनकी सामूहिक जीवन दृष्टि एवं संस्कृति का ही परिचायक है। यह कार्य शादी-विवाह, जन्म-मृत्यु, पर्व-त्योहार आदि अवसरों पर सम्पन्न होता है। पर्व-त्योहार का जनजातीय समुदाय में विशेष सांस्कृतिक महत्व है। इनके पर्व प्रायः कृषि एवं आखेट से जुड़े हुए हैं।

मार्च-अप्रैल (फाल्गुन-चैत) में मनाया जाने वाला सरहुल पर्व जनजातियों का एक विशेष पर्व है, जिसे सूर्य एवं धरती के विवाह के रूप में मनाया जाता है। इसी अवसर पर 'हो' जनजाति में माघे या मागे पर्व मनाया जाता है। इस अवसर पर ओते एंगा या धरती माँ की पूजा होती है।

बसंत ऋतु का 'बा' पर्व 'मुडा' 'हो' आदि में मनाया जाता है, वहीं संथाल लोगों द्वारा 'बाहा' पर्व मनाया जाता है। करमा पर्व भी पूरे झारखंड में सभी जनजातीय एवं गैरजनजातीय समुदाय द्वारा मनाया जाता है। इसी प्रकार टुसू पर्व भी झारखंड के विभिन्न भागों में मनाया जाता है।

वैदिक संस्कृति और उसकी परम्परा

विश्व की प्राचीन संस्कृतियों में वैदिक संस्कृति का अपना अलग एवं महत्वपूर्ण स्थान है। विश्व संस्कृति के इतिहास का अनुशीलन करने पर ज्ञात होता है कि उसमें जो निरन्तर नये परिवर्तन होते गये और नयी मान्यताएँ स्थापित होती गयीं उनके मूल में बहुत कुछ अंशों में वैदिक संस्कृति के प्रेरणादायी तत्व भी सन्निहित रहे हैं। मानव संस्कृति की परम्परागत महान् विरासत का जब हम इस दृष्टि से अध्ययन तथा मनन करते हैं, तो हमें स्वीकार करना पड़ता है कि उनकी मन चेतना को प्रभावित एवं प्रेरित करने में वैदिक संस्कृति का महत्वपूर्ण योगदान रहा है। वर्तमान युग के मीमांसाशास्त्रियों तथा इतिहासवेत्ताओं ने अतीत के अज्ञातनामा मनीषियों द्वारा विवेचित एवं निर्धारित मान्यताओं का परिशीलन करने पर जो निष्कर्ष निकाले हैं और उन्हें एकमत से स्वीकार किया है, उनसे यह सिद्ध एवं पुष्ट होता है कि वैदिक संस्कृति की विश्व संस्कृति पर अमिट छाप है। इसके साथ ही यह भी प्रमाणित है कि परम्परा से वैदिक संस्कृति के उत्तराधिकार को वहन करने वाली जाति का अस्तित्व सदा ही जीवन्त और ज्वलन्त रहा है।

संस्कृति के स्वरूप का विश्लेषण करने पर ज्ञात होता है कि उसका संबंध किसी युग विशेष, देश विशेष या व्यक्ति विशेष से न होकर मानव सामान्य की अन्त: चेतना से हुआ है। यह अन्त: चेतना प्रकृत नियमों पर आधारित होती है। यही कारण है कि संस्कृति का सृजन करने वाले अन्तश्चेतना के मानसिक तथा बौद्धिक तत्वों में शाश्वत समानता एवं एकरूपता होती है। संस्कृति में सत्यं, शिवं और सुन्दरं की एकानुभूति का आधार भी यही रहा है। सत्यं, शिवं और सुन्दरं मानव चेतना को संस्कृत करने वाले तत्व हैं। दर्शन में हमें उनके सत्य स्वरूप का, नीति में शिव स्वरूप का और कला में सुन्दर का दर्शन होता है। इन तीनों का समाहार ही संस्कृति है। जब हम विश्व संस्कृति की बात करते हैं, तो हमारे समक्ष वे ही चिरंतन एवं शाश्वत आधार विद्यमान होते हैं।

वैदिक संस्कृति के विकास परम्परा की डा. मंगलदेव शास्त्री ने तीन परिस्थितियाँ बलतायी हैं। उनकी स्थापना का आधार यास्क के निरुक्त (10/10) का वह सन्दर्भ है, जिनमें कहा गया है कि "आरम्भ में ऐसे ऋषि हुए जिन्होंने धर्म का, अर्थात् धर्मस्वरूप वेदमन्त्रों का साक्षात् दर्शन किया। उसके बाद वे ऋषि हुए, जिन्होंने स्वयं तो धर्म का साक्षात्कार नहीं किया किन्तु पूर्ववर्ती साक्षात्कर्ता ऋषियों के उपदेश द्वारा उसको ग्रहण किया। इसके बाद तीसरी कोटि के वे ऋषि हुए, जिनकी मंत्रोपदेश में रूचि नहीं थी अथवा जो मंत्रोपदेश को ग्रहण करने में समर्थ नहीं थे। उन्होंने मंत्रार्थ को बोध कराने के लिए वेदांगों का प्रणयन किया।

इस आधार पर डाक्टर साहब ने यास्क (700 ई. पूर्व) तक की ऋषि परम्परा को तीन काल-खण्डों में विभाजित कर वैदिक संस्कृति के विकास में उनके योगदान की विस्तार से विवेचना की है। प्रथम काल के प्रकृत प्रतिभा सम्पन्न ऋषियों को वेदमन्त्रों में 'कवि' नाम से कहा गया है। द्वितीय काल के श्रुतर्षियों के प्रयत्न, ब्राह्मण तथा आरण्यक ग्रन्थों के रूप में प्रकाश में आये। तीसरे युग के ऋषियों ने वेदों तथा उसके व्याख्यान रूप ब्राह्मण और आरण्यक ग्रन्थों के विस्तार के लिए उनके अंगस्वरूप छ: स्वतंत्र विद्याओं का सृजन किया, जिन्हें षड् वेदांग कहा जाता है।

प्रथम मंत्रदृष्टा ऋषियों ने वैदिक संस्कृति के कर्म और ज्ञान पक्षों का विस्तार किया। द्वितीय असाक्षात्कृत ऋषियों ने वेदमन्त्रों को बहुजन बोधगम्य करने की दृष्टि से और वैदिक धर्म को अधिक व्यापक तथा सहज बनाने की दिशा में कार्य किया। इस युग के ऋषियों की सांस्कृतिक देन यज्ञसंस्था के रूप में प्रकाश में आयी। इस यज्ञ संस्था ने तत्कालीन जन जीवन में संगठन और सामूहिक चेतना की भावना का उद्रेक किया। इस यज्ञप्रधान वैदिक संस्कृति ने जिस नये युग को जन्म दिया, उसी को वैदिक संस्कृति का तीसरा विकास क्रम कहा गया है। इस तीसरे युग में एक ओर तो वर्णाश्रम धर्म की व्यवस्था हुई और दूसरी ओर सूत्र ग्रन्थों तथा स्मृत्तियों द्वारा सामाजिक नीति नियमों का निर्धारण हुआ। इसी तीसरे युग में विभिन्न उद्योग-व्यवसायों और गृह शिल्पों की स्थापना होकर आर्थिक विकास की नयी दिशाएँ खुलीं।

कर्म और ज्ञान की जिस अनिवार्यता पर वेदों के कवि बल दे चुके थे, परवर्ती युगों के विचारकों ने उसको उसी रूप में स्वीकार किया। इस तीसरे युग के वैदिकों ने श्रेष्ठतम कर्म यज्ञ को केन्द्र बना कर एकता तथा संगठन की भावना से जीवन का नव-निर्माण किया। सांस्कृतिक, विकास के दूसरे युग

में कर्म के नाम पर भौतिक उन्नति के प्रलोभन से जो अनर्थ हो रहे थे, तीसरे युग में उनका भी सम्यक् समाधान हुआ। यह उपनिषदों के उदय का विचार प्रधान तथा तर्क प्रधान युग था। उपनिषत्कार ऋषियों ने जीवन के परम श्रेय के लिए मोक्ष पुरुषार्थ का नया मार्ग उद्घाटित किया। उपनिषदों की इस तर्क प्रधान संस्कृति ने ज्ञान की अनन्त शाखाओं का विकास किया। उन्होंने परम्परागत वैदिक ज्ञान को विरासत के तर्क और प्रमाण की कसौटी पर कस कर तत्व चिन्तन की नयी पद्धतियों के द्वार खोले। उपनिषदों का बौद्धिक उत्कर्ष आगे चल कर दर्शन की अनेक शाखाओं में प्रतिफलित हुआ।

वैदिक संस्कृति के विकास में उपनिषदों की विचारप्रधान संस्कृति ने समाज के एक क्षेत्र विशेष या वर्ग विशेष के लोगों को ही प्रभावित किया। बहुसंख्यक जन समुदाय प्रायः उससे अछूता ही रहा। यद्यपि उपनिषदों के ऋषियों ने सुरूचिपूर्ण छोटी-छोटी कथाओं द्वारा अपने अभिप्रेत को अधिकाधिक व्यापक बनाने का यत्न किया, किन्तु उनका यह प्रयत्न इसलिए पूर्णतः सफल न हो सका कि उनमें जन सामान्य की अभीप्साओं एवं समक्ष की बातें कम थी। इस कार्य को पूरा किया पुराणों के मुनि-महात्माओं ने।

इस दृष्टि से वैदिक संस्कृति के विकास में पुराणों का सर्वाधिक योगदान रहा। लोकप्रियता की दृष्टि से वेदों के बाद वैदिक साहित्य के द्वारा वैदिक संस्कृति में जो एकांगिता का समावेश हो रहा था, पुराणों ने उसको दूर किया। यद्यपि ब्राह्मणों, आरण्यकों और कल्पसूत्रों के वर्ण भेद को उपनिषदों में कोई स्थान न दिया गया, किन्तु पुराणों ने तो उसे सर्वथा विस्मृत कर दिया। संक्षेप में कहा जा सकता है कि ब्राह्मण– ग्रन्थों ने वेदों की जो असामान्य स्थिति बना दी थी, पुराणों ने उसको लोकसुलभ बना दिया।

इस प्रकार जन-सामान्य, पौराणिक संस्कृति द्वारा ही वैदिक संस्कृति से परिचित हुआ। वेदों में जिस समन्वित संस्कृति का दर्शन होता है, पुराणों ने उसका बहुमुखी विकास किया। पुराणों के रचयिता, वक्ता और प्रवक्ता मुनि मनस्वियों ने परम्परागत आख्यान-उपाख्यान द्वारा समाज प्रभावी ख्यातों एवं इतिवृत्तों द्वारा धर्म, आचार, नीति, सदाचार और सन्मार्ग का सदुपदेश देकर तत्कालीन जन-समाज को अत्यधिक रूप से प्रभावित किया। पुराणों के आदर्श एवं लोकप्रिय चरित्रों को तथा उनके आधार पर स्वकल्पित उदात्त पुरुषों और पुराकालीन एवं समकालीन ऐतिहासिक राज-पुरुषों को अपनी वृत्तियों का विषय बना कर व्यास और वाल्मीकि जैसे महामनस्वियों ने, 'महाभारत' और 'रामायण' द्वारा परम्परागत सांस्कृतिक धारा को नया रूप दिया। इन दोनों राष्ट्रीय महाकाव्यों द्वारा इस देश में जन जीवन की वास्तविक प्रतिच्छवि को उतारा गया। एक ने भ्रातृद्रोह को तो दूसरे ने भ्रातृमोह के दो भिन्न-भिन्न उदाहरणों को जनता के सामने रखा। एक ने स्वार्थ तथा अधिकारों के कुपरिणामों की व्याख्या की और दूसरे ने परार्थ एवं लोकहित का दिग्दर्शन किया। इन दोनों महाकाव्यों ने इस राष्ट्र की संस्कृति को उज्जीवित किया। यही कारण है कि राजमहलों से लेकर साधारण झोपड़ियों तक समान रूप से उनका सन्देश हुआ।

महाकाव्यों के युग (लगभग 400 ई. पूर्व.) तक जो सांस्कृतिक विकास हुआ उसमें परम्परा की प्रमुखता थी। उसके बाद धार्मिक तथा सामाजिक क्षेत्रों मे जो नये आन्दोलन तथा संघर्ष हुए, उन्होंने पुरानी मान्यताओं एवं परम्पराओं को विस्तृत कर दिया। महावीर स्वामी और बुद्धदेव जैसे धार्मिक नेताओं ने नयी समाज-पद्धति के आधार पर नये सांस्कृतिक मूल्यों को जन्म दिया। किन्तु उन्होंने भी वैदिक

संस्कृति की सर्वथा उपेक्षा नहीं की। वैदिक परम्परा द्वारा नैतिकता, सदाचार और सद्भावना की जिन बातों को समाज अपना चुका था, महावीर स्वामी और बुद्ध ने उनको उसी रूप में ग्रहण किया। सत्य, अहिंसा, दया, प्रेम, लोक, सेवा के व्रत को अपना कर उन्होंने जीवन को गर्त में डालने वाली कुत्साओं से बचाये रखने का सदुपदेश दिया।

उपनिषदों के तत्व चिन्तन को आधार मानकर लोकायत, सांख्य, न्याय, योग और वेदान्त जैसे धर्म दर्शन-सम्प्रदायों का उदय हुआ ये सभी सम्प्रदाय या पन्थ उस व्यापक एवं विशाल मानव संस्कृति के अंग हैं, जिन्होंने सांस्कृतिक अभ्युत्थान में अपना अविस्मरणीय योग दिया। सांस्कृतिक अभ्युत्थान के इस विचारप्रधान व्यापक दृष्टि-कोण को जन सामान्य की समझ तथा उसके उपयोगी बनाने में जिन धार्मिक पन्थों का सबसे अधिक योगदान रहा, उनमें जैन-बौद्ध का नाम सर्वप्रथम है। ये दोनों धर्म वैदिक संस्कृति के ही अंग हैं। वैचारिक दृष्टि से उपनिषदों एवं अन्य दर्शन शाखाओं से उनका घनिष्ट संबंध है। आत्मदर्शन, चित्तशुद्धि, वैराग्य, तप, त्याग, समाधि, सन्यास और प्रज्ञा आदि जिन परमार्थ प्राप्ति के साधनों की इन दोनों धर्मों के विचारक मनीषियों ने व्याख्या की, वे सांख्य, योग और वेदान्त के ही रूपान्तर हैं। अहिंसा, जीवदया, सत्य, अस्तेय और ब्रह्मचर्य आदि जिन नैतिक एवं चारित्रिक सद्गुणों के परिपोषक होने के कारण उनको असामान्य लोकप्रियता प्राप्त हुई, उनका मूल आधार वेद है। उन्होंने दार्शनिक या वैचारित तथा नैतिक दृष्टि से ही नहीं, भाषा साहित्य, आचार, कला और विशेष रूप से संस्कृति के निर्माण में महत्वपूर्ण योगदान किया।

भारतीय संस्कृति के लम्बे इतिहास में समय-समय पर जो आन्दोलन हुए, जैन धर्म और बौद्ध धर्म उनके साक्षी एवं स्मारक हैं। महावीर स्वामी और बद्धदेव ने जनता के बीच जाकर पारस्परिक प्रश्नोत्तर एवं प्रत्यक्ष वार्तालाप द्वारा जनता के विचारों को अवगत किया और उनका उत्तर सन्तोषजनक समाधान करके सही राह दिखायी।

बुद्ध के सामने तत्कालीन विचारकों ने अनेक प्रश्न उपस्थित किये। बुद्ध ने आत्मा और जगत् तथा तात्विक विषयों से सम्बन्ध प्रश्नों के उत्तर में केवल मौन धारण करना ही उचित समझा। जेतवन में मांलुक्यपुत्त, वच्छगोत्त और आनन्द आदि के आत्मविषयक प्रश्नों को बुद्ध ने 'अव्याकृत' कह कर टाल दिया। 'अव्याकृत' अर्थात् जिनका निर्णय नहीं किया जा सकता। ऐसे प्रश्नों को उन्होंने 'जटिल समस्याओं का जंगल' और 'बुद्धि का बन्धन' कह कर टाल दिया। इसका कारण यह था कि तत्वगान की सूक्ष्म ग्रन्थियों को सुलझाना उनको व्यर्थ प्रतीत हुआ। उसकी अपेक्षा उन्होंने केवल उन्हीं का उत्तर दिया जो बुद्धि तथा अनुभव पर लोगों को परमार्थ-प्राप्ति का सहज एवं सुलभ मार्ग था। जीवन की जो सुखमयता है, उसको उन्होंने अकाट्य सत्य कहा और उसके निवारण के लिए चार आर्य सत्यों का प्रवचन किया।

यह सत्य है कि बुद्ध का धर्म एक दिन विश्व धर्म बन गया। शस्त्र तथा शासन का अधिकार बल प्राप्त किये बिना बुद्ध के सत्य, अहिंसा तथा शान्ति के महान् सन्देश देश-देशान्तर में फैले। समानता, सद्भाव और मैत्री की इस त्रिवेणी ने मानवीय चेतना में घुल-मिलकर भारतीय संस्कृति की उदात्त एवं महान् विरासत को विश्व में फैलाया।

बौद्ध धर्म की ही भाँति जैन धर्म भी वैदिक परम्परा की एक शाखा के रूप में उदित हुआ। वह बौद्ध धर्म से भी प्राचीन है, क्योंकि व्रात्य मुनियों की परम्परा का अस्तित्व वेदों में ही सुरक्षित हुआ मिलता है। अथर्ववेद (15.1) में व्रात्यों के संबंध में कहा गया है उसने प्रजापति को प्रेरणा दी (व्रात्य आसीदीयमान् एवं स प्रजापति समेक्ष्यत्)। इसका भाष्य करते हुए सायणाचार्य ने लिखा है कि 'यहाँ उस व्रात्य से मन्तव्य है, जो विद्वानों में उत्तम, महाधिकारा, पुण्यशील तथा विश्वपूज्य है और जिससे कर्मकाण्डी विद्वेष करते हैं।

इस संदर्भ से विदित होता है कि वैदिक युग में व्रात्य मुनियों का भी एक सम्प्रदाय था, जो आचारशील, पुण्यात्मा और विश्वसंपूज्य था। इन व्रात्य मुनियों की परम्परा जैन धर्म के आदि तीर्थंकर ऋषिदेव से आरंभ हुई और महावीर तक बनी रही।

इस प्रकार के सन्तों, सन्यासियों, तपस्वियों और मुनियों की परम्परा वैदिक युग से भी पहले की है। उनका संबंध विभिन्न क्षेत्रों से था। वे अवैदिक थे और वैदिक भी। वैदिक संस्कृति के निर्माण में दोनों परम्पराओं का समान योगदान रहा है।

जहाँ तक वैदिक धर्म दर्शन से जैन-दर्शन का सम्बन्ध है, उसमें कई बातों में समानता मिलती है। तत्व मीमांसा की दृष्टि से जैन दर्शन अनीश्वरवादी, सांख्य और दु:खवाद की दृष्टि से उपनिषदों के अधिक निकट है। इस दृष्टि से जैन धर्म पूरी तरह वैदिक दर्शन से एकता रखता है, कि दोनों में वैराग्य और सन्यास को मोक्ष का साधन माना गया है। जैनों के आदि तीर्थंकर ऋषभदेव को हिन्दू पुराणों में एक परमहंस अवधूत योगी के रूप में चित्रित किया गया है। उनके अन्तिम तीर्थंकर महावीर स्वामी का चरित्र श्रीकृष्ण के चरित्र से समानता रखता है। जहाँ तक सांस्कृतिक समानता का प्रश्न है सभी क्षेत्रों में वह हिन्दू धर्म का अंतिम अंग है।

वेदों की विश्वजनीन संस्कृति का आधार-ऋत, अनन्त प्रवृति, समस्त चराचरा में व्याप्त जो जगत-विषयक नियम है, संहिताओं में उसे 'ऋत' नाम से कहा गया है। वह उच्चतम देवताओं का संचालक और नियन्ता है। नैतिक क्षेत्र में 'ऋत', सत्य तप का व्यंजक और धार्मिक क्षेत्र में यज्ञ अथवा संस्कार का द्योतक है। ऋग्वेद के एक सूक्त में कहा गया है कि सृष्टि के आरम्भ में सर्वप्रथम 'तप' से 'ऋत' की उत्पत्ति हुई और उसके पश्चात् रात्रि, सागर, वर्ष और फिर विधाता ने सूर्य, चन्द्रमा, आकाश, पृथ्वी, वायु और अन्तरिक्ष का सृजन किया। इस तरह ऋत का अस्तित्व और महत्व स्वयं सिद्ध है।

ऋषियों ने अपने अनुभूतिपूर्ण अन्त: करणों में जिन सनातन सत्यों का साक्षात्कार किया था, उन्हीं का वर्णन वेदमन्त्रों में है। इन ऋषियों ने जिन सत्यों का साक्षात् किया उनमें 'अनुशासन' ऋत है।

वेदों में 'ऋत' का बड़ा ही वैज्ञानिक सिद्धान्त प्रतिपादित है। यहाँ ऋत कहा गया है अनुशासन या व्यवस्था को। ऐसा अनुशासन या ऐसी व्यवस्था, जिससे सब नियंत्रित हैं। ऐसे नियम जिसका कोई भी उल्लंघन नहीं कर सकता है। इस कठोर नियम से आबद्ध ऋग्वेद की एक उषा-सम्बन्धी ऋचा में कहा गया है— द्यु लोक और दुहितृस्थानीय, ज्योतिर्मय वस्त्रों को धारण किये हुए, सब के प्रति सद्भावना रखने वाली यह उषा देवी सामने दृष्टिगोचर हो रही है। मानों वह सत्य के मार्ग का बुद्धि पूर्वक अनुसरण करती हुई कभी भी अपने नियमों का अतिक्रमण नहीं करती है।

वेदों का यह 'ऋत' नित्य शाश्वत और सब का पिता है। सूर्य, चन्द्र, रात, दिन, सुबह, सायं, ऋतुएँ आदि सब का नियम इसी ऋत द्वारा होता है। वेदों का यह नैतिक नियम देवताओं और जीवों को सन्मार्ग पर चलने का निर्देश करता है। जीवों के लिए उसका स्पष्ट निर्देश है कि वे पापों से बचकर पुण्य की ओर प्रवृत हों।

ऋग्वेद (4,23.8) में ऋत की महिमा का वर्णन करते हुए कहा गया है कि वह सभी प्रकार की सुख-शान्ति का स्रोत है। उसकी भावना मात्र से ही सभी पापों का विनाश हो जाता है। वह मनुष्य को उद्बोधित करने वाला और प्रकाश देने वाला है। बधिर के कानों में भी उसकी कीर्ति का प्रवेश है। उसकी जड़ें सुदृढ़ हैं। सृष्टि के नाना रमणीय पदार्थों में वह मूर्तिमान हो रहा है।

ऋग्वेद (5, 4, 11) की एक अन्य ऋचा में उस ऋत, परम सत्य को सम्बोधित करते हुए कहा गया है कि जिसके सहारे दिन-रात का क्रम अबाध रूप से चलता है जिस पर जंगम प्राणियों का जीवित रहना निर्भर है, जिसके द्वारा बहाये पानी निरन्तर बहते रहते हैं, और जिसकी प्रेरणा से सूर्य नित्य उदय होता है— वह सत्य सदा मेरा रक्षण करे।

ऋग्वेद (10,85,1) में सत्य की श्रेष्ठता का वर्णन करके लिखा गया है कि यह पृथ्वी सत्य पर ही टिकी हुई है (सत्येनोत्तमिता भूमिः)। श्रुति में ऋत और सत्य का अविनाभाव सम्बन्ध बताया गया है, अर्थात् वे एक-दूसरे पर निर्भर हैं, एक के बिना दूसरे की स्थिति नहीं है। दोनों में ऋत प्रधान है। सत्य की उत्पत्ति उसी से हुई है किन्तु यह उत्पत्ति वैसी ही है, जैसे मृत्तिका से घट।

इस सत्य की महिमा का वैदिकों ने अनेक तरह से उद्गायन किया है। यजुर्वेद (20,11-12) में कहा गया है कि समस्त दैवी शक्तियाँ मेरी रक्षा करें और मुझे सत्य पर रहने की शक्ति प्रदान करें। इसी प्रकार दूसरी ऋचा यजुर्वेद (19,77) में कहा गया है कि सृष्टिकर्ता परमेश्वर ने सत्य और असत्य को अलग-अलग विभाजित किया है।

वेदों के अतिरिक्त ब्राह्मण ग्रन्थों में भी सत्य का प्रभावशाली वर्णन देखने को मिलता है। वहाँ लिखा है कि पवित्रता नष्ट हो जाती है (शतपथ ब्राह्मण 3, 1, 3, 18)। उसका तेज क्षीण हो जाता है (शतपथ 2,2,2,19)। सत्य एक अजेय अस्त्र है (शतपथ 3, 4, 3, 8)। जो मनुष्य सत्य के महत्व को समझता हुआ सत्य का आचरण करता है, उसे मूर्तिमान यश समझना चाहिये (शतपथ 1,1,1,5) इसी प्रकार ताण्ड्य ब्राह्मण (8, 6, 13) में कहा गया है कि असत्य भाषण वाणी का छिद्र है, जिसके कारण मनुष्य का पतन हो जाता है। एक अन्य सन्दर्भ में कहा गया है कि जो सत्य का आचरण करता है उसको स्वर्गलोक की प्राप्ति होती है (ताण्ड्य ब्राह्मण 18.2.19)।

उपनिषदों में भी उसकी महिमा का वर्णन किया गया है। कठोपनिषद् (6.12) में कहा गया हे कि वह परम सत्य ऋत, वाणी, मन और दृष्टि से अतीत है:

नैव वाचा न मनसा प्राप्तुं शक्यो न चक्षुषा।

इसी प्रकार बृहदारण्योपनिषद्(3, 9, 21, 7) में कहा गया है कि वह भूत, भविष्य और वर्तमान तीनों कालों से अतीत है—

जात एव न जायेत को न्वेवं जनयेत्पुनः।

वेदों में इस ऋत सिद्धान्त के अन्तर्गत देवताओं और विशाल मानवता के कर्तव्यों तथा अनुशासनों का गम्भीरता से निरूपण किया गया है। किसके लिए क्या कर्तव्य है, क्या अकर्तव्य है, क्या ग्राह्य है, क्या अग्राह्य है, क्या ज्ञातव्य है क्या अज्ञातव्य है, क्या भोग्य है, क्या अपरिहार्य है— इन सभी बातों का निर्देश वेदों में है। इसी को अनुशासन या 'ऋत का सिद्धान्त' कहा गया है। इसलिए वैदिक धर्म सम्पूर्ण मानवता का धर्म है, कर्तव्य है। वैदिक दृष्टि अर्थात् मानव दृष्टि है। मनुष्य का मनुष्य के साथ और मनुष्य का बहिर्जगत् के साथ क्या सम्बन्ध होना चाहिये, इसका सम्यक् निरूपण भी वेदों के 'ऋत' सिद्धान्त में हुआ है। उसमें सबके लिए समान रूप से सुख और मंगल की कामना की गई है।

इस प्रकार यदि 'ऋत' के सिद्धान्त पर विचार किया जाये तो प्रतीत होता है कि उसके द्वारा वेदों की विश्वजनीन संस्कृति का निरूपण हुआ है। उसके मूल में महान् मानवीय आदर्श निहित हैं। आधुनिक भौतिकवादी विज्ञान भी यह स्वीकार करता है कि प्रत्येक वस्तु के वाह्य रूप का आधार उसका भीतरी रूप होता है, जो कि अब प्रत्यक्ष या अदृष्ट है। यही अदृष्ट उसका मूल तत्व है। प्रकृत रूप में अनुस्यूत वही मूल सत्ता 'ऋत' है जो कि सारी सृष्टि को नियमित तथा संचालित किये हुए है। वैदिक संस्कृति की दिव्य एवं उदात्त यशस्करी भावना का भी यही आधार है।

वैदिक संस्कृति और समाजवाद

वैदिक युग का सामाजिक जीवन पारस्परिक एकता सहयोग, सदभाव और संगठन पर आधारित था। व्यक्ति का अस्तित्व समाज पर अवलम्बित तथा जीवित था, और व्यक्ति ही समाज का निर्माता भी था। प्रत्येक व्यक्ति पारस्परिक कर्तव्यों के निर्वाह के लिए आबद्ध था। सारा समाज एक परिवार के बन्धन में बंधा था। इसका सुव्यवस्थित एवं स्पष्ट उल्लेख अथर्ववेद (3, 30, 16) और यजुर्वेद (19.46) में देखने को मिलता है। वैदिक युग की इस समानता तथा एकता का उदाहरण अन्यत्र मिलना कठिन है। यह वैदिक समाजवाद अपने ढंग का अपूर्व था। व्यक्ति अपनी सीमाओं में बँधा रह कर समाज के प्रति उत्तरदायी एवं कर्तव्यनिष्ठ बना रहे इसके लिए नियम बना दिये गये थे। उन्हीं के आधार पर सारा समाज संगठित था।

वैदिक राष्ट्र के संगठन और एकता के अनेक उदाहरण वेदमन्त्रों में सुरक्षित हैं। ऋग्वेद (10.191.2) के एक मन्त्र में कहा गया है कि मनुष्यो ! तुम परस्पर मिलकर रहो। एक साथ स्तोत्र पाठ करो। तुम सब का मन एक समान हो। जैसे देवता एक साथ होकर अविरोध भाव से अपना हविर्भाग ग्रहण करते थे, वैसे ही तुम भी एक साथ होकर अपना प्राप्य ग्रहण करो।

संगच्छध्वं संवदध्वं सं वो मनांसि जानताम्
देवा भागं यथापूर्वे संजानाना उपासते।।

इस ऋचा में अभिव्यक्त समानता और समान वितरण की जो भावना विद्यमान है, उससे वैदिक युग के आदर्श सामाजिक जीवन का भली-भाँति पता लग जाता है। ऐसा तभी संभव है, जब प्रत्येक व्यक्ति अपने कर्तव्यों के प्रति सजग रहता हुआ अपने हृदय की स्वच्छता को बनाये रखे। एकता और संगठन की प्रवृत्ति का उत्तरोत्तर विकास करने के लिए धार्मिक एवं सामाजिक अनुष्ठानों के समय उस पर बड़ा बल दिया जाता था। पुरोहित, जो कि वैदिक युग का विधि व्यवस्थापक तथा नेता हुआ करता था ऋग्वेद

(10.191.4) की एक ऋचा में यजमान को सम्बोधित करते हुए कहता है तुम्हारा अध्यवसाय एक हो, हृदय एक हो, मन एक हो। तुम लोग एक साथ मिलकर रहो—

समानी व आकूतिः समाना हृदयानि वः।
समानमस्तु वो मनो यथा वः सुसहासति।।

वैदिक संस्कृति का इस अर्थ में बहुत बड़ा महत्त्व है कि उसमें व्यापक विश्वजनीन भ्रातृ-भावना की कल्पना के साथ-साथ पारस्परिक सहयोग एवं एकता द्वारा मनुष्य-मनुष्य के प्रति उन्नति, कल्याण तथा सौहार्द्र का भाव व्यक्त किया है। ऋग्वेद (6,75, 14) के मन्त्र में कहा गया है कि पारस्परिक सहयोग करना मानवता का प्रथम कर्तव्य है। ऋग्वैदिक ऋषियों की यह धारणा (ऋग्वेद 10, 177,6) कि जो अकेले खाता है वह पापी है (केवलाधो भवति केवलादि) अपूर्व आदर्श का द्योतक है। वसुधैव कुटुम्बकम् की इस उदात्त विचारधारा से बढ़कर समाजवाद का दूसरा उदाहरण क्या हो सकता है?

इसी प्रकार अथर्ववेद (17.1.7) के एक मन्त्र में यह भावना व्यक्त की गयी है कि हे प्रभु, मुझ पर ऐसी कृपा कीजिए कि जिससे मैं मनुष्य मात्र के प्रति, चाहे मैं उसको जानता हूँ या नहीं, सद्भावना रख सकूँ (यांश्च पश्यामि यांश्च न, तेषु मा सुमतिं कृधि)। इसी प्रकार अथर्ववेद के (3, 30, 4) दूसरे मन्त्र में कहा गया है कि 'आओ' हम सब मिलकर ऐसी प्रार्थना करें, जिससे मनुष्यों में परस्पर सुमति और सद्भाव का विस्तार हो'(तत्कृण्यौ ब्रह्मवो गृहे संज्ञानं पुरुषेभ्यः) समस्त मानवता में पारस्परिक मैत्री भावना की कामना यजुर्वेद (36, 18) में भी की गयी है।

वेदों के इन सन्दर्भों को देखकर वैदिक युग की भ्रातृत्व भावना का सहज ही में पता लग जाता है। उक्त सन्दर्भो के अतिरिक्त अथर्ववेद (3,30. 5-6) में पारस्परिक सहयोग और सद्भाव के प्रेरक अनेक सन्दर्भ देखने को मिलते हैं। एक सन्दर्भ में कहा गया है कि क्या तुम पारस्परिक सहायता करते हुए एक ही लाठी के सहारे, एक साथ चलकर परस्पर सुन्दर आचरण करते हुए आये हो? तुम्हारे खाने पीने का भाग (अंश) एक समान होना चाहिए। मैं तुम सब को एक ही मार्ग की ओर प्रवृत्त होने के लिए प्रेरित करता हूँ (सामने याक्त्रे सह वो युनज्मि)। अथर्ववेद 3,6,30 के एक अन्य मन्त्र में यह निर्देश किया गया है कि श्रेष्ठत्व प्राप्त कर एक साथ मिल कर रहो। एक-दूसरे से अलग न होओ। परस्पर मधुर शब्दों का प्रयोग करते हुए प्रेम पूर्वक मिलकर रहो।

पारस्परिक एकता और अन्योन्यापेक्षा का ऐसा आदर्श एवं अनुकरणीय उदाहरण सम्भवतः ही अन्यत्र देखने को मिल सकता है, जैसा कि यजुर्वेद (3,50) के एक मन्त्र में देखने को मिलता है। उसमें कहा गया है कि तू मुझे दे और मैं तुझे देता हूँ, तू मुझसे उत्तम गुण धारण कर और मैं तुझसे, यह मैं लेता हूँ और यह तू स्वीकार कर

देहि मे ददामि ते नि ये धेहि नि ते दधे।
निहारं च हरासि ये निहारं नि हराणि ते स्वाहा।।

वैदिक युग के समाज में जहाँ एक ओर निरन्तर उद्योगशील बने रहकर प्रभूत यश और धन अर्जित करने की प्रवृत्ति का पता चलता है, वहीं दूसरी ओर स्वार्जित सम्पत्ति को मुक्त हस्त वितरित करने

की उदारता भी दृष्टिगत होती है। इसीलिए तो वैदिक कवि (अथर्ववेद 3, 24,5) कहता है 'सौ हाथों से संचय करो और सहस्र हाथों से उसका वितरण करो।' (शतहस्त समाहार सहस्रहस्त संकिर)। यह प्रवृत्ति न केवल उदारता एवं निस्पृहता का द्योतक है, अपितु उस समाजवाद का भी प्रतीक है, जिसमें किसी प्रकार के एकाधिकार और अनावश्यक संचय के लिए कोई स्थान नहीं है।

वैदिक युग के इस सुसंगठित एवं सर्वत्र सहसापेक्ष्य जीवन का लक्ष्य सुन्दर, सुखमय तथा शक्तिशाली राष्ट्र का निर्माण करना था। जनपदों और राष्ट्रों के बीच छोटी-छोटी बातों पर बहुधा जो युद्ध की सम्भावना बनी रहती थी, उसके कारण भी वैदिक आर्यों ने एकता और संगठन की आवश्यकता को अनुभव किया, क्योंकि यजुर्वेद (10,4) के एक सन्दर्भ में आत्म रक्षा के लिए संगठन की आवश्यकता बतायी गयी है। संगठित रहने से कोई अपकार नहीं कर सकता है (अनाधृष्टाः सीदत महौजसः) इसके अतिरिक्त समाज में श्रेष्ठता हीनता और उच्च नीच की विषमताएँ उत्पन्न न हों, इसलिए भी वैदिक राष्ट्रीय जीवन में समानता तथा एकता की भावना को महत्व दिया गया।

वैदिक ऋषियों को उक्त राष्ट्रीय एकता की भावना को, उपनिषदों के ऋषियों ने अधिक उदार बनाने के उद्देश्य से मनुष्य को निरपेक्ष्य जीवन यापन करने के लिए प्रेरित किया है। ईशावास्योपनिषद् के एक श्लोक में व्यक्तिगत स्वत्व तथा अधिकार से उत्पन्न होने वाले वैषम्य को दूर करने के उद्देश्य से कहा गया है।

ईशावास्यमिदं सर्वं यत्किञ्च जगत्यां जगत।

तेन त्यक्तेन भुञ्जीथा मा गृधः कस्यचिद्धनम्।।

वैदिक संस्कृति का यह समष्टिमय लोकहितकारी भावना सामवेद (21,1,9) के इस स्वस्तिवाचक में अपनी परिपूर्णता को व्याप्त हुई, जिनमें इन्द्र, विष्णु और बृहस्पति से पर्वत समस्त मानवता के प्रति यह कल्याण कामना की गयी है :

स्वस्ति न इन्द्रो वृद्धश्रवाः स्वस्ति नः पूषा विश्ववेदाः।

स्वस्ति नस्ताक्ष्यों अरिष्टनेमिः स्वस्ति नो बृहस्पतिर्दधातु।।

इस प्रकार आज जिस सर्वसामान्य जीवन की स्थापना के लिए विश्व में समाजवादी व्याख्या का प्रचार प्रसार किया जा रहा है, वैदिक राष्ट्र में वह सहज ही सुलभ था। विश्व की आदिम संस्कृतियों में वैदिक संस्कृति की वह मानववादी विचारधारा, अपना विशेष महत्त्व रखती है।

वैदिक संस्कृति का आशावादी दृष्टिकोण

वैदिक कवि जीवन के प्रति दृढ़ आशावान रहे हैं और समाज को उन्होंने सुख, शान्ति, उत्साहयुक्त जीवन व्यतीत करने के लिए प्रेरित किया है। वैदिक ऋषि सदा समुन्नत होने की आकांक्षा करता है। (ऋग्वेद 1.36.14)। हम सदा प्रसन्नचित रहते हुए उदीयमान सूर्य को देखें (6, 52, 5)। इस प्रकार के आनन्दमय एवं उल्लासमय जीवन के लिए ऋग्वेद (3,75, 18;, 1,13,11) के अनेक स्थलों पर आकांक्षा व्यक्त की गयी है।

वैदिक कवि की इन धारणाओं से ज्ञात होता है कि वैदिक युगीन समाज जीवन के प्रति

कर्तव्यपरायण तथा निष्ठावान् रह कर भविष्य की उत्तरोत्तर उन्नति की ओर अग्रसर था। जीवन में उन्नत की ओर अग्रसर होने का पहला कर्तव्य है—'सदा जागते रहना' (भूत्ये जागरणम्, यजुर्वेद 30, 17)। जागरुक व्यक्ति अपनी और प्रजा दोनों की रक्षा करने में समर्थ हो सकता है। (सामवेद 3,1,17)। ऐतरेय ब्राह्मण (2,2) के एक स्थल पर कहा गया है 'हे अग्निदेव, हमें उन्नतशील जीवन के लिए उन्नत कर। (कृधी न उर्ध्वाञ्चरथाय जीव से)। 'जो व्यक्ति उन्नतशील एवं उन्नति का आकांक्षी है, परमेश्वर उसकी सहायता करता है' (ऐतरेय ब्राह्मण 7, 15)।

जीवन के आशावादी दृष्टिकोण के परिचायक अनेक सन्दर्भ वेदों तथा वैदिक साहित्य में देखने को मिलते हैं। वैदिक काल की दीर्घ जीवन की इच्छा जीवन के प्रति उसके आस्थावान् होने का प्रबल प्रमाण है। संकीर्णता तथा हीनता आदि दैन्य भाव से अछूता रहकर वह सौ वर्ष से भी अधिक जीवित रहने की इच्छा करता है (यजुर्वेद 36,24)। ऋग्वेद (10, 18, 9) के एक मंत्र में प्राणों के अधिष्ठाता वायु से वह आशा करता है कि वायु हमारे लिए कल्याणकारी तथा सुखकारी औषधि के रूप में बहे और हमारे दीर्घ पुण्य का दीर्घायुष्य का सम्पादन करे।

अपने उल्लासमय तथा दीर्घायुष्य जीवन में सदा वह विजय की उत्कट आशा प्रकट करता हुआ दिखायी देता है। उसकी यह भी आकांक्षा है कि उसकी सन्तानें शक्तिशाली हों और अपने दीर्घायु को प्रसन्नता पूर्वक व्यतीत करें (अथर्ववेद 7, 6, 33)। वेद मन्त्रों में बल, विक्रय, शौर्य और आत्मजयी जीवन प्राप्त करने के लिए बार-बार प्रार्थना की गयी है। स्वयं बलवान होकर अपनी सन्तान के ऊर्जस्वी एवं विजयी जीवन की कल्पना करते हुए ऋग्वेद (10,151,3; 9, 61,23) में कहा गया कि मेरे पुत्र शत्रुओं का हनन करने वाले हों तथा हमारे पुत्र बड़े वीर बनें और उनके साथ हम शत्रुओं पर विजय प्राप्त करें।' विजय प्राप्त करने के लिए जीवन में वह तेजस्विता, वीर्य, बल और ओज के अर्जन एवं संवर्द्धन के लिए प्रार्थना करता है (यजुर्वेद 19,9)। सुस्वास्थ्य और बलवान् बनने के लिए वह पाषाण की भाँति सुदृढ़ शरीर को प्राप्त करने का इच्छुक है।

नोऽश्मा भवतु नस्तनू :— यजुर्वेद 21, 49)।

जीवन में सदा विजय की ऐसी उत्कट उदात्त भावना विश्व साहित्य में कदाचित ही देखने को मिले जैसी कि वैदिक आर्यों में पायी जाती है। अपने इसी आशावादी दृष्टिकोण के कारण उन्होंने एक ऐसी संस्कृति को जन्म दिया, जो उदार तथा उदस्त होने के साथ-साथ जीवन्त भी है।

अध्याय 2

आर्य एवं आदिवासी जाति–सामान्य परिचय

I. आर्य जाति– शारीरिक बनावट

इनके रूप रंग के बारे में सभी इतिहासकारों का प्राय: एक मत है कि इनके शरीर का रंग अपेक्षाकृत गोरा था। ये ऊँचे, लम्बे सिर वाले और सुस्पष्ट आकृति वाले थे।

1. आर्यों का भारत प्रवेश :–

भारत प्रवेश के समय आर्य अर्द्धयायावर और बर्बर थे। आर्यों का भारत में प्रवेश भी एक ही बार में नहीं हुआ, परन्तु इसमें शताब्दियाँ लगीं। आक्रमणकारी अनेक जातियों के थे। शायद उनमें से सभी एक जाति और भाषा के नहीं थे। यह तो निश्चित जान पड़ता है कि सिन्ध के शहरों की संस्कृति नष्ट की जा चुकी थी, नहीं तो आर्यों का विस्तार कैसे होता? प्रसिद्ध इतिहासकारों के मत इस संदर्भ में दिये जा रहे हैं–

इतिहासकार रोमिला थापर (A History of India Volume I page 30) ने इन्हें अर्द्धयायावर और अर्द्ध शहरी कहा है। दामोदर धर्मानन्द कोसम्बी (प्राचीन भारत की संस्कृति और सभ्यता पृ. 96) के अनुसार आर्य युद्धप्रिय खानाबदोश थे। डॉ. एन. झा (Ancient India An Introductory outline p. 10) ने कहा है कि आर्य अर्द्धयायावर थे।

दूसरी मिलेनियम में जिन लोगों ने भारत में प्रवेश किया, उनमें से कुछ जाति के लोग एक–दूसरे से संबंधित थे, जिनके पुरोहितों ने उन्नत कविता शैली का परिष्कार किया था, जिन्हें वे मन्त्रों की रचना के समय प्रयोग करते थे। ये स्तोत्र यज्ञ करते समय, देवताओं की स्तुति के समय गाये जाते थे। ये जातियाँ, मुख्यत: पूर्वी पंजाब, सतलज और यमुना के बीच के क्षेत्र में बसीं। यही क्षेत्र बाद में 'ब्रह्मावर्त' कहलाया। नये घर में रचे गये पुरोहितों के स्तोत्र, मौखिक रूप से दूसरों को बड़ी सावधानी से दिये गये। ये ईसा पूर्व प्रथम मिलेनियम के प्रारंभिक समय में ही जमा किये गये और क्रम से रखे भी गये। वे स्तोत्र अभी तक लिखित नहीं थे परन्तु इस समय तक वे इतने पवित्र हो गये कि उनके मूल पाठ में थोड़ा भी परिवर्तन करने की अनुमति नहीं दी जाती थी। यहाँ तक कि भारत में लिखने का चलन होने पर भी

ये स्तोत्र कम ही लिखे गये। अनेकों पीढ़ियों तक ब्राह्मणों ने इन स्तोत्रों को अपनी यादों में संजोये रखा और पवित्रता को कायम रखा, जिससे ये स्तोत्र वर्तमान समय में इस रूप में बचे हैं कि भीतरी प्रमाणों से पता चलता हैं कि तीन हजार वर्षों में भी हेर-फेर नहीं हुए हैं। यही स्तोत्रों का समूह ही ऋग्वेद कहलाता है। अभी भी सैद्धान्तिक रूप से हिन्दुओं के पवित्र ग्रन्थों में से सबसे अधिक पवित्र है A. L. Basham "The Wonder that was India P. 31)

19वीं शताब्दी के भारत विद्याकारों द्वारा प्रारम्भिक आर्य समाज बहुत बढ़ा-चढ़ा कर लिखा गया था। उन्होंने यह स्पष्ट करने की कोशिश की कि ऋग्वेद में मानव के भावोदगार हैं। वास्तव में ऋग्वेद के आरंभिक स्तोत्रों की रचना तक आर्य बर्बर या जंगली नहीं थे, परन्तु सभ्यता के किनारे थे। उनकी सैनिक तकनीक मध्य पूर्व से समान विकसित था, पुरोहित स्कूलों ने जनजातीय यज्ञों को ललित कला तक ऊँचा उठा दिया और उसकी कवितायें औपचारिक और विस्तृत रूप दे दी गईं। परन्तु दूसरी ओर उन्होंने शहरी सभ्यता उन्नत नहीं की थी। वृहत् ऋग्वेद और अनेकों संदर्भों के होने पर भी पूरे ऋग्वेद में 'लिखना या लिखा गया' ऐसा शब्द नहीं मिलता है, इससे पता चलता है कि आर्य निरक्षर थे। वे युद्धप्रिय या लड़ाकू पशुपालक थे, जो राज्यों से अधिक जातियों में संगठित थे।

2. आर्यों का पवित्र ग्रन्थ — ऋग्वेद

''ऋग्वेद'' आर्यों की प्रारंभिक रचना है। इसमें 1017 भजन-संग्रह हैं, और 11 पूरक स्तोत्र हैं, जिन्हें ''बालखिल्य'' कहा जाता है। ये सारे स्तोत्र सुव्यवस्थित ढंग से विभक्त हैं। ये स्तोत्र अलग-अलग समय में रचे गये हैं। इनकी साहित्यिक गुणवता के स्तर में भी अन्तर है। पुरोहित कवियों द्वारा रचे गये हैं, विभिन्न परिवारों की दो या तीन महिला कवयित्रयाँ भी हैं। कुछ स्तोत्रों को छोड़कर, सभी देवताओं का आह्वान करते हैं, जिससे वे देवताएँ प्रसन्न होकर आह्वान करने वाले व्यक्ति पर आध्यात्मिक और भौतिक कृपा बरसायें। कुछ स्तोत्र देवताओं से संबंध रखते हैं, ये संयोगवश राजकीय उदारता और जातीय युद्ध पर कुछ प्रकाश डालते हैं। सूचनायें यद्यपि बहुत कम हैं, फिर भी दूसरे भौतिक अवशेषों के अभाव में वैदिक युग की झलक देती हैं। आर्यों के पवित्र ग्रन्थों के बारे में पृ. 185-295 में विस्तार से अध्ययन किया जायेगा।

ऋग्वेद की रचना

स्वयं ऋग्वेद में वास्तविक समकालिक घटना का जिक्र नहीं है, जिससे इसकी रचना की निश्चत सूचना हमें मिल सके। पहले कुछ विशेषज्ञों ने स्तोत्रों में परम्परा और अस्पष्ट खगोली सन्दर्भों के आधार पर ऋग्वेद के अत्यन्त आरंभिक समय में होने का दावा किया था।

इसका मतलब है ऋग्वेद के स्तोत्रों की रचना, अथवा उसमें वर्णित सभ्यता का काल-निर्धारण स्वयं ऋग्वेद में वास्तविक समकालिक घटना का जिक्र नहीं है, जिससे इसकी रचना की निश्चित सूचना हमें मिल सके। पहले कुछ विशेषज्ञों ने स्तोत्रों की परम्परा और अस्पष्ट खगोली सन्दर्भो के आधार पर ऋग्वेद के अत्यन्त कम समय में होने का दावा किया है। जैकोबी और तिलक खगोलीय आधार पर कहते हैं कि ऋग्वेद के स्तोत्र ईसा के कम से कम चार हजार वर्ष पहले रचे गये हैं। किसी विद्वान् ने 6000 वर्ष ईसा पूर्व माना है, परन्तु उनके मत स्वीकार्य नहीं हैं। मैक्समूलर, सूत्र 600-800

ईसा पूर्व, ब्राह्मण, आरण्यक और उपनिषद् 800-600 ईसा पूर्व, मन्त्र 1000-800 ईसा पूर्व और छन्द 1200-1000 वर्ष ईसा पूर्व की रचना मानते हैं। इस प्रकार 1200-800 वर्ष ईसा पूर्व वैदिक स्तोत्रों का आरम्भ समय मानते हैं और वेद के प्रत्येक युग के विकास के लिए लगभग 200 वर्ष निश्चित किया है। वोगहजकोय के आधुनिक खोज भी प्रमाण रूप में लिए जाते हैं, जहाँ हित्तीस और मित्तनी के राजाओं की संधियों के शिलालेख पाये हैं। इन लिखित प्रमाणों के आधार पर यह स्पष्ट है कि एशिया माइनर में कम से कम 1400 ई. पू. वैदिक देवता पूजे जाते थे। इन्द्र, वरुण, नास्तयु और मित्र देवता को संधि की रक्षा करने के लिए आह्वान करते हुए श्रद्धापूर्वक उनके नाम In-da-ra] U-ru-wna, N-sa-at-ti -ia, Mi-ti-ra शिलालेख में खुदे हैं। निश्चय ही इस खोज में विभिन्न निष्कर्ष आये। कुछ विद्वान् सोचते हैं यहीं हमारी भूल हुई यह समझने में कि आर्य पूर्व की ओर बढ़े। दूसरे इन वैदिक देवताओं की विशेषताओं पर निर्भर करके यह मानते हैं कि शिलालेखों से तो सिद्ध होता है कि भारतीय आर्य पश्चिम की ओर बढ़े। सच्चाई जो भी हो वोगहजकोय के शिलालेख के समय ही प्रसिद्ध टेल-एल-अमरना (Tel-el-Amarna) शिलालेख में भी संस्कृत के शब्द हैं, जो Artatama, Tusratta (मित्तनी राजाओं के लिए प्रयुक्त शब्द), इतना ही नहीं बेबिलोनिया में 1746-1980 ई. पूर्व तक शासन करने वाले कसिट्स (Kassites) के नाम भी संस्कृत के हैं, उदाहरण शुरियास (shurias) संस्कृत सूर्या (Sury) और मर्यट्स, संस्कृत-मरुत (Matutas) आदि।

सिन्धु घाटी की सभ्यता और वेद में वर्णित सभ्यता के मेल नहीं खाने से स्पष्ट होता है कि वेद की सभ्यता, सिन्धु घाटी के नगरों की सभ्यता के बाद की है। यह भी सिद्ध होता है कि वेद के स्तोत्र हरप्पा के विनाश के पहले नहीं रचे गये थे। उत्तर वैदिक साहित्य में संस्कृति, धर्म, और भाषा का विकास हुआ। इससे स्पष्ट है कि ऋग्वेद के आखिरी स्तोत्र की रचना और बुद्ध के समय में शायद 500 वर्षो का अन्तराल था। अत: ऋग्वेद के अधिकाधिक स्तोत्रों की रचना 1500 और 1000 वर्ष पूर्व रचे गये। यद्यपि कुछ अर्वाचीन स्तोत्र एक या दो शताब्दी के हैं।

जिस समय स्तोत्र लिखे जा रहे थे उस समय आदि सभ्यता का केन्द्र यमुना और सतलज (शुतद्री) के बीच का प्रदेश आधुनिक अम्बाला का दक्षिण भाग और सरस्वती नदी का उत्तरी मैदान था। यह नदी बाद में राजस्थान की मरुभूमि में लुप्त हो गई। ऋग्वेद में आर्यों की प्रारंभिक गतियों के बारे में चर्चा नहीं मिलती है, इसी प्रकार इसका भी उल्लेख नहीं मिलता है कि वे कैसे भारत में आये। फिर भी भौगोलिक सीमाओं द्वारा अफगानिस्तान से गंगा घाटी तक के उनके सीमित क्षेत्र का संकेत मिलता है। ऋग्वेद में कुभा (काबुल) सुवस्तु (स्वत), क्रुमु (कुर्रम) और गोमती (गोमल) के नाम आये हैं। इसी प्रकार सिन्धु (इन्डस) और उसकी सहायक नदियाँ वितस्ता (झेलम), असिक्नी (चेनाव) परुष्णी बाद में इरावती (रावी), विपाशा (व्यास) और शुतद्रि (सतलज) नदियों से भी आर्य परिचित थे। इसी प्रकार दृशवती (चौतंग) का नाम भी आया है। सरस्वती नदी इस समय बालुओं में विलीन हो गई। यद्यपि आर्यों की टोली गंगा के दोआब की ओर बढ़ी थी, फिर भी तब तक वह स्थान आर्यों के लिए अपरिचित था। नर्मदा नदी का नाम नहीं है। वैदिक कवि हिमालय से परिचित थे, परन्तु यमुना के पार तक आर्य नहीं फैले थे, इसलिए गंगा, का नाम बाद के स्तोत्र में केवल एक बार आया है। यमुना के दक्षिण भूमि को नहीं जानने के कारण विन्ध्य का वर्णन नहीं किया।

समुद्र से वे अनभिज्ञ थे। समुद्र शब्द का प्रयोग ''पानी के वृहत् विस्तार'' को सूचित करने के लिए प्रयुक्त होता था। ऋग्वेद में सिंह का उल्लेख है परन्तु बंगाल के दलदल जंगल में रहने वाले बाघ की नहीं। इसी प्रकार किसी प्रकार के धान का उल्लेख नहीं होने से पता चलता है कि पूर्व दिशा में बंगाल तक आर्यों की पहुँच नहीं थी। उत्तरी पंजाब में अधित मात्रा में पाये जाने वाले ''नमक' की चर्चा एक बार भी ऋग्वेद में नहीं की गई है।

Romala Thaper-A History of Indian History, p. 33 में लिखा है कि चूँकि ऋग्वेद में बहुत सी नदियों का वर्णन मिलता है इससे उनके भौगोलिक ज्ञान की जानकारी तो मिलती ही है, साथ ही ऐसा प्रतीत होता है कि ऋग्वैदिक समय में आर्य पंजाब से दिल्ली तक पहुँच गये थे। इनके अनुसार भी पूर्व की ओर आर्यो का विस्तार नहीं हो पाया था।

स्तोत्रों में अनेक ऋग्वैदिक जातियों का वर्णन है क्योंकि आर्य सजातीय समूह में नहीं थे, परन्तु अनेकों जातियों में विभक्त थे। इनमें से पाँच प्रसिद्ध थे— अनु, द्रुह्यु, यदु, तुर्वस और पुरु। इनका निवास सरस्वती नदी के दोनों ओर था इनके अलावे (जो बाद में कुरु में मिल गया), त्रित्सु, शृंग्य, क्रिवि और दूसरी-दूसरी छोटी जातियों का भी उल्लेख है। बहुत बार वे आपस में झगड़ते रहते थे। झगड़े मुख्यत: पशुओं की चोरी और भूमि विवाद के कारण होते थे। सुदास भरतों का राजा था और पश्चिमी पंजाब में रहता था। विश्वामित्र उसका मुख्य पुरोहित था। परन्तु सुदास ने अधिक पुरोहिताई के गुणों से युक्त वशिष्ठ को उसके बदले पुरोहित चुना। इससे क्रुद्ध होकर विश्वामित्र ने दस राजाओं का संघ बनाकर सुदास के ऊपर आक्रमण किया। (ऋग्वेद 7, 33, 2; 5, 83, 3)। ये राजा थे पुरु, यदु, तुर्वस, अनु, द्रुह्यु, अलिन, पक्थ, भलानस, शिव और विशानिन। परन्तु इस युद्ध में सुदास विजयी हुए। (History of Ancient India by Rama Shanker Tripathy p. 30)

प्रारंभ काल में एक आर्य राजा के नाम के साथ 'सुदास' शब्द का जुड़ जाना सूचित करता है कि 1500 ई. पू. के तुरंत बाद ही आर्यों और अनार्यों में कुछ मेल मिलाप हो चुका था। पता चलता है कि सुदास 'भरत' जन के या संभवत: भरतों की एक विशिष्ट शाखा 'त्रित्सु' के मुखिया थे। आज हमारे देश का जो 'भारत' नाम है, उसका अर्थ है 'भरतों का देश'। भरत निश्चय ही आर्य थे परन्तु आरम्भिक आर्यों के लिए जातीय शुद्धता कुछ अर्थ नहीं रखती थी। यहाँ के आदिवासी तत्वों को ग्रहण करना उनके लिए संभव था, और उन्होंने इन तत्वों को ग्रहण भी किया (डी. डी. कोसम्बी : प्राचीन भारत की संस्कृति और सभ्यता पृ. 103) वैदिक युग में 'पुरुष' नामक एक और जन जाति थी। यह त्रित्सु और भरतों से निकट संबंध रखती थी। यदु और तुर्वस के नाम ऋग्वेद में एक साथ आते हैं। ये दो मित्र जनजातियाँ दक्षिणी पंजाब में रहती थीं।

5. **आर्यों के शत्रु**— आर्यों का उपरोक्त अन्तर्जातीय युद्धों के अलावे दासों अथवा दस्युओं के साथ भी युद्ध करते रहना पड़ता था। इनके बीच कभी समाप्त नहीं होने वाली शत्रुता थी क्योंकि दोनों के बीच जातिगत और सांस्कृतिक दृष्टि से बहुत बड़ा अन्तर था।

(क) दास अथवा दस्यु द्रविडियन माने गये हैं। ये उन भू-भागों में रहते थे, जिन्हें आर्य अपने अधिकार में करना चाहते थे। अपने दुर्ग और जानवरों की रक्षा के लिए आर्यों के विरुद्ध घनघोर युद्ध

करते थे। बहुत से दास युद्ध में हारकर आर्यों के गुलाम बन गये। समाज में उनकी गिनती शूद्रों में होने लगी। परन्तु कुछ लोग हारने के बाद जंगलों और पर्वतों में भाग गये। उनके वंशज अभी भी आदिकालीन अवस्था में हैं।

दास काले कुरूप, मोटे जबड़े या ओंठ वाले, चिपटी नाक वाले, लिंग पूजक कठोर वचन बोलने वाले के रूप में वर्णित हैं। वे पशुओं के धनी और किलों या 'पुर' में निवास करते थे। आर्यों के युद्ध के देवता इन्द्र ने सहस्रों बार उनका वध किया था। स्तोत्रों की रचना के कुछ समय पहले दासों के पुरों को नष्ट करने का मुख्य काम हो चुका था। ये दास आर्यों के विरुद्ध 10,000 व्यक्ति जमा करने की शक्ति रखते थे। दासों के साथ आर्यों के युद्ध लम्बे होते थे, क्योंकि वे भूमि पर स्थायी रूप से बस रहे थे। दास अपने रूप रंग के कारण आर्यों से छोटे समझे जाते थे और आर्य अपने गौर वर्ण के कारण उनसे घृणा करते थे। (Romola Thapar—A History of India, p. 34)

(ख) आर्यों के दूसरे शत्रु पणि थे, जिन्होंने वैदिक पुरोहितों को आश्रय देना अस्वीकार किया। ये धनी थे परन्तु आर्यों की गायों को चुराया करते थे। दासों की तरह, आर्य इनसे घृणा नहीं करते थे, अतः इनके निवास स्थानों को नष्ट नहीं किया। पणियों को सेमिटिक व्यापारी माना जाता था (अनार्य जाति) में विस्तार से लिखा जायेगा। प्राचीन उत्कृष्ट संस्कृत ग्रन्थों में 'दास' शब्द का अर्थ गुलाम या 'बन्धक पुरुष' के अर्थ में किया गया है। ऋग्वेद के बाद के स्तोत्रों में ''दास'' की स्त्रीलिंग को Slave girl के अर्थ में प्रयुक्त किया गया है। बहुत से पराजित दास, बन्दी बनाये गये, कुछ दास विजेताओं के साथ आये। एक दासों के मुख्य ने तो ब्राह्मणों को संरक्षण देना स्वीकार भी कर लिया। आर्यों और अनार्यों के संबंध का यह परिणाम हुआ कि ऋग्वेद के प्रारम्भिक स्तोत्रों के स्तर की भाषा पर्याप्त मात्रा में नन इंडो यूरोपियन प्रभाव से प्रभावित है। वैदिक से लेकर आधुनिक देशी भाषाओं तक सभी भारतीय भाषाओं में ध्वनियों की शृंखला रहती है, जिसे हम ''मूर्धन्य व्यंजन'' कहते हैं, यह किसी भी दूसरे इंडो यूरोपियन भाषाओं में नहीं पाया जाता है, यहाँ तक कि सदृश प्राचीन इरानियन में भी नहीं है। अनार्यों के प्रयत्नों से ये ध्वनियाँ शीघ्र ही विकसित हुई क्योंकि वे विजेताओं की भाषा पर अधिकार करना चाहते थे। इसमें संदेह नही कि कुछ आर्यों ने देशज स्त्रियों से विवाह किया, जिनके बच्चे द्विभाषी हुए और पीढ़ियों के बाद आर्यों की मूल भाषा जनजातीय भाषा के साथ मिल गई। ऋग्वेद के अनेकों शब्द इंडो यूरोपियन मूल से संबंध नहीं रखते है, वे मूल निवासियों की भाषा से उधार ले लिए गये हैं। अनार्यों का प्रभाव धर्म और संस्कृति पर भी पड़ा। इस प्रकार बहुत सी भौतिक इंडो यूरोपियन परम्पराएँ अनार्यों के नूतन परिवर्तनों के सफल परतों के अंदर दब गई।

4. **वर्ग विभाजन:** आर्यों के भारत प्रवेश करते समय अपने जातीय बनावट में वर्ग विभाजन था, यहाँ तक कि प्रारंभिक स्तोत्रों में हम 'क्षत्र' (उच्च) और 'विश' साधारण जनजाति पाते हैं। जातीय अभिजात्य वर्ग भारोपीय समाज की विशेषता थी। जैसे ही वे काले आदिवासियों के साथ निवास करने लगे, खून की शुद्धता पर विशेष बल देने लगे। इस तरह बँटवारा और सख्त हो गया। अपने समाज के किनारे प्राप्त दासों की पुत्रियों से विवाह कर उन्हीं के जैसे जीवन बिताने वाले आर्यों को भी अपनी जाति से बहिष्कृत करना आर्यों की हार्दिक इच्छा थी। इन दोनों की स्थिति समाज में निम्न स्तर की थी। इसी समय यज्ञ की विद्या जटिल होती जा रही थी। उन्हें अधिकाधिक निपुणता और ट्रेनिंग की आवश्यकता

थी, अतः पुरोहित और भी अनधिकार रूप से सुविधाओं की माँग कर रहे थे। ऋग्वैदिक युग के अंत तक समाज चार भागों में बँट गया। इन चारों को धार्मिक स्वीकृति मिली। ऋग्वेद 10.60.12 के पुरुष सूक्त में इन चारों वर्णों की उत्पत्ति का वर्णन है। विराट् पुरुष का मुख ब्राह्मण, भुजा क्षत्रिय, जंघायें वैश्य और चरण शूद्र हुए।

ऋग्वेदकालीन समाज में इन चारों वर्णों ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र की जड़ें मजबूत थीं। ये वर्ण अभी भी वर्तमान हैं। इसके लिए संस्कृत में प्रयुक्त 'वर्ण' का अर्थ रंग होता है, इसका कभी भी 'जाति' अर्थ नहीं था।

5. **पारिवारिक जीवन**— आर्य समाज की मूल इकाई परिवार थी। एक दूसरे से संबंध रखने वाले परिवारों से 'ग्राम' बना जिसका अर्थ बाद में 'गाँव' भी होने लगा। इस शब्द का अर्थ ऋग्वेद में ''निवास स्थान'' अधिक कुटुंबों के समूह के अर्थ में किया गया। ऋग्वेद में न तो तलाक और न विधवाओं के पुनर्विवाह की चर्चा है। एक विवाह प्रचलित था परन्तु बहुविवाह भी अज्ञात नहीं था। बहुभर्तृता और बाल-विवाह की प्रथा बिल्कुल नहीं थीं, कन्याओं को स्वयं पति चुनने की स्वतंत्रता थी। विवाह के पहले पिता, और बाद में पति उनकी देखभाल करता था। समाज में महिलाओं की स्थिति बहुत सम्मानजनक थी। परिवार पितृप्रधान होते थे। पति के अधीन रहकर पत्नी की स्थिति मर्यादित थी। स्त्रियाँ शादी के बाद घर की जिम्मेदारियाँ सँभालती थीं। पति के साथ घूमती थीं। अकेले घूमने-फिरने में भी कोई प्रतिबन्ध नहीं था। पति के साथ यज्ञ में भाग लेती थीं। उत्सवों में सुन्दर वस्त्र और आभूषण पहनती थीं। शिक्षित महिलायें भी थीं। विश्ववरा और घोषा जैसी शिक्षित महिलाओं ने ऋषियों के ढंग में मन्त्रों की रचना की। नैतिकता का स्तर बहुत ऊँचा था, परन्तु अपवाद भी मिलते थे।

पति और पत्नी के अलावे परिवार में माता-पिता, भाई-बहन, पुत्र-पुत्रियाँ आदि रहते थे। इसके बीच सौहार्दपूर्ण संबंध होते थे। सभी स्नेह के सूत्र में बँधे होते थे। परन्तु कभी-कभी जमीन, पशु, आभूषण आदि को लेकर झगड़े भी होते थे और परिवार टूट जाते थे।

6. **राजनैतिक संगठन**— वैदिक राज्य की आखिरी इकाई परिवार थी। परिवारों के समूह से गाँव बनता था। गाँवों के समूह से विश, और विश के समूह से जन(जाति) बनता था। जन का शासन अपने ही प्रधान अथवा राजा (राजन्) द्वारा होता था।

जनजाति के मुख्य राजा होते थे, जो लैटिन के 'रेज' शब्द से संबंध रखता है। राजा अपने आप में सर्वोच्च नहीं था, उसे 'सभा' और 'समिति' इन दो जनजाति परिषदों के प्रति उत्तरदायी होना पड़ता था। ये दोनों शब्द एक साथ अनेकों संदर्भो में आते हैं उन दोनों के बीच का अंतर स्पष्ट नहीं है। इसका कारण हो सकता है कि कुछ जनजाति इस शासी निकाय को 'सभा' कहते थे और कुछ 'समिति'। जब कि दूसरों के लिए दोनों एसेम्बली (सभाएँ) थी। सभा में जनजातियों के कुछ बड़े आदमी रहते थे जब कि दूसरी 'समिति', प्रत्येक परिवार के मुख्यों के होने के कारण अधिक बड़ी होती थी। ये दोनों संस्थाएँ राजा को प्रभावित करती थीं। और उसके पदारोहण के लिए उनकी स्वीकृति आवश्यक थी। कुछ जनजातियों के वंशगत मुख्य नहीं होते थे। परन्तु सीधे जन जातीय कौन्सिल के द्वारा शासित होते थे। ऋग्वेद (10,97.6) में हम पढ़ते है कि राजा एक साथ एसेम्बली में बैठते थे। बुरे राजा से उसकी

उपाधि जनजातियों के सभी बड़े लोगों द्वारा छीन ली जाती थी। परन्तु वंशगत राजा होने का नियम था। वह बढ़िया मकान में रहता था। उसकी अल्पविकसित अदालत होती थी, उसके सभा और गोत्र या कुल के मुख्य 'ग्रामणी' सहायक होते थे। राजा के पास पहले से ही 'सेनानी' होता था जो छोटे-मोटे युद्ध और पड़ोसी जनजातियों के पशु छापे मार के लिए उत्तरदायी होता था। पुरोहित अपने यज्ञों के द्वारा जाति में शान्ति और युद्ध में विजय की कामना करता था। प्राय: वह जन जातीय जादूगर बनकर अभिचारिक धर्मानुष्ठान करता था और युद्ध के पहले और युद्ध के समय विजय के लिए मन्त्रों को बुदबुदाता था। बदले में राजा की ओर से उसे ढेरों उपहार मिलते थे। राजा किसी भी हालत में निरंकुश नहीं बन सकता था क्योंकि उसके अधिकार सभा और समिति के सदस्यों द्वारा सीमित किये जाते थे। प्राय: राज्य बहुत छोटे होते थे, परन्तु युद्ध और शत्रुओं की घुड़की द्वारा सम्मिलित होकर अधिपति के अधीन रहने की प्रवृत्ति हुई और बड़े क्षेत्रीय इकाई बनने शुरू हो गये।

प्रारंभ में आर्य, राजा को युद्ध का नेता समझते थे, जो कि जनजातियों से उनकी रक्षा करे। प्रारंभिक दिनों में वह देवी नहीं समझा जाता था। उसके कुछ धार्मिक कर्तव्य भी नहीं थे। नियमित टैक्स की व्यवस्था भी नहीं थे, अत: प्रजाओं के सहयोग दान एवं युद्ध में जीते गये लूट के माल से ही राजा की आमदनी होती थी। राजा के न्यायिक अधिकारों का उल्लेख ऋग्वेद में नहीं है। ऋग्वेद में भरतों के राजा 'सुदास' और दिवोदास की चर्चा है जो वंशगत थे।

युद्ध

जैसे कि ऊपर कहा गया, उन दिनों आर्य युद्धों में फँसे थे, अत: कहा जा सकता है कि युद्ध करना उनका मुख्य धंधा था। वे पैदल अथवा घोड़ों से खींचे जाने वाले रथ पर सवार होकर युद्ध करते थे, परन्तु अश्वरोही सेना की चर्चा कही भी नहीं है। कवच के अँगरखे (वर्ग) और लोहे के टोप (शिप्रा) युद्ध भूमि में सुरक्षा के लिए पहने जाते थे। धनुष (धुनष) और तीर (वाण), कुल्हाड़ी, बरछा, बल्लम, तलवार (असि) ढेलबाँस से युद्ध किये जाते थे। युद्ध के नारों और दुन्दुभी के संगीतों पर युद्ध करते थे।

7. आर्थिक जीवन

वैदिक आर्यों के जीवन निर्वाह का मुख्य साधन पशु-पालन था। उनका धन और समृद्धि अधिकाधिक गायों पर ही निर्भर करता था। गायें ही उनकी धन-राशि थी, इसीलिए वे गायों की संख्या बढ़ाने के लिए हमेशा उत्सुक रहते थे। वे पशुओं को पाने के लिए प्रार्थना करते थे। गायों के सिर से ही मूल्य गिने जाते थे। गायें पवित्र मानी जाती थीं या नहीं इसके प्रमाण ऋग्वेद में नहीं है, केवल एक या दो स्तोत्रों में विशेषण दिया गया है—''गायें अवध्या हैं''। इसका अर्थ केवल आर्थिक महत्व के लिए किया गया है। गाय उनकी बहुत ही बहुमूल्य वस्तु होती थी। प्रारंभ के बहुत सी भाषाई अभिव्यक्ति 'गाय' से सबंध रखती थी। उदाहरण के लिए 'गविष्टि' अर्थ युद्ध करना हो गया। पशुओं की छापामारी और खोये पशुओं के कारण जातीय युद्ध होते थे। गाय का मांस खाना निषिद्ध था, परन्तु कुछ विशिष्ट अवसरों पर गाय का मांस खाना शुभ माना जाता था। गाय और बैल दोनों ही भोजन के लिए वध किये जाते थे। शायद इसी से बाद में गाय को पवित्र मानने की निर्मूल प्रवृति आरंभ हुई।

गाय के बाद जानवरों में घोड़े का नम्बर आता है। घोड़े उनके घमण्ड के कारण होते थे। घोड़े को आर्य इसलिए अवश्यक समझते थे क्योंकि आवागमन में सहायक और युद्ध में उनकी चाल बहुत तेज होती थी। जब हल्के रथों पर आर्य पांग घोड़ों पर चढ़कर इधर-उधर विचरते थे, तो अवश्य सिन्धु घाटी के लोगों को भयभीत करते रहे होंगे। घोड़े, देवताओं और मनुष्य के रथ खींचते थे।

भेड़ बकरी, कुत्ते और गदहे आर्यों के दूसरे पालतू जानवर थे। भेड़ और बकरी से ऊन मिलता था जो उनका प्रसिद्ध उद्योग था। ऋग्वेद में 'सरमा' कुत्तिया का उल्लेख है।

जंगली जानवरों में बाघ से पहले सिंह को आर्यों ने जाना। हाथी को वे उत्सुकता से देखते थे। उसकी सूँढ़ के संदर्भ में आर्यों का कहना है कि हाथी एक जानवर है, जिसके हाथ है, उसे 'मृगहस्तिन्' भी कहते थे। इसका उल्लेख बाद में स्तोत्रों में हुआ है, जहाँ इसके पालतू बनाये जाने का उल्लेख है।

प्रारंभिक आर्य साँप को दुष्ट समझते थे। उनका मानना था कि नाग साँप में शक्ति अन्तर्निहित रहती है। आर्यों का यह आभास शक्तिशाली नाग जातियों के साथ युद्ध करते समय हुआ था (रोमिला थापर, भारत का इतिहास पृ. 34-35)।

(क) कृषि

खेतों की जुताई करते थे, इसलिए संस्कृत और ईरानी भाषा में 'कृष्' धातु एक ही अर्थ में आता है। हल को बैल खींचते थे। हल के अग्रभाग में लोहे के फाल, खेतों (क्षेत्रों) में सीता बनने के लिए होते थे। खेतों में पानी नहरों, कुओं अथवा नदियों से लाया जाता था। खेतों की उपजाऊ शक्ति बढ़ाने के लिए खाद भी डाले जाते थे। जौ और धान की खेती मुख्यत: होती थी। पकने पर हँसिए से काटते थे। धान की दवनी कर सूप से धान ओसा कर भंडार में रखते थे।

(ख) व्यापार

आर्यों की उन्नत आर्थिक व्यवस्था नहीं थी। मेसोपोटामिया में अमुद्रांकित ''शेकेल'' विनिमय का साधन था, परन्तु आर्य अपने मूल्य की ईकाई और विनिमय के साधन के लिए भारी भरकम गायों पर ही निर्भर करते थे। मोल-भाव होते थे, परन्तु एकबार सौदा होने पर फेर बदल नही होते थे। बाद में 'निष्क' सोने के सिक्के के रूप में प्रयुक्त होने लगा था, इसे भी मुद्रा के रूप में माना गया लेकिन इस समय शायद कुछ प्रकार के स्वर्णाभूषण के रूप में प्रयुक्त हुआ। यद्यपि कभी-कभी ऋणग्रस्तता का सन्दर्भ आने पर भी व्यापारी वर्ग का प्रमाण ऋग्वेद में नहीं मिलता है।

चूँकि जीवन प्रारंभिक स्तर और साधारण होने के कारण आवश्यकताएँ बहुत कम थी और व्यक्तियों द्वारा ही पूर्ण की जाती थीं। इसी प्रकार आर्यों ने शहरी सभ्यता को नहीं अपनाया था, पत्थर और ईटों से घर नहीं बनाया था, फिर भी वे तकनीकी कला से लैस थे। काँसे से अनेक प्रकार के हथियार और औजार बनाये जाते थे जो हड़प्पा संस्कृति से श्रेष्ठ बने होते थे। बढ़ई, योजक और छकड़ा बनाने वाला था, उसकी कला की दक्षता की तुलना स्तोत्र बनाते समय सुख शान्ति के लिए की गई है। रथकार, युद्ध और दौड़ के लिए रथ बनाता था। लकड़ी के काम जानने वाले की वैदिक समाज में बहुत पूछ थी।

ऋग्वेद में 'अयस्' एक धातु था, जो बाद की तारीख में 'लोहा' कहा जाने लगा। यह शब्द जर्मन

शब्द के 'ईसन' और अंग्रेजी के 'आयरन' से संबंधित था। यह लैटिन के 'काँसे' अर्थवाले 'एसस' के सदृश भी है। ऋग्वेद में इसका अर्थ मेटल अथवा 'ताम्बा' कहा गया है। इस प्रकार लोहे के लिए सामान्य नाम 'अयस्' काँसा, ताँबा अथवा लोहा अर्थ रखता था। ऋग्वेद की रचना के समय लोहा गलाने का काम अनातोलिया से बाहर मुश्किल से ज्ञात था, जहाँ हित्ती राजाओं ने इसे गुप्त रखने की कोशिष की। द्वितीय मिलेनियम के अन्त में ही लोहे का प्रयोग सभ्य दुनिया में होने लगा परन्तु भारत में इस समय के पहले ही लोहे का प्रयोग हो चुका था।

वैदिक युग में लोहे के काम करने वाले भी थे, जो हथियार, फाल, केटल और दूसरे घरेलू बरतनों को बनाते थे। सुनार, धनी और विलासी लोगों के लिए सोने के आभूषण बनाते थे। चर्मकार भी थे जो चमड़े का काम करते थे और धनुष की डोरी और पीपे बनाते थे।

सिलाई करने, घास सरकंडों से चटाई बनाने और कपड़े बुनने का काम स्त्रियाँ करती थीं। यह बात ध्यान देने योग्य है कि ऋग्वैदिक काल में कोई भी काम छोटा या हेय नहीं समझा जाता था जैसा कि बाद में होने लगा था।

8. जीवन की दूसरी विशेषताएँ

वस्त्र— ऋग्वेदिक पुरुष 'नीवी' और लबादा पहनते थे। कपड़े भेड़ के ऊन से बनते थे। कपड़ों में सोने के बेलबूटे कढ़े होते थे। धनी लोग कपड़ों को रँगते थे। धनी व्यक्ति बाजूबन्द गले का हार, कुंडल, कंगन और माला भी पहनते थे। बालों में तेल लगा कर कंघी करते थे। दाढ़ी बनाने की प्रथा थी, परन्तु अधिकांश लोग दाढ़ी बढ़ाते थे।

भोजन— आर्य शाकाहारी और मांसाहारी दोनों थे। भेड़ और बकरे के मांस खाने के साथ देवताओं को भी चढ़ाये जाते थे। पर्व त्योहारों में और अतिथियों के लिए मोटे बछड़े मारे जाते थे, परन्तु गायों की उपयोगिता के कारण उनकी हत्या नहीं की जाती थी। वे 'अहन्या' थीं। भोजन में दूध का महत्वपूर्ण स्थान था। भोजन को आटा बना कर उसमें दूध और घी मिलाकर केक बनाये जाते थे। सब्जियों और फल भी पर्याप्त मात्रा में आर्य खाते थे।

पान— आर्य सिर्फ साधारण पानी अथवा दूध ही नहीं पीते थे, परन्तु खमीरी पान के भी व्यसनी थे। धार्मिक अवसरों पर सोम प्रिय पेय था, परन्तु अनाज में स्फिरिट चुला कर तैयार किया गया 'सुरा' भी सामान्य दिनों में पीया जाता था। पुरोहित इसमें नशा होने के कारण इसे पसन्द नहीं करते थे, क्योंकि नशे में अपराध भी कभी-कभी होते थे।

मनोरंजन— आर्यों का जीवन नीरस नहीं था। वे आनन्द मनाने के शौकीन थे। आनन्द के अवसरों पर संगीत और नृत्य होते थे। नाचते समय स्त्रियाँ भी होती थीं। वाद्य यन्त्रों में झाँझ, दुन्दुभी, वीणा (करकरी) और मुरली का प्रयोग होता था। कुछ गाने भी होते थे। इसी का विस्तार बाद में 'साम गान' में हुआ। जुए में बराबर हारने के बावजूद 'जूआ घर' खेलने वालों के लिए आकर्षण के केन्द्र थे।

ऋग्वैदिक आर्य मनोरंजन के साथ-साथ जीविका के लिए शिकार खेलते थे। चिड़िया और जंगली जानवर जाल और फन्दों (पासों) से पकड़े जाते थे, अथवा कभी-कभी तीर और धनुष से मारे

जाते थे। हिरण, सिंह और दूसरे जंगली जानवरों को मारने के लिए गड्ढे भी खोदे जाते थे। मछली मारने का उल्लेख नहीं है। नदियों को नाव से पार किया जाता था, जो अच्छे ढंग से नहीं बने होते थे और उनमें पाल भी नहीं होते थे।

9. धार्मिक विश्वास—

अनेक देवताओं के रहने पर भी आर्यों का धर्म बहुत सरल था। यह स्वाभाविक इसलिए, कि स्तोत्र लम्बे समय के पुरोहिती प्रयत्नों से उत्पन्न जातियों के देवताओं का प्रतिनिधित्व करते थे। भक्ति की अधिकांश वस्तुएँ प्राकृतिक अद्‌भुत घटनाओं के मानवीकरण थे। देवताओं के वर्गीकरण के लिए देखें अध्याय 6 पृ. 764-776

10. आर्यों की दार्शनिक भावना—

ऋग्वेद में एक मंत्र है कस्मै देवाय हविषा विधेम (10, 121, 1)। ऋषि कहता है वह देवता और कोई नहीं, वह एकमात्र परम सत्, हिरण्यगर्भ या प्रजापति है, जो देवों में सर्वमहान् है, वही विश्व का मूल तत्व है वही द्यावापृथ्वी को धारण करता है। वही सभी प्राणियों का बल एवं प्राणदाता है, सारा विश्व जिसकी उपासना करता है, अमरता और मृत्यु जिसकी उपासना करते हैं, अमरता और मृत्यु जिसकी छाया हैं (ऋग्वेद 10, 121,2) वही देवों में एकमात्र देव है (यो देवेष्वधिदेव एक आसीत् 10,121,8)। उसे हमें हवि प्रदान करनी चाहिये। पुरुष सूक्त में पुरुष के लिए कहा गया है कि जो कुछ भूत, भविष्य, वर्तमान है, वह सब कुछ पुरुष ही है (पुरुष एवेदं एर्वं यद्‌भूतं यच्च भाव्यम् ऋग्वेद 10,90,2)। वह आदि शक्तिमान है, वही एकमात्र सत् है (तदेक सत्) वही समस्त प्रकृति का आदि कारण है, वह एक जगह रहते हुए भी सब जगह पहुँचा हुआ है। सारा जगत उसी का रूप है, वह महादेव है जिसे लोग अपनी-अपनी रुचि के अनुसार भिन्न-भिन्न नामों से पुकारते है (एकं सद्विप्रा वहुधा वदन्ति अग्नि यमं मातरिश्वानमाहुः (ऋग्वेद 1,164,46)।

आत्मा और जीव— वह एकमात्र देव जब माया से युक्त होता है तब नाना रूपों को धारण करता है वेदों में परमात्मा के दो रूप है-जीव और आत्मा। परमात्मा जब माया से विशिष्ट होता है तब वह जीव कहलाता है और जब माया से रहित होता है तब आत्मा कहा जाता है। इस प्रकार आत्मा के दो रूप है— मायाविशिष्ट जीव और माया रहित आत्मा। ऋग्वेद के एक मन्त्र में जीव और आत्मा के इस प्रकार के भेदों का स्पष्ट विवेचन है। वहाँ बताया गया है कि संसार रूपी वृक्ष पर दो पक्षी रहते है। उनमें से एक जीवात्मा है जो स्वादु फलों का भोक्ता है और दूसरा परमात्मा है जो फल का भोग न करता हुआ भी प्रकाशवान है। (1, 164, 20)

सृष्टितत्व— वेदों में सृष्टि के संबंध में नानाविध कल्पनाएँ हैं। सामान्यतः प्रजापति को विश्व का स्रष्टा कहा गया है। यह प्रजापति कभी इन्द्र के रूप में कभी वायु के रूप में कभी सूर्य के रूप में स्तुत किया गया है। सृष्टि का रहस्य समझने के लिए नासदीय सूक्त विशेष महत्व का है। उस सूक्त में बताया गया है कि सृष्टि के प्रारंभ में अन्धकार ही अन्धकार था, उस समय न सत् था न असत् न अन्तरिक्ष था न व्योम, किसने इसे आवृत कर रखा था? क्या गहन गम्भीर वारि था? न वहाँ मृत्यु थी न अमरता, न दिन न रात और न दिन रात के भेद करने वाला प्रकाश ही था, वहाँ एक ही तत्व था, जो

विना वायु के भी अपनी शक्ति से साँस लेता था। उसके अतिरिक्त वहाँ और कुछ भी नहीं था। तब तप की महिमा से 'एक' तत्व प्रकट हुआ उस 'एक' में काम उत्पन्न हुआ। यही सृष्टि का प्रथम बीज था। तब तप की महिमा से 'एक' तत्त्व प्रकट हुआ उस 'एक' में काम उत्पन्न हुआ। यही सृष्टि का एक प्रथम बीज था। प्राचीन मनीषी विचारकों ने अपने अन्तःकरण में विचार कर असत् से सत् की उत्पत्ति की खोज की। क्या सचमुच कोई जानता है कि वह कौन था? और कौन बता सकता है कि वह सृष्टि कहाँ से हुई? कौन जानता है कि कौन कब कहाँ से हुआ? यह सब वही जानता है कि परम व्योग में व्याप्त है, अथवा हो सकता है, वह यह भी न जानता हो (ऋग्वेद, नासदीय सूक्त 1,121,1-8)।

उत्तर वैदिक काल

जलवायु की दृष्टि से गंगा का मैदान गीले जंगलों से ढका था। प्रारंभ के कुछ सौ वर्षों तक आर्यो का विकास बहुत धीमा था: पत्थर, काँसे और ताम्बे से बनी कुल्हाड़ियाँ जंगल को साफ करने के प्रयोग में लाई जाती थीं। ईसा से 500 वर्ष पहले तक लोहे का आविष्कार नहीं हुआ था। हस्तिनापुर की खुदाई प्रकट करती है कि लोहे की बनी चीजें केवल 700 वर्ष ईसा पूर्व ही प्रयोग में आयी। कुछ उन्नत किस्म के लोहे के औजारों के प्रयोग ने जमीन पर काम करना आसान बना दिया इससे दार्शनिक चिन्तन के लिए अवकाश मिला। अत: 700 वर्ष ईसा पूर्व से लेकर ब्राह्मणों और उपनिषदों की रचना होने लगी (रोमिला थापर A History of India volume one page 33)

11. उत्तर वैदिक युगीन भौतिक जीवन एवं उपलब्धियाँ

परवर्ती संहिताओं, ब्राह्मणों, आरण्यकों एवं उपनिषदों का काल उत्तरवैदिक युग के नाम से अभिहित किया जाता है। इस प्रसंग में यह उल्लेखनीय है कि ऋग्वेद का दशम् मंडल भी अधिकांशत: उत्तरवैदिक-कालीन माना गया है। अत: ऋग्वेद का दशम् मंडल की सामग्री का उपयोग भी यथास्थान किया गया है। इस प्रसंग में यह उल्लेखनीय है कि वैदिक साहित्य के विभिन्न भाग अधिकांशत: एक दूसरे में से विकसित होते गये। ऋक्संहिता मूल ग्रन्थ था। उसी के मंत्रों से सामवेद बना। इस ग्रन्थ में केवल 78 नई ऋचायें हैं। किन्तु यजुर्वेद की कृष्ण तथा शुक्ल इन दो संहिताओं में पर्याप्त नई सामग्री भी है। वह उन मन्त्रों के रूप में जो यज्ञीय कर्मकाण्डों के समय अध्वर्यु के लिए आवश्यक थी। कृष्ण-यजुर्वेद संज्ञा इस कारण पड़ी कि इसमें मूल-मन्त्र- भाग और उसकी गद्यात्मक व्याख्या सम्मिलित रूप से सन्निविष्ट है। शुक्ल-यजुर्वेद की वाजसनेयी संहिता में मंत्र-भाग यजुष भाग तो है किन्तु व्याख्यात्मक गद्य-भाग 'शतपथ-ब्राह्मण' के रूप में बिल्कुल अलग संग्रहीत है। चौथी संहिता अथर्ववेद संहिता है। वह यज्ञ के निरीक्षक 'ब्रह्मा' के उपयोग के लिए थी। इस संहिता में कुछ मंत्र तो ऋकसंहिता से लिए गये तथा कुछ की प्रकृति नितान्त नवीन तथा विचित्र है। इसमें विविध अभिचार, विवाह और प्रेम सम्बन्धी गीत तथा राजा एवं राष्ट्र सम्बन्धी मन्त्र भी संग्रहीत है। इस संहिता से सामान्य जनों की सामाजिक स्थिति एवं धार्मिक विश्वासों पर अधिक प्रकाश पड़ता है, संहिताओं के बाद ब्राह्मण, आरण्यक तथा उपनिषदों का विकास हुआ। ब्राह्मण भारोपीय गद्य साहित्य के प्राचीनतम ग्रन्थ है। इनमें वैदिक यज्ञीय कर्मकाण्ड के सूक्ष्म से सूक्ष्म बातों का विवेचन है और तत्सम्बन्धी अनेक कथाओं के द्वारा कर्मकाण्ड का महत्व समझाया गया है एवं कर्मकाण्ड की उत्पत्ति पर भी विचार किया गया है।

उनका सम्बन्ध संहिताओं से है। ऐतरेय ब्राह्मण ऋग्वेद से सम्बन्धित है, और उसमें सोम-यज्ञ और राज्याभिषेक विधि का वर्णन किया गया हैं पंचविश ब्राह्मण का सम्बन्ध सामवेद से है जिसमें व्रात्यस्तोम यज्ञों का वर्णन है जिनमें व्रात्य लोग आर्य-समुदाय में सम्मिलित किये जाते थे। शतपथ का सम्बन्ध शुक्ल-यजुर्वेद से है। इसमें अनेक विषय है और यह वैदिक युग का सबसे मूल्यवान ब्राह्मण ग्रन्थ है। गोपथ-ब्राह्मण का सम्बन्ध अथर्ववेद से है।

ब्राह्मणों के अन्तिम भाग आरण्यक हैं। उनका यह नाम इसलिए पड़ा क्योंकि उनमें वर्णित दार्शनिक एवं रहस्यात्मक विषयों के लिए अरण्य का एकान्तवास आवश्यक था। आरणयक, ब्राह्मणों और उपनिषदों के बीच की कड़ी थे। आरणयकों में ही सर्वप्रथम यज्ञ-कर्म की प्रतीकात्मक व्याख्या प्रारम्भ हुई तथा कर्म से विद्या का अधिक महत्व समझा और घोषित किया गया। उपलब्ध आरण्यक ग्रन्थों में ऐतरेय, कौशीतकी और तैत्तिरीय हैं, जो उस नाम के ब्राह्मण के ही भाग हैं। पहले दो का सम्बन्ध ऋग्वेद से और तीसरे का कृष्ण-यजुर्वेद से है। उपनिषद, ब्राह्मण साहित्य के अन्तिम विकास को सूचित करते हैं और आरण्यकों का अन्तिम रूप उनमें पाया जाता है। उनकी भाषा लौकिक संस्कृत के अत्यन्त निकट है, जिससे ज्ञात होता है कि वे वैदिक युग के समाप्तिकाल की रचनायें है। उपनिषदों का सम्बन्ध ब्राह्मणों के प्रमुख विषय यज्ञ एवं उसकी विधि से नहीं बल्कि आत्मविद्या से है, जिसकी सहायता से जीवात्मा संसार से मुक्त होकर विश्वात्मा अथवा ब्रह्म में लीन हो जाती है। सामवेद का छान्दोग्य और शुक्ल-यजुर्वेद का बृहदारण्यक सबसे प्राचीन और महत्वपूर्ण उपनिषद है। प्रसिद्ध एवं सास्कृतिक दृष्टि से महत्वपूर्ण उपनिषदों में कठ, ईश, श्वेताश्वतर, मैत्रायणीय, तैतरीय, मांडूक, प्रश्न, माण्डूक्य और केन उल्लेखनीय हैं। इनमें कठ के अतिरिक्त अन्य उपनिषद बुद्ध से अधिक प्राचीन नहीं माने जाते। उत्तर-वैदिक समाज एवं संस्कृति के स्वरूप को निर्धारित करने के लिए उपयुक्त विविध-विषयक विशाल साहित्य का आश्रय लेना अपरिहार्य है।

(क) **भौगोलिक विस्तार**-- पूर्व वैदिक युग में आर्यों की भौगोलिक परिधि अफगानिस्तान से यमुना गंगा एक सीमित थी। ऋ. 10, 75, 6 में गंगा का एकाकी उल्लेख यहीं हुआ है। उनके सांस्कृतिक जीवन का केन्द्र पंजाब तथा सरस्वती का तटवर्ती प्रदेश था। किन्तु उत्तर-वैदिक युग तक आर्यो की भौगोलिक सीमा में अतिशय विस्तार दिखाई देता है। दक्षिण-पूर्व की ओर अग्रसर आर्यजन गंगा की घाटी में बसने लगे थे और स्थायी जनपदों की स्थापना भी होने लगी थी। ऋग्वेद के प्रतापी भरत-जन अस्तित्वहीन हो चुके थे। पुराने पंचजनों की ख्याति का भी लोप हो चुका था। यास्क ने पंचजनाः का अर्थ 'चत्वारो वर्णः निषादस्तुपंचमः किया है निरुक्त (3.8)। इस युग में इसे 'ध्रुव मध्यमा दिश' नाम से अभिहित किया गया है ऐत. ब्रा. (8.3)। इस प्रदेश में निवास करने वाले जनों में कुरु-पंचाल प्रमुख थे। ये सम्मिलित राष्ट्र प्रतीत होते हैं, क्योंकि ब्राह्मण साहित्य में कुरु-पंचाल का उल्लेख साथ-साथ हुआ है। दूसरे, प्रारम्भ में ये दोनों एक ही नरेश द्वारा शासित होते थे। (ऐत. ब्रा 8.14) ब्राह्मण ग्रन्थों में इनकी प्रशंसा की गई है। कुरु-पंचाल के राजा राजसूय यज्ञ करते थे (शत. ब्रा0 5.5.2.3)। शीतकाल में वे दिग्विजय करते तथा ग्रीष्म में घर लौट आते थे। (तै. ब्रा. 5. 5., 2, 3)। उनकी यज्ञ विधि सर्वोत्तम मानी जाती थी। (शत. ब्रा. 1. 7.2. 8) उपनिषत्काल तक कुरु-पंचाल के ब्राह्मण एवं राजन्य अपनी प्रतिभा और विद्वत्ता के लिए विश्रुत हो गये थे। इस प्रदेश के निवासी अपने उच्चारण की शुद्धता के लिए प्रसिद्ध

थे। संहिताओं एवं ब्राह्मण ग्रन्थों की रचना भी अधिकांशतः कुरु-पंचाल के विद्वानों द्वारा की गई है। (वैदिक एज, पृ. 246)। महाभारत में कुरुक्षेत्र को सरस्वती और दृशद्वती के बीच का भू भाग माना गया है। कुरु जनपद की भौगोलिक स्थिति का संकेत करने वाले विविध प्रसंगों के समवेत अध्ययन से यह प्रतीत होता है कि स्थूल वर्तमान थानेश्वर, दिल्ली और गंगा घाटी का ऊपरी, भाग कुरु जनपद के अन्तर्गत था (राय चौधरी, पोलिटिकल हिस्टरी आव एन्शयेन्ट इण्डिया, पृ. 22)। जैसा कि नाम से ही संकेतित है, पंचाल जन के अन्तर्गत कृवि, तुर्वश, केशिन, संजय और सोमक ये पाँच जन सम्मिलित थे (ब्रह्मपुराण 13.94)। पंचाल जनपद के अन्तर्गत बरेली, बदायू, फर्रुखाबाद तथा पश्चिमी उत्तर प्रदेश के कुछ अन्य पड़ोसी जिले सम्मिलित थे (पोलिटिकल हिस्टरी आव एन्श्येन्ट इण्डिया, पृ. 70)। कुरु जनपद की राजधानी आसन्दीवन्त थी। यहीं परीक्षित-पुत्र जनमेजय का अभिषेक और अश्वमेध सम्पन्न हुआ (ऐत. ब्रा. 267 शत. ब्रा. 13.5 .4.2)। कुरुपंचालों के अन्य प्रमुख नगर परिचक्रा, काम्पिल्ल और कौशाम्बी थे। कौशाम्बी तो हस्तिनापुर की बाढ़ से विनष्ट होने के पश्चात् निचक्षु के काल में कुरु जनों की राजधानी भी बनी (द्ष्टव्य, पार्जीटर, डाइनेस्टीक आव दि कलि एज, पृ. 5)। सम्भव है छान्दोग्य उपनिषद में उल्लिखित मटची के प्रकोप से उत्पन्न अकाल की स्थिति के कारण भी राजधानी का परिवर्तन हुआ हो। निचक्षु-कालीन बाढ़ एवं तज्जन्य विनाश का संकेत हस्तिनापुर के उत्खनन से भी मिलता है (ऐन्श्येन्ट इण्डिया न. 10-11, पृ. 14)। ऐतरेय ब्राह्मण (8,14) में वशों एव उशीनवरों को कुरु-पंचालों का पड़ोसी माना गया है तथा इसकी स्थिति भी मध्यदेश में स्वीकार की गई है। गोपथ ब्राह्मण में इनका उल्लेख उदीच्यों के साथ हुआ है (2,9 जिमर महोदय ने इसके आधार पर इन्हें उत्तर-पश्चिम का निवासी माना है तथा रामप्रसाद चन्दा ने वाह्लीक का)। इससे प्रकट है कि इसकी स्थिति मध्यदेश के उत्तरी भाग में रही थी। कुरु-पंचाल, वश और उशीनर के साथ ही मत्स्य का भी उल्लेख हुआ है (कौषीतकी उपनिषद 4.1)। मत्स्य तथा उनके पड़ोसी शाल्व राजस्थान में वर्तमान जयपुर, भरतपुर और अलवर के प्रदेश में निवास करते थे (पोलिटिकल हिस्टरी आफ इण्डिया, पृ. 66-67)।

पूर्व की ओर काशी, कोशी, कोशल और विदेह तक वैदिक संस्कृति का विस्तार हो चुका था। उपनिषदयुगीन विदेह में ब्रह्मविद्या के अनेक प्रकाण्ड पंडित हुए। स्वयं विदेह-नरेश जनक अपनी विद्वता के लिए दूर-दूर तक विख्यात थे। शतपथ ब्राह्मण में विदेह-माधव और गौतम राहूगण द्वारा कोशल और विदेह के उपनिवेश की महत्वपूर्ण घटना का जिस प्रकार उल्लेख हुआ है उससे प्रतीत होता है कि अपने पूर्वाभिमुख प्रसार के समय आर्यों को गंगा की घाटी के दीर्घरण्यों को विदग्ध करना पड़ा था (शत. ब्रा. 1.4.1.10 इसी प्रकार महाभारत में खाण्डव वन को जला कर हस्तिनापुर को बसाने का उल्लेख है)। प्रसार की इस प्रक्रिया में कोशल का आर्यीकरण विदेह के पूर्व सम्पन्न हुआ होगा। सदानीरा इन दोनों जनपदों के बीच की सीमा थी। काशी, कोशल और विदेह के सम्बन्ध मैत्रीपूर्ण थे और किसी समय इन तीनों का एक ही पुरोहित होता था (शांखायन श्रौत सूत्र 16.21.5)। काशी का प्रथम बार उल्लेख अथर्ववेद की पैप्पलाद शाखा में उपलब्ध होता है (द्र., वैदिक इण्डेक्स, 2.115)। जनक का समकालीन अजातशत्रु भी दार्शनिक विवाद में विदग्ध था। मगध और अंग का पूर्ण आर्यीकरण अभी नहीं हो सका था। यही कारण है कि अथर्ववेद में तक्मन (ज्वर) को पूर्व में मगध और अंग की ओर जाने को कहा गया है (अथर्ववेद 5.22.14)। इसी प्रकार अथर्ववेद के व्रात्यकाण्ड में मागधों का सम्बंध व्रात्यों से बताया गया

है (अथर्ववेद 15.2, 1-4) ऐतरेयारणयक में वश, वगध (मगध) और चेर के निवासियों को 'पक्षी' कहा गया है जिसका सांकेतिक अर्थ अनार्य प्रतीत होता है (ऐतरेय आरण्यक 2.1.1)। पुण्ड्र, अंग और कलिंग जैसे प्रदेशों को चतुर्थ सदी ई. पू. तक अनार्य एवं अपवित्र समझा जाता था। इसलिए बौधायन धर्मसूत्र (1,1,2,14) में इन प्रदेशों की यात्रा करने वाले व्यक्ति के लिए प्रायश्चित्त का विधान था। मगध में वैदिक संस्कृति का प्रवेश निश्चित रूप से छठी ई. पू. के कुछ पहले ही चुका था क्योंकि इस प्रदेश में जैन एवं बौद्ध धर्म के प्रवर्तकों ने अपने उपदेश मगधी या प्राकृत में दिए, जिनका विकास वैदिक संस्कृत भाषा से हुआ था। इस प्रदेशों मे दीर्घकाल तक ब्राह्मण धर्म एवं विचारों की दुर्बलता का कारण समुन्नत स्थानीय परम्पराओं की शक्ति को माना जा सकता है।

दक्षिण के प्रसंग में ऐतरेय ब्राह्मण में ऐतरेय ब्राह्मण में सत्वतों का उल्लेख है। सत्वत लोग उत्तर वैदिक युग में मध्यदेश के दक्षिण में निवास करते थे। महाभारत में पंचाल की दक्षिणी सीमा चर्मणवती (चम्बल) तक बताई गई है (1139.44)। अत: सम्भावना इस बात की है कि सत्वत लोग चर्मणवती के दक्षिण में निवास करते थे (पोलिटिकल हिस्टरी आफ एन्श्येन्ट इंडिया, पृ. 90)। ऐतरेय ब्राह्मण में इन लोगों में भोज्य शासन प्रणाली के प्रचलन का उल्लेख मिलता है। दक्षिण में आर्यों का परिचय विदर्भ से भी था। ऐतरेय ब्राह्मण में भीम वैदर्भि का उल्लेख है, जिन्होंने ऋषि नारद और पर्वत से उपदेश प्राप्त किया (7.34)। प्रश्नोपनिषद में भार्गव वैदर्भि का वर्णन है जो पैप्लाद ऋषि के पास ब्रह्म ज्ञान के लिए गये थे (1.1) उनके नाम से स्पष्ट है कि वे भृगुवंशी 4 थे तथा विदर्भ के निवासी थे। बृहदारणयक उपनिषद में विदर्भ के कौण्डिनेय को प्रारम्भिक उपदेशकों में स्थान दिया है (2. 5. 22; 4. 5. 28)। जैमिनीय उपनिषद् ब्राह्मण में भी विदर्भ का उल्लेख है (द्रष्टव्य वैदिक इन्डेक्स 2. 440)। ऋग्वेद में अगस्त्य और लोपामुद्रा का वार्तालाप है तथा महाभारत में अगस्त्य की पत्नी लोपामुद्रा को विदर्भ-राज की कन्या कहा गया है। यदि यह कथानक सत्य है तो मानना पड़ेगा कि ऋग्वैदिक युगमें ही आर्यों के कुछ समूहों का प्रवेश विदर्भ जैसे सुदूरस्थ प्रदेशों में हो गया था। विदर्भ के अन्तर्गत वर्तमान बरार और उसके समीप स्थित वर्धा और वैन गंगा के बीच का भू-भाग था। विदर्भ से आर्यों का घनिष्ट परिचय तथा इस प्रदेश का वैदिक ऋषियों एवं ब्रह्मविद्या आदि के साथ उल्लेख इस बात का संकेतक है कि उत्तर-वैदिक युग में आर्यों का प्रवेश न्यूनाधिक रूप से विन्ध्य के दक्षिण में भी हो चुका था। शतपथ ब्राह्मण (3, 2. 1. 2) में नाड नामक राजा को विरुद 'नैषधि' बताया गया है। सम्भवत: वह नैषध देश का निवासी था। नैषध की स्थिति भी विदर्भ के समीप ही रही होगी। ऐतरेय ब्राह्मण में अन्यत्र विन्ध्य पर्वतमाला तथा उसके दक्षिण में बसने वाली आर्येतर जातियों का भी उल्लेख है (7.18)। इस प्रसंग में यह बताया गया है कि विश्वामित्र के जिन पुत्रों ने शुन: शेप को अपना बड़ा भाई मानने से इनकार किया उन पचास पुत्रों को पिता के शाप के कारण आन्ध्र, मुतिब, शबर तथा पुलिन्द आदि म्लेच्छ जातियों में परिगणित होना पड़ा। आन्ध्रों की तत्कालीन भौगोलिक स्थिति के संबंध में निश्चायक ढंग से कुछ कहना कठिन प्रतीत होता है। डा. स्मिथ का यह विश्वास है कि आन्ध्र लोग सुदूर अतीत से ही गोदावरी और कृष्णा के मुहाने के समीप निवास करते थे। पी. टी. श्रीनिवास आयंगर ने आन्ध्रों को मूलत: विन्ध्य प्रदेश में निवास करने वाली जाति माना है जो परवती युगों में गोदावरी और कृष्णा की घाटी में जा बसी (इण्डियन एटिक्वेरी पृ. 276-78 (1993)। उनका यह मत अधिक ग्राह्य प्रतीत होता है क्योंकि

ऐतरेय ब्राह्मण में शबर पुलिन्द आदि जिन जातियों के साथ आन्ध्रों का उल्लेख हुआ है वे मध्य प्रदेश में हारने वाली जातियाँ है। मत्स्य और वायु पुराण में शबर और पुलिन्दों को 'दक्षिण-पथ वासिनः' कहा गया है (मत्स्य, 114.46-48, वायु 48.126)। इन लोगों की स्थिति आधुनिक ग्वालियर, रायपुर, सम्बलपुर और गंजाम आदि स्थानों के आस-पास रही होगी (जे. ए. एस. बी. पृ. 281 (1980) इण्डियन एण्टिक्वेरी, पृ. 286. (1871)। पुलिन्द लोगों की राजधानी दशार्ण के दक्षिण में स्थित थी (महाभारत 2.5.10)। इनका निवास वर्तमान बुन्देलखण्ड में दसान नदी के तटवर्ती प्रदेश में था (जे. ए. एस. बी. पृ. 253, 195)। मुतिब की वास्तविक स्थिति के सम्बन्ध में कुछ भी कहना कठिन है। शांखायन श्रौतसूत्र में इन्हें मूवीय कहा गया है (15. 26, 6)। नाम-साम्य के आधार पर डा. रायचौधरी इन्हें मुसी नदी के समीप का निवासी मानते है (पोलिटिकल हिस्टरी आफ इन्श्येन्ट इण्डिया, पृ. 94)। प्रमाणों के अभाव के कारण उन्होंने इस सम्भावना को स्वयं सन्दिग्ध माना है।

(ख) जातीय विभाजन

ऊपर वर्णित परिवर्तनों के अतिरिक्त विभिन्न जातियों में भी प्रमुख परिवर्तन हुए। ऋग्वेद के भरत अब शक्तिशाली राजनीतिक इकाई नहीं रह गये। उनका स्थान कुरु और उनके पड़ोसी और मित्र पांचालों ने ले लिया। ऐसा लगता है कि भरत और पुरु, कुरुओं में ही मिल गये। पांचाल भी मिश्रित गोत्र थे, शतपथ ब्राह्मण के अनुसार वे पहले 'कृवि' कहलाते थे, जो कि एक संघटक जाति थी। शायद पहले ही अनु, दुह्यु और तुर्वस इतिहास से मिट गये थे, वे भी संघ में गिने जाने लगे। धार्मिक ग्रन्थों में कुरु और पांचाल उत्तम व्यवहार और शुद्ध भाषा बोलने वाले बताये गये हैं। उनके राजा आदर्श थे और ब्राह्मण शिक्षा के लिए प्रख्यात थे। वे (कुरु-पांचाल) ठीक समय पर सैनिक सहायता लेते थे। ब्राह्मणों द्वारा यज्ञ विस्तार और सावधानी से किये जाते थे। मध्यप्रदेश में उनके पड़ोसी, जुम्ना के रहने वाले शल्व और उशीनर थे जो कुछ विशिष्ट पार्ट अदा नहीं करते थे, शृंग्य दूसरी जाति जो कुरु से ही मिली थी, क्योंकि उनके एक समय, एक ही सामान्य पुरोहित थे। मत्स्य जाति भी थी जो वर्तमान जयपुर और अलवर के चारों ओर बसी थी।

जातियों के संमिश्रण और बढ़ते हुए युद्धों ने ऋग्वैदिक समय की अपेक्षा बड़े क्षेत्रीय इकाइयों को बढ़ावा दिया। सार्वभौम प्रभुसत्ता या परमसत्ता का आदर्श राजनैतिक क्षितिज पर धुंधला दिखाई देने लगा। राजा वाजपेय, राजसूय और महत्वाकांक्षा को पूर्ण करने वाले अश्वमेध यज्ञ करने लगे। ऐतरेय और शतपथ ब्राह्मण ऐसे राजाओं का नाम देते हैं जिन्होंने ऐन्द्र महाभिषेक के साथ अश्वमेध यज्ञ किया था। उदाहरण के लिए कोशल, शतानीक,शतराजित, पुरुकुत्स अक्षिवाक आदि। राजाओं के द्वारा शासन के फैलाव के कारण उनकी उपाधि में भी परिवर्तन हुए। इस प्रकार 'राजा' शब्द एक साधारण शासक के लिए प्रयुक्त होने लगा और 'अधिराज' 'राजाधिराज,' 'सम्राट्,' इकराट् और सार्वभौम, शब्द अधिराजों के विभिन्न श्रेणियों के लिए प्रयुक्त होने लगे।

(ग) राजा—

बड़े राज्यों की स्थापना से पुरोहित राजन्य (कुलन), महिषी (प्रधान रानी), सूत (रथचालक), सेनानी (सेना संचालक), ग्रामणी (गाँव का मुख्य), भगदुध (टैक्स जमा करने वाला) क्षत्रि (कंचुकी),

संग्रहित्रि (खंजाची), आवाप (जुआड़ियों का प्रधान) और इसी प्रकार दूसरे राजकीय पद धारकों की महत्ता बढ़ गई।

राजा का पद वंशागत था, वह युद्ध का नेतृत्व करता था यद्यपि कुछ छोटे भार सेनानी को दिये जाते थे। राजा दुष्टों को दंड देकर राज्य में कानून और धर्म की रक्षा करता था। वह अपनी जमीन के लिए किसी को भी बेदखल कर सकता था। सभा और समिति मृतप्राय तो नहीं थी, किन्तु बिरले ही सुनी और देखी जाती थी। विस्तृत राज्य के कारण सभा और समिति की बैठकें बार-बार होने में कठिनाइयाँ होती थीं, फलस्वरुप राजा पर नियत्रंण नहीं हो पाता था। परन्तु कभी-कभी प्रजा की इच्छा (मत) बलवती होती थी। इसी कारण राजा दुष्टरितु को अपनी असंतुष्ट प्रजा के कारण गद्दी छोड़नी पड़ी, परन्तु अपने स्थपति चक्र के कारण पुनः गद्दी पर बैठा।

(घ) राजनैतिक विभाजन और घटनायें— हम लोगों ने ऊपर देखा कि कुरु सब से महत्वपूर्ण जाति बन गई थी, इनके साथ पांचाल थे। अथर्ववेद में महान् कुरु परीक्षित का नाम आया है। इस राजा के समय प्रजा संतुष्ट थी। दूध और घी की नदियाँ बहती थी। दूसरे महान् राजा जनमेजय हुए। ब्राह्मण ग्रन्थों के अनुसार वे बहुत बड़े विजेता थे, उन्होंने अपना राज्य उत्तर-पश्चिम में तक्षिला तक फैलाया था। महाभारत के अनुसार वे कभी-कभी अपनी सभा वहाँ करते थे और वैशम्पायन द्वारा कही गयी कुरु-पांडु कथा सुनते थे। उन्होने सर्पयज्ञ और शायद दो अश्वमेध यज्ञ किया था। जनमेजय को बाद में ब्राह्मणों से झगड़ा हुआ। ब्राह्मणों की हत्या के पश्चात्ताप के लिए उनके तीन भाईयों (भीमसेन, अग्रसेन और श्रुतसेन) को अश्वमेध यज्ञ करना पड़ा था। जनमेजय के उत्तरधिकारियों के बारे में थोड़ा ही ज्ञान है परन्तु राज्य में ओला वृष्टि और टिड्डियों के आक्रमण के कारण घोर विपत्ति आई, अन्त में 'नीकक्षु' हस्तिनापुर छोड़ कर कौशाम्बी आये।

पांचालों के कुछ राजाओं ने असाधारण विजय पाई। उन्होंने अश्वमेध यज्ञ भी किया था, जो उनकी बढ़ती शक्ति को सूचित करते हैं। उपनिषद् में प्रवाहण जाबालि' का नाम आया है, जो ज्ञान के संरक्षक होने के साथ ही अपनी सभा में बौद्धिक खेल प्रतियोगिता का आयोजन करते थे। विद्वानों की सभाओं (परिषदों) में सचाई का पता लगाने के लिए वाद-विवाद होते थे। इसके अलावा ये सभाएँ विचारों के प्रेरक और ज्ञान के विस्तार के लिए महत्वपूर्ण उपादान भी थीं। पांचाल की राजधानी कांपिल्य थी और राज्य में मोटा-मोटी वर्तमान फरुखाबाद जिला और रोहिलखंड के हिस्से मेल आते हैं।

कुरु राज्य के पतन के बाद 'विदेह' प्रसिद्ध हुआ। इसे वर्तमान तिरहुत कह सकते हैं इसकी राजधानी मिथिला थी, यद्पि वैदिक गन्थों में इसका उल्लेख नहीं है। कोशल के बाद विदेह में वैदिक सभ्यता का प्रकाश कुछ दिखाई पड़ता है क्योंकि शतपथ-ब्राह्मण में विदेह माधव की कथा पाई जाती है। विदेह के प्रसिद्ध राजा जनक हुए, जो उपनिषद् के विद्वान् और बड़े दार्शनिक थे। उनका दरबार याज्ञवल्क्य जैसे विद्वानों से भरा रहता था। ''जनक'' सम्राट् कहलाते थे। उनकी प्रसिद्धि और शक्ति से काशी के अजातशत्रु भी ईर्ष्या करते थे।

अंतिम प्रसिद्ध राजा ब्रह्मदत्त थे। ब्रह्मदत्तों के पहले काशी में पुरखों के परिवार शासन करते थे, जिनके पूर्वज भरत माने जाते थे।

कोशल दूसरा पूर्वी राज्य था, जिसका संबंध 'औध' से था। इक्ष्वाकु राजाओं द्वारा शासित था। बहुत समय तक आर्य सभ्यता यहीं तक थी, प्रारंभिक राजधानी अयोध्या थी। महाकाव्य के नायक श्रीराम की भी यही राजधानी थी। ब्राह्मणों और उपनिषदों में वर्णित समकालीन शक्तियाँ निम्नलिखित थीं—

''गान्धार'' सिन्धु नदी के दोनों किनारे तक्षिला (रावलपिंडी जिला) और पुष्करावती (वर्तमान चार्सदद, पेशावर) में रहते थे। केकय क्षेत्र गान्धार और व्यास नदी के बीच पड़ता था। 'मद्र' वर्तमान सियालकोट अर्थात् मध्य पंजाब में रहते थे। 'मत्स्य राज्य' अलवर, जयपुर और भरतपुर में फैला था। ''उशीनर'' मध्यदेश में रहते थे। ये राज्य सुशासित थे। अत: प्रजा सुखी थी। छान्दोग्य-उपनिषद में कहा गया है—

न मे स्तेनो जनपदे न कदर्यो न मद्यपः
नानाहिताग्निर्न चाविद्वान्न स्वैरी स्वैरिणी कुतः 5,11

''मेरे राज्य में चोर, मद्यप, लम्पट और मूर्ख व्यक्ति नहीं है।'' अश्वपति केकय की इस गर्वोक्ति पर अधिक ध्यान नहीं देना चाहिये। मगध और अंग उस समय तक उपेक्षित ही थे क्योंकि अथर्ववेद में कहा गया है कि बीमारी इन दोनों राज्यों में रहने वाले लोगों में फैल जाये। वहाँ के निवासी अजीब ग्राम्य भाषा बोलते थे, और व्रात्य कहलाते थे।

(ङ) **सामाजिक परिवर्तन**— ब्राह्मणोत्तर काल में जो परिवर्तन हुए उससे समाज भी अछूता नहीं रहा। इसमें संदेह नहीं है कि चार वर्णों का विभाजन ऋग्वेद (10,90,12) के स्तोत्र से संबंध रखता है। जाति प्रथा बहुत दृढ़ हो गई, परन्तु विकास के कारण अस्पष्ट थी, आर्य और दस्यु को अलग करने का मुख्य बिन्दु उनका रंग था। आर्य शुभ वर्ण के और दस्यु काले रंग के थे। परन्तु आर्यों के निरन्तर युद्ध, जीवन की बढ़ती जटिलता और राजनैतिक शर्तों, में विशिष्टता प्राप्त करने की प्रवृत्ति से धीरे-धीरे वंशगत व्यवसाय समूह बने। इस प्रकार धार्मिक विद्या जानने वाले धर्मानुष्ठान करने वाले और उपहार पाने वाले, ब्राह्मण कहलाये, जिनके पास जमीन थी, जो युद्ध करते, राजनीतिक शक्तियों का नियंत्रण करते थे क्षत्रिय कहलाये, सामान्य लोगों का समूह व्यापारी, कृषक, कारीगर, वैश्य कहलाये, सेवा कार्य करने वाले शूद्र कहलाये, ये प्राय: आर्यों द्वारा हराये गये दस्यु होते थे।

परन्तु अब तक चारों वर्णों में सख्ती नहीं थी। इसके उदाहरण दिये जा सकते है:— च्यवन ऋषि ने विदेह के जनक की तरह क्षत्रिय राजा शर्यात की पुत्री से विवाह किया। काशी के अजातशत्रु और पांचाल के प्रवाहण जाबालि ने ज्ञान में ब्राह्मणों से भी अधिक विशिष्टता प्राप्त की। देवापि ने अपने भाई शान्तनु के लिए धर्मानुष्ठान किया। परन्तु जातीय अनुदारता और ब्राह्मणों के कारण जाति व्यवस्था की ढील समाप्त होने लगी और व्यवसाय के परिवर्तन को लोग पसन्द नहीं करने लगे। अन्तरजातीय विवाह से उत्पन्न सन्तान अच्छी नगर से नहीं देखी जाने लगी।

(च) **शूद्रों और स्त्रियों की स्थिति**— उत्तर वैदिक काल में 'शूद्र'' समाज की व्यवस्था से अलग, अशुद्ध माने जाते थे। वे न तो किसी धर्मानुष्ठान में भाग ले सकते थे और न पवित्र ग्रन्थों को पढ़ सकते थे। आर्य-शूद्रा विवाह समाज में निन्दित समझे जाते थे। वे सम्पत्ति भी नहीं ले सकते थे। ऐतरेय ब्राह्मण के अनुसार ''शूद्र, दूसरों के नौकर थे, उन्हें किसी समय निकाला जा सकता अथवा हत्या भी की जा सकती थी।''

इसी प्रकार समाज में स्त्रियों का उच्च स्थान नहीं था फिर भी गार्गी, वाचक्नवी और मैत्रयी जैसी उच्च शिक्षा प्राप्त महिलाएँ थी। इससे पता चलता है कि महिलाओं को शिक्षा दी जाती थी। स्त्रियों की न तो अलग से सम्पत्ति होती थी, और न पैतृक सम्पत्ति की उत्तराधिकारिणी बनती थी। अगर पैसे कमाती हों, तो वह चाहे पिता या पति का होता था। पुत्री का जन्म ही दुखद माना जाता था। राजा और धनी व्यक्ति एक से अधिक पत्नियाँ रखते थे।

(छ) पेशा– उत्तर वैदिक काल में खेती करना ही मुख्य व्यवसाय था। उत्तम कोटि और बड़े आकार वाले हल (सीर) बनाये जाने लगे। कुछ हल तो इतने भारी होते थे कि 24 बैलों से खींचे जाते थे। अच्छी और अधिक फसल के लिए खाद के महत्व को आर्यो ने समझ लिया था। जौ के अलावे दूसरे प्रकार के अनाज जैसे व्रीहि, गेहूँ (गोधूम), सेम, तिल, उपयुक्त मौसम में उपजाये जाते थे। उत्तरी भारत की समतल भूमि आर्यों को समृद्ध बनाने में बहुत सहायक हुई। समाज में सारथी, रथ बनाने वाले, शिकारी, चरवाहे, मछवारे, कृषक, चाँदमारी करने वाले, सुनार, टोकरी बनाने वाले, धोबी, रस्सी बनाने वाले, रंग देने वाले, जुलाहे, कसाई, रसोइये, कुम्हार, पेशेवर कलाबाज, संगीतकार, पालतू हाथी पालने वाले और इसी प्रकार अनेक प्रकार के पेशे किये जाते थे।

ज्योतिषी और नापित समाज में कुछ ज्यादा सम्मानित थे। वैद्य रोगियों को दवा देकर स्वस्थ करते थे, परन्तु उनका पेशा कुछ कारणों से छोटा समझा जाता था।

स्त्रियाँ अपने को रँगने, बेलबूटे काढ़ने, टोकरी बनाने आदि कामों से व्यस्त रखती थीं।

(ज) **दूसरी विशेषताएँ**– सभ्यता के विकास द्वारा आर्यों को और भी धातुओं का ज्ञान मिला। ऋग्वेदिक आर्य सिर्फ सोने और अयस् से ही परिचित थे, परन्तु इस समय सीमा (शीशा), टिन (त्रपु), चाँदी (रजत), सोना (हिरण), लाल (रमोहित), अयस् (ताँबा), घना (श्याम), अयस् (लोहा) ये सभी परिचित हुए। सोना और चाँदी आभूषण और कटोरा बनाने के लिए प्रयुक्त होते थे। सोना, नदियों की तलहटियों, पृथ्वी के निचले भागों अथवा कच्चे धातुओं को पिघला कर प्राप्त किया जाता था।

सिक्कों का प्रचलन नियमित रूप से नहीं हुआ था, तो भी शतमान, 100 कृषण्ल अथवा गूँज फल के बराबर था। धीरे-धीरे मूल्य की इकाई के रूप में मानी जाने वाली गाय नहीं रह गई।

उत्तर वैदिक आर्यो के वस्त्र, मनोरंजन खान-पान वैदिक आर्यों के समान ही थे। फिर भी अथर्ववेद के एक सूक्त में माँस खाना और सुरा पीना पाप कहा गया है। यह शायद अहिंसा के सिद्धान्त के कारण ही हुआ जो कि पनप रहा था। अब तक आर्यों को लिखने का ज्ञान हो गया था। बुहलर और दूसरे विद्वानों के अनुसार लिखने का ज्ञान करीब 6वीं शताब्दी ईसा पूर्व सिमिटिक देश के व्यापारियों द्वारा हुआ। दूसरी ओर कुछ विद्वान् इसे पूर्व रूप से देशज मानकर और पहले मानते हैं। विद्वानों के लिए यह पक्का युद्ध स्थल है, और शायद रहेगा, जब तक कि कोई खोज न हो अथवा जब तक मोहन-जो-दारो की गूढ़ लिपि का अर्थ जानने के लिए अप्रत्याशित प्रकाश न मिले।

(झ) **धर्म और दर्शन**– ब्राह्मण काल में आर्यो के देवताओं में परिवर्तन नहीं हुआ, सिर्फ महत्व में फेर बदल हुआ। सृष्टि के स्वामी प्रजापति का महत्व कम हो गया। रुद्र और वरुण देवताओं का प्रभाव वैसा ही रहा। विष्णु, सूर्य देवता के रूप भर हुए, उसकी पूजा श्रेष्ठ नहीं हुई। रुद्र का महत्व

देवकुल में बढ़ गया, सब 'बड़े देवता' कहलाने लगे, शिव का ही विशेष नाम हुआ—'कृपालु' जो अभी भी शिव कहलाते है। मोहनजोदड़ो की एक मुद्रा में एक पुरुष देवता चित्रित है। सर जोन मार्शल के अनुसार वे ऐतिहासिक शिव के आदि प्रारूप है।

यद्यपि उत्तर वैदिक काल में भी धर्म तो बहुदेववाद का ही रहा, परन्तु धार्मिक मनोभावनाओं में बहुत परिवर्तन हुआ। पुराने स्तोत्र दुरूह हो गये और आश्चर्यजनक प्राकृतिक घटनाओं का मूल्यांकन कवि पुरोहितों को धार्मिक उड़ान भरने के लिए प्रेरित नहीं करने लगा। धर्म एक रूढ़िवद्ध धारणा के रूप में था। ब्राह्मणों का प्रभुत्व इतना बढ़ गया कि वे पृथ्वी पर देवता बन गये। उन्होंने रूढ़िवादिता पर बल दिया और अत्यधिक जटिल अनुष्ठानिक प्रथा का विस्तार किया। यज्ञों के रहस्यमय अर्थ दिये गये। लोगों को यह विश्वास दिलाया गया कि उनको अभिचारिक शक्तियाँ दी गई हैं। यज्ञ यान का कल्याण ब्राह्मणों के सावधानीपूर्वक अनुष्ठान पर निर्भर करता था। अनुष्ठान में यदि थोड़ा भी व्यतिक्रम हो तो निश्चय ही दुष्परिणाम होते थे।

परन्तु यह तो ढाल का एक पहलू हुआ। जब पुरोहितगण यज्ञ की पूजन विधियों में अपना मोर्चा कर रहे थे, उसी समय कुछ ब्राह्मण और क्षत्रिय इससे विमुख हो कर शान्ति, मुक्ति और सच्चे ज्ञान को खोज रहे थे। उनके साहसिक दार्शनिक चिन्तन छान्दोग्य और बृहदारण्यक उपनिषदों में अन्तः निहित हो रहे थे। इन्हीं से बाद के हिन्दू दर्शन-सांख्य, योग, न्याय, वैशेषिक पूर्व और उत्तर मीमांसा उत्पन्न हुए। ब्रह्माण्ड की पहेली को सुलझाने का प्रयास करते हुए, आत्मा की प्रकृति को पूर्ण स्वरूप से समझने की कोशिष करते हुए आर्यो की बुद्धिने जिस महान् शिक्षा को प्रतिपादित किया वह है परम तत्व "ब्रह्म"। संसार में व्यक्तिगत आत्मा में तल्लीनता से ही असंख्य कृपादान प्राप्त होते हैं। इस सिद्धान्त के परिणाम से पुनर्जन्म का सिद्धान्त परिकल्पित हुआ। यह विश्वास मजबूत हुआ कि ज्ञान से मुक्त हुए बिना आत्मा अंतरहित जन्म और मृत्यु का शिकार बनता है। ये जन्म और मृत्यु व्यक्ति के अपने काम से नियंत्रित होते है। इससे कर्म का सिद्धान्त उत्पन्न हुआ अर्थात कोई भी काम बुरा या अच्छा नष्ट नहीं होता है और अस्तित्व के चक्र में उचित फल देता है।

इस युग के मानसिक हलचल ने दूसरी दिशाओं में भी ज्ञान बढ़ाया। नियमित और गहरे रूप में वैदिक पुस्तकों को अध्ययन और धर्म की व्यवहारिक जरूरतों के कारण व्याकरण (ग्रामर), शिक्षा (स्वर विज्ञान), कल्प (धर्मानुष्ठान) निरुक्त, छन्द (छन्दोविधान) और ज्योतिष (फलित ज्योतिष) यथा समय रचे गये। वेदों के इन वेदांगों की रचना का उद्देश्य वेदों की रक्षा, व्याख्या और व्यवहार रूप में लागू करना था। इस समूह में यज्ञीय पहलू के कार्य, अथवा ध्वनि विज्ञान, व्युत्पति और व्याकरण अधिक रोचक हैं। यास्क का निरुक्त अपनी भाष्य-टीका और व्याख्या के अलावे शास्त्रीय संस्कृति गद्य का प्रारंभिक नमूना है। इस प्रकार इस युग का दूसरा विकास हुआ कि पंजाब की प्राचीन वैदिक वाणी से विभिन्न बोलियाँ निकली। इनमें से एक आधुनिक मध्यप्रदेश में प्रतिष्ठित हुई क्योंकि वह बोली, व्यक्त करने का मानक साधन थी।

संस्कृत की परिमार्जित शैली, सामान्य देशी भाषाओं के विरोध के बावजूद प्राकृत कहलाई। इसका रूप वैयाकरणों, विशेष कर पाणिनि के प्रयत्नों के कारण निश्चित हुआ। धीरे-धीरे संस्कृत, समाज के कुछ ही शिक्षित लोगों की भाषा हुई। बाद में देवताओं, परिवार, समाज और राज्य के साथ व्यक्तिगत

संबंधी मनुष्य के आचार-व्यवहार के लिए कानून बने। नयी नियमावली का कुछ साहित्यिक गुण नहीं था। वे संक्षेप और उबाऊ शैली में सिर्फ कंठस्थ करने के लिए लिखे गये थे। सूत्रों में संक्षिप्तता को बल और महत्व दिया गया, क्योंकि उस समय अक्षरों की मितव्यता पुत्र जन्म के समान महत्वपूर्ण माना जाता था।

(ञ) **सूत्र**— सूत्रों की उत्पत्ति समय की व्यवहारिक आवश्यकताओं के कारण हुई, क्योंकि याजकीय परम्परा में पुस्तक और विषय में भी वृद्धि हो गई। उन्हें याद करने में कठिनाई होने लगी अत: याद करने में आसान, नई गद्य शैली का विकास हुआ। इन पुस्तकों में नियम मात्र गूथे हुए थे (सूत्र — धागा) और कुछ ही संभावित शब्द प्रयुक्त हुए। सूत्रों का समय ईसा पूर्व छठी अथवा सातवीं शताब्दी का है। प्राचीनतम़ सूत्र बुद्ध के उद्‌भव के समय का है।

(ट) **पाणिनि और उसका व्याकरण**— पाणिनि के समय के निर्धारण में पर्याप्त मतभेद है, फिर भी यह तो निश्चित है कि वे यास्क से पहले थे और भारत के उत्तर पश्चिम शालातुर के रहने वाले थे। पाणिनि मुख्यत अपने व्याकरण के कारण प्रसिद्ध हैं। इनकी अष्टाध्ययायी सम्पूर्णता और बीजीय संक्षिप्ता का कीर्तिस्तम्भ है। संयोग से यह ऐतिहासिक उद्देश्य के लिए थोड़ी सूचना देता है। पाणिनि के समय में आर्य, डेकन से अपरिचित थे, इसीलिए उसके व्याकरण में विंध्य के उस पार का उल्लेख नहीं है जब कि उसने पश्चिम में कच्छ, पूर्व में कलिंग और दक्षिण में अवन्ती का नाम लिया है, बाइस, (राज्य) जनपद) अपने निवासियों के नाम से जाने जाते थे, जैसे, भद्र, वैदेह, कोशल, व्रिजि इत्यादि। उसने क्षेत्रीय इकाइयों में विष्य (प्रान्त या विभाजन), नगर (शहर) और ग्राम (गाँव) का भी उल्लेख किया है। राजतंत्र की व्यवस्था थी, परन्तु गण और संघ के भी संदर्भ मिलते है। सभी विषयों में राजा ही सर्वोच्च प्रधान थे। उसके नीचे परिषद् अथवा परिषत् (समिति), के सदस्य अध्यक्ष, (विभाग के मुख्य) व्यवाहारिक, (कानून के अफसर) अपायिक, (धन के उपाय बताने वाले) युक्त (सामान्य अफसर) और प्रशासन के दूसरे अधिकारी थे। इसमें लोगों के आर्थिक जीवन का भी विवरण मिलता है। पाणिनि की रचना से पता चलता है, कि उस समय भी लोगों का मुख्य पेशा कृषि, नौकरी आयुध और श्रम का व्यवसाय था। क्रय-विक्रय भी खूब होते थे, सूद में ऋण भी दिये जाते थे। शिल्प में वस्त्र बुनना, रँगना, चमड़े का काम, शिकार करना, बढ़ई का काम और घड़े बनाने के काम होते थे।उन्होंने शिल्प संघ अथवा शिल्पि संघ (पूग) की चर्चा की है। इन संघटनों ने अपने क्षेत्र में विशिष्टता और कानून के प्रति अनुशासन और आदर की भावना को बढ़ाया है।

(ठ) **श्रौत सूत्र**— छ: वेदांगों में एक कल्प ने धर्म से संबंध रखने वाले पूरे सूत्र को ढक लिया है। यह तीन भागों में बँटा है। इनमें से श्रौत सूत्र कुछ ऐतिहासिक महत्त्च से नहीं, परन्तु मुख्यत: वैदिक यज्ञों के हविष (नैवेद्य) और सोम और दूसरी धार्मिक वस्तुओं से संबंध रखते हैं। यह कहा जा सकता है कि वे ब्राह्मणों के कर्मकाण्डों को ही जारी रखते हैं, परन्तु अपौरुषेय अथवा पवित्र नहीं माने गये। बाद में शायद श्रौत नियमावली गृह्यसूत्र हुए जो घरेलू धर्मविधियों का विवेचन करते हैं। वे व्यक्तिगत जीवन के प्रत्येक भाग को दाहसंस्कार की भावना से चिन्हित करते हुए, विभिन्न धर्मानुष्ठानों को करने केलिए सूक्ष्म नियमों को मूर्त्त रूप देते हैं। मुख्य रोचक संस्कार थे-पुंसवन, (पुत्र प्राप्ति के लिए धर्मक्रिया), जातकर्म (जन्म-धर्मविधि), नामकरण (नाम की धर्मक्रिया),चूड़ाकर्म (मुंडन), उपनयन (ब्रह्मचारी

के रुप में अध्ययन का आरंभ) समावर्तन (घर लैटने का धार्मिक अनुष्ठान), विवाह (आठ प्रकार के विवाहों की धार्मिक विधियाँ), प्रत्येक गृह स्वामी द्वारा प्रतिदिन नियमित रुप से किये जाने वालो पाँच बड़े यज्ञ (पंच महायज्ञ) विशेष तिथियों जैसे अमावस्या और पूर्णिमा में किये जाने वाले यज्ञों के अलावा दूसरे धर्मानुष्ठान इत्यादि और आखिरी अत्येष्टि (दाह धर्मविधि) संस्कार।

इन पुस्तकों में से एक कौशिक सूत्र औषधीय नुस्खों, आभिचारिक कार्यों से संबंध रखता है, इनसे बीमारी और संकट दूर किये जाते हैं। इस प्रकार गृह्यसूत्र हमें प्राचीन भारत के आर्यों के धर्मानुष्ठानों में अन्तर्दृष्टि और घरेलू जीवन से संबंधित अन्धविश्वासों के बारे में बताते हैं।

(ड) **धर्मसूत्र**— दूसरी श्रेणी के सूत्र में धर्मसूत्र आते हैं, जो परिवार से अधिक समाज से सबंध रखते हैं। वे प्रतिदिन के जीवन के व्यवहार और प्रथाओं के वर्णन के अधिक विस्तार के साथ हल्के रूप में कानून के लौकिक पहलू पर भी ध्यान देते है।

मुख्य धर्मसूत्र लेखक गौतम (500 वर्ष ईसा पूर्व) और बौधायन हैं। बौधायन संभवत: दक्षिण भारत के थे। इसके बाद आपस्तम्ब (बुहलर के अनुसार करीब 400 वर्ष ईसा पूर्व)) और वशिष्ठ। आपस्तम्ब भी संभवत: आंध्रप्रदेश के थे, परन्तु वशिष्ट निश्चित रूप में उत्तर भारत के थे। अंत में मानव धर्मसूत्र में छन्दोबद्ध मानव धर्मशास्त्र आधारित है, वह अभी भी कानून पर प्रामाणिक कार्य, और जीवन में व्यक्ति का आचरण है।

(ढ) सामाजिक वर्ग— सूत्रों के अनुसार वर्णाश्रम धर्म समाज की सुदृढ़ स्थापित विशेषता थी। धर्मसूत्र ''द्विज'' ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र के कर्तव्यों और दायित्वों का वर्णन करते हैं। इसमें यह भी बताया गया है कि द्विज़ को जीवन की चार अवस्थाओं (आश्रमों) से गुजरना चाहिये -ब्रह्मचर्य (विद्यार्थी काल), गृहस्थ (विवाह अवस्था), वानप्रस्थ (एकान्तवास की अवस्था) और सन्यास (बैखानस का जीवन)। अन्तिम दो, तपस्वी धर्मचर्या और दुनियावी संबंधों से अवकाश लेने के कारण अधिक महत्वपूर्ण है। सूत्र काल में वर्णो की शुद्धता पर बहुत जोर दिया गया। दूषित भोजन और अशुद्ध वस्तुओं से दूर रहने पर बल दिया गया। इन विषयों के संबंध में सख्त निषेधाज्ञा थी, परन्तु कुछ बिन्दुओं पर विभिन्न अधिकारियों के विभिन्न मत भी मिलते हैं। वास्तव में प्राचीन अधिकारी अपने विचारों में ढीले दिखाई पड़ते हैं। उदाहरण के लिए गौतम एक द्विज के द्वारा चढ़ाये भोजन लेने की अनुमति देने के साथ यह भी कहते हैं कि आवश्यकता पड़ने पर शूद्र का दिया हुआ भोजन भी लिया जा सकता है। इसी प्रकार नीची जाति की परन्तु सर्वगुण सम्पन्न कन्या से ब्राह्मण का विवाह हो सकता है, और उनकी सन्तान वैध रूप से मिश्रित मानी जायेगी। अपने ही गोत्र और माता पक्ष में सात पीढ़ी तक विवाह निषिध माना जाता था। परन्तु दक्षिण के आर्यो में अपने माता की पुत्री से विवाह करने का विचित्र रिवाज था। इस प्रकार स्थानीय प्रथाओं और शर्तो के कारण धर्मसूत्रों में विभिन्नताएँ थी। साधारणत: उनका दृष्टिकोण संकुचित था। आर्यों को समुद्री यात्रा करने और बर्बरों की भाषा (विदेशी भाषा) सीखने की भी मनाही थी।

(ण) **राजकीय शक्तियाँ**— धर्मशास्त्रों में राजाओं के कर्तव्य बतलाये गये है। उसे अपनी प्रजा को सभी प्रकार के खतरों और उत्पीड़न से पूर्ण रूप से बचाने का कर्तव्य था। दुष्कर्मियों को सजा देना,

विद्वान् ब्राह्मणों अथवा श्रोत्रियों, विद्यार्थियों, विकलांगों अथवा अशक्तों के लिए जीवन निर्वाह के साधन उपलब्ध कराना, न्याय देना, अच्छाई का पुरस्कार देना, युद्ध का नेतृत्व करते हुए दृढ़ता से युद्ध करना आदि उसके कर्तव्य थे।

वह नगर (पुर) में निर्मित आलीशान मकान (वेश्म) में रहता था। इसके अलावे अतिथियों और सभा करने के भी अलग कमरे होते थे। भक्त और ईमानदार व्यक्ति देहात और नगर में रहने वाले व्यक्तियों की जान माल की रक्षा के लिए नियुक्त किये जाते थे।

(त) टैक्स– प्रशासन और राज्य के अनुरक्षण के लिए जनता टैक्स देती थी, जो कि जमीन की उपज का छठा अथवा दसवाँ हिस्सा होता था। गौतम कहते हैं राजा कारीगरों से एक दिन का काम प्रत्येक महीने ले सकता था इसी प्रकार माल का बीसवाँ हिस्सा, जानवरों और सोने का पन्द्रहवाँ हिस्सा, जड़, फल-फूल, झाड़ी, मधु, माँस, घास और जलावन की लकड़ी पर सोलहवाँ भाग टैक्स लगता था।

(थ) **कानून**– कानून के स्रोत राजा नहीं, परन्तु वेद और वेद जानने वालों की प्रथाएँ और व्यवहार थे। धर्मसूत्रों में यह भी लिखा था कि राजा, वेद धार्मिक, किताबों की संहिता, वेदांग, पुराण, विशेष देशों के कानून, जाति, परिवार (जिनका धार्मिक इतिहास विपरीत न हो) कृषकों व्यापारियों, चरवाहों, दूसरे समूहों (वर्गो) और श्रेणियों के व्यवहारों का आदर करता था।

धर्मसूत्र उत्तराधिकार के नियम और समाज में स्त्रियों की स्थिति पर हलका प्रकाश डालते हैं। स्त्रियाँ न तो यज्ञ कर सकती थीं और न सम्पति की हकदार थीं। दंड की समान व्यवस्था नहीं थी एक ही प्रकार के अपराध करने पर भी शूद्र को कठोर दंड और ब्राह्मण को हल्का दंड दिया जाता था।

12. महाकाव्य

1. रामायण– उत्तरवैदिक धर्मग्रन्थों और ब्राह्मण ग्रन्थों आख्यान, गाथा, नाराशंसी से भारतीय कविताओं की शुरुआत मानी गई है। किसी विशेष धर्म-विधियों के समय पेशेवर चारणों के द्वारा कविता पाठ किये जाते थे। यह समझा जाता था कि इससे देवता प्रसन्न होते हैं। धीरे-धीरे व्यक्तियों की प्रशंसा में गाये संगीत, यथेष्ट लम्बे महाकाव्य वाले कविताओं में विकसित हुए। परन्तु वर्तमान में दो ही महाकाव्य संस्कृत में हैं। रामायण और महाभारत, चलायमान दंतकथाओं, राजाओं की प्रशंसा को मूर्त रूप देते हुए उन प्राचीन नायक और नायिकाओं की विजय एवं पराजय का वर्णन करते हैं।

(क) रामायण की कथा– वाल्मीकि द्वारा लिखित रामायण श्लोकों में लिखा गया है अतः अध्याय कहलाता है। इसमें 24,000 श्लोक है। संक्षेप में कथा इस प्रकार है–

अध्योध्या के राजा दशरथ के रानी कौशल्या से उत्पन्न पुत्र राम थे। उनका विवाह जनक नन्दिनी सीता से हुआ था। दशरथ, राम को युवराज बनाना चाहते थे। इसकी घोषणा से पूरे राज्य सहित राजमहल में खुशी फैल गई। परन्तु यह खुशी का माहौल दुःख में बदल गया जब उनकी सौतेली माता कैकेयी ने महाराज दशरथ से दो वरदान माँगे– 1. कि रामचन्द्र को तुरन्त 14 वर्षों का वनवास दिया जाये तथा 2. राम के बदले अपने पुत्र भरत को युवराज बनाया जाये। राम अपनी धर्मपत्नी सीता और अपने तीसरे भाई लक्ष्मण के साथ वन चले गये। पुत्र के वियोग में दशरथ चल बसे। भरत राजगद्दी में न बैठकर राम

की खड़ाऊ को वहाँ रखकर शासन करने लगे।

जंगल में घूमते समय लंका के राक्षस-राज रावण द्वारा सीता हर ली गई। सीता की खोज करते समय सुग्रीव से राम की मित्रता हुई और उसकी मददसे रावण पर विजय पाई। इसके बाद सीता, लक्ष्मण सहित राम अयोध्या लौटे। रामायण के सभी चरित्र आदर्श दिखलाये गये है।

(ख) **रामायण का काल-निर्धारण**— आधुनिक आलोचकों के अनुसार सम्पूर्ण रामायण एक हाथ का लिखा हुआ नहीं है। उनकी खोज ने यह सिद्ध किया है कि दूसरे भागों में छोटे क्षेपकों के अलावे पहली और सातवीं पुस्तक निश्चित रूप से जोड़े गये हैं क्योंकि यहाँ की अभ्युक्ति बाद के अध्यायों से मेल नहीं खाता है। आरम्भिक श्लोक (11) में राम एक मानव हीरो हैं, जब कि बाद के अध्यायों में उसे विष्णु का अवतार माना गया है। देवत्वारोपण की प्रक्रिया में अवश्य कुछ समय लगे होंगे और वास्तविक एवं अप्रामाणिक (मिथ्या) भाग अलग करने में शताब्दियाँ लगी होंगी। महाभारत की तीसरी पुस्तक (पूर्व) में रामायण के सनिवेश से पता चलता है कि वाल्मीकि के श्लोक, महाभारत के श्लोक सुसंगत रूप में आने जाने से पहले पुरानी रचना थी। यह ध्यान देने योग्य है कि रामायण, उदयन द्वारा स्थापित पाटलिपुत्र का उल्लेख नहीं करता है। कोशल की राजधानी अयोध्या ही थी, साकेत नहीं, जब कि बुद्धकाल और बाद की दूसरी रचनाओं में कोशल की राजधानी साकेत बतलाई गई है। बुद्ध का नाम शायद क्षेपक के रूप में आया है। राजननैतिक स्थितियाँ राजाओं के पैतृक शासन और छोटे राज्यों के ऊपर शासन को सूचित करती है। इन सब पर और दूसरे बिन्दुओं पर विचार करके मैकडोनल ने रामायण के सार तत्वों की रचना 500 वर्ष ईस्वी पूर्व माना है, जब कि अधिक दूसरे आधुनिक हिस्से शायद दूसरी शताब्दी ईसा पूर्व और बाद में शायद नहीं जोड़े गये थे।

क्या रामायण इतिहास है— मौटे तौर पर रामायण की तारीख निश्चित करने से नायकों के क्रमानुसार रखने की कठिनाई दूर नहीं होती है। मैक्समूलर के अनुसार राम दैवी पुरुष है जो कभी अयोध्या में रहते थे। अपने कार्यों के कारण वे प्रेरणा के स्रोत होने के साथ ही साथ पूर्ण ऐतिहासिक सच्चाइयों के खान थे। परन्तु इतिहासकार का आलोचनात्मक विवेचन इसके नायकों को अधिक लाभप्रद सूचना नहीं प्राप्त करा सका। वास्तव में कुछ विद्वान् यहाँ तक संदेह करते हैं कि विवरण में क्या इतिहास अन्तर्विष्ट है? उदाहरण के लिए लासेन और वेबर ने रामायण को अन्योक्ति के रूप में प्रस्तुत करते हुए आर्यों का दक्षिण में अनार्यो को जीतने और वहाँ अपनी सभ्यता फैलाने का प्रथम प्रयास कहा है। मैकडोनल और याकोबी दूसरा और विश्वास करते हैं कि भारतीय पुराणविद्या पर आधारित रामायण के पात्र सृष्टि हैं। इस व्याख्या के अनुसार सीता, हल रेखा (सीता) देवी का मूर्तरूप, इन्द्र, विष्णु का और रावण के साथ युद्ध ऋग्वेद के पौराणिक कथा इन्द्र-वृत्र युद्ध हैं। आगे की सारवस्तु के लिए मेहनत किये बिना यह पर्याप्त मात्रा में स्पष्टीकरण देता है कि किस प्रकार रामायण की कहानी चिन्तन के लिए आधार देती है। इसमें सदेह नहीं है कि यह बहुत अधिक पौराणिक कथाओं में अन्तर्गुम्फित है। परन्तु एक साथ राम की ऐतिहासिकता पर संदेह करना भी पूरी तरह काल्पनिक है। राम बुद्ध के जातक कथा में सामान्य रूप में दैवी गुण से रहित वर्णित हैं। आर्यो के पूर्व की ओर फैलने के बाद कोशल, एक महत्वपूर्ण राज्य था। यह तो सच्चाई है कि राम एक वास्तविक व्यक्ति थे, जो अयोध्या इक्ष्वाकु वंश के

थे, जिनकी युद्ध और शक्ति की उपलब्धियों ने लोकप्रिय कल्पना में गहरी छाप छोड़ी है। राम उपकारी शासन का युग उसी प्रकार अनिश्चित है, जैसे उत्तर और दक्षिण भारत की समकालिक परिस्थितियाँ।

2. **महाभारत**— वर्तमान में महाभारत में 10,0000 श्लोक (शतसाहस्रीसंहिता) हैं। यह 189 पुस्तक (पर्व) में बँटा है, जो आखिर में बराबर नहीं है, और हरिवंश तक है। प्रामाणिक परम्परा के अनुसार द्वैपायन व्यास इस विशाल रचना के रचियता थे, परन्तु इसकी भाषा में समानता, शैली और सारांश से यह पता चलता है कि निश्चय ही यह एक व्यक्ति की और एक समय की रचना नहीं है। वह धीरे-धीरे महाकाव्यसार तत्व का विकास है जिसे बाद में एक पूर्णत नया रूप दिया गया, उसका विस्तार किया गया। ब्राह्मणों ने बहुत अधिक मात्रा में पौराणिक, दार्शनिक, धार्मिक और शिक्षाप्रद विषय जोड़े। आश्वलायन गृह्मसूत्र के रूप में महाभारत के अस्तित्व का प्राचीनतम प्रमाण देता है। इसकी रचना 500 ईसवी सन् मानी गई है, जहाँ यह निश्चित रूप से शत साहस्री श्लोक वाला कहा गया है। इससे यह स्पष्ट होता है कि इस समय या यों कहें एक शताब्दी पहले यह अपने वर्तमान आकार में आ गया था। इस प्रकार आरंभ, विकास, संशोधन, आश्चर्यजनक संग्रह के क्षेत्रों का श्रेय मोटे तौर पर 5वीं शताब्दी ईसा पूर्व और 400 ईसवी सन् के बीच के समय को कहा जाता है।

(क) कथा वस्तु— इस महाकाव्य का ढाँचा धृतराष्ट्र के 100 पुत्रों (कौरवों) और पांडु के पाँच पुत्रों (पांडवों) के युद्ध से संबंध रखता है।

विचित्रवीर्य की मृत्यु के बाद बड़े भाई धृतराष्ट्र के अंधे होने के कारण उनके छोटे भाई पांडु गद्दी पर बैठे। अपनी भतीजे धर्मराज युधिष्ठिर को उसने अपना प्रत्यक्ष उत्तराधिकारी नियुक्त किया। इससे धृतराष्ट्र का पुत्र दुर्योधन चिढ़ गया और अपनी दुष्टता से पांडवों को राजधानी से बाहर निकलने के लिए बाध्य किया। जंगल में भटकते हुए वे पांचाल देश पहुँचे, जहाँ अर्जुन ने स्वयंवर में द्रुपद की बेटी द्रौपदी को अपने और अपने भाईयों के लिए प्राप्त किया। यह संबंध उनके भाग्य में महत्वपूर्ण मोड़ सिद्ध हुआ। समझौते के लिए धृतराष्ट्र ने अपने राज्य को दो भागों में बाँट दिया— अपने पुत्रों के लिए हस्तिनापुर और भतीजों के लिए दूसरा राज्य, जिसकी राजधानी इन्द्रप्रस्थ थी। यहाँ भी पांडव शान्तिपूर्वक राज्य नहीं कर सके। दुर्योधन ने, युधिष्ठिर को जुआ खेलने का प्रलोभन दिया। जुए में युधिष्ठिर को अपना राज्य, पत्नी, सम्मान सब कुछ हारना पड़ा, फलस्वरूप उसे 12 वर्षों के लिए वनवास जाना पड़ा। वनवास समाप्ति पर युधिष्ठिर ने दुर्योधन से अपना राज माँगा। परन्तु दुर्योधन ने बिना युद्ध के सूई की नोक के बराबर भी जमीन देना अस्वीकार किया। इस वाक्य से दोनों के बीच युद्ध ठन गया। यह शत्रुता या युद्ध 18 दिनों तक चला और प्रसिद्ध कुरुक्षेत्र की लड़ाई कहलाई। युद्ध में वर्णनातीत नुकसान और हत्यायें हुई। अन्त में युधिष्ठिर की विजय हुई, जिसने कुछ दिनों तक शानदार शासन किया, तत्पश्चात् राज्य का भार लब्धप्रतिष्ठित परीक्षित को सौंपकर अपने भाइयों के साथ हिमालय चला गया।

(ख) महाभारत का एतिहासिक महत्व— महाभारत की मुख्य कथा ऐतिहासिक सच्चाई पर आधरित है। हस्तिनापुर और इन्द्रप्रस्थ निश्चय ही वास्तविक नगर थे, समय और मूलतत्वों की क्षति द्वारा अपने पूर्ण विनाश को प्राप्त होकर भी उन नगरों के नाम अभी भी विद्यमान है। हस्तिनापुर तो अभी भी मेरठ जिले में गंगा किनारे उसी नाम से जाना जाता है। दूसरा, आधुनिक दिल्ली के निकट यमुना के किनारे

एक छोटे से गाँव 'इन्द्रपत' के नाम से जाना जाता है। परम्परागत तिथि 3102 ईसा पूर्व जिसमें दो स्थानों के राजाओं के बीच का प्रसिद्ध युद्ध हुआ, इसमें कहीं आलोचना नहीं है। परन्तु जे. राव के अनुसार युद्ध 3131 ईसा पूर्व हुआ क्योंकि परम्परा के अनुसार महाभारत युद्ध के 36 वर्ष बाद कलियुग के प्रारम्भ होने पर कृष्ण स्वर्गधाम सिधारे। लेकिन फिर भी कुछ सत्याभास के अनुसार महाभारत का युद्ध 1000 ईसा पूर्व हुआ था, क्योंकि शतपथ ब्राह्मण, महाभारत के नायक से परिचित था और उसमें जनमेजय को अर्वाचीन श्रेष्ठ व्यक्ति बतलाया गया है। यह भी ज्ञात है कि उत्तर वैदिक काल में करु महत्वपूर्ण व्यक्ति थे, यद्यपि पांडव का नाम न तो ब्राह्मण ग्रन्थों में आया है न सूत्र ग्रन्थों में। पांडवों का नाम उत्तर बुद्ध साहित्य में पर्वतीय जाति के रूप में उल्लिखित है। क्या यह दिखाता है, जैसा कि अनुमान किया जाता है कि मुरुओं से अलग कोई विदेशी अप्रवासी थे? जो भी हो, इस अनुमान को उनके असभ्य, अभद्र बहुपतित्व की प्रथा से बल मिलता है। पांडु का अर्थ पीला होता है यह उनके मंगोलियन साम्य को शायद सूचित करता है। यदि इस सुझाव में कोई वास्तविकता है तो वर्तमान महाभारत का मूल पाठ मुख्य योधाओं के साथ उनकी उत्पत्ति और संबंध की विकृत व्याख्या करता है। इसी प्रकार उनके मित्र राष्ट्रों के साथ संबंध में प्रमाण स्वीकार करना भी कठिन लगता है। उदाहरण के लिए कौरवों के प्रागज्योतिष (असम), अवन्ति और दक्षिणपथ, चीन, किरात, कम्बोज, यवन, शाक, भद्र, कैकेय, सिन्धु और सुवरी मित्र राष्ट्र थे। सच्चाई के अलावे वे समकालीन भी नहीं थे। यह भी संदेह है कि वे दूरस्थ शक्तियाँ मध्यप्रदेश में स्थानीय अग्निदाह के इच्छुक थे। पांडवों के पंचाल, कोशल, काशी, मगध, चेदी मत्स्य, यदु-मित्र राष्ट्र थे और निश्चय ही कौरवों के मित्र जागीरदार या सामन्त नहीं कहे जा सकते क्योंकि कौरव-पांडव राजधानियाँ स्वयं दिखाती हैं कि उनका प्रभावपूर्ण शासन वहाँ नहीं था। संक्षेप में कहा जा सकता है कि महाभारत की ऐतिहासिक विशुद्धता में अन्तर है परन्तु प्रमुख विषय वस्तु प्रामाणिक है और उसके पात्र भी जिनके कारण कथाकार के द्वारा लोकप्रिय बनाये गये हैं वे काल्पनिक नहीं हैं।

13. महाकाव्यों में वर्णित विषय

(क) **राजा**— महाकाव्यों के राजा बिल्कुल सिर्फ अपनी मौज मस्ती के धरोहर नहीं थे। उन्हें अपने भाइयों, सलाहकार और जनसाधारण की इच्छा के अधीन रहना पड़ता था। उसे— कुल (परिवार), जाति वर्ण , श्रेणी (निकाय) और पूग (समुदाय) के कानूनों को मान्यता और आदर करना पड़ता था। एक बुरा राजा,पागल कुत्ते के समान अपदस्थ किया जाता था। बड़े समारोह के साथ राजा का अभिषेक करके मुकुट पहनाया जाता था क्योंकि वह घर और रणभूमि दोनों का प्रधान था, उससे मंत्रियो की सलाह और पुरोहित के आर्शीवाद से अभियान चलाने की आशा की जाती थी, परन्तु वास्तव में वह अपने मित्र राष्ट्रों में सहयोग से स्वयं सभी विषयों पर निर्णय लेता था। 'सभा' मात्र सैनिक विषयों के बारे सलाह देने वाली संस्था हो गई। वह शान और वैभव के साथ, नर्तकियों एवं आज्ञाकारिणी पत्नियों के बीच रहता था। संगीत, जुआ, शिकार जानवर-लड़ाई से मनोरंजन करता था। महल से सटे सभा भवन में न्याय करता था। वृद्धावस्था में राज्य का भार अपने पुत्र को सौंप देता था) राजधानी के चारों ओर दीवार के साथ ही साथ मीनार, खाईयाँ भी होती थी।

(ख) **प्रशासन**— राजा मंत्रिपरिषद् की सहायता से राज्य चलाता था। महाभारत (शान्ति पर्व 85/7-11) के अनुसार मन्त्रिपरिषद् में चार ब्राह्मण, आठ क्षत्रिय, इक्कीस वैश्य, तीन शूद्र और एक सूत

जाति का व्यक्ति रहता था। मुख्य मन्त्री और दूसरे सलाहकार उच्च कोटि के ईमानदार, दूरदर्शी और चरित्र वाले होते थे। इनके अलावा राजा को अधीन में रहने वाले शासक (सामन्त), युवराज, अभिजात वर्ग, उच्च अफसर– जैसे पुरोहित, प्रधान-सेनापति, कंचुकी, प्रदेष्टा (मुख्य न्यायाधीश) धर्माध्यक्ष (धर्म का अध्यक्ष), दंडधर्माध्यक्ष, दंडपाल(मुख्य पुलिस अधिकारी), नगराध्यक्ष (नगर प्रशासक), कारागार अधिकारी (जेल का अध्यक्ष) दुर्गपाल (किला अध्यक्ष) आदि कर्तव्य निबाहने में मदद देते थे।,

ग्रामप्रधान (ग्रामणी) के अधीन गाँव प्रशासन की निचली इकाई थी, उसे पर्याप्त स्थानीय स्वायत्ता मिली थी। इसके ऊपर क्रमशः दश (ग्रामणी), बीस (विंशतिग्रामणी), सौ (शतग्रामणी) और हजार गाँव (अधिपति) के अफसर होते थे। ये अफसर अपने अधिकार क्षेत्र में टैक्स वसूलते, अपराध पकड़ते और शान्ति कायम रखते थे। प्रत्येक इकाई अपने से ऊँची इकाई के प्रति और समान रूप से राजा के प्रति जवाबदेह था।

(ग) **सेना**– राजा की सेना में प्रतिभावान आर्य और समान जन आते थे-जो ढेलवाँसे फेंकने वाले, पत्थर फेंकने वाले, कुशल तीरन्दाज, रथचालक, हस्तिरोही आदि रहते थे। अग्नि अस्त्र तोप-बारूद का भी प्रयोग होता था। युद्ध में लड़ते मर जाना यशस्कर माना जाता था। क्षत्रिय इसे अपना सौभाग्य समझते थे। क्षत्रिय यश के लिए अथवा अपने मुख्य के लिए लड़ते थे। राजा युद्ध में मरे सैनिकों की विधवाओं के लिए निवृति वेतन देता था। युद्ध में पकड़े गये सैनिक कम से कम एक साल के लिए विजयी राजा के गुलाम बनते थे। कभी-कभी कुछ शर्तें लेकर उन्हें छोड़ दिया जाता था। उन दिनों घास खाना, समर्पण का प्रतीक था।

(घ) **गण**– महाभारत के शान्तिपर्व (अध्याय 107- श्लोक 6/22) में ''गण'' याने बहुतों के शासन वाले सरकार का उल्लेख है। इसकी शक्ति और समृद्धि, आन्तरिक मत-भेद दूर करने, सलाह अथवा निर्णयों को गुप्त रखने, नेताओं की आज्ञा मानने और स्थापित प्रथाओं और प्रयोगों की इज्जत करने में निहित थी। कभी-कभी अनेक गण मिलकर एक प्रकार का संघ बनाते थे। उदाहरण के लिए शान्तिपर्व के अध्याय 81 में कृष्ण को अन्धक एवं वृष्णि संघ का अध्यक्ष बताया गया है।

(ङ) **सामाजिक स्थिति**– समाज में जाति की जड़ें बहुत मजबूत थी। उच्च और ब्राह्मणों को समाज में उच्च स्थान प्राप्त था, जब कि अनार्य शूद्र, निम्न माने जाते थे। गुलाम, दासता के लिए ही जन्मे माने जाते थे, उनके न तो अधिकार और न स्वामित्व था। समाज में स्त्रियों की स्थिति वैदिक नारियों से भी बदतर हो चली थी। सती-प्रथा विद्यमान थी और बहु विवाह का पालन था। स्त्रियों के लिए पर्दा-प्रथा-थी, परन्तु यह शायद राजकीय महिलाओं के लिए था। क्षत्रिय कन्याएँ स्वयम्बर द्वारा अपना पति चुन सकतीं थीं। अधिकांश लोग किले (दुर्ग) के चारों ओर रहते थे, वे पशुपालन और खेती का काम करते थे। खतरे के समय जैसे युद्ध और छापेमारी के समय वे उन्हीं दुर्गों में शरण लेते थे। सामान्य कार्यो के लिए स्वतंत्र थे। राजा उनका सर्वोच्च शासक होता था, जो प्रजाओं का न्याय करता और टैक्स भी वसूलता था। आवश्यकता के अनुसार टैक्स अलग-अलग होते थे और शायद भद्रता से दिये जाते थे। व्यापारी और दूसरे व्यक्ति शहरों में रहते थे। व्यापारी दूर से माल लाते थे और कस्टम शुल्क देते थे। शहरवासी प्रायः जुर्माना और टैक्स रुपये पैसों में देते थे। कभी-कभी झूठे नाप तौल भी किये जाते थे,

अत: राजा द्वारा बाजार का निरीक्षण आवश्यक हो जाता था। व्यापारी और शिल्पियों के संघ का समाज में बहुत प्रभाव था, शायद पुरोहितों के बाद उनके संघ के प्रधान ''महाजन' का स्थान आया।

लोग मदिरा और माँस खाते-पीते थे, यद्यपि छान्दोग्य उपनिषद् (3, 17, 4) में हम पाते है कि अहिंसा के प्रचार के कारण शाकाहार धीरे-धीरे स्थान ले रहा था।

(च) **धर्म**— प्राकृतिक अद्‌भुत घटनाओं की पूजा इस काल में पीछे छूट गई। वैदिक देवता ब्रह्मा, विष्णु और शिव की पूजा श्रेष्ठ मानी जाने लगी। नये देवी-देवता, जैसे— सूर्य, गणेश और दुर्गा अस्तित्व में आये। यह विश्वास बन गया कि पृथ्वी पर अच्छाई स्थापित करने के लिए विष्णु ने अवतार लिया। पुनर्जन्म का सिद्धान्त सभी के दिलों में घर कर गया। वर्तमान विश्वास की जड़ें, महाकाव्य काल में ही पड चुकी थीं।

14. **धर्मशास्त्र**

धर्मशास्त्र, धर्म अथवा कानूनों की पारंपरिक शिक्षा देता है। श्लोकों में लिखे गये ग्रन्थ हिन्दू कानून के महात्वपूर्ण स्रोत हैं; और प्राचीन ब्राह्मण संस्थाओं और सभ्यता पर प्रकाश डालते हैं। इन संहिताओं में से मानव धर्मशास्त्र और विष्णु धर्मशास्त्र ईसवी सन् अथवा पहले का है, विष्णु धर्मशास्त्र यद्यपि सूत्र के रूप में है, निश्चित रूप में मनु के बाद का है मुख्यत: मनु पर आधारित है। नारदस्मृति करीब पाँचवी शताब्दी ईसवी सन् रची गई है। इनके अलावे और भी छोटी स्मृतियाँ है। बाद में निबन्ध और मिताक्षरा जैसे टीकाकार भी हुए जो कि प्रामाणिक माने जाते हैं।

(क) **समाज-वर्ण**— धर्मसूत्रों के समान धर्मशास्त्रों में भी जाति व्यवस्था समाज का ढाँचा था। इसके प्रत्येक अंग को अपने विषय, कर्तव्य और सुविधाएँ थी। इस प्रकार मनु के अनुसार ब्राह्मण को पढ़ना और यज्ञ करना, और यज्ञ करने वाले की सहायता करना, भिक्षा और उपहार लेना था। क्षत्रिय के काम शासन करना और लोगों की रक्षा करना, ज्ञान बढ़ाने और सच्चाई के कारण पैसे खर्च करना, यज्ञ करना हस्तलिपियों को पढ़ना और इन सब से बढ़कर युद्धभूमि में साहस और निर्भयता से लड़ना आदि थे। पशुपालन करना, सूद पर पैसे देना, व्यापार और कृषि करना, वैश्य के काम थे। शूद्र का काम उपरोक्त तीन वर्णो की सेवा करना था। कानून की किताबों में मिश्रित जाति की भी चर्चा है, जो अन्तर-जातीय और अवैध विवाहों से उत्पन्न सन्तानें थी। म्लेच्छ, चांडाल, स्वपाक शूद्रों से भी छोटे समझे जाते थे।

(ख) जीवन की अवस्थाएँ— धर्मशास्त्र जीवन के चार आश्रमों का उल्लेख करते हैं जो एक द्विज के लिए लागू होता है। ये चार आश्रम निम्नलिखित हैं—

1. ब्रह्मचर्याश्रम— यह अध्ययन काल था और उपनयन संस्कार से आरंभ होता था। परन्तु आरम्भ करने की आयु अलग-अलग होती थी, क्योंकि यह विद्यार्थी की परिस्थिति और सामर्थ्य और वर्ग पर निर्भर करता था। वह वेद के अलावा दूसरी पवित्र पुस्तकों अथवा वेदांग और दर्शन का अध्ययन, उपाध्यायों की पैतृक सुरक्षा और संरक्षण में करता था। ब्रह्मचारी का जीवन अनुशासन और नियमित कार्यो का होता था। उसे कर्मठता से पढ़ना, प्रतिदिन पूजा करना और अग्निहोत्र करना पड़ता था। इसके अलावा अपने गुरु (शिक्षक) के लिए भिक्षा माँगना, लकड़ी

जमा करना, पानी भरना आदि कार्य करने पड़ते थे।

2. **गृहस्थाश्रम**— शिक्षा पूरी होने के बाद ब्रह्मचारी, गृहस्थाश्रम में प्रवेश करता था, अर्थात् विवाह करके गृहस्थ बनता था। उससे-आशा की जाती थी, कि वह खुशी से दया के कार्य करे। यज्ञ करके देवताओं, ऋषि, पूर्वजों के ऋण अदा करना, उसे क्रमशः अध्ययन और इन्द्रिय-निग्रह करना और सन्तानोत्पत्ति करना भी था।

3. **वानप्रस्थाश्रम**— व्यक्ति अपनी सारी चीजों को त्याग कर एकान्त में ध्यान-मनन करने के लिए जंगल जाता था, वह अत्यन्त साधारण भोजन और कन्द-मूल और फल खाकर रहता था।

4. **सन्यासाश्रम**— इस आश्रम में सन्यासी भिक्षा माँग के जीता था और अपने को सच्चाई और अच्छाइयों के प्रचार में लगाता था। ये चारों आश्रम ऊपर के तीन वर्गो के लिए थे, परन्तु उनके द्वारा कितनी मात्रा में व्यवहार में कार्यान्वयन होते थे, इसमें संदेह है। जो भी हो सन्यास सिर्फ ब्राह्मणों के लिए लागू होता था।

(ग) **स्त्रियों की स्थिति**— धर्मशास्त्रों में स्त्रियों के बारे पर्याप्त कहा गया है। एक स्थल में मनु ने कहा है—

यत्र नार्यस्तु पूज्यन्ते रमन्ते तत्र देवताः।
यत्रैतास्तु न पूज्यन्ते सर्वास्तत्राऽफलाः क्रियाः।।3,59 ।।

जहाँ नारियों की पूजा होती है, वहाँ देवता निवास करते हैं जहाँ नहीं पूजित होती है वहाँ सभी क्रियाएँ निष्फल होती है। परन्तु दूसरे ही स्थान (2.213) में उनकी निन्दा करते कहते हैं कि ''स्त्रियाँ पुरुषों को दूषित मार्ग में ले जाती हैं।'' वह स्त्रियों की स्वंतत्रता के भी खिलाफ थे। इस संबंध में उन्होंने कहा है—

पिता रक्षति कौमारे, भर्ता रक्षति यौवने।
रक्षन्ति स्थाविरे पुत्राः न स्त्री स्वातन्त्रयमर्हति।। 9,3।।

''कुमारावस्था में पिता रक्षा करता है यौवन में पति रक्षा करता है, बुढ़ापे में पुत्र रक्षा करते हैं, स्त्री कभी भी स्वतंत्रता के योग्य नहीं है।''

मनु आगे और भी कहते हैं कि स्त्रियों का चित्त अस्थिर होता है, इसलिए वे गवाह के अयोग्य हैं'' कन्याओं का विवाह बारह अथवा आठ वर्ष में ही करना चाहिये (9,94)। कन्या बिक्री का उन्होंने विरोध किया है (वही 8, 204; 3, 51; 9, 98)। मनु ने विधवा विवाह और नियोग प्रथा की निन्दा की है (वही 9,95)। परन्तु नारद ने दोनों को विधवा के लिए अनुमति दी है। स्त्री -धन के अलावे मनु ने यह साफ नहीं लिखा है कि क्या वह पति की सम्पत्ति की हक़दार थी अथवा नही। नारद ने यह अधिकार विधवा को नहीं दिया है। याज्ञवल्क्य ने दूसरी ओर विधवा को अपने पति की सम्पत्ति का हक़दार बनाया है। यद्यपि सती-प्रथा समाज में स्वीकृत नहीं थी, तथापि विधवाओं को शुभ अवसरों पर अशुभ माना जाता था। इससे पता चलता है कि स्त्रियों की स्थिति समाज में दयनीय थी। समाज में पर्दा प्रथा नहीं थी, और मनु स्वीकार करते हैं कि कोई भी बलपूर्वक स्त्रियों की रक्षा नहीं कर सकता था (9,10)।

(घ) **राजा**— स्मृतियों ने राजतंत्र सरकार का वर्णन किया है। उसे मनुष्य के रूप में देवता माना गया है अतः बालक होने पर भी उसकी अवमानना नहीं करनी चाहिये (मनुस्मृति 7, 8)। अपनी शक्तियों (प्रभाव) के द्वारा वह अग्नि (आग), वायु (हवा), अर्क (सूर्य), सोम (चन्द्रमा), यम, कुबेर, वरुण और इन्द्र है (वही 7,7)। परन्तु यह ध्यातव्य है कि यद्यपि राजा देवता माना गया था पर अपनी महिमा के लिए तानाशाह नहीं हो सकता था। सिर्फ धर्म को कायम एवं लागू करने के लिए दंड देता था। किसी भी हालत में वह धर्म से ऊपर नहीं था। वास्तव में कहा गया है कि आलसी, विषयासक्त, निंरकुश और दुष्ट राजा को कानून ही नष्ट कर देता है। मनु के अनुसार (2,6) वेद, स्मृति, आचार (धर्मी व्यक्ति का आचरण) और स्वयं संतुष्टि, धर्म के स्रोत माने जाते थे। याज्ञवल्क्य ने और भी गौण स्रोतों को जोड़ा है— उदाहरण के लिए बात-विचार, परिषद और विद्वानों के निर्णय, अस्थायी आवश्यकताएँ जो किसी के कर्तव्यों के परस्पर विरोधी न हों, राजाज्ञाएँ, संघों और निगमों के विशेष व्यवहार और स्थानीय प्रथाएँ। मनु ने (1,118) देश (देशधर्म) जाति (जाति धर्म) परिवार (कुलधर्म), विधर्मी (पांखड) और निगमों (गण) के कानूनों का भी उल्लेख किया है।

धर्मशास्त्रों ने सिर्फ क्षत्रिय को ही राजा माना है परन्तु इतिहास गवाह है कि दूसरी जातियों के भी राजा हुए हैं। राजा अपनी प्रजा और राज्य की भलाई और उन्नति के लिए नियन्त्रित और अध्यवसायी जीवन जीता था। दुर्वह जिम्मेदारियों को निबाहने में वह सात अथवा आठ मंत्रियों वाले मन्त्री मंडल की सलाह लेता था और इन मत्रियों द्वारा राजा की आज्ञाओं का मान-मर्दन होता था, चाहे वे आज्ञाएँ सचिवों द्वारा पास कर दी जाती थीं। राजा अपने राजमहल से सटे सभा कक्ष में प्रजाओं के आवेदन लेकर उन्हें दंड देकर धार्मिक पश्चात्ताप द्वारा और अपराध के स्वभाव और पार्टी की स्थिति के अनुसार दूसरे दंड देकर उनके मुकदमों का निर्णय करता था। सलाहकारों (अमात्य या मंत्री) के अलावे छोटे-बड़े अधिकारी समूह जैसे गुप्तचरों से सहायता प्राप्त महापात्र, की सहायता से राज्य चलाता था। राज्य के मुख्य विभाग निम्नलिखित थे—

1. चारकर्म— जासूस जो सभी ओर और सभी पर पैनी नजर रखते थे।
2. वित्त विभाग— आय और व्यय की देखभाल और शायद खजाने का और सुरंग खोदने का निरीक्षण करता था।
3. सेना— आन्तरिक शान्ति कायम करना, शत्रुओं को मार भगाने का काम करता था।
5. पुलिस विभाग— अपराधियों को पकड़ने और राज्य में कानून और व्यवस्था कायम करता था।

(ङ) **न्याय विभाग**— यह न्याय देने और झगड़े शान्त करने का काम करता था। अंत में कुछ शब्द राज्य के विभाजन और स्थानीय प्रशासन के बारे कहा जा सकता है। सम्पूर्ण राज्य (राष्ट्र), देश अथवा जनपद (क्षेत्र अथवा प्रान्त) में बँटा था। इसके बाद उसका फिर से विभाग नगर (शहर) अथवा पुर (नगर) और ग्राम (गाँव) में विभाजन हुआ। एक नगर अथवा शहर में ऐसे अधिकारी रखे जाते थे जो नागरिकों के बीच भय और विश्वास पैदा कर सके। इसके अलावा वे शहरी जीवन संबंधी सभी मामलों को देखते थे। गाँव, ग्रामिक के अधीन रहता था। पारिश्रमिक के रूप में उसे सभी आवश्यक भोजन, इंधन और पेय पदार्थ ग्रामवासी देते थे (मनुस्मृति 7,118) उसके ऊपर गाँवों के अधिकारी (विशी)

रहते थे, जिन्हें एक कुल की जमीन (छः जोड़े बैलों द्वारा जोते जाने के लिए पर्याप्त भूमि) मिलती थी। इनके ऊपर बीस गाँवों के अधिकारी (विशी) पाँच कुल की जमीन प्राप्त करते थे, सौ गाँवों के अधिकारी (शतेश अथवा शताध्यक्ष) अपने जीवन निर्वाह के लिए एक गाँव प्राप्त करते थे और हजार गाँवों के (सहस्रपति) अधिकारी को शहर का टैक्स मिलता था। (मनुस्मृति 7,115, 118, 119)।

न्याय– समितियाँ प्रायः झगड़ों के 19 कारण बताती हैं– ऋण, बिना अधिकार के किसी चीज को बेचना, घेरा और विभाग निश्चित करना, वेतन का भुगतान नहीं करना, संधियों का अतिक्रमण, साझेदारी, व्यभिचार, मिथ्यापवाद, हिंसा, चोरी, डकैती आदि। इस प्रकार दीवानी और फौजदारी दोनों प्रकार के मुकदमे होते थे। जो चोरी के दोषी होते या उन पर शक भी यदि होता था तो उन्हें साथ शपथ अथवा कठिन परिश्रम द्वारा अपनी निर्दोषता सिद्ध करनी पड़ती थी, कभी-कभी शपथ और कठिन परिश्रम दोनों एक साथ करनी पड़ती थी। मनु (8,114) अग्नि और पानी दो प्रकार की कठिन परीक्षा का उल्लेख करते हैं। परन्तु याज्ञवल्क्य और नारद ने दो प्रकार की सजा जोड़ दी– गर्म पानी से जलाना, और जहर देना। बृहस्पति स्मृति के अनुसार सजा नव प्रकार की थी और सजा, कष्ट अथवा पीड़ा बहुत कठिन थी। उदाहरण के लिए गाय चुराने वाले की नाक काट दी जाती थी। जिसने अनाज अथवा चाँदी अथवा सोने चुराये हो उस को फाँसी की सजा मिलती थी (बृहस्पति स्मृति 8,320, 321)। किसी भी प्रकार के देशद्रोह की सजा फाँसी होती थी। ब्राह्मण का दोष सिद्ध होने पर उसे जाति से बाहर कर दिया जाता था, साथ ही संपत्ति संबंधी अधिकार छीन लिए जाते थे। मनु (8,380) ने लिखा है कि ब्राह्मण कोई भी अपराध करे उसकी हत्या नहीं होनी चाहिये केवल देश निकालने की सजा होनी चाहिये। एक ही समय में समान दोष के लिए मनु (8,336) अलग-अलग दंड का निर्धारण करते हैं-सामान्य व्यक्ति के लिए कार्षापण और सम्पन्न के लिए एक हजार कार्षापण। यह शायद इसलिए था कि अधिक प्रतिष्ठित जानकर, प्रभावशाली व्यक्ति की सजा उतनी ही अधिक होनी चाहिये।

दीवानी कानून में बाद की स्मृतियाँ अनुबन्ध और व्यापार में साझेदारी का वर्णन करती हैं-ऐसा विचार जो पहले की कृतियों और सूत्रों में उल्लिखित नहीं था, उदाहरण के लिए अनेक ब्राह्मण धर्मानुष्ठान एक साथ करके दक्षिणा (फीस) को आपस में बाँटते थे, परन्तु याज्ञवल्क्य साझा सिर्फ व्यापार और कृषि को कहते हैं (2, 265)। इसी प्रकार नारद और बृहस्पति साझा का उल्लेख करके यह बताते हैं कि किस प्रकार साझा बँटवारा होना चाहिये। कानून की किताबें यह भी बताती हैं कि उस समय ऋण देने का व्यवसाय खूब उन्नत था, और ऋणग्राही को जाति के अनुसार सूद 5: 16: तक था। परन्तु सूदखोरी को अधिक बढ़ावा नहीं था। ब्राह्मण से यही उम्मीद की जाती थी कि वह सूद की दर अधिक ऊँचा न करे। ऋण नहीं चुकाने की स्थिति में शूद्र द्वारा ऋणदाता के यहाँ अनशन बैठने की भी चर्चा स्मृतियों में की गई है।

(च) **टैक्स**– टैक्स हल्के और न्याय संगत होते थे। राजा को सलाह दी जाती थी कि वह प्रजाओं के ऊपर टैक्स का बोझ न लादे और न अनुचित एवं लोभी तरीके ही अपनाये। महाभारत में राजा को कहा गया है कि जिस प्रकार मधुमक्खी फूलों का रस चूसती अथवा बछड़े गाय का दूध पीते हैं उसी प्रकार वह प्रजा से टैक्स वसूल करे (शान्ति पर्व 63.4-8)। मनु (7, 130) ने राजा को अनुमति

दी है कि वह व्यापारियों से पशुधन और सोने से प्राप्त आमदनी का 1/6, 12/8 और 1/12 हिस्सा कृषि से मिलने वाले धान आदि ले और घी, मधु, सुगन्धित-द्रव्य, सब्जियों, फलों और कंदों से होने वाली आमदनी का 1/6 भाग ले। शिल्पकार, लुहार और श्रमिक टैक्स के रूप में एक दिन राजा के लिए मुफ्त काम करते थे (7,138)। अंत में यही कहा जा सकता है कि उत्पाद शुल्क, सीमा अथवा मार्ग कर, घाटों में लगने वाला टैक्स आदि राज्य की आमदनी के स्रोत थे।

(छ) **पेशा और व्यापार**— स्मृतियाँ कारीगरी का उल्लेख कर नागरिकों की भौतिक स्थिति का कुछ संकेत करती हैं। समाज में लुहार, सुनार , तेली, रंगसाज, दर्जी, धोबी, कुम्हार, चमार, आसवक, धनुष-तीर निर्माता, बढ़ई और धातुओं से काम करने वाले थे। इनके यान्त्रिक और कारीगर ये समाज के महत्वपूर्ण अंग माने जाते थे।

अधिकांश लोगों का मुख्य पेशा कृषि था, परन्तु व्यापार भी लोग करते थे। व्यापार, वस्तुओं की अदला-बदली और सिक्कों, जैसे सोना (सुवर्ण), चाँदी, धर्ण और शतमान और ताम्बा कार्षापण (8, 135-136) से होता था। राजा वस्तुओं का दाम निश्चित करता था और किसी के मिलावट अथवा कम या झूठे तौल और वजन में दोषी पाये जाने पर दंड मिलता था। अकाल के समय अनाज बाहर भेजने की सख्त मनाही थी। उस समय अच्छे-अच्छे व्यापार के मार्ग थे परन्तु कभी-कभी सुरक्षित नहीं भी रहते थे। नावों से नदियों को पार करते थे। भूमि पर गाड़ियाँ और जानवर इधर-उधर माल ढोते थे।

15. **आर्यों का मूल स्थान**— आर्यो के मूल स्थान के सबंध में विद्वानों के अनेक मत है। कुछ विद्वानों ने उन्हें सिन्धु घाटी का मूल निवासी माना है। परन्तु वर्तमान के इस विचार में बहुत ही कठिनाइयाँ है और बहुत से भारतीयों अथवा भारत के बाहर भी किसी के द्वारा ग्राह्य नहीं, सच तो यह है कि आर्य मध्य एशिया में पहले निवास करते थे, और वहीं से उनके एक झुंड ने उत्तरी पश्चिमी भारत में प्रवेश किया। इस परिच्छेद में इसी मत के पक्षधर भारतीय विद्वानों के गहन अध्ययन को प्रस्तुत किया जा रहा है।

आर्यों के मूल स्थान के बारे में अनेक भारतीय इतिहासकारों ने सच्चाई सामने रखी है। (क) पूर्व प्रधानमन्त्री जवाहरलाल ने भारत की खोज पृ. 64 में इस प्रकार लिखा है—'प्रसिद्ध तीर्थयात्री आई सिंग चीन से भारत आये थे। उन्होंने अपनी यात्रा के दौरान लिखा था कि "उत्तरी जातियाँ अर्थात् मध्य एशिया के लोगों ने भारत को पहले (Hsin-tu) हिन्दू और बाद में उपयुक्त नाम Noble land (आर्यदेश) कहा।" जवाहरलाल नेहरू ने आगे आर्यों के बारे में मूल देश का नाम नहीं लेते हुए कहा है—"आर्यों का प्रवेश सिन्धु घाटी में 1000 वर्ष उत्तर पश्चिम भारत में हुआ। वेदों में आर्यो के भावोदगार थे, जिन्हें आर्यों ने अपने मूल स्थान से लाया। परन्तु वेद की वास्तविक रचना 1500 ई. पूर्व इन्होंने ने भी माना (वही, पृ. 67)। आर्यों ने अपने साथ सामान्य स्टॉक भी लाया और भारत की भूमि में विस्तार किया। इसी स्टॉक से ईरान में अवेस्ता पनपी। यही कारण है अवेस्ता, संस्कृत से भी वेद के ज्यादा निकट है। आर्यों के भारत आगमन ने जातीय और राजनीतिक समस्याएँ उत्पन्न की। इन्होंने सिन्धु घाटी के द्रविड़ियन को हराया। परन्तु आर्यों की संस्कृति द्रविड़ियन संस्कृति से बेहतर थी, यह कहना संदेहास्पद है। इनके अलावे आदिवासी जातियाँ भी थीं, जंगलों में घूमती रहती थीं। यह आर्य और अनार्य का विभाजन

पहले हुआ, इसके बाद द्रविड़ियन और आदिवासी जातियों के बीच विभाजन हुआ। आर्य शब्द "till" अर्थात् खेत जोतने से आता है। आर्य खेतीहर थे और खेती महान कार्य समझा जाता था। जमीन जोतने वाले पुरोहित, सैनिक और व्यापारी भी थे। जाति भेद का मूल उद्देश्य आर्य और अनार्य को अलग करना था। समाज चार वर्गों में बँट गया— ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य इन तीन जातियों के नीचे शूद्र या श्रमिक हुए। ये कृषकों के अलावे थे। बहुत से स्थायी आदिवासियों को भी शामिल किया गया और समाज के नीचे उन्हें जगह मिली। इस प्रकार वे शूद्र कहलाये। मिलाने का काम चलता रहा। चौथा वर्ग शूद्र हुआ।

आर्य शब्द का जातीय अर्थ नहीं रह गया और उसका अर्थ 'कुलीन' हुआ और अनार्यों को अकुलीन और जंगल में रहने वाला अर्थ दिया गया। आर्यों ने न केवल समाज को परन्तु जीवन को भी चार भागों में बाँटा-ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, वानप्रस्थ और सन्यास (वही पृ. 69)

(ख) रोमिला थापर — A History of India पृ. 18-30— एक समय यह परम्परा थी भारत का पहला राजा स्वयंभू था (स्वयं उत्पन्न मनु)। मनु ब्रह्मा का पुत्र था और उभयलिंगी था। शरीर के नारी भाग से उसे दो पुत्र और दो पुत्रियाँ हुई। वहीं से मनुओं की श्रृंखला चलती है। उसमें से एक पृथु कहलाया जो पृथ्वी का पहला प्रतिष्ठित राजा हुआ और पृथ्वी नाम उसी ने दिया। उसने जंगल साफ किया खेती की शुरूआत की, व्यापार भी शुरू किया आदि। परन्तु दसवाँ मनु सब से अधिक प्रसिद्ध था। इसी के समय बाढ़ में पृथ्वी की सब चीजें डूब गई थीं केवल यह बच निकला। विष्णु ने उसे एक नाव बनाने को कहा। भगवान के कहे अनुसार उसने नाव बनायी और उसमें अपने परिवार और सात प्राचीन ऋषियों के साथ नाव में प्रवेश किया। विष्णु ने एक विशाल मछली का रूप धारण किया। उसकी सींग से नाव बँधी गई। लक्ष्मी के रूप में विष्णु जहाज को तैराते हुए पहाड़ की चोटी पर ले गये। पानी के कम होने तक मनु जहाज में ही पर्वत के शिखर पर रहा। बाढ़ से पृथ्वी की सारी सृष्टि नष्ट हो गई थी; केवल मनु और उसका परिवार एवं सात ऋषि बच गये। मनु और उसके परिवार से ही मानव जाति बढ़ी और फैली। मनु के नौ पुत्र थे। सब से बड़ा उभयलिंगी था अत: दो नाम से जाना जाता था इल और इला। इसी पुत्र से दो वंश पीढ़ी हुई। सूर्यवंश इल से और चन्द्रवंश इला से हुआ।

यह कथा पुराणों और ब्राह्मण ग्रन्थों में वर्णित है। बाढ़ बहुत हजारों वर्षों-पहले हुआ है। पुराणों के अनुसार मनु की संतान का वंश, महाकाव्य समय के राजाओं अर्थात् रामायण और महाभारत के नायकों के समय का है। महाभारत में मनु का समय 3102 बी.सी. है। यदि भारतीय इतिहास जानने के लिए सिर्फ यही साहित्यिक स्रोत रहता तो परिचर्चा सीमित रहती; परन्तु 18वीं सदी के बाद और 19 वीं सदी के पहले पारस्परिक कहानी से भिन्न इतिहास जानने के लिए ठोस भाषा शास्त्रीय प्रमाण मिला।

(ग) भारत में संस्कृत के यूरोपीय विद्वानों ने पाया कि संस्कृत भाषा अपनी संरचना और संभवत: ध्वनि में ग्रीक और लैटिन से मिलती जुलती है, इसी से सामान्य भाषा सिद्धान्त की शुरूआत हुई, जिसे 'इंडो यूरोपियन' के लोग बोलते थे। 'इंडो यूरोपियन' आर्य जाति के पूर्वज थे। इंडो यूरोपियन जाति कस्पियन समुद्र और दक्षिणी रूस के घास के मैदान से निकल कर क्रमश: अनेक जातियों में बँट गई। चारागाह की खोज में ग्रीस और एशिया माइनर, ईरान और भारत में फैल गयी। भारत में पहुँच कर वे आर्य कहलाये। इस तरह भारतीय इतिहास आर्यों के भारत आगमन से शुरू होता है। आर्यों का आगमन दूसरी सहस्राब्दी ईसा पूर्व में हुआ।

(घ) 1921-22 ई. में पुरातत्व विज्ञान द्वारा भारत के उत्तर पश्चिम में आर्यो के पूर्व की सभ्यता का पता चला। मोहनजोदड़ो और हड़प्पा सिन्धु घाटी के दो सभ्य केन्द्र थे। हड़प्पा-सभ्यता ईस्वी पूर्व 3000 बी. सी. से 15000 बी. सी. तक की है। हड़प्पा संस्कृति और मनु के परिवार की संस्कृति बिल्कुल अलग थी।

इस प्रकार भूत की जानकारी के लिए दो मुख्य स्रोत हैं—

1. ऐतिहासिक, जो पुरातत्व प्रमाण के साथ है और वैदिक साहित्य से उत्पन्न होता है।

2. परम्परा, जिसमें पुराण की कहानियाँ निहित हैं। पुराणों की रचना वेदों के बाद हुई है।

ऐतिहासिक घटनाओं का अनुक्रम इस प्रकार है—

सिन्धु घाटी सभ्यता का द्वितीय सहस्राब्दी ईसा पूर्व ह्रास हुआ और प्राय 1500 ईसा पूर्व तक पूर्ण रूप से विघटित हो गया। इसी समय आर्यो ने भारत के उत्तर-पश्चिम में प्रवेश किया। आर्य अथवा इंडोआर्य, इंडो यूरोपियन के वंशज थे। इन्होंने कुछ समय के लिए वैक्ट्रिया और उत्तरी इरानियन प्लेटों में भी निवास किया था। हिन्दुकुश की घाटियों से होते हुए भारत में पहुँच कर भी प्रारंभ में चारागाह की खोज में ये पंजाब के मैदानी भागों में घूमते रहे। ये मुख्यतः पशुपालक थे। बाद में जंगलों को काटकर एवं साफ करके गाँवों में समुदाय बना कर रहने लगे और कृषि करने लगे। इसी समय ऋग्वेद के मंत्र याद किये जाने के साथ संगृहीत भी किये गये।

पुराणों में परम्परागत विवरण अनेक शताब्दी बाद (c 1500 ईसा पूर्व और 500 ईसवी सन् के बीच संग्रहीत हुए। इसलिए वर्णित घटनाओं में भिन्नता है। वे घटनाएँ पूर्ण रूप से मनगढ़ंत नहीं हैं, क्योंकि वे ऐतिहासिक घटनाओं के संदर्भ में है।

'मनु' शब्द मानव के लिए जातीय आधार है, और मानव का अर्थ है 'मानव जाति'। पृथु ने जंगलों को साफ कर खेती की शुरूआत की। इस वर्णन में भी गंगा यमुना क्षेत्र में प्रारंभिक आर्यों के बसने की प्रतिध्वनि है। बाढ़ की कथा बेबिलोनियन दन्तकथा की याद कराता है और साथ ही हिन्दू कथा 'नोअ की नाव' से गृहीत है। जब आर्य ईरानियन प्लेटों में रह रहे थे और बेबिलोनियन जाति के सम्पर्क में थे, उन्हीं से बाढ़ की कथा सुनी थी। अथवा सिन्धु घाटी जाति ही की एक दन्तकथा है, जिसे सिन्धु घाटी के आर्यों ने बेबिलोनियन जाति से सुनी थी। आगे संभावना यह भी हो सकती है, सिन्धु घाटी में हमेशा बाढ़ की उलझन, जिससे मेसोपोटामियन बाढ़ की धुंधली याद आर्यों को हो। इस प्रकार बेबिलोनियन कथा को आर्यों ने अपनाया।

(ङ) D.N. Jha-Ancient India : An Introductory outline Pag : 10-18—हड़प्पा सभ्यता 2300 बी. सी. और 1750 के बीच की है। इसके बाद यहाँ अर्द्धयायावर और पशुचारी आर्य आये। दयानन्द सरस्वती ने आर्य सभ्यता को सभी भारतीय परम्परा की जड़ माना और वेदों को आर्यो का प्राचीनतम पवित्र ग्रन्थ माना। उसके अनुसार सिन्धु घाटी के निवासी भी आर्य थे। जातीय पक्षपात वश उन्होंने यह भी कह दिया कि भारतीय संस्कृति की श्रेष्ठ उपलब्धि भी आर्यो की ही होगी। उन्नीसवी सदी के बाद यूरोप में रोमान्टिक आन्दोलन आर्य जाति के विचारों से प्रेरित था। उदाहरण के लिए गोविन्यु

ने इसी आधार पर अपने विचारों को व्यक्त किया। डी.डी. कोशम्बी के मत का समर्थन करते डी. एन. झा ने भी 'आर्य' शब्द का घृणित जातीयवादी अर्थ दिया (दे. डी. डी. कोसम्बी के मत)। नरकंकाल और खोपड़ियाँ जो मोहनजोदड़ो में पाई गई उनमें से कुछ लम्बी नाक और सिर वाले थे। परन्तु जाति की पूर्ण धारणा, कंकाल नाप और रंग (बाल चमड़ा और आँख का रंग) द्वारा प्रामाणिक नहीं मानी गई। जीव-विज्ञान में भी खोज हुई और निष्कर्ष निकला कि लम्बे समय के पश्चात् किसी भी मानव जाति में खून की शुद्धता नहीं रह जाती है। फिर भी लगभग 2000 वर्ष ईसा पूर्व लोगों का जो समूह निकट संबंध भाषा बोलता था, आर्य कहलाया। ये भाषाएँ सारे यूरेशया में फैली थीं। संस्कृत, लैटिन, ग्रीक जरमानिक (जर्मन, इंगलिश, स्वीडिश) स्लाभ (रसियन, पोलिश आदि) रोमांस (इटालियन, स्पनिश, फ्रेंच, रूमानिया) ये आर्य भाषाएँ थी। इन भाषाओं के बीच समानता होने के कारण आर्यो का सामान्य मूल निवास था, जो संभवत: विशाल घास मैदान है जो पोलैंड से मध्य एशिया तक फैला है। इसी स्थान से आर्य एशिया और यूरोप में आये। कुछ आर्यो ने यूरोप पर आक्रमण किया और ग्रीक, लैटिन, सेल्टस और ट्यूटोन के पूर्वज बने। दूसरे ने अनातोलिया में प्रवेश किया जहाँ हित्ती साम्राज्य पनपा। कुछ आर्य अपने पुराने घर में ही रह गये और वे ही बाद में बाल्टिक और स्लाभोनिक लोगों के पूर्वज बने।

आर्य भाषा बोलने वालों की एक शाखा दक्षिण ईरान की ओर बढ़ी, वहाँ से बबीलोनिया में प्रवेश किया। ईरान के पठार से दक्षिण पूर्व भारत की ओर बढ़े और उत्तर पश्चिम भारत में सिन्धु घाटी में प्रवेश किया। उन्हें सिन्धु घाटी सभ्यता का सामना करना पड़ा।

भारत को जीतने में आर्यों को अनेक शताब्दियों को पार करना पड़ा। विजयी आर्यों में अनेक जातियाँ थीं। जो कही-कहीं एक दूसरे से भिन्न थीं। प्रारंभ में आर्यो के इतिहास को वेदों से जाना जा सकता है, जो कि शायद इंडो यूरोपियन भाषा समूह की प्राचीनतम साहित्यिक अवशेष है। वेद का अर्थ है 'ज्ञान' या जानना। वेद चार हैं– ऋग्वेद, यजुर्वेद, साम वेद और अथर्ववेद। ऋग्वेद में 1028 स्रोत हैं, प्राय: देवताओं के पास प्रार्थनाएँ हैं। यजुर्वेद में गद्य और पद्य में यज्ञीय फॉरमूले हैं जिसे पुरोहित यज्ञ करते समय स्वर पाठ करता है। सामवेद में ऋग्वेद से लिए गये पूजन संबंधी मंत्र हैं। अथर्ववेद में जादू टोना की चर्चा है। प्रत्येक वेद में विभिन्न व्याख्यात्मक गद्य में नियमावली है जो ब्राह्मण ग्रन्थ कहलाते हैं, जिनके समाप्ति अंश आरण्यक कहलाते हैं। उपनिषद् आरण्यक ग्रन्थों की टीकाएँ है।

काल क्रमिक स्तर पर वेदों को दो भागों में बाँट सकते हैं पूर्व वैदिक 1500 वर्ष ईसा पूर्व और 1000 वर्ष ईसा पूर्व के बीच का समय। इस समय ऋग्वेद के बहुत से मंत्रों की रचना हुई। उत्तर वैदिक 1000 वर्ष ईसा पूर्व से लेकर 600 वर्ष ईसा पूर्व तक। इस समय बाकी वेद और उनकी शाखाओं की रचना हुई। इन्हीं दो अवधियों में आर्यो का विस्तार भारत में हुआ।

(च) **दामोदर धर्मानन्द कोसम्बी**– प्राचीन भारत की संस्कृति और सभ्यता– पृ. 60-99

संस्कृत में और इससे प्रभावित अधिकांश भारतीय भाषाओं में 'आर्य' शब्द का अर्थ है– 'स्वतंत्र,' 'श्रेष्ठ' अथवा तीन उच्च वर्णो का सदस्य। अन्य अनेक शब्दों की तरह, विगत शताब्दियों में इस शब्द को भी बदला है। बाद के दिनों में यद्यपि इसका इस्तेमाल 'महोदय' अथवा 'श्रीमान्' जैसे आदर सूचक शब्दों के अर्थ में हुआ है, किन्तु एकदम आरंभिक दिनों में यह शब्द मानव जातीय समूह के रूप में किसी

विशेष कबीले या कबीलों का सूचक था। अधिकांश इतिहासकार इन्हीं प्राचीन आर्यों से भारतीय इतिहास शुरू करते है। कुछ लेखक अब भी यह मानते हैं कि सिन्धु सभ्यता के जनक आर्य लोग थे। इस मत का कारण यह पूर्वाग्रह है कि भारतीय संस्कृति की प्रत्येक उच्च उपलब्धि आर्यो की देन हो सकती है। जर्मनी के भूतपूर्व नाज़ी शासन तथा उसके अधिकृत शासन ने जातीयवाद अर्थ दिया, उससे उलझन और भी बढ़ गई। इस विषय में यह भी कुछ सन्देह स्वाभाविक है कि वस्तुत: कोई आर्य कभी थे भी या नहीं और यदि थे, तो वे किस तरह के लोग थे।

आर्यो की प्रमुख विशेषता है एक ऐसी विशेषता जिसके कारण एक बड़े जनसमूह के लिए यह नाम उचित जान पड़ता है— उनका एक सामान्य भाषा परिवार। ये महत्वपूर्ण भाषाएँ सारे यूरेशिया में फैली हुई हैं। संस्कृत, लैटिन तथा यूनानी प्राचीन आर्य भाषाएँ थीं। लैटिन से दक्षिणी यूरोप में रोमांस भाषा समूह (इतावली, स्पेनिश, फ्रान्सीसी, रूमानियन आदि) का विकास हुआ। इसके साथ ही ट्यूटॉनिक (जर्मन, अंग्रेजी, स्वेडिश आदि) और स्लाव (रूषी, पोलिश आदि) भाषा वर्ग भी आर्य भाषा परिवार के अन्तर्गत आते हैं। अनेक वस्तुओं के शब्दों की आपस में और आर्येतर भाषाओं के शब्दों से तुलना करके देखने पर यह बात सिद्ध हो जाती है। यूरोप की फिनिश, हंगेरियन तथा बास्क भाषाएँ आर्य परिवार की नहीं है। हिब्रु और अरबी भले ही इन भाषाओं के स्रोत सुमेर की प्राचीन संस्कृति तक पीछे हो, आर्य भाषाएँ नहीं है, ये सेमेटिक भाषाएँ हैं। तीसरा विस्तृत आर्येतर भाषा परिवार चीनी-मंगोलाई है, जिसके अर्न्तगत चीनी, जापानी, तिब्बती, मंगोलाई तथा अन्य अनेक भाषाओं का समावेश होता है। यह भाषा परिसर संस्कृति और ऐतिहासिक दृष्टि से सर्वाधिक महत्त्व का है, यद्यपि भारत के लिए इतना नही। इंडो आर्य भाषाएँ संस्कृत से विकसित हुई हैं। इस प्रकार आरंभ में विकसित हुई भाषाएँ हैं— पालि, जो मगध में बोली जाने के कारण मागधी भी कहलाती है, और अन्य अनेक प्रान्तीय प्राकृत भाषाएँ और इन्हीं से हिन्दी, पंजाबी, बंगला, मराठी आदि आधुनिक भाषाएँ निकलीं। किन्तु भारत में आर्येतर भाषाओं का भी एक विस्तृत और सांस्कृतिक दृष्टि से महत्वपूर्ण वर्ग है, जिसमें द्रविड़ समूह के अन्तर्गत तमिल, तेलगु, कन्नड़, मलयायम तथा तुलु भाषाओं का समावेश होता है। इनके अलावा छोटे-छोटे कबीलों की बहुत सारी बोलियाँ हैं, जिनसे हमें भारतीय भाषाओं का समावेश होता है। इनके अलावा छोटे-छोटे कबीलों की बहुत सारी बोलियाँ हैं, जिनमें भारतीय भाषाओं की आरंभिक अवस्थाओं के बारे में काफी जानकारी मिलती है। एक समय इन सब बोलियों को 'आस्ट्रिक' भाषा-परिवार के अन्तर्गत रखा जाता था, परन्तु मुंडारी, उराँव, टोडा आदि के बीच के अन्तर को देखते हुए यह शब्द अब अनुपयुक्त समझा जाने लगा है। अब मुख्य प्रश्न है : क्या भाषा समुदाय या भाषा परिवार के एक समूह के उद्गम के आधार पर यह निष्कर्ष निकालना न्यायसंगत है कि किसी आर्य जाति या आर्यजनों का कोई अस्तित्व था?

प्रजाति शब्द की चाहे जितनी लचीली व्याख्या की जाये, यह मानना कठिन है कि स्केण्डेनेविया के गौरांग और सांवले निवासी और बंगाली एक ही प्रजाति के हैं। इसलिए यूरोप की चोटी के कुछ भाषाविद् करीब एक सदी पहले ही इस निष्कर्ष पर पहुँचे थे कि आर्य जाति की बात उसी प्रकार हास्यापद है, जिस प्रकार 'लघुकापालीयव्याकरण' की। आर्य एक भाषाशास्त्रीय शब्द है, मानवजातीय ईकाई से इसका कोई संबंध नहीं। फिर भी यह एक सच्चाई है कि प्राचीन काल में ऐसे लोग मौजूद थे

जो स्वयं को आर्य कहते थे और दूसरे लोग भी इन्हें आर्य कहते थे। हखमनि सम्राट् दारयबहु प्रथम (दारा या डेरियसः मृत्यु 459 ई पू) अपने अभिलेखों में अपने बारे में कहता है 'हखामनिशिय, पार्स , पार्शपुत्र, आर्य वंशज आर्य। अतः आर्यो का एक ऐसा ऐतिहासिक जन समुदाय था जिसमें हखमनि कुल और पारसी कबीले का भी समावेश होता था। पवित्र वेद प्राचीनतम भारतीय ग्रन्थ है— और इनके अनुसार आर्य लोग वे हैं जो वेदों में वदित देवताओं की उपासना करते हैं। तिथियुक्त अभिलेखों और हस्तलेखों से क्रमशः पीछे जाते हुए भारत की समस्त लिखित सामग्री को, वेदों को भी, एक प्रकार के कालक्रम में आयोजित करना संभव है। परवर्ती ग्रन्थ पूर्ववर्ती ग्रन्थों का या तो उल्लेख करते हैं या उनका अनुकरण करते हैं। भाषा की प्राचीनता से पूर्वकालिकता सिद्ध होती है। इस प्रकार ऋग्वेद प्राचीनतम ग्रन्थ सिद्ध होता है; इसके बाद यजुर्वेद (जिसकी शुक्ल और कृष्ण दो शाखाएँ हैं) और सामवेद का स्थान है, और काफी बाद में अथर्ववेद की रचना हुई; जिसमें तंत्र पर विशेष बल दिया गया है। एक संगत अनुमान है कि ऋग्वेद के अधिकांश भाग की रचना लगभग 1500-1200 ई. पू. के बीच पंजाब में हुई, अथवा कम से कम इसमें उल्लिखित घटनायें इस काल की हैं। परन्तु भारत के बाहर के आर्यो की तरह ये वैदिक आर्य भी उसी प्रकार आपस में निरन्तर लड़ते हैं, जिस प्रकार अनार्य, आर्य लोगों से लड़े। अतः यह निष्कर्ष युक्तिसंगत जान पड़ता है कि आर्य भाषाएँ बोलने वाले केवल कुछ ही लोग अपने को आर्य कहते थे। दारयबहु के पुत्र क्षयार्ष की सेना में आर्य नामक टुकड़ियाँ थीं, और यह भी जानकारी मिलती है कि मीडियावासी, जो पारसियों के पहले हुए, आरंभ में 'आर्य' कहलाते थे। ईरान शब्द की उत्पत्ति आर्यानाम् अर्थात् आर्यों के देश से हुई। यद्यपि यूनानी, फारसी और पंजाब के भारतीय लोग आर्य भाषाएँ बोलते थे, किन्तु सिकन्दर के समकालीन इतिहासकारों ने 'आर्य'शब्द का प्रयोग इस नामवाले केवल उसी कबीले के लोगों के लिए किया है जो उस समय सिन्धु नदी के दाहिने तट पर बसे थे। आदिम आर्य भाषा बोलने वाले मूल लोग किस प्रकार के थे? जैसा कि पहले बताया जा चुका है, आदिम भाषाओं में 'वृक्ष,' 'पशु,' मछली आदि जातिवाचक शब्दों के बदले हर प्रकार के पक्षी, पशु, मुरगा-मुर्गी तथा पौधे के लिए पृथक-पृथक शब्द है। उदाहरणार्थ भाषा शास्त्रियों ने, नितान्त स्थानीय शब्दों को छोड़कर 'वृक्ष' शब्द के लिए आर्य भाषाओं में पाये जाने वाले समान धातु-शब्दों की तुलना की है। इससे जान पड़ता है मूल आर्य में वृक्ष, भूर्ज था जो उत्तरी यूरोप और हिमालय में तो होता है, पर उष्ण जलवायु में नही। उनकी मछली संभवतः समान थी। इस प्रकार के विश्लेषण को आगे बढ़ाया जा सकता है। धरातल पर पौधों (जिसकी किस्में होती हैं और जो किस्में दूर-दूर तक यात्रा कर चुकी हैं, उन्हें छोड़कर) जंगली पशुओं, पक्षियों और मछलियों का सामान्य वितरण काफ़ी हद तक निर्धारित हो चुका है और ज्ञात है। उन पालतू किस्मों के बारे में कुछ छूट देनी होगी जिन्हें मनुष्य एक स्थान से दूसरे स्थान ले गये होंगे। उदाहरण के लिय 'चाय' और इसके लिए प्रयुक्त यह शब्द ऐतिहासिक काल में चीन से आया। इससे यह निष्कर्ष नहीं निकाल सकते कि 'चाय- ' आर्य शब्द अथवा आर्य पेय था कि चीनी एक आर्य भाषा है, या कि चीन आर्यो का मूल देश था। ऐसी संदिग्धताओं को दूर कर देने के बाद निष्कर्ष यह निकलता है कि मूल आर्य लोग यूरेशिया के उत्तरी क्षेत्रों से परिचित थे और संभवतः वही उनका मूल स्थान था।

भारत पर हमला करने वाले आर्यों के बारे में काफी कुछ कहा जा सकता है। लिखित और भाषित प्रमाणों के आधार पर भारतीय ईरानी लोगों के लिए ई. पू. दूसरी सहस्राब्दी के आगे 'आर्य' नाम

का प्रयोग निश्चय ही न्याय संगत है। पुरातत्व से हमें जानकारी मिली है कि ये खास आर्य, ईसा पूर्व दूसरी सहस्राब्दी के खानाबदोश लोग थे। उनके भोजन का मुख्य स्रोत और संपत्ति का मापदंड मवेशी थे जिन्हें वे चराते रहते थे। घोड़े को वे सामरिक दॉवपेचों के लिए प्रयोग करते थे (डी. डी. कोशम्बी-प्राचीन भारत की संस्कृति और सभ्यता पृ. 96)।

अपनी दूसरी पुस्तक (An Introduction to the study of Indian History page 91) में वे लिखते हैं कि वैदिक आर्य जिस स्थान में बसे उसे ऋग्वेद में सिन्धु या सात नदियों की भूमि कहा गया है जो कि पश्चिम में सिन्धु नदी अपनी प्रमुख सहायक नदियों से लेकर पूर्व में सरस्वती नदी तक है।

(छ) **द्विजेन्द्र नारायण झा और कृष्ण मोहन श्रीमाली :—** प्राचीन भारत का इतिहास पृ 115-116— सामान्यता वैदिक साहित्य की रचना का श्रेय आर्य लोगों को दिया जाता है। किन्तु ये आर्य कौन थे? चूँकि आर्य शब्द को लेकर समय-समय पर विद्वानों द्वारा नाना प्रकार की व्याख्याएँ एवं परिभाषा दी गई हैं, अत: आर्य शब्द के वास्तविक अर्थ के संबंध में अत्यन्त भ्रामक धारणाएँ प्रचलित रही हैं। प्राच्यविद्या के आरंभिक चरणों में इसका प्रयोग एक जाति के रूप में किया गया किन्तु ऐतिहासिक दृष्टि से आर्य नामक ऐसी 'जाति' की निश्चित पहचान संभव नहीं है, जो कि किसी काल विशेष में विश्व के किसी भी भाग में रहीं है। वास्तविकता तो यह है कि स्वयं जाति का ही निर्धारण अत्यन्त दुष्कर कार्य है। आज विश्व में कोई भी ऐसी शुद्ध जाति दृष्टिगोचर नहीं होती जिसके रहस्यों का उनकी भौतिक विशेषताओं के आधार पर वर्गीकरण किया जा सके। संक्षेप में यह कहा जा सकता है कि आर्यों को जाति विशेष से संबंध मानना अब कोई गंभीर मत नहीं समझा जाता। सामान्य पूर्वजों के निर्धारण के लिए भाषागत समानता को भी आधार माना गया है। परन्तु इतिहास इस बात का साक्षी है कि जाति के समान भाषा की शुद्धता को स्थायी रखना भी असंभव है। विश्व में शायद ही ऐसी कोई भाषा हो, जो न केवल अपनी शब्दावली, अपितु अपनी मूल अवधारणाओं के लिए भी अन्य भाषाओं की ऋणी न हों। यहाँ तक कि सभी एवं यूरोपीय भाषाओं को पूर्णरूपेण स्वतंत्र भाषा वर्ग माने जाने वाले विचार का भी अब परित्याग किया जा रहा है। परन्तु सापेक्षिक दृष्टि से इतना अवश्य कहा जा सकता है कि आर्यों की पहचान जाति की अपेक्षा भाषाई वर्ग से अधिक संभव है।

भारत के संदर्भ में ये लोग एक से अधिक जाति वर्गों के थे, जो सामूहिक रूप से भारोपीय भाषा वर्ग कहलाने वाली अनेक भाषाओं में से एक अर्थात् संस्कृत बोलते थे। यह विचार मोटे तौर पर ही मान्य हो सकता है। जहाँ तक इसके सूक्ष्म विवरणों का संबंध है, यह द्रष्टव्य है कि ज्यों-ज्यों इन लोगों का भारत में प्रसार होता गया, यहाँ के मूल निवासियों के साथ उनका मिश्रण अवश्यंभावी था। अत: आधुनिक शोध का यह निष्कर्ष तनिक भी विस्मयकारी नहीं है कि वैदिक साहित्य में जिस संस्कृत भाषा का प्रयोग हुआ है उसमें द्रविड़ भाषाओं का भी स्पष्ट प्रभाव दिखाई देता है। भारत में इन आर्यों की संस्कृत भाषा को भारोपीय भाषा का मान लेने से उनके मूल निवास स्थान की समस्या का समाधान नहीं होता क्योंकि यह कहना कठिन है कि विभिन्न भाषाओं की जननी मूल भारोपीय भाषा एवं ऐसे अनेक भाषाई प्रभावों का परिणाम हो सकती है जो उनके बोलने वालों की भौगोलिक निकटता के कारण उत्पन्न हुए हों। किन्तु भाषा विज्ञान संबंधी अध्ययनों से पता चलता है कि इस वर्ग की विभिन्न भाषाओं का प्रयोग करने वाले लोगों का संबंध शीतोष्ण जलवायु वाले ऐसे क्षेत्रों से था, जो घास से आच्छादित विशाल मैदान

थे। यह निष्कर्ष इस मत पर आधारित है कि भारोपीय वर्ग की अधिकांश भाषाओं में भेड़िया, भालू और घोड़े जैसे पशुओं और करंज (बीज) तथा भोजवृक्षों के लिए समान शब्दावली है। प्राप्य साक्ष्यों के आधार पर इस क्षेत्र की पहचान सामान्यतया दक्षिणी रूस अर्थात् सूराल पर्वत श्रेणी के दक्षिणी रूस अर्थात् सूराल पर्वत श्रेणी के दक्षिण में मध्य एशियाई इलाके के पास के 'स्टेप' मैदानों से की जाती है। पुरातात्विक साक्ष्यों से इस क्षेत्र से एशिया और यूरोप के विभिन्न भागों की ओर बहिर्गामी प्रवासन की प्रक्रिया के फलस्वरूप भारत के आर्यों का आगमन हुआ। यद्यपि इस घटना को सामान्यतया ईसा पूर्व 1500 का माना जाता है किन्तु इस संदर्भ में यह उल्लेखनीय है कि आर्यो की एक से अधिक लहर भारत में आई होगी। इस संभावना की इस प्रमेय से भी पुष्टि होती है कि हड़प्पा सभ्यता के पतन का एक कारण आर्यो का आक्रमण भी बताया जाता है।

(ज) V.K. Agnihotri -Indian History, p.: 46-47—हड़प्पा सभ्यता का स्थान लेने वाली एवं विरोध करने वाली संस्कृति, वैदिक अथवा वैदिक संस्कृति थी। इस संस्कृति के संस्थापक आर्य थे जो संभवतः आक्रमणकारी अथवा अप्रवासी लोग थे। उनका भारत में पहला आगमन ईसा पूर्व 2000 से 1500 के बीच हुआ। भारत में बसने के बाद आर्यो ने अनेक धार्मिक स्तोत्रों की रचना की जिसे 'ऋग्वेद' कहा गया।

1786 में सर विलियम जॉन्स ने बंगाल की एशियाटिक सोसाईटी को संबोधित करते समय यह सिद्ध करने की कोशिश की कि वैदिक संस्कृत का यूरोप की कुछ मुख्य भाषाओं जैसे ग्रीक, लैटिन, गोथिक, सेलटिक, पर्सियन, लिथुआनियन, जर्मन आदि के साथ निश्चित रूप से संबंध था। इस भाषा समूह को विद्वानों ने 'इंडो यूरोपियन' और बोलने वालों को यूरोपियनस नाम दिया। इससे पता चलता है कि सामान्य भाषा बोलने वालों का एक स्थान पर निवास था। वहीं से वे विश्व में फैल गये और कुछ भारत आये।

(झ) R.C. Majumdar—Ancient India Pgge : 28-31—मोहनजोदड़ो में प्राप्त मानव नरकंकाल और खोपड़ियों का वैज्ञानिक परीक्षण से पता चलता है कि वे नरकंकाल चार विभिन्न जातियों के थे—

1. प्रोटो आस्ट्रालाइड
2. भूमध्य सागरीय
3. अल्पोनोइड और
4. मोंगोलोइड।

परन्तु बहुत कम ही मानव कंकालों का परीक्षण हुआ जिससे निश्चित निष्कर्ष में नहीं पहुँचा जा सकता कि किन लोगों ने मोहनजोदड़ो की संस्कृति और सभ्यता बनाई थी, और उनकी जातीय बनावट क्या थी? इस पर विभिन्नताएँ हैं।

सब से अधिक स्वीकार्य मत यह है कि सिन्धु घाटी सभ्यता द्रविड़ियन अर्थात ऊपर उल्लिखित भूमध्यसागरीय प्रकार की थी। इसमें सन्देह नहीं है कि बाद के द्रविड़ियन भाषाओं और उनके बोलने

वाले की सभ्यता से सिन्धु धाटी की सभ्यता मिलती है। भाषा विज्ञान, पुरातत्व, नृतत्वशास्त्र तथा प्राचीन तमिल साहित्य आदि साक्ष्यों पर समवेत विचार करने से ऐसा प्रतीत होता है कि सैन्धव संस्कृति प्रधानतः द्रविड़ संस्कृति थी। काल्डवेल अपनी ग्रामर ऑफ दी द्रविड़ियन लैंग्वेज भूमिका पृ. 43-44 में लिखते हैं कि ब्लूचिस्तान की ब्राहुई भाषा में न केवल द्रविड़ भाषा के शब्द मिलते हैं किन्तु बहुसंख्यक मुहावरे भी बिखरे पड़े हैं। इसके अतिरिक्त अद्यावधि परीक्षित कपालों में भूमध्यसागरीय तत्व की बहुलता तथा तमिल संस्कृति की सैन्धव संस्कृति से अनुरूपता द्वारा भी इस विचार की पुष्टि होती है।

R.C. Majumdar - Ancient Indian Page : 30 में लिखते हैं कि करीब 2000 वर्ष ईसा पूर्व अथवा कुछ शताब्दी बाद साफ रूप रंग वाले, आर्य भाषा बोलने वाली जाति का धीरे-धीरे उत्तर पश्चिम से हिन्दुकुश को पार करते हुए, अफगानिस्तान से पार होते हुए भारत में प्रवेश हुआ। सिन्धु घाटी में निवास करने वाले द्रविड्यिन ने अपने अस्तित्व के लिए युद्ध किया। ऋग्वेद की अनेक रचनाएँ इनके युद्ध से संबंध रखती हैं (दे. अनार्य पंचम अध्याय)। परन्तु उन पर्वतारोही आक्रमणों का सामना वे नहीं कर सके। द्रविड़ियों की लाशें बिछ गयीं, और अन्त में आक्रमकों के हाथों पराजित हुए। आर्यो ने उनके पुरों और नगरों को नष्ट कर दिया, उनके घरों को जला दिया और बड़ी संख्या में उन्हें गुलाम बना दिया।

इस विजय से आर्यों का उत्साह बढ़ा और पूरे पंजाब को अधिकार में कर लिया। धीरे-धीरे उत्तर भारत के बड़े हिस्से पर भी अधिकार कर लिया। परास्त किये गये द्रविड़ियन एवं बचे हुए उनके पूर्वज उनकी अधीनता स्वीकार करके उनके दास हो गये। कुछ द्रविड़ियन ने दक्षिण की शरण ली, उनके वंशज अभी भी तमिल, तेलगु, कन्नड़ और मलयालम बोलते हैं। कुछ दूसरी जातियाँ उत्तर, दक्षिण और पूर्व की ओर मुड़ गईं और जंगलों और पहाड़ों में रहने लगीं। उनके वंशज कोल, भील, गोंड और बहुत सी हिमालयन जातियाँ अभी भी पाई जाती हैं, जिसके पूर्वज 4000 वर्ष पहले आर्यों से खदेड़े गये थे।

भारत में प्रवेश करने वाले आर्य इस प्रकार यहाँ देशज लोगों को हराकर भारत की भूमि में स्थान पा सके। इनका पूर्व— इतिहास है कि वे मानव जाति के बहुत प्राचीन भंडार से संबंध रखते थे। बहुत लम्बे समय तक ग्रीक, रोमन, जर्मन,अग्रेंज, डच, स्केन्डेनिविया, स्पनिश, फ्रेंच, रसियन, बलगारियन राष्ट्रों के पूर्वजों के साथ रहते थे। इसको इस सच्चाई से प्रकट किया जा सकता है कि कुछ शब्द उनके वंशजों द्वारा सामान्य रूप से बोले जाते हैं यद्यपि एक दूसरे से हजारों वर्ष पहले अलग हुए हैं। इस प्रकार शब्द पितर और मातर, लैटिन के pater और mater, ग्रीक के pater और mater, अंग्रेजी Father, Mother जर्मनी के vater और mutter से मिलते जुलते हैं जिसका अर्थ माता-पिता होता है। भाषा के समुह से बहुत विद्वान् अनुमान करते हैं कि भारत पर विजय पाने वाले आर्य ऊपर वर्णित अनेकों राष्ट्रों के जनक समूह थे। परन्तु भाषा समुदाय से खून के समुदाय एक होने का प्रमाण नहीं हो सकता है। उदाहरण बंगाली भाषा विभिन्न जातियों द्वारा बोली जाती है। इस का एक ही निश्चित निष्कर्ष यही निकाला जा सकता है कि इन सभी राष्ट्रों के पूर्वजों में बहुत समय तक किसी निश्चित स्थान में बहुत नजदीकी संबंध थे। दे. ऊपर Article on Aryan and Indo-European Languages in Encyclopaedia Britannica Comb-History Chapter III— बोगहज़कोई के शिलालेख की खुदाई से प्राप्त वैदिक देवता के चित्रों से सर्वसाधारण विचार तो यह है कि आर्य कहीं मध्य एशिया अथवा दक्षिण रूस में रहते थे। कुछ लोग इन्हें और उत्तर आर्कटिक प्रदेश, तो कुछ लोग उस स्थान का निवासी मानते हैं जहाँ अभी

अस्ट्रिया, हंगरी और योहेमिया के लोग रहते हैं।

जो कुछ भी हो इनमें से एक या अधिक समूह, और बाकी से अलग होकर भारत की ओर बढ़ा। परन्तु उस समूह में से कुछ वर्तमान के पर्सिया में बस गया, उसके वंशज अभी 'पारसी' कहलाते हैं। बाकी समूह के लोगों ने हिन्दुकुश पार करके सिन्धु घाटी में प्रवेश किया जैसे कि ऊपर कहा गया, द्रविड़ियन जाति को हरा कर पंजाब पर अधिकार कर लिया।

A. L. Basham—The wonder that was India Page : 29 — करीब 2000 ईसा पूर्व बर्बर, अर्द्ध यायावर, पोलैंड से मध्य एशिया तक फैलने वाले वृहत घास के मैदान में रहते थे। ये ऊँचे अपेक्षाकृत साफ रंग वाले और प्रायः लम्बे सिर वाले थे। इन्होंने घोड़े पाल रखे थे जिसे रथ जोतने के काम लाते थे। ये घोड़े उनके यातायात के साधन थे। वे मुख्यतः पशुपालक थे, परन्तु थोड़ी खेती करते थे। यद्यपि वे प्रत्यक्ष रूप से सुमेरियन के संपर्क में नहीं आये फिर भी मेसोपोटामियन लोगों की कुल्हाड़ी को अपना लिया।

दूसरी सहस्राब्दी के प्रारंभ में जनसंख्या के दबाव अथवा चारागाह की कमी अथवा दोनों कारणों से इन लोगों ने घास के मैदान से खिसकना आरंभ किया। झुंड के झुंड पश्चिम, दक्षिण और पूर्व की ओर मुड़ने लगे। यात्रा के क्रम में स्थानीय लोगों को जीतते भी जाते थे। साथ में विजित कन्याओं से विवाह भी करते थे, जिससे शासक वर्ग बन सकें। विजित स्थानों की भाषा को अपनी मूल भाषा के साथ अपनाने लगे। कुछ लोगों ने यूरोप पर आक्रमण किया और ग्रीक, लैटिन, सेल्ट्स और ट्यूटोनस् के पूर्वज बन गये। कुछ लोगों ने अनातोलिया में प्रवेश किया, वहाँ मूल निवासियों से मिलकर हित्ती साम्राज्य पनपा। कुछ आर्य अपने पुराने घर में ही रह गये और बाद में बाल्टिक और स्लोभोनिक लोगों के पूर्वज बने। कुछ दक्षिण की ओर मुड़े, काकशस और ईरान के पठार से मध्य एशिया सभ्यता पर आक्रमण किया। बबिलोन पर विजय पाने वलोकसीट्स इसी समूह के थे। ईसा पूर्व चौदहवीं शताब्दी उत्तरी पूर्वी सीरिया में 'मितन्नी' कहे जाने वाले लोग रहते थे, जिनके राजाओं के नाम 'इंडो ईरानियन' होते थे। उनके कुछ देवता प्रत्येक भारतीय धर्म के विद्यार्थी को मालूम है। उदाहरण स्वरूप इन्द्र, उरूवन (वैदिक देवता वरुण), मित्तिरा और नासित्य। मितन्नी के ही समान सीरिया और पलेस्टाइन में प्रमुखों के नाम इंडो इरानियन प्रकार के हैं।

हड़प्पा संस्कृति आर्य संस्कृति के विरुद्ध थी। बहुत शताब्दियों बाद गरीब लोगों और कृषि दासों ने पुरानी संस्कृति के तत्त्वों को जीवित रखा और विजयी राजाओं को प्रभावित करना आरंभ किया।

भारत में आर्यों के आक्रमण में अनेक जातियाँ शामिल थीं और शताब्दियों तक चलता रहा। वे एक ही जाति और भाषा के भी नहीं थे। कुछ यूरोपीय विद्वानों ने 'बाल्टिक समुद्र' के क्षेत्र को आर्यों का मूल निवास माना है।

(ज) बाल गंगाधर तिलक ने उत्तरी धुव्र को आर्यों का मूल निवास क्षेत्र माना है। मध्य एशिया, मध्य यूरोप, लिथुआनिया आदि भी आर्यों के मूल निवास स्थान माने गये हैं। सर्वसम्मति यह मानती है कि मध्य एशिया में कहीं आर्यों का मूल निवास था। यहीं से एक शाखा अफगानिस्तान की उच्च भूमि से होती हुई नीचे पंजाब की समतल भूमि में उत्तरी, मध्य एशिया से आर्यो की दूसरी शाखा

पश्चिम दिशा ईरान की ओर मुड़ गई।

निष्कर्ष— कुछ भारतीय विद्वान् उदाहरण स्वरूप डॉ. गंगानाथ झा; डी. एस. त्रिवेद, एल. डी. शुक्ला आदि विद्वानों ने यह सिद्ध करने की कोशिश की , कि वैदिक आर्य बाहर से नहीं आये थे और सप्त सिन्धु ही उनका मूल निवास था। उनका यह भी विचार है कि भारत से कुछ आर्य एशिया और यूरोप में फैले। ग्रीक रोमन दूसरे आर्य भाषा बोलने वाले लोग इन्हीं भारतीय आर्यों के वंशज हैं। परन्तु वर्तमान में यह विचार बहुत कठिनाइयों से भरा है और बहुत से भारतीयों अथवा भारत के बाहर भी किसी के द्वारा ग्राह्य नहीं है। इसकी पुष्टि के लिए निम्न तर्क प्रस्तुत है—

1. अगर आर्य भारत के मूल निवासी होते तो दूसरी जगह जाने के लिए सीमान्त को पार करने से पहले पूरे उपमहाद्वीप को पूर्ण रूप से आर्य बना देते।

2. हड़प्पा एवं वैदिक सभ्यता में बहुत अन्तर है। अगर आर्य यहीं के मूल निवासी होते, तो दोनों की सभ्यता में अन्तर नहीं होता, जबकि दोनों सभ्यता के (अधिकेन्द्र) सिन्ध क्षेत्र ही हैं।

16. **आर्यों की संस्कृति**— जैसा कि ऊपर कहा गया कि आर्य कबीलों का संगठन पितृसत्तात्मक था, कबीलों में पुरुष ही अधिनायक और सम्पत्ति के स्वामी होते थे। आर्य देवता भी अधिकतम पुरुष ही थे पर कुछ देवियाँ पहले के युगों से और पहले के लोगों से ली गयी थीं। जब हम आर्य संस्कृति की चर्चा करते हैं, तो इसका अर्थ स्पष्ट होना चाहिये। तुलना में आर्य लोग ईसा पूर्व तीसरी सहस्राब्दी की उन महान् नागरी संस्कृतियों से श्रेष्ठ नहीं थे, जिन पर उन्होंने हमला किया और जिन्हें प्रायः नष्ट कर डाला। आर्यो के ऐसे कोई विशिष्ट मृत्भाण्ड अथवा खास औजार नहीं हैं जिनके आधार पर आर्य संस्कृति का पुरातात्विक विवेचन किया जा सके। वस्तुतः जिस बात के कारण इन लोगों को विश्व इतिहास में इतना महत्व मिला है, वह इनकी बेजोड़ गतिशीलता थी, जो इन्हें मवेशियों के चल खाद्य-भण्डार के रूप में प्राप्त हुई थी। इनकी मुख्य उपलब्धि यह थी कि उन्होंने ईसा पूर्व तीसरी सहस्राब्दी की महान् नदी घाटी सभ्यताओं से दूर बसी हुई छोटी, अवरूद्ध तथा प्रायः पतनोन्मुख कृषक बिरादरियों के बीच के अवरोधों को बड़ी निर्ममता से नष्ट कर दिया। आर्यों ने उन स्थानीय शिल्पों को अपना लिया जो उनके उपयोगी थे, और आगे बढ़ गये। उनके आक्रमण से मची हुई तबाही का जीर्णोद्धार करना बर्बाद हुए लोगों के लिए प्रायः असंभव हो जाता था । फिर भी आर्य और मिस्री आक्रमणों में मूलभूत अंतर था। मिस्र का फराउन लूट, भेंट, तांबे के खनिज पर अधिकार अथवा अपनी योजनाओं पर काम करने के लिए दास प्राप्त कर लेने के बाद वापस लौट जाता था। एकदम ही नष्ट कर दिया गया हो तो बात निराली है, अन्यथा आक्रान्त प्रदेश में जीवन बहुत पुराने ही ढंग से चलता था। परन्तु जिन पुरानी बस्तियों पर हमला होता था, और इनमें से अधिकांश बस्तियाँ अगम्य स्थानों में होती थीं और फराउन जैसे के लिए अनुपयुक्त थीं, वहाँ मानव समाज और मानव इतिहास की नयी शुरुआत, वह भी यदि संभव हुई तो नितान्त नये स्तर से होती थी। इसके बाद छोटी खेतीहर इकाइयों और बन्द कबीलाई बिरादरियों में पहले जैसे अलगाव असंभव हो जाता। वे शिल्प विधियाँ जो प्रायः निरर्थक कर्मकांडों से संबधित होने के कारण स्थान विशेष में ही बड़े यत्न से गुप्त रखी जाती थीं, अब सर्वसामान्य ज्ञान बन गईं। साधारणतः आर्य और अनार्य लोगों के मेल-जोल से प्रायः नयी आर्य भाषा के साथ, नयी बिरादरियाँ बनी।

ईसा पूर्व दूसरी सहस्राब्दी,में मध्य एशिया से आर्यों की दो लहरें आईं— पहली लहर इस सहस्राब्दी की शुरूआत में और दूसरी अन्त में। इन दोनों ने भारत को प्रभावित किया, संभवतः यूरोप को भी उन दोनों की ही गतिविधियाँ सुविचारित, नियोजित अथवा निदेशित नहीं थी। उनकी अपनी मातृभूमि मोटे तौर पर आधुनिक (उजेबेक्तिान के चारागाह) संभवतः लम्बे सूखे के कारण मवेशियों और उनके मालिकों के भरण-पोषण के लिए पर्याप्त नहीं थे। देशान्तरण किसी निर्धारित दिशा में सदैव नहीं हुए। भारत में पहुँचे हुए कुछ लोगों में से कुछ या तो खदेड़ दिये जाने के कारण अथवा नये प्रदेश की परिस्थितियाँ संतोषजनक न होने के कारण, वापस लौट गये। यह बात ईसा पूर्व दूसरी सहस्राब्दी के उत्तरार्द्ध की कुछ हित्ती मुहरों पर उत्कीर्ण कूबड़वाले विशिष्ट भारतीय बैल को देखने से स्पष्ट हो जाती है। हित्ती भाषा का मूल भी आर्य भाषा में है। खत्ती शब्द, जो हित्ती का ही पर्याय है, संस्कृत के 'क्षत्रिय' और पालि के 'खत्तिय' शब्द से संबधित जान पड़ता है। हित्तियों ने अनातोलिया के खेतीहर जनसमुदाय को पराजित किया, वहाँ बस गये और अपना शासन शुरू कर दिया। उनके और भारतीयों के बीच कोई सतत् और घनिष्ट संबंध नहीं रहे। परन्तु, जो सम्पर्क था, चाहे वह कितना भी खंडित और अल्पकालीन क्यों न रहा हो, वह इस दृष्टि से महत्वपूर्ण था कि लोहे का ज्ञान जिससे हम हित्तियों को पहली बार परिचित देखते हैं (उन्होंने यह रहस्य चाहे किसी भी पुराने जनसमुदाय से प्राप्त किया हो) आर्यों की दूसरी लहर के साथ भारत पहुँच सका।

भारतीय आर्यो के भाईबन्द नजदीक ईरान में थे। ई. पू. 1800 के आस-पास के मित्तन्नी अभिलेखों से पता चलता है कि एक आर्य भाषा में भारतीय आर्य देवताओं की उपासना करने वाले लोग ईरान की उरमिया झील के समीप बसे हुए थे। ईरान में इन्हीं इन्द्र, वरुण, मित्र आदि देवताओं की उपासना होती थी, परन्तु ईसा पूर्व छठी सदी के अन्तिम समय में जरतुस्त ने इनको बहिष्कृत कर दिया। केवल अग्नि ही एकमात्र आर्य देवता था जिसकी दोनों ही उपासना करते थे। संस्कृत का 'देव' शब्द ईरानी में दानवसूचक बन गया, परन्तु अवेस्ता में आर्यो के अधिकृत प्रदेश के रूप में सप्तसिन्धु यानि सात नदियों के प्रदेश (पंजाब, बाद में दो नदियाँ, सूख गईं) का उल्लेख है। ईरानी ग्रन्थों में राजा यिम के 'वर' के बारे में जानकारी मिलती है। यह 'वर' एक ऐसा आयाताकार स्थान था जिसमें, जब तक कोई पाप्र न करे, मृत्यु अथवा जाड़े का शीत नहीं घुस सकता था। वास्तव में यह एक प्रकार से 'स्वर्णयुग' का ही एक सीमित रूप था। तब दयालु राजा यिम ने निषेध भंग के कारण दण्ड की भागी बनी प्रजा को बचाने के लिए स्वयं मृत्यु का वरण किया और इस प्रकार वह पहला मर्त्य बना।

भारत में पहला यम भी प्रथम मर्त्य, प्राचीन पैतृक मृत्यु देवता है और यह आज भी मृतकों का ही देवता है। आरंभकाल में जब किसी भारतीय आर्य की मृत्यु होती थी, तो वह यम के संरक्षण में ही अपने पूर्वजों से जा मिलता था। कालान्तर में यह यम नरक में मृतकों को यातनायें देनेवालों का अधिनायक बन गया और बाकी देवता स्वर्ग के वासी बन गये। ईरान के धार्मिक ग्रन्थों में यिम के 'सर' के बारे में जिस प्रकार की परम्परागत जानकारी मिलती है ठीक, उसी लम्बाई-चौड़ाई के आयाताकार बाड़े सोवियत पुरातत्ववेत्ताओं ने उजबेकिस्तान में खोज निकाले हैं।

ऋग्वेद के सूक्तों को चौदहवी सदी के उत्तरार्द्ध में दक्षिण भारत में ठीक से सम्पादित किया गया, लिपिबद्ध किया गया और उन पर भाष्य लिखे गये। तब तक ऋग्वेद के पाठ का अक्षर कण्ठस्थ

रखा गया था (जैसा कि भारत के कुछ पण्डित आज भी कहते हैं) और इसे आम तौर पर लिपिबद्ध नहीं किया गया। इससे निष्कर्ष निकलता है कि समूची वैदिक परम्परा जीवित नहीं रह पायी। ऋग्वेद का कर्मक्षेत्र पंजाब की भूमि थी। इस वैदिक परम्परा को वहन करने वाले पुरोहित वंशक्रम के, सदियों से इस भूमि से सारे संबंध टूट गये थे, इसलिए यहाँ के विविध स्थलों के नामों का सही अर्थ लगाना उनके लिए प्राय: असंभव हो गया था। स्थानों, नदियों तथा व्यक्तियों के नाम के अलावे भी ऐसे अनेक महत्वपूर्ण शब्द हैं जिनके अर्थ लगाने में आज भी कठिनाई होती है, क्योंकि भाषा बदल गई है। पुरानी बाइबिल की तुलना में वेदों का ऐतिहासिक महत्व कुछ कम ही है, क्योंकि बाइबिल को उन लोगों ने सदैव ही एक इतिहास के रूप में प्रस्तुत किया जो अपनी उस विशेष भूमि से सम्पर्क बनाये रखते थे। फिलिस्तीन का पुरातात्विक अध्ययन भारत की अपेक्षा कही अधिक उन्नत और अधिक वैज्ञानिक ढंग से हुआ है और इससे बाइबिल की अनेक घटनाओं की पर्याप्त पुष्टि होती है। दूसरी ओर आर्य लोग हमेशा ही स्थान बदलते रहते थे, और नदियों तथा पर्वतों के नाम अक्सर ही उनके साथ यात्रा करते रहते थे। वेदों की पवित्र नदी सरस्वती कभी अफगानिस्तान की हेलमन्द (प्राचीन पारसी में हरहवैति और असीरी में अरकतु) नदी थी, फिर पूर्वी पंजाब की एक नदी सरस्वती कहलाई, जो ऋग्वेद काल में बाद, संभवत: प्रथम सहस्राब्दी में सूख गई।

17. संस्कृत साहित्य में जनजातियों का विवरण

(क) भाषागत प्रमाण

मुंडारी और संस्कृत : इस अध्याय में ऐसे शब्दों का उल्लेख होगा जो संस्कृत और मुंडारी में एक हैं— अंक, अगम, अन्न, आहार, आत्मा, इतिहास, उदास, उत्तर, एकता, करंज, कंदरा, कमल,करताल, काल, कुण्डल, गुरु, गुरुमुख, गंधरस, घण्टा, चतुर, चिंता, चण्डी (बोंगा), चुम्बक, जंजाल, जटा, जन, जाल, ताल, तुलसी, तुला, तोल, दन्तुल, दान, दारु, दिन, धनी, धार, नगर, नरक, निन्दा, निम्बु, पंच, पंजर, पण्डित, पद, पाठ, पापी, प्रचार, प्रधान, भजन, भूमिज, भेद, भोग मधु, मधुरस, मन, मुनि, मण्डप, मण्डल, महा, माला, मुकुट, मुरली, मूल, राज, राजकुमार, लाभ, संगम, संगति, सभा, समतल समय, समान, हित आदि।

उपर्युक्त शब्दों में से अनेक शब्द जैसे अगम, अन्न, तुला, मधु, मधुरस और मुनि अपेक्षाकृत प्राचीन काल से प्रचलित हैं। इन शब्दों का अर्थ संस्कृत में प्रचलित अर्थ से बहुत भिन्न हो गया है। जैसा कि अर्थ परिवर्तन के प्रसंग में स्पष्ट किया जायेगा। मुण्डारी ''आगम'' की रचना ''आगम'' और आगम के सम्मिश्रण (उभय सम्मिश्रण) से हुई है, अत: इसमें दोनों के अर्थ आ गये हैं। ''तुला'' का प्रयोग मुण्डारी भाषा में नहीं होता है। उनमें 'तोल' का प्रयोग 'तोल' के रूप में नहीं वरन् ''तौल'' के रूप में किया जाता है; किन्तु सादरी या नागपुरी में तौल' का अर्थ वजन है, मुण्डारी में इसका अर्थ बोझा बाँधना अथवा किसी वस्तु या जानवर को बाँधना है।

मुण्डारी में अनेक ऐसे शब्द मिलते हैं, जिसके रूप को परिवर्तन के बावजूद, संस्कृत में पहचाना जा सकता है। उदाहरण-अंद मनोआ (अंध मानव), अंगोर (अंगार), चन्दि (छन्द), तुलम् (तूलम्), दिसुम (देशम्), दूतौम, (दूतम) दुखम सुखम (दु:खम्-सुखम्) पारकोम (पर्यकम्) सकम् (शाकम्),

सिसिर (शिशिर)।

जो शब्द संस्कृत में पहचाने जा सकते हैं, उनमें से कुछ का प्रवेश मुण्डारी में मध्य भारतीय आर्यभाषा काल में हुआ है। यह संकेत उनकी वर्तनी से मिलता है। उदाहरण -- ''अनदो'' जो मुण्डारी में 'इसके विपरीत' तथा 'बल्कि' के अर्थ में प्रयुक्त होता है, संस्कृत 'अन्यतः' का परिवर्तित रूप है और प्राकृत के माध्यम से ही इसमें गृहीत हो सकता है। इसी प्रकार 'बकल' (छाल) की है जो संस्कृत में 'बल्कल' है किन्तु प्राकृत में 'बक्कल' हो जाता है। मुण्डारी में संस्कृत स्त्री-पुरुष का रूप 'तिरि-पुरुषु' है जिसका अर्थ पति-पत्नी है। इसका ताई या तए के अर्थ है— रोकना या इहराना, स्थगित करना, प्रतीक्षा करना आदि। इसें घोष ध्वनियों के अघोषीकरण और उद्धृत शब्दों में अन्तस्थ तथा अन्त्य 'य' के 'एअ' में परिवर्तन को देखते हुए यह कहा जा सकता है कि इसका 'तएओम' (दूसरा, इसके बाद)संस्कृत द्वयम् से विकसित हुआ है। इस शब्द के प्रयोग के उदाहरण हैं-तएओम-कुड़ि (दूसरी पत्नी) तएओम-सार (शिकार में दूसरे तीर से घाव करना), ताएओम-जिनिद (दूसरा अर्थात् मरणोत्तर जीवन) आदि। यह आवश्यक नहीं कि संस्कृत से सीधे या प्राकृत के माध्यम से गृहीत शब्दों का मुण्डारी में भी वही अर्थ हो, जो संस्कृत में। ''तोल'' पर विचार करते समय इस ओर संकेत किया जा चुका है। इसकी पुष्टि संस्कृत (तात) मुण्डारी 'तता' के आधार पर की जा सकती है। मुण्डारी 'तता' का प्रयोग पिता के अर्थ में नहीं, वरन् पितामह के अर्थ में होता है, और इसके अतिरिक्त पीढ़ी के अर्थ में भी इसमें तात या तता पर आधारित 'ततम्' का अर्थ तुम्हारा पितामह और ''ततले'' का अर्थ उसका या उनका पितामह है।

अभिप्राय यह है कि मुण्डारी में संस्कृत के शब्द कई रूपों में मिलते हैं कुछ शब्द अविकल रूप में और कुछ मुण्डारी की ध्वनि-प्रणाली के अनुरूप अत्याधिक परिवर्तित रूप में ये शब्द किसी एक युग में गृहीत नहीं हुए है वरन् इनमें से कुछ का प्रवेश प्राचीन आर्यभाषा काल में हुआ है, कुछ का मध्य भारतीय आर्यभाषाकाल में और कुछ का आधुनिक, यहाँ तक कि पिछले सौ डेढ़ सौ वर्षो के भीतर पिछली शताब्दी में मुण्डारी के माध्यम से ईसाई धर्म का प्रचार करने वाले मिशनरियों को अपनी धारणाओं और आचार व्यवहार का प्रकाशन करने वाले जो शब्द इस भाषा में प्राप्त नहीं हुए, उन्होंने वे शब्द संस्कृत से लिए, जो उनके द्वारा प्रयुक्त होकर इस भाषा के अंग बन गये। इस प्रकार संस्कृत शब्द मुण्डारी में अविकल और परिवर्तित दोनों रूपों में उपलब्ध है, तथा इसमें इनका प्रयोग बड़े रचनात्मक ढंग से हुआ।

मुण्डारी में उपलब्ध संस्कृत शब्दों का ध्वनि परिवर्तन

संस्कृत में मुण्डारी से गृहीत और आज की मुण्डारी में भी प्रचलित किन्तु सामान्यतः संस्कृत के रूप में ही पहचाने जाने वाले शब्दों के मुण्डारी के सन्दर्भ में, जो ध्वनि परिवर्तन मिलते हैं, उनका विवरण नीचे प्रस्तुत किया जा रहा है—

(क) आगम

प्राप्त उदाहरणों में प्रधानता स्वरागम की है।

आ का मध्यागम

संस्कृत **मुण्डारी**

मन	—	मान
रस	—	रास
जलाकर	—	जलाकार
मल्ल	—	माल
धन	—	धान
रंग	—	रांग
संजीवन	—	साजिबन
मठ	—	माठ
रथ	—	रांत, रात
हंस	—	हाँस

आ अन्त्यागम

संस्कृत		**मुण्डारी**
अटट्	—	अटा
दन्त	—	दन्ता
मानव	—	मनोआ
उत्तर	—	उत्तरा
कवर	—	कबरा
काकल्य	—	ककला
निर्लज्ज	—	लिलजा
पुंज	—	पुंजा
पद	—	पदा
रसिक	—	रसिका
रस	—	रसा
रोग	—	रोगा

इ का माध्यागम

संस्कृत		**मुण्डारी**
साधना	—	सदिनि
उदर	—	उदरि
दास	—	दासि
लोभ	—	लुभि
कक	—	कंकि
देश	—	देसि
विदेश	—	बिदासि

कन्द	—	कन्दि
गुप्त	—	गुप्ति
जरठ	—	जरटि
ताल	—	तलि
धन	—	धनि
बिस	—	बिसि
सिन्दूर	—	सिन्दुरि
हठ	—	हटि
मंच	—	मनचि
पंचायत	—	पंचाइति
हित	—	हिति

ई माध्यागम

संस्कृत		**मुण्डारी**
साधना	—	सदीनि

ई का अन्त्यागम

संस्कृत		**मुण्डारी**
धर्म	—	धरमी, दरमी

उ का मध्यागम

संस्कृत		**मुण्डारी**
तुलसी	—	तुडुशी
शूकर	—	सुकुरी
संगति	—	सुंगति
मण्डली	—	मंडुली, मुडुलि

उ का अन्त्यागम

संस्कृत		**मुण्डारी**
दुःख	—	दुकु
बन्धन	—	बन्दूनु
रूप	—	रूपु
दूत	—	दूतु
मूल	—	मुनु
सुख	—	सुकु
देश	—	दिसु
युग	—	जुगु

ऊ का मध्यागम

संस्कृत		मुण्डारी
बन्धन	—	बन्दूनु

ए का मध्यागम

संस्कृत		मुण्डारी
कर्म	—	केरमे
क्षमा	—	चेम
देशपति	—	देसेपति

ए का अन्त्यागम

संस्कृत		मुण्डारी
उपदेश	—	उपदेसे
नाग	—	नगे (बोंगा)
संग	—	सोंगे
कण्ठस्थ	—	कंटासे
घात	—	घाते
बाल	—	बले
भेद	—	भेदे
रोष	—	रेसे
लेप	—	लेपे

ओ का मध्यागम

संस्कृत		मुण्डारी
कन्या	—	कोनेआ
धर्म	—	धोरोम
लग्न	—	लोगोन
कपटी	—	कपोटि
नरक	—	नोरोक
वचन	—	बोचोन
कफ	—	कोप
पंथ	—	पोंथ
व्रजवाण	—	बोजोरबान
कम्बल	—	कोमबोल

परम्	—	परोम
वर	—	बोर
गर्भ	—	गोरोब
पर्व	—	पोरोब
वर्ण	—	बोरोन
गर्व	—	गोरोब
प्रताप	—	पोरताब
वृन्दावन	—	बृन्दाबोन
क्षण	—	कोन
भ्रम	—	भोरोम
श्लोक	—	सोलोक
खेटेक	—	केटोड
मंत्र	—	मोनतोर
संग	—	सोंगे
मत	—	मोत
क्षत्रम्	—	चातोम
संकट	—	सोंकोट
जन	—	जोन
मानव	—	मनोआ
जल	—	जोल
मर्म	—	मोरोम
दण्डम्	—	डंडोम्
यश	—	जोस
धन	—	धोन
रथ	—	रोत

ओ का अन्त्यागम

संस्कृत		मुण्डारी
अर्थ	—	ओरतो
भोग	—	भोगो
रोल	—	रोलो
जघन	—	जघनओ
पाप	—	पापो

रथ	—	रतो
रोग	—	रोगो

कुछ उदाहरणों में ओ का आगम शब्द के मध्य और अन्त, दोनों स्थानों पर हुआ है।

संस्कृत		मुण्डारी
वफ	—	कोपो
पंथ	—	पोंतो
स्वर्ग	—	सोरगो
पंच	—	पोंचो
संकट	—	सोंकोटो

अक्षरागम— अक्षरागम के उदाहरण निम्नलिखित हैं—

संस्कृत		मुण्डारी
यमदूत	—	जोजोमदूत
संगम	—	समगोम
हित	—	हिरिति
प्रीति	—	पिरिति

स्वर और व्यंजन

प्राप्य उदाहरणों में स्वर और व्यंजन दोनों का लोप मिलते हैं।

यहाँ क्रमशः दोनों पर विचार किया जा रहा है।

(1) स्वर लोप :—

आ का मध्यलोप

संस्कृत	मुण्डारी	संस्कृत	मुण्डारी	संस्कृत	मुण्डारी
उपकार	उपगर	दारु	दरु	माला	मला
कर्कारु	ककरु	दास	दसि	मालाकारी	मलाकरि
काकल्य	ककल	नागवेलि	नागबएल	राजा	रजा
कारण	करन	पाण्डु	पंडु	राजहंस	रजहंस
कालमेघ	कलमेग	पाण्डेय	पंडे	राजकुमार	राजकुमर
करताल	करतल	पाताल	पताल	वात	बत
किलकिला	किलकिल	प्रताप	परतब	विचार	बिचर
चाण्डाल	चंडाल	प्रधान	परधन	शाकम्	सकम्

छाया	चएल	बाधा	बधा	श्यामसुन्दरी	समसुन्दरि
जार	जर	बाल	बले	साधना	सदनी
जाति	जति	बुद्धिमान	बुदिमन	साधु	सदु
ताल	तलि	भाव	भवो	मानव	मनोआ
आकुल,	अकुल,	दाडिम	डलिम		
व्याकुल	बकुल				

आ का अंत्यलोप

संस्कृत	मुण्डारी
क्षमा	चम

उ का मध्यलोप

संस्कृत	मुण्डारी
अनुमान	ओनमान

उ का अन्त्यलोप

संस्कृत	मुण्डारी
सूनु	होन

ऊ का मध्यलोप

संस्कृत	मुण्डारी
सुश्रूषा	सुसर

य और व, इन अर्द्धस्वरों के लोप के भी कुछ उदाहरण मिलते हैं जो निम्नलिखित हैं—

य का मध्यलोप / **य का अन्त्यलोप**

संस्कृत		मुण्डारी	संस्कृत		मुण्डारी
मध्ये	—	मधे	काकल्य	—	ककल
श्यामसुन्दरी	—	समसुन्दरी	द्रव्य	—	दोराब
			नित्य	—	नित
			न्यायी	—	नेआई

व का मध्यलोप

संस्कृत		मुण्डारी	संस्कृत		मुण्डारी
पृथ्वी	—	पिरथी	जीव	—	जी

(2) संस्कृत शब्दों के प्रसंग में व्यंजन लोप के कई भेद मिलते हैं। इसका पहला भेद सरल

व्यंजन लोप का है, जिसके उदाहरण—

संस्कृत		मुण्डारी	संस्कृत		मुण्डारी
दन्तुल	—	दंतु	द्रोह	—	दोर

इसका दूसरा भेद संयुक्त व्यंजनों में से प्रथम व्यंजन का लोप है।

इसका उदाहरण इस प्रकार है—

संस्कृत		मुण्डारी	संस्कृत		मुण्डारी
उत्तर	—	उतर	मण्डली	—	मडुलि
कंकण	—	कनक	मल्ल	—	माल
गुग्गुल	—	गुगुल	भुक्ति	—	भुति
गोष्ठ	—	गोट	निर्लज्ज	—	लिलज
छिन्न भिन्न	—	छिनभिन	वंक	—	बको
जर्जर	—	जंजर	वल्कल	—	बकल
तर्पण	—	तपन	वर्णित	—	वनित
पंक्ति	—	पंति	श्मशान	—	मसना
पित्त	—	पित	संजीवन	—	सजिवन

इसका तीसरा भेद संयुक्त व्यंजनों में से द्वितीय व्यंजन का लोप है—

संस्कृत		मुण्डारी	संस्कृत		मुण्डारी
कुटुम्ब	—	कुटुम	पृच्छा	—	पिचा
कदम्ब	—	कदम	बुद्धि	—	बुधि
कण्ठस्थ	—	कदम	बुद्धिमान	—	बुदिमन
विलम्ब	—	बिलम	बैध	—	बइद
विरुद्ध	—	विरुद			

1. अक्षर— लोप

इसके बहुत कम उदाहरण मिलते हैं, जो निम्नलिखित हैं—

संस्कृत	मुण्डारी	संस्कृत	मुण्डारी	संस्कृत	मुण्डारी
आहार	आर	मयूर	मरः	सुश्रूषा	सुसर

ग. स्वर भक्ति या विप्रकर्ष

मुण्डारी में संयुक्त ध्वनियों की संख्या बहुत सीमित है। अतः स्वाभाविक है कि इसमें उपलब्ध संयुक्त ध्वनियों वाले संस्कृत शब्दों में लोप के अतिरिक्त स्वरभक्ति या विप्रकर्ष की प्रवृति भी मिलती है। इसमें स्वर भक्ति वाले संस्कृत शब्दों की सूची निम्नलिखित है—

संस्कृत	मुण्डारी	संस्कृत	मुण्डारी	संस्कृत	मुण्डारी
आहार	आर	मयूर	मरः	सुश्रूषा	सुसर
अर्थ	ओरथी	द्रव्य	दोरोब	मंच	मनचि

आत्मा	आतमा	द्रोह	दोरहि	मंत्र	मनतर
उक्ति	उकता	धर्म	धेरोम	दर्मन	मरदाओ
कथा	कंता	पर्व	परब	मर्म	मरम
कन्या	कनेआ	पवित्र	पोबितर	मूर्ति	मुरूतु
कर्कट	करकट	पूर्ति	बुरति	मृदंग	मिरदंग
क्रमेक्रमे	केरमे केरमे	प्लीहा	पिलिहा	यत्न	जतन
कृषि	किरसि	प्रकट	परगट	यात्रा	जतरा
गर्भ	गरब	प्रचार	परचार	लग्न	लोगोन
गर्व	गोरोब	पुस्तक	पुसतक	बज्रबाण	बोजोरबान
गोष्ठी	गुसुटि	प्रजा	परजा	वर्ण	बरन
गोत्र	गोतोर	प्रताप	परतब	वर्णिका	बरनिका
प्रिति	पिरिति	वस्तु	बसतु	जन्म	जोनोम
प्रधान	परधान	श्लोक	सलोक सोलोका	तपस्या	तपसेआ
दर्पन	दरपन	प्रसाद	परसाद	संचय	सोनचो
दर्शन	दरसन दोरसोन	प्रीति	पिरिति	सन्तान	सोनतान
भस्म	भसम	सुन्दरि	सोनदरि		

(भ) स्वर भक्ति या विप्रकर्ष

मुण्डारी में स्वर और व्यंजन दोनों के विपर्यय के उदाहरण मिलते हैं—

संस्कृत	मुण्डारी	संस्कृत	मुण्डारी
कपाट	कपटा	पुराण	मुरना
जलाकर	जलकार	श्मशान	मसना
तात	तता	हानि	हाइन

संभवतःव्यंजन विपर्यय का एकमात्र उदाहरण

संस्कृत	मुण्डारी
मुचकुन्द	मुकचुन्द-दरु

ड. संमीकरण

मुण्डारी में संस्कृत शब्दों के प्रसंग में केवल स्वर समीकरण मिलता है।

इसके उदाहरण इस प्रकार हैं—

संस्कृत	मुण्डारी	संस्कृत	मुण्डारी
उक्ति	उकुता	गरुड	गरूडु

दोष	दोसो	उपदेश	उपदेसे
गृद्ध	गिदि	नरक	नोरोको
उदर	उदुरि	चन्दन	चोन्दोन
		चूड़	चुड्ड
कुल	किलि	जलाकर	जलाकार
मुकुट	मुकुट्ट	कलयुग	कलजुगु
दर्पण	दोरपोन	मुद्रा	मुदुरा
कफ	कोपो	दर्शन	दोरसोन
रूप	रूपु	गर्भ	गोरोब
देवी	दिबि	श्लोक	सोलोको
गर्व	गोरोब	दुःख सुख	दुकु सूकू
साधना	सदिनि	सुगम	सुगुम

ऊपर जिन संस्कृत शब्दों का मुण्डारी में समीकरण वाला रूप मिलता है, उनमें से अनेक शब्दों के ऐसे रूप भी मिलते हैं, जिनमें यह समीकरण नहीं है जैसे—

संस्कृत	**मुण्डारी**	**संस्कृत**	**मुण्डारी**
उदर	उदरि	कफ	कोप
दोष	दोस	प्रीति	पिरिति

अनुमान किया जा सकता है इसमें समीकरण का विकास बाद में हुआ होगा। यह बात इस क्रम के रूप में प्रस्तुत की जा सकती है—

संस्कृत	**मुण्डारी**	**संस्कृत**	**मुण्डारी**
उदर	उदरि	कफ	कोप, कोपो
दोष	दोस, दोसो	प्रीति	पिरिति आदि

च. अल्पप्राणीकरण

मुण्डारी में महाप्राण ध्वनियों के कई वैकल्पिक उच्चारण मिलते हैं वे हैं—

1. महाप्राण ध्वनियों का अविकल उच्चारण
2. उनका अल्प प्राणीकरण
3. उनके अल्पप्राण रूप के बाद ह के साथ उनका उच्चारण

उदाहरणार्थ इनमें भ के तीन रूप हो जाते है— भ ब और ब ह,

जैसे— भारोम (संस्कृत-भारम्) बारोम और बहरोम। यहाँ महाप्राण ध्वनियों वाले संस्कृत शब्दों के प्रसंग में मुण्डारी में घटित अल्प प्राणीकरण का विवरण प्रस्तुत किया जा रहा है—

	संस्कृत	**मुण्डारी**	**संस्कृत**	**मुण्डारी**
ख > क	कंख	कंक	गुरुमुख	गुरुकुकु

	खण्ड	कांड	लेखा	लेका
	खुर	कूर	शंख	सक
	खेटक	केटोक		
घ > ग	कलमेघ	कलमेग	घण्ट	गंट
	घात	गाते	जंघा	जंगा
छ > च	छन्द	चन्दि		
ठ > ट	कण्ठस्थ	कंटस	जरठ	जरट
	गोष्ठ	गोट	हठ	हट
	गोष्ठी	गुस्टि		
थ > त	अर्थ	ओरतो		
	कंथा	कंता		
ध > द	अधिक	अदिक		
	प्रधान	परदान		
	गन्धक	गन्दक		
	बन्धन	बन्दूनु		
	धन	दोन		
	मधूकम	मदुकम्		
	धनुष	दनुक		
	मध्यम	मदिम्		
	धार	दार		
	समाधि	समादी		
	साधना	सदिनि		
	धर्मी	दोरमि		
	साधु	सदु		
भ > ब	कुम्भी	कुम्बी	भाण्ड	बाण्ड
	गर्भ	गरब	भुक्ति	बुति
	जम्भीर	जम्बीर	भेद	बेद
	भगवान	बगोआन	भोग	बोगो
	भजन	बजन	भ्रम	बोरोम
	भारम्	बोरोम	लोभ	लूबा
			शोभा	सोबा

छ. महाप्राणीकरण

क > ख कीलम > खिलम

ग > घ रोग > रोघा रोगी > रोघई

ज > झ जल > झल (कुम्बी) जर्जर > झंजर

जंजाल > झंजकाल

द > ध मृदंग > मिरधंग

ज. अघोषीकरण

इसका एकमात्र उदाहरण संस्कृत में द्वयम् और मुण्डारी में तएओम है।

झ. अन्य ध्वनि-परिवर्तन :

इसके अर्न्तगत सबसे पहले स्वर परिवर्तन पर विचार किया जा रहा है और उसके बाद व्यंजन-परिवर्तन पर।

1. **स्वर-परिवर्तन :**

	संस्कृत		**मुण्डारी**
अ > ए	मधुकम	>	मेदुकम
अ > ओ	अर्थ	>	ओरतो
	चन्दन	>	चोन्दोन
	धन	>	धोन
	अनुमान	>	ओनमान
	मत	>	मोत
	कन्या	>	कोनेआ
आ > अई	कन्दरा	>	कन्दरइ
	मान	>	मइन
	धार	>	धइर
	जाल	>	जइल
	संस्कृत		**मुंडारी**
आ > ओ	दारिका	>	डरिको
	प्रसाद	>	पोरसोद
इ > उ	मूर्ति	>	मुरतु
इ > ए	पण्डित	>	पंडेत
ई > इ	कपटी	>	कपोटि
	पापी	>	पापि
	कीलम्	>	खिलम्
	मालाकारी	>	मलाकरि
	गोष्ठी	>	गुष्टि

मुरली > मुरलि
जीव > जिउ
मंडली > मुंडुलि
जीवन > जिबन
वेदी > बेदि
देवी > दिबि
बैरी > बुइरि
नीलकण्ठ > निलकंठ
सुन्दरी > सोन्दरि
पीड > पिडओ
संगी > संगि
पंजी > पंजि
पापी > पापि
उ > इ कुल > किलि
उ > ऊ खुर > कूर
बुध > बूध
गुण > गून
युग > जूग
पुर > पूर
साधु > सदू
उ > ओ सुन्दरी > सोन्दरी
ऊ > उ मूल > मुलि
तूलम् > तुलम
संस्कृत मुंडारी
शूकर > सुकुरि
दूतम् > दुतोम्
शूल > सुल
पूजा > पुजा
शून्य > सुनिया
मधूकम > मदुकम्
सूत्रम् > सुतम्
मूर्ति > मुरूतु
ए > आ विदेश > बिदास

ए > इ	गेरू	>	गिरू
	देशम्	>	दिसुम्
ए > अए	नगवेलि	>	नगबएल
ऐ > अइ	दैवी	>	दइबि
ऐ > उइ	वैरी	>	बुइरि
ओ > उ	कोली	>	कुइरि
	रोगी	>	रूगि
	कोकिल	>	कुइल
	लोभी	>	लुभि
	गोष्ठी	>	गुस्टि
ओ > ऊ	लोभी	>	लूबि
ओ > औ	रोग	>	रौग
औ > अउ	नौका	>	नउका, लउका
ऋ > इ	गृद्ध	>	गिदि
ऋ > इर	सृजन	>	सिरजन
ऋ > इरि	अकृण	>	अकिर्रिंग
ऋ > रि	अमृत	>	अमरित

अर्द्धस्वर य और व: संस्कृत के अर्द्धस्वर य और व का मुण्डारी में अस्तित्व नहीं है।

मुण्डारी में संस्कृत शब्दों के य के चार रूप मिलते है— इ ए एअ और ज। इसी प्रकार इनमें संस्कृत के पाँच रूप उपलब्ध है— उअ ओ अ और ब। नीचे इन रूपों का क्रमश: उल्लेख किया जा रहा है।

	संस्कृत		**मुंडारी**
य > इ	अगस्त्य	>	अगस्ति
	मध्यम	>	मदिम
	नित्य	>	निति
	पंचायत	>	पंचाइत
य > ए	उपाय	>	उपाए
	समय	>	समए
	व्यर्थ	>	बेरत
य > एअ	कन्या	>	कनेआ, कोनेआ
	दया	>	दएआ
	दयावान	>	दएआन
	दया-मया	>	दएआ-मएआ

	छाया	>	चएअ
	तपस्या	>	तपेसअ, तपेसआ
य > ज	मयूर	>	मजूर
	यात्रा	>	जतरा
	यमदूत	>	जोमदूत
	युग	>	जुग
	यत्न	>	जतन
व > उ	ज्वाल	>	जुल
	विश्वास	>	विसुआस
व > उअ	ईश्वर	>	इसुअर
	विश्वास	>	विसुअस
व > ओ	अवसर	>	अओसर
	स्वर्ग	>	सोरोग
	भाव	>	भओ बओ
	स्वभाव	>	सोभओ
	महादेव	>	महादेओ, मादेओ
	स्वराज्य	>	सओराज
व > ओअ	परमेश्वर	>	परमेसोअर
	भगवान	>	बगोआन्
	सेवा	>	सेओअ
	मानव	>	मनोअ
	संस्कृत		**मुंडारी**
व > ब	कवर	>	कबरा
	विनती	>	बिनति
	देवी	>	देबी, दइबि
	विश्वास	>	बिसोआस
	वक	>	बको
	वेदी	>	बेदी
	वकुल	>	बकुल
	व्यापारी	>	बेओपरि
	वचन	>	बोचोन
	सेवा	>	सेबा
	वर	>	बोर

2. व्यंजन परिवर्तन—

मुण्डारी में संस्कृत के श और ष के अतिरिक्त अन्य सभी व्यंजन मिलते हैं। इसमें संस्कृत के श और ष का परिवर्तन स में हो जाता है। इसमें उपलब्ध संस्कृत शब्दों में, इन दो के अतिरिक्त अन्य सभी व्यंजन कहीं तो सुरक्षित हैं और कहीं परिवर्तित। यहाँ संस्कृत शब्दों के व्यजनों के केवल परिवर्तित रूपों का ही संक्षिप्त उल्लेख भर किया जा रहा है क्योंकि इनमें से अधिकांश पर अल्पप्राणीकरण आदि शीर्षकों के अन्तर्गत विचार किया जा चुका है।

व्यंजन सम्बन्धी परिवर्तनों का संक्षिप्त विवरण इस प्रकार है—

मुण्डरी		संस्कृत	मुण्डारी	संस्कृत
क	>	ख	कीलम्	खिलम्
क	>	ग	उपकार	उपगर
क	>	ङ	खेटक	केटोङ
ख	>	क	शंख	सक
ग	>	घ	रोग	रोघा
घ	>	ग	घंट	गंट
क्ष	>	क	राक्षस	राकस
क्ष	>	ख	क्षण	खोन
क्ष	>	ग	राक्षस	रगोसा
क्ष	>	च	क्षण	चन
क्ष	>	च	छन्द	चन्दि
ज	>	झ	जंजाल	झंजकाल
ठ	>	ट	हठ	हटि
मुण्डरी		**संस्कृत**	**मुण्डारी**	**संस्कृत**
ड	>	ड़	गरुड	गरुड़
ण	>	न	अकृण	अकिरिन
ण	>	न	गुण	गून
ण	>	ड़	ऋण	रिड़ि
त	>	थ	तर्पण	थपन
थ	>	त	कंथा	कंता
द	>	घ	मृदंग	मिरघंग
द	>	ड	छन्दम्	डंडोम
ध	>	द	गंधक	गंदक
न	>	ण	दान	दाणे

न	>	ल	निर्लज्ज	लिलज
प	>	ब	उपकार	उबगार
फ	>	प	कफ	कोप

मुंडारी में संस्कृत शब्दों का व्याकरणिक कोटि परिवर्तन

मुण्डारी में संस्कृत के जिन शब्दों की पहचान की जा सकती हे, उनमें ध्वनि परिवर्तन के अतिरिक्ति अन्य दो परिवर्तन भी मिलते है। वे है– व्याकरणिक कोटि तथा अर्थ परिवर्तन।

व्याकरणिक कोटि परिवर्तन के प्रसंग में यह उल्लेख आवश्यक है कि मुण्डारी में एक ही शब्द अपेक्षानुसार संज्ञा, विशेषण, क्रिया और क्रिया विशेषण के रूप में व्यवहृत हो सकता है। अतएव यदि इसमें संस्कृत के किसी संज्ञा शब्द का प्रयोग विशेषण या क्रिया के रूप में होता है या कोई विशेषण शब्द संज्ञा या क्रिया शब्द बन जाता है तो इस पर आश्चर्य नहीं हो सकता है। इसलिए संस्कृत शब्दों के व्याकरणिक कोटि-विस्तार के विवरण में जाने की कोई आवश्यकता नहीं। यहाँ कुछ उदाहरणों के द्वारा इस तथ्य की ओर संकेत किया जा रहा है।

संस्कृत 'उचित' मुण्डारी के उचित कजि (उचित बात), उचित सजइ (उचित सजा) में प्रयुक्त होता है, किन्तु इसमें उचित का प्राथमिक प्रयोग ''औचित्य'' के अर्थ में अर्थात् संज्ञा के रूप में होता है। इसमें परोम् या पारोम् (संस्कृत-पारम्) रास, समए, अगम या अगोम जैसे संज्ञा एवं विशेषण शब्दों का प्रयोग क्रिया के रूप में होता है। संस्कृत में वर्णित विशेषण है, मुण्डारी बनिता का प्रयोग विशेषण के अतिरिक्त संज्ञा के रूप में भी होता है। मुण्डारी ''धोन'' संस्कृत के धन की तरह केवल संज्ञा नहीं है, बल्कि यह विशेषण (धनी) का अर्थ भी होता है। ''चंडाल'' और ''चतुर'' इस भाषा में विशेषण के अतिरिक्त भाववाचक संज्ञा के रूप में भी आते हैं। संस्कृत विशेषण है, लेकिन मुण्डारी में यह शब्द भाववाचक संज्ञा (आनन्द) हो गया है।

मुण्डारी में संस्कृत शब्दों का अर्थ परिवर्तन

अब तक जिन संस्कृत शब्दों पर विचार किया जा चुका है, मुण्डारी में उनमें से अनेक का अर्थ परिवर्तन हुआ है। उनमें घटित होने वाला यह अर्थ परिवर्तन केवल भाषिक आधार पर नहीं समझा जा सकता है, बल्कि उसकी सही अवगति के लिए उसे मुण्डा जाति के सांस्कृतिक सन्दर्भ से भी जोड़कर देखना आवश्यक है। उदाहरणार्थ-संस्कृत 'अन्न' का अर्थ 'अनाज' है, लेकिन मुण्डारी में 'अन्न' का अर्थ अनाज नहीं किन्तु 'सम्पत्ति' भी है। संस्कृति अर्जन का अर्थ प्राप्ति है, किन्तु मुण्डारी क्रियापद ''अरजओं'' का अर्थ है– 'अच्छी फसल काटना'। इसे समझने के लिए इस बात पर ध्यान देने की आवश्यकता है कि यद्यपि मुण्डा जाति किसी सीमा तक आज भी आखेट और फल संचय करने वाली जाति है, फिर भी, वह मुख्य रूप में कृषिजीवी है और उसका कृषिकर्म अत्यन्त विपरीत प्राकृतिक कठिनाईयों के बीच सम्पन्न होता है। उसकी अर्थव्यवस्था के अन्तर्गत धन सम्पत्ति संचित करने की उतनी सुविधा नही, जितनी अपने देश के गैर-जनजातीय समाजों के साधारण सदस्यों को भी प्राप्त है।

अधिकांश मुण्डा परिवारों के पास वर्षभर खाने के लिए अन्न नहीं होता। ऐसे समाज में ''अन्न'' सबसे बड़ी सम्पत्ति है और सबसे बड़ा अर्जन या धर्नाजन अच्छी फसल है। संस्कृत के अन्य कई शब्दों के अर्थ परिवर्तन को भी मुण्डा जाति की अर्थ– व्यवस्था और जीवनयापन प्रणाली से जोड़कर देखा जा सकता है। संस्कृत में ''भुक्ति'' का अर्थ यात्रा का सम्बल है, लेकिन मुण्डारी में ''बुति'' या ''भुति'' का अर्थ सामान के रूप में दी गयी एक दिन की मजदूरी है। संस्कृत ''विदारण'' का प्रयोग किसी भी चीजको फाड़ने या विभाजित करने के अर्थ में किया जा सकता है, लेकिन मुण्डारी 'बिदुरंग' या 'बिदूड़ग' का प्रधान अर्थ 'रस्सी' की बाँट का खुलना है और गौण अर्थ, ''समझौते या करार का टूटना''। संस्कृत 'संगम' का अर्थ मेल या मिलान है, लेकिन मुण्डारी ''समंगोम'' का अर्थ है– एक के ऊपर एक कर पत्ते, घास या रेशे रखना। संस्कृत में 'वस्तु' किसी भी वस्तु का वाचक हो सकता है, लेकिन मुण्डारी में 'बसतु' (संस्कृत वस्तु) का अर्थ ''पात्र'' तक सीमित कर दिया है। (सदीनि) का अर्थ और भी संकुचित हो गया है। वह है ओझागिरि सीखने के बाद अन्तिम दिन की साधना।

उपर्युक्त आधार पर यह कहा जा सकता है कि सामान्यतः मुण्डारी में संस्कृत शब्दों का या तो अर्थ संकोच हुआ है या अर्थ, देश। इसमें संस्कृत शब्दों के अर्थ विस्तार के उदाहरण नगण्य हैं। ऐसे ही उदाहरणों में संस्कृत 'बाल' से विकसित 'बले' है। बले के अर्थ हैं– 1. नवजात शिशु 2. तुरन्त खिला हुआ 3. ताजा। मुंडारी ने किस प्रकार अपने ढंग से संस्कृत शब्दों का अर्थ ग्रहण किया है, इसे कुछ और उदाहरणों से स्पष्ट किया जा सकता है। किन्तु जैसा कि संकेत दिया जा चुका है मुंडारी में संस्कृत शब्दों के मूल अभिप्राय सुरक्षित भी रहते हैं। यहाँ संस्कृत शब्दों के अर्थ संरक्षण और अर्थ परिवर्तन दोनों के उदाहरण प्रस्तुत किये जा रहे हैं। संस्कृत 'आशंका' अनिष्ट या अनच्छित की सम्भावना को प्रकट करने वाला मनोभाव है, लेकिन मुण्डारी ''अंसका'' में इसके नये अर्थ भी मिलते है। वे हैं– 1. किंकर्तव्य -विमूढ़ता 2. किसी काम या रतजगे की समाप्ति की चिन्तायुक्त प्रतीक्षा। संस्कृत 'अमृत' अमरत्व प्रदान करने वाला पेय है और लाक्षणिक अर्थ में, अमरत्व या श्रेष्ठ आनन्द प्रदान करने वाली कोई भी वस्तु। किन्तु मुण्डारी में 'अम्बरित' या 'अमरित'' का अर्थ 'केला' है और 'अम्बरित-दरू' या 'अमरित-दरू' का अर्थ पपीता का पेड़। संस्कृत 'खण्ड' का एक अर्थ मकान का कोई हिस्सा या कमरा है। मुण्डारी में इससे विकसित अर्थ में कुछ नये अर्थ भी मिलते हैं। वे है 1. खेत या बगीचे की क्यारी और 2. बक्स। इसमें संस्कृत 'चिंता' का प्रयोग समझदारी के अर्थ में भी होता है। मुण्डारी 'दरसन' या दोरसोन का अर्थ देखना या साक्षात्कार न होकर 'पूजा' है और संस्कृत पीठ की तरह मुण्डारी 'पीठ'-'पीठ' का अर्थ स्थान या प्रधान स्थान न होकर 'हाट' या 'बाजार' है। संस्कृत 'पृच्छा' की तरह मुण्डारी 'पिचा' का अर्थ 'पूछना' या 'जिज्ञासा' नहीं बल्कि 'याद करना' या 'पूछ कर समाचार ज्ञात करना' हो जाता है। संस्कृत 'कवर' का अर्थ कई रंगों के मिश्रण से युक्त है, लेकिन मुण्डारी 'कबरा' का अर्थ 'उजले रंग के साथ किसी अन्य रंग का मिश्रण है; जैसे–'हेन्दे कबरा' का अर्थ 'काला और उजला' है 'अराकबरा' का अर्थ 'लाल और उजला'। संस्कृत 'गोष्ठी' का प्रचलित अर्थ 'सभा' या 'लोगों का समूह है, लेकिन मुण्डारी 'गुस्टि (गुसूटि) का प्रयोग ''एक ही कुल, परिवार या वंश का'' के अर्थ में होता है। संस्कृत ''जघन'' का मुण्डारी में क्रियारूप ''जघअआं'' (जघआओः) है, जो जाँघ का नहीं बल्कि लड़कियों के पहली बार रजस्वला होने का अर्थ देता है। जाँघवाली मुण्डारी ''जंगा'' (संस्कृत रूप जंघा), जिसका प्रयोग

केवल कविता में होता है, पाँव और चलना-ये दो अर्थ देता है। संस्कृत ''योद्धा'' का अर्थ ''सैनिक'' है, लेकिन मुण्डारी ''जिघा' में इसके असंग जनित अर्थ हैं—

1. साहस 2. दुःख झेलने और सहने की शक्ति

संस्कृति ''जार''का अर्थ दूसरे की पत्नी का प्रेमी है। मुण्डारी ''जर'' (क्रियावाची शब्द) के अभिप्राय हो जाते है-कुछ देकर फुसलाना, आकृष्ट करना या मिलाना। संस्कृत 'जरठ' के अर्थ है—''कड़ा, कठिन, वृद्ध''। मुण्डारी ''जरटि'' का प्रयोग ऐसे बीजों के लिए होता है जिन पर सूर्य के ताप से सूखी हुई मिट्टी की कड़ी परत जम गई है। संस्कृत 'जनन' का अर्थ हैं— ''पैदा करना''। मुण्डारी में इससे विकसित ''जन'' में अर्थ संकोच और अर्थादेश दोनों मिलते हैं। ''जन'' के अर्थ है— मुर्गे या किसी नर जानवर का मादा से सन्तान पैदा करना (अर्थसंकोच), अपनी सन्तान को अपने विशेष गुण या लक्षण देना (अर्थादेश)। कभी-कभी संस्कृत शब्दों के बहुत पुराने अर्थों से समानता रखने वाले अर्थ भी उनके मुण्डारी रूपों में उपलब्ध हो जाते हैं। ऐसे ही शब्द है मुण्डारी 'अओसर' और 'रूइद' (रूइउद)। इनमें पहला शब्द संस्कृत अवसर का परिवर्तित रूप है, जिसके अर्थ ''उपयुक्त'' या ''अनुकूल स्थान'' हैं। मुण्डारी ''अओसर'' का अर्थ है - ''खाली स्थान'' मुण्डारी रूइद् (रूइउद) का अर्थ है बहुत पीड़ा में चुपचाप मन ही मन कराहना। ''रूइद'' का संबंध संस्कृत ''रुद्'' से प्रतीत होता है। जिससे ''रुदन'' और ''रुद्र'' जैसे शब्द बनते हैं।

यहाँ मुण्डारी में उपलब्ध ऐसे शब्दों की तालिका दी जा रही है, जिसमें या तो संस्कृत में प्राप्त अर्थ के साथ नये अर्थ भी मिलते है या केवल परिवर्तित अर्थ। शब्द इस प्रकार हैं—

उक्ता, उकुता (संस्कृत रूप उक्ति, पीठ पीछे शिकायत 2. पीठ पीछे शिकायत करने की आदत) उदुगम (संस्कृत रूपः उद्गम, घास या पौधे को जड़ से उखाड़ना)।

काल (1. विष, 2. भोजन का विषाक्त करने का मंत्र या अभिचार)।

गोरोब : (संस्कृत रूप गर्व 1. आलस्य 2.आलसी 3. आलस्य से या बहुत धीरे काम करना)।

गुपि (संस्कृत रूप गोप 1. गाय की चरवाही)

चण्डाल (संस्कृत रूप चाण्डाल 1. बदचलन स्त्री 2. छिनाली)।

चतुर (1. होशियार 2. तंग करना)

जंजर झंझर (संस्कृत रूप जर्जर:1. पेड़ काट कर जंगल की सघनता कम कर देना, 10 जानवरों की संख्या या आबादी घटाना)।

जल (1. हँड़िया या चावल का शराब, 2. खाने की कोई चीज)

जोल— तुडुसी (संस्कृत रूप जल तुलसी, आम के पत्ते या डाल से पानी छिड़ना)।

डेम्बो (संस्कृत रूप डिम्भ, फूल)

ताप— तोप, ताप-तोपो (संस्कृत रूप : तप, विवाह, पूजा आदि धार्मिक कृत्य सम्पन्न करना)।

दन्ता— (संस्कृत रूप दन्त, हाथी या सूअर का दाँत)।

दसि (संस्कृत रूप दास 1. दास धाँगड़ 2. दासता 3. नौकरी)।

दोर दोरहि (संस्कृति रूप :द्रोह 1. ईर्ष्या 2. शत्रुता 3. इर्ष्यालु 4. शत्रु 5. ईर्ष्या या शत्रुता करना)।

दोरोम (संस्कृत रूपः धर्म, बोंग को इलि या हँड़िये का अर्पण)।

दुतोम (संस्कृत रूपःदूतम् घटक)।

नगिलि नंगिलि (संस्कृत रूपः लांगल, बैल की चमड़ी की रस्सी या फन्दा)।

नास, नासे (संस्कृत रूप : नाश 1. विनाश 2. हानि 3. बेकार का खर्च)

नसन (बोंगा द्वारा किया गया विनाश या दिया गया कष्ट)।

पंडु (संस्कृत रूप :पाण्डु 1. कोश की सफेदी 2. सूखे पत्तों का भूरापन)।

पंडे (संस्कृत रूप :पाण्डेय, जमीन्दार का मुंशी)।

पुंजा (संस्कृत रूप : पुंज 1 ढेर 2 लेन-देन)

पात्रचो, पोत्रच (संस्कृत रूप : पत्रच : पहान या ओझा का प्रतिनिधि)।

पोरसोद (संस्कृत रूपः प्रसाद; कोलाहल के कारण होने वाली प्रसन्नता)

बांड (संस्कृत रूप : भाण्ड, गगरी)

बको (संस्कृत रूप : बंक, वक, अँकुसी के रूप में काटी हुई डाल)।

बाटे (संस्कृत रूप :बाट, दरवाजे के सामने की खुली जमीन।

बिचर (1. विचार 2. निर्णय 3. सभा)।

बिचर— अचर (पंचायत या कचहरी की निर्णयावली)

बिदास, बिदासि (संस्कृत रूप विदेश, लोक कथाओं में देश निकाले के अर्थ में प्रयुक्त)।

बेपार— अपार (व्यापार की तरह-तरह की चीजें)।

भसम (पचाना)।

मंडल (समतल भूमि)।

मंडुलि (मिशन)।

मलाकरि (संस्कृत रूप : मालाकारी, सुन्दरि)।

माल (संस्कृत रूपः मल्लः राजा या जमीन्दार का पहलवान)।

मोने (1. मन 2. इच्छा।)

मधुरस (मधु छते में पराग के रूप में एकत्रित मधु)।

रंग (गीत की धुन)।

रसि (हँड़िया या चावल का शराब)।

रसिका (आनन्द)।

रास (वृक्ष गाड़ कर नाचना)।

रासबास, रासा-बासा (आनन्द)

रोगोद (संस्कृत रूप : रुग्ण, मनुष्य या पशु की परिश्रम या अनाहार जनित वह दुर्बलता, जिसके कारण पहली वर्षा में भींगने पर रोग या मृत्यु तक सम्भव है)।

सकम् (संस्कृत रूप - शाकम् 1. पेड़, पौधे का पत्ता 2. घास की पत्ती)।

सभा (1. बैठक 2. पंचायत)।

समए (1. दिन का समय 2. अवस्था 3. अच्छी फसल)।

समादि (संस्कृत रूप :समाधि : ईसाई कब्रगाह)।

सुगम या सुगुम (1. आसान काम 2. आराम 3. सीधा)।

सोम्पात, सनपात (संस्कृत रूप : सन्निपात, दाँत का दर्द)।

सिसिर (संस्कृत रूप :शिशिर, ओस)।

सिरि (संस्कृत रूप : श्री विशाल)।

सालोक, सोलोको (संस्कृत रूप: श्लोक 1, अनुकरणात्मक शब्द युग्म का वह निरार्थक शब्द, जो ध्वनि सामंजस्य के लिए प्रयुक्त हुआ है।)

उपरोक्त मुंडारी और संस्कृत शब्दों के और भी उदाहरण दुलायचन्द्र मुंडा ने डा. बुल्के स्मृति ग्रन्थ में पुंडारी भाषा और साहित्य पृ. 207 में दिया है—

मुंडारी		संस्कृत
सुतम्	—	सूत्रम्
पारकोम	—	पर्यङ्कम्
दाण्डी	—	दण्डः
हंगार	—	अंगार
पाताहा	—	पत्रम् (पत्ता)
तुला	—	तुला
आरकी	—	अर्कः

इसी स्मृति ग्रन्थ में हो और संस्कृत को योगेन्द्र मुनि ने पृ. 278 में प्रस्तुत किया है—

(ख) हो		संस्कृत
आञ्ज	—	अहम् (मैं)
गोतोम	—	घृतम् (घी)
दारु	—	दारु (वृक्ष)
मादुकम्	—	मदुकम् (महुआ)
बाम्हें	—	ब्राह्मणः
तोबा	—	तोयम् (जल)
राका	—	रक्षा
कुकाल	—	कुम्भकारः
सिसिर	—	शिशिर
पोरजा	—	प्रजा

कादाल — कदली

खड़िया भाषा और साहित्य नामक शीर्षक के अन्तर्गत इसी स्मृतिग्रंथ पृ. 278, डॉ. रोज केरकेटा ने भी कुछ खड़िया और संस्कृत से मिलते जुलते शब्दों को लिखा है—

(ग) **खड़िया** — **संस्कृत**

दारु — दारु (वृक्ष)

बुआड् — भुजंग

सोमदोर — समुद्रः

(घ) उराँव जनजाति के कुछ संस्कृत से मिलते जुलते शब्द निम्नलिखित है—

संस्कृत — **कुड़ख**

जम्बू — जम्बू

पाद — पाद

चीर — किचरी

दाल — दाली

कथा — कथा

वाँच — बाच (बा : ना)

पुण्डरी — पोंडरा

(ख) परम्परागत प्रमाण

भाषा वैज्ञानिकों ने मुंडा तथा अन्य आष्ट्रिक भाषाओं के शब्द और पूर्व वैदिक कालीन युग में प्रयुक्त ऐसे शब्दों को ढूँढ निकाला है, जिन्हें उत्तरकालीन आर्य भाषा में ग्रहण किया गया है। (दे. ऊपर, मुण्डारी, खड़िया हो भाषा के शब्द संस्कृत भाषा में)। निश्चय ही उनमें से अनेक शब्दों को आर्यों ने संभवतः उन वस्तुओं से अपरिचय जन्य शब्दाभाव के कारण अपनाया। इन शब्दों का आर्य भाषा में प्रवेश भारतीय संस्कृति में निषाद तत्वों के अंगीकरण का सूचक है। चावल, कदली, नारिकेल, ताम्बूल, बैगन, लौकी, जामुन, कपास और सिम्बल आदि का उत्पादन, मोर, मातंग तथा चक्रवाक आदि पशु पक्षियों से परिचय, हस्तिपालन की विधि आदि भारतीय संस्कृति के निषाद तत्व माने जा सकते हैं। निषादों ने संभवतः कुदाल या घड़ी से भूमि खोदकर झूम प्रणाली से खेती करने की विधि का आविष्कार कर लिया था।

18. आर्य–अनार्य संस्कृति

(क) द्रविड़ और आष्ट्रिक परिवार की जनजातियाँ जंगलों में चिड़ियों को मारने के लिए घूमती रहती थीं। वे जंगल की चिड़ियों अथवा जानवरों से अपना पेट भरती थीं। चिड़िमार के रूप में किरातों की प्रसिद्धि थी। वे तीर धनुष का प्रयोग करते थे। 'इसु' अर्थात् 'वाण' का उल्लेख ऋग्वेद (2 /24 /8/ साध्वी-रिषयो) अथर्ववेद (1 /13 /4 इषुं कृण्वाना) और वाजसनेयी संहिता (15 /3) में हुआ है। तीर के अग्र भाग में पंख लगे होते थे। (ऋग्वेद 10 / 18/ 14 पर्णमिवादधुः 6 /75 /11 सुपर्ण वस्ते) और तरकस को 'इषुधि' कहा जाता था— ऋग्वेद (1/ 33/ 3 इषुधीरसक्त) और अर्थववेद (4/10/6 इषुधौ) में इसका उल्लेख मिलता है।

धीरे-धीरे अनार्य या जनजाति के लोग जंगल को काट कर खेती करने लगे। खेती का प्रथम ज्ञान आर्यों को अनार्यो से ही मिला। विस्तार के लिए देखिए-तृतीय अध्याय, आर्यो की खेती और अन्न के प्रकार)।

आर्य आक्रमक थे, अत: अनार्यो को युद्ध में हरा कर उस स्थान को छोड़ना पड़ता था। वे फिर अन्यत्र जाकर जंगलों को काट कर खेत बनाते थे और उन खेतों को जोतकर अन्न उपजाते थे। जंगल काट कर खेत बनाने की प्रक्रिया अभी भी झारखंड, मध्यप्रदेश और छत्तीसगढ़ की जनजातियों के बीच प्रचलित है।

कुछ अनार्यों को, आर्य लोग दास बनाते थे। उन्हें 'दास' कहा जाता था (ऋग्वेद 2/12/4 दासं। इन दासों को हम वर्तमान 'धांगर कह सकते हैं।

(ख) **साम्पत्तिक अधिकार**— किरातों को छोड़ कर सभी जातियाँ पितृप्रधान थी। उत्तराधिकार की इस परम्परा को आर्यो ने अपनाया, जिसमें पुत्र ही पैतृक संपत्ति का अधिकारी होता है (दे. तृतीय अध्याय-पुत्री के साम्पत्तिक अधिकार)।

(ग) **कन्या की स्वतंत्रता**— अनार्य कन्याएँ स्वतंत्र घूमती फिरती थीं। कथासरिता सागर में लिखा गया है— श्रीदत्त नामक राजा जंगल में विचरण कर रहे थे। उसे भीलराज ने पकड़ लिया। श्री दत्त को देखकर भीलपुत्री कामातुर हो गई-सा च दृष्ट्वा जायते मदनातुरा 2,148)। इसी प्रकार महाभारत में राक्षसी ने स्वयं भीम से प्रणय निवेदन किया था— 1,151 अध्याय। रामायण में शूर्पणखा श्रीराम को देखकर काम से मोहित हो गयी। उसने प्रणय याचना करते श्रीराम से इस प्रकार कहा—

तानहं समतिक्रान्ता राम त्वांपूर्वदर्शनात्।

समुपेतास्मि भावे न भर्तारं पुरुषोत्तमम्।।17.25-26

अरण्यकाड

'श्रीराम! बल और पराक्रम में मैं अपने उन सभी भाइयों से बढ़कर हूँ। तुम्हारे प्रथम दर्शन से ही मेरा मन तुममें आसक्त हो गया है (अथवा तुम्हारा रूप-सौंदर्य अपूर्व है। आज से पहले देवताओं में भी किसी का ऐसा रूप मेरे देखने में नहीं आया है, अत: इस अपूर्व रूप के दर्शन से मैं तुम्हारे प्रति आकृष्ट हो गई हूँ।) यही कारण है कि मैं तुम जैसे पुरुषोत्तम राम के प्रति पति की भावना रखकर बड़े प्रेम से पास आई हूँ।

अपने बारे में और बताते हुए शूर्पणखा कहने लगी-'मैं प्रभाव (उत्कृष्ट भाव -अनुराग अथवा महान् बल-पराक्रम) से सम्पन्न हूँ, और इच्छा तथा शक्ति से समस्त लोकों में विचरण कर सकती हूँ अत: अब तुम दीर्घकाल के लिए मेरे पति बन जाओ। इस अबला सीता को लेकर क्या करोगे? यह विकारयुक्त और कुरूपा है, मैं ही तुम्हारे अनुरूप हूँ, अत: मुझे अपनी भार्या के रूप में देखो, यह सीता मेरी दृष्टि में कुरूप, ओछी, विकृत, धँसे हुए पेटवाली और मानवी है, मैं इसे तुम्हारे इस भाई के साथ ही खा जाऊँगी। फिर तुम कामभावयुक्त हो, मेरे साथ पर्वतीय शिखरों और नाना प्रकारके वनों की शोभा देखते हुए दण्डकवन में विहार करना (3, 17, 28-30)।

श्रीराम के इन्कार करने पर उसने लक्ष्मण से प्रणय याचना करते हुए इस प्रकार कहना प्रारंभ

किया-'लक्ष्मण! तुम्हारे इस सुन्दर रूप के योग्य मैं ही तुम्हारी परम सुन्दरी भार्या हो सकती हूँ। मुझे अंगीकार कर लेने पर तुम मेरे साथ समूचे दण्डकारण्य में सुखपूर्वक विचरण कर सकोगे। (3,18,7)।

हिन्दुस्तान की जनजातीय कन्याएँ भी उन्मुक्त वातावरण में रहती हैं। ये बाजार अथवा मेलों में सजधज कर जाती हैं। वैदिक कन्याओं के समान ये भी किसी मन पसन्द युवक से प्रणय निवेदन कर सकती हैं।

वेदों में कन्या की स्वतंत्रता के उद्धरण पाये जाते हैं (दे. तीसरा अध्याय कन्या की स्वतंत्रता)।

स्वतंत्रता के परिणाम-लड़कियों को युवकों से मिलने जुलने की छूट होने के कारण वे अपना वर स्वयं चुन सकती थीं। दोनों की मर्जी से विवाह को 'गान्धर्व विवाह' की संज्ञा दी गई। ऋग्वेद में इसके उदाहरण मिलते हैं—

जो स्त्रियाँ सुशील, स्वस्थ और श्रेष्ठ मन वाली हैं, वे इच्छानुकूल पुरुष को पति रूप में वरण करती हैं (भद्रा वधू र्भवति यत् सुपेशा स्वयं या मित्रं वनुते जने चित् 10,27, 12)।

जैसे विवाह की कामना वाला वैभवशाली युवक सुवर्णाभूषणों से सुसज्जित होता है (वरा इवेद् रैवतासो हिरण्यैरभि स्वधाभिस्तन्वः पिपिश्रे 5, 60, 4)।

इस गान्धर्व विवाह को धर्म सूत्रों में भी स्वीकार किया गया है। (बौधायन 4, 10; वशिष्ठ 17, 67-69; गौतम 2, 32 में गान्धर्व विवाह की चर्चा है।

अभिज्ञानशाकुन्तल नाटक में भी दुष्यन्त ने छिपकर शकुन्तला से गान्धर्व विवाह किया था। यद्यपि शकुन्तला, दुष्यन्त को देखने के बाद से ही कामपीड़ित हो गई थी, फिर भी प्रारंभ में गांधर्व विवाह के लिए राजी नहीं हुई। इस पर कामपीड़ित दुष्यन्त ने शकुन्तला से कहा—

गान्धर्वेण विवाहेन बह्वयो राजर्षिकन्यकाः।
श्रूयन्ते परिणीतास्ताः पितृभिश्चाभिनन्दिताः।। 21।।

(तृतीयः अंकः)

"बहुत सी राजर्षियों की कन्याओं ने अपना गान्धर्व विवाह किया और उनका (उनके कार्य का) उनके पिताओं ने समर्थन किया, ऐसा सुना जाता है।"

जनजातीय समाज में गान्धर्व विवाह का खूब प्रचलन है। मनु ने अनार्य जनजातीय विवाह के आर्स विवाह को अपनाया (विस्तार के लिए देखिये मुंडा और खड़िया विवाह प्रसंग)

एकं गोमिथुनं द्वे वा वरादादाय धर्मतः।
कन्या प्रदानं विधिवदार्षो धर्मः स उच्यते।। 328।।

(मनुस्मृति)

"वर से यदि कन्या का बाप एक जोड़ा गाय और बैल अथवा गाय अथवा बैल (दोनों में से कोई एक-एक या दो दो) ग्रहण कर विधिपूर्वक कन्या का दान करता है, तो वह 'आर्ष विवाह कहलाता है।"

शादी-व्याह के अवसरों पर अनार्य अवश्य ही विवाह-संबंधी गीत गाते थे। इसका स्पष्ट प्रमाण है कि वर्तमान आदिवासी जातियाँ, उदाहरण स्वरूप उराँव, मुंडा, हो, संथाल आदि जनजातियों में अभी भी विवाह गीत गाये जाते हैं। इस संस्कृति की छाप आर्यो पर पड़ी (अथर्ववेद 14,1,7— गाथयैति परिष्कृता)।

(घ) जनजातियों में दस संख्या शुभ मानी जाती है। इसे एक गीत द्वारा प्रकट किया गया—

'बेटी अपनी माता से पूछती है—

नायो गे नायो, नायो गे नायो!

एक लोटा पानी, मुँह का जबान

कौन घरा में दियाले, कौन घरा में दियाले।

माँ बताती है— बेटी हे बेटी! बेटी हे बेटी!

एक लोटा पानी, मुँह का जबान

दसो ठो ननद गे आयो, दसो ठो देवर गे नायो।

अनुवाद— हे मेरी माँ! हे मेरी माँ, मुझे किस घर में दे रही हो, वहाँ मुझे एक लोटा पानी और मुँह का जबान मिलेगा या नहीं। यह सुनकर माँ उसे बताती है— हे मेरी पुत्री! मैं ऐसे घर में दे रही हूँ जहाँ तुम्हारे दस ननद और दस देवर हैं। वहाँ तुम्हें एक लोटा पानी और मुँह का जबान भी मिलेगा।

ऋग्वेद के विवाह सूक्त (10,85,48 में इन्द्र से प्रार्थना की गई है कि वह वधू को दस पुत्रों की माता होने का वरदान दे (दशाम्यां पुत्रानां धेहि)।

(ङ) शादी के बाद हमारे पूर्वजों का यह रिवाज था कि जलाशय या नदी तक ही कन्या के सम्बन्धी साथ जाते थे, इसे सीमाना पार करना कहा जाता था। अभिज्ञानशाकुन्तल नाटक में कालिदास ने इसी प्रथा का उल्लेख किया है। शार्ङ्गरव कण्व ऋषि से कहते हैं— भगवन्! ओदकान्तं स्निग्धो जनोऽनुगन्तव्य इति श्रूयते। तदिदं सरस्तीरम्। अत्र संदिश्य प्रतिगन्तुमर्हसि। अर्थात् प्रिय व्यक्ति का जल के किनारे तक अनुगमन करना चाहिये, ऐसी श्रुति है। यह सरोवर का तट है। यहाँ हमें अपना सन्देश देकर लौटियेगा।''

(च) **आतिथ्य सत्कार**— अनार्यो विशेष कर जरनजातियों में अतिथि-सत्कार की भावना बहुत अधिक पाई जाती है। ये शुरू से ही सरल स्वभाव वाली होती हैं। अतिथियों के आने पर बड़े प्रेम से उनका आतिथ्य सत्कार करती हैं। आज भी आदिवासी मेहमान के आने पर लोटे में पानी देते हैं? (दे. ऊपर आतिथ्य सत्कार) अथर्ववेद का एक पूरा सूक्त (6, 9) आतिथ्य -सत्कार से संबंध रखता है।

रामायण में शबरी ने किस प्रकार श्रीराम और लक्ष्मण का सत्कार किया, उसका वर्णन इस प्रकार है—

तौ दृष्ट्वा तु तदा सिद्धा समुत्थाय कृताञ्जलिः।

पादौ जग्राह रामस्य लक्ष्मणस्य च धीमतः।।

पाद्यमाचमनीयं च सर्वं प्रादाद् यथाविधि।

तामुवाच ततो रामः श्रमणां धर्मसंस्थिताम्।। 74,6-7 अरण्यकांड

"शबरी सिद्ध तपस्विनी थी। उन दो भाइयों को आश्रम पर आया देखकर वह हाथ जोड़कर खड़ी हो गई तथा उसने बुद्धिमान् श्री राम और लक्ष्मण के चरणों में प्रणाम किया। फिर पाद्य, अर्ध्य और आचमनीय आदि सब सामग्री समर्पित की और विधिवत् उनका सत्कार किया। तत्पश्चात् श्री रामचन्द्रजी उस धर्मपरायणा तपस्विनी से बोले।"

जनजातियों के घर मेहमान पहुँचने पर शाम के भोजन में हँड़िया और मुर्गे का मांस देकर सत्कार किया जाता है। इसका कारण है कि प्रत्येक आदिवासी घर में मुर्गे-मुर्गियाँ, बकरियाँ और सूअर पालन का रिंवाज अभी भी है। अतिथि को खिलाने के बाद ही घर के महिला सदस्य भोजन करती हैं। अनार्यों की इस परम्परा का अनुकरण आर्यों ने किया। शतपथ ब्राह्मण (7, 3, 21) के अनुसार मेहमान को माँस खिला कर उसका सत्कार किया जाता था।

(छ) **अंधविश्वास**— आर्य तंत्र-मन्त्र पर विश्वास करते थे। अथर्ववेद तो इसी तंत्र-मंत्र के वर्णनों से भरा हुआ है। जनजातियों के बीच भी ओझा, गुणी, डाइन आदि पाये जाते हैं। अगर कोई बीमार पड़ा या किसी की मौत हुई तो इसका कारण डाइन ही होता है। जनजातियों को कहा जाता है कि ये अंधविश्वासी होते है क्योंकि निरक्षर होते हैं, परन्तु आधुनिक युग के आर्य भी अपने अधिकांश रोगों के निदान के लिए किसी ओझा या तांत्रिक के पास जाते हैं। (भारत की राजधानी दिल्ली में मुझे एक ऐसे पंजाबी परिवार से परिचय हुआ, जिसकी बेटी पागल किस्म की थी। उसके इलाज के लिए वे उसे किसी तान्त्रिक के पास ले जाते थे)।

यों देखा जाये तो जनजातियों के पुरखे जंगलों एवं पर्वतों की गुफाओं में निवास करते थे, इसलिए प्रकृति के कोप से भयभीत रहते थे, साथ ही भूत, प्रेत आदि की शक्तियों पर विश्वास करते थे। अथर्ववेद इसी प्रकार के प्रेतों के अथवा उनके निवारण संबंधी मन्त्रों से भरा पड़ा है। (19,28-30, 32-33)। अथर्ववेद के इन मन्त्रों के अनुसार जब कोई बीमार पड़ता था तो वैद्य या भिषज् गाँवों में, बीहड़ जंगलों में, पहाड़ों में, नदियों के किनारों पर उत्पन्न होने वाली जड़ी-बूटियों, औषधियों, पेड़-पौधों की पूरी जानकारी रखता था, उसे यह भी मालूम था कि किस व्याधि पर किस औषधि का प्रयोग लाभदायक सिद्ध होगा। ज्ञान के आधार पर वह गाँव-गाँव घूमकर न केवल मनुष्य का, किन्तु गाय, भैंस आदि पालतू पशुओं का भी इलाज करता था। (ऊपर पृष्ठ 132) अभिचार अर्थात जादू टोना करने वाले भी अपनी धातु विद्या से शत्रुओं को व्याधिग्रस्त कर देते थे। किसी रोग के निवारणार्थ, जप, तप, पूजा-पाठ, झाड़-फूँक, मंत्र-तंत्र आदि में विश्वास करते थे। चिकित्सा पद्धति में बीमारी के निवारण के लिए गंडे, ताबीज, रक्षा-मणि आदि रोगी के गले में या बाँह में बाँध दी जाती थी।

(ज) आदिम जातियाँ चूँकि जंगलों में रहती थी, वे जंगली फल-फूल कन्द-मूल को खाकर रहती थीं यह ऊपर वर्णित है। इसी संदर्भमें यह बात कही जा सकती है कि आदिम जनजातियाँ महुए का रस अवश्य पीती थीं, क्योंकि अब भी वर्तमान जनजातियों के बीच महुँवा रस जिसे 'दारू' कहा जाता है, का सेवन होता है। ये कृषक थे, अतः चावल को गला कर उसके रस को पीते थे। जनजतियों

में इसे 'हँड़ियाँ' कहा जाता है। अनार्य वालि की पत्नी 'तारा' मदिरा का सेवन करती थी। जनजातियों के पेय में इसका वर्णन हो चुका है।

आर्यों में अनार्यों की इस संस्कृति को दूसरे रूप में अर्थात् 'सोम रस' के रूप में लिया है। सोम नामक विशेष पौधे की पत्तियों को पीसने से जो रस निकलता था, उसे ही सोम रस' की संज्ञा दी गई। वेदों में विशेषकर ऋग्वेद के अनेक स्थलों पर इन्द्र द्वारा सोम रस पीने का उल्लेख है— 1, 32, 3, पिबत् सुत; 1, 5, 6 त्वं सुतस्य पीतये : 1, 8, 7 सोमपातमः; 1, 14, 10 पिबा मित्रस्य धामभिः, 1, 15, 1 इन्द्र सोमं पिबः आदि।

(झ) जनजातियों के समान आर्य भी रसिक थे। मनोरंजन के साधन भी दोनों के मिलते-जुलते है। जंगली पशुओं का शिकार करने के लिए आर्य भी गडढे खोदकर उसे, पतों से ढंक देते थे। झुंड के झुंड व्यक्ति जानवर को दौड़ाते आते थे। पशु दौड़ते हुए पत्तों के ढँके गड्ढे में गिर जाता था और आर्य शिकारी उसे पकड़ लेते थे। शिकार करने की यह प्रभा अभी भी जंगल में रहने वाले जनजाति के लोगों के बीच प्रचलित है।

इसी प्रकार फुर्सत के क्षणों में मछली मारने का शौक आर्यो को था। आदिवासी स्त्री-पुरुष भी फुर्सत के क्षणों में मछली मारते हैं।

इस प्रकार हम देखते है कि आर्यों और जनजातियों की कुछ प्रथाएँ मिलती जुलती है। इससे स्पष्ट होता है कि वैदिक काल में अनार्य (जनजातियाँ) आर्यो के साथ रहती थी। भाषा इसका स्पष्ट प्रमाण है, जैसा कि ऊपर वर्णन किया है कि जनजातियों के शब्द संस्कृत में पाये जाते हैं।

II. जनजातियों का सामान्य परिचय

1. **जनजातियों की परिभाषा**— जनजातीय शब्द को परिभाषित करने में मानव शास्त्रियों में काफी मतभेद पाया जाता है। मानवशास्त्रियों ने जनजातियों को परिभाषित करने में मुख्य आधार तत्व संस्कृति को माना है। परन्तु कभी-कभी ऐसा देखने को मिलता है कि किसी एक ही क्षेत्र में यद्यपि विविध जनजातियाँ रहती हैं, फिर भी उनकी संस्कृति में एकरूपता दृष्टिगत होती है।

भिन्न-भिन्न मानव वैज्ञानिकों ने इन्हें भिन्न-भिन्न नामों से सम्बोधित किया है। रिसले, लेके, गिर्यसन, सेंजविक, मार्टिन तथा ए. बी. टक्कर ने उन्हें 'आदिवासी' नाम से पुकारा है। हट्टन ने इन्हें आदिम जातियाँ (Primitive Tribe) की संज्ञा दी है (इथ्नोग्राफी पृ. 112-113)। टेलेल्ट्स सलजनिक तथा मार्टिन उन्हें सर्वजीववादी (एनिमिस्टिम) कहते हैं। वेन्स ने उन्हें वन्सजाति (जंगल पीपुल, फौरेस्ट ट्राइबल अथवा फोक) नाम से सम्बोधित किया है (वन्स, सेन्सुयु ऑफ इंडिया 1891 खण्ड 1 भाग 1 पृष्ठ 158)। प्रसिद्ध समाजशास्त्री धुरये ने उन्हें तथाकथित आदिवासी (सोकॉल्ड एवारिजिन्स) जाति, वन्य जाति, आदिवासी, वनवासी, निरक्षर, प्रागैतिहासिक असभ्य जाति आदि नाम दिया है। इस तरह एल. एम. श्रीकांत के अनुसार जनजातियाँ भारतवर्ष में विभिन्न समयों से अलग-अलग नामों से जानी गई हैं।

जनजातियों के संबंध में विभिन्न मानवशास्त्रियों की परिभाषाएँ निम्नलिखित हैं :—

1. **बोआस के अनुसार**— जनजाति से तात्पर्य आर्थिक रूप से आत्मनिर्भर व्यक्तियों के ऐसे समूह

से है, जो सामान्य भाषा बोलते हों तथा बाहरी आक्रमणों से अपनी रक्षा करने के लिए संगठित हों।

2. **ग्री हैर्डलिका के अनुसार**—"प्रजाति एक जाति के अन्तर्गत बहु स्थिर धारा (strain) या मोटे तौर पर रक्त संबंधित व्यक्ति है, जिनमें सतत वंशानुगत रूप से कुछ शारीरिक विशेषताएँ होती हैं, जो कि उन्हें अन्य सभी धाराओं या प्रजातियों से स्पष्टत: पृथक करती है।

3. श्री हॉबल के अनुसार—"प्रजाति या जनजाति जननिक रचना के फलस्वरूप उत्पन्न होने वाले शारीरिक लक्षणों का एक विशिष्ट संयोग रखने वाले अन्त: संबंधित मनुष्यों का एक वृहत् समूह है।

4. नोट्स एण्ड क्वरीज ऑन आन्थ्रोपोलोजी के अनुसार—"एक ऐसा समुदाय जो किसी विशेष भू-स्थान का स्वामी हो, जो राजनैतिक तथा सामाजिक दृष्टि से श्रृंखला व स्वायत्त शासन चला रहा हो।"

5. डी. एन. मजुमदार के अनुसार कोई जनजाति परिवारों तथा पारिवारिक वर्गो का एक ऐसा समूह है जिनका एक सामान्य नाम है,जिनके सदस्य एक निश्चित भू भाग पर निवास करते हैं, एक सामान्य भाषा का प्रयोग करते हैं, तथा विवाह, व्यवसाय निषेधों का पालन करते हैं। जिन्होंने एक आदान-प्रदान सम्बन्धी तथा पारम्परिक कर्तव्य विषयक एक निश्चित व्यवस्था का विकास कर लिया है। साधारणत: जनजाति अन्त: विवाह के सिद्धान्त का समर्थन करती है और जिनके सभी सदस्य अपनी ही जनजाति के अन्तर्गत विवाह करते हैं।

6. थालिन आर अगलिन ने कलचरल एन्थ्रोपोलॉजी में जनजाति की परिभाषा इस प्रकार दी है— स्थानीय जनजातीय समूहों का एक समुदाय है जो एक सामान्य क्षेत्र में निवास करता है, एक सामान्य भाषा का प्रयोग करता है तथा युद्ध आदि जैसे सामान्य उद्देश्य के लिए सम्मिलित रूप से काम करता है।

7. ज्वेकब्स तथा स्टर्न के अनुसार एक ऐसा ग्रामीण समुदाय, या ग्रामीण समुदायों का समूह जिसकी समान भूमि, भाषा और सांस्कृतिक विरासत हो। जिस समुदाय के व्यक्तियों का जीवन आर्थिक दृष्टि से एक दूसरे के साथ ओत प्रोत हो।

8. रिचर्ड के मतानुसार— समूहों की श्रृंखला, परिणाम में जब बढ़ती है तब उसका अन्त राष्ट्र में होता है। समूह की यह क्रमिक वृद्धि प्राय: आदिम जातियों में पाई जाती है। इन आदिम जातियों को हम जनजाति कहते हैं। जनजाति एक ऐसा समूह का नाम है, जो आर्थिक दृष्टि से आत्मनिर्भर होता है, समान भाषा बोलते हैं। जब किसी बाहर के शत्रु का सामना करना पड़ता है तब इस समूह के लोग मिलकर एक हो जाते हैं।

9. इम्पीरियल गजेटियर में आदिम जाति की परिभाषा करते हुए कहा गया है कि एक आदिम जाति परिवारों का एक समूह है, जिसका एक सामान्य नाम होता है, जिसके सदस्य एक सामान्य भाषा बोलते हैं, तथा एक सामान्य क्षेत्र में या तो वास्तव में रहते हैं या अपने को उसी क्षेत्र का मानते है, तथा ये समूह अन्तर्विवाही होते है।

10. क्रोकर ने आदिम जातियों की परिभाषा करते हुए कहा कि आदिम जातियाँ ऐसे लोगों का

समूह होती हैं जिनकी अपनी एक सामान्य संस्कृति होती है। इस तरह से सभी विद्वानों के अनुसार जो समुदाय एक सामान्य भूभाग में रहता हो, सामान्य भाषा हो, उसकी अपनी संस्कृति हो, युद्ध आदि के समय दुश्मन का मुकाबला करते हों और अन्तर्विवाही हो, जनजाति कहलाते हैं।

उपरोक्त विद्वानों की परिभाषाओं के अतिरिक्त 'आदिवासी' शब्द की एक परिभाषा इस प्रकार भी है–

आदिवासी शब्द एक व्यापक अर्थवाला है; मूलवासी जो आदिकाल से इस हिन्दुस्तान की धरती पर वसती आयी है। आर्यों द्वारा बंदी बनाये गये दास, जो दलित वर्ग से संबंध रखते हैं, मूलतः आदिवासी ही थे। राजस्थान की भील व मीणा जातियाँ, दक्षिण की द्रविड़ जातियाँ भी आदिवासी हैं। वर्तमान में ईसाई धर्म कबूल करने वाले उराँव, मुंडा, संथाल, हो, खड़िया आदि जनजातियाँ आदिवासी हैं। आदिवासियों की विशेष जानकारी के लिए इतिहास के झरोखे में झाँकना होगा।

वैदिक साहित्य एवं पौराणिक कथाओं में इन आदिवासियों को दैत्य, दानव, असुर, राक्षस, अनार्य, वानर, रीछ आदि कहा गया है। आदिकाल में अनेकों धर्मयुद्ध हुए, जिनमें कई शहीद हुए, जैसे हिरण्याक्ष,हिरण्यकशिपु, वृत्रासुर, शंखचूड़, राहू-केतु, गयासुर, रावण, कुभकर्ण, कंस, शिशुपाल आदि।

इतिहासकार इन आदिवासियों को मोहनजोदड़ो एवं हड़प्पा के निवासी मानते हैं। इन्होंने बाहरी आक्रमणकारी आर्यों द्वारा पराजित एवं आंतकित हो, हिन्दुस्तान के घने जंगलों में शरण ली। कालांतर में आर्यों एवं अनार्यों में संबंध स्थापित हुए एवं सांस्कृतिक आदान-प्रदान के तहत दोनों घुल-मिल गये। आर्य ही इन आदिवासियों को काला होने के कारण इन्हें 'हेंदेहोड़ो' कहा करते थे तथा हेंदेहोड़ो लोगों का देश होने के कारण इस देश का नाम हेंदेस्थान हुआ। हिन्दुस्तान-हेंदेस्थान का ही अपभ्रंश नाम है। आदिवासी मुंडा भाषा में 'हेंदे' का अर्थ काला होता है। सिंध से हिन्द बना ऐसा कहना भूल है। बाद में फिर इस देश का नाम ब्रह्मवर्त, आर्यावर्त, भारतवर्ष, इंडिया आदि पड़ा। आर्यो ने ही यहाँ के मूलवासियों को वनवासी नाम दिया।

2. **जन जाति की विशेषताएँ**– जनजाति समाज की कुछ प्रमुख विशेषताओं को निम्न प्रकार से बताया जा सकता है–

(क) कई परिवारों का समूह-जनजाति का निर्माण कई परिवारों के संकलन से होता है। परिवार ही जनजाति समाज की मौलिक इकाई है। जनजाति परिवार का ही विस्तृत रूप है।

(ख) विशिष्ट नाम– प्रत्येक जनजाति का कोई न कोई एक विशिष्ट नाम होता है, जिसके द्वारा वह जानी जाती है।

(ग) एक निश्चित भू-भाग– डा. स्विस का मत है कि "जनजाति के लिए एक निश्चित भू-क्षेत्र होना आवश्यक नहीं है क्योंकि कई जनजातियाँ भी घुमक्कड़ जीवन व्यतीत करती हैं।"

किन्तु डा. मजुमदार का मत है कि "घुमक्कड़ जनजातियाँ भी एक निश्चित भौगोलिक क्षेत्र में घूमती हैं, सभी स्थानों में नहीं। अतः प्रत्येक जनजाति का निवास एक निश्चित भू-क्षेत्र में होता है।

(घ) अहं की भावना— एक निश्चित भू-भाग में निवास करने के कारण एक जनजाति के सदस्यों में 'सामुदायिक भावना' पायी जाती है। इसी भावना के कारण वे परस्पर सहयोग व सहायता प्रदान करते हैं और संकट के समय एकता का प्रदर्शन करते हैं।

(ङ) सामान्य भाषा— प्रत्येक जनजाति की एक सामान्य भाषा होती है, जिसका प्रयोग जनजाति के सभी लोग करते हैं। अधिकांशतः जनजातियों की भाषा अलिखित है और उनमें साहित्य का अभाव पाया जाता है। जनजाति भाषा का हस्तान्तरण प्रमुख मौखिक रूप से होता है। वर्तमान समय में वाह्य लोगों के सम्पर्क के कारण कई जनजातियाँ अपनी मूल भाषा के अतिरिक्त अन्य भाषाएँ भी बोलने लगी। है।

(च) अन्तर्विवाह की प्रथा— प्रायः जनजातियाँ अपनी ही जातियों में विवाह करती हैं, अन्य जनजातियों से नहीं, लेकिन कुछ जनजातियाँ ऐसी भी हैं जो दूसरी जनजातियों पर आक्रमण कर उनकी लड़कियों तथा स्त्रियों को उठा लाती हैं। और उनसे विवाह रचाती हैं।

(छ) एक राजनीतिक संगठन— प्रत्येक जाति का अपना एक राजनीतिक संगठन होता है ये अपना शासन स्वयं करते हैं। शासन कार्य वंशानुगत राजा, मुखिया या वयोवृद्ध लोगों की समिति द्वारा किया जाता है। उदाहरण स्वरूप उराँव जनजाति में ''पड़हा राजा'' संथाल जनजाति में ''मानकी परगनैत'' हो जनजाति में मानकी मुंडा, मुंडा में पड़हा पट्टी, खड़िया जनजाति में ''डोकलो सोहोर'' चेरो खेरवार का सीमा चट्टा,' पहाड़िया समुदाय का 'सरदार प्रधान' राजनीतिक संगठन के अध्यक्ष हैं।

(ज) संस्कृति— प्रत्येक जनजाति की अपनी एक विशिष्ट संस्कृति होती हैं। जनजाति के रीति-रिवाज, प्रथायें, धार्मिक एवं जादुई विकास एवं क्रियाएँ सामाजिक संगठन, नैतिक विश्वास एवं मूल्य अन्य जनजातियों से भिन्न होते हैं।

(झ) अर्थव्यवस्था— सामान्यतः सभी जनजातियों की अर्थव्यवस्था, आजीविका स्तर की है, जिसमें आत्मनिर्भरता अधिक पायी जाती है। उच्च स्तर की तकनीकी, श्रम विभाजन और विशेषीकरण तथा बाजार, व्यापार, मुद्रा, साख उत्पादन और विनिमय की जटिल व्यवस्था नहीं पायी जाती है। सामान्यतः वस्तु विनिमय व्यापारिक क्रियाओं का आधार होता है।

(ञ) नातेदारी का महत्व— जनजाति में नातेदारी को अधिक महत्व दिया जाता है। जनजातीय लोग अपने राजनीतिक, आर्थिक एवं सामाजिक संबंध अपनी नातेदारी तक ही सीमित रखते हैं। कई बार तो नातेदारी का विस्तार सम्पूर्ण जनजाति तक होता है।

(ट) धर्म— प्रत्येक जनजाति का अपना एक विशिष्ट धर्म होता है। इनके धर्म में प्रकृति-पूजा, आत्मवाद और जीवनवाद की प्रधानता पायी जाती है। वे लोग कई जादुई क्रियायें भी करते हैं।

(ठ) कई जनजातियाँ अपनी उत्पत्ति एक सामान्य पूर्वज से मानती हैं। यह पूर्वज वास्तविक और काल्पनिक दोनों ही हो सकता है। जनजातीय समाज को आदिम समाज के नाम से भी जाना जाता है।

(ड) जनजातियाँ भोजन के समय भोजन का पहला कौर लेने से पहले पूर्वजों की याद में अपनी थाली से थोड़ा भोजन जमीन पर गिराती हैं। पूर्वज का नाम लेने पर जल की बूँदे भी भूमि पर गिरती हैं।

(ढ) जन, जमीन, जंगल और जल प्रकृति के चार सर्वाधिक महत्वपूर्ण तत्व 'जीवन और सृष्टि के सारगर्भित तत्व हैं। इनके साथ आदिवासी जीवन इस प्रकार से जुड़ा हुआ है कि इसे आदिवासियों से अलग करके देख पाना असंभव और समझ पाना अधूरा ही होता है। अर्थात् जन,जमीन, जंगल और जल आदिवासी पहचान, आदिवासी जीवन और अस्तित्व का पर्याय है।

(ण) आदिवासी समाज में किसके साथ, किसे किस तरह का आचरण करना है, इसका ज्ञान उन्हें प्रकृति से होता है। प्रत्येक दिन के काम और आचरण के द्वारा अनुभव से लोग सीखते कि क्या अच्छा है और क्या बुरा है। माँ-बाप और बड़े बुजुर्ग अपने अनुभव से इसका ज्ञान छोटों एवं अनुभवहीन को देते हैं।

(त) स्वतंत्रता— महिलाओं को विशेषकर पति के साथ या अकेले भी घूमने फिरने बाजार हाट जाने की पूरी स्वंतत्रता रहती है। कन्याएँ सज धज कर मेले या बाजार जाती हैं— युवकों से बातें कर सकती हैं, यहाँ तक कि प्रणय निवेदन भी कर सकती हैं।

(थ) भाईचारे का सुंदर उदाहरण उनके सभी सामाजिक कार्य -कलापों में देखा जा सकता है— जैसे खान-पान, खेती-बारी आदि में। नर-नारी की समानता उनके दैनिक जीवन में देखी जा सकती है। सामाजिक और सांस्कृतिक समारोहों में गोलाई में बैठना, अखाड़े में गोलाई में बैठना, अखाड़े में गोलाई में नृत्य करना आदि समानता और बराबरी को दर्शाते हैं। इसी प्रकार शिकार में पूरे गाँव की भागीदारी, मछली पकड़ने के लिए सब का एक साथ निकलना आदि। समानता और भाईचारा की पराकाष्ठा केवल आदिवासियों में ही देखी जा सकती है, जहाँ न केवल मनुष्य बल्कि पशु को भी मनुष्य के बराबर समझा जाता है। शिकार के बाद उन कुत्तों को भी बराबर का हिस्सा दिया जाता है, जो शिकार में भाग लेते हैं।

(द) आदिवासी समाज में धांगर (नौकर) को दास के रूप में नहीं किन्तु सहयोगी एवं परिवार के एक सदस्य के रूप में समझा जाता है। वह परिवार के पुरुषों के साथ एक ही पंक्ति में बैठ कर खाता है। उनके जूठे बरतन घर की माता-बहनें धोती हैं।

(ध) अनजान आगंतुक के लिए भी घर में प्रवेश करने पर बिना उसके नाम पूछे, बैठने के लिए चटाई बिछाना, उसके पाँव धोना, पीने के लिए पानी देना, खैनी चूने का प्रबन्ध करना और जब वह सफर की थकान से तरो-ताजा हो जाये, तब केवल उसके नाम पता और आने का प्रयोजन पूछना आदि मेहमान-नवाजी का एक सुंदर मिसाल है।

(न) आदिवासी जीवन में धन संग्रह करने के लिए नहीं किन्तु मिल कर उसका उपयोग करने के लिए होता है। लोग भविष्य की चिता नहीं करते अपितु वर्तमान का भरपूर उपयोग करते हैं।

(प) जन्म, विवाह और मृत्यु के समय रीति रिवाजों को पूरी करने की जिम्मेदारी पूरे समुदाय की होती है। छठी के समय बच्चे का नामकरण माँ-बाप के द्वारा नहीं किन्तु समुदाय के द्वारा पूर्वजों की उपस्थिति महसूस करते हुए किया जाता है। वर के लिए कन्या ढूँढने की जिम्मेदारी परिवार की नहीं बल्कि समुदाय की होती है। गाँव की बूढ़ी महिलाओं के जिम्मे पत्तल दोने का जिम्मा रहता है। निमत्रंण प्राप्त रिश्तेदार अपने साथ चावल और हँड़िया लेकर जरूर आता है कोई खस्सी लेकर भी आता है (अत्यन्त निकट का संबंधी)। मड़वा गाड़ने का काम सभी नवयुवक करते हैं। कोई नाश्ते की जिम्मेवारी लेता। नाचने-गाने का भार सभी गाँव के युवक युवतियों के साथ ही और मर्दों का रहता है। इन सब कामों के लिए वर अथवा कन्या के माता-पिता का खर्च करने की जरूरत नहीं होती बल्कि मेहमानों के लाये हँड़िया और चावल से बहुत सहायता हो जाती है।

विवाह योग्य होने पर युवकों के लिए योग्य कन्या की तलाश आदिवासी संस्कृति का ऐसा सुंदर पहलू है जिसने पूरे समुदाय को दहेज की कुप्रथा से बचाये रखा है और समाज में नारी के समाज में बराबरी का परिचायक है।

मृत्यु के बाद अंतिम संस्कार की जिम्मेदारी भी पूर्णतः समाज पर होती हे। रिश्तेदारों तक मृत्यु का संदेश पहुँचाना अथवा अंतिम संस्कार की तैयारी की जिम्मेदारी समाज अपने आप अपने ऊपर ले लेता है। दफन क्रिया के लिए स्त्री पुरुष सभी जाते हैं। "मदैत" एक ऐसी संस्था है, जिसमें पूरा समुदाय किसी भी जरूरत मंद व्यक्ति को निःशुल्क उसके काम में मदद करता है।

मनोरंजन के साधन, नाच-गान, जतरा, सेंदरा में जितने अधिक लोगों की भागीदारी हो, उतना ही अच्छा समझा जाता है। कोई आदिवासी कभी भी एकल नृत्य नहीं करता है। सब एक साथ जुड़कर एक ही लय और धुन में थिरकते हैं। सब के कंठों से एक ही स्वर लहराता है। सब के पैर एक साथ उठते चलते और थमते हैं। सब की कमर एक साथ डोलती है व्यक्ति की समता, सामाजिक एकता एवं समरसता का यह बेजोड़ उदाहरण हे।

3. **शारीरिक बनावट**— शरत चन्द्र राय के अनुसार आदिवासी पुरुष और स्त्रियाँ कद में नाटी, कपाल कम चौड़े और उनकी नाक चिपटी होती है। उनके चमड़े का रंग गहरा भूरा होता है, जिसे काला रंग भी कहा जा सकता है। बाल काले किन्तु रूखे और प्राय घुंघराले होते हैं। आँखें प्रायः छोटी होती हैं, उनके दाँत कभी-कभी निकले होते हैं। उनके गालों में बाल कम होते हैं। छाती पीठ और पैर में बाल और कम होते हैं और बीस वर्ष के बाद ही उगते हैं। यही आदिवासियों की पहचान प्रायः होती है। (The Oraons of chotanagpur p. 52)। आदिवासी गर्भवती स्त्री, प्रसव के पहले तक शारीरिक काम करती है।

4. **बच्चे का जन्म**— यदि परिवार में पुत्र जन्म हुआ तो प्रसव कराने वाली दाई (दगरिन) छत को पीटती है। यदि कन्या का जन्म हुआ तो सूप बजाती है। इसे सुनकर ही बच्चे के पिता और अन्य प्रसव-घर आ सकते हैं। अपनी संतान को देखकर खुशी से चूमते हें। बेटी जन्म से कोई दुःखी नहीं होता है। बच्चों को ईश्वर की देन समझा जाता है, अतः परिवार नियोजन की व्यवस्था नहीं होती है। जनजातीय

समाज में बच्चा और बच्ची को समान भाव से देखा जाता है फिर भी पुत्र के लिए लालायित तो रहते हैं। इसका कारण है कि आदिवासी कृषक होते हैं। खेत जोतने के लिए बेटे की आवश्यकता होती है। जिसके सिर्फ बेटियाँ हों, वह भीतर से दु:खी रहता है, यद्यपि वह घर दामाद तो ला सकता है परन्तु उसके मरने के बाद बेटी दामाद अपने घर लौट जाते है और जमीन अपने भाइयों के हिस्से में आती है। कन्याओं को न तो विवाह से पहले और न विवाह के बाद पिता की सम्पत्ति मिलती है वह धार्मिक अधिकारों से भी वंचित रहती है।

5. **बच्चों के संस्कार**— नामकरण संस्कार के लिए देखें (उराँव एवं मुंडाओं के नामकरण नम्बर 13)

मुँहजूठी संस्कार— जन्म के छठे महीने में बेटा अथवा बेटी को प्रथम बार माँ अन्न का दाना, दाल के साथ खिलाती है। किसी-किसी परिवार में मुँहजूठी संस्कार धूमधाम से मनाया जाता है। गरीब परिवार की मातायें बिना ताम-झाम के बच्चे या बच्ची को खिलाती हैं।

कर्णवेध संस्कार— जैसे ही बेटा अथवा बेटी उठने-बैठने लगते हैं, तो माता-पिता किसी मेले अथवा बाजार में बच्चे को लेकर सुनार द्वारा अपने बेटा अथवा बेटी का कान छिदवाते हैं।

6. **बच्चों का लालन-पालन**— आदिवासी समाज बेटा अथवा बेटी का लालन-पालन एक समान करता है। बेटे को अधिक सुविधा या अच्छा खाना नहीं दिया जाता है। करमा और सरहूल में दोनों को नये कपड़े मिलते हैं। मुंडा और खड़िया जनजाति में कन्या से माता-पिता इसलिए खुश रहते है, क्योंकि शादी में कन्या के लिए, माता-पिता को एक जोड़े बैल मिलते हैं (दे. मुंडा जनजाति, कन्या) मुंडा, खड़िया जनजातियों के अलावे उराँव जनजाति में भी बेटी से माता-पिता को बहुत सहायता मिलती है। घर की सफाई, बर्तन धोने, पानी लाने, गोबर फेंकने आदि काम में माँ की सहायता करती है। सभी जनजातियों में छोटी बच्चियाँ अपने छाटे भाई या बहन को पीठ में बाँधकर खेलाती हैं। करमा और सरहुल में किसी प्रकार जुगाड़ करके (मुर्गा, बकरा, सूअर) बेच कर सभी के लिए कपड़े खरीदते हैं, भले अपने लिए पैसे न हो, तो कपड़े नहीं खरीदते हैं। बेटा बड़ा होने पर हल जोतने अथवा खेत कोड़ने में पिता की सहायता करता है।

7. **शिक्षा**— धनी-मानी आदिवासी परिवार, बेटा हो या बेटी दोनों को स्कूल भेजता है। यदि घर का काम करनेके लिए माँ अकेली हो तो बेटी स्कूल जाना छोड़ देती है। यदि हल जोतने और पशुओं की देखभाल करने में पिता अकेले पड़ जाता है, तो बेटा भी स्कूल जाना छोड़ देता है।

8. **स्वतंत्रता**— आदिवासी समाज स्वच्छन्द होता है। लड़के-लड़कियाँ सज-धजकर बाजार अथवा मेलों में जाती हैं। एक दूसरे से हँस बोल सकते हैं। कभी-कभी इस स्वतंत्रता का गलत लाभ उठाकर कुमारी कन्याएँ गर्भवती हो जाती हैं। अगर दोनों पक्षों के माता-पिता लड़का और लड़की को स्वोकारते हैं तो बाद में सामाजिक रीति के अनुसार उनकी शादी कर दी जाती है। यदि लड़का-लड़की राजी हों, परन्तु लड़के के माता-पिता राजी न हों, तो लड़की चुपचाप लड़के के घर में घुस जाती है इसे 'ढुकु प्रथा' कहते हैं। दोनों पक्षों में विरोध होने पर प्राय: वे दोनों घर गाँव छोड़कर किसी शहर में दैनिक मजदूरी करने भाग जाते है।

9. **धुमकुरिया**— मुंडा इसे "गिति ओड़ा" और उराँवों में "जोंख एड़पा" कहते हैं। यह प्राय:

गाँव के अखाड़े के पास ही रहता है। इसे गाँव के लड़के बनाते हैं। इसमें ढोल नगाड़े आदि रखे जाते हैं। कभी-कभी नगाड़ा बजाने और जतरा के लिए नृत्य भी सिखाया जाता है। सभी लड़के और लड़कियाँ इस घर में जमा होते हैं और अखाड़े की ओर जाते हैं। अगर नाचते-नाचते रात हो जाती है, तो लड़के एक ओर, और लड़कियाँ दूसरी ओर सो जाती हैं। प्रायः कोई विधवा स्त्री या बूढ़ी, धुमकुरिया के लड़के-लड़कियों की देखभाल करती है। अतः धुमकुरिया में लड़के-लड़कियाँ गलत ढंग से नहीं मिलते हैं। त्योहार आदि के अवसर पर ये लड़के-लड़कियाँ कई दिन और रात नाचती रहती हैं। रात को खाने के बाद लड़के लड़कियाँ सभी नाचती हैं, जिसका अवलोकन कोटवार करता है। इनके नाच के द्वारा गाँव का पहरा भी होता है (विस्तृत विवरण देखें चतुर्थ अध्याय, उराँव जनजाति 'जोंख एड़पा')

10. **कन्या शुभ**— जनजातियों में कन्याओं को शुभ माना जाता है। सरहूल पर्व के दिन सरना स्थल में कन्याएँ ही घड़ों में पानी भरती हैं। करम डाल को अविवाहित लड़कियाँ ही, अविवाहित लड़कों के साथ लाने जाती हैं। विवाह से पहले कन्याएँ ही वर-वधू को हल्दी पानी से नहलाती हैं। चुमावन के समय कन्या ही वधू की बगल में बैठती है। ससुराल जाते समय एक कन्या ही वधू के साथ जाती है। कोई-कोई टाना भगत सिर्फ कुँवारी कन्या के हाथ का बना भोजन खाते हैं।

किसी शुभकाम को करने जाने से पहले, कोर्ट-कचहरी जाने से पहले, बाजार हाट जाने से पहले, यों तो किसी भी महिला को पानी भरे घड़ों को ढोयी हुई देखने से शुभ माना जाता है, परन्तु यदि वह कन्या हो तो अत्युतम माना जाता हैं।

11. **जीवन साथी प्राप्त करने के तरीके**— प्रत्येक समाज में जीवन-साथी प्राप्त करने के अलग-अलग तरीके हैं। निम्नलिखित कुछ तरीके हैं, जो साधारण आदिवासी समाज में प्रचलित हैं—

(क) विनियम द्वारा विवाह— झारखंड के जनजातियों में "कन्या धन" की पद्धति पाई जाती है। कुछ कबीलों में कन्या-धन बड़ी मात्रा में लिया जाता है, फलस्वरूप विवाह बहुत ही कठिन कार्य हो गया है। विशेषकर मुंडा, सन्थाल, हो, और खड़िया जनजातियों में यह कन्या-धन एक या दो जोड़े बैल होते हैं, अर्थात् लड़के के पिता के लिए उपरोक्त जोड़े बैल देने पड़ते हैं।

इस कठिनाई को हल करने के लिए आदिवासियों ने विनिमय विवाह अपनाया लिया है। दो परिवारों के सदस्यों में विवाह संबंध इस प्रकार स्थापित होते हैं कि दोनों घरानों की लड़कियाँ एक दूसरे के परिवार में ब्याही जाती हैं। इस प्रकार किसी को न तो कन्या-धन ही देना पड़ता है और न ही लड़की के जाने से कठिनाई होती है। आधुनिक युग में यह प्रथा प्रचलित नहीं है।

(ख) **सेवा द्वारा विवाह**— कन्या-धन से बचत के लिए कुछ समाजों में इस तरीके को अपनाया गया है। साधरणतः जिस समाज में लड़कियों की कमी होती है, और कन्या, घर में लक्ष्मी समझी जाती है, उस समाज में सेवा द्वारा विवाह का चलन होता है। इस तरीके के अनुसार लड़का अपने होने वाले ससुर के घर निवास करता है और उसकी सेवा करता है। घर के अधिकतर कार्यों को वह स्वयं करता है। वह अनेक वर्षों तक ससुर की सेवा करता है तब उससे लड़की का विवाह कर दिया जाता हे।

(ग) **खरीददारी द्वारा विवाह**— इस प्रकार का विवाह भी उन्हीं कबीलों में प्रचलित है, जहाँ

स्त्रियों की संख्या कम होती है। इस तरह उनका महत्व बढ़ जाता है। उनसे विवाह करने के बदले उनके माता-पिता को कीमत देनी पड़ती है। कभी तो रुपया और चीज के रूप में देनी होती है। ऐसे विवाह के पीछे यही विचार होता है कि लड़की के विवाह से उसके माता-पिता उसकी सेवा से वंचित हो जाते हैं। इसी कमी को पूरा करने के लिए लड़के से कन्या-धन लिया जाता है। इसी रुपये से कभी-कभी परिवार के कर्ज को चुकाया जाता है, और इसी प्रकार इस रुपये से कभी-कभी लड़की के भाई के लिए पत्नी प्राप्त की जाती है। विवाह विच्छेद के बाद कभी-कभी कन्या धन लौटा देना पड़ता है।

(घ) **बलपूर्वक विवाह**– यह प्रथा भी उन्हीं समूहों में प्रचलित होती है, जहाँ स्त्रियाँ अल्प संख्या में पाई जाती हैं और फलस्वरूप पत्नी को प्राप्त करना बड़ा कठिन हो जाता है। ऐसे समूहों में कन्या-धन बहुत अधिक होता है। यदि कोई व्यक्ति ऐसा समझता है कि वह कन्या-धन नहीं दे सकता और उसकी इच्छा किसी निश्चित लड़की से विवाह करने को होती है, तो वह बलपूर्वक विवाह करता है। यह प्रथा हो, विरहोर, खड़िया जनजातियों में प्रचलित है। खड़िया और हो कबीले में यदि एक व्यक्ति किसी लड़की से विवाह करना चाहता है तो वह किसी स्थान पर छिपकर खड़ा होता है। लड़की जब उधर से गुजरने लगती है, तब वह उसके माथे पर सिन्दूर और तेल मल देता है और इस प्रकार उस लड़की से उसका विवाह घोषित हो जाता है।

(ङ) **परीक्षण द्वारा**– यह विवाह अब बहुत ही कम प्रचलित है। भील लोगों में केवल यह प्रथा अब भी विद्यमान है। इससे एक व्यक्ति के साहस और शारीरिक शक्ति का पता लगता है। यदि वह विशेष प्रकार के परीक्षण में सफल हो जाता है, तो वह किसी भी लड़की से विवाह कर सकता है।

होली के अवसर पर गाँव के युवक (स्त्री-पुरुष) किसी पेड़ के नीचे नाचते-गाते है। स्त्रियाँ पेड़ के चारों ओर एक घेरा बना देती है और मर्द लोग एक बाहरी घेरा बनाते हैं। शारीरिक बल की जाँच वहीं होती है, जब एक युवक उस भीतरी घेरे को तोड़कर पेड़ पर चढ़ने का प्रयत्न करता है। स्त्रियाँ पूरी कोशिश करती हैं कि वह ऐसा न कर पाये। वे उसे झाड़ू से मारती हैं, उसके कपड़े नोचती हैं और उसके शरीर को यातनायें देती हैं। परन्तु इन तमाम कठिनाईयों को झेलते हुए भी यदि वह युवक पेड़ पर चढ़ने में सफल हो जाता है, तो उसे स्वयं यह अधिकार मिल जाता है कि पेड़ को घेरनेवाली किसी भी कन्या से विवाह करे। वर्तमान समय यह विवाह भी प्रचलित नहीं है।

(च) **आचरिक विवाह**– यह विवाह बहुत ही अधिक प्रचलित है और आदिवासियों के अतिरिक्त सभ्य समाज में भी पाया जाता है। इसके अनुसार साधारणतः लड़के के माता-पिता जब अपने बेटे का विवाह करना चाहते हैं, तो वे किसी लड़की को देखकर पसन्द करते हैं। उसके बाद वे किसी व्यक्ति द्वारा लड़की के माता-पिता के पास विवाह का प्रस्ताव भेजते हैं। यदि लड़कीवालों को भी बात पसन्द होती है, तो एक दिन निश्चित किया जाता है जिसमें लड़के का पिता कुछ सम्बन्धियों के साथ लड़की के घर जाता है। वे लोग रास्ते में होने वाले अच्छे और शकुनों को देखते जाते हैं। रास्ते में यदि उन्हें कोई बुरा शकुन मिल जाता है, तो वे वहीं से अपने घर वापस हो जाते हैं और बात खत्म हो जाती है। लेकिन यदि उन्हें रास्ते में कोई बुरा शकुन नहीं होता है तो वे लड़की के घर हँसी-खुशी से जाते हैं। वहाँ उनका पूर्ण रूप से स्वागत किया जाता है। इसी प्रकार एक दिन निश्चित करके लड़की के सगे

संबंधी लड़के के घर अच्छे और बुरे शकुनों को देखते हुए जाते हैं, और तब बात पक्की हो जाती है। इसकेबाद एक दिन लड़का-लड़की का विवाह समाज की रीतियों के अनुसार कर दिया जाता है। यह प्रथा झारखंड के सभी कबीलों में जैसे मुंडा, संताल, उराँव आदि लोगों में प्रचलित है।

वर्तमान समय में जनजाति लड़के-लड़कियाँ अपनी पसंद से विवाह करने लगे हैं। एक दूसरे की पसंद हो जाने पर लड़का अपने माता-पिता को लड़की के घर भेजता है। लड़की के माता-पिता द्वारा भी रिश्ता स्वीकार कर लिए जाने पर अपनी-अपनी जनजातीय रीति के अनुसार विवाह की विधि सम्पन्न होती है।

12. **शादी की उम्र, लड़के लिए—** घर के लड़के मुश्किल से छः साल के होते है कि वे घर के गाय-बैल और बकरियों को चराने लगते हैं उतने वर्ष की उम्र में ही वे अपने बाप के साथ खेत जोतते हैं। जवान लड़के कुदाल, कुल्हाड़ी, बसूला, छेनी चलाना अपने बाप से सीखते हैं। साथ ही बहँगी, हल और दूसरे घरेलू औजार बनाना भी बाप से सीखते हैं। प्रत्येक बाप अपने पुत्र को यह भी बताता है कि किस समय खेत में बीज लगाना, कटनी करनी चाहिये, किस तरह फसल को बदल-बदल कर खेत में लगाना चाहिये। एक बार अगर बेटा खेत को जोत कर अनाज बो देता है, बाप उसके लिए लड़की ढूँढ़ कर शादी कर देता है। इस प्रकार खेती का काम जानने पर ही किसी आदिवासी लड़के की शादी होती है।

13. **शादी की उम्र, लड़की के लिए—** रजोदर्शन से पूर्व ही कन्याओं का विवाह कर दिया जाता है। माता-पिता देखते हैं कि बेटी खाना बना लेती है, धान कूट लेती है, घर के सदस्यों को खाना बना कर खिला सकती है, जंगल से लकड़ी ढोकर ला सकती है, एवं खेती कार्य कर सकती है, तो वे सोचते हैं कि बेटी ब्याह कर देना चाहिए। रजोदर्शन हो चाहे न हो। लड़के का बाप एक अगुवे के माध्यम से लड़की को मांगने उसके घर आता है। अगर लड़का स्वस्थ, चरित्रवाला हो, साथ ही खेत पर्याप्त मात्र में हो कन्या के माता पिता 'हाँ' कह देते हैं। अगर अकेला लड़का हो तो अत्युत्तम। इसका कारण है कि बपौती जमीन का बंटवारा अनेक भाइयों में नहीं होगा और बेटी के लिए पर्याप्त मात्रा में अनाज होगा। पिता के न रहने पर भाई,भाई के न रहने पर माता, लड़की का विवाह कराती है। पुत्री का विवाह पास-पड़ोस के गाँव में ही किया जाता है। अपने ही गाँव में भी विवाह हो सकते हैं। इसका कारण है कि माता-पिता को अपनी बेटी की खोज खबर लेने में कठिनाई नहीं होती है। अगर बेटी को किसी परिवार में दिया हुआ तीन-चार पीढ़ी बीत जाती है तो रिश्ता बरकरार रखने के लिए उसी परिवार में नया रिश्ता होता है। लड़की को देखते समय ध्यान दिया जाता है कि वह दुश्चरित्रवाली और कामचोर न हो। बड़ी दीदी के रहते छोटी बहन की शादी नहीं हो सकती। उसी प्रकार बड़े भाई के रहते छोटे भाई की शादी नहीं हो सकती। जिस कन्या के भाई न हों, उसका विवाह भी आसानी से हो जाता है। जनजातियों की यह विशेषता है कि लड़के पक्ष को ही कन्या के माता-पिता के पास उसे पाने के लिए गिड़गिड़ाना पड़ता है। घर देखी में कन्या के माता-पिता और इष्ट कुटुम्ब को लड़के की औकात का पता चलता है, तब शादी की बात पक्की समझी जाती है। मुंडा और खड़िया जनजातियों में कन्या के दान स्वरूप लड़का पक्ष को एक या दो जोड़े बैल देने पड़ते हैं। इसके अलावा लड़की के विवाह वस्त्र, आभूषण और लड़की के माता-पिता,भाई सगे संबंधियों के लिए कपड़े देते है।

14. शादी का समय— शादी माघ में होती है, जब सब के यहाँ खाने को कुछ रहता है। शादी लड़की के यहाँ उसके गाँव के पहान द्वारा सम्पन्न होती है। शादी में हँड़िया, अतिथियों को पिलाया जाता है। जनजातियों में लड़के की बारात जब चलती है, तो कंड़सा ढोयी महिलाएँ ही आगे होती हैं। लड़की के घर पहुँचने से पूर्व बरातियों को गाँव के बाहर एक जगह ठहराया जाता है। लड़की पक्ष वाले नाचते, बाराती तरफ आते है। बाराती भी नाचते आगे बढ़ते हैं। दोनों पक्ष के मिलने पर दोनों गोलाकार में नाचने लगते हैं। (याद रहे आदिवासी नृत्य करते समय लड़का लड़की औरत मर्द एक दूसरे की पीठ पर हाथ रख कर नाचते हैं, इसे हाथ जोड़ना या जोराना कहते है) गोलाकार नृत्य में दोनों पक्ष के कंड़सा धारी महिलाएँ घूम-घूम कर नाचती हैं। इसके बाद लड़की पक्ष नाचते-नाचते घर की ओर आगे बढ़ता है और वर पक्ष के लोग नाचते उनके पीछे आते हैं। लड़की के घर की ओर नाचते समय भी दोनो पक्षों की महिलाएँ कंड़सा ढोकर आगे-आगे नाचती हुई चलती हैं।

15. **कंड़सा नृत्य**— झारखण्ड के जनजातियों के बीच तरह-तरह के नृत्यों का प्रचलन है, उन्हीं में से एक है 'कंड़सा नाच'। यह नृत्य शादी ब्याह के अवसर पर महिलाओं द्वारा किया जाता है। कंड़सा एक छोटा नया घड़ा होता है। उस नये घड़े को चारों ओर धान की बालियों से गूँथ कर सजाया जाता है। ऊपर से गेंदे के फूल को बाँस के महीन तार में गूथ कर सजाया जाता है। ऊपर से मिट्टी का चार मुँहवाला, एक विशेष मिट्टी का ढक्कन होता है। इस चारों मुँहों में दीया जलाया जाता है, यह चार गाँवों के लिए दीया जलाने का प्रतीक होता है। इससे चारों 1. ग्राम देवी 2. सरना देवी 3. मड़ई देवी 4. चंडी देवी की पूजा होती है।

कंड़सा में इन सबके अलावे सिच्छ कांटे की टहनी होती है, जिसे रखने के पीछे मंशा होती है कि नवदांपत्य जीवन भी काँटे की लतर की भाँति लम्बा हो, उनका जीवन आगे फूले-फले।

वास्तव में कंड़सा नृत्य पद्धति है, जिसे गाँव की देवी देवताओं की आराधना, शाँतिपूर्वक शादी सम्पन्न होने तथा वर वधू की मंगल कामना हेतु की जाती है। उराँव, मुंडा, संथाल, खड़िया, हो आदि झारखण्ड की अन्य सभी जनजातियों के बीच इस कंड़सा नृत्य की परंपरा है।

किसी के घर लड़का या लड़की की शादी हो,तो सबसे पहले उस घर के आँगन में मंड़वा गाड़ा जाता है। मंड़वे में सखुवे के 5 वृक्ष गाड़े जाते हैं। इन सभी खंभों को मिलाने के लिए सखुए की पत्ती सहित डालियों अथवा आम की पत्ती सहित डालियों को रखा जाता है। इसके बाद पूरे गाजे बाजे के साथ कंड़सा उठाया जाता है। गाँव का पाहन मड़वा के बीच-बीच लाल मुर्गे का खून चुलाता है। इसके बाद ढाँक एवं नगाड़े के विशेष ताल पर महिलाएँ कंड़से को सिर पर उठा लेती हैं और नाचने गाने लगती हैं—

केकर लगिन आयो गे झालादूर मड़ोवा

केकर लगिन आयो गे फुदेना लगाय

बेटा लगिन आयो गे झालादूर मड़ोवा (यदि बेटे की शादी हो)

बेटी लगिन आयो गे फुदेना लगाय (यदि बेटे की शादी हो)

16. **शादी**— शादी के समय वर वधू सादा मारकिन धोती और साड़ी पहनते हैं, जिसके किनारे हल्दी का रंग दिया रहता है। शादी के समय दोनों पक्ष के लोग हँड़िया पीकर नाचते-गाते हैं। ढोल नगाड़े बजाये जाते हैं। बूढ़ी स्त्रियाँ विवाह गीत गाती हैं। 'पहान' द्वारा सिन्दूर दान होने पर दूल्हा और दुलहन को मड़वे में सखुए की डालियों के नीचे नई चटाई में बैठाते हैं। इस समय माता-पिता और कन्या के रिश्तेदार एवं गाँव वाले कुछ पैसे अथवा साड़ी देते हैं। माता अथवा पिता एक बक्स, दो काँसे की थाली, दो कांसे की कटोरी, दो काँसे के गिलास अवश्य देते हैं। इसे 'चुमावन' कहते हैं। चुमावन समाप्त होने पर दोनों, उपस्थित सभी के लिए दोने में हँड़िया देकर प्रणाम करते हैं। इसके बाद बेटी और दामाद को आखिरी बार माँ भोजन कराती है। यदि लड़के के मन में साईकिल या घड़ी पाने की इच्छा होती है तो वह तब तक भोजन नहीं करता जब तक उसे वह चीज सास-ससुर से नहीं मिलती है।

सूर्योदय से पहले ही लड़की का भाई, चचेरा भाई भी बहन को गोद में उठा कर घर से बांहर निकालता है और वर पक्ष के किसी निकट सम्बन्धी पुरुष को सौंप देता है। चुमावन में जो उपहार माता-पिता अथवा रिश्तेदार गाँव की नदी या तालाब तक साथ जाते हैं, तत्पश्चात लौट जाते हैं। अगर ससुराल नजदीक हो तो पूरे रास्ते दुलहन को ढोकर लाया जाता है। यदि दूर हो, तो कभी-कभी वह पैदल चलती है।

ससुराल पहुँचने पर सास माँ, वधू का स्वागत करती है। घर का दरवाजा खोल दिया जाता है। दुलहन सखुए की पत्तियों पर पैर रखते हुए अन्दर प्रवेश करती है। इसी बीच सास लोटे में पानी भरकर उसमें आम की पत्तियाँ डुबाकर फिर निकाल कर पानी को बहू के ऊपर छिड़कती है, यह आशीर्वाद का प्रतीक है। वर के यहाँ भी चुमावन के समय वर के रिश्तेदार उसके लिए उपहार स्वरूप धोती कपड़ा अथवा पैसे देते है। प्रथम ससुराल में वधू भी अपनी इच्छित वस्तु को नहीं पाने तक भोजन नहीं करती है।

शादी के तीसरे दिन अड़ैसा (आदिवासी चावल की बनी मिट्ठाई) लेकर पति के संग वह मैके लौटती है। एक-दो दिन रहने के बाद दोनों लौट जाते हैं। वर्ष में पड़ने वाले प्रत्येक पर्व में लड़की के माता-पिता दामाद को बुलाते हैं। पहला प्रसव मैके में ही होता है।

17. **पारिवारिक जीवन**— जनजातियों के परिवार पितृसत्तात्मक होते हैं। महत्वपूर्ण विषयों में पिता का निर्णय मान्य होता है। परन्तु व्यवहार में माता अथवा कभी-कभी माता पिता दोनों बाजार हाट जाकर घर की आवश्यकताओं की पूर्ति करते हैं।

अपने जेठ के सामने छोटे भाई की पत्नी नहीं जा सकती है। अगर आमने-सामने हो गई तो आँचल से सिर को ढाँकती है। वह अपने जेठ का नाम भी नहीं ले सकती है। पति अथवा पत्नी को संबोधित करने के लिए बड़े बच्चे की 'माँ' अथवा 'बाप' कह कर संबोधित किया जाता है।

प्रायः विवाह के तीन चार साल तक इकट्ठे रहने के बाद सभी भाई अलग हो जाते हैं। इस तरह जमीन भी हर एक भाई के लिए बाप ही बाँट देता है। माता-पिता प्रायः छोटे बेटे के साथ रहते हैं, और अपने हिस्से की जमीन भी उसे देते है। यदि माँ विधवा हो जाए, तो उसे भी जमीन का हिस्सा बेटों के बराबर मिलता है। वह चाहे अकेले रहती है, अथवा जिस बेटे के साथ रहती है, उसे ही अपना हिस्सा

देती है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि जनजातियों में जमीन का बँटवारा होते ही जाता है। एक बेटे के पास इतनी जमीन नहीं रहती कि वह अपने परिवार का भरण-पोषण कर सके। इसीलिए अपनी बेटियों को दूसरे के घर 'आया' बनने के लिए दे देता है। गाँव में यदि मजदूरी मिली तो पति-पत्नी, बड़े बच्चे सभी मजदूरी करते हैं। शादी ब्याह अथवा बैल भी साहूकार से उधार लेकर खरीदते हैं। छः महीने तक खेती करने के बाद दिसम्बर महीने में दूर दराज पंजाब, हरियाणा आदि जगहों में काम करने चले जाते हैं। जैसे ही वर्षा शुरू होती है, खेती करने के लिए लौट आते हैं। यदि विवाहित पत्नी व्यभिचार में पकड़ी जाये तो पति को शादी के समय दाः अर्थात् जल काटने के समय उसे छोड़ने का अधिकार मिलता है। पत्नी के माता-पिता इस संबंध मे कुछ नहीं कर सकते हैं। यदि सिर्फ घर से बाहर निकाल दिया हो तो, व्यभिचारी स्त्री को कन्या-दान और शादी के समय के हुए खर्च को लौटाना पड़ता है।

यदि विवाहिता पत्नी की इच्छा के विरुद्ध पति ने रखैल रखा हो तब वह समाज में बुरा समझा जाता है। उस रखैल के कारण यदि पति उससे अच्छा व्यवहार नहीं करता हो तो पत्नी पंचायत बुला सकती है। पंचायत, पति पर जुर्माना लगाती है। रखैल को घर की पैतृक सम्पत्ति में कुछ अधिकार नहीं होता है। पति के मरने के दिन ही बच्चों सहित वह घर से बाहर निकाल दी जाती है, और वह हक के लिए पंचायत भी नहीं बुला सकती है। उनके बच्चों को पिता की सम्पत्ति में से कुछ भी अधिकार नहीं मिलता।

यदि पति अपनी निर्दोष पत्नी को बिना किसी जघन्य अपराध के त्याग देता है, या घर से बाहर कर देता है तो समाज की नजरों से गिर जाता है। ऐसी स्थिति में वह शादी के समय किये गये खर्च एवं कन्या-दाम को वापस नहीं माँग सकता है। यदि परित्यक्ता अथवा उसके माता-पिता पंचायत बुलाते हैं, तो पति को उसके लिए भरण-पोषण का खर्च वहन करना पड़ता है।

18. **टैबु**— स्त्रियों के लिए कुछ वस्तुओं का स्पर्श करना मना है जैसे—

1. वे हल नहीं चला सकती हैं। यदि रोती हुई बेटी को हल चलाते समय बाप ने गोद में लिया तो यह भी हल का स्पर्श अप्रत्यक्ष रूप में माना जाता है।
2. वे धान नहीं बो सकती हैं।
3. छत पर कद्दु, कों सोहड़े को तोड़ने के लिए न छू सकती हैं और न उन पर पैर रख सकती हैं।
4. शिकार के लिए प्रयुक्त औजारों को न छू सकती हैं और न उन पर पैर रख सकती हैं।
5. टोटम के जानवरों को मारना अथवा उनका मांस खाना भी निषिद्ध है।
6. स्त्रियाँ पंचायत में हाजिर नहीं हो सकती हैं।

(टैबू का वर्णन विस्तार से मुंडा जनजाति में किया गया है।)

इनसाइक्लोपीडिया आफ मुंडारिका में बा पोरोब के संदर्भ में महिला पहान की चर्चा की गई

है। हाफमैन लिखते हैं कि कुछ गाँवों में पहान नहीं स्वीकारी जाती हैं, कुछ गाँवों में जहाँ पहनाई स्वीकारी जाती हैं, वहाँ घर की उम्रदार महिलाओं को पूर्वजों की पूजा करने की अनुमति रहती है। मातृसत्तामक प्रणाली कमजोर होने के कारण यह आजकल बहुत कम दिखाई देता है।

स्त्रियाँ पंचायत में दर्शक बनकर जा सकती हैं, परन्तु उनके राजनैतिक अधिकार न होने से वे न तो पंच चुनी जाती हैं और न कोई निर्णय ही दे सकती हैं।

19. **पुनर्विवाह**— चूंकि जनजातियों की संपत्ति खेत ही होती है, इसलिए यदि कोई पत्नी कामचोर हो, तो अपने माता-पिता की सलाह लेकर, पति उसे त्यागकर कर दूसरा विवाह कर सकता है। बाँझ स्त्री की सलाह से ही पति दूसरा विवाह कर सकता है। दुराचारिणी पत्नी को तो, पति हर हालत में त्याग सकता है। इसके लिए माता-पिता की सलाह लेना जरूरी नहीं है।

20. **विधवा**— समाज में विधवाओं की स्थिति दयनीय नहीं है। वह समाज के हर शुभ काम कर सकती है। शादी-ब्याह में उपस्थित होती अमंगल नहीं मानी जाती है। यदि लड़की जवानी में ही विधवा हो जाये, तो दूसरी शादी कर सकती हे। यदि बेटे वाली विधवा हो, तो चाहे बेटे को ससुराल में छोड़कर मैके आती है और दूसरा विवाह करती है, अथवा आजीवन अपने बेटे के साथ रहती है, अथवा अपने देवर के साथ विवाह करके ससुराल में ही रहती है। पुत्रीवाली विधवा को पुनर्विवाह करने में कोई कठिनाई नहीं होती है, वह जहाँ भी दूसरी बार विवाह करके जाती है, अपनी बेटी को लेते जाती है। विधवा को पति की सम्पत्ति का एक हिस्सा मिलता है। वह जिस बेटे पर आश्रित होती है, उसी को वह जमीन दे देती है।

21. **मृत्यु**— किसी की मृत्यु होने पर उस घर की स्त्रियों के रोने की आवाज सुनकर गाँव के स्त्री पुरुष उस घर में जमा हो जाते है और शोक संतप्त सदस्यों को सान्त्वना देते हैं। लाश को गाड़ते हैं, अथवा कोई-कोई जलाते भी हैं। स्त्री बच्चे सभी शवयात्रा में भाग लेते हैं। मृतक के घर की स्त्रियाँ रोती बिलखती श्मशान तक आती हैं। मिट्टी देने के बाद महिलायें और पुरुष किसी तालाब में अलग-अलग नहा कर गीले वस्त्र सहित मृतक के घर आते हैं। वहाँ एक-एक हँड़िया पीकर अपने-अपने घरजाते हैं। अपनी सामर्थ्य के अनुसार मृत्यु के छः महीने अथवा साल भर बाद श्राद्ध करते हैं। श्राद्ध में शादी की तरह ही खान-पान होता है, सिर्फ माँस का परहेज रहता है। बिना श्राद्ध किये घर में शादी नहीं हो सकती है। अतः गरीब आदिवासी चार-पाँच वर्षों के बाद भी दो-तीन घर के मृतकों का एक साथ श्राद्ध करते हैं।

22. **धर्म**— सभी आदिवासी प्रकृति पूजक होते हैं। एक सर्वशक्तिमान अदृश्य शक्ति की पूजा करते हैं। इस अदृश्य शक्ति को उराँव धर्मेस, मुण्डा सिंगबोंगा, संथाली चन्दोबाबा कहते हैं। ये भूत प्रेत मानते हैं क्योंकि बलि नहीं देने पर वे कष्ट देते हैं।

परन्तु वर्तमान में बहुत से आदिवासी ईसाई धर्म मानने लगे हैं।

23. **जनजातियों का स्वभाव**— सरलता और ईमानदारी के गुणों से ओत-प्रोत रहते हैं। पुरखों के जमाने में ईमानदारी और अधिक थी। लोग घर में ताला बिना लगाये खेत खलिहान निकल जाते थे। आम कटहल या किसी तरह के फलों की चोरी नहीं होती थी। रात्रि में भी एक पीढ़े अथवा लकड़ी को

दरवाजे के भीतर सटा कर रखते थे। फिर भी रात्रि सुरक्षा के लिए कुत्ते पालते थे। ये हमेशा प्रसन्नचित, विश्वसनीय, उदार, अतिथि प्रेमी, कठोर परिश्रमी, भीरु, अदूरदर्शी, शान्तिप्रिय, प्रकृतिपूजक, अंधविश्वासी होते है। जनजाति के लोग स्वालम्बी होते हैं। अपने खाने पीने और आवश्यकता की चीजें उपजा लेते हैं।

24. **बीमारी की दवा**— बीमार पड़ने पर दवा नहीं लेते हैं। कभी-कभी तो एक दो दिन आराम करने से बीमारी अपने आप ठीक हो जाती है। प्राचीन काल के जनजाति तो इतनी शुद्ध हवा और रासायन रहित भोजन का प्रयोग करते थे, कि बीमार ही प्रायः कम पड़ते थे। शारीरिक श्रम, चिंता मुक्त जीवन यापन, पैदल चलने की आदत, नृत्य-संगीत आदि द्वारा ये रोग मुक्त रहते हैं।

गाँव के आदिवासी अपनी बीमारी का इलाज पहले स्थानीय वैद्यों से ही कराते हैं। यह भी सच है कि कुछ मती ओझा कराते हैं। वैद्य बायें हाथ की नाड़ी दबाकर ही बीमारी का पता कर लेता है। अगर पेट की बीमारी हो तो नाभी दबा कर बीमारी पहचान लेता है। वैद्य, परिवार वालों को किसी चिड़िया का पंख, किसी पशु की चर्बी, किसी फल का तेल, किसी घास की जड़, इकट्ठा करने को कहता है। वह स्वयं जंगल या टाँड़ जाकर कुछ प्राकृतिक घास की जड़ लाता है। प्रायः उस को सूत में लपेट कर गले में बाँध देता है अथवा जड़ों को पीस कर पिला देता है अथवा तेल अथवा चर्बी को दर्द स्थान में मालिश करता है। वह प्रायः उस जड़ जैसी तीती चीजों को गोली बना कर खाने को भी देता है। अगर किसी के दाँत में दर्द हो, या दाँत को कीड़े खा रहे है तो सूर्योदय से पहले नित्य कर्म रोककर जड़ी बूटी उखाड़ कर लाता है और जड़ी बूटी को सूत में बाँधकर रोगी के गले में बाँधता है, अकवन पत्ती को घड़े के पानी में खौला कर रोगी को, पत्ते के भाँप को झुक कर दाँत के भीतर लेने को कहता है। इस प्रकार दाँत के कीड़े निकल जाते हैं।

जानवरों का इलाज भी गाँव के वैद्य इसी प्रकार जड़ी बूटी से करते हैं। उनकी हड्डियाँ अगर टूट गई हो, तो एक सीधी लकड़ी का सहारा देकर जड़ी बूटियों को पीस कर टूटे स्थान में लगा कर उस स्थान को कपड़े से बाँध देते हैं। एक-दो दिन बाद जानवर को आराम हो जाता है।

जहरीले साँप के काटने पर भी जड़ी-बूटियों और तंत्र-मंत्र से ईलाज होता है। इस आधुनिक युग में भी निर्धन कृषकों ने वैद्यों द्वारा इलाज कराने की परम्परा को कायम रखा है।

वैद्य अपनी दवा देने से पहले धर्मेस या सिंगबोगा को याद करता है। बदले में हँड़िया और दाल भात (कभी-कभी मुर्गे का माँस) ही खाता है। अपने से पैसे नहीं माँगता है। बीमारी दूर होने पर अपनी खुशी से वैद्य को धोती या कुछ पैसे देते हैं। कहा जाता है कि वैद्य द्वारा पैसों की माँग करने पर दवा बेअसर हो जाती है।

25. **मुख्य त्योहार**— इनके त्योहार करमा, सरहूल, सोहराई ही प्रमुख हैं। इन उत्सवों में ये खूब हँड़िया पीते हैं। अपनी बेटियों को उनके ससुराल से बुलाते हैं। सरहूल तो बसंत ऋतु में होता है। उन दिनों महुए बहुतायत से मिलते हैं। अतः महुए का रस चुला कर इससे शराब बनाते हैं और पीते-पिलाते हैं। पर्व के नाम पर खान-पान और नाच एक सप्ताह तक चलता है। इनके त्योहार कृषि पर आधारित रहते हैं।

26. नृत्य प्रेमी— जनजातीय समाज रसिक होता है। पर्व त्योहारों एवं शादी-ब्याह के अवसरों पर लड़के-लड़कियों के अलावे अधेड़ उम्र के पुरुष भी ढोल नगाड़े बजाते हैं। मुंडारी भाषा बोलने वालों को सुनते समय ऐसा लगता है कि वे गा रहे हैं। इनके संगीत, नृत्य के अनुसार भिन्न-भिन्न होते हैं।

27. **खेल**— आदिवासी लड़के-लड़कियाँ हॉकी में माहिर हैं। बकरी चराते समय अथवा दौड़ते समय भी डंडे से पत्थर को मारते हैं। यहीं उनके हॉकी खेल की शुरूआत होती है। वर्तमान में पहले राष्ट्रकुल और प्रथम एफ्रो एशियाई खेलों (नवम्बर 2003) की महिला हॉकी स्पर्द्धा का स्वर्णपदक जीतने वाली भारतीय हॉकी टीम में शामिल झारखण्ड की पाँच आदिवासी लड़कियाँ भी हैं (सुमराय टेटे, मसीरा सुरीन, एडलिन केरकेटा, पुष्पा प्रधान तथा अनारिता केरकेटा)। इसके पहले भी सवित्री पूर्ति, विश्वासी पूर्ति ख्याति प्राप्त महिला हॉकी खिलाड़ी रह चुकी हैं। एफ्रो एशियाई खेलों की पुरुषों की हॉकी स्पर्द्धा का स्वर्ण पदक जीतने वालों में एक आदिवासी युवक विमल लकड़ा भी है। इसके पहले भी माइकल किंडो, सिलबानुस डुंगडुंग, मनोहर टोपनो भी अन्तरराष्ट्रीय स्तर के खिलाड़ी थे। ये सभी खिलाड़ी झारखंड के रहने वाले हैं।

हॉकी के अलावा खोखो और फुटबॉल भी आदिवासी युवक खेलते हैं। गाय बैल चराते समय ही गाँव के बच्चे पुटबाल खेलते हैं। परन्तु अभी फुटबाल के क्षेत्र में इनकी पहचान नहीं बन पाई है। राज्य सरकार द्वारा इन खिलाड़ियों को नौकरी के साथ ही साथ प्रोत्साहन राशि दी जाती है।

28. **आदिवासियों की दिन-चर्या**— आदिवासी खेती को ही अपना मुख्य पेशा मानते हैं। जंगलों को काटकर खेत बनाने की प्रवृति अभी भी है। जून-जुलाई महीने में पानी गिरते ही खेती का काम शुरू करते हैं, घर के वयस्क पुरुष और बेटा हल जोतने निकल जाते हैं। कोई छोटा-बेटा या बेटी बकरियाँ और गाय बैलों को चराने निकल जाता या जाती है। घर की माताएँ और बहनें घर और आँगन झाडू करने के बाद बर्तन धोना, गोबर फेंकना, डाड़ी या कुएँ से घड़ों में पानी लाना आदि काम करती हैं। कभी-कभी तो माता अकेली या बड़ी बहन, प्रातः मुर्गी बोला, धान को पानी देकर सिझाती हैं। घर में यदि बूढ़ी सास हो तो चूल्हे के पास बैठकर लकड़ी अथवा पत्तों को जला कर धान सिझाती हैं। यदि बूढ़ी औरत न हो तो कोई छोटी बच्ची यह काम करती है। यदि माता अथवा बड़ी बहन घर में ही धान कूटती है, तो स्वयं बीच-बीच में यह काम करती है। घान कूटने का काम समाठ (Husking pall) अथवा ढेकी द्वारा होता है। उपरोक्त सभी कार्यों को करते समय अपने दूध मुँहे बच्चे को अपनी छोटी सन्तान की पीठ में बाँध देती है।

एक बड़ी टोकरी में पकी हुई दाल, भात और कोई प्राकृतिक साग, खाने के बरतन डाल कर खेत की ओर माता चल देती है। अगर कोई छोटी बेटी हो, तो दूध मुँहे बच्चे को उसकी पीठ में बाँध देती है, अगर न हो तो स्वयं बच्चे को पीठ में बाँधती है। खेत की मेड़ में ही पति और बच्चों को खिलाने के बाद स्वयं खाती है। खिलाने के बाद खेत के जंगली घासों को निकालती या रोपनी का समय हो तो रोपा रोपती है। भोजन देने के अलावे चटाई में धान भी सुखाने के लिए लाती है। कटनी मिसनी के समय पुरुष वर्ग घर में ही खाना खाते हैं। धान भी घर के आस-पास खलिहान में ही सुखाया जाता है। आदिवासी पत्नी या माता हमेशा पति और बच्चों को खिलाने के बाद ही भोजन करती है। वर्षा पानी से भींगने से

बचने के लिए पत्तों से बने गुंगु अथवा बाँस के छाते का प्रयोग होता है। स्त्रियाँ गुंगु को पीठ में ओढ़कर रोपनी करती हैं। कटनी मिसनी के बाद कृषकों के यहाँ कुछ खेती का काम नहीं रहता है। आदिवासी साल में एक ही फसल उपजाते हैं जो मानसून पर निर्भर करता है। गरमी की दुपहरिया में गाँव के पुरुष वर्ग गाँव के ही किसी वृक्ष की छाया के नीचे बैठकर गप-शप करते हैं। बैठकर खेती के औजार बनाते अथवा रस्सी बनाते हैं। स्त्रियाँ भी दोपहर किसी के घर में जमा होतीं, अथवा अपने ही घर में बैठकर चटाई, झाडु बनाती हैं अथवा फटे पुराने कपड़ों को सिलाई कर गुदड़ी बनाती हैं। बरसात आने वाला रहता है अतः झुंड में गुंगु पत्ता (एक विशेष प्रकार का चौड़ा पत्ता) तोड़ने जाती हैं। रोपनी करते समय या बैल चराते समय गुंगु ही ओढ़ती हैं। यह भीतर में बहुत आरामदायक होता है। इसी में माताएँ काम करते समय अपने बच्चों को सुलाती हैं।

29. **कृषि के औजार और कृषि कार्य**— खेती हल और बैल द्वारा की जाती है। लकड़ी के हल के अगले नुकीले भाग में लोहे का फाल घुसेड़ा रहता है। हल की मूँठ होती है, जिसे किसान पकड़े रहता है। उसके हाथ में एक छोटी छड़ी रहती है, जिसके द्वारा वह बैलों को हाँकता है। दो बैलों के ऊपर जुआठ रखा जाता है। जिसे वे खीचते हैं। इस प्रकार हल में लगे फाल से जमीन ढीली हो जाती है। पटरा, मिटट्री बराबर करने वाला औजार और मिट्टी फोड़ने वाला औजार, ये सब लकड़ी के बने होते हैं। प्राय कृषक ही इन औजारों को 'बसूला' और 'छेनी' द्वारा बनाते हैं। परन्तु कभी-कभी दूसरे कृषकों द्वारा बनाये गये हल, बाजार, अथवा जतरा से खरीदते हैं। लम्बी मूँठ वाली कुल्हाड़ी, लकड़ी फाड़ने, तटबन्ध बनाने के लिए प्रत्येक किसान के पास अनिवार्य औजार होते हैं। हँसुए से धान काटते हैं। एक औजार 'बहिंगा' होता है, जिसके दोनों छोरों में रस्सियाँ बाँधी जाती हैं। इन्हीं रस्सियों द्वारा धान की बालियों को बहिगें के दोनों ओर बाँधते हैं। इस प्रकार बहिंगे से धान की बालियों को ढोकर किसान खलिहान पहुँचाते हैं। बहिंगा भी लकड़ी से ही बनता है। स्त्रियाँ भी धान की बालियों को रस्सी से बाँधकर उसे सिर में ढोकर खलिहान पहुँचाती हैं।

30. **भोजन**— आदिवासी उसना चावल का ही भात खाते हैं। अरवा चावल को इसलिए नहीं खाते क्योंकि यह बहुत जल्द पचता है और बहुत जल्द पेट खाली होने से भूख लगती है। ये दिन में सिर्फ दोपहर और शाम, दो बार भोजन करते हैं। अगर घर में उपजाई हुई दाल है तो पकती है नहीं तो चावल के माँड़ में ही कुछ जंगल का सूखा साग डाल कर उबाल देते हैं। घर से सटे बारी (बगान) में जो सब्जी उपजायी जाती है, वही पकाते हैं। बारी में साग और आलू उपजाते हैं। आदिवासियों की विशेषता है कि ये सब्जियाँ नहीं खरीदते हैं। अगर सब्जी नहीं है तो दाल भात अथवा माड़ भात से ही संतोष कर लेते हैं। कभी-कभी जंगल से भी फफूंदी अथवा साग मिल जाते हैं। कुछ वृक्षों की कोमल पत्तियों को भी साग बना कर खाते हैं। जटंगी और सरसों के बीजों को कोल्हू में डाल कर तेल निकालते हैं। इसी तेल से सब्जी बनाते हैं। आदिवासी प्रायः उबाली हुई सब्जी ही खाते हैं, जिसमें बहुत थोड़ा तेल मसाले मिर्च रहते हैं। केवल अपने पर्व त्योहारों में ही तेल में पकाई गई अरवा चावल की गुंडी से बनी रोटी खाते हैं।

आदिवासी माँसाहारी होते हैं। ये गाय, बैल, खस्सी, बकरे, मुर्गा-मुर्गी, बत्तक, सूअर आदि पालतू जानवरों का मांस खाते हैं। जंगली जानवरों में बाघ, भालू, सियार, साँप, जंगली सूअर, सभी प्रकार की

मछलियाँ, खरगोश, कछुवा, मेढ़क का मांस खाते हैं। परन्तु पालतू जानवरों का माँस किसी पर्व में अथवा निकटतम मेहमान के आने पर ही खाते हैं। जंगली जानवरों का मांस तो 'सेन्दरा' में जाने से ही मिलता है। सेन्दरा में मारे गये जंगली जानवरों को गाँव के प्रत्येक घर में बाँटा जाता है। तीर धनुष उनका जीवनसाथी है। मछली मारने के लिए भी ये ग्रुप में जाते हैं। नदी नाले के पानी को बाँध कर उस स्थान का पानी छीटते हैं और मछलियाँ पकड़ते हैं। पकड़ी गई मछलियों को भी आपस में बाँटते हैं। कोई-कोई जाल से मछली पकड़ता है, तो कोई वंशी डाल कर तो कोई खेत के बहते पानी में कुमनी लगाकर। इस तरह की पकड़ी गई मछलियाँ व्यक्तिगत होती हैं। मछली के अलावे घोंघा, केंकड़ा भी पकाकर खाते हैं। गरीबी के कारण वे पालतू जानवरों और यहाँ तक कि पकड़ी गई मछलियों को भी बेच देते हैं। इस प्रकार हम कह सकते हैं कि वे मांसाहारी होते हुए भी शाकाहारी हैं। मिट्टी के घड़ों में पानी रखते हैं और बिना उबाले ही डुभनी से पानी पीते हैं। मिट्टी की हाँडियों में ही खाना बनाते हैं। गोल एवं गहरी थाली (काँसे की बनी हुई) खाने के लिए प्रयुक्त होती है। गिलास प्रायः नहीं होते है। रात के बचे हुए भोजन में पानी डाल देने से वह सुबह बासी भात कहलाता है। बच्चे सुबह इसी का नाश्ता करते और उसी का पानी पीते हैं। जनजाति पुरुष स्त्री, बाल-बच्चे खाते समय लकड़ी के पीढ़े पर बैठते हैं।

31. **अन्य खान-पान**— तम्बाकू— आदिवासी पुरुष यहाँ तक कि जवान लड़के भी तम्बाकू खाते हैं। परन्तु पान, बीड़ी, सिगरेट, भांग आदि भी खाते पीते हैं। जहाँ दो पुरुष मिले, तम्बाकू का आदान प्रदान करते हैं। तम्बाकू की खेती स्वयं कपास के समान ही लुप्त होती जा रही है। शादी ब्याह अथवा अन्य उत्सवों में मेहमानों को तम्बाकू देना आतिथ्य सत्कार का एक भाग होता है।

हुक्का— इसे विवाहित महिलाएँ विशेषकर दादी-नानी आदि श्रेणी की बूढ़ी महिलाएँ पीती हैं। चिलम की आग में तम्बाकू के चूर्ण डाल दिये जाते हैं। जब तम्बाकू आग में जलने लगता है, तो एक भीनी सुगन्ध आती है। कभी-कभी विशेष प्रकार से बनी लकड़ी की छोटी टुकड़ी को चिलम में घुसेड़ दिया जाता है। इसे लकड़ी के निचले भाग गोलाकार लकड़ी के पात्र में घुसेड़ा जाता है। लकड़ी बीच में खोखली रहती है। इस लकड़ी के गोलभाग में पानी रहता है साथ ही एक छेद। इसी छेद में बूढ़ी औरतें मुँह लगाकर साँस खीचती हैं। तो चिलम की आग का धुँआ उनके मुँह में आता है। मुँह में धुँए को वे बाहर साँस लेकर फेंकती हैं। शादी-ब्याह या कोई अन्य उत्सवों में हुक्का देना आतिथ्य सत्कार का प्रतीक है। यदि किसी परिवार का सामाजिक बहिष्कार होता है, तो उसके यहाँ हुक्का-पानी, उठना बैठना तम्बाकू आदान-प्रदान, हँड़िया पानी आदि बन्द होता है।

हँड़ियाँ (Rice beer)— यह चावल को उबाल कर बनता है उबालने के बाद पके चावल को ठंढा होने के लिए जमीन पर फैला देते हैं। ठंढा होने पर उसमें 'रानू' (अरवा चावल को ढेकी से कूट कर उसे चूर्ण बना कर उसमें जड़ी बूटी मिला देते हैं) मिला, मिट्टी की हाँडी में रख देते हैं। हाँडी के ऊपर ढक्कन रहता हे। तीन-चार दिनों में चावल से रस निकलता है। इसे ही हँड़िया कहते हैं। जन्म से लेकर मृत्यु के खान पान तक हँड़िया का प्रयोग होता है। पहान, देवताओं को हँड़िया का ही तर्पण देता है। शादी ब्याह में अतिथियों का सत्कार हँड़िये से होता है। जन्म से लेकर मृत्यु के खान-पान तक हँड़िया का प्रयोग होता है। सामाजिक उत्सवों में हँड़िये का सेवन आदिवासी पुरुष और स्त्रियाँ खूब करती

हैं। एक प्रकार से कहा जाये तो हँड़िया और आदिवासी पुरुष स्त्री, एक सिक्के के दो पहलू हैं। दिन भर खेतों में काम करने के बाद इसे पीकर अपनी थकान दूर करते हैं।

महुएँ का रस (शराब)— आदिवासी अधिक मात्रा में महुए का वृक्ष रोपते हैं। इस वृक्ष से उन्हें महुँआ (वृक्ष का फूल) मिलता है। यह महुँआ भूख के दिनों में उनका भोजन बनता है। परन्तु इस फूल का सदुपयोग या दुरुपयोग कहें, इसे चुलाया जाता है तो इसे देशी शराब' कहा जाता हे। बसंत के मौसम में इसका फूल खिलता है अतः देशी शराब भी इसी समय बनती है। सरहुल त्योहार इसी मौसम में होता है। इस पर्व में हँड़िया के साथ इस देशी शराब (दारु) को भी आदिवासी पीते हैं। परन्तु यह आदिवासी संस्कृति नहीं है, कुछ ही लोग बना कर पीते है, क्योंकि सब के पास महुँए के वृक्ष नहीं होते हैं।

32. **अर्थव्यवस्था**— इनका मुख्य पेशा खेती है। जंगलों को काटकर अभी भी खेत बनाते हैं। इनकी खेती मानसून पर निर्भर करती है। धान मुख्य फसल है, इसके अलावे गोड़ा, गोंदली, मकई, चीनाबादाम, उरद, बरई, शकरकन्द, महुँआ के साथ तेल के लिए जटंगी, सरसों उपजाते हैं। खेती के औजार सामान्य आदिवासियों के समान हैं।

प्रत्येक परिवार सामान्यतः घर में सूअर, मुर्गी, खस्सी पालता है। इन्हें बेचकर घर की आवश्यक चीजें खरीदी जाती हैं।

प्रत्येक गाँव में महुँए के वृक्ष व्यक्तिगत होते हैं इन्हें चुनकर इकट्ठा करते हैं। कुछ गरीब लोग इसे भाँप कर खाते हैं, नहीं तो इसे बेच कर भी मुद्रा प्राप्त होती है। इसी महुँए से शराब बनती है।

सखुए के बीज, करंज के बीज, कुसुम, डोरी आदि भी बेचे जाते हैं। करंज और डोरी, जटंगी और सरसों के बीजों को कोल्हू में पेर कर तेल निकालते हैं। जंगल के कंद, फल (बैर, जामून, डूम्बर) आदि सखुए, करंज, नीम के दतवन, सखुए के पत्ते (कभी-कभी दोना बना कर) लकड़ियाँ भी और गरीब परिवार के लोग बेचते हैं। और पैसे कमाते हैं।

फुर्सत के क्षणों में मछली मारना यद्यपि मनोरंजन का साधन है परन्तु यह आय का भी साधन है।

आजकल आदिवासी पुरुष-स्त्री श्रम बेचती हैं। गाँव के धनी मानी लोगों के यहाँ मजदूरी करके भी अपनी भूख मिटाते अथवा आय बढ़ाते हैं। खेती का काम समाप्त होने पर ये दिल्ली-पंजाब काम के लिए चले जाते है और पानी गिरने पर लौट आते हैं। गाँव में भी यदि कोई सरकारी काम होता है तो बड़ी संख्या में ये कुली और रेजा काम करते हैं। आदिवासी लड़कियाँ और महिला भी दूसरे के यहाँ 'दाई' का काम कर धनोपार्जन करती हैं।

33. जनजातीय समाज में स्त्रियों की आर्थिक जीवन में भागीदारी— मानवशास्त्रियों ने जनजातियों के बीच स्त्रियों की आर्थिक जीवन में भूमिका विषय पर बहुत कम ध्यान दिया है। जनजातीय अर्थव्यवस्था से संबंधित प्राप्त अध्ययनों में स्त्री पुरुषों के मध्य जनजातीय आर्थिक क्रिया-कलापों को निम्न भागों में बाँटा गया है—

क. भोजन संग्रह, शिकार एवं मछली पकड़ना

ख. चारागाही

ग. स्थान परिवर्तन कृषि

घ. स्थायी कृषि

ङ. हस्तकरघा उद्योग तथा अन्य लघु उद्योग

च. व्यापार तथा वाणिज्य

छ. कृषि एवं औद्योगिक श्रमिक का कार्य

जनजाति के लोग कृषक, श्रमिक से लेकर स्वयं की भूमि में कृषि कार्य करते हैं। सभी स्तरों पर स्त्रियाँ महत्वपूर्ण भूमिका अदा करती हैं। यद्यपि कृषि के क्षेत्र में स्त्री-पुरुषों के मध्य स्पष्ट रूप से श्रम-विभाजन विद्यमान है।

बीहड़ प्रदेशों जैसे पर्वतीयों एवं पठारी क्षेत्र की अनुपजाऊ क्षेत्रों में रहने वाली जनजातियों में वन्य पशु-पक्षियों का शिकार जीवनयापन के प्राथमिक स्रोत के रूप में रहा है। स्त्रियाँ इस कृत्य के लिए अयोग्य मानी गईं, तथापि भोजन बनाने एवं बाजार में बेचने के लिए इंधन का संग्रह आमतौर पर स्त्रियों द्वारा किया जाता है। आर्थिक विकास की चाहे कोई भी अवस्था हो, जनजातीय स्त्रियाँ वर्तमान समय तक एक 'लेबर मशीन' की भाँति अपना योगदान अपने परिवार की अर्थव्यवस्था में देती आई हैं।

कृषि के क्षेत्र में कतिपय कार्य सर्वत्र ही स्त्रियों के लिए निषिद्ध कर दिये गये हैं उदाहरणार्थ-हल चलाने, बीज बोने का काम पुरुष करते हैं लेकिन अन्य सभी प्रकार के कार्यों में स्त्रियों की भागीदारी देखी जा सकती है। यद्यपि कृषि क्षेत्र में प्रौद्योगिकी के पदार्पण के फलस्वरूप स्त्रियों की भागीदारी में गिरावट अवश्य आयी है तथा जनजातीय समाज वर्तमान युग तक इस उन्नत तकनीक से अछूते हैं तथा स्त्रियों की कृषि के क्षेत्र में भागीदारी यथावत् बनी हुई है।

रोपनी के पहले पुरुष खेत तैयार करता है इसके बाद स्त्रियाँ और लड़कियाँ ही रोपनी का काम करती हैं। धान के पौधों के बीच से जंगली घास निकालती हैं। पुरुष सिर्फ खेत या टाँड़ में जोंत-कोड़ करके बीज बो देते हैं, बाकी काम स्त्रियों के हाथ है। परन्तु धान काटने, बालियों को खलिहान तक लाने, दौनी करने, ओसाने, अन्नाज को ढोकर घर पहुँचाने में पुरुषों का साथ देती हैं।

जनजातीय समाजों में स्त्रियों को एक आर्थिक सम्पदा के रूप में माना जाता है। छोटानागपुर की मुंडा, खड़िया जाति में कन्या के विवाह में एक जोड़े बैल, बाप को मिलता है। हम कह सकते है कि बेटी अपने बाप के लिए आय का साधन बनती है। कठोर परिश्रमी एवं कर्तव्य परायण स्त्री को पर्याप्त महत्ता एवं सम्मान की दृष्टि से देखा जाता है। घर की अर्थव्यवस्था पूर्णत: उस पर निर्भर करती है। आदिवासी पुरुष प्राय: पीने वाले निठल्ले होते हैं। सीमित आमदनी से घर चलाना पत्नी के हाथ रहता है। यदि कोई परिवार पहले गरीब था, शादी के बाद धनी हुआ, तो लोग कहेंगे औरत की मेहनत के कारण ही हुआ।

34. **बाजार**— गाँव में प्राय: नमक तेल की दुकानें नहीं होती हैं। सप्ताह में एक दो निश्चित दिनों में बाजार लगते हैं। घर में जो उपज होती है— धान, चावल, तेलहन (तिल, कुसुम, डोरी) उरद, मडुवा

चीनाबादाम, अगर सब्जियाँ उगाते हों तो मौसमी सब्जियाँ, मुर्गियाँ, बत्तख आदि बेचने बाजार ले जाते हैं। बाजार से कृषि के औजार, विशेषकर हल की खरीद बिक्री होती है, जिन को या तो लुहार या स्वयं उराँव, मुण्डा, खड़िया किसान बनाता है। बाजारों में बैल, बकरियों आदि की भी खरीद-बिक्री होती है। कृषि कार्य में प्रयुक्त होने वाले सूप, टोकरी, चटाई, कुदाल चाकू आदि की भी खरीद-बिक्री होती है।

बाजार में पोस्टमैन जाकर चिट्ठी बाँटता है, कभी-कभी मनीआर्डर भी पहुँचाता है। आस-पास के गाँवों के लोग एक साथ मिलते हैं अत: एक दूसरे के दु:ख, सुख की जानकारी होती है। बाजार जाने के लिए विशेष कर किशोरियाँ साफ सुथरे कपड़े पहनती हैं। चाँदी के हार यदि संभव हो तो पहनती हैं, बालों में तेल लगाती हैं। इस प्रकार सज-धज कर रास्ते में ठिठोलियाँ करती जाती हैं। बाजार टाँड़ में लड़के-लड़कियाँ खुल कर एक दूसरे से बातें करती हैं, कभी-कभी प्रणय निवेदन भी करती हैं। कभी-कभी बच्चे अपने मेहमानों के यहाँ दूसरे बाजार दिन तक रह जाते हैं। बाजार में कपड़ों और चूड़ियों की भी दूकानें होती हैं, ग्रामीण यहीं से वस्त्र खरीदते हैं। ग्रामीण पुरुष तमाकू खाते हैं, अत:पुरुष हप्ते भर के लिए बाजार से तमाकू खरीद लेते हैं। कुम्हार मिट्टी के बरतन भी बाजार में लाते हैं। आदिवासी महिलायें घड़े खरीदती हैं, क्योंकि भोजन पकाने और पानी रखने के लिए मिट्टी के घड़ों का ही प्रयोग होता है बाजार में मिठाइयाँ भी बिकती है, आदिवासी बच्चे मिठाई के लालच में बाजार आते हैं।

बाजार के एक किनारे हँड़िया और शराब भी बिकते हैं। बाजार से लौटते आदिवासी पुरुष पीना अनिवार्य समझते हैं। **मुर्गा लड़ाई**— बाजार के एक किनारे दो मुर्गो को लड़ाने का खेल होता है। दोनों मुर्गों के डैनों में चाकू बाँध दिये जाते हैं। जिसका मुर्गा मार दिया जाता है, उसकी हार हो जाती हे। उस मुर्गे का मालिक मारे गये मुर्गे को ले लेता है। यह खेल प्राय: पूस-माघ में होता है।

मेला— गृहस्थों का कृषि कार्य पूस में समाप्त हो जाता है। इसी पूस-माघ में चाँद की तिथि के अनुसार किसी-किसी गाँव में मेले का आयोजन किया जाता है। बाजार का ही दूसरा रूप परन्तु वृहत् होता है। मेले में काँसे के बरतन, लोटे, गिलास चढ़ाये जाते हैं। स्टील के बक्से कपड़े, तीर-धनुष, मछली मारने के लिए जाल, भी मेले, में मिलते हैं। आदिवासियों के लिए पूस-माघ शादी का मौसम होता है। अत: शादी की जरूरतों की सभी चीजें मेले में मिल जाती हैं। खेती काम नहीं होने कारण लड़के-लड़कियाँ सज-धज कर मेलेमें आती हैं। एक दूसरे से प्रणय निवेदन करते हैं।

जतरा— कटनी से पहले जब फसलें खेत में ही रहती हैं, उस समय जतरा का आयोजन किसी टाँड़ में किया जाता है। प्रत्येक गाँव के लड़के-लड़कियाँ सज-धज के निकलती हैं। जुलूस के आगे गाँव का झंडा रहता है। उसके साथ ही गाँव के लड़के नगाड़ा बजाते जाते हैं। जतरा टाँड़ पहुँचने से पहले गाँव के पहान को लकड़ी के घोड़े में बैठाकर चार आदमी (लड़के) ढोते हैं। लड़कियाँ नाचना शुरू कर देती हैं। इसी तरह सभी गाँव के लड़के-लड़कियाँ अपने-अपने गाँव के झंडों के साथ नाचती आती हैं। सभी गाँवों के पहान भी एक साथ मिल जाते हैं। उन पहानों में से जो बड़ा पहान होता है, वह चूजे का सिर काटकर पूजा स्थान पर उसका खून चुलाता है, और हंड़िया रस (चावल से बना हुआ) चुला कर धर्मेस अथवा सिंगबोंगा से प्रार्थना करता है कि जतरा खेलते समय कोई गड़बड़ी न हो, झगड़े न हो। प्रार्थना के बाद सभी गाँव के झंडे गाड़ने के बाद नाचने एवं बजाने लगते हैं। जतरा टाँड़ में नाच गान तो होता ही हैं, परन्तु ऊपर वर्णित मेले की सारी चीजें बिक्री होती हैं। शाम होने पर अपने-अपने गाँव के

झंडों के साथ लड़के-लड़कियाँ घर लौटती हैं।

प्राय: सोहराई पर्व (दीपावली)के बाद इस प्रकार के जतरा का आयोजन होता है। इस जतरा को 'सोहराई जतरा' भी कहते है।

35. **आदिवासियों के निवास स्थान (गाँव)**— आदिवासियों के गाँव ऊँची जमीन (टीले) अथवा पहाड़ी की तराई पर होते हैं। कभी-कभी दस बारह परिवारों का टोला होता है। इनके गाँव तक पहुँचने में नदी पार करना पड़ता है। गाँव के पास नदी पर्वत और खेत होते हैं। गाँव के चारों ओर आम वृक्ष होते हैं। कभी-कभी साल के वृक्ष होते हैं। आदिवासी झुंड में रहते हैं। आम के वृक्ष रहने पर मंजरियों के समय गाँवों की सुन्दरता बढ़ जाती है। ये लोग मधु छत्ता उतारने में कुशल होते हैं।

36. **घर**— आदिवासियों के घर आयताकार और मिट्टी की दीवारों से बनते हैं। छत में सखुए की मोटी लकड़ी (काठ) लगाते हैं। उसके ऊपर बाँस को चीर कर लम्बाई में उन्हें काठ के ऊपर लगाते हैं। उसके ऊपर नलिकाकार आग में पकाये गये खपड़ों को रखते हैं। छत ढलुआ होता है, अत: बरसात का पानी खपड़ों से होते हुए नीचे गिरता है। दीवारों में ख़िड़कियाँ नहीं होती हैं। गरीब परिवारों में प्रवेश करने के लिए एक या दो पल्लों वाला काठ का दरवाजा होता है, जिसके सामने भाग में सिकड़ी होती है। घर से बाहर निकलते समय बाहर सिकड़ी लगा कर ताला लगाते हैं। रात को सोते समय अन्दर से सीकड़ लगाते हैं और दरवाजे के पास पत्थर का बना 'जाता' (जिससे दाल बनाई जाती है), रख देते हैं। प्राय: सामने में बरामदा होता है, उसके नीचे आँगन होता है। गरीब आदिवासियों की रसोई कोठरी, एक भंडार कोठरी तो अवश्य होती है। धान कूटने के लिए घर के भीतर ही काँड़ी (जमीन में दो-तीन इंच चौड़ा छोटा गड्ढे के बीच छोटा-लोहा गाड़ते हैं)अवश्य रहती है। कभी-कभी मुख्य दरवाजे के पास ही ढेकी भी गाड़ते हैं। ढेकी के पास प्राय: भूसे रहते हैं। अत: भूसे के ऊपर मुर्गियाँ रहती हैं सूअर, घर के बाहर रहते हैं। दूसरे कोने में बकरियाँ रहती हैं। घर के एक कोने में बैल रखते हैं। रसोई कोठरी में मिट्टी का चूल्हा रहता है। भंडार घर में उनके पूर्वजों की आत्माएँ रहती हैं, ऐसा उनका विश्वास है।

धनी आदिवासियों के भीतर आँगन के चारों ओर चार कमरे होते हैं। एक भंडार और रसोई कोठरी, दूसरा शयन कोठरी, तीसरी मवेशी रखने के लिए, चौथा लकड़ी रखने की कोठरी। इसी कोठरी में धान कूटने की काँड़ी अथवा ढेकी और दाल बनाने के लिए 'जाता' भी होता है। रसोई घर में मिट्टी की छोटी दीवार होती है, दीवार के दूसरी ओर के भाग में परिवार के सदस्य ही प्रवेश कर सकते हैं क्योंकि, उनका विश्वास है कि वहाँ परिवार के मृत पूर्वज निवास करते हैं।

गरीब आदिवासी मृत पूर्वजों के निवास को छोड़कर किसी भी कोठरी में चटाई बिछाकर सो जाते है। पुराने कपड़ों को सिलाई कर गुदड़ी बनाते हैं। इन्ही गुदड़ियों को चटाई के ऊपर बिछाते हैं और रात में ओढ़ते भी हैं। काठ के पीढ़ों को तकिया बनाते हैं। दिन में ये पीढ़े बैठने के काम में आते हैं। पुरुष वर्ग अपनी चटाई के पास लकड़ी का डंडा सुरक्षा की दृष्टि से अवश्य रखता है। बड़े होने पर लड़के माँ-बाप से अलग बरामदे में सोते हैं। गरीबों के यहाँ बरामदा भी नहीं होने के कारण धुमकुरिया घर में सोने चले जाते हैं।

घर से सटा बारी (बगान) होता है। कभी-कभी बारी में कुँआ भी होता है, जहाँ का पानी पीने

और सब्जी पटाने के काम में आता है। परन्तु सब के यहाँ कुएँ नहीं होते हैं।, इसलिए बरसाती सब्जियाँ ही हो पाती हैं।

प्रत्येक सप्ताह किसी निशिचित दिन में गोबर के घोल में कपड़े डुबा कर माताएँ अथवो बहनें घर को लीपती हैं। आँगन में गोबर का पानी उँडेल कर झाड़ू चला देती हैं। सोहराई अथवा सरहूल पर्व के पहले मिट्टी को गीला करके फर्श पर लीपती हैं। पोतना मिट्टी (एक प्रकार की सफेद मिट्टी है जो घर लीपने के काम आती है) को गीला करके दीवारों के ऊपर लगाती हैं, साथ ही अपने हाथ की अंगुलियों से सुन्दरचित्र भी बनाती जाती हैं। बरसात से पहले घर के छूटे बाँस और खपड़े बदले जाते हैं। प्रत्येक गाँव का एक अखरा होता है। अखरा में जवान लड़के-लड़कियाँ नाचती हैं और बड़ेलोग बैठकी करते हैं। गाँव के बीच में भी आम, करंज, कटहल, फुटकल आदि के वृक्ष होते हैं। प्राय: इन वृक्षों को किसान अपने टाँड़ के किनारे रोपता है। ये वृक्ष नाम के लिए व्यक्तिगत होते हैं, गाँवों में भाई चारा इतना है कि सब वृक्ष,सब का होता है। परन्तु आजकल आम, जामून और बेर फलों को छोड़कर बाकी महुआ, कुसुम डोरी, करंज, कटहल के वृक्ष व्यक्तिगत हो गये हैं, क्योंकि इन्हें बेच कर पैसे कमाते अथवा तेल निकालते तथा भूख के समय महुँआ और कटहल को खाते हैं।

गाँव के पास ही छोटे जंगल भी होते हैं। स्त्रियाँ जलावन के लिए वहाँ से लकड़ियाँ लाती हैं। पत्तल और दोने के लिए पत्तियाँ और मुँह धोने के लिए दतवन भी मिल जाते हैं। घर बनाने के लिए मोटे सखुए की लकड़ी भी मिलती है। जंगली कंदमूल भी मिल जाते हैं। आदिवासियों का जंगल से उपरोक्त कारणों से ही बहुत लगाव होता है। आदिवासी सखुए या करंज के दतवन से दाँतों को रगड़ते हैं। इसके बाद उसी दतवन को फाड़ कर जीभ साफ करते हैं। बालों को साफ करने के लिए एक विशेष प्रकार की मिट्टी होती है। इस मिट्टी को दूर जंगल से भूमि खोद कर निकाल लाते हैं। स्त्री पुरुष इसी मिट्टी से अपने बालों को धोते हैं। कपड़ों को राख पानी में खौलाते हैं। नदी चाहे तालाब में कपड़े धोते और स्वयं भी नहाते-धोते हैं। साबुन के बदले मिट्टी से ही शरीर के अंगो को साफ करते हैं।

कुसुम डोरी करंज अथवा सरसों का तेल बालों में लगाकर कंघी करते हैं। हाथ-पैर में उपरोक्त कोई भी तेल अवश्य लगाते हैं। बाजार, मेला, जतरा जाने से पहले शरीर में तेल जरूर लगाते हैं।

साफ कपड़ों को रखने के लिए बाँस से बनी पेटियाँ होती हैं। एक बाँस के दोनों छोर में रस्सियाँ बाँध कर उन दोनों की रस्सियों को छत के बाँस से बाँध देते हैं। इसी बाँस में भी पहनने के कपड़े टाँग दिये जाते हैं। धान को रखने वाले 'मोरे' के ऊपर भी गुदड़ी आदि कपड़े रखे जाते हैं।

स्त्रियाँ सुबह डाड़ी (कुएँ जैसे ही परन्तु इसका मुख जमीन की सतह के बराबर होता है) से पानी लाने जाती हैं, तो प्रथम दर्शन होने पर दाहिना हाथ उठाकर एक-दूसरे को प्रणाम करती हैं।

आदिवासियों के यहाँ माचिस के डिब्बे नहीं होते हैं। माताएँ खाना बनाने के बाद राख में ही अंगार को छिपा देती हैं। दूसरे दिन राख हटाने पर एक दो अंगार अवश्य रहते हैं। उसी अंगार के ऊपर पहले छोटी लकड़ियाँ डालती हैं। इस तरह आग के सुलगने पर मोटी लकड़ी डालती हैं।

रात में करंज तेल के दीये जलाये जाते हैं।

37. **वस्त्र**— स्वतंत्रता से पहले छ गज का कपास के सूत से बुना हुआ सादा एवं मोटा कपड़ा स्त्रियाँ पहनती थीं। इसी कपड़े से छाती भी ढाँप लेती थीं। पेटीकोट की आवश्यकता नहीं थी। पुरुष 6 फीट चौड़ा कपास का बना 'करया' पहनते थे, यह मुश्किल से गुप्त अंग को ढाँपता था। कमर में कपास के सूत को करधनी बना कर कमर को चारों ओर से बाँधते थे। कुछ धनी (धान के धनी)किसान एवं लड़के घुटनों तक पहुँचने वाली कपास की ही धोती पहनते थे। कमर से ऊपरी भाग में वस्त्र नहीं होता था। परन्तु एक गमछा कंधे पर होता था, धूप लगने पर उसको सिर में पगड़ी बाँधते थे।

उत्सव के समय लड़कियाँ लाल पाड़ वाली-मोटी साड़ी पहनती थीं, जो घुटनों से थोड़ी ही नीचे तक आती थी।

अब स्त्रियाँ मिल की बनी रंग बिरंगी अथवा पाड़ वाली साड़ियाँ पहनती हैं। ब्लाउज और पेटीकोट पहनती हैं। पुरुष भी पतली धोतियाँ और कमीज पहनने लगे हैं। हल जोतते समय किसान फेटा बाँधता है। कहीं भी रास्ता चलते समय एक छड़ी लेकर अवश्य चलता है।

आदिवासी बच्चे प्राय: नंगे ही रहते हैं, परन्तु उनकी कमर में मोटे सूत की करधनी का मतलब है कि बच्चे नंगे नहीं हैं।

38. **आभूषण**— आदिवासी माताएँ अपनी बेटियों के कान में नुकीला कांटा घुसेड़ देती हैं। अथवा बाजार में कान बेधने वाले व्यक्ति विशेष से बेटियों के कान बेधवाती हैं। छेद के बड़े हो जाने पर लड़कियाँ पर्व त्योहार में विशेषकर नाचते समय चाँदी के कर्णा भूषण पहनती हैं। दोनों कर्णाभूषण की दो लम्बी लड़ियाँ होती हैं जिन्हें मिला कर जूड़े में खोसती हैं। नाक में चाँदी का ही छोटा आभूषण लड़कियाँ पहनती हैं। कोई-कोई सोने का बना आभूषण नाक में पहनती हैं। परन्तु इन आभूषणों को पर्व त्योहार, शादी विवाह, मेला अथवा जतरा जाते समय ही पहनती हैं।

अधेड़ महिलाएँ अपने कानों में पत्तों की बीड़ियाँ लगाती हैं। स्त्रियाँ और लड़कियाँ बालों को दाहिने कान की ओर करके बाँधती हैं। बालों को बाँध कर बाँस की बनी छोटी कंघी खोंस देती हैं। गले में चाँदी का हार और हँसिया भी पहनती हैं। दाहिने हाथ की अँगुली में पीतल की अँगूठी भी पहनती हैं।

लड़के भी लम्बे बालों को पीछे बाँधते हैं और दर्पण लगी हुई लकड़ी की कंघी गाँठ में खोसते हैं। पर्व के समय बगुले का पंख या मयूर का पंख सिर पर खोंसते और सिर में रंगीन रूमाल बाँधते हैं।

39. **अभिवादन**— अपने से बड़े लोगों को दोनों हाथ-जोड़कर प्रणाम करते हैं। अपने समान के स्त्री-पुरूषों को बायें हाथ से दाहिने हाथ की कोहुनी पकड़ कर, दाहने हाथ से प्रणाम किया जाता है। स्त्रियों के दोनों हाथों से चेहरा धोने के पीछे आदिवासियों की मान्यता है कि एक उनका अदृश्य पति 'धर्मेस या सिंगबोगा है और दूसरा उनका विवाहित पति। उराँव स्त्रियाँ एक समय पुरुष वेश में होकर दोनों हाथों से हाथ धो रही थी इसी से उनके स्त्री होने का प्रमाण हुआ था (उराँव जनजाति में विस्तार से वर्णन होगा)।

40. **गाँव की सामाजिक एकता**— आदिवासियों के घर झुंड में होते हैं। प्राय: एक ही गोत्र या

किली के लोग एक गाँव में बसते हैं। गाँव के चारों ओर प्राय: जंगल होते हैं। इन्हीं जंगलों को काटकर खेत बनाने की प्रवृत्ति अभी भी आदिवासियों के बीच है। गाँव में एक घर लोहार का होता है, जो कृषकों का फाल तेज करता है, गाँव में चीक भी होते हैं, जो स्त्री पुरुष और बच्चों के कपड़े बुनते हैं, परन्तु अब कपास के कपड़ों का प्रचलन नही होने के कारण वे बेकार हो गये। गाँव में एक दो परिवार कुम्हारों का भी होता है। ये किसानों के लिए खपड़े और घड़े बनाते हैं। परन्तु सभी गाँवों में लोहार, चीक नहीं भी होते हैं, वे अपनी सेवा दूसरे गाँव के आदिवासियों को भी देते हैं। गाँव के लोग एक दूसरे को बाबा, चाचा, चाची दादा-दादी आदि से सम्बोधित करते हैं। कभी-कभी दो व्यक्ति (स्त्री या पुरुष, लड़का या लड़की) एक दूसरे के इतना करीब आ जाते हैं कि वे एक दूसरे को फूल देकर 'सहिया' या 'फूल देकर 'सहिया' या 'फूल' कहकर सम्बोधित करते हैं यह 'सहिया' या 'फूल' का संबंध निकट सम्बधियों में नहीं होता है। परन्तु एक बार 'साहिया' मान लेने पर निकट का संबंध बन जाता है। पर्व त्योहारों में दोनों 'सहिया' या फूल' के घरवाले एक साथ खाते-पीते हैं। कभी-कभी नये वस्त्र भी एक-दूसरे के लिए देते हैं। प्रत्येक गाँव के पहान होता है, जो धार्मिक मुख्य होता है। गाँव वालों की समृद्धि के लिए वह पूजा पाठ करता है। करमा या सरहूल पर्व में पूरा गाँव झूम उठता है। प्रत्येक के घर में हँड़िया (Rice beer) बनाया जाता है। एक दूसरे को हँड़िया पिलाते हैं और अखरा में नाचते गाते हैं। अखरा में नाचने के अलावे प्रत्येक घर के आँगन में भी नाचते हैं। प्रत्येक घर की माता बदले में नाचने वालों को अड़ैसा (एक विशेष प्रकार की आदिवासी मिठाई जो चावल और गुड़ के पाक से बनती है) देती है। शिकार के लिए गाँव के सभी पुरुष जाते हैं। जंगली जानवरों का माँस गाँव के प्रत्येक घर में पहुँचाया जाता है।

किसी के यहाँ जन्म हो या मृत्यु इसमें पूरा गाँव भाग लेता है। खेती के काम भी कभी-कभी दो-तीन परिवार एक साथ करते हैं। जैसे— पुरुष एक साथ हल जोतते और धान बोते हैं। तीनों परिवार को महिलायें एक साथ रोपनी, कटनी, मिसनी, निकावन आदि काम करती हैं। इससे कम खर्च में खेती का काम हो जाता है।

गाँव की बेटी सब की बेटी होती है। अगर बेटी की शादी हो रही हो, तो मड़वा गाड़ने से लेकर विदाई तक पूरा गाँव साथ देता है। चूँकि शादियाँ माघ महीने में होती हैं, इसलिए प्रत्येक निमन्त्रित परिवार चावल और हँड़ियाँ का भांड लेकर ही आता है। पत्तल बनाने का काम गाँव की बूढ़ियाँ करती हैं। बूढ़ी विधवाएँ पत्तल, दोना खास तौर से बनाती हैं। बारातियों के नाश्ते गाँव के ही दो तीन परिवार बना कर लाते हैं। इसी प्रकार हंड़िया बनाने में भी गाँव के दूसरे परिवार मदद देते हैं। परन्तु इन सब को बनाने के लिए चावल, शादी घर से लेते हैं। इस प्रकार शादी परिवार का बोझ हल्का हो जाता है। इसीलिए अगर गाँव में दो-तीन परिवारों में शादियाँ हो, तो एक ही तारीख में शादी नहीं होती है।

इसी प्रकार किसी के घर में मृत्यु होने पर सभी मृतक के यहाँ सान्त्वना देने के लिए पहुँचते हैं। मृतक को दफनाने सभी जाते हैं।

जंगल से लकड़ी लाना हो, तो भी लड़कियाँ झुंड में जाती हैं। जंगल के कन्द-मूल खोजने भी गाँव की स्त्रियाँ और लड़कियाँ झुंड में ही जाती हैं। ऐसा प्रतीत होता है कि आदिवासी स्त्री पुरुष झुंड में ही काम करना पसंद करते है। बाजार जाते समय भी मिलकर ही बाजार जाते हैं।

41 **आतिथ्य-सत्कार** — जब आदिवासी पुरुष यदि कहीं निकलता है, तो कंधे में गमछा और हाथ में लाठी होती है। घर से उतने ही समय में निकलते हैं कि ठीक संध्या समय अतिथि के यहाँ पहुँचने पर प्रणाम पाती होने के बाद पीढ़ा या चटाई बैठने के लिए, धोने के लिए घर की मुख्य महिला लोटे में पानी देती है। कहीं-कहीं थाली में अतिथियों के पैरों में पहले तेल लगाकर पानी से धोती हैं इसके बाद तौलिया अथवा किसी कपड़े के टुकड़े से पोछती हैं। अतिथि गण पैर धोने वाली के लिए, उसी थाली में ही कुछ पैसे रख देते हैं। जब तक वे अपने मुँह हाथ धो रहे हों, उनकी लाठी और पोटली को कोई भी घर का सदस्य घर के भीतर अच्छी जगह में रख देता है इसके बाद पीनें को पानी दिया जाता है। पुरुष मेहमान हो तो चूना तमाकू और साथ में स्त्री भी हो तो हुक्का चिलम देकर उनका सत्कार करते हैं। चाय की प्रथा आदिवासियों में नहीं है। तमाकू और हुक्का चिलम खाते-पीते दुःख सुख की बातें होती हैं।

प्रायः सभी आदिवासी मुर्गा-मुर्गी, सूअर, बकरा-बकरी पालता है। शाम को मुर्गा या मुर्गी का मांस और हँड़िया अतिथि के लिए दिया जाता है। यदि किसी विशेष उत्सव के लिए अतिथि इकट्ठे हुए हो, तो सूअर या बकरा (खस्सी) मार कर मेहमानों का आवभगत किया जाता है।

मेहमान एक या दो दिन अतिथि गृह में रहते हैं। वापस जाते समय अपने घर बुलाने का निमन्त्रण अवश्य देते हैं।

42. **ग्राम पंचायत**— गाँव के मुख्य पुरुष ही ग्राम पंचायत के सदस्य बनते हैं। गाँव के जमीन-जगह के झगड़े इन्हीं के द्वारा सलटाए जाते हैं। अगर कोई व्यक्ति निर्णय से सन्तुष्ट न हो, तो वह इससे बड़ी पंचायत में अपील कर सकता है, जो चार-पाँच गाँवों को मिलाकर बनता है। अगर वहाँ भी निर्णय संतोषजनक न हो तो मामला पड़हा राजा के पास जाता है। पड़हा 10-15 गाँवों को मिलाकर बनता है। उराँवों के 'पड़हा राजा, संथाल के 'माझी परगनैत, 'हो जनजाति के 'मानकी मुंडा' खड़िया के 'डोकलो सोहोर,' राजनैतिक संगठनों में अध्यक्ष होते हैं।

43. **धार्मिक विश्वास**— जनजाति समाज भूत-प्रेत से हमेशा भयभीत रहता है। अपने और पशुधन की रक्षा के लिए विभिन्न भूत-प्रेतों की पूजा करता है। 'सरना-स्थल' ही पूजा स्थल होता है जहाँ गाँव का पहान (पुरोहित) चेंगने (छोटी मुर्गी) का खून जमीन में चुलाते हुए भूत-प्रेत से पूरे गाँव के व्यक्तियों एवं पशुओं की खुशहाली के लिए प्रार्थना करता है। इसी प्रकार कार्तिक अमावस्या में परिवार का मुख्य 'गोहार घर में' (जहाँ पशु रखे जाते हैं) काले रंग के चूजे का खून भूत-प्रेतों के लिए चढ़ाता है कि वे परिवार के सदस्यों और पशुओं को स्वस्थ रखें।

44. **अंधविश्वास**— ये प्रकृति पूजक होते हैं। भूत-प्रेत पर आदिवासियों का इतना विश्वास होता है कि यदि कोई बीमार पड़ा या मर गया, या फसल अच्छी नहीं हुई तो इसे भूत-प्रेत का ही प्रकोप मानते हैं। दवा कराने के बदले ''मतीओझा' के पास इलाज के लिए जाते हैं। भूत से आविष्ट पुरुष 'बिसाहा' और स्त्री 'डाइन' कहलाती है। यदि ओझा ने कह दिया कि फलाँ 'डाइन' के कारण तुम्हारा पुत्र बीमार है अथवा मर गया, तो गाँव के सभी व्यक्ति 'बिसाहा' अथवा 'डाइन' को अधमरा होने तक मारते हैं, जब तक कि वह बीमार व्यक्ति को ठीक करने का वचन न दे। कभी-कभी उसे मार डालते

हैं। यदि कोई गर्भवती स्त्री मर जाए, तो उनका विश्वास है वह चुड़ैल बनती है। दुर्घटना में कभी कोई मर जाए तो वह दरहा भूत बनता है।

45. **राजनैतिक चेतना**— आदिवासी स्वभाव से सीधा, सच्चा, ईमानदार और सहनशील तो होता है, परन्तु अन्याय के विरुद्ध लड़ाइयाँ भी लड़ी है। 1789, 1807, 1812, 1919-20 और 1831 और 1832 में मुण्डाओं ने अंग्रेजों के विरुद्ध विद्रोह किया। संतालों ने 1835-36, 1858 में वर्षों तक विद्रोह किया। चार संताल भाइयों ने जुलाई 1855 में विद्रोह का नेतृत्व किया और उनमें दो भाई सिद्धु और कान्हू तो संथालों के राष्ट्रीय हीरो के रूप में आज भी याद किये जाते हैं। बिरसा मुंडा ने 1865 अंग्रेजी शासन के विरुद्ध बगावत की और जेल में ही दम तोड़ा और पूरे झारखण्ड में भगवान के रूप में पूजे जाते हैं। उराँव लोगों में टाना-भगत आन्दोलन 1814 में शुरू हुआ और महात्मा गाँधी के असहयोग आन्दोलन में भाग लेकर राजनैतिक ख्याति प्राप्त की।

इक्कीसवी सदी के आदिवासी अब जागृत हो गये है। जमीन और जंगल से उनका इतना लगाव है कि यदि हम कहें कि वे उसके बिना जी नहीं सकते, तो यह अत्युक्ति नहीं होगी। केन्द्र सरकार ने जहाँ भी उनको लेना चाहा, उन्होंने मुआवजा राशि लेना अस्वीकार किया। तीर-धनुष लेकर पुरुषों ने सरकार के प्रतिनिधियों को लौटाया। यह कोयल कारो पन बिजली योजना का ग्रामीणों द्वारा विरोध करते समय दिखाई पड़ा। इसी प्रकार 'नेतरहाट फील्ड फाइरिंग रेंज का विरोध करने के लिए बच्चों को पीठ में बाँध कर स्त्रियाँ भी विरोध में उतर गईं। उनका नारा था "जान दे देंगे पर जमीन नहीं देंगे।" आखिर सरकार को झुकना पड़ा। इसका कारण है कि खेती ही आदिवासियों का मुख्य जीने का साधन है। जमीन लुट गई तो उनके पास कुछ नही रह जायेगा; क्योंकि अधिकांश कृषक अनपढ़ होता है। इसी प्रकार जंगल से कंद-मूल, फल-फूल, पशुओं का चारा और जरूरत की वस्तुएँ मिलती हैं जब सरकारी मशीनरी जंगल की रक्षा नही कर सकती है, तो गाँववाले खुद इसकी रक्षा करते हैं।

ऊपर इसकी चर्चा हो चुकी है, कि प्रत्येक बाजार के दिन आदिवासी स्त्रियाँ घर की उपज बेच कर नमक, तेल, और आजकल मिल के बने कपड़े खरीदती हैं।

प्रत्येक जनजातीय पुरुष वर्ग के लिए खेत ही प्रतिष्ठा के प्रतीक हैं। जिनके पास खेत अधिक हो, उनके बेटों की शादियाँ जल्द हो जाती हैं, खेत में ही वह अपनी सर्जनात्मक कुशलता को दिखा सकता है। खेत में कठोर श्रम करने में उसे आनन्द आता है। अगर उसके पड़ोसी उसके कठिन मेहनत को देखकर उसे 'कमिया (कठोर श्रम करने वाला) कहें तो उसे संतुष्टि होती है। रोपनी और धान काटने के लिए पड़ोसियों को बुलाने में उसे आनन्द आता है। वह बदले में पड़ोसियों को भात एवं हँड़िया भी पीने के लिए देता है।

मुगलों, हिन्दुओं और अग्रेजों के सम्पर्क में आने से पहले आदिवासी पुरुष और स्त्री पैसे को विनियम के रूप में नहीं जानते थे। जब टैक्स के लिए रुपये लिए जाने लगे, तो आदिवासी किसान अतिरिक्त अनाज बेच कर रुपये रखने लगे। कोई-कोई तो आसाम के चाय-बगानों में काम करने चले गये। वहाँ से लौटने के बाद टैक्स के पैसे देते थे कभी-कभी अतिरिक्त बैल भी खरीदते थे। अपने पत्नी और बच्चों के लिए कपड़े भी खरीदते थे। बाकी सिक्कों को जमीन में गाड़ देते थे। गरीब किसान महाजनों

से अपनी जरूरतों की पूर्ति के लिए ऋण लेते थे। उसका सूद नहीं दे पाने पर अपनी जमीन बंधक में देते थे। जमीन बंधक में देने और खुद उनकी जमीन में मजदूर बनने की प्रक्रिया इक्कीसवी सदी में भी गरीब आदिवासियों के बीच है।

कभी-कभी अधिक पीने के कारण आदिवासी महाजनों के शिकजें में आ जाते हैं, क्योंकि घर के अनाज को बेच कर उस पैसे को पीकर उड़ा देते हैं। बेटी की शादी अथवा बैल खरीदने के लिए उनके पास पैसे नहीं होते है, इसलिए महाजनों से ऋण लेते हैं। ऋण नहीं चुकाने की स्थिति में खेत को बंधक रखने के साथ ही स्वयं उनके खेत में मजदूर बनते हैं।

46. आदिवासियों की मान्यताएँ— (क) सात की संख्या— उराँव और मुंडा जन जाति खास तौर पर सात की संख्या को शकुन मानती है। इसके पीछे दंतकथा इस प्रकार है —

समुद्र को मथने के बाद इसके अशांत जल में एक छोटा बीज डालने से पृथ्वी के वर्तमान स्वरूप में वृद्धि होने पर परमसत्ता ने किलकिला पक्षी को सोलह समुद्र का स्वरूप देखने भेजा। वही सात भाग अथवा सात कोना हो गया। यही कारण है कुड़ख लोगों के लिए सात संख्या महत्त्वपूर्ण है।

यह ईश्वर केन्द्रित विचारों तथा प्रेरणा का द्योतक है जो नर और नारी का अपना ध्यान धर्मेस और उनकी सृष्टि की ओर ले जाता है। सम संख्या की अपेक्षा कुडुख लोग विषम संख्या से इनके संबंध के कारण जो विषम संख्या है, इसे पूर्ण संख्या मानाते हैं।

(ख) **खगोलीय पिंड**—

सूर्य— सूर्य परमसत्ता का प्रतीक है। वह शुद्ध, प्रकाशमान और पूर्ण शक्तिशाली है। इसी प्रतीकात्मक भाव में उसे (क) सिंगबोगा सूर्य आत्मा मुंडाओं द्वारा, (ख) बीरी बेलस सूर्य, कुडुख लोगों द्वारा और (ग) बेरो लेरंग सूर्य चंद्रमा, खड़िया लोगों द्वारा कहा जाता है। गाँव का पाहन पुरोहित परमसत्ता को बलि अर्पित कराते समय पूर्व की ओर मुँह करता है क्योंकि सूर्य पूर्व से उदित होता है। 'सरना' में यह स्पष्ट रूप से ध्यान देने योग्य है वहाँ वह आत्माओं को बलि अर्पित करने के लिए जाता है और परमसत्ता से जब प्रार्थना करता है तब पूर्व की ओर मुँह कर लेता है। कुडुख ग्रामीण पाहन पुरोहित परमसत्ता से निम्न प्रकार की प्रार्थना करता है— धर्मेस ऊपर है, हे पिता, आप ऊपर में, हम नीचे हैं,

आपको आँखे हैं, हम नहीं देख पाते,

आप सब कुछ जानते हैं, हम संपूर्ण रूप से अज्ञानी हैं,

जान-बूझ कर अथवा भूलवश हमने आत्माओं को नाराज किया है, उन्हें नियंत्रित करें हमारे भूलों को अनदेखा कर दें।

आदिवासियों की सर्वोत्तम धार्मिक परंपरा में किसी भी प्रकार की मूर्ति पूजा का कोई स्थान नहीं है। उनके पास न कोई मूर्ति न मंदिर है, वे निःसंदेह कुछ वस्तुओं का उपयोग कतिपय आत्मिक सत्ताओं के प्रतीक के रूप में करते है।

चन्द्रमा— संथाल लोग चन्द्रमा को उनके परमसत्ता के रूप में देखते है और उसे 'चाँदो-बाबा' चन्द्रमा पिता पुकारते हैं, आदिवासी लोग अपने सामाजिक -आर्थिक जीवन में 'चंद्र मास' का अनुसरण

करते हैं। इस प्रकार उनके जीवन में चंद्रमा का एक महत्वपूर्ण स्थान है जो विभिन्न प्रकार से अभिव्यक्त होता है। विवाह के मामले में वे इस बात पर विशेष ध्यान देते है कि यह उन दिनों में ही संपन्न हो जब चाँद बढ़ रहा होता है। इसकी एक व्याख्या यह है कि यह जीवन की पूर्णता की ओर बढ़ने को दर्शाता है, इसी समझ के साथ उन दिनों में संपन्न नहीं हो सकता जब चाँद घट रहा होता है क्योंकि इसका अर्थ यह होगा कि जीवन छोटा होने जा रहा है। पूर्णिमा के दिन संपन्न नहीं होगा क्योंकि इसका अर्थ होगा कि जीवन ने अपनी संपूर्णता पहले ही हासिल कर ली थी और भविष्य में आगे बढ़ने की कोई आवश्यकता नहीं थी।

सिरियुस, अल्देबरान और प्लीआदस-भईया-बहिन पूर्व माता-पिता ने जब अपने खेतों के तटबंध आल बना लिए, उन्होंने परमसत्ता से कृषि कला सिखाने का निवेदन किया। वह परमसत्ता हल और जुआ बनाते हुए सात दिन और रात उनके पास रह गया। अपने कार्य के दौरान उसने एक पेड़ पर एक पंडुक को घोसले में अंडा सेते हुए देखा। परमसत्ता ने अपना मुगरा हथौड़ा पंडुक पर फेंका, परंतु चूक गया। पंडुक घोसले से उड़कर चला गया और एक तारा बन गया जो 'सिरियस' के नाम से जाना जाता है। 'पांड़की बी' पंडुक के अंडे भी तारा युग्म में परिवर्तित हो गये इसे 'अल्देबरान' कहते हैं। इसी प्रकार से 'मूगरा' हथौड़ा 'प्लीआदेस' में बदल गया।

ओरियान मृग–'हरजुआरी हल और जुआ ओरियान की कमर पटटी के तीन तारे है। तीनों चमकते हुए तारे एक कतार में दिखाई देते है, अन्य दो तारे कतार की एक छोर पर टाँगे पसारे हुए आभास दिलाते है कि हल और जुआ एक साथ बँधे हुए है, ताकि किसान उन्हें खेत में लें जाये अथवा उन्हें घर ले आए, परमसत्ता ने 'हरजुआरी ओरियान और मुगरा प्लीआदेस को आकाश में मनुष्यों के प्रति अपने असीम पिता तुल्य भलाई एवं पूर्व प्रबन्ध के आदर्श तथा स्मृतिचिन्ह के रूप में सीमित कर दिया।

सप्तर्षि – चार तारे जो बड़े वर्ग का आकार लेते है 'खटटीपाव' एक खाट के चार पैर के समान दिखाई देते हैं। कुडुख परंपरा के अनुसार इस खाट का उपयोग धर्मेस द्वारा खेतों में कठिन परिश्रम के समय किया जाता था।

उपसिलोन और टाऊ–सप्तर्षि के मध्य में धीमी रोशनी वाले तारे है जो 'बुरसी-बिनका' कहलाते है। 'बुरसा' का अर्थ आग का पात्र जिसे साधारण तथा सर्दियों में कमरा और बिस्तर गर्म करने के उपयोग में लाया जाता है।

कैनोपस– यह अकेला चमकता तारा हे जिसे 'माक बिनको' मृगतारा कहते है। इसे सूर्यास्त के तुरंत बाद देखा जा सकता है। कुडुख लोगों का कहना है कि यह तारा शाम के मृगों को चरने के लिए प्रकाश देता है। जैसे ही यह तारा अदृश्य होता है, मृग अपनी-अपनी गुफाओं अथवा स्थल में लौट जाते हैं। बहुत संभव है कि इस चमकवान तारे का नाम इस कारण ऐसा रखा गया क्योंकि उन्हें मृग का शिकार करने में मदद करता था।

प्रभात तारा-कुडुख लोग इसे 'भुरका बिनको' कहते हैं जिसकी प्रतीक्षा प्रातः काल दिन आरंभ होने की घोषणा के लिए व्यग्रता से की जाती है। इसके उगने के बाद लोग अपने दैनिक क्रियाकलापों

में बहुत पहले ही तैयार हो जाते हैं। ऊपर वर्णित समस्त तारे आदिवासियों के लिए हमेशा से बहुत प्रेरणा एवं बल के स्रोत रहे हैं। आग के चारों ओर अपने धान एवं अन्य फसलों की रखवाली करते सर्दियों की लम्बी रातों में, खलिहानों में बैठे पृथ्वी तथा आकाश में परमसत्ता के आश्चर्यजनक कार्यो पर विचार विमर्श करते, समय बिताते हैं। 'टाना भगत' लोग खगोलीय पिंडो को अच्छा सामर्थ्ययुक्त मानते है और अपने भक्तिगान तथा प्रार्थना में प्राय: उनका आहवान करते है।

47. **आलौकिक शक्तियाँ (शकुन-अपशकुन)**— आदिवासियों के मन में दृढ़ धारणा है कि परमसत्ता अपने पूर्व-प्रबन्ध और भलेपन के तहत मनुष्यों से पशुओं तथा पक्षियों के माध्यम से बात करता है, उदाहरण के लिए यदि कोई आदिवासियों का समूह वधू देखने के लिए जा रहा है और एक सियार पार होता है, अथवा एक 'सुइया' (एक छोटी काली चिड़िया) रास्ते को काटती हुए पार होती है, तो यह चिन्ह है कि परमसत्ता इस विवाह संबंध की अनुमति नहीं देते हैं। यदि कोई आदिवासी अपने संबंधी, अथवा मित्र के यहाँ जाता /जाती है और रास्ते में उसे 'पियु' चिड़िया की आवाज सुनाई देती है तो यह हाथ पसार कर स्वागत किये जाने तथा चावल की हंड़िया के प्रचुर मात्रा में दिये जाने का संकेत है।

चेतावनी— परमसत्ता मनुष्यों को कुछ खतरों से आगाह करते और उन्हें सर्तक रहने की चेतावनी देते हैं। उदाहरण— यदि कोई 'फेव सियार' (पागल सियार) किसी गाँव के निकट चिल्ला रहा हो तो वह, गाँव में किसी की मृत्यु का संदेश है। यदि बिना किसी प्रत्यक्ष कारण के कोई पेड़ अथवा डाली आस-पास गिर जाए तो इसका अर्थ है कि वह किसी बड़े दुर्भाग्य से पीड़ित होने वाला है, इस दुर्भाग्य से बचाव के लिए पेड़ की डाली को लाठी अथवा कुल्हाड़ी से एक साँस में 1 से 3 या 1 से 5 अथवा 1 से 7 बार मारना चाहिये।

स्वप्न— स्वप्न में गुंगू पहनना, नये घड़े उठाकर ले जाना, बाघ से मारे जाने की पूर्वसूचना होती है। यदि कोई दूसरे दिन जंगल जाता है, अथवा कोई लकड़ी का गट्ठर अथवा कुंदा स्वप्न में उठाकर जा रहा है, तो यह पूर्व सूचना है कि कोई प्रिय मित्र अथवा कोई सगा संबंधी ही मर जायेगा। स्वप्न में मछली मारना, मशरूम चुनना, खेत का बाँध बनाना, भवन बनाना भी मृत्यु की पूर्व सूचना है। इस दुर्भाग्य से बचने के लिए सुबह जागते ही जितनी जल्दी हो सके अपना स्वप्न दूसरों को बता देना चाहिये।

यदि कोई स्वप्न में धुआँधार वर्षा में भींगता है, तो इसका अर्थ है कि वह किसी दुर्भाग्य के कारण आँसू बहाने वाला है, अथवा किसी अनापेक्षित आनंद के लिए आँसू बहायेगा।

III. पौराणिक साहित्य में जनजातियों का विवरण

आर्यों की सच्चाई बताने वाले ऋग्वेद की रचना आर्यों के भारतागमन (ईसापूर्व 2000-15000) के बाद ईसा पूर्व (15000-900) में हुई जब कि हड़प्पा और मोहनजोदड़ो संस्कृति ईसा पूर्व 2300-1750 की है (प्राचीन भारत का इतिहास: द्विजेन्द्र नारायण झा; कृष्ण मोहन श्रीमाली पृ. 68)

सिन्धु घाटी में पहले आदिवासियों का निवास था; इसके दो तीन प्रमाण दिये जा सकते हैं—

1. सिन्धु घाटी से प्राप्त मिट्टी के घड़ों में जो चित्रकारी मिली है, वह चित्रकारी अभी भी उराँवों के घड़ों में ठीक उसी तरह की मिलती है।

2. मुंडाओं के गीत में मोहनजोदड़ो और हड़प्पा का नाम है—

सिदा मुंडा दिसुम दो, उपन जपन हतु दो
हड़प्पा मोहन जोदड़ो 2
एन सुगड़ दिसुम तबुआ: नतुमाकन तु तबुआ:
हायरे चिउला ओगी कबु रिडिंग बगि उतरिया।

हिन्दी अनुवाद— मुंडाओं का प्रथम निवास स्थान और देश हड़प्पा मोहनजोदड़ो था। ऐसा सुन्दर विकसित देश और नामी गाँव हम कभी न छोड़ेगे न भूलेंगे।

जैसा कि ऊपर वर्णन किया गया है आदिवासी सरल स्वभाव के होते हैं अत: इस गीत से भी उनकी निष्कपटता झलकती है। गीतों में किसी स्थान पर नाम रहने पर यह स्पष्ट होता है कि अवश्य वे लोग वहाँ के स्थायी निवासी थे।

पंडित जवाहर लाल नेहरू ने लिखा है कि सिन्धु घाटी की संस्कृति देशी थी, और इसकी जड़ें दक्षिण भारत में भी पाई जा सकती हैं। कुछ विद्वान् इस संस्कृति और द्रविडियन जाति के व्यक्तियों में समानता पाते हैं (Discovery of India p 13)। डा. विजय बहादुर राव ने सर मार्शल जोन के प्रबल तर्को का समर्थन करते लिखा है कि भाषा-विज्ञान, पुरातत्व, नृतत्वशास्त्र तथा प्राचीन तमिल साहित्य आदि साक्ष्यों पर समवेत विचार करने से ऐसा प्रतीत होता है कि सैन्धव संस्कृति प्रधानत: द्रविड़ थी। इस प्रदेश में द्रविड़ भाषा के अवशेष आज भी उपलब्ध हैं। ब्लूचिस्तान की बाहुई भाषा में न केवल द्रविड़ भाषा के शब्द मिलते हैं बल्कि बहुसंख्यक मुहावरे बिखरे पड़े हैं। इसके अतिरिक्त अद्यावधि परीक्षित कपालों में भूमध्यसागरीय तत्व की बहुलता तथा तमिल संस्कृति की सैन्धव संस्कृति से अनुरूपता द्वारा भी इस विचार की पुष्टि होती है (उत्तर वैदिक समाज एवं संस्कृति पृ. 2)। आर. सी. मजुमदार (Ancient India p. 28) के अनुसार सिन्धु घाटी संस्कृति आर्यों के आने से पहले उन्नत अवस्था में थी। शिव एवं लिंग पूजा, प्रतिमाओं की पूजा और घोड़ों की अनुपस्थिति से यह सिद्ध होता है कि सिन्धु घाटी सभ्यता, आर्यों से भिन्न और पहले थी। सर जोन मार्शल (मोहनजोदड़ो एण्ड इण्डस सिभिलाइजेशन पृ. 52-55) भी इसी निष्कर्ष पर पहुँचे थे। उन्होंने यह भी लिखा है कि ऋग्वेद में घोड़ों का उल्लेख बार-बार होना; शिव लिंग को घृणा से देखना, देवी देवताओं का चित्र न जानना और मातृ शक्ति को महत्व न देना आदि उपरोक्त तथ्य को पुष्ट करते हैं। द्रविड़ की एक भाषा उराँव में अभी भी मातृशक्ति की पूजा एवं उसको महत्व दिया जाता है।

(क) भारतीय संस्कृति को आदिवासियों की देन

जनजातियों को अनार्य कहा गया है— उन्हें असुर, निषाद, दस्यु, भील, वानर, राक्षस आदि कहा गया है। आर्य जातियाँ जब भारत भूमि में आयीं तो उन्हें तथा कथित अनार्य जातियाँ यहाँ पहले से ही बसी मिलीं और क्योंकि उनके पहले के भारतीय निवासियों का पता नहीं है, उन्हें ही प्रथम आदिवासी कहना उपयुक्त होगा। आदिवासी शब्द का प्रयोग हम यहाँ इसी विस्तृत अर्थ में कर रहे है न कि सीमित

अर्थ में जिसका प्रयोग भारत सरकार कतिपय वन्य जातियों के लिए करती है।

वेद भारतीय और विश्व साहित्य के प्रथम ग्रन्थ है और असुर शब्द यहीं प्रथम बार आया है। इसके दो अर्थ साधारणतया किये जाते हैं— 1. सुरविहीन और 2. सुरा विहीन। सुरविहीन इसलिए कि ये आर्य देवताओं के विरोधी थे। मुख्यतया इन्द्र को बार-बार इनके विरुद्ध लड़ना पड़ा। वृत्र, शम्बर और मधु इनके नेता थे। ये हजारों गायों और धनसम्पत्ति के स्वामी थे जिससे इन्द्र को ईर्ष्या होना स्वाभाविक ही था। यह द्रष्टव्य है कि ये तीनों नाम बारेता, सम्बरए और मोगा (मनु, भंगु) के रूप में मुंडा भाषा-भाषी आदिवासियों में चले आ रहे है।

सुराविहीन अर्थ में 'असुर' शब्द का प्रयोग देवताओं और दानवों के द्वारा समुद्र मन्थन और उसके निष्कर्ष रूप में प्राप्त अमृत (सुरा) के भोग से असुरों के वंचित हो जाने के सन्दर्भ में किया जाता है। सुराविहीना: असुरा: किन्तु कठिनाई यह कि आर्यों के देवता इन्द्र, अग्नि और वरुण को भी अनेक जगह असुर कहा गया है। तब मात्र उपर्युक्त देवताओं को सुराविहीन की श्रेणी से बचाने के लिए एक नई व्याख्या की आवश्यकता है, जो निषेधात्मक न होकर शक्तिबोधक हो। हमारी दृष्टिसे एक तीसरी व्याख्या केनापि सुरेण अशासित: असुरा: यह सर्वाधिक सम्यक् प्रामाणिक होगी। झारखंड के असुर जनजाति के सन्दर्भ में और अन्य भारतीय आदिवासी कथाओं में भी यह शब्द अप्रतिम शब्द का परिचायक है। अत्यन्त प्राचीन काल् में झारखण्ड जंगलों से भरा था। इस प्रदेश के लोग असुर कहलाते थे। ये लोग लिंग पूजक थे। ऋग्वेद में इन्हें 'शिश्नेदेवा' : अर्थात् लिंग-पूजक कहा गया है (10,99,3:7, 21,5)। ये मिट्टी के सुन्दर बरतन बनाते थे, तथा काँसे, ताम्बे और लोहे के सुन्दर हथियार बनाते थे। ये लोग मरणोत्तर जीवन में विश्वास करते थे, तथा मृत व्यक्तियों को भोजन और जल प्रदान करते थे। पहली सदी ईसवी तक झारखण्ड में असुर सभ्यता जीवित रही। असुर लोगों की संस्कृति विकसित थी।

राँची से 87 मील की दूरी पर दामोदर तथा भेड़ा नदी के संगम पर स्थित एक धार्मिक स्थल है। यहाँ की अधिष्ठातृ देवी को 'छिन्नमस्तिका देवी' कहते है। इसकी एक पत्थर की प्रतिमा है जिसका सिर काटा हुआ है। इसके बायें हाथ में कटा हुआ सिर है तथा दाहिने हाथ में तलवार है। स्थानीय दंतकथा के अनुसार देवी और असुर (दैत्य) के बीच हुए युद्ध में असुर ने देवी का सिर धड़ से अलग कर दिया था। यह धार्मिक स्थल आज ठीक वहीं पर बना है, जहाँ देवी का सिर गिरा था। आदिवासियों के देवताओं को भूतप्रेत कहकर उन्हें दुष्ट देवताओं की श्रेणी में रख दिया जाता है। देवताओं के भले-बुरे होने के संबंध में और भी उदाहरण दिये जा सकते है। इन्द्र का स्मरण एक बड़े देवता के रूप में ही किया जाता है, किन्तु क्या हम कह सकते हैं कि वे अपने बड़प्पन को उठाये रखने में सदा सफल रहे हैं? किसी भी महानता का आदर्श यह है कि उसे अपने समानान्तर बढ़ती हुई किसी से द्वेष नहीं होता वरन् प्रसन्नता ही होती। इन्द्र के चरित्र में हमने इसका परिचय कभी नहीं पाया। जब भी कोई अपने विकास के लिए तप करता दिखाई देता है तो इन्द्र को लगता है कि वह स्वर्ग का राज्य ही ले लेने के लिए उतारूहै। चारित्रिक दृष्टि से तो उनकी गणना बिल्कुल गये गुजरों में ही होगी सब से महत्वपूर्ण उदाहरण सम्भवत: उनका ऋषि पत्नी अहल्या के साथ छल से सहवास करना दिया जा सकता है, तब इनके देवत्व में कोई अन्तर नहीं पड़ता।

भारतीय मस्तिष्क की उँची उड़ान का साक्षी उपनिषद् साहित्य माना गया है। वस्तुतः भारतीय दर्शन उपनिषदों में आकर ही प्रौढ़ता प्राप्त करता है। वैसे ऋग्वेद में एक सद्विप्रा बहुधा वदन्ति कह कहकर निराकार ब्रह्मा के संबंध में जिज्ञासा प्रारम्भ कर दी गई है, किन्तु अधिकांश कथाएँ मानव की मूलभूत (भौतिक) समस्याओं के समाधान का ही मार्ग ढूँढ़ती हैं। उपनिषदों की संख्या 108 मानी गई है, परन्तु प्रारंभिक 11 ही सर्वाधिक महत्वपूर्ण है। इन 11 उपनिषदों में कम से कम दो मुंडक और ऐतरेय का सबंध, जैसा कि इनके नाम से ही पता चलता है, आदिवासियों से है। प्राचीन भारतीय साहित्य मनीषियों ने अपने व्यक्तिगत जीवन के बारे में कुछ भी नहीं कहकर हमें अँधेरे में ही छोड़ दिया है। ऐसी स्थिति में केवल नाम 'मुंड' के आधार पर उनके बारे में अन्दाजा लगाने के सिवा और कोई साधन नहीं है। यह कुछ अंशों में सही माना जा सकता है कि उपनिषद्काल में ज्ञान-विज्ञान के क्षेत्र में क्षत्रिय (राजन्य वर्ग) की प्रधानता रही। मुंड का अर्थ भी प्रारंभ में किसी वनांचल या जनसमूह का प्रमुख ही रहा होगा। ऐसे ही किसी मुंड पुत्र ने इस उपनिषद् की रचना कर विद्या-अविद्या, जीवात्मा-परमात्मा, ब्रह्मविद्या एवं भगवत्-भक्ति की बात वन्य जीवन के उदाहरणों द्वारा समझाया है।

ऐतरेय उपनिषद् के नाम से ही पता चलता है कि उनके रचनाकार किसी आर्य इतर जति से आते हैं। उपनिषद्कार के आदिवासी कुल से आने के प्रमाण में एक बात तो यह है कि ऐतरेय उपनिषद् में जो सृष्टि-कथा कही गई है, वह मुंडा भाषा-शैली आदिवासियों के बीच भी कुछ अलग रूप में विद्यमान है। प्रारंभ में केवल पानी ही पानी था। उसे सुखाकर ही अन्नोत्पादन के लायक जमीन बनी। 'सृष्टिकार ने जलों को तपाया। तपते हुए जलों को तपाया। उन तपते हुए जलों से पृथ्वी उत्पन्न हई। यही आधार हुआ।

छान्दोग्य उपनिषद् में एक आदिवासी की चर्चा आती है। सत्यकाम एक दासीपुत्र है किन्तु इस तथ्य को उसकी माता के सिवा और कोई नहीं जानता। सत्यकाम जब ज्ञान संबंधी जिज्ञासा करने की उम्र को प्राप्त हुआ तो उसने अपनी माता से अपना गोत्र पूछा-आज की ही तरह उस समय भी व्रिद्यार्जन के लिए आचार्य के आश्रम में नाम लिखाना पड़ता था। व्यक्ति के नाम के साथ गोत्र का नाम आवश्यक था। माता, सत्य को बहुत दिनों तक छिपा नहीं सकती थी। उसने पुत्र को साफ-साफ बता दिया, ''पुत्र! मैं नहीं जानती तू किस गोत्र का है। मैं ने युवावस्था में अनेक व्यक्तियों की सेवा करते तुम्हें पाया। मेरा नाम जबाला है और तुम सत्यकाम। इसलिए कह देना कि ''सत्यकाम जाबाला'' हो। इसके बाद सत्यकाम एक ऋषि के पास जाता है और अपनी ब्रह्म जिज्ञासा संबंधी बात प्रकट करता है। ऋषि के पूछने पर अपनी माँ की बताई हुई बात दुहरा देता है। सत्यकाम के सत्य और निर्भीक कथन से मुनि अत्यन्त प्रभावित होते हैं और उसे उपनयन की दीक्षा दे देते है। आज शिष्य गुरुसेवा के नाम पर बहुत हुआ तो बाजार जाकर गुरुजी के लिए सब्जी खरीद लाने का काम करता है, या यदि वह कोई देहाती हुआ तो गुरुआनी की आवश्यकता जानकर पड़ोस के बगीचे से आम चुरा कर लाता है। सत्यकाम के जमाने में बात जरा और कठिन थी। ऋषि साधारणतया बड़े ही व्यवहारिक बुद्धिवाले होते थे। गाएँ पालने की विशेष रुचि होती थी और गुरुसेवा से नाम पर चेला जी को लाठी लेकर गायों के पीछे-पीछे घूमना पड़ता था। लगता है कि सत्यकाम के आने से पहले ऋषि गौतम की गायों की व्यवस्था में बड़ी ढिलाई हो गई थी, क्योंकि उनके आश्रम की बहुत सी गायें असमय ही दाना पानी के अभाव में बुढ़िया हो गई थीं।

उन्हीं दुर्बल गायों में से 400 को निकालकर गुरु ने आदेश दिया कि तुम इन्हें चराओ, मोटी-तगड़ी बनाओ, जब तक उनकी संख्या बढ़कर 1000 न हो जाये। गायों को घास वाले वनांचल में चराकर और आवश्यकतानुसार घास काटकर उनके स्वास्थ्य में सुधार लाने का काम तो दो ही चार महीने में हो सकता था किन्तु उनकी संख्या 1000 कर देना उसके वश की बात नही थी। इसके लिए समय की आवश्यकता थी। सो सत्यकाम इस कोर्स को पूरा करने में वर्षों इन्तजार करता रहा। उस बीच गुरु से ज्ञान पाने की आशा तो वह संजोये ही रहा। स्वतंत्र रूप से ही ब्रह्मज्ञान संबंधी शोध में प्रवृत्त हुआ। इस तरह जब गायों की संख्या एक हजार पूरी हो तो सत्यकाम गुरु के चरणों में वापस आया और उसने अपनी जिज्ञासा दुहराई। एक हजार गायों के लिए घास काटते-काटते सत्यकाम की हालत पतली हो गई और परिणामत: उसके शरीर में काफी परिवर्तन आ गया था। असमय ही वह बुजुर्ग जान पड़ता था। आचार्य ने उसकी इस गंभीरता का फायदा उठाकर उससे कहा तुम तो ब्रह्मज्ञानी की भाँति देदीप्यमान प्रतीत होते हो, सत्यकाम किसने तुम्हें अनुशासित किया? सत्यकाम भला क्या उत्तर देता? गायों के स्वास्थ्य और उनकी नस्ल सुधार करने की चिन्ता दिन-रात लगी रहती थी। ज्ञान वह किससे सीखता? तब गुरु ने उसे यह कहकर टरका दिया कि वही ब्रह्मज्ञान है, वही मूर्ति सा उभर आया है। उसकी कहानी करुणापूर्ण बन गई है जो भारतीय इतिहास में आगे चलकर द्रौपदी और शकुन्तला के रूप में दुहराई जाकर और भी प्रभावशाली हो गई है। उपनिषद्काल आते-आते आर्य विचार धारा में काफी परिवर्तन आ गया था। याज्ञिक कर्मकांड की जगह ध्यान और तप पर अधिक बल दिया गया। वेद जहाँ सांसारिकता पर जोर देते हैं, वहाँ उपनिषिद् संन्यास की बात करते हैं। वेद जहाँ अनेक देवताओं की बात करते हैं, उपनिषद् ब्रह्मविद्या पर ही आ टिकते हैं। विचारों के इस क्रान्तिकारी परिवर्तन में आर्येतर जातियों का भी हाथ रहा और वे आर्येतर जातियाँ और कोई नही, उस समय की आदिवासी जातियाँ ही थी।

जिस प्रकार महाकवि वाल्मीकि और व्यास ने क्रमश: रामायण और महाभारत की कथा को व्यवस्थित रूप दिया उसी प्रकार भारतीय षडदर्शन प्रणाली में शबर स्वामी ने मीमांसा दर्शन की व्याख्या प्रस्तुत की। शबर स्वामी उत्कल प्रदेश की शबर (मुंडा भाषा-भाषी) आदिवासी जाति के पूर्वज रहे होंगे। पंतजलि का योगदर्शन सूत्र के रूप में संस्कृत में ब्रह्मदर्शन की चर्चा हम योग दर्शन में पाते है, वह आदिवासी समाज में भी देखा जा सकता है। अन्तर मात्र इतना है कि पंतजलि के द्वारा संस्कृत भाषा में प्रस्तुत किये जाने के कारण वह दर्शन कहलाता हे। यह तो ऐसा ही हुआ जैसा कि कोई बात अंग्रेजी में लिखी जाकर अधिक महत्वपूर्ण हो गई और हिन्दी में लिखी जाकर बिन पहचानी रह गई।

अधिकांश पौराणिक कथा-कहानियों का आधार जनजाति ही कहा जा सकता है पौराणिक काल तक आते-आते इन्द्र और अग्नि जैसे देवता जिनकी चर्चा हम वेदों में अनेक बार पाते हैं प्राय: नगण्य हो जाते हैं। ब्रह्म और विष्णु की चर्चा कम ही होती है, परन्तु पुराणकाल में वे प्रमुखता को प्राप्त होते हैं। पुराण काल में ही एक नये देवता शिव का आगयन होता है और ब्रह्म-विष्णु महेश की त्रिमूर्ति स्थापित होती है। वस्तुत: शिव एक आदिवासी देवता है, आदिवासी सभ्यता के ही अवशेष के रूप में सिन्धु घाटी की खुदाई में उपलब्ध शिव जैसी मूर्ति पशुओं से घिरी मिलती है। शिवजी का ''पशुपति'' नाम इसी कारण से है। उनकी वेशभूषा आदिवासियों की ही तरह है। आर्य समाज के प्रारम्भ में वे एक वाह्य

और नीची श्रेणी के देवता के रूप में ही माने जाते थे। उदाहरणतः सागर मन्थन के समय उन्हें भकुआ समझ कर ही विष पीने को दे दिया जाता है। लेकिन वे निकले एक नम्बर के पिंयक्कड़, विष को भी हजम कर डाला। अभी भी कट्टर हिन्दु, पुरी (शैव आधारित वैष्णव तीर्थ) जैसे स्थानों से वापस आने के बाद फिर से मुंडन संस्कार द्वारा अपनी शुद्धि करते हैं। देवघर जैसे शैव मंदिरों के पांडों को नीचे दर्जे का ब्राह्मण कहा जाता है। अधिकांश शिव मन्दिर गाँव के बाहर बनाये जाते हैं। वस्तुतः उनके वाह्यत्व ने ही इन्हें प्रलय और संहार के देवता के रूप में प्रतिष्ठित किया है। यह उनकी वाह्यता ही है कि विवाह के अवसर पर दूल्हे (शिव के प्रतीक) के प्रति गाये जाने उन गीतो में श्रृंगी ऋषिक को अमन्त्रित किया जाता है। यज्ञ के प्रसाद के रूप में दशरथ की तीनों रानियों को ऋषि खीर खिलाता है और इसके परिणामतः तीनों रानियाँ गर्भवती होती हैं। समयानुकूल कौशल्या से राम, केकयी से भरत और सुमित्रा से लक्ष्मण और शत्रुघ्न का जन्म होता है पुत्र प्राप्ति की इस किंचित अस्वाभाविक कथा ने विद्वानों को बार-बार सोचने के लिए विवश किया है।

उल्लेख है कि राजा जनक को सीता हल चलाते मिली। किन्तु सीता शब्द की व्युत्पत्ति संस्कृत में स्पष्ट ही कही गई है। दूसरी ओर प्रायः मुंडा आदिवासी भाषाओं में सीता का अर्थ हल चलाना और वर्तमान क्रिया पक्षबोधक प्रत्यय के रूप में प्रयुक्त की गई है। मुंडारी भाषा में एक जदूर गीत भी गाया जाता है, जिसकी प्रथम दो पंक्तियों का अर्थ होता है हमने हल चलाते समय उसे पाया था, हम इसे सीता नाम ही देंगे।''

कहने की आवश्यकता नहीं कि सीता के प्रति संस्कृत भाषा-भाषी आर्यों का जितना दावा है, उससे हम आदिवासियों का कम नहीं। प्रस्तुत गीत की पंक्तियाँ न केवल सीता को वरन् जनक को भी आदिवासी बना देती हैं। वस्तुतः वाल्मीकि चित्रित सीता के लिए जो भी कहा जाये, थोड़ा है। स्त्री जन्य कमजोरियों के बावजूद उनका चरित्र भारतीय नारी के प्रति उन्हें सभ्य एवं अन्य उपसर्गों से विभूषित करता है। यही बात मातृसत्ता की प्रतिनिधि देवी काली के सम्बन्ध में भी कही जा सकती है।

जिन कृष्ण के चारों ओर भारतीय (एवं भारत इतर) भागवत सम्प्रदाय और भक्ति साहित्य फैला हुआ है, वे मूलतः आदिवासियों के ही कहे जा सकते हैं। उपनिषदों के नेति-नेति कहकर जिस ब्रह्म की चर्चा है, उसे समझने के लिए ऊँचे ज्ञान की अपेक्षा होती है। जनसाधारण के लिए वह दुर्बोध ही है। इसी ब्रह्म की जनमानस के लिए सुलभ बनाने के लिए अवतारवाद की कल्पना की गई-उस अज्ञेय को प्रतीक के रूप में समझाने का प्रयत्न किया गया। उस निर्गुण निराकार को गुण और आकार दिया गया। गुण और रूप तो जनमानस में पहले से ही विद्यमान थे। श्रीकृष्ण ऐसे ही आदर्श चरित्र के विकसित रूप कहे जा सकते हैं। यदि खींचतान न की जाये तो वैदिक साहित्य में उनका पता नहीं है और उपनिषद् साहित्य में तो उनका उल्लेख मात्र एक विद्यार्थी के रूप में होता है। कहते भी हैं कि भक्ति द्रविड़ देश में उपजी। यह भी द्रष्टव्य है कि विष्णु के अवतार, जिनमें एक कृष्ण भी है, काले ही कहे गये है, जबकि आर्यों को गौर कहा गया है। भागवतपुराण में कृष्ण से संबन्धित जो प्रेम स्वंतत्रता दिखाई देती है वह आदिवासी समाज में युवक-युवतियों के बीच पायी जाने वाली प्रेम स्वतंत्रता से मिलती जुलती है। जिस प्रकार कृष्ण अपनी प्रेमिकाओं से रास लीला करते थे, उसी प्रकार आदिवासी लड़के-लड़कियों के मिलन और नाचने में पाबंदी नही है।

वामनपुराण के राजा बालि को भी हम एक आदिवासी राजा कह सकते है। पड़ोसी जाति का किसी भी अर्थ में उन्नति करना आर्यों को बुरा लगता रहा है। किसी को बढ़ने से रोकने के लिए उन्होंने कई प्रकार अपने को नीचे गिराया है। किसी को बढ़ने से रोकने के लिए उन्होंने कई प्रकार से अपने को नीचे गिराया है। वामनपुराण में उल्लिखित भगवान विष्णु का अवतार भी इसका एक उदाहरण है। मुश्किल तो यह है भगवान को लगता है कि वे बलि को ठग रहे हैं, जबकि बलि को इस बात का पूरा पता है कि ब्राह्मण वेशधारी याचक कौन है फिर भी अतिथि सत्कार के लिए किसी को कहना तो पड़ता है कि मैं क्या सेवा कर सकता हूँ। जब भगवान स्वयं भिखारी बनकर माँगने लगें, तो बलि जैसे राजा की तो बात ही क्या, कोई अकिंचन भी अपना सर्वस्व देने के लिए तैयार हो जाता है। इससे देनेवाले की दीनता नहीं लेने वाले की हीनता ही प्रकट होती है। आदिवासियों का आतिथ्य-सत्कार देखकर कोई भी प्रभावित हुए नहीं रह सकता है।

आदि कवि वाल्मीकि ही की तरह महाभारतकार व्यासजी भी अंशत: आदिवासी कहे जा सकते हैं। उनके पिता पाराशर जी थे और माता सत्यवती, जो एक आदिवासी स्त्री थी। उनके काले होने के कारण उन्हें कृष्ण भी कहा जाता है।

एकलव्य के आदिवासी होने के सम्बध में हमें अधिक कहने की आवश्यकता नहीं। इसके बारे में वैदिक साहित्य में आदिवासी अध्याय में बहुत लिखा गया है (दे.एकलव्य संदर्भ पृष्ठ 727)। वैदिक समाज के जिस जाति गोत्र को लेकर पांडवों के गुरु द्रोणाचार्य एकलव्य के पीछे पड़े और उसे शिष्य बनाने से इनकार किया, उन्हें स्वयं अपनी जाति का पता नहीं था। द्रोण खुद आदिवासी तो थे ही, आर्य संरक्षण में पलकर और राजपरिवार की छाया में रहकर अपना आदिवासीपन भी भूल गये। उन्होंने अपने ही एक तेजस्वी बान्धव एकलव्य का अगूँठा बेईमानी से माँग लिया।

महाभारत में कुछ अन्य लोगों को दासी पुत्र कहा गया है। आंशिक रूप में उन्हें आदिवासी भी कहा जाना चाहिए। सन्तान में माता और पिता दोनों का ही अन्तरण होता है। सन्तान में मात्र पिता को देखकर और माता को नगण्य मानकर शास्त्रों ने निष्पक्षता नहीं निभाई है। भारतीय इतिहास के दास-दासी और कोई नहीं आदिवासी ही हैं जिन्होंने विजेता जाति की सेवा में अपनी जिन्दगी बिताई और सन्तानें भी दीं। तथा कथित अनार्य स्त्रियों के आर्य समाज में आने के साथ ही उनकी अनेक बातें आई। आर्य संस्कारों के स्रोत गृह्य-सूत्रों में कहा गया है कि कन्या पक्ष की स्त्रियाँ जो संस्कार करती हैं, वे शास्त्रोलिखित न होकर भी किये जायें। इस तरह से नये संस्कार जो प्रारंभ में शास्त्र मर्यादित नहीं थे, वे भी धीरे-धीरे नये संस्कारों में संस्कृत भाषा में लिखे जाकर अनुमोदित होने लगे। फिर ऐसा भी नहीं है कि मात्र स्त्रियों का ही आर्यो में उल्लेख बाहुल्य नहीं है। फिर भी हम इस तरह की सम्भावनाओं का अन्दाजा लगा ही सकते हैं। उदाहरणत: कहा जाता है कि महाभारत की लड़ाई में पांडवों को छोड़कर अन्य सारे वीर मारे गये। तब प्रश्न उठता है कि उनकी स्त्रियों का क्या हुआ? सन्तान कैसे बढ़ी? जवाब ढूँढ़ना उतना भारी नहीं है लेकिन कष्टकर अवश्य है। स्पष्ट है कि सन्तान बढ़ी और अन्य पुरुषों से बढ़ी जो महाभारत की लड़ाई से बच गये थे। पुरुषों की संख्या को अधिकांश आदिवासी माना जा सकता है,जो बलराम की तरह युद्ध में सम्मिलित नहीं हुए थे, और जो जंगल में ही रह गये थे।

महाकाव्यों के युग में छोटानागपुर (वर्तमान झारखंड और छत्तीसगढ़) के निवासियों से आर्यों का घनिष्ठ संबंध था। भीम ने पुण्डरीक देश पर विजय प्राप्त की। पुण्डरीक देश छोटानागपुर ही का नाम था। आदिवासियों की चर्चा संस्कृत व्याकरण में भी यत्र-तत्र आती है। पंतजलि ने अपने (पाणिनिकृत अष्टाध्यायी के) महाभाष्य में उच्चारणशुद्धि पर जोर देते हुए लिखा है कि असुर लोग-हे अरयः की जगह हे अलयः हे अलयः कहते हुए परास्त हो गये। विद्वानों ने इस कथन को सैकड़ों बार दुहरा कर इसे आदिवासियों की उच्चारण कठिनाई का प्रमाण मान लिया है। वस्तु स्थिति यह है कि आदिवासी भाषाओं में र और ल का अपना स्वतंत्र वर्णध्वन्यात्सक अस्तित्व है और इन्हें कोई कठिनाई नहीं होती। यदि व्यंजन वर्णों में अल्पप्राण और दीर्घत्व के आधार पर पंतजलि ने कोई आक्षेप इन भाषा-भाषियों पर करके, युक्ति संगत प्रमाणित करने के लिए एक संदिग्ध उदाहरण पर बल देकर अपना ही भ्रम प्रदर्शित किया है। वस्तुतः उन्होंने मुंडा परिवार की भाषाओं के 'हेलय' 'भाइयो, आओ को ही हेलय' की तरह सुन लिया है। अचानक शत्रुदल का सामना होने पर मुंडा भाषा-भाषी आदिवासियों का अपने सहयोगियों को हेलय (विकल्प से एलय) कहकर बुलाना अस्वाभाविक नहीं है।

जब जातियाँ सम्पर्क में आई तो उनकी भाषाएँ भी एक दूसरे से प्रभावित हुईं। संस्कृत में सैकड़ों शब्द ऐसे हैं, जिनकी व्युत्पत्ति के संबंध में संस्कृत के वैयाकरण मौन हैं या संदिग्ध स्पष्टीकरण देते हैं। संस्कृत में मूर्ध्न्य व्यंजन वर्णों के आगमन में द्रविड़ एवं मुंडा परिवार की भाषाओं का महत्वपूर्ण योग है। पूरब की मागधी प्रकृत निर्गत आर्यभाषाओं (बंगला, असमी, उड़िया एवं अन्य) में जिनका संबंध आदिवासी भाषाओं के साथ रहा, स्वर दीर्घता का ह्रास और शब्द रचना में वर साम्य के सिद्धान्त की आँशिक पुष्टि इस बात के प्रमाण हैं कि पड़ोसी आदिवासी भाषाओं ने इन्हें प्रभावित किया है। उदाहरण के तौर पर लिंग भेद को लिया जा सकता है। संस्कृत में तीन लिंग माने गये हैं, किन्तु आधुनिक भारत के नक्शे में जैसे-जैसे हम पूरब की ओर बढ़ते हैं, लिंग का महत्व घटता जाता है। हिन्दी में दो ही लिंग रह जाते हैं और उड़िया बंगला और असमी तक आते-जाते लिंग भेद नहीं रह जाता। यह पड़ोसी मुंडा भाषाओं के प्रभाव के कारण ही माना जा सकता है, जहाँ लिंगभेद शब्द या वाक्य रचनागत विशेषता नहीं है।

संगीत शास्त्र के लय सिद्धान्त में 'नि' निषाद के स्थान में आता है। 'नि' भले ही मधुरतम न हो — प (पंचम) को इसका श्रेय है— किन्तु उच्चतम माने जाकर उसने एक सीमा निर्धारित कर दी है। आदिवासी गीतों को ऊँची तान का रहस्य पड़ोसी आर्यो को बहुत पहले ही मालूम हो गया था। उनके गीतों में ही यह विशिष्टता आज भी उसी रूप में विद्यमान है, ऊँचे स्वरों में गाने की परम्परा अब भी सुरक्षित है और आदिवासियों को इसके लिए गौरवान्वित होना चाहिये।

आयुर्वेद के सब से बड़े आचार्य धन्वतरि ने अपने शिष्यों को दीक्षान्त के समय बताया कि वैद्यक का जो भी ज्ञान मैं ने तुम्हें बताया है, वह तत्संबंधी ज्ञान का अल्पांश ही है। यदि तुम इससे भी अधिक जानना चाहते हो, तो वनवासियों के पास जाओ, वे तुम्हारी ज्ञानपिपासा को तुष्ट करेंगे। ऐसा पढ़कर मन गद्गद् हो उठता है। किन्तु क्या ज्ञान के भूखे शिष्य सचमुच उन वनवासियों के पास गये? आज आयुर्वेद की हालत देखकर तो संदेह ही होता है। आचार्य धन्वतरि तक आते-आते आयुर्वेद एक

विरामावस्था को पा गया और कालान्तर में उस ज्ञान में ह्रास होते-होते आज तक विपन्नावस्था आ गई है।

महाभारत के युद्ध में मुंडा जनजाति के लोगों ने कौरवों के पक्ष में युद्ध किया था। 'मुण्डाधमुंडा 7, 63, 47 में मुंडा' शब्द मुण्डा के लिए ही प्रयुक्त हुआ है। इसी प्रकार द्रविड़ों ने भी कौरवों के साथ युद्ध में साथ दिया था (दे. वैदिक समाज में अनार्य, महाभारत के युद्ध के संदर्भ में)।

वाल्मीकि रामायण में आदिवासियों के विभिन्न दलों का निर्धारिण करना एक कठिन काम है। फिर भी मोटा-मोटे तौर पर दो प्रकार के आदिवासियों को तो दिखाया ही जा सकता है। एक प्रकार के आदिवासी राक्षस या असुर कहे गये है जिनमें रावण आदि की गणना की जा सकती है। द्रविड़ भाषा-भाषियों का अधिकांश भाग इसी श्रेणी में आता है।

दूसरे प्रकार के आदिवासी वानर कहे गये हैं, जो श्रीराम की मदद करते हैं। वानर कहे जानेवाले आदिवासियों का निकट संबंध भालू, गिद्ध और रीछ कहे जाने वाले आदिवासियों से है। आपसी संबंध पुराना जान पड़ता है। उदारणतः कई नाम ऐसे आते हैं जो असुर-राक्षस और वानर-रीछ परिवार में समान रूप से व्यवहृत होते हैं। वानर और राक्षस आदिवासियों के साथ दो बातें समान रूप से पाई जाती हैं एक तो उनमें से अधिकांश की उत्पत्ति सामान्य प्रसव क्रिया से न होकर किसी देवता के छीकने खाँसने आदि शारीरिक विकारों के आधार पर हुआ है। उदाहरणतः हनुमान् (जिसकी ठुड्डी में गड्ढा हो), कुम्भकर्ण (जिसके कान घड़े की तरह हो), मन्दोदरी (जिसका पेट बड़ा हो।) रामायण की रचना करते समय आदिवासियों को वानरों और राक्षसों के रूप में चित्रित करने के पीछे आदिकवि (और उनके अनुयायी समस्त मध्ययुगीन कवि कंवन, तुलसीदास, कृतिवास आदि) के मन में क्या भावना थी, यह कह पाना कठिन है। किन्तु नर को वानर के रूप में देखकर मन को क्लेश ही होता है। उन वानरों में से कुछ के चरित्र ऊपर उठाकर भी वानर समाज का जो चरित्र-चित्रण हमें रामायण में मिलता है, वह खेद जनक है।

रामायण के वानर, बन्दर नहीं हैं। रामायण में वानर (1080 बार प्रयुक्त) के पर्यायवाची शब्दों में वनगोचर, वनचारी तथा वनौकस आदि नाम आये है। इससे यह स्पष्ट होता है कि वानर शब्द बन्दर का सूचक न होकर वनवास का द्योतक है। ऐसी स्थिति में यह स्वीकार किया जाना चाहिये कि नाग, ऋक्ष और वानर प्राचीन जनजातियाँ है, जिन्हें कालान्तर में लोकमानस ने आकृति के स्वभाव में इन पशुओं का प्रतीक मान लिया, जिसका नाम वे धारण करती थीं या जिनकों उन्होंने अपना गोत्र -चिन्ह मान लिया था (हीरालाल शुक्ला आदिवासी अस्मिता और विकास पृ. 164)

उपरोक्त तथ्य से यह स्पष्ट होता है कि रामकथा के वानर, ऋक्ष और राक्षस विन्ध्य प्रदेश तथा मध्य भारत की आदिवासी अनार्य प्रजातियाँ थीं। इसके विषय में प्रायः मतभेद नहीं है। रामायण के वानर मनुष्यों की तरह बुद्धिसम्पन्न हैं, मानवीय भाषा बोलते हैं घरों में निवास करते हैं, विवाह संस्कार को मान्यता देते हैं, और राजा के शासन के अधीन रहते हैं। इससे स्पष्ट है कि कवि की दृष्टि में वे निरे वानर नहीं है। उनकी अपनी-अपनी संस्कृति और सामाजिक व्यवस्था है (दे. जी रामदास, दि एवॉरिजिनल नेम्स इन दि रामायण, जर्नल उड़ीसा रिर्सच सोसाइटी, भाग 11 पृ. 41-120 और पद्मभूषण डा. कामिल बुल्के

27 कथा, उत्पत्ति और विकास पृ. 117-120)।

वानर नाम की उत्पत्ति की समस्या सुलझाने के लिए अनेक अनुमान प्रस्तुत किये गये हैं। सी वैद्य (पृ. 153) के अनुसार वानर जाति के लोग सचमुच वानर के समान दिखलाई पड़ते थे और इससे उनका यह नाम पड़ा।

अन्य विद्वान् जैन रामायणों के अनुसार मानते हैं कि वानर, ऋक्ष आदि नाम उन जातियों की ध्वजा के कारण उत्पन्न हुए 'जिस जाति की ध्वजा पर बन्दर का चिन्ह था, वह वानर जाति कहलाई, जिसकी ध्वजा पर रीछ का चिन्ह था, वह रीछ कहलाई, जैसा कि आजकल रूसियों की ध्वज पर रीछ तथा अंग्रेज जाति की ध्वजा पर सिंह का चिन्ह होने से उन देशों के वीरों को ब्रिटिश लॉयन्स और रस्सियन पयर्स कहते हैं। बन्दर और रीछ 13 से अधिक प्रचलित टोटमों में सम्मिलित हैं (दे.दि ट्राइबस एण्ड कासट्स ऑफ दि सेंट्रल प्रविंसेस भाग 1, पृ. 90)।

झारखंड और छत्तीसगढ़ में रहने वाली उराँव (दे. शरतचन्द्र राय दि. उराओनस ऑफ छोटानागपुर : राँची 1915 पृ. 22) तथा मुंडा (दे. इन्साइक्लोपीडिया मुंडारिका : किलि, गोत्र शब्द के अन्तर्गत) जातियों में तिग्गा, हलमान, बजरंग और गाड़ी गोत्र मिलते हैं। इन सब का अर्थ वानर होता है। इसी प्रकार रेद्दी, बरई, बसोर मैना और खंगार जातियों में भी वानर द्योतक गोत्र मिलते हैं। सिहंभूम की 'भुइँया जाति हनुमान के वंशज होने का दावा करती है वे अपने को पवन वंश कहकर पुकारते हैं (दे. डाल्टनः एथनॉलोजी आफ बंगाल पृ. 140)।

ऋक्ष सूचक गोत्र रेद्दी, बरई, गदवा, केवत, सुध आदि जातियों में मिलते हैं। इसी प्रकार मैना, उराँव और बिरहोर जातियों में गिद्ध या गिधि गोत्र प्रचलित है। ध्यान देने योग्य है कि उराँव, असुर तथा खरिया आदि जातियों की भाषा में 'रावना' का अर्थ गीध ही है। हाल में मुझे पता चला है कि राँची जिले के रयडीह थाने के कटकयाँ गाँव में एक 'रावना' नामक परिवार अब तक विद्यमान है। इसी प्रकार कॉलेज के मेरे एक सहपाठी का गोत्र 'गीध' था। इस विषय पर हीरालाल शुकल के मंतव्य इस प्रकार हैं– यह गोत्र कम प्रचलित है, इसके स्थान पर प्रायः 'गिधि' नाम चलता है। निष्कर्ष यह है कि 'हनुमान' की तरह 'रावण' का नाम भी एक वास्तविक अनार्य नाम का संस्कृत रूपान्तर ही प्रतीत होता है। यह उल्लेखनीय है कि झारखंड के उराँव अपने को रावण का वंशज कहते हैं।

इसके अतिरिक्त छत्तीसगढ़ के रायपुर जिले में रहने वाला 'गोंड़' जाति अपने को रावण के वंशज मानता है (दे. आर बी. रसेल, भाग 1, पृ. 4.2)।

खोंड व उराँव प्राचीन वानर जाति के ही वंशज हैं। हीरालाल शुक्ल ने अपनी पुस्तक आदिवासी अस्मिता और विकास (इलाहाबाद 1977) में ऋष्यमूक (3, 4) तथा पम्पासर (3, 8) एवं किष्किन्धा (3.9) के प्रत्यभिज्ञान के आधार पर माना है कि प्राचीन किष्किन्धा जनपद अर्थात् आधुनिक कोरापुट, कालाहंडी तथा काकिनाडु जिलों में निवास करने वाली आदिम जनजाति ही प्राचीन वानर प्रजाति की वास्तविक उत्तराधिकारिणी है। इस मत के समर्थन में निम्नलिखित प्रमाण दिये जा सकते हैं–

(क) किष्किन्धा के निवासियों को महाभारत तथा अन्य ग्रन्थों में किष्किन्धक कहा गया है तथा

इसी से कन्ध शब्द बना है, जिसके परवर्ती विकास खोंड, गोंड तथा उराँव मूलक हैं।

(ख) रामायण में वानरों का एक अन्य पर्याय गोलांगूल भी है। कन्ध क्षेत्र में प्रवाहित होने वाली गोलांगूलिया नदी प्राचीन इतिहास को आज भी संजोये हुए है।

(ग) कन्धों की भाषा 'कुवि' कपि का ही ध्वनिसाम्य है तथा कोया से इसकी समानता है।

(घ) सुरगुजा, रायगढ़, बस्तर तथा उड़ीसा के गोंड व उराँव आज भी अपने को वनवासी मानते है।

(ड) उराँवों व गोंडों का जातीय प्रतीक वानर है तथा इसीलिए कोई भी उराँव अथवा गोंड वानर का मांस नही खाता है।

आगे वे फिर लिखते हैं— उराँव की उत्पत्ति का इतिहास वानरों की उत्पत्ति के मिथकों से युक्त है। उराँव या कन्ध लोकगीतों के अनुसार 'प्रारंभ' में धरती का बालपन था। चारों दिशाओं में सिर्फ कीचड़ ही था। पानी ही पानी फैला था। पेड़ पौधे कुछ नहीं थे। उसी प्रकार कीचड़ पानी में दरतनी माता ने प्रथम कन्ध-कन्धिनी को जन्म दिया। भूत प्रेत मुँह खोल उसे खाने दौड़े। दरमू महाप्रभू ने सात दिन तक अंधेरा करके उसे छिपाये रखा। सेमल की डोली में बैठकर उतराते रहे। उजाला हुआ, धरती सूखी, जंगल उगे। महाप्रभु ने कहा अब घर गृहस्थी बनाओ। जब उन्होंने दोनों को मिलाया, तो वे कहने लगे-हम लोग तो भाई बहिन हैं। फिर महाप्रभु ने उन्हें अलग कर दिया और अकेले-अकेले जंगलों में भटकाया। खूब घूमाने के बाद फिर एक जगह ला मिलाया। लेकिन फिर वहीं चीन्हा-चान्ही हो गई। फिर दोनों कहने लगे कि हम तो भाई-बहन हैं। एक दूसरे को लेकर घर बसाने को वे राजी न हुए। लाचार होकर महाप्रभु ने चेचक रोग पैदा किया। चेचक ने भाई और बहन दोनों के चेहरे बदल डाले। अब वे एक दूसरे को पहचान न पाये और पति-पत्नी बन कर घर गृहस्थी करने लगे। उनके सात बेटे हुए -मणिआका, हिमेरिका, प्रास्का (हनुमान), मुस्का (वानर), जांबाका (जाम्बवान्)और मेलाका। हर बेटे के नाम पर एक-एक वंश चल पड़ा। फिर नातियों के नाम पर वंश चल पड़े। कन्ध-क्षेत्र व बस्तर में आज भी किष्किन्धापति बालि की पूजा होती है।

(ज) नृत्य के अवसर पर कन्ध तथा माड़िया आज भी पूँछ तथा सींग धारण करते हैं।

(झ) कन्ध क्षेत्र तथा बस्तर में राम के आगमन की कथा आज भी प्रचलित है। बड़े बूढ़े कहते हैं कि किसी जमाने में राम नाम के कोई राजकुमार थे। वह अपनी स्त्री और भाई को लेकर इसी दण्डकारण्य में आये थे। उन दिनों दण्डकारण्य में दक्षिण के साहूकारों (राक्षसों) का भारी अत्याचार फैला था। सामन्त के अत्याचार के खिलाफ कन्धों ने उपयुक्त सरदार पा लिया। प्रास्कावंश के हुनमान और जांबाका (भालू) गोत्र के जांबवान ने उनकी सहायता की थी। तमाम दूसरे-दूसरे गोत्रों के कन्ध उनकी सेना में सिपाही बन गये। टुकड़ों-टुकड़ों में बिखरी कन्ध जाति को राम ने एकजुट किया। दीन-हीन, दरिद्र-मजदूरों और किसानों की सेना ने बरछे, पत्थर और बाँस लेकर सामन्तवादी सभ्यता के विरुद्ध युद्ध किया और

उलट-पुलट कर डाला। आगे चलकर दरिद्र जहाँ थे वहाँ रहे गये।

(ञ) कन्धिस्तान के कन्ध लोगों में यह जनश्रुति प्रचलित है कि कन्ध जाति के प्रमुख सुग्रीव (रामायण के सुग्रीव) के कहने पर राम ने एक ही तीर से सात वृक्षों को काट गिराया था।

यह कथा रामायण में यथावत् मिलती है।

स विसृष्टो बलवता बाणः स्वर्णपरिष्कृतः

भित्त्वा सालान् गिरिप्रस्थं सप्तभूमिं विवेश ह।। 4, 12, 3।।

दल बलवान् वीरशिरोमणि (श्रीराम) के द्वारा छोड़ा सुवर्णभूषित वाण उन सातों सालवृक्षों को एक ही साथ बींधकर पर्वत तथा पृथ्वी के सातों तलों को छेदता हुआ पाताल में चला गया।

(ट) अपने पूर्वज वानरों या किष्किन्धकों के समान कन्ध आज भी अत्यधिक मायावी है तथा अभिचार विद्या में प्रवीण हैं। इस क्षेत्र में नरबलि करनेवाली जाति के रूप में कन्ध तथा माड़िया कुख्यात हैं।

कन्ध के अन्य पर्यायवाची खोड़, कोडा, कुवि-आदि हैं। ऐसी स्थिति में यह स्वीकार किया जा सकता है कि आधुनिक उराँव तथा खोंड रामायण युगीन वानरों की सन्ताने हैं, जो प्राचीनकाल में किष्किन्धा क्षेत्र में रहने के कारण किष्किधक कहलाती थीं। शायद यह जनजाति काकिनाडु (पूर्वी गोदावरी) कोरापुट तथा कालाहंडी से संलग्न क्षेत्र में निवास करती है, जिसे कंधिस्तान कहा जाता है तथा यहीं से इनका मध्यप्रदेश में प्रचार हुआ होगा (वही पृ. 164-166 आदिवासी अस्मिता और विकास)।

छत्तीसगढ़ और झारखंड की एक जनजाति 'उराँव' है। ये अपने नाम की व्युत्पत्ति 'कुजूर वृक्ष' से मानते हैं जिसे याज्ञिक क्रियाकलापों में प्रयुक्त किया जाता है (वही, आदिवासी अस्मिता और विकास पृ. 190)।

(ख) आर्य संस्कृति का जनजातियों पर प्रभाव

आश्रम संस्कृति के प्रवर्तक महर्षियों ने अपनी श्रेष्ठ सभ्यता के बल पर शनैः शनैः जनजातियों को सुसंस्कृत करना प्रारंभ कर दिया था। कालान्तर में आस्ट्रिक परिवार से सम्बन्धित शबर, निषाद, तथा गृध्र प्रभृति जनजातियों ने आर्य संस्कृति को पूरी तरह आत्मसात् कर लिया। इतना ही नहीं, वे आर्यमय हो गईं व राम के वनवास की अवधि में उन्होंने मनसा वाचा, कर्मणा आर्यों की सहायता की थी।

शबरी की कथा एक ऐसी आर्येतर जनजाति की कहानी है, जो आर्यो की संस्कृति से पूरी तरह प्रभावित हो चुकी थी। इसकी पुष्टि शबरी के आश्रम तथा राम-लक्ष्मण के प्रति उनके आतिथ्य-सत्कार के वर्णनों से होती है। वाल्मीकि ने शबरी को तापसी व श्रमणा की संज्ञा दी है। पवित्र जीवन व्यतीत करने वाली उस साध्वी तपस्विनी ने आर्यों के राजकुमार का कृपाभाजन बन अपने को धन्य माना (रामायण, 3, 74)।

गृध्र जनजाति (सम्प्रति गदबा) के लोग आर्य संस्कृति के इतने अधिक समर्थक थे कि सीता को छुड़ाने के प्रयत्न में जटायु ने अपने प्राण तक गवाँ दिये। इसी प्रकार सम्पाती के विवरण (4, 56-57

सर्ग) से यह प्रतीत होता है कि गदबा-जनजाति ने आर्यो की धार्मिक रीतियों को अपना लिया था।

वनवास काल में राम अयोध्या से निषाद राज्य होकर वन गये थे और निषादों के राजा गुह ने उनकी जो सहायता की थी, वह अविस्मरणीय है (रामायण 2,84, 85 सर्ग)

इस प्रकार मध्यप्रदेश अथवा दण्डकवन की मूल मुण्डाभाषी जनजाति का सर्वतोभावेन आर्यीकरण हो चुका था। आस्ट्रिक परिवार के इन लोगों को एकजुट एवं सुसंस्कृत बनाने के पश्चात् आर्यो का ध्यान द्रविड़-परिवार की नाग, वानर तथा राक्षस जातियों के आर्यीकरण पर हुआ। इन जनजातियों पर भी आश्रमचक्र चल रहा था, किन्तु रावण की शोषक मनोवृत्ति के विकास से, क्रम अवरुद्ध हो गया था, तथापि रावण के रंगमंच पर आने से पूर्व ही आर्य संस्कृति ने यहाँ के सामाजिक, शैक्षणिक आर्थिक आदि जीवन को अत्यधिक प्रभावित किया था, यद्यपि वह प्रभात विकास व्यवस्था में था।

वानर (उराँव) जनजाति ने आर्य संस्कृति को मुक्त हृदय से अपनाया था। राक्षसों के विरुद्ध राम के अभियान में ताम्रवर्णी वानरों के सक्रिय सहयोग से यह प्रकट है कि ऋषियों ने वानरों को सुसंस्कृत बना दिया था। वानरों के रीति-रिवाज बहुत कुछ आर्यों से मिलते-जुलते थे। उनके मूल आचार भले ही कुछ और रहे हों, पर राम के समय तक उन्होंने आर्यों की संस्कृति और उनके शिष्टाचार को अपना लिया था। अतिथि सत्कार तथा सभ्य व्यवहार में वानर, आर्यों से कम नहीं थे। अपरिचितों का परिचित एवं विश्वासभाजन बनने में हनुमान बेजोड़ थे। शास्त्रीय विधि तथा परम्परागत प्रणाली से सुसम्पन्न होने वाले सुग्रीव का राज्याभिषेक इस बात का सूचक है कि वानर आर्यों की ही रीति-नीति का पालन करते थे।

राक्षस जनजाति में भी रावण का अनुज विभीषण सुसंस्कृत था। शिष्टाचार तथा लोक व्यवहार में राक्षस प्रायः आर्यों का अनुकरण करने लग गये थे। युद्ध क्षेत्र में जाने से पहले कुम्भकर्ण ने अपने अग्रज रावण को आलिंगनवद्ध कर उसकी प्रदक्षिणा की थी तथा सिर नवा कर उसका अभिवादन किया था। जब रावण राम के साथ युद्ध करने के लिए पहली बार निकला तब मंत्रों के पवित्र घोष से उसके लिए मंगल कामना की गई (रामायण 6, 56, 8)। राम की शरण में जाने पर विभीषण ने समयानुकूल विनम्रता और सम्मान की भावना व्यक्त की थी (6,17, 18-19 सर्ग)।

सीता के प्रति रावण की आदर दृष्टि इस बात का सूचक है कि राक्षसों के अमर्यादित यौन-सम्बन्धों में भी एक आवश्यक सुधार हुआ था।

ऋषियों की भाँति राक्षस भी नियमपूर्वक तपस्या करते थे। परन्तु जहाँ आर्य तपस्वी आध्यात्मिक ज्ञान के लिए तपस्या करते थे, वहाँ राक्षसों को भौतिक शक्तियों को प्राप्त करना होता था। विराध राक्षस ने तपस्या करके किसी भी शास्त्र से अवध्य बन जाने का वर प्राप्त कर लिया था। मारीच ने अपने प्रारम्भिक दुष्कर्मों के बाद भी मृगचर्म और जटाजूट का तपस्वी बाना पहना था। रावण ने एक आश्रम का दर्शन किया था (3,35, 38)।

ग. **राक्षस जनजति द्वारा आर्य संस्कृति का विरोध**— मध्य प्रदेश में आर्यों के उपनिवेश तो बने, किन्तु ऐसा प्रतीत होता है कि यहाँ आर्यीकरण की प्रवृत्ति राक्षसों के विरोध के कारण पुनः अवरुद्ध हो गई। इसका कारण यह प्रतीत होता है कि राक्षस सामन्तवादी प्रकृति के थे तथा उनकी गति शोषण

और विस्तारवाद की थी1 इतना ही नहीं, वे भी अपना आधिपत्य पूरे मध्यप्रदेश में कर लेना चाहते थे। फलस्वरूप आर्यों ने जिस समता का पाठ पढ़ाना आरंभ किया उससे राक्षसों के मन में असन्तोष हुआ, जिसकी परिणति गोदावरी के परिसर में युद्ध से हुई।

संयोगवश राक्षस जनजाति को रावण जैसा दुर्दान्त व्यक्ति मिला जिसने उत्तरापथ की विजय की महत्त्वकांक्षा से निरन्तर आघात प्रतिघात कर समूलनाश कर ही दिया। लंका दुर्ग को हस्तगत करने के पश्चात् रावण अपनी सेना को लेकर निकल पड़ा तथा मध्य प्रदेश में आतंक मचा दिया। एक नगर से दूसरे नगर वह कूच करता और वहाँ राजाओं को ललकार कर कहता—

युद्धं मे दीयतामिति निर्जिता: स्मेति वा ब्रूत। रामायण 7,19,2।।

''या तो मुझसे युद्ध करो या अपनी हार स्वीकार करो।''

ऋषि-मुनियों के आश्रम में इन अप्रत्याशित आक्रमणों के कारण हाहाकर मच गया। प्रारंभ में आर्य संस्कृति में दीक्षित वानर जनजाति के प्रमुख बालि ने राक्षसों के इस आक्रमण का प्रतिरोध किया तथा उसने रावण को इस नरसंहार के लिए मना किया। रावण और उनके अनुयायियों ने जब ऋषि-आश्रमों पर किये गये अभियान के कार्य को स्थागित न किया, तो बालि ने राक्षसी सेना का मुकाबला कर युद्ध में राक्षस राज रावण को बन्दी बना लिया। (7,34,21)।

रावण दूरदर्शी था और उसने बालि के साथ मैत्री कर ली (7, 34, 40)। फलस्वरूप अब रावण का पथ निष्कंटक था; क्योंकि सन्धि के अनुसार अब उसे रावण के भयावह आक्रमणों में हस्तक्षेप नहीं करना था।

बालि के साथ मित्रता करने के पश्चात् रावण और अधिक दु:साहसी हो गया। उसने आश्रम-संस्कृति के समूल विनाश के लिए जनजातियों के प्रमुख केन्द्र स्थल जनस्थान में अपनी उत्तरी सैनिक चौकी भी स्थापित कर ली थी, जहाँ उसने खर दूषण के नेतृत्व में चौदह हजार राक्षसों की सेना को रख छोड़ा था। जहाँ से ये लोग पूरे मध्यप्रदेश तक धावा बोलते थे। रावण की शक्ति दिनों दिन बढ़ती चली गई तथा उसने दो बार अयोध्या पर भी आक्रमण किया था। चित्रकूट से लेकर पम्पा (गोदावरी तट) तक के क्षेत्र में राक्षसों ने भयंकर उत्पात मचा रखा था।

राक्षसों का सबसे घृणित कार्य जिसने उन्हें अन्य वन जातियों की दृष्टि में हेय और निन्द्य बना दिया था, वह था स्त्रियों पर बलात्कार। इसे रावण ने स्वयं सीता को यह कहते हुए बताया— 'हे भीरु सीते! तुम यह न समझना मैं ने कोई अधर्म किया है। परायी स्त्रियों के पास जाना अथवा बलात् उन्हें हर लाना, यह राक्षसों का सदा ही अपना धर्म है— इसमें संदेह नहीं (7, 20,5)।

रावण ने ऋषि तथा जनजाति के दलित वर्ग में जो अग्नि, राक्षस जनजाति में जलाई थी, उससे सारा दण्डकवन झुलस रहा था। इसी समय अयोध्या में गृहकलह की स्थिति उत्पन्न हो ती है तथा निर्वासित राम, अपनी पत्नी एवं लक्ष्मण के साथ दण्डकारण्य में प्रवेश करते हैं। उन्होंने अगस्त्य के अनुरोध पर गोदावरी के तट पर अवस्थित पंचवटी को अपना आवास बनाया था। वहाँ पर राम ने सभी जनजातियों को संगठित करने का कठिन कार्य किया, जिससे रावण की सामन्तवादी व्यवस्था के खिलाफ लड़ सके। राम की यह 'पंचवटी' सम्प्रति इसी नाम से बस्तर से संलग्न भद्राचलम तालुक में गोदावरी के तट पर

अवस्थित है।

शरतचन्द्र राय अपनी पुस्तक 'दी उराँव ऑफ छोटानागपुर पृ. 10 में लिखते है कि रामायण में वानरों को मेघ सदृश रंगवाले (अम्बुदसंकाश 4, 37, 5 दाँत लम्बे विवृतै र्दशनैः 4, 22, 24, वानराणां सुदंष्ट्राणां 4, 26, 4) बताया गया है। वानरों और उनकी पत्नियों के बारे में कहा गया है कि वे शराब पीती थी। बालि की पत्नी तारा के विषय में लिखा है– उनके नेत्र मद से चंचल हो रहे थे, और पैर लड़खड़ा रहे थे (सा प्रस्खलन्ती मदविह्वलाक्षी 4,33,38)। वानर संगीत और बाजा बजाने के शौकीन थे। बातचीत के सिलसिले में श्रीराम ने लक्ष्मण से कहा–

गीतवादित्रनिर्घोषः श्रूयते जयतां वर।

नर्दतां वानराणां च मृदङ्गाडम्बरैः सह।।4, 27, 27।।

''विजयी श्रेष्ठ लक्ष्मण! मृदङ्ग की मधुर ध्वनि के साथ गजरते हुए वानरों के गीत और वाद्य का गंभीर घोष यहाँ से सुनायी देता है।''

श्री राय ने अपनी इसी पुस्तक पृ. 8 में लिखा है कि सर्वप्रथम उराँव जनजाति ने राम को धर्मेस (ईश्वर) माना। अभी भी उराँव जनजाति में 'दाँतकटी' धर्मविधि के अवसर पर एक क़था कही जाती है, जिसमें श्रीराम को धर्मेस और उनकी पत्नी सीता को धर्मेस की पत्नी माना गया है।

ये सर्वविदित है कि वानरों की सहायता से ही श्री राम को लंका युद्ध में विजय मिली। युद्ध के दौरान किसी के हाथ में हथियार नहीं थे। उन्होंने वृक्षों को उखाड़ कर अथवा बड़े पत्थरों द्वारा ही शत्रुओं को मारा था। यह सच है कि राक्षसों को भी आदिवासी ही माना गया है और उन्होंने भी इन्ही हथियारों से युद्ध किया था। लंका काण्ड के अनेक स्थलों में इसका उल्लेख है। उदाहरण-नील ने वृक्ष समूहों से युक्त एक शैल शिखर को उखाड़ कर महोदर के मस्तक पर दे मारा (70, 31), ऋषभ ने मुक्कों से महापार्श्व की छाती पर प्रहार किया ((70, 60), अंगद ने एक पर्वत का शिखर उठा कर कम्पन के सिर पर दे मारा (76, 3 चिक्षेप शिखर गिरेः), मैन्द, द्विविद और अंगद ने वृक्ष ले लेकर युद्ध में उनको निशाचरों पर चलाये (तूतु वृक्षान् समादाय 76, 19), अंगद ने प्रजंघ पर अश्वकर्ण नामक वृक्ष को उखाड़ कर फेंका; (76, 23 अश्वकर्णेन द्रुमेण), मैन्द और द्विविद राक्षस आपस में छीना झपटी और पटका-पटकी करने लगे (तीव्रमाकर्षोत्पाटनं भृशम् 76, 33); इन्हीं दोनों वानरवीरों ने राक्षस कुम्भ के मस्तक पर शिलाओं और वृक्षों की वर्षा आरंभ की (शिलापादप वर्षाणि तस्य मूर्ध्नि 76, 49); कुम्भ के वाणों से पीड़ित होकर अंगद ने साल के एक वृक्ष को उखाड़ कर उसे कुम्भ के सिर पर दे मारा (76, 55), परन्तु कुम्भ मरा नहीं। इस पर श्रीराम की आज्ञा से श्रेष्ठ वानर हाथों में वृक्ष और शिलायें लेकर उस राक्षस की ओर दौड़े (द्रुम शिला हस्ताः वानरर्षभाः 76, 59) महाकवि सुग्रीव अश्वकर्ण आदि बड़े-बड़े वृक्षों को तथा दूसरे भी नाना प्रकार के वृक्षों को उखाड़ कर कुम्भ पर फेंकने लगे (76, 66); तत्पश्चात् उसे उठाकर बड़े वेग से समुद्र के जल में फेंक दिया (76, 84): इस पर भी जब कुम्भ नही मरा तो मुक्कों के प्रहार से मार डाला (76, 92), हनुमान ने मुक्कों की मार में ही निकुम्भ को यमलोक भेज दिया (77,21-22); हनुमान के नेतृत्व में वानरों और निशाचरों का युद्ध हो रहा था। हनुमान ने इन्द्रजित के रथ पर एक बहुत बड़ी शिला फेंकी (82.9); साथ ही सैकड़ों विशालकाय वानर इन्द्रजित पर वृक्षों

और पर्वत शिखरों को फेंकने लगे (82,14), वानरराज सुग्रीव ने सुषेण को सेना की रक्षा का भार सौप कर स्वयं वृक्ष लेकर शत्रु के सामने प्रस्थान किया (प्रतस्थे पादपायुधः 69, 7) वहाँ शत्रु राक्षस विरूपाक्ष पर मुक्कों से प्रहार करने लगा, फिर एक दूसरे पर थप्पड़ों से एक दूसरे को मारने लगे (67, 26-27); अंगद ने महापर्श्व के कान के पास गाल में एक थप्पड़ मारा (68, 21 1/2) और उसका वध किया; हनुमान ने छोटी-बड़ी डालियों सहित वृक्षों द्वारा राक्षसों का संहार करना आरम्भ किया (52, 30 सस्कध विटपैर्द्रुमैः), अंगद ने वज्रदंष्ट्र राक्षस पर वृक्ष उखाड़ कर अकम्पन के सिर पर दे मारा (56, 29) द्विविद ने नरान्तक को पर्वत के शिखर से मार डाला (58, 20), वानर वीरों ने वृक्ष तथा बड़े-बड़े पत्थर लेकर कुम्भकर्ण पर धावा किया (5, 67, 4) द्विविद ने भी एक पर्वत उठाकर कुम्भकर्ण पर दे मारा (67, 9) हनुमान ने भी इस पर शिलाओं और नाना प्रकार के वृक्षों की वर्षा की (67, 15)।

उपरोक्त सभी विशेषताएँ जनजातियों मे पाई जाती हैं। ये भी आरंभ में जंगलों में रहते थे। वानरों की लम्बी पूँछ आदिवासियों की लंगोटी है, जिससे वे कमर में करधनी पहनकर आगे-पीछे बाँधते थे। ये भी शराब के शौकीन हैं और स्त्रियाँ भी शादी विवाह के अवसरों पर मद्य का सेवन करती हैं। संगीत और बाजा इनके जीवन के अंग हैं। एक दूसरे से लड़ाई करते समय डंडे और मुक्कों का प्रयोग करते हैं। छड़ी या पत्थर से ही अपने दुश्मनों को मारते हैं।

ग. **रामकथा से संबंधित आदिवासी कथाएँ**— आदिवासियों का कोई लिखित साहित्य उपलब्ध नहीं है, केवल रामकथा से संबंधित दन्तकथाएँ ही मिलती हैं।

बिहार और बंगाल की संथाल नामक आदिवासी जाति में प्रचलित रामकथा की विशेषताएँ इस प्रकार है—

(क) गुरु की आज्ञानुसार आम खाकर दशरथ की पत्नियों का गर्भवती हो जाना।

(ख) कैकेयी के गर्भ से भरत और शत्रुघ्न का जन्म।

(ग) रावणवध के बाद लौटकर राम ने संथालों के यहाँ रहकर एक शिव मन्दिर बनाया तथा उसमें वे नित्यप्रति सीता के साथ पूजा करने आते थे दे. गोपाल लाल वर्मा, संथाली गीतों में श्रीराम, सारंग (दिल्ली 7 फरवरी 1960, पृ. 43-45)।

इसके अतिरिक्त संथाल, बिरहोर तथा मुंडा नामक जनजातियों में सीता की खोज के वर्णन में बगुले, गिलहरी तथा बेर वृक्ष की कथा का वर्णन है। राम ने एक बगुले से सीता का पता पूछा था। बगुले ने उनकी अवज्ञा करके उत्तर दिया ''मुझे सीता से क्या; केवल पेट की चिन्ता है।'' इस पर लक्ष्मण ने उसकी ग्रीवा को पकड़ कर खींच लिया और उस दिन से बगुले की लम्बी ग्रीवा होती है। संथाली रामकथा के अनुसार राम ने किसी वृक्ष की डालियों पर फूट-फूट कर रोती हुई गिलहरी से सीता का समाचार पूछा था। गिलहरी ने उत्तर दिया-''उन्हीं के लिए तो मैं रो रही हूँ। रावण ने सीता का हरण किया है, वह इसी रास्ते से निकल गया है।'' राम ने उसकी पीठ थपथपाकर कहा— ''कितनी भी ऊँची जगह से क्यों न गिरो, तुम्हें चोट नहीं लगेगी। मुंडा तथा विरहोर जातियों की कथा में गिलहरी के रोने की चर्चा नहीं है, किन्तु उसमें राम के उसकी पीठ पर तीन रेखाएँ खीचने का उल्लेख किया गया है। संथाली रामकथा के अनुसार राम ने बेरी वृक्ष में एक चिथड़ा लटका हुआ देखा। बेर ने राम से कहा— ''रावण इसी रास्ते

से सीता को ले गया है। मैने सीता को छुड़ाने का प्रयत्न किया, किन्तु मुझे उनकी साड़ी के इस चिथड़े के अतिरिक्त और कुछ नहीं मिल सका।'' राम ने बेर को आर्शीवाद देकर आश्वासन दिया—''तुमको कितना ही क्यों न काटा जाये किन्तु कोई भी तुम्हारा नाश नहीं कर सकेगा।'' गिलहरी और बेर को वरदान तथा बगुले को दंड देने की बात आदित्य मित्र संथाल' ने राँची आकाशवाणी द्वारा दिनांक 5.11.97 में प्रसारित सीता की खोज' नामक रेडियो वार्ता में कही है।

मुंडा तथा बिरहोर जातियों की कथा के अनुसार बेर ने सीता को छुड़ाने का प्रयत्न नहीं किया, किन्तु उसने राम को सीता का मार्ग बताया, उनकी साड़ी का चिथड़ा दे दिया तथा अमरत्व का वरदान प्राप्त किया। संथाली कथाओं में यह भी कहा जाता है कि हनुमान् जी तरबूजों की रखवाली करता था। लक्ष्मण इनमें से कुछ लेना चाहते थे, जिससे लक्ष्मण और हनुमान् में भिड़न्त हुई। अंत में हनुमान् ने राम तथा लक्ष्मण दोनों को तरबूज खिलाया।

शरतचन्द्र रॉय कृत 'दि बिरहोर्स' नामक ग्रन्थ में इस जाति में प्रचलित एक रामकथा उद्घृत है (पृ. 405-227), जिसमें भगवान के अवतार राम के जन्म से लेकर रावण तथा कुम्भकर्ण के वध तक का वृतान्त संक्षेप में वर्णित है। इसकी निम्नलिखित विशेषताएँ उल्लेखनीय हैं—

1. दशरथ की सात पत्नियों का उल्लेख।
2. दशरथ का ब्राह्मण (अर्थात विश्वामित्र) के साथ पहले भरत, शत्रुध्न को भेज देना तथा ब्राह्मण को इस धोखे का पता लगना। यह वृतान्त कृत्तिवास रामायण में भी मिलता है। कृत्तिवास रामायण (1, 96) के अनुसार दशरथ ने राम तथा लक्ष्मण के स्थान पर भरत तथा शत्रुध्न को विश्वामित्र के साथ भेज दिया। सरयु तट पर पहुँचकर विश्वामित्र ने राजकुमारों से कहा-यहाँ से दो पथ है; पहले पथ से जाने में हमें तीन दिन लगेंगे, दूसरे पथ से हम तीसरे पहर पहुँच जायेंगे, किन्तु इस पथ पर ताड़का राक्षसी का भय रहता है। भरत ने उत्तर दिया—'दूसरे पथ से हमें क्या प्रयोजन है।'' यह सुनकर विश्वामित्र समझ लेते हैं कि दशरथ ने उनको धोखा दिया है, और वह अयोध्या लौटकर राम को मांग लेते हैं।
3. सीता का आँगन को लीपने के लिए शिव का धनुष उठाना।
4. लक्ष्मण के 12 वर्ष तक के उपवास का कुछ परिवर्तित रूप। इसके अनुसार लक्ष्मण केवल मिट्टी खाते थे। विरहोर रामकथा के अनुसार लक्ष्मण को अन्न देते समय सीता कहती थी—''लो यह तुम्हारा हिस्सा है।'' वह इसे खाने के लिए नहीं कहती इसीलिए लक्ष्मण केवल मिट्टी खाते रहे।
5. सीता हरण के पहले राम की सहायता करने जाते समय लक्ष्मण का सीता को राई के दाने देना, उनके द्वारा सीता का रावण को भस्मीभूत करना है। लक्ष्मण यह कह कर सीता को अभिमंत्रित राई के दाने देते हैं— यदि कोई आये तो उस पर दाने फेंकना, एक दाना फेंकने से वह एक घंटा तक मूर्छित रहेगा। दो दाने फेंक दिया और वह एक घंटे तक मूर्छित रहा। इसके बाद सीता ने पुनः कई बार एक दाना फेंका, अन्त में रावण ने कहा—'इतना कष्ट क्यों

करती हो। सब दाने एक साथ फेंक दो जिससे मैं मर जाऊँ। सीता ने ऐसा ही किया और रावण भस्मीभूत हो गया, लेकिन भस्म से उठकर रावण सीता के बालों को पकड़ कर उनको ले गया।

जहाँ तक दशरथ के चार पुत्रों का प्रश्न है विरहोर, दन्तकथा के अनुसार किसी ब्राह्मण को अपने ज्येष्ठ पुत्र देने की प्रतिज्ञा करने के बाद दशरथ उसके जादू द्वारा चार पुत्र प्राप्त करते हैं।

6. सीता की खोज में राम का बेर वृक्ष तथा गिलहरी को वर प्रदान करना और बगुले को दंड देना (दे. ऊपर संथाल, विरहोर तथा मुंडा नामक जनजातियों में सीता की खोज के वर्णन में बगुले, गिलहरी तथा बेर वृक्ष की कथा)।
7. हनुमान् का शुक के रूप में लंका में प्रवेश करना।
8. राम लक्ष्मण का हनुमान् के पुच्छ पर समुद्र पार करना अर्थात् हनुमान् अपनी पूँछ बढ़ाते हैं और राम तथा लक्ष्मण उसी पर समुद्र पार करते हैं।
9. लक्ष्मण द्वारा रावण-वध।
10. रावण-वध के पश्चात् लक्ष्मण द्वारा कुम्भकर्ण के वध का उल्लेख।

डा. डब्ल्यू रूबेन ने झारखण्ड की असुर नामक जाति में प्रचलित दन्तकथाओं का संकलन किया है (दे. आइसनश्मीडे एण्ड डेमोनेन इन इंडियनः लाइदन, 1938 पृ. 78)। उनकी रचना से यह पता चलता है कि आज आदिवासी जातियों की तरह असुरों के यहाँ भी सीता खोज करते समय राम के बगुले को दंड देने की कथा प्रचलित है।

बिरहोर तथा संथाल नामक आदिवासी जातियों की रामकथा में हनुमान् समुद्र के मध्य में राम द्वारा चलाये हुए वाण पर विश्राम करते हैं। एक अन्य आदिवासी कथा के अनुसार हनुमान पहले एक वाण चलाते है, तब कूदकर उस पर सवार हो जाते हैं और इस प्रकार समुद्र पार करते हैं।

नर्मदा घाटी की परधान जाति में एक दन्तकथा प्रचलित है जिससे सीता, लक्ष्मण के संयम की परीक्षा लेती है और लक्ष्मण खरे ही उतरते हैं। लक्ष्मण ने किसी मन्दिर में रहकर 12 वर्षो तक सीता को नहीं देखा था।

मध्यप्रदेश की वैगा भूमिया नामक जाति में प्रचलित एक दन्तकथा में सीता कृषिकी अधिष्ठात्री देवी से संबंध रखती है। इनके अनुसार माता जानकी के हाथ में छः ऊँगलियाँ भी थीं। उन्होंने छठी ऊँगली काटकर भूमि में रोप दी थी। कुछ समय के बाद उससे एक बाँस पैदा हुआ, जिसके कांड़ों की गाँठों के बीच सब प्रकार के बीज छिपे हुए थे। उस जाति के यहाँ हनुमान् की एक जन्मकथा भी मिलती है, जिसमें हनुमान् शिव के वीर्य से उत्पन्न माने जाते हैं। (दे. एस्. फुक्सः दि गोंड एंड भूमिया ऑव ईस्टर्न मंडल, बम्बई (1960) पृ. 3421-422)।

आगारिकया नामक आदिवासी जाति में सहस्रस्कंध रावण के विषय में निम्नलिखित कथा

प्रचलित है रावण-वध के बाद सीता ने राम से कहा कि पाताल में एक सहस्रस्कन्ध रावण निवास करता है। इस पर राम ने वाण मार कर उस रावण को आहत तो किया, किन्तु उसने रामवाण को अपने पैर से निकालकर कहा-जिसने तुमको भेजा है, उसी के पास जाकर उसे मार डालो। वाण के आघात से राम मूर्छित होकर भूमि पर गिर पड़े। तब सीता ने राजा लोगुन्दी के पास जाकर उससे कोयले का पात्र मांग लिया और यह निवेदन किया कि आज्ञानुसार तथा लोहासुर मेरे साथ भेज दिये जायें। राजा की स्वीकृति प्राप्त होने पर सीता एक हाथ में कोयले का पात्र तथा दूसरे हाथ में तलवार लिए उन दोनों के साथ चल पड़ी। कोयले में धुएँ के कारण सीता का रंग काला पड़ गया। उन्होंने रावण के पास पहुँचकर उसके सिर काट डाले और आज्ञासुर-लोहासुर ने रावण का रक्त पी लिया।

शबरी— यह कथा आदिवासियों में अपेक्षाकृत लोकप्रिय है। मध्य भारत के कोल अपने को शबरी के वंशज मानते हैं। उनमें प्रचलित दन्तकथा इस प्रकार (दे. डब्ल्यू. जी. ग्रिफित्स दि कोल ट्राइब ऑफ सेंट्रल इंडिया, (कलकत्ता 1946, पृ. 207)। वनवास के समय किसी दिन शबरी से राम सीता की भेंट हुई। तीनों भूखे थे और शबरी ने उनको जंगली बेर खिलाकर तृप्त किया। इसके बाद वह प्रतिदिन अपने अतिथियों के लिए बेर बटोरने जाती थी। एक दिन उसने अन्यमनस्क होकर प्रत्येक फल का थोड़ा साअंश खाकर अपनी टोकरी में रख लिया। घर पहुँचकर उसे पता चला कि मैं ने क्या किया है, और वह राम को जूठे बेर देने में हिचकने लगी। राम ने अनुरोध किया और वह सीता के साथ फल खाने लगे। लक्ष्मण ने एक आदिवासी का जूठा भोजन स्पर्श करना अस्वीकार किया। इस पर एक वाण ने लक्ष्मण को आहत कर दिया, और वह तब तक अस्वस्थ रहे, जब तक उन्होंने अपना मन नहीं बदल दिया। शबरी के घर से प्रस्थान करते समय राम ने उसको वर-स्वरूप राज्य अथवा परिवार चुनने को कहा। शबरी ने परिवार चुन लिया और राम ने उसको अश्वासन दिया कि उसके असंख्य वंशजों को कभी भी भोजन अथवा कपड़े का अभाव नहीं होगा।

(घ) रामायण में वर्णित पर्वतों के साथ आदिवासियों के संबंध

(क) **विन्ध्य-पर्वत**— सुग्रीव द्वारा नियुक्त दक्षिण दिशा में अन्वेषण करने वाला वानरदल एक मास तक विन्ध्य में विचरण करता रहा, तथा एक गुफा में आकर भटक गया। यह गुफा बस्तर की बरहा डोंगरी में है, जहाँ आज भी व्यक्ति भटक जाता है। अन्त में उस दल की सहायता स्वयंप्रभा नामक साध्वी स्त्री ने की। जैसे ही वानर गुफा से बाहर निकला, यह देखकर उनके आश्चर्य का कोई ठिकाना न रहा कि गरजती हुई गोदावरी के तट पर से स्वयंप्रभा ने उनसे यह पूछा—

एष विन्ध्यो गिरिः श्रीमान् नानाद्रुमलताकुलः।।

एष प्रसवणः शैलः सागरोऽयं महोदधिः।। 4, 53, 12।।

"श्रेष्ठ वानरो! यह रहा नाना प्रकार के वृक्षों और लताओं से व्याप्त शोभावाली विन्ध्यगिरि। यह प्रसवणगिरि है और सामने यह महासागरलहरा रहा है।"

यहाँ निर्दिष्ट विन्ध्य सामान्य अर्थ में मध्य प्रदेश से बंगाल की खाड़ी तक के सभी शिखरों का वाचक है, जो गोदावरी नदी के साथ लगभग समुद्र तक व्याप्त है। अंगद तथा अन्वेषण दल के अन्य सदस्य किष्किन्धा के दक्षिण में पहुँचे थे तथा उन्होंने अपने को गोदावरी से समुद्र के मध्य (पूर्वीघाट)

वितत पर्वत- श्रंखला में पाया था।

(ख) शुक्तिमान पर्वत— शुक्तिमान या शुक्तिमत पर्वत की अवस्थिति के संबंध में विद्वानों में मतभेद है। बेगलर (Archeological Survey Report VIII, 1245) के अनुसार हजारीबाग जिले के उत्तर में शक्तिमत् श्रेणी अवस्थित है। पार्जीटर (मार्कण्डेय पुराण 17, 24,26) इसे गारो खासी तथा त्रिपुरा की पहाड़ियों से समीकृत करते हैं। चिन्तामणि वैद्य (Epic India p. 276) ने उसे पश्चिमी भारत में स्थित बताया है, और काठियावाड़ में इसकी पहचान की है। रायचौधरी (Studies in Indian Antiquities. p. 113&120) ने इस नाम का प्रयोग मध्यप्रदेश के रायगढ़ जिले में स्थित सक्ती तक फैली हुई पर्वतमालाओं समेत कुमारी द्वारा सिंचित मानभूम में डलमा पहाड़ियों के लिए तथा संभवतः बावला की सहायकनदियों द्वारा सिंचित संथालपरगना क्षेत्र में स्थित पहाड़ियों के लिए भी किया है।

इस पर्वत से निकलने वाली प्रमुख नदियों में से एक ऋषि कुल्या (मार्कण्डेय पुराण), ऋषिका (वायु पुराण) अथवा कासिका (मत्स्य पुराण) आज भी उसी नाम से जानी जाती है, तथा अनुक पुराणों में उसे महेन्द्र पर्वत से भी निसृत माना जाता है। इसी प्रकार कूर्मपुराण में तिसाम, ऋषिका (ऋषिकुल्या) वंशधारिणी का उद्गम शुक्तिमत् पर्वत में माना गया है, जब कि अन्य पुराण इन्हें महेन्द्र पर्वत से संबंध करते हैं। इससे यह संकेत मिलता है कि ऋषिकुल्या, पितृसोमा तथा वंशाधरा संशयास्पद नदियाँ है; क्योंकि वे शुक्तिमत् तथा महेन्द्र परस्पर इतने अधिक सम्पृक्त थे कि एक या अनेक नदियों को उन दोनों से प्रवाहित मान लिया गया था। इससे उपर्युक्त विद्वानों के प्रत्यभिज्ञान अयथार्थ प्रतीत होते हैं तथा कनिधम (Arecheological Survey Report 13,24,26) का यह मत यथार्थ प्रतीत होता है कि छत्तीसगढ़ को बस्तर से पृथक करने वाली सिहावा और काँकेर के दक्षिण में स्थित पहाड़ियाँ ही शुक्तिमत् श्रेणी हैं। इस प्रकार शुक्तिमत् पर्वत दण्डकारण्य की उत्तरी-पूर्वी सीमा का उपलक्षक है। पूर्व में यह महेन्द्र पर्वत (उड़ीसा में स्थित) में समाहित हो जाता है।

आधुनिक बस्तर की मालता डोंगरी, रावघाट, तेलिन घाटी तथा सिहावा पहाड़ की शाखा-प्रशाखाओं को प्राचीन शुक्तिमत् पर्वतमाला माना जा सकता है, जो उत्तर बस्तर को घेरे हुए है। प्राचीन बस्तर में ये पर्वतमालाएँ चतुर्दिक व्याप्ति के साथ-साथ एक स्वाभाविक दुर्ग का भी कार्य करती थीं।

(ग) **चित्रकूट पर्वत**— श्रीराम ने प्रांरभिक वनवास-काल में अपने निवास स्थान बना कर अपने चरणों से इसे पवित्र किया था।

चित्रकूट का उल्लेख रामायण(अयोध्याकांड सर्ग 55) महाभारत, (वनपर्व 356,58) मत्स्यपुराण (114, 25); वामनपुराण (अध्याय 11 तीर्थमाहात्म्य), प्रसन्नाराघव (7,78) कथासरितसागर (62, 51) प्रभृति ग्रन्थों में हुआ है।

प्राय सभी विद्वान् बाँदा जिले में अवस्थित कामतानाथ गिरि या कामदगिरि को चित्रकूट मानते हैं, जो चित्रकूट नामक ग्राम के पास अवस्थित है। ये विद्वान् यहाँ से प्रवाहित होने वाली पैंसुनी नदी को ही मन्दाकिनी मानते हैं।

किन्तु ऐसा प्रतीत होता है कि रामायण में वर्णित चित्रकूट बाँदा जिले का चित्रकूट न होकर बस्तर जिले का चित्रकूट है। इस संबंध में कतिपय प्रमाण प्रस्तुत हैं—

1. चित्रकूट की स्थिति दण्डकारण्य के अन्तर्गत थी और बाँदा जिले का चित्रकूट दण्डकारण्य की सीमा में नहीं आता।

2. कालिकापुराण (76, 143) में 'कज्जल' नामक, एक पर्वत को चित्रकूट के पूर्व में स्थित बतलाया गया है। बस्तर के चित्रकूट के पूर्व में (कोशपुट जिला) एतत् नामक पहाड़ है बाँदा में नहीं।

3. शिवपुराण (अष्टम खण्ड द्वितीय अध्याय) के अनुसार चित्रकूट के दक्षिण की ओर से आगे पश्चिम की ओर तुंगारण्य है, जहाँ गोदावरी नदी बह रही है। यहाँ पशुपति शिवलिंग है। यह संकेत बस्तर के चित्रकूट की ओर है, जहाँ दक्षिण की ओरसे आगे पश्चिम में आज भी तुंगारण्य हैं, जहाँ दक्षिण गोदावरी बह रही है। गोदावरी और इन्द्रवती के संगम के पास भदुकाली नामक स्थान में आज भी एक विशाल शिवलिंग है।

4. रामायण में 3, 74, 14 में शबरी, राम से आत्मनिवेदन करती हुई कहती है कि जब आप चित्रकूट पर्वत पर पधारे थे, उसी समय मेरे गुरु मतंग ने स्वर्गारोहण किया था। बाँदा में चित्रकूट के रहने पर राम के आमगन की प्रतीति अतिदूरी के कारण शबरी को नहीं होती। चित्रकूट की बस्तर में अवस्थिति व अनतिदूरता के कारण ही शबरी को रामागमन का समाचार मिल जाता था।

5. रामायण (अयोध्याकांड 5, 61-17) के अनुसार चित्रकूट में मन्दाकिनी तथा मालिनी दो नदियाँ थीं। मन्दााकिनी इस पहाड़ी के उत्तर की ओर स्थित बतलाई गई है। रामने मन्दाकिनी के तट पर स्थित इस पहाड़ी पर निवास किया था। बिस्तर के चित्रकूट के पास में इन्द्रावती (प्राचीन मन्दाकिनी) तथा नांरगी (प्राचीन मालिनी नामक नदियाँ प्रवाहित होती हैं और नारंगी इन्द्रावती से मिलती है। चित्रकूट इन्द्रवती अर्थात् मन्दाकिनी के तट पर स्थित है और इन्द्रावती सप्तगोदावरी नदियाँ में एक है।

6. रघुवंश (13,47) के अनुसार चित्रकूट प्रपातों के लिए विख्यात था और तन्नामक एक प्रपात था। चित्रकूट के उत्तर में आज भी एक प्रपात है तथा आज भी चित्रकूट प्रपात प्रसिद्ध है।

7. वाल्मीकि रामायण में चित्रकूट वन को सालवृक्षों से संकीर्ण माना गया है। किन्तु बाँदा के चित्रकूट में साल होने की कोई सम्भावना नहीं है; जबकि बस्तर सालमय है।

8. महाकवि कालिदास (रघुवंश 13, 47 के अनुसार चित्रकूट का स्वरूप बैल के टीले के समान है। यह आकृति बस्तर के चित्रकूट से अनतिदूर बैलाडीला पर्वत से मिलती है। इसी आधार पर बस्तर को रघुवंश में वर्णित चित्रकूट माना जा सकता है।

उपरोक्त प्रमाणों से यह स्पष्ट होता है कि चित्रकूट आदिवासी बहुल बस्तर में था।

(घ) **अयोमुख**— अयोमुख पर्वत पश्चिमोत्तर में स्थित एक पर्वत का नाम है जहाँ सुग्रीव ने सीता को ढूँढ़ने के लिए अंगद को भेजा था (रामायण 4, 41, 13 अयोमुखश्च गन्तव्यः पर्वतो धातुमण्डितः)। इस पर्वत पर अयोमुखी नामक राक्षसी का निवास था, जो विकराल छोटे-छोटे जन्तुओं

को भय देने वाली तथा लम्बोदरी थी (वही 3, 68, 15)

संस्कृत में अयस् (अयः >अयो) का अर्थ लोहा है। अयोमुखी पर्वत का भाव ऐसे पर्वत से है, जिसके मुख में लोहा हो। भूरिया, अबुझमाड़िया आदि बस्तर की गोंडी बोलियों में लोहे के लिए 'कच्च' या 'कच्चा' शब्द मिलता है, जो संस्कृत के लौहवाचक कार्ष्णायस के अधिक निकट प्रतीत होता है। गोंडी भाषा में मेटा का अर्थ पर्वत है। पश्चिमोत्तर बस्तर (रावघाट तथा अबुझमाड़ से संलग्न क्षेत्र) में आज भी अनेक पर्वत कच्चामेटा के नाम से प्रसिद्ध हैं, तथा सोनपुर में 'कच्चापाल' नामक गाँव है। यह प्रसिद्ध है कि बैलाडीला पर्वत– शृंखला से लेकर रावघाट तथा मातलाघाटी तक के सभी पर्वत लौह भंडार हैं। इनमें से बैलाडीला नामक लौहमयपर्वत से कार्ष्णायस (धातु) निकालने का कार्य प्रारंभ भी हुआ है, तथा भूगर्भीय सर्वेक्षण के अनुसार रावघाट तथा मातला घाटी में इससे भी अधिक लौह अयस्य हैं।

अतः रामायण में वर्णित अयोमुख पर्वत बस्तर की इन्ही लौह-उपत्यकाओं (विशेषकर कच्चामेटा) का बोधक है। इस कथन की प्रामाणिकता में छत्तीसगढ़ के एक ताम्रपात्र में लौहनगर भोग का वर्णन है, जो बस्तर के लौह अयस्क वाले क्षेत्र का ही वाचक है।

(ङ) **प्रसवण गिरि**– जनस्थान के मध्य में स्थित प्रसवण पर्वत उत्तर में चित्रकूट या मन्दाकिनी (इन्द्रावती) तक व्याप्त था, तथा दक्षिण में उसकी शाखाएँ गोदावरी तक फैली हुई थी। ऐसी स्थिति में इस पर्वत को आधुनिक बस्तर तथा आन्ध्रप्रदेश के खम्मम जिले तक विस्तृत माना जा सकता है। बस्तर की बैलाडीला, निवता, टिकनपल्ली, अरनपुर, गोपल्ली, किलेपापल, गोगोण्डा तथा उसूर की पहाड़ियों को प्रस्रवण का उपलक्षक माना जा सकता है। इससे यह संकेत मिलता है कि दक्षिण में मलय-पर्वत से मिल जाना था। प्रसवण गिरि पर राम और लक्ष्मण की परस्पर बातचीत हुई (किष्किन्धा कांड 27 सर्ग।)

काण्डा गाँव– जगदलपुर प्रस्थ के दक्षिण में 1000 से 200 फीट तक उन्नत भूमि है, जिसके अन्तर्गत दस्तेवाड़ा, बीजापुर तथा कोण्डा तहसीलों का उत्तरी भाग जाता है। यह ''बैलाडीला' दन्तेवाड़ा की पश्चिमी सीमा से उत्तर दक्षिण तक व्याप्त है। समुद्रतट से इसकी ऊँचाई 400.00 फुट है। बैलाडीला की पर्वतमालायें दुर्गम प्राकृतिक अवरोधक हैं, क्योंकि ऊँचाई तो अधिक है, किन्तु चौड़ाई बहुत कम है। केदार नाथ ठाकुर (बस्तरभूषण, 1960, पृ. 14) ने बैलाडीला का चित्र प्रस्तुत किया –''कुल पहाड़ों में, प्रदेश में सब बड़ा पहाड़ बैलाडीला है। यह पहाड़ देखने में सुन्दर है। वैसे ही हजारों पहाड़ों के बीच रियायत बस्तर के केन्द्ररूपी खंभे के समान विराजमान है। बैलाडीला पहाड़ बैल के डील के समानाकार होने के कारण इस नाम से पुकारा जाता है। बैलाडीला पहाड़ की एक शाखा बरहा डोंगरी है जो दन्तेवाड़ा और बीजापुर के मार्ग में है। बैलाडीला पहाड़ की शाखा-प्रशाखा के रकबे के ही अन्दर बस्तर राज्य के आदिवासी निवास करते हैं और यही उनका मूल निवास स्थान है।''

(च) माल्यवान् पर्वत– सीता हरण-प्रसंग के पश्चात् बालिवध करके वानरराज सुग्रीव की नगरी किष्किन्धा के बाहर पावस के पश्चात् वानरों द्वारा सीता अन्वेषण की प्रत्याशा में राम ने माल्यवान् को प्रस्रवण पर्वत के एक शिखर के रूप में निरूपित किया है (किष्किन्धा कांड, 27 सर्ग) आगे और

भी कहा गया है, कि बाली का वध कौर सुग्रीव का राज्याभिषेक करने के बाद माल्यवान् पर्वत के पृष्ठ भाग में निवास करते हुए श्रीराम लक्ष्मण से कुछ-कुछ बोलने लगे (4, 21) वाल्मीकि रामायण के अनुसार प्रसवण गिरि माल्यवान् तथा किष्किन्धा समीपस्थ प्रतीत होता है, जहाँ से राम लक्ष्मण को सुग्रीव के पास भेजते हैं, तथा वे शीघ्र पहुँच जाते हें। (5,28)

माल्यवान् की प्रसवण-गिरि से संलग्नता और किष्किन्धा तथा पम्पासर से दूरी कम होने के आधार पर बस्तर तथा कोरापुर की पर्वतमालाओं को माल्यवान् माना जा सकता है। गोपानाथ महान्ती ने अमृत-सन्तान (पृ. 271) नामक उपन्यास में इस तथ्य को स्वीकारा है—''लाल सड़क धीरे-धीरे पैठ रही है। तपसकर लाल कर दी गई है, धुरी की तरह। उसी धुरी की धूम से कितने युगों, कितने राम-रावण की अमलदारियों का यह माल्यवान् गिरि अपने दण्डकारण्य के शालवृक्षों को गँवा रहा है।''

बस्तर में तुलसी -डोंगरी माल्यवान् की उपलक्षक है। तुलसी डोंगरी का चित्रण केदारनाथ ठाकुर के बस्तरभूषण (1908, पृ. 5-6) के अनुसार बैलाडीला (प्राचीन प्रस्रवण) के पश्चात् दूसरा बड़ा पहाड़ तुलसी-डोंगरी है। यह पहाड़ बैलाडीला के पूर्व पाड़ृडा होते हुए राज्य की पूर्वी सीमा अर्थात् शबरी नदी तक गया है।

(छ) **रामगिरि**— श्रीराम का अपनी पत्नी एवं भाई लक्ष्मण के साथ रामगिरि पर्वत से संबंध उनके वनवास से समय रहा होगा। परन्तु बस्तर के आदिवासी लोकगीतों में रामगिरि का अनेकबार उल्लेख हुआ है—

दण्डपेण्डोय पेण्डोय रामो रामो
कोर्क पेहची वायकोम साँगो।
मिया वाय-वायपेहचतोरोम साँगो
कोर्क हाह वायकोय साँगो।।

अर्थात् दण्डकवन में राम पहाड़ी रामगिरि
संगी, वहाँ हम वृक्ष काटने चलें
तुम्हारे आने के पूर्व हमने काट डाला
संगी! अब कटे हुए वृक्षों को फैलाएँ साथ-साथ।

(च) **कुंजवन् पर्वत**— जनस्थान के पश्चिम में कुंजवन नामक एक पर्वत था जहाँ कबन्ध नामक एक राक्षस मिवास करता था। रामायण के अरण्यकांड (71-72) में कबन्ध की कथा विस्तार से वर्णित है।

लंका की खोज के 18वें अध्याय में जनस्थान को इन्द्रवती व गोदावरी (दक्षिण बस्तर) के मध्य का क्षेत्र माना गया है। तदनुसार उसके पश्चिम में स्थित अबुझमाड़ ही कुंजवन प्रतीत होता है।

अबुझमाड़ विविध पहाड़ियों के समूह के रूप में बस्तर की पश्चिमी सीमा परलकोट तथा कुटरू से प्रारंभ होकर पूर्व में नारायणपुर तथा छोटे डोंगर तक फैला हुआ है। अबुझमाड़ क्षेत्र में राकसमेटा (राक्षस

पर्वत) नामक अनेक पहाड़ियाँ है, जिनमें से बाकुलवाही की तन्नामक एक पहाड़ी की ओर संकेत किया जा सकता है। छोटी पहाड़ी को रामसपड़े (राक्षस-हड्डी) कहा जाता है। इसी पहाड़ी में जो पत्थर (आदिवासियों के अनुसार अस्थि) मिलते है, उनके संबंध में यही मान्यता है कि राक्षसों के वध के अनन्तर उनकी हड्डियों के संचित होने से ये बनी हैं। ऐसी एक पहाड़ी कोइलबेड़ा के ''जीरमतराई'' गाँव के पास है। यह आश्चर्जनक है कि इन पहड़ियों के प्रस्तर खंड जीर्ण अस्थि के समान ही गुणधर्म वाले हैं तथा जलाने पर अस्थि के समान इनमें भी दुर्गन्ध होती है।

(ङ) अब हम यह देखने का प्रयास करेंगे कि उपरोक्त आदिवासियों में किसने क्या मदद की।

(ग) आदिवासी-श्रीराम के सहायक

(क) जटायु– सीता की खोज करते समय श्रीराम और लक्ष्मण को सर्वप्रथम जटायु मिले। पंचवटी जाते समय वन में श्रीराम को एक विशालकाय गृध्र मिला, जो भयंकर पराक्रम प्रकट करने वाला था। वन में बैठे हुए उस विशाल पक्षी को देखकर श्रीराम और लक्ष्मण ने उसे राक्षस ही समझा और पूछा– ''आप कौन है?'' तब उस पक्षी ने बड़ी मधुर और कोमल वाणी में उन्हें प्रसन्न करते हुए कहा-''बेटा! मुझे अपने पिता का मित्र समझो (उवाच वत्स माँ विद्धि वयस्यं पितुरात्मनः 3, 14, 3)। पिता का मित्र जानकर श्रीराम ने गृध्र का आदर किया और शान्तभाव से उनका कुल एवं नाम पूछा। उनके द्वारा इस प्रकार जानने पर उसने अपने कुल के बारे में इस प्रकार बताया–

तस्माज्जातोऽ हमरुणात् सम्पातिस्तु ममाग्रजः।

जटयुरिति मां विद्धि श्येनीपुत्रमरिंदम।।

सोऽहं वाससहायस्ते भविष्यामि यदीच्छसि।।

इदं दुर्गं हि कान्तारं मृगराक्षससेवितम्।

सीतां च तात रक्षिष्ये त्वयि याते सलक्ष्मणे।। 14, 32-33।।

(अरण्यकांड)

''विनता के दो पुत्र हुए (गरुड़ और अरुण) इन्हीं विनतानन्दन अरुण से मैं तथा मेरे बड़े भाई सम्पाति उत्पन्न हुए। शत्रुदमन रघुवर! आप मेरा नाम जटायु समझें। मैं श्येनी का पुत्र हूँ। तात! यदि आप चाहें तो मै यहाँ आप के निवास में सहायक होऊँगा। यह दुर्गम वन मृगों तथा राक्षसों से सेवित है। लक्ष्मण सहित आप यदि अपनी पर्णशाला से बाहर चलें जाएँ तो अवसर पर मैं देवी सीता की रक्षा करूँगा।''

यह सुनकर श्रीराम ने जटायु का बड़ा सम्मान किया और प्रसन्नतापूर्वक उनको गले लगाकर वे उनके सामने नतमस्तक हो गये, फिर पिता के साथ जिस प्रकार उनकी मित्रता हुई थी, वह प्रसंग श्रीराम ने जटायु के मुख से बार-बार सुना।

जब रावण सीता का अपहरण करके ले जा रहा था, तो विलाप करती हुई सीता ने एक वृक्ष पर बैठे हुए गृध्रराज जटायु को देखा। करुण क्रन्दण करती हुई उसने पक्षिराज से कहा–

''आर्य जटायो! देखिये, यह पापचारी राक्षसराज अनाथ की भाँति मुझे निर्दयतापूर्वक हरकर लिए

जा रहा है। परन्तु आप इस निशाचर को रोक नहीं सकते; क्योंकि यह बलवान् है। अनेक युद्धों में विजय पाने के कारण दुष्टता भी भरी हुई है। आर्य जटायो! जिस प्रकार मेरा अपहरण हुआ है, वह सब समाचार आप श्रीराम और लक्ष्मण से ज्यों का त्यों पूर्णरूप से बता दीजियेगा। (3,49, 38-39)।

जटायु उस समय सो रहे थे। उसी अवस्था में उन्होंने सीता की वह करूण पुकार सुनी।

सुनते ही तुरंत आँखें खोलकर उन्होंने विदेहनन्दिनी सीता और रावण को देखा। उनका शरीर पर्वत शिखर के समान ऊँचा था। उनकी चोंच बड़ी ही तीखी थी (3, 50,2)। उसने अपना परिचय देते हुए रावण को समझाते हुए कहा—

दशग्रीव स्थितो धर्मे पुराणे सत्यसंश्रय:।
भ्रातस्त्वं निन्दितं कर्म कर्तुं नार्हसि साम्प्रतम्।।
जटायुर्नाम नाम्नाहं गृध्रराजो महाबल:।। 3-4

अरण्यकाण्ड, 50 सर्ग

"दशमुख रावण! मैं प्राचीन (सनातन) धर्म में स्थित् सत्यप्रतिज्ञ और महाबलवान् गृध्रराज हूँ। मेरा नाम जटायु है। भैया! इस समय मेरे सामने तुम्हें ऐसा निन्दित कर्म नहीं करना चाहिये।"

उसने श्रीराम और सीता का परिचय भी दिया (3, 50, 4-5) और रावण को दुष्कर्म से निवृत होने के लिए समझाते हुए कहा— "अपने धर्म में स्थित रहने वाला कोई भी राजा भला परायी स्त्री का स्पर्श कैसे कर सकता है? महाबली रावण! राजाओं की स्त्रियों की तो विशेष रूप से रक्षा करनी चाहिये। परायी स्त्री के स्पर्श से जो नीच गति प्राप्त होने वाली है, उसे अपने आप से दूर हटाओ। बुद्धिमान् वह कर्म न करे जिसकी दूसरे लोग निन्दा करें। जैसे पराये पुरुषों के स्पर्श से अपनी स्त्री की रक्षा की जाती है, उसी प्रकार दूसरों की स्त्रियों की भी रक्षा करनी चाहिये। पौलस्त्यनन्दन! जिनकी शास्त्रों में चर्चा नही है, ऐसे धर्म, अर्थ अथवा काम का भी श्रेष्ठ पुरुष केवल राजा की देखा-देखी आचरण करने लगते हैं। राजा धर्म और काम का प्रवर्तक तथा द्रव्यों की उत्तम निधि है, अत: धर्म, सदाचार अथवा पाप-इन प्रवृतियों का मूल कारण राजा ही है। राक्षसराज! जब तुम्हारा स्वभाव ऐसा पाप पूर्ण है, और तुम इतने चपल हो, तब पापी को देवताओं के विमान का यह ऐश्वर्य कैसे प्राप्त हो गया? जिसके स्वभाव में काम की प्रधानता है, उसके उस स्वभाव का परिमार्जन नहीं किया जा सकता. क्योंकि दुष्टात्माओं के घर में दीर्घकाल के बाद भी पुण्य का आवास नहीं होता। जब महाबली धर्मात्मा श्रीराम तुम्हारे राज्य अथवा नगर में कोई अपराध नहीं करते हैं, तब तुम उनका अपराध कैसे कर रहे हो? यदि पहले शूर्पणखा का बदला लेने के लिए चढ़कर आये हुए अत्याचारी का अनायास ही महान् कर्म करने वाले श्रीराम ने वध किया, तो तुम्हीं ठीक-ठीक बताओ कि इसमें श्रीराम का क्या अपराध है? जिससे तुम उन जगदीश्वर की पत्नी को हर ले जाना चाहते हो।

रावण! अब शीघ्र ही विदेहकुमारी सीता को छोड़ दो, जिससे श्रीराम अपनी अग्नि के समान भयंकर दृष्टि से तुम्हें जलाकर भस्म न कर डाले। जैसे इन्द्र के वज्र ने वृत्रासुर का विनाश कर डाला था, उसी प्रकार श्रीराम की रोषदृष्टि तुम्हें दग्ध कर डालेगी। तुमने अपने कपड़े में विषधर सर्पको

बाँध लिया है,फिर भी इस बात को समझ नही पाते हो। तुमने अपने गले में मौत की फाँसी डाल ली है, वह तुम्हें सूझ नहीं रहा है। सौम्य! पुरुष को उतना ही बोझ उठाना चाहिये, जो उसे शिथिल न कर दे और वही अन्न-भोजन करना चाहिये, जो पेट में जाकर पच जाये, रोग पैदा न करे। जिस कार्य को करने से न तो धर्म होता है, न कीर्ति बढ़ती है और न अक्षय यश प्राप्त होता हो, उलटे शरीर को खेद हो रहा है, उस कर्म का कौन अनुष्ठान करेगा (3, 50,6-91)। उपरोक्त वचनों से रावण को समझाने के बाद ललकारते हुए कहा—"रावण! बाप दादों से प्राप्त इन पक्षियों के राज्य का विधिवत् पालन करते हुए मुझे जन्म से लेकर अब तक साठ हजार वर्ष बीत गये। अब मैं बूढ़ा हो गया हूँ और तुम नवयुवक हो। तुम्हारे पास धनुष, कवच, वाण तथा रथ सब कुछ है, फिर भी तुम सीता को लेकर कुशलपूर्वक नहीं जा सकोगे। मेरे देखते-देखते तुम विदेहनन्दिनी सीता का बलपूर्वक अपहरण नहीं कर सकते, ठीक उसी तरह जैसे कोई न्यायसंगत हेतुओं से सत्य सिद्ध हुई वैदिक श्रुति की बात को अपनी युक्तियों के बल पर पलट नहीं सकता। रावण! यदि शूरवीर हो तो युद्ध करो। मेरे सामने दो घड़ी ठहर जाओः फिर जैसे खर मारा गया था, उसी प्रकार तुम भी मेरे द्वारा मारे जाकर सदा के लिए सो जाओगे। कमल के समान नेत्रों वाली ये शुभलक्षण। सीता श्री रामचन्द्रजी की प्यारी पटरानी है। इन्हें मेरे जीते जी तुम नहीं ले जा पाओगे। मुझे अपने प्राण देकर भी महात्मा श्रीराम तथा दशरथ का प्रिय कार्य अवश्य करना होगा। दशमुख! ठहरो! केवल दो घड़ी रूक जाओ, फिर देखो! जैसे डंठल से फल गिरता है, उसी प्रकार तुम्हें इस उत्तम रथ से नीचे गिराये देता हूँ। निशाचर! अपनी शक्ति के अनुसार युद्धमें मैं तुम्हारा आतिथ्य सत्कार करूँगा, तुम्हें भली भाँति भेंट पूजा दूँगा (3, 50, 20-23, 26-28)" जटायु के ऐसा कहने पर राक्षस राज रावण क्रोध से आँखे लाल किये, अमर्ष में भरकर उनकी ओर दौड़ा। दोनों में घमासान युद्ध हुआ। अंत में रावण ने तलवार से जटायु के दोनों पंख, पैर तथा पार्श्व भाग काट डाले। पंख के कट जाने पर महागृध्र जटायु पृथ्वी पर गिर पड़े (3,51, 1-43)

जब श्रीराम और लक्ष्मण ने खून से सने गृध्रराज को देखा तो राक्षस समझा और उसे मारने के लिए उसके पास आये। परन्तु जटायु ने अपने मुँह से फेनयुक्तरक्त वमन करते अत्यन्त दीन-वाणी में श्रीराम से कहा—"इस महान् वन में औषधि के समान ढूँढ़ रहे हो, उस देवी सीता को तथा मेरे इन प्राणों को भी रावण आया और हर कर ले जाने लगा। उस समय मेरी दृष्टि सीता पर पड़ी। ज्यों ही मेरी दृष्टि पड़ी, मैं सीता की सहायता के लिए दौड़ पड़ा। रावण के साथ मेरा युद्ध हुआ। मैं ने उस युद्ध में रावण के रथ और छत्र आदि सभी साधन नष्ट कर दिये और वह भी घायल होकर पृथ्वी पर गिर पड़ा श्रीराम! यह रहा टूटा हुआ धनुष, ये हैं उसके खंडित वाण और यह है उसका युद्धोपयोगी रथ, जो युद्ध में मेरे द्वारा तोड़ दिया गया है। यह रावण का सारथि है जिसे मैंने अपने पंखों से मार डाला था। जब मैं युद्ध करते-करते थक गया, तब रावण ने तलवार से मेरे दोनों पंख काट डाले और वह विदेहकुमारी सीता को लेकर आकाश में उड़ गया। मैं उस राक्षस के हाथ से पहले ही मार डाला गया हूँ अब तुम मुझे न मारो।

सीता से संबन्ध रखने वाली यह प्रिय वार्ता सुनकर श्रीराम ने अपना धनुष फेंक दिया और गृध्रराज जटायु को गले से लगा कर शोक से विह्वल धरती पर गिर पड़े और लक्ष्मण के साथ ही रोने लगे। असहाय हो एकमात्र उच्छ्वास की संकटपूर्ण अवस्था में पड़कर बार-बार लम्बी साँस खींचते हुए

कहा-लक्ष्मण! मेरा राज्य छिन्न गया मुझे वनवास मिला और ये मेरे परम सहायक पक्षिराज भी मर गये। ऐसा जो मेरा यह दुर्भाग्य है, वह तो अग्नि को जलाकर भस्म कर सकता है। (3,67,15-20)

अपनी लड़खड़ती जुबान से पक्षिराज जटायु ने सीता का पता बताते हुए कहा—

परिश्रान्तस्य मे तात पक्षौ छित्त्वा स निशाचरः।
सीतामादाय वैदेहीं प्रयातो दक्षिणां दिशम्।। 3, 68.10।।

"तात! जब में उससे लड़ता-लड़ता थक गया, उस अवस्था में मेरे दोनों पंख काटकर वह निशाचर विदेहनन्दिनी सीता को साथ लिए यहाँ से दक्षिण दिशा की ओर गया।"

पक्षिराज जटायु ने श्रीराम को सीता की प्राप्ति का पूर्ण आश्वासन देते हुए कहा—

येन यातो मुहूर्तेन सीतामादाय रावणः।।
विप्रणष्टं धनं क्षिप्रं तत्स्वामी प्रतिपद्यते।।
बिन्दो नाम मुहूर्तोऽसौ सः च काकुत्स्थ नाबुधत्।
त्वत्प्रियां जानकीं हृत्वा रावणो राक्षसेश्वरः।।
झषवद्धडिशं गृह्य क्षिप्रमेव विनश्यति।।
न च त्वया व्यथा कार्या जनकस्य सुतां प्रति।
वैदेह्या रंस्यसे क्षिप्रं हत्वा तं राक्षसं रणे।।

3, 68, 12-14।।

"रावण सीता को जिस मुहूर्त में ले गया है, उसमें खोया हुआ धन शीघ्र ही उसके स्वामी को मिल जाता है। काकुत्स्थ! वह 'बिन्द' नामक मुर्हूत था, किन्तु उस राक्षस को इसका पता नहीं था। जैसे मछली चारे के साथ काँटा निगलकर मर जाती है। उसी प्रकार वह भी सीता को ले ज़ाकर शीघ्र ही नष्ट हो जायेगा। अतः अब तुम जनकनंदिनी के लिए अपने मन में खेद न करो। संग्राम के मुहाने पर उस निशाचर का वध करके तुम शीघ्र ही पुनःविदेहराजकुमारी के साथ विहार करोगे।" यह सुनकर श्रीरामचन्द्रजी हाथ जोड़ कर कह रहे थे, कहिये, कहिये, कुछ और कहिये! किंतु उस समय गृध्रराज के प्राण उनका शरीर छोड़कर आकाश में चले गये। उन्होंने अपना मस्तक भूमि पर डाल दिया, और दोनों पैर फैला दिया और अपने शरीर को भी पृथ्वी पर ही डालते हुए वे धराशायी हो गये। (3, 68, 17-18)।

शोक से विह्वल होकर श्रीरामचन्द्र जी ने लक्ष्मण से कहा—

पश्य लक्ष्मण गृध्रोऽयमुपकारी हतश्च मे।
सीतामभ्यवपन्नो वै रावणेन बलीयसा।।
मम हेतोरयं प्राणान् मुमोच पतगेश्वरः।।

3, 68, 22-24

'लक्ष्मण! देखो, ये जटायु मेरे बड़े उपकारी थे किन्तु आज मारे गये। सीता की रक्षा के लिए युद्ध में प्रवृत्त होने पर अत्यन्त बलवान् रावण के हाथ से इनका वध हुआ है। बाप दादों के द्वारा प्राप्त गीधों के विशाल राज्य का त्याग करके इन पक्षिराज ने मेरे ही लिए अपने प्राणों की आहुति दी है।''

उन्होंने इतना तक कहा कि उन्हें सीता हरण का उतना दुख नही, जितना कि उनके लिए प्राणत्याग करने वाले जटायु की मृत्यु से हो रहा है। (3, 68, 25। उन्होंने पक्षिराज को सम्बोधित करते हुए इस प्रकार कहा—

''महान् बलशाली गृधराज! यज्ञ करने वाले, अग्निहोत्री, युद्ध में पीठ न दिखानेवाले और भूमिदान करनेवाले पुरुषों को जिस गति की — जिन उत्तम लोको की प्राप्ति होती है, मेरी आज्ञा से उन्हीं सर्वोत्तम लोको में तुम भी जाओ। मेरे द्वारा दाह संस्कार किये जाने पर तुम्हारी सद्गति हो (3,68, 29-30)

श्रीराम के द्वारा दाहसंस्कार होने के कारण मृध्रराज की आत्मा का कल्याण करने वाली परम पवित्र गति प्राप्त हुई।

ऐसा कहकर दु:खित हो पक्षिराज के शरीर को चिता पर रखा और उसमें आग लगाकर अपने बन्धु की भाँति उनका दाह संस्कार किया। इसके बाद श्रीराम वन में जाकर मोटे-मोटे महारोही (कन्दमूल विशेष)काट लाये और उन्हें जटायु के लिए अर्पित करने के उद्देश्य से उन्होंने पृथ्वी पर घास बिछाये। श्रीराम ने रोही के गूदे निकालकर उनका पिण्ड बनाया और उन सुन्दर हरित कुशाओं पर जटायु को पिण्डदान किया। ब्राह्मणलोग परलोकवासी मनुष्य को स्वर्ग की प्राप्ति कराने के उद्देश्य से जिन पितृसम्बन्धी मन्त्रों का जप आवश्यक बतलाते हैं, उन सब का भगवान् श्रीराम ने जप किया। इसके बाद दोनों राजकुमारों ने गोदावरी नदी के तट पर जाकर उन गृध्रराज के लिए जलान्र्जलि दी। रघुकुल के उन दोनों महापुरुषों ने गोदावरी में नहाकर शास्त्रीय विधि से उन गृध्रराज के लिए उस समय जलाञ्जलि दी। महर्षितुल्य श्रीराम के द्वारा दाहसंस्कार होने के कारण गृध्रराज जटायु को आमा का कल्याण करने वाली परम पवित्र गति प्राप्त हुई (3, 68, 32-37)।

(ख) **सम्पाति**— जटायु के बड़े भाई सम्पाति ने अपने स्तर से सीता को खोजने में श्रीराम की मदद की थी।

सीता की खोज मे असफल होकर सभी वानर आमरण उपवास पर बैठे थे। विन्ध्य की कंदरा से निकलकर सम्पाति ने जब उन वानरों को देखा तो अत्यन्त प्रसन्न होकर बोले— ''बहुत दिनों के पश्चात् वानरों का माँस खाने को मिला है।)(4, 56,4)।'' उसे बिना देखे सभी वानर आपस में बातें कर रहे थे कि वह गृध्रराज जटायु ही सुखी है, जो युद्ध में रावण के हाथ मारे जाकर परम गति को प्राप्त हुए। वे सुग्रीव के भय से मुक्त हैं (4, 56, 13)। वानरों के द्वारा बारंबार कहे गये इन दु:खमय वचनों को सुनकर और उन सबों को पृथ्वी पर पड़ा हुआ देखकर परम बुद्धिमान् सम्पाति का हृदय अत्यन्त क्षुब्ध हो उठा और वे दीन वाणी में बोलने को उद्यत हुए—

''यह कौन है, जो मेरे प्राणों से भी बढ़कर प्रिय भाई जटायु के वध की बात कह रहा है। इसे सुनकर मेरा हृदय कम्पित सा होने लगा है। जनस्थान में राक्षस का गृध्र के साथ किस प्रकार युद्ध हुआ

था। अपने भाई का प्यारा नाम आज बहुत दिनों के बाद मेरे कान में पड़ा है। जटायु मुझ से छोटा, गुणज्ञ और पराक्रम के कारण अत्यन्त प्रशंसा के योग्य था। दीर्घकाल के पश्चात् आज उसका नाम सुन कर मुझे प्रसन्नता हुई। मैं चाहता हूँ कि पर्वत के इस दुर्गम स्थान से आपलोग मुझे नीचे उतार दें। श्रेष्ठ वानरो! मुझे अपने भाई के विनाश का वृतान्त सुनने की इच्छा है। '' 4, 56, 19-22

सम्पाति के मुँह से ऐसी दीनता पूर्ण वाणी सुनकर अंगद ने उसे पर्वत शिखर से नीचे उतारा और उन्हें जटायु के मारे जाने का वृतान्त बताया। साथ ही राम-सुग्रीव की मित्रता एवं बालिवध का प्रसंग सुनाकर अपने आमरण उपवास का कारण बताया (4, 57, 9-10)। श्रीरामचन्द्रजी के प्रिय कार्य करने के लिए ही जटायु रावण के हांथों मारा गया, यह जानकर उसने भी श्रीराम का प्रिय कार्य अर्थात् सीता जी खोज में मदद करने का निश्चय किया।

जब वानरों ने सीता जी के बारे में उनसे पूछा तो उसने बताया—

''एक दिन मैं ने भी देखा, दुरात्मा रावण सब प्रकार के गहनों से सजी हुई एक रूपवती युवती को हर कर लिए जा रहा था। वह मानिनी देवी हा राम! हा राम! हा लक्ष्मण! की रट लगाती हुई अपने गहने फेंकती अपने शरीर के अवयवों को कम्पित करती हुई छटपटा रही थी। श्रीराम का नाम लेने से मैं समझता हूँ, वह सीता ही थी (4, 58, 15-17, 1/2)। उसने रावण का पता बताते हुए वानरों को बताया—

''रावण नामक राक्षस महर्षि विश्रवा का पुत्र और साक्षात् कुबेर का भाई है। वह लंका नामवाली नगरी में निवास करता है। वहाँ से पूरे चार सौ कोस के अन्तर पर समुद्र में एक द्वीप है, जहाँ विश्वकर्मा ने अत्यन्त रमणीय लंकापुरी का निर्माण किया है। उसके विचित्र दरवाजे और बड़े-बड़े महल सुवर्ण के बने हुए है। उनके भीतर सोने के चबूतरे या वेदियाँ है। उस नगरी की चहारदीवारी बहुत बड़ी है और सूर्य की भाँति चमकती रहती है। उसी के भीतर पीले रंग की रेशमी साड़ी पहने विदेहकुमारी सीता बड़े दुःख से निवास करती हैं। रावण के अन्तः पुर में नजरबंद है। बहुत सी राक्षसियाँ उनके पहरे पर तैनात हैं। वहाँ पहुँचने पर तुमलोग राजा जनक की कन्या मैथिली सीता को देख सकोगे। लंका चारों ओर से समुद्र के द्वारा सुरक्षित है। पूरे सौ योजन समुद्र को पार करके उसके दक्षिण तट पर पहुँचने पर तुम लोग रावण को देख सकोगे (4,58, 19-24)।''

सम्पाति ने उन्हें पूरा आश्वासन दिया कि वे अवश्य ही सीता के पास जाकर सकुशल किष्किन्धा लौटेंगे। परन्तु उन्हें समुद्र को लाँघने का कोई उपाय सोचना चाहिये। उनके मुँह से सीता का समाचार जानकर उन सभी वानरों को बड़ी प्रसन्नता हुई।

सम्पाति ने वानरों को अपनी कथा बताते हुए कहा— जटायु के साथ अपने पराक्रम की थाह लगाने के लिए वे दोनों बहुत दूर तक पहुँचने के उद्देश्य से उड़ने लगे। कैलास पर्वत के शिखर पर मुनियों के सामने उन्होंने शर्त रखी थी कि सूर्य जब तक अस्ताचल पर जायें, उनके पहले ही दोनों को उसके पास पहुँच जाना चाहिये। विशेष प्रयत्न करने पर सूर्यदेव का दर्शन हुआ। जटायु विना पूछे पृथ्वी पर उतर गया। उसे नीचे आते देखकर स्वयं भी अपने आप को आकाश से नीचे की ओर छोड़ दिया। उसने दोनों

पंखों से जटायु को ढँक लिया इसलिए वह नहीं जान सका, असावधानी के कारण वह वहाँ जल गया। वायु के पथ के नीचे गिरते समय संदेह हुआ कि जटायु जनस्थान में गिरा है परन्तु वह विन्ध्यपर्वत पर गिरा। उसके दोनों पंखजल गये इसीलिए वहाँ जड़वत् हो गया। राज्य से भ्रष्ट हुआ, भाई से विछुड़ गया और पंख तथा पराक्रम से भी हाथ धो बैठा (4, 61, 3-17)। निशाकर नामक मुनि समुद्र तट पर स्थित विन्ध्यपर्वत पर रहते थे। उन्होंने सान्त्वना देते हुए सम्पाति से कहा —'सत्यपराक्रमी श्रीरामचन्द्र जी अपनी पत्नी सीता और भाई लक्ष्मण के साथ वन में आयेंगे। वनवास काल में जनस्थान में रहते समय उनकी पत्नी सीता को राक्षसों का राजा 'रावण' नामक असुर हर ले जायेगा। रघुनाथ जी के भेजे हुए दूत वानर यहाँ सीता का पता लगाते हुए आयेंगे। उन्हें तुम श्रीराम की महारानी सीता का पता बताना। तुम भी उन दोनों राजकुमारों के कार्य में सहायता करना। यहाँ से किसी तरह कभी दूसरी जगह न जाना। देश और काल की प्रतीक्षा करना तुम्हें फिर नये पंख प्राप्त हो जायेंगे (4, 69, 5-13)। इसके बाद सम्पाति ने वानरों को बताया कि कन्दरा से निकल कर वह विन्ध्य पर्वत के शिखर पर चढ़ आया और तब से (वानरों के) आपलोगों के आने की बाट देख रहा है। वानरों के सामने ही उनके पंख निकल आये। वानरों को उत्साहित करते कहा—

सर्वथा क्रियतां यत्नः सीतामधिगमिष्यथ

पक्षलाभो ममायं वः सिद्धिप्रत्ययकारकः।। 4, 63, 12-13।।

वानरो! तुम सब प्रकार से यत्न करो। निश्चत ही तुम्हें सीता का दर्शन प्राप्त हो। मुझे पंखों का प्राप्त होना तुम लोगों की कार्य सिद्धि का विश्वास दिलाने वाला है।''

उनकी बातें सुनकर वानर प्रसन्न हो गये और सीता की खोज में दक्षिण दिशा की ओर मुड़ गये।

(ग) हनुमान्— रामायण के आदिवासियों में हनुमान का नाम सर्वोपरि रखा जा सकता है। इसका परिचय हमें राम और सुग्रीव के बीच वार्तालाप में एक दुभाषिये के रूप में मिलता है। इस प्रथम सम्पर्क के बाद राम से उनका संबंध उत्तरोत्तर बढ़ता गया और ये श्रीराम के परिवार के एक अंग हो गये। राम के साथ हनुमान का नाम भी अमर हो गया। एक आदर्श सेवक के रूप में तो उनसे बढ़कर और कोई उदाहरण नहीं मिलता। हनुमान् को जानने के बाद और कुछ भी जानना शेष नहीं रह जाता।

हनुमान् सुग्रीव के दूत में—

सीता को खोजते श्रीराम और लक्ष्मण को देखकर सुग्रीव के मन में शंका हुई कि अवश्य ये बाली के मित्र हैं। उसने हनुमान् को इन ऋषि कुमारों के पास भेजा। हनुमान् ने प्रिय लगने वाली मधुर वाणी में कहा-'वीरो! आप दोनों सत्यपराक्रमी, राजर्षियों और देवताओं के समान प्रभावशाली, तपस्वी तथा कठोर व्रत का पालन करने वाले जान पड़ते हैं, और उनसे इस प्रकार कहा—

''धर्मात्मा सुग्रीव आप दोनों से मित्रता करना चाहते हैं। मुझे आपलोग उन्हीं का मन्त्री समझो। मैं वायुदेवता का वानरजातीय पुत्र हूँ। मेरी जहाँ इच्छा हो जा सकता हूँ और जैसा चाहूँ रूप धारण कर सकता हूँ। इस समय सुग्रीव का प्रिय करने के लिए भिक्षु के रूप में अपने को छिपाकर मैं ऋष्यमूक पर्वत से यहाँ पर आया हूँ (4,3, 22-23)। हनुमान् की ये बातें सुनकर श्रीराम बहुत प्रभावित हुए और

हनुमान् की प्रशंसा में उनके मुँह से निम्नलिखित शब्द निकल— ''जिसे ऋग्वेद की शिक्षा नहीं मिली, जिसने यजुर्वेद का अभ्यास नहीं किया तथा जो सामवेद का विद्वान् नहीं है, वह इस प्रकार सुन्दर भाषा से वार्तालाप नहीं कर सकता। निश्चय ही इन्होंने समूचे व्याकरण का कई बार स्वाध्याय किया, क्योंकि बहुत सी बातें बोल जाने पर भी इनके मुँह से कोई अशुद्धि नहीं निकली। सम्भाषण के समय इनके मुख, नेत्र, ललाट, भौंह तथा अन्य सब अंगों से भी कोई दोष प्रकट हुआ हो, ऐसा कहीं ज्ञात नहीं हुआ। उन्होंने थोड़े में ही बड़ी स्पष्टता के साथ अपना अभिप्राय निवेदन किया है। उसे समझने में कहीं कोई संदेह नहीं हुआ है। रूककर अथवा शब्दों या अक्षरों को तोड़–मरोड़कर किसी ऐसे वाक्य का उच्चारण नहीं किया है, जो सुनने में कर्णकटु हो। इनकी वाणी हृदय में मध्यमा रूप से स्थित है और कण्ठ से वैखरी रूप में प्रकट होती है, अतः बोलते समय इनकी आवाज न बहुत धीमी रही है, न बहुत ऊँची। मध्य स्वर में ही इन्होंने सब बातें कही हैं। ये संस्कार और क्रम से सम्पन्न, अद्‌भुत अवलम्बित तथा हृदय को आनन्द प्रदान करने वाली कल्याणमयी वाणी का उच्चारण करते हैं। (4, 3 , 28– 32)।

श्रीराम के ऐसा कहने पर लक्ष्मण जी ने कपिवर हनुमान् से कहा—

विदिता नौ गुणा विद्वन् सुग्रीवस्य महात्मनः।
तमेव चावां मार्गावः सुग्रीवं प्लवगेश्वरम्।।
यथा ब्रवीषि हनुमन् सुग्रीववचनादिह।
तत्तथा हि करिष्यावो वचनात्तव सत्तम।। 37, 38

किष्किन्धा काण्ड, 3रा सर्ग

''विद्वन्! महात्मना सुग्रीव के गुण हमें ज्ञात हो चुके हैं। हम दोनों भाई वानरराज सुग्रीव की खोज में यहाँ आये है। साधुशिरोमणि हनुमान्‌जी! आप सुग्रीव के कथनानुसार यहाँ आकर मैत्री की बात चला रहे हैं, वह हमें स्वीकार है, हम आपके कहने से ऐसा कर सकते हैं।'' लक्ष्मण की स्वीकृति सूचक वचन सुन कर हनुमान् बड़े प्रसन्न हुए। उन्होंने सुग्रीव की विजय सिद्धि में मन लगाकर उस समय उन दोनों भाईयों के साथ उनकी मित्रता करने की इच्छा प्रकट की (4, 3, 39)। हनुमान् जी ने लक्ष्मण से श्रीराम के वन में आने का कारण पूछा। इस पर लक्ष्मण ने राम का परिचय देते हुए कहा— ''महाराज दशरथ के ये ज्येष्ठ पुत्र हैं। लोग इन्हें श्रीराम कहते हैं! महाराज दशरथ के चारों पुत्रों में ये सब से अधिक गुणवान् हैं। जब इन्हें राज्य सम्पत्ति से संयुक्त किया जा रहा था, उस समय कुछ ऐसा कारण आ पड़ा, जिस से ये राज्य से वंचित हो गये और वन में निवास करने के लिए मेरे साथ यहाँ आ गये। मेरे भाई की पत्नीको इच्छानुसार रूप धारण करने वाले एक राक्षस ने सूने आश्रम से हर लिया जिसने इनकी पत्नी का हरण किया है, वह राक्षस कौन है? कहाँ रहता है? इत्यादि बातों का ठीक–ठीक पता नहीं लग रहा है। परन्तु दनु नामक एक दैत्य, जो शापवश राक्षस हुआ था, उसने सुग्रीव का नाम बताया और कहा —'वानरराज सुग्रीव सामर्थ्यशाली और महान् पराक्रमी हैं। वे आपकी पत्नी का अपहरण करने वाले राक्षस का पता लगा देंगे।' आप के प्रश्न के अनुसार मैंने सब बातें ठीक–ठीक बता दी। मैं और श्रीराम दोनों ही सुग्रीव की शरण में आये हैं। (4, 4, 8–17)।

श्रीराम और लक्ष्मण को ऋष्यमूक पर्वत पर सुग्रीव के वासस्थान में बैठा कर वहाँ से मलयपर्वत पर गये और वहाँ वानरराज सुग्रीव को उन दोनों रघुवंशी वीरों का परिचय देते हुए कहा— ''श्रीराम दशरथ-पुत्र हैं, और पिता द्वारा अपनी पत्नी कैकेयी के लिए दिये वर का पालन करने के लिए इस वन में आये हैं।

''महात्मा श्रीराम मुनियों की भाँति नियम का पालन करते हुए दण्डकारण्य में निवास करते थे। एक दिन रावण ने आकर सूने आश्रम से इनकी पत्नी सीता का अपहरण कर लिया। उन्हीं की खोज में आप से सहायता लेने के लिए ये आपकी शरण में आये हैं। ये दोनों भाई श्रीराम और लक्ष्मण आपसे मित्रता करना चाहते हैं। आप चलकर इन्हें अपनावें और इनका यथोचित सत्कार करें क्योंकि ये दोनों वीर हमलोगों के लिए परम पूजनीय हैं।'' (4, 5, 6-7)।''

सुग्रीव और श्रीराम की मित्रता के माध्यम-हनुमान्—

हनुमान् जी ने श्रीराम और लक्ष्मण को सुग्रीव के पास लाया। श्रीराम उससे मित्रता करना चाहते हैं, यह जान श्रीराम के पास आकर बड़े प्रेम से बोले—

तन्ममैवैष सत्कारो लाभश्चैवोत्तमः प्रभो।
यत्त्वमिच्छसि सौहार्दं वानरेण मया सह।।
रोचते यदि वा सख्यं बाहुरेष प्रसारितः।
गृह्यतां पाणिना पाणिर्मर्यादा बध्यतां ध्रुवा 4, 5, 10.11

''यदि मेरी मैत्री आपको पसंद हो तो मेरा यह हाथ फैला हुआ है। आप इसे अपने हाथ में ले ले और परस्पर मैत्री का अटूट संबंध बना रहे-इसके लिए स्थिर मर्यादा बाँध दें।''

सुग्रीव का यह सुन्दर वचन सुन कर भगवान श्रीराम का चित प्रसन्न हो गया। उन्होंने अपने हाथ से उनका हाथ पकड़कर दबाया और सौहार्द का आश्रय ले बड़े हर्ष के साथ शोक पीड़ित सुग्रीव को छाती से लगा लिया। श्रीराम सुग्रीव की मैत्री के समय हनुमान् ने दो लकड़ियों को रगड़कर आग पैदा की। फिर अग्निदेव का पूजन कर श्रीराम और सुग्रीव के बीच में साक्षी के रूप में उस अग्नि को प्रसन्नता पूर्वक रख दिया। इसके बाद श्रीराम एवं वानरराज सुग्रीव दोनों के हृदय में बड़ी प्रसन्नता हुई। वे एक दूसरे की ओर देखते हुए तृप्त नहीं होते थे। दोनों ने प्रज्वलित अग्नि की प्रदक्षिणा की और दोनों एक दूसरे के मित्र हो गये। (4, 5, 12-15)।

प्रसन्नचित होकर सुग्रीव ने अपना दुखड़ा श्रीराम को बताते हुए कहा—'' श्रीराम! मैं घर से बाहर निकाल दिया गया हूँ, और भय से पीड़ित होकर यहाँ विचरता हूँ। मेरी पत्नी भी मुझसे छीन ली गई है। महाभाग! बाली के भय से पीड़ित हुए मुझ सेवक को आप अभय दान दीजिये। आपको ऐसा कार्य करना चाहिये, जिससे मेरे लिए किसी प्रकार का भय न रह जाये (4, 5, 21-23)।'' सुग्रीव की ये बातें सुनकर श्रीराम ने बाली के वध की प्रतिज्ञा की। श्रीराम द्वारा वध की प्रतिज्ञा सुनकर सुग्रीव अत्यन्त प्रसन्न होकर प्रतिज्ञा करते बोले—

भार्यावियोगजं दुःखमचिरात्त्वं विमोक्ष्यसे।
अहं तामानयिष्यामि नष्टां वेदश्रुतिं यथा।।

रसातले वा वर्तन्तीं वर्तन्तीं वा नभस्तले।

अहमानीय दास्यामि तव भार्यामरिंदम।। 6, 4-6।।

किष्किन्धाकाण्ड

"पत्नी वियोग के दुःख से आप शीघ्र ही मुक्त हो जायेंगे। मैं राक्षस द्वारा हरी गयी वेदवाणी के समान आप की पत्नी वापस ला दूँगा। शत्रुदमन श्रीराम! आप की भार्या सीता पाताल में हो, या आकाश में, मैं उन्हें ढूँढ़ कर आप की सेवा में समर्पित कर दूँगा।"

इस प्रकार दोनों मित्रों ने एक दूसरे की सहायता करने की प्रतिज्ञा की। सर्वप्रथम श्रीराम ने बाली का वध करके सुग्रीव की पत्नी एवं राज्य वापस कराया (4, 16-17 सर्ग)। परन्तु अपनी पत्नी रुमा एवं तारा को पाकर सुग्रीव कुछ दिनों कि लिए भोग-विलास में डूब गये। इस पर हनुमान् ने उसे श्रीराम के उपकार की याद दिलायी और उनका कार्य करने के लिए सुग्रीव को प्रेरित किया। तब सुग्रीव अपने मित्र का कार्य करने के लिए तत्पर हो गये और नील नामक वानर को समस्त दिशाओं से स्वयं लक्ष्मण के साथ श्रीराम के पास आये और अपने साथ अरबों की संख्या में आये वानरों के बारे में इस प्रकार बताया—

"शत्रुसूदन! ये सैकड़ों बलवान् और मुख्य वानर भूमंडल के सभी बलशाली वानरों को साथ लेकर यहाँ आये हैं। रघुनन्दन! इनमें रीछ हैं, वानर हैं और शौर्यसम्पन्न गोलांगूल हैं। ये सब देखने में बड़े भयंकर हैं और बीहड़ वनों तथा दुर्गम स्थानों के जानकार हैं। रघुनाथ जी! जो देवताओं और गन्धर्वो के पुत्र हैं और इच्छानुसार रूप धारण करने में समर्थ हैं, वे श्रेष्ठ वानर अपनी-अपनी सेनाओं के साथ चल पड़े हैं और इस समय मार्ग में हैं। शत्रुओं को दमन करने वाले वीर! इनमें से किसी के साथ सौ, किसी के साथ लाख, किसी के साथ करोड़, किसी के साथ अयुत (दस हजार) और किसी के साथ एक शंकु वानर हैं। कितने ही वानर अर्बुद (दस करोड़), सौ अर्बुद (दस अरब), मध्य (दस पदम) तथा अनृत्य (एक पदम), वानर सैनिकों के साथ आ रहे है। कितने ही वानरों तथा वानरयूथपतियों की संख्या समुद्र (दस नील) तथा परार्ध ((शंख) तक पहुँच गयी है (4, 38, 27-32)।"

यह सुनकर श्रीराम अपनी आज्ञा के अनुसार चलने वाले वानरों के प्रमुख वीर सुग्रीव का यह सैन्य विषयक उद्योग देखकर बड़े प्रसन्न हुए।

पलक मारते-मारते अरबों से घिरे हुए अनेकानेक यूथपतियों ने वहाँ आकर सारी भूमि को ढक लिया और मेघों के समान गर्जना करने लगे। शरभ, कुमुद, वह्नि तथा रंह-ये तथा दूसरे भी बहुत से इच्छानुसार रूप धारण करने वाले वानरयूथपति सारी पृथ्वी, पर्वत और वनों को आवृत करके वहाँ उपस्थित हुए, जिनकी कोई गणना नहीं की जा सकती (4, 36, 14-39)

सुग्रीव ने वहाँ आये हुए उन सब वानर शिरोमणियों का समाचार निवेदन करके श्रीराम चन्द्रजी को शीघ्रतापूर्वक उनका परिचय दिया। इसके बाद सुग्रीव ने श्रीराम और लक्ष्मण के सामने ही विनत नामक यूथपति को एक लाख वेगवान वानरों के साथ पर्वत, वन और काननों सहित पूर्व दिशा की ओर सीता को ढूँढ़ने भेजा (4, 40,19)। पुनः बलशाली अंगद का वानर वीरों का अगुवा बना कर उन्हें दक्षिण

दिशा में सीता को ढूँढ़ने भेजा (4, 31, 6)।

तत्पश्चात् तारा के पिता और अपने श्वसुर 'सुषेण' नामक वानरश्रेष्ठ को दो लाख वानरों के साथ सीता जी को खोजने पश्चिम दिशा में भेजा (4, 43, 3-4)

परमपराक्रमी हनुमान्— सुग्रीव ने हनुमान् के समक्ष विशेष रूप से सीता के अन्वेषण रूप प्रयोजन को उपस्थित किया, क्योंकि उन्हें यह दृढ़ विश्वास था कि वानर श्रेष्ठ हनुमान् जी इस कार्य को सिद्ध कर पायेंगे। श्रीराम ने स्वयं भी यह अनुभव किया कि हनुमान् ही सीता की खोज करने में सफल हैं। इन्हें अपने नाम के अक्षरों से सुशोभित एक अँगूठी देते हुए बोले— 'कपिश्रेष्ठ! इस चिन्ह के द्वारा जनक किशोरी सीता को यह विश्वास हो जायेगा कि तुम मेरे पास से ही गये हो। इससे वह भय त्याग कर तुम्हारी ओर देख सकेगी (4, 44, 13)। प्रारंभ में पूर्व आदि तीन दिशाओं में गये वानर निराश लौट आये (4, 47,पूरा सर्ग)। दक्षिण दिशा में गये हुए वानर भी निराश होकर एक वृक्ष के नीचे खिन्न होकर बैठ गये (4, 48 पूरा सर्ग)। लौटने की अवधि बीत जाने पर भी कार्य सिद्ध न होने से, सुग्रीव के कठोर दण्ड से डरने वाले अंगद आदि वानरों ने उपवास करके प्राण त्याग देने का निश्चय किया (4, 53 सर्ग)। परन्तु पक्षीराज सम्पाति के वचनों से उत्साहित होकर सीता की खोज में दक्षिण दिशा की ओर मुड़ गये (4, 63 सगं)। जाम्बवान् द्वारा समुद्र लाँघकर तट पर उतर गये (5,1, 44)।

लंका पहुँचकर सूर्यास्त के समय हनुमान् ने अपने शरीर को छोटा बना लिया और बिल्ली के बराबर हो गये (5, 2, 21)। उन्होंने लंका में सभी स्थानों में सीता की खोज की। अन्त में एक दिन चैत्य प्रासाद के पास सीता को दयनीय अवस्था में देखा (5, 15 सर्ग)। सीता के पूछने पर उसने श्रीराम के शारीरिक चिन्हों और गुणों का वर्णन करके नर-वानर की मित्रता का प्रसंग सुनाकर सीता के मन में विश्वास उत्पन्न किया (5, 35 सर्ग)। उन्होंने अपने को श्रीराम का दूत बताते हुए एवं अंगूठी देते हुए कहा—

वानरोऽहं महाभागे दूतो रामस्य धीमतः
रामनामाकिंतं चेदं पश्य देव्यङ्गुलीयकम्।। 5, 36, 2।।

"महाभागे! मैं परम बुद्धिमान् भगवान् श्रीराम का दूत वानर हूँ। देवि! यह श्रीरामनाम से अंकित मुद्रिका है, इसे लेकर देखिये।" लंका से लौटकर उसने सीता-प्राप्ति का शुभ समाचार श्रीराम को दिया, साथ ही श्रीराम को सेनासहित कूच करने की आज्ञा देने के लिए प्रार्थना की (6, 3, पूरा सर्ग)। राम के साथ वानर सेना ने लंका के लिए प्रस्थान किया और समुद्र तट पर पंड़ाव डाला। वानरों ने समुद्रों में शिलाओं एवं पहाड़ों को गिराकर सौ योजन लंबा पुल बनाया (6, 22, 73)। हनुमान् ने अशोक वाटिका का विध्वंस किया (5, 41 पूरा सर्ग) इस पर रावण ने किंकर नामक राक्षसों को, हनुमान् का सामना करने भेजा। हनुमान् ने सब को मार गिराया (5, 43 पूरा सर्ग) उसने जम्बुमाली (5, 44), रावण के पाँच सेनापतियों (5, 46) रावणपुत्र अक्षयकुमार (5, 47) का वध किया। इन सभों के वध से क्रोधित होकर रावण ने इन्द्रजित को हनुमान् से लड़ने भेजा। इन्द्रजित ने हनुमान् को दिव्यास्त्रों से बाँधकर रावण की सभा में उपस्थित किया (5, 48 पूरा सर्ग)। श्रीराम की प्रशंसा करने पर रावण ने उसका वध करना चाहा, परन्तु विभीषण ने दूत के वध को अनुचित बताया, रावण ने स्वीकार भी कर लिया (5, 52 पूरा सर्ग)।

राक्षसों ने हनुमान् की पूँछ में आग लगा दी और नगर में घुमाया (5, 53 पूरा सर्ग), परन्तु हनुमान् ने पूरे लंका को जला दिया (5, 54)। सीता से पुनः मिलकर समुद्रपार कर जाम्बवान और अंगद आदि सुहृदों को लंका यात्रा का सारा वृतान्त सुनाया (5, 64-66 सर्ग)। हनुमान् के द्वारा यथावत् रूप से कहे हुए इन वचनों को सुनकर श्रीराम बड़े प्रसन्न हुए। (हनुमान् ने लंका के दुर्ग, फाटक, सेना को कूच करने की आज्ञा देने के लिए प्रार्थना की (6, 3 पूरा सर्ग) उसकी बातों से प्रोत्साहित होकर श्रीराम ने वानर सेना के साथ लंका-पुरी की ओर प्रस्थान किया। उस समय सैकड़ों, हजारों, लाखों और करोड़ों वानरों के साथ आगे बढ़े। उनमें कुछ वानर उस सेना की रक्षा के लिए उछलते कूदते चक्कर लगाते थे। कुछ मेघों के समान गरजते थे। सेना के बीच में राजा सुग्रीव, हनुमान् के कन्धे पर श्रीराम और अंगद के कंधे पर लक्ष्मण थे। शतबलि वानर दस करोड़ वानरों के साथ, वानर सेना का नियंन्त्रण कर रहा था। सौ करोड़ वानरों से घिरे केसरी और पनस सेना के दक्षिण भाग की अज और अर्क, वानर सेना के दूसरे भाग की रक्षा कर रहे थे। बहुत से भालुओं से घिरे सुषेण और जाम्बवान, ये दोनों सुग्रीव को आगे करके सेना के पिछले भाग की रक्षा कर रहे थे। दरीमुख, प्रजंघ, जम्भ और रभस ये वीर सब ओर से वानरों को शीघ्र आगे बढ़ाने की प्रेरणा देते चल रहे थे (6, 4, 26-36)।

हनुमान् ने युद्ध में धूम्राक्ष (6, 52, 37) अकम्पन (6, 56, 30), निकुम्भ (6, 77, 21-22); जैसे वीर राक्षसों को मार डाला। इनके नेतृत्व में वानरों और निशाचरों का घोर युद्ध हुआ और बहुत से राक्षस मारे गये (6, 86 पूरा सर्ग)। हनुमान् के मुक्के की मार से रावण ने धरती पर घुटने टेक दिये। वह काँपने लगा और भूमि पर गिर पड़ा (6, 56, 156)। उसके मुख, नेत्र और कानों से बहुत सा रक्त गिरने लगा और वह चक्कर काटता हुआ रथ के पिछले भाग में निश्चेष्ट होकर जा बैठा। वह मूर्छित होकर अपनी सुध-बुध खो बैठा। वहाँ भी वह स्थिर नहीं रह सका-तड़पता और छटपटाता रहा। इसके बाद रावण से पीड़ित लक्ष्मण को दोनों हाथों से उठाकर श्रीराम के पास ले आये (6, 56, 116-118। वानरों की विशाल वाहिनी के बड़े-बड़े वीर मार गिराये गये, यह देखकर रणभूमि में रघुनाथ जी ने रावण पर धावा किया। उस समय हनुमान् जी ने उनके पास आकर कहा-प्रभो! जैसे भगवान् विष्णु गरुड़ पर चढ़कर दैत्यों का संहार करते हैं, उसी प्रकार आप मेरी पीठ पर चढ़कर इस राक्षस को दण्ड दे। हनुमान् के ऐसा कहने पर श्रीराम उनकी पीठ पर चढ़ कर रावण को युद्ध के लिए ललकारने लगे (6, 56, 123-127)। जाम्बवान् के आदेश से हनुमान् ने हिमालय से दिव्य ओंषधियों के पर्वत को उठा लाया। जिनके गन्ध से श्रीराम लक्ष्मण एवं समस्त वानर पुनः स्वस्थ हो गये (6, 74 पूरा सर्ग)। हनुमान् ने ही भरत को श्रीराम आदि के वापस लौटने की सूचना दी (6, 36-37)। उन्होंने भरत को श्रीराम, लक्ष्मण और सीता के वनवास सम्बन्धी सारे वृतान्तों को सुनाया (6, 126 पूरा सर्ग)। अयोध्या पहुँचने पर सीता देवी ने अपने गले से हार उतार कर हनुमान को इनाम स्वरूप दिया, क्योकि वह सबसे अधिक उसपर कृतज्ञा थी (6,128, 81-82)। हनुमान् प्रारंभ से ही श्रीराम का भक्त और आज्ञाकारी सेवक रहा। हनुमान् के अलावा, सुग्रीव, अंगद, नील, वानरवीरों ने भी राक्षसों का विनाश किया था (दे. वैदिक समाज में अनार्य)। सुषेण ने हनुमान् द्वारा लाई गई औषधि से रावण से निस्तेज किये गये लक्ष्मण को सचेत किया (6, 101, 41)। लंका युद्ध में रावण को मारने के बाद जब श्रीराम सीता और लक्ष्मण के साथ अयोध्या लौट रहे थे, तब हनुमान् द्वारा निषादराज गुह को भी यह शुभ समाचार पहुँचवाया-

श्रृंगबेरपुरं प्राप्य गुहं गहनगोचरम्।।
निषादाधिपतिं ब्रूहि कुशलं वचनान्मम।।
श्रुत्वा तु मां कुशलिनमरोगं विगतज्वरम्।।
भविष्यति गुहः प्रीतः स ममात्मसमः सखा।
अयोध्यायाश्च ते मार्गं प्रवृत्तिं भरतस्य च।
निवेदयिष्यति प्रीतो निषादाधिपतिर्गुहः।। 4, 5-6।।

युद्धकाण्ड 128 सर्ग

श्रृंगवेरपुर में पहुँचकर वनवासी निषादराज गुह से भी मिलना और मेरी ओर से कुशल कहना। मुझे सकुशल, नीरोग और चिन्तारहित सुनकर निषादराज गुह को बड़ी प्रसन्नता होगी क्योंकि वह मेरा मित्र है। मेरे लिए आत्मा के समान है। निषादराज गुह प्रसन्न होकर तुम्हें अयोध्या का मार्ग और भरत का समाचार बतायेगा।

हनुमान् का उपरोक्त वर्णन पढ़ने से यह स्पष्ट हो जाता है कि सीता प्राप्ति में इन्होंने अहम् भूमिका निभाई थी। युद्ध प्रकरण में तो हनुमान् का चरित्र इतनी दूर तक उठाया गया कि स्वयं राम का चरित्र भी एक प्रकार से दब जाता है। हनुमान् के सिवा अन्य सारे लोग अपना साहस खो बैठे थे। इन भयभीत लोगों में स्वयं राम भी हैं, तभी तो हनुमान् उन्हें कन्धे पर उठाकर युद्ध में प्रवृत्त करते हैं। हनुमान् को इस रूप में प्रस्तुत कर आदि कवि ने सचमुच ही उन्हें राम-लक्ष्मण से भी ऊपर उठा दिया। समुद्र लाँघकर लंका पर अकेले चढ़ाई कर वे वानरों में तो सहज ही सर्वश्रेष्ठ प्रमाणित रूप में थे वे लक्ष्मण से भी अधिक शक्तिशाली दिखाई देते हैं। शारीरिक शक्ति में ही नहीं अपनी व्यवहार कुशलता एवं आचरण की शुद्धता में भी वे रामायण के पात्रों में सब से अधिक जाज्वल्यमान हैं। लक्ष्मण के चरित्र पर सीताजी संदेह करती है, किन्तु हनुमान् के प्रति तो ऐसी भावना उठी ही नहीं। विनम्रता इतनी कि अपनी शक्ति का अन्दाजा उन्हें कभी नहीं रहा।

श्रीराम ने दुःख में साथ दिये वानरराज सुग्रीव और विभीषण तथा अन्य राक्षसों और वानरों को राजाओं से प्राप्त रत्नों को बाँट दिया। अपने शरीर से आभूषण उतार कर अंगद और हनुमान् के अंगों में बाँध दिया (उत्तर कांड 39, 14-19)। इसके बाद महाक्रमी श्रीराम ने वानर यूथपतियों-नील, नल, केसरी, कुमुद, गन्धमादन, सुषेण, पनस, वीर मैन्द, जाम्बवान्, गवाक्ष, विनत, धुम्र, बलीमुख, प्रजंघ, महाबली संनाद, दरीमुख, दधिमुख और यूथप इन्द्रजानु को बुला कर मधुर वाणी से कहा-'वानरवीरो! आप लोग मेरे सुहृद, शरीर और भाई हैं। आपने ही मुझे संकट से उबारा है। आप जैसे श्रेष्ठ सुहृदों को पाकर राजा सुग्रीव धन्य है। ऐसा कहकर नरश्रेष्ठ श्रीरघुनाथजी ने उन्हें यथा योग्य आभूषण और बहुमूल्य हीरे दिये तथा उनका आलिंगन किया (8, 39, 320-25)। परन्तु तस्वीर के दूसरे पहलू पर ध्यान देने से यह स्पष्ट होता है कि बाली एवं रावण के साथ तो दुर्व्यवहार ही श्रीराम के द्वारा किया गया।

(घ) सुग्रीव– श्रीराम के एक सहयोगी मित्र के रूप में सुग्रीव रामचरित के एक अभिन्न अंग हो गये। श्रीराम के प्रति मित्रता निभाने के पीछे इनकी जो संभवतः सब से बड़ी मनोवृत्ति थी, वह यह

कि अपने बड़े भाई द्वारा राज्य निष्कासित किये जाने पर इन्होंने पत्नी विहीन श्रीराम में अपने प्रतिच्छाया देखी। राम की मदद करने में इन्होंने कोई कसर न उठा रखी। अपनी सारी सेना, अपना सारा खजाना उनके लिए निस्संकोच समर्पित कर दिया। फिर भी उनका चरित आदिकवि के हाथों, हनुमान् की तुलना में ठीक से उभर नहीं पाया। रामायण के सारे पात्रों में हम सुग्रीव के चरित्र में सर्वाधिक संघर्षशील एवं उद्विग्न मानसिक प्रवृत्ति होने की संभावना देखते हैं। श्रीराम की मित्रता एक प्रकार से खरीदी हुई मित्रता थी। यह मित्रता एक सन्धि थी जिससे सुग्रीव और श्रीराम दोनों के स्वार्थ संधते थे। बाली मरा लेकिन छल से मारा गया-श्रीराम ने उसे वृक्ष की आड़ में छिपकर उस पर वाण चलाया। मान लिया जाए कि सुग्रीव ने अपनी खुशी के लिए ही श्रीराम से बाली के प्राणन्त करने को कहा, पर इसके पक्ष में मर्यादा-पुरुषोत्तम श्रीराम का निर्णय देना क्या उचित था? बाली का क्रोध सर्वथा अनुचित नहीं कहा जा सकता। अगर गुफा के द्वार पर से चट्टान हटाने में बाली सफलीभूत नहीं होता तो उसके लिए मरने की नीयत से नहीं वरन् राक्षस के डर से गुफा का दरवाजा भारी चट्टान से बन्द कर दिया था। इसका परिणाम तो बाली को भुगतना ही पड़ता। सुग्रीव ने अपने भाई की शक्ति आँकने में भूल की थी। उसे बाली से क्षमा माँग लेनी चाहिये थी। उसने यह नहीं किया। मृत्यु के मुँह से बच निकले बाली को क्रोध के सिवा और क्या आ सकता था? क्रोध भी क्या, उसने सुग्रीव को फिर भी अपना भाई समझा-उसकी जान के पीछे तो नहीं पड़ा। शारीरिक कष्ट दिया, लात-घूँसे दिये, किन्तु जान से मार डालने की नीयत उसमें कभी नहीं थी। परन्तु सुग्रीव ने इसका बदला उसे जान से मरवा कर लिया। उसने अपना एकमात्र पराक्रमी भाई खो दिया। सुग्रीव के लिए इससे अधिक कष्ट की बात और क्या होगी कि उसने अपने भाई की हत्या कराई? छद्म जो अन्ततः छद्म नहीं रह गया बाली ने वृक्ष की आड़ में छिपे धनुष-वाण ताने, राम को देख लिया।

बाली की मृत्यु पर ठंडे दिल से सोचने पर श्रीराम पर क्या गुजरी होगी। अगर मान भी लिया जाये कि बाली ने सुग्रीव को घर से निकाल कर अति कर दी, तो क्या इसके लिए उसे जान से मारकर ही सजा दी जा सकती थी? समझौते का कोई दूसरा रास्ता अपनाया नहीं जा सकता था? सुग्रीव की शिकायत तो उन्होंने सुन ली, पर क्या बाली को एक भी बात कहने का मौका दिया गया? मात्र सुग्रीव की ही बात पर कोई निर्णय कर लेना श्रीराम के चरित्र को अत्यन्त ही कमजोर बना देता है। क्या ऐसा नहीं कहा जा सकता है कि उन्होंने अपनी पत्नी के विरह में उद्विग्न मानसिक स्थिति में यह दुर्भाग्यपूर्ण निर्णय कर डाला? बाली की प्राण रक्षा कर श्रीराम के लिए लंका-विजय और भी आसान हो जाता। अत्यधिक कष्ट तो श्रीराम को तभी हुआ होगा, जब वे अपना छल छिपाने के लिए अतर्कपूर्ण माध्यम का सहारा लेते हैं। श्रीराम कहते हैं-मैं ने तुमसे सीधे युद्ध किया अथवा नहीं किया मैं एक क्षत्रिय हूँ और तुम एक वानर हो, तुम्हें किसी भी उपाय से मार डालने में मेरा कोई भी दोष नहीं होगा?

संभवतः इसी बालबुद्धिपूर्ण तर्क जनित श्रीराम की कमजोरी को छिपाने और उन्हें अपमानित होने से बचाने के लिए श्री राजगोपालचारी जी ने रामायण के अपने अंग्रेजी अनुवाद में इस संदर्भ को बिल्कुल ही गायब कर दिया है और पाठकों से एक उदार दृष्टि की अपेक्षा की है।

वानरादि दल में कुशल अभियन्ता के रूप में नल-नील (जिनकी निगरानी में पुल बना), योग्य सेनानायक के रूप में जामवन्त और प्रसिद्ध वैद्य के रूप में सुषेण (जिन्होंने युद्ध में मर्माहत लक्ष्मण को

जिलाया) का उल्लेख किया गया है। युद्ध पूर्व श्री राम के वनवास काल में निषाद राज और शबरी की चर्चा वाल्मीकि जी ने बड़े ही उदार शब्दों में की है (विस्तार के लिए देखे — वैदिक समाज में अनार्य–निषाद-राज गुह और शबरी प्रकरण)।

जैसा कि ऊपर कहा गया राक्षस भी दूसरे प्रकार के आदिवासी हैं। रावण और उनके परिवार को छोड़कर ये राक्षस जंगलों में रहते थे। इनकी आकृति भयानक थी। ये काले कलूटे थे। शूर्पणखा के तो कान बड़े-बड़े थे। इसी भाँति आदिवासी पूर्वजों का रंग काला था और वे सुन्दर भी नहीं थे। जंगली कन्द मूल खाते थे और वृक्ष की छाल या पत्तों से अपने शरीर को ढाँपते थे। (विस्तार के लिए देखिये वैदिक समाज में अनार्य-राक्षस संदर्भ)

सारे रामायण में रावण का चरित्र चित्रण एक क्रूर निर्दयी राक्षस के रूप में किया गया है। किन्तु यदि हम एक उदार दृष्टि से देखने की कोशिष करें तो प्रश्न उठता है कि क्या वे सचमुच उतने नालायक थे? व्यक्तिगत जीवन में वे शिवजी के अनन्य भक्त हैं, एक कर्म योगी हैं। एक राजा की हैसियत से उनका भौतिकता के प्रति झुकाव होना स्वाभाविक ही कहा जा सकता है। जब उसे किसी के विरुद्ध ठानना पड़ता है तो यह उसकी मूर्खता या दम्भ के कारण से ही ऐसा कह देना स्थिति का अवमूल्यन मात्र होगा। यदि हम राम-रावण युद्ध के विशेष कारण पर एक मानवीय दृष्टि डालें तो रावण की श्री राम से बदला लेने की प्रवृत्ति को हम घृणित नहीं कह सकते। ऐसा कौन भाई होगा जो अपनी बहन की नाक कट जाने पर चुप रहेगा। सूर्पणखा ने अगर राम-लक्ष्मण से विवाह प्रस्ताव भी किया तो यह यह कौन सी बुरी बात हुई। उनके नहीं चाहने पर वहाँ कैसे रह सकती थी? दो-तीन दिन कोशिष करने के बाद वह खुद भाग जाती। सीधा न कह कर उल्टे वे उसे चिढ़ाने लगे। राम उसे लक्ष्मण के पास भेजते और लक्ष्मण उसे फिर राम की ओर वापस भेज देते। अपने यौवन का उपहास किसी को अच्छा नहीं लगता। उस युवती ने जब थोड़ी नोच खरोच दिखाई तो कोमल राजकुमारों द्वारा उसका ऐसा करना ही सही रह गया और लक्ष्मण ने उसकी नाक और कान काटकर बहादुरी का रोब जमाया (3, 17–18 सर्ग)।

अशोकवाटिका में सीता को डर होता है कि रावण के विवाह प्रस्ताव को ठुकराने पर, वह कहीं उसे न खा जाये। ऐसा लगता है कि रावण को आदमी खाने के सिवा और कुछ आता नहीं था। रामकथाकारों ने रावण को एक रामभक्त के रूप में चित्रित कर उसे ऊँचा तो अवश्य उठाया किन्तु इस प्रक्रिया में रावण की मानवीयता जाती रही (दानवीयता की तो बात ही क्या?) साथ ही रामायण की नाटकीय गहराई भी। रावण वहाँ ऐसा दिखाई देता है जैसा कि वह राम के द्वारा मारे जाने के लिए लालायित हो। क्यों नहीं उसे स्वर्ग जाने का मोह जो था।

अंत में इस अध्याय के सारांश के रूप में यह स्पष्ट हुआ कि रामायण के वानर, गीध और राक्षस ये पूर्णतः जनजाति थे।

अध्याय 3

आर्य जाति–विशिष्ट परिचय

आर्यों का सामान्य परिचय जानने के बाद इस अध्याय में उनके जीवन के हर पहलू पर विचार किया जाएगा।

I. आर्यों के धार्मिक ग्रन्थ

वेद शब्द का प्रयोग मन्त्र तथा ब्राह्मण के लिए प्रयुक्त किया जाता है। आपस्तम्ब ने अपने 'यज्ञ -परिभाषा' में वेद का लक्षण दिया है **'मन्त्र ब्राह्मणयोर्वेदानाम् धेयम्''** (आपस्तम्ब परिभाषा 31) मननात् मन्त्रा'':— जिनके द्वारा यज्ञ–यागों का अनुष्ठान निष्पन्न होता है, तथा उसमें उल्लिखित देवताओं का स्तुति -विधान किया जाता है उन्हें मन्त्र नाम से पुकारते हैं। ब्राह्मण का अभिप्राय ग्रन्थ–विशेष है ब्रह्मन् के विविध अर्थों में से एक अर्थ है–यज्ञ। बृह् वर्धने धातु से निष्पन्न इस शब्द का अर्थ है– वर्धन, विस्तार, वितान या यज्ञ। अतः यज्ञ की विविध क्रियाओं को बतलाने वाले ग्रन्थों की सामान्य संज्ञा ब्राह्मण है। ब्राह्मण के भी तीन भाग होते हैं 1, ब्राह्मण 2. आरण्यक तथा 3. उपनिषद्।

वेद तो वस्तुतः एक ही प्रकार का है, परन्तु स्वरूप — भेद के कारण तीन प्रकार का बतलाया जाता है। ऋक् यजुः और साम। जिन मन्त्रों में अर्थवशाद पादों की व्यवस्था है उन छन्दोवद्ध मन्त्रों का नाम ऋचा या ऋक् है (जैमिनी सूत्र 2, 1, 35) इन ऋचाओं पर जो गायन गाये जाते हैं उन गीतिरूप मंत्रों को साम कहते है (गीतिषु सामाख्या –जैमिनी सूत्र 2, 1, 36) जो मंत्र ऋचाओं तथा सामों से व्यतिरिक्त हैं उन्हें यजुष् के नाम से पुकारते हैं (शेषे यजुः शब्दः जैमिनी सूत्र 2, 1, 37)। इसमें विशेषतः याग अनुष्ठान के लिए विनियोग वाक्यों का समावेश किया जाता है। इस प्रकार मन्त्रों के त्रिविध होने के कारण वेदों को 'त्रयी' भी कहा जाता है।

वेद चार प्रकार के भी हैं। मन्त्रों के समूह का नाम है संहिता। यज्ञ के अनुष्ठान को ध्यान में रखकर भिन्न–भिन्न ऋत्विजों के उपयोग के लिए इन मन्त्र–संहिताओं का संकलन किया गया है इन संकलन का कार्य स्वयं वेदव्यासजी ने किया। कृष्ण द्वैपायन को वेदों के इसी व्यास–पृथक्करण– करने के कारण 'वेद व्यास' कहा जाता है। मन्त्र संहितायें चार हैं— ऋक् संहिता, यजुसंहिता, साम संहिता तथा अथर्व संहिता। ऋक् का विषय है, शस्त्र, जो मन्त्र द्वारा उच्चरित होता है तथा जिसका गान नहीं किया जाता है वह शस्त्र कहलाता है। यजुष् का विषय है इज्या अर्थात् यज्ञकर्म। यजुर्वेद से यज्ञ के लिए

प्रयुज्यमान ऋक्, समुदाय स्तुत्यर्थ ऋक् समुदाय को स्तोम कहते हैं, जो उद्गाता द्वारा गाया जाता है। यह स्तोम त्रिवृत, पंचदश, सप्तदश, आदि अनेक प्रकार के होते है अथर्व का प्रतिपाद्य विषय है, प्रायश्चित्त। प्रायश्चित्त का लक्ष्य ब्राह्मकर्म (ब्रह्मा नामक ऋत्विक का कर्म) है। अन्य ऋत्विजों के कर्म में त्रुटि दिखलाना एवं प्रायश्चित्त का उपदेश करना ये दोनों ब्रह्मा के कर्म हैं। इन विभिन्न ऋत्विजों के कार्य के विभेद को लक्ष्य कर ही वेद चतुष्टयी का विभाजन किया गया है।

ऋग्वेद तथा अथर्ववेद की रचना का संबंध याज्ञिक अनुष्ठानों के साथ साक्षात् रूपसे भले न हो, परन्तु अन्य दो संहिताओं-साम संहिता तथा यजुः संहिता का निर्माण यज्ञ -याग के विधानों को ही लक्ष्य में रखकर किया गया है। यज्ञ कर्म के लिए उपयुक्त चार ऋत्विजों की आवश्यकता होती है–

1. हौत्रकर्म के सम्पादन का श्रेय 'होता' नामक ऋत्विज को है जो ऋग्वेद की ऋचाओं का पाठ कर उपयुक्त देवताओं को यज्ञ में आह्वान करने का कार्य करता है वह याज्या तथा अनुवाक्या ऋचाओं का पाठ करता है। जिसका पारिभाषिक नाम है शस्त्र'।

2. औदगात्रकर्म का सम्पादक 'उद्गाता' नामक ऋत्विज का विशिष्ट कार्य है, जो तत् तत् देवताओं की स्तुति में साम का गायन करता है, जिसका पारिभाषिक नाम स्तोत्र है। उद्गाता का संबंध सामवेद से है। उद्गाता के लिए आवश्यक ऋचाओं का संग्रह सामवेद की संहिता में है। जिन ऋचाओं के ऊपर साम का गायन होता है, उसका पारिभाषिक नाम 'योनि' है। उद्गाता के विशिष्ट कार्य की सिद्धि के लिए ही साम-संहिता का संकलन किया गया था।

3. अध्वर्यु ही यज्ञ के मुख्य कर्मो का निष्पादन करने वाला प्रधान ऋत्विज होता है उसी के विशिष्टि कर्म के लिए ही यजुर्वेद की संहिताएँ भिन्न-भिन्न शाखाओं में संकलित की गई हैं। अध्वर्यु गद्यात्मक मन्त्रों अर्थात् यजुषों का उपांशु रूप से उच्चारण करता हुआ अपने विशिष्ट कार्यो का सम्पादन करता है।

4. **ब्रह्मा**— ब्रह्मा नामक ऋत्विज का कार्य यज्ञ की बाहरी विघ्नों से रक्षा, स्वरों में सम्भाव्य त्रुटिओं का मार्जन तथा यज्ञीय अनुष्ठानों में उत्पन्न होने वाले, नाना प्रकार के दोषों के दूरीकरण के लिए प्रायश्चित्त का विधान करना है। इसीलिए ब्रह्मा यज्ञ का अध्यक्ष होता है, जिसका कार्य यागीय अनुष्ठानों का पूर्ण निरीक्षण तथा त्रुटि-मार्जन होता है। इसीलिए सर्वत्र ब्रह्मा का गौरव विशेषरूप से उद्घोषित किया गया है। छान्दोग्य में ब्रह्मा को यज्ञ के लिए भिषक् की पदवी से विभूषित किया गया है। यज्ञनिरीक्षण का प्रधान उत्तरदायित्व संभालने वाला ब्रह्मा वेदत्रयी का भी ज्ञाता होता था, परन्तु उसका विशिष्ट वेद अथर्ववेद ही होता था।

इस प्रकार इन चारों ऋत्विजों के विशिष्ट कर्मो के लिए आवश्यक मन्त्रों का संकलन चार 'वैदिक संहिता' के रूप में किया गया है ऋग्वेद के एक मन्त्र में (10, 71, 11) इस सिद्धान्त की सूचना सम्यक् रूप से उपस्थित की गई है।

ऋचां त्वः पोषमास्ते पूपुष्वान्
गायत्रं त्वो गायति शक्वरीषु।
ब्रह्मा त्वो वदति जात-विद्यां
यज्ञस्य मात्रां विमिमीत उत्वः।।

(क) ऋक् संहिता— इन चारों वेदों में ऋग्वेद का गौरव सब से अधिक माना जाता है। तैत्तिरीय-संहिता के अनुसार साम तथा यजुः के द्वारा जो विधान किया जाता है, वह शिथिल होता है। परन्तु ऋक् के द्वारा विहित अनुष्ठान ही दृढ़ होता है। (तैत्तिरीय संहिता 9, 5, 10, 3) पुरुषसूक्त (ऋग्वेद 10, 90, 1) में सहस्रशीर्षा यज्ञरूपी परमेश्वर से ऋचाओं का ही आविर्भाव सब से पहले बतलाया गया है।

ऋग्वेद विभाग—

ऋग्वेद के दो प्रकार के विभाग उपलब्ध हैं:—

1. अष्टम क्रम— समग्र ग्रन्थ आठ अष्टकों में विभक्त किया गया है। प्रत्येक अष्टक में 8 अध्याय होते हैं। इस प्रकार पूरा ऋग्वेद 64 अध्यायों का ग्रन्थ है प्रत्येक अध्याय के अवान्तर विभागों का नाम 'वर्ग' है। वर्ग ऋचाओं के समुदाय की संज्ञा है, परन्तु वर्गो में ऋचाओं विभागों की संख्या निश्चित नहीं है। औसत दर्जे से पाँच मन्त्रों का एक वर्ग होता, परन्तु एक मन्त्र से लेकर नव मन्त्रों तक के भी वर्ग मिलते हैं। ऋग्वेद में समस्त वर्गो की संख्या 2006 है।

2: मण्डल क्रम— दूसरा विभाग अधिक महत्वशाली, ऐतिहासिक तथा वैज्ञानिक माना जाता है। ऋग्वेद 10 मण्डलों में विभक्त है। इसी कारण ऋग्वेद दशतयी के नाम से निरुक्तआदि ग्रन्थों में प्रसिद्ध है। प्रत्येक मण्डल में अनेक अनुवाक, अनुवाक् के भीतर सूक्त और सूक्तों के अन्तर्गत मन्त्र या ऋचायें हैं।

ऋग्वेद के दसों मण्डल में 85 अनुवाक् सूक्त 1017 हैं। ठन सूक्तों के अतिरिक्त 11 बालखिल्य सूक्त हैं। इन बालखिल्य सूत्रों का स्थान अष्टक मंडल के अन्तर्गत माना जाता है। इस मण्डल में मुख्य सूक्त 92 ही है, परन्तु इन खिलों को जोड़कर उनकी संख्या 103 होती है। खिलों को स्वाध्याय के समय पढ़ने का नियम है, परन्तु न तो इनका पदपाठ ही उपलब्ध होता है और न अक्षर में ही समावेश होता है इनका स्थान अष्टम मण्डल के बीच में सूक्त 46 से लेकर सूक्त 56 तक है, तथा मन्त्रों की संख्या ठीक 80 है। खिल का अर्थ परिशिष्ट या पीछे जोड़े गये मन्त्र। ऋग्वेद के स्मस्त सूत्रों की ऋचायें 10,500 है, अर्थात् प्रत्येक सूक्त में 10 मन्त्रों का औसत है ऋचाओं के शब्दों की संख्या 1 लाख, 53 हजार 8 सौ 26 (1,53,826) तथा शब्दों के अक्षरों की संख्या 4,32000 है अर्थात् मोटे तौर पर प्रत्येक मन्त्र में 15 शब्द हैं और प्रत्येक शब्द में तीन अक्षर पाये जाते हैं यह गणना सर्वानुक्रमणी के आधार पर है। प्रत्येक भाग में अनुष्टुप (588) पंक्ति (468), उष्णिक (398) बृहती (371) छन्दों की सत्ता है।

वंश मण्डल— पाश्चात्य विद्वानों का कहना है कि ऋग्वेद के मण्डलों में प्राचीन तथा अर्वाचीन मन्त्रों का समुदाय संगृहीत किया गया है। द्वितीय मण्डल से लेकर सप्तम मण्डल तक का भाग ऋग्वेद का केन्द्रीय, अतएव अत्यन्त प्राचीन अंश है। इसमें प्रत्येक मण्डल का संबंध किसी विशिष्ट ऋषि या उसके वंशजों के साथ निश्चय रूप में उपलब्ध होता है द्वितीय के ऋषि हैं गृत्समद, तृतीय के विश्वामित्र चतुर्थ के वामवेद, पंचम के अत्रि, षष्ठ के भरद्वाज, और सप्तम के वसिष्ठ। अष्टम मण्डल के मन्त्रों के ऋषि, कण्व तथा अंगिरा वंश के है। नवम् मण्डल की एकता प्रतिपाद्य देवता की अभिन्नता के कारण है। इस मण्डल में समग्र मन्त्र 'सोम' देवता के विषय में है।

वैदिक आर्यजन हिमालय प्रदेश में उत्पन्न होने वाली सोमलता के रस को चुला कर इष्ट देवताओं को उसे समर्पण करते थे। अन्त में प्रसाद रूप में स्वयं भी ग्रहण करते थे। सोमरस के पान से उत्पन्न आन्दोल्लास का ललित वर्णन अनेक वैदिक सूक्तों का विषय है। सोम को ही 'पवीमान' भी कहते हैं, अतः सोम विषयक मन्त्रों के समुच्चय होने के कारण नवम मण्डल 'पवमान मण्डल' के नाम से अभिहित है। अनुमान किया जाता है कि द्वितीय से लेकर अष्टम मण्डल के तैयार हो जाने पर तत् तत् ऋषियों के द्वारा दृष्ट सोम-विषयक मन्त्रों का संग्रह अलग करके ग्रन्थ के अन्त में जोड़ दिया गया था। इसके बाद ग्रंथ के आदि में तथा अन्त में एक मण्डल जोड़ दिया गया था। इस प्रकार प्रथम मण्डल तथा दशम मण्डल अन्य मण्डलों की अपेक्षा अर्वाचीन है। दोनों मण्डलों के सूक्तों की समान संख्या (161 सूक्त) कुछ महत्व अवश्य रखती है। भाषा, छन्द, नवीन देवताओं तथा नवीन दार्शनिक तथ्यों की कल्पना के कारण दशम मण्डल, सब मण्डलों से पिछला और नवीन माना जाता है। भारतीय दृष्टि से इन मण्डलों का संकलन तथा विभाजन एक ही व्यक्ति के द्वारा सम्पन्न माना जाता है। दशों मण्डलों के ऋषि निम्नलिखित हैं—

प्रथम मण्डल के ऋषि : शतार्चिन (सौ ऋचा वाले) कहे जाते है, जिसका कारण षड्गुरुशिष्यकी सम्मति में यह है कि मण्डल के प्रथम ऋषि विश्वामित्र के पुत्र मधुच्छन्दा के द्वारा दृष्ट ऋचायें संख्या में सौ से कुछ ही अधिक हैं।

ऋग्वेदीय ऋचाओं की संख्या— ऋग्वेद में ऋग् मन्त्रों की गणना भी एक विषम समस्या है, जिसका समाधान प्राचीन तथा अर्वाचीन विद्वानों ने भिन्न-भिन्न रूप से किया है प्राचीन आचार्यों की गणना का वैषम्य शाखा-भेद के कारण ही प्रतीत होता है, परन्तु अनेक अर्वाचीन विद्वानों की गणना भ्रमजनित है। इस भ्रम के उदय का प्रधान कारण यह है कि ऋग्वेद में कुछ ऐसी ऋचाएँ है, जो अध्ययन काल में चतुष्पदा मानी जाती हैं, परन्तु प्रयोगकाल में वे द्विपदा ही गिनी जाती है। ऐसी ऋचायें नैमित्तिक द्विपदा ऋचायें भी है, जो संख्या में केवल सत्रह ही हैं। वे कभी भी अपने द्विपदा रूप से वंचित नहीं होती। इन्हीं नित्य नैमित्तिक द्विपदाओं के ठीक रूप को न जानने के कारण मैक्समूलर, मैक्डानल्ड आदि अनेक वेदज्ञों की गणनायें भ्रान्त हो गई । सारांश यह है कि वे नैमित्तिक द्विपदायें प्रयोगकाल में तो 140 रहती हैं, परन्तु अध्ययनकाल में चतुष्पदा हो जाने के कारण संख्या में ठीक आधी हो जाती हैं कहीं-कहीं बालखिल्य मन्त्रों को ऋग्वेद में एक साथ नहीं गिनते हैं। इससे भी पार्थक्य पड़ता है।

निष्कर्ष यह है-कात्यायन — कृत 'ऋक्सर्वानुक्रमणी के अनुसार बालखिल्य तथा नैमित्तिक द्विपदाओं के साथ ऋग्वेद की पूर्ण ऋक् संख्या 10552 है। यदि अध्ययन काल में 140 नैमित्तिक द्विपदाओं को चतुष्पदा बना कर गिना जायेगा तो उक्त संख्या में सत्तर मन्त्रों की कमी होगी, अर्थात् ऋक्, संख्या 10482 होगी। भिन्न-भिन्न दशाओं में सत्तर का अन्तर होने पर भी पद अक्षर मात्रा, आदि की गणना में कोई भी अन्तर नहीं है। ऊपर ऋचाओं की जो संख्या 10580, 1/4 बताई गई है वह लौगाक्षिस्मृति के मन्तव्यानुसार समस्त शाखाओं में उपलब्ध ऋचाओं को लक्ष्य कर है।

ऋग्वेद की संहिता में तीन छन्दों की प्रचुरता है— त्रिष्टुप् गायत्री और जगती। त्रिष्टुप (जिसके चार पादों में प्रत्येक में 112 अक्षर होते हैं) की संख्या सब से अधिक है— चार हजार दो सौ एकावन

(4251) तदनन्तर गायत्री (तीन, पाद, प्रत्येक में आठ अक्षर) का नम्बर आता है— दो हजार चारसौ उनचास (2449), जगती (चार पाद, प्रत्येक में बारह अक्षर) छन्दों की संख्या उससे उतरकर है एक हजार तीन सौ छियालीस (1346)। इन तीनों की छन्दों की सम्मिलित संख्या होती है आठ हजार छियालीस (8046)। इसका निष्कर्ष है कि ऋग्वेद का तीन-चौथाई भाग इन तीन छन्दों से व्याप्त है। शेष एक चौथाई समान अभिधान 'शतर्चिनः पड़ गया। दशम मण्डल के ऋषि 'क्षुद्रसूक्त' तथा महासूक्त कहे जाते हैं। षडगुरुशिष्य की विवेचना के अनुसार नासदसीय सूक्त (10, 121) से पहले के सूक्त, महासूक्त तथा पीछे के सूक्त, क्षुद्रसूक्त माने जाते हैं। सूक्तदर्शी होने के कारण ऋषियों का भी नामकरण इन्हीं सूक्तों के कारण पड़ा है। द्वितीय से लेकर नवम मण्डल के मध्यस्थित होने के कारण तत्रत्य ऋषिगण 'मध्यम' नाम से पुकारे जाते हैं।

ऋक् परिशिष्ट— शाकल संहिता के अन्त में ऋक् परिशिष्ट के नाम से 36 सूक्त संगृहीत किये गये है, जिसमें ऋचाओं की संख्या में एकरूपता नहीं है। किन्हीं सूक्तों में तो केवल एक ही ऋचा उपलब्ध है, परन्तु किसी में 48 ऋचाओं की स्थिति है। इन-सूक्तों में से कुछ नितान्त प्रख्यात तथा बहुशः चर्चित हैं। जैसे, श्री सूक्त (लक्ष्मी की स्तुतिपरक सूक्त, संख्या 11), रात्री सूक्त (संख्या 26), मेधा सूक्त (संख्या 31), शिव संकल्प सूक्त (संख्या 33, जिसके 26 मन्त्रों में प्रत्येक का चतुर्थ चरण 'तन्मे' मनः शिवसंकल्पमस्तु' से समाप्त होता है तथा संज्ञान सूक्त (संख्या 36)। परिशिष्ट के ये सूक्त ऋकसंहिता के विविध मण्डलों में अपना स्थान रखते हैं। संज्ञान सूक्त ऋग्वेद का अन्तिम सूक्त 'वाष्कल शाखा' के अनुसार माना जाता है। इसकी 15 ऋचाओं में अन्तिम ऋचा तच्छंयोरा वृणीमहे गातुं यज्ञ गातुं यज्ञपतये है, जो वाष्कल के अनुसार ऋकसंहिता की सर्वान्तिम ऋचा है। परिशिष्ट के मन्त्र पुराणों में वैदिक मन्त्र— दृष्ट्या उद्घृत हैं, परन्तु वहाँ उनके अकारण-स्थान, ऋग्वेद का उल्लेख नहीं किया गया है। श्री सूक्त के दो मन्त्र (प्रथम मन्त्र-हिरण्यवर्णा हरिणीं तथा नवम मन्त्रः गन्धद्वारा दुराधर्षा) पद्मपुराण से उद्घृत है (6,155,28-30) तथा सितासिते सरिते यत्र संगते (22वाँ सूक्त) स्कन्ध पुराण के काशी खण्ड में (7,44) तथा पद्मपुराण में (6, 246, 35) उद्धृत हैं इन दोनों स्थलों पर यह मन्त्र प्रयागपरक है अर्थात् प्रयाग में मिलने वाली गंगा (सिता) तथा यमुना (असिता) के संगम तीर्थ की विपुल महिमा का प्रतिपादक है 'त्रस्थलीसेतु' में यह आश्वलायन शाखा का खिल मन्त्र माना गया है निष्कर्ष यह है कि परिशिष्ट के मन्त्र पुराणों में प्रमाणों के लिए उद्धृत हैं।

ऋग्वेदीय शाखायें— यज्ञ की आवश्यकता को लक्ष्य में रखकर संकलित संहिताओं का पाठन-पाठ अक्षुण्ण बनाये रखने की उदात्त अभिलाषा से व्यास जी ने अपने चार शिष्यों को इन्हें पढ़ाया। पैल को ऋग्वेद, ''जैमिनि'' को साम, वैशम्पायन को यजुः तथा दारुण सुमन्तु को अथर्व का अध्ययन कराया। इन मुनियों ने अपने गुरुमुख से पढ़े गये संहिताओं का अपने-अपने शिष्य-प्रशिष्यों में खूब प्रचार किया। इन शाखाओं में कहीं-कहीं उच्चारण के विषय में मतभेद था और कही-कहीं किन्हीं मन्त्रों को संहिता में ग्रहण करने के विषय में। शाखा के साथ 'चरण' शब्द का भी संबंध है आजकल दोनों का प्रयोग प्रायः समान अर्थ में ही किया जाता है। शाखाओं की संख्या में विभिन्न ग्रन्थों में महान् विपर्यय दृष्टिगोचर होता है। भाष्यकार पतंजलि ने ऋक् की 21 शाखाओं का, यजुर्वेदकी 101 शाखाओं का, साम की 1 हजार शाखाओं का तथा अथर्व की 9 शाखाओं का उल्लेख पस्पशाह्निक में किया है। चरणव्यूह

की गणना इससे भिन्न है। इस प्रकार भाष्योक्त 1130 शाखाओं में से अधिकांश शाखाएँ अध्ययन के अभाव में विस्मृत हो गईं। केवल कतिपय इनी-गिनी शाखाएँ ही आजकल उपलब्ध होती हैं।

सिद्धान्त तो यह है कि जितनी शाखाएँ होंगी उतनी ही संहिताएँ, उतने ही ब्राह्मण, आरण्यक और उपनिषद् भी होंगी, श्रौत, तथा गृह्यसूत्र भी उतने ही होंगे। शाखा के अध्येतृगण अपने सब वैदिक ग्रन्थ पृथक-पृथक रखते थे और अपना श्रौत कार्य अपने विशिष्ट श्रौतसूत्रों से सम्पादन किया करते थे। तथा इस समय भी करते हैं। गृह्य संस्कार के विधान के लिए भी विशिष्ट गृह्यसूत्र की आवश्यकता थी और आज भी है। इस प्रकार प्रत्येक शाखा में संहिता, ब्राह्मण, आरण्यक, उपनिषद्, श्रौत तथा गृह्यसूत्र, अपने विशिष्टि होने चाहिये, परन्तु बहुत सी शाखाओं के कुछ ही ग्रन्थ आज उपलब्ध हो रहे हैं। किसी शाखा की अपनी संहिता है, तो दूसरे का ब्राह्मण किसी का अपना ब्राह्मण है तो दूसरे के सूत्र।

महाभाष्य के अनुसार ऋग्वेद की समस्त शाखायें 21 हैं, जिनमें चरणब्यूह के कथनानुसार 5 शाखायें मुख्य हैं 1, शाकल 2, वाष्कल, 3, आश्वलायन, 4, शांखायन, 5, मांडूकायन। ये सब संहिताएँ विन्ध्य के दक्षिण महाराष्ट्र देश में ही आजकल उपलब्ध होती हैं।

1. शाकल— ऋग्वेद की आजकल प्रचलित संहिता शाक-शाखा की है।

2. वाष्कल-शाखा की यद्यपि संहिता उपलब्ध नहीं होती तथापि इसकी विशिष्टिताओं का वर्णन अनेक स्थलों पर मिलता है। शाकल शाखानुसार ऋग्वेद का अन्तिम मन्त्र है-समानी व आकूतिः (10, 191, 4) परन्तु वाष्कल संहिता के अनुसार तच्छंयोरावृणीमहे अन्तिम ऋचा है। इसी सूक्त से वाष्कल शाखासम्मत संहिता समाप्त होती है। मन्त्रों की संख्या भी कहीं अधिक है, शाकल, 1016 सूक्त है परन्तु वाष्कल में 1025 हैं। इन अधिक आठ सूक्तों में से एक तो संज्ञानसूक्त है, जो इस संहिता के अन्त में है तथा शेष सूक्त 11 बालखिल्य सूक्तों में से प्रथम सात है। फलतः वाष्क संहिता के अष्टक मण्डल में शाकल की अपेक्षा 7 सूक्त अधिक है। अतः इस मण्डल के समस्त सूक्तों की संख्या 99 है।

3. आश्वलायन— आश्वलायनों की संहिता तथा ब्राह्मणों का अस्तित्व किसी समय में आवश्यक था क्योंकि कवीन्द्राचार्य (17वीं शताब्दी) की सूची में इन ग्रन्थों की चर्चा स्पष्टतः पाई जाती है। आज तो इस शाखा के केवल गृह्य तथा श्रौत सूत्र ही उपलब्ध होते हें।

4. **शांखायन**— इसकी संहिता तो नहीं, परन्तु ब्राह्मण तथा आरण्यक प्रकाशित हैं। बहुतों की राय में शांखायन तथा कौषीतकिशाखा एक ही है परन्तु वस्तुत दोनों भिन्न-भिन्न हैं। शांखायनीय संहिता प्रकाशित शाकल-शाखानुयायी ऋक्संहिता से मन्त्रों की संख्या में भेद नहीं रखती। केवल मन्त्रों के क्रम में ही विभिन्नता रखती है। प्रकाशित संहिता में वे परिशिष्ट तथा बालखिल्य सूक्त यथा स्थान संहिता के ही अन्तर्गत माने गये हैं फलतः दोनों संहिताओं में मन्त्र वे ही हैं उनमें न्यूनाधिकता नहीं है केवल मन्त्र क्रम में ही भेद है।

5. **मांडूकायन**— इस शाखा की भी बहुत कुछ पुस्तकें पहले उपलब्ध होती थीं। किन्तु आजकल कोई नहीं मिलती है।

विषय विवेचन— प्रारंभिक आर्यों के धर्म को इसी वेद के द्वारा जान सकते हैं। ऋग्वेद दुनिया

का सब से प्राचीन ग्रन्थ है इसकी रचना ईसापूर्व 1500 और 900 के बीच हुई होगी। यह धार्मिक स्तोत्रों की अत्यंत विशाल राशि है, जिसमें नाना देवताओं की भिन्न-भिन्न ऋषियों ने बड़े ही सुन्दर तथा भावाभिव्यंजक शब्दों में स्तुतियों एवं अपने अभीष्ट की सिद्धि के लिए प्रार्थनायें की हैं। द्वितीय मण्डल से लेकर सप्तम मण्डल तक एक ही विशिष्ट कुल के ऋषियों की प्रार्थनायें संगृहीत होती हैं। अष्टम मण्डल में (पवमान) सोम के विषय में भिन्न-भिन्न ऋषिकुलों के द्वारा दृष्ट अर्पण मन्त्रों का संग्रह है। ऋग्वेदीय देवताओं में तीन देवता अपने वैशिष्ट्य के कारण नितान्त प्रसिद्ध हैं। अग्नि के लिए सब से अधिक ऋचायें कही गई हैं; इन्द्र विजय प्रदाता होने के कारण सब से अधिक ओजस्वी तथा वीर-रसमण्डित मन्त्रों के द्वारा संस्तुत है। प्राणिमात्र की हार्दिक भावनाओं को जाननेवाला और तदनुसार प्राणियों को दण्ड और पारितोषिक देने वाले 'वरुण' कर्मफलप्रदाता परमेश्वर के रूप में चित्रित किये गये हैं, इसलिए सर्वोच्च्व नैतिक भावनाओं से स्निग्ध तथा उदात्तता से मंडित ऋचायें वरुण के विषय में उपलब्ध होती हैं। देवियों में उषा का स्थान अग्रगण्य है और सबसे अधिक कवित्वमंडित प्रतिभाशाली सौन्दर्याभिव्यंजक ऋचायें उषा देवी के विषय में मिलती हैं। इनके अतिरिक्त जिन देवताओं की संस्तुति में ऋचायें दृष्ट हुई है, उनमें प्रधान देवताएँ है :— सविता, पूषा, मित्र, विष्णु, रुद्र, मरुत, पर्जन्य आदि। ऋग्वेदीय ऋचाओं का प्रयोग यज्ञ के अवसर पर होता था और सोमरस की आहुति के समय प्रयुक्त मन्त्रों का एकत्र संग्रह नवम् मण्डल में किया गया मिलता है।

दशम मण्डल की अर्वाचीनता

दशम मण्डल अन्य मण्डलों की अपेक्षा नूतन तथा अर्वाचीन माना जाता है। इसका प्रधान कारण भाषा तथा विषम को लक्ष्यकर वंशमण्डल से इनकी विभिन्नता है।

भाषा विभिन्नता— ऋग्वेद के प्राचीनतम भागों में शब्दों में 'रेफ' की ही स्थिति है। भाषाविदों की मान्यता है कि संस्कृत भाषा ज्यों-ज्यों विकसित होती गई त्यों-त्यों रेफ के स्थान पर लकार का प्रयोग बढ़ता गया। जल-वाचक 'सलिल का प्राचीन रूप 'सरिर' गोत्र मण्डलों में प्रयुक्त है, परन्तु दशम मण्डल में लकार युक्त शब्द का प्रयोग है। वैयाकरण रूपों में भी स्पष्ट पार्थक्य है। प्राचीन अंश में पुलिंग अकारान्त शब्दों में प्रथम द्विवचन का प्रत्यय अधिकतर -'आ' है यथा द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया (ऋग्वेद 1, 16, 42) परन्तु दशम मण्डल में उसके स्थान पर औ का भी प्रचलन मिलता है मा वामेतौ मा परेतौ रिषाम (ऋग्वेद 10, 178, 2) सूर्याचन्द्रमसौ धाता (10, 190, 3) प्राचीन अंश में क्रियार्थक की सूचना के लिए तवै से, असे, अध्यै आदि अनेक प्रत्यय प्रयुक्त होते है, परन्तु दशम मण्डल में अधिकतर तुम् प्रत्यय का प्रयोग मिलता है। ''कर्तवै जीवसे अवसे'' आदि प्राचीन पदों के स्थान पर अब अधिकतर कर्तुम् जीवितुम् आदि प्रयोगों का प्राचुर्य है। भाषागत विशिष्टता ब्राह्मण ग्रन्थों की भाषा के समान होने के कारण दशम मण्डल इन ग्रन्थों से कालक्रम में प्राचीन नहीं प्रतीत होता।

छन्दोगत वैशिष्ट्य — प्राचीन अंशों में उपलब्ध छन्दों की अपेक्षा दशम मण्डल में छन्दों में पार्थक्य है। प्राचीन काल में वर्णो की संख्या पर ही छन्द -विन्यास में विशेष आग्रह था, परन्तु अब 'लघु गुरु' के उचित विन्यास पर भी विशेष बल दिया जाने लगा था, जिससे पद्यों के पढ़ने में सुस्वरता तथा लय का आविर्भाव बड़ी रुचि से होने लगा। फलतः अब अनुष्टुप प्राचीन अनुष्टुप् न होकर लौकिक संस्कृत के अनुष्टुप ही के समान बन गया।

देवगत वैशिष्ट्य— इस मण्डल में उल्लिखित देवों में अनेक नवीन तथा पूर्व अनिर्दिष्ट है, तथा प्राचीन देवों के रूप में भी स्वरूप-परिवर्तन दृष्टिगत होता है। वरुण समस्त जगत् के नियन्ता, सर्वज्ञ, सर्वशक्तिमान देव के रूप में पूर्व में निर्दिष्ट हैं, परन्तु अब उनका शासनक्षेत्र सिमट कर केवल जल ही रह जाता है। विश्वनियन्ता के पद से हटकर वे अब जल देवता के रूप में ही दृष्टिगोचर होते हैं। मानसिक भावना तथा मानस वृतियों के प्रतिनिधि के रूप में नवीन देव कल्पित किये गये है। ऐसे देवों में श्रद्धा (ऋग्वेद 10,151), मन्यु (ऋग्वेद 10,83,84) आदि का उल्लेख किया जा सकता है। ताक्ष्र्य की भी स्तुति देवता के रूप में उपलब्ध होती है (ऋग्वेद 10,178), श्रद्धा कामायनी की स्तुति (10,151) में की गई है। गाय की स्तुति में प्रयुक्त एक समग्र सूक्त ही (10,169) वैदिक आर्यो की गोविषयिणी भावना को बड़े सुन्दर शब्दों में अभिव्यक्त कर रहा है। एक पूरे सूक्त (10,146) में अरणयानी (अरण्य की देवी) की स्तुति विषय की नवीनता के कारण पर्याप्तरूपेण आकर्षक है। 10,71 सूक्त में हम 'ज्ञान' को एक महनीय देव के रूप में आर्यों में प्रतिष्ठित पाते हैं इसी सूक्त के प्रख्यात मन्त्र में चारों संहिताओं के द्वारा यज्ञ-कर्म को सम्पादन करने वाले होता, उद्गाता ब्रह्मा तथा अध्वर्यु नामक चार ऋत्विजों का हम स्पष्ट संकेत पाते हैं। (10,71,11)

(घ) **दार्शनिक तथ्यों का आविष्कार**— इस मण्डल में अनेक दार्शनिक सूक्तों की उपलब्धि होती है, जो अपनी विचार धारा से आर्यों के तात्विक चिन्तनों के विकास के सूचक हैं, तथा उत्तरकालीन प्रतीत होते हैं। ऐसे सूक्तों में नासदासीय सूक्त (10,129) तथा पुरुष सूक्त (10, 90) विशेष उल्लेखनीय हैं। पुरुष सूक्त में सर्वेश्वरवाद का स्पष्ट प्रतिपादन है, जो प्रौढ़ विचार धारा का प्रतिपादक होने के उत्तरकालीन तथा अपेक्षाकृत अर्वाचीन प्रतीत होता है। पाश्चात्य विद्वानों की दृष्टि में धार्मिक विकास का क्रम इस प्रकार है बहुदेववाद, एकदेववाद, सर्वेश्वरवाद। प्राचीन तम काल में अनेक देवों की सत्ता में आर्यो का विश्वास था, जो आगे चलकर एकदेव (प्रजापति या हिरणयगर्भ) के रूप से परिणत होकर सर्वेश्वरवाद में टिक गया। (इस विकास की अन्तिम दो कोटियाँ दशम मण्डल में उपलब्ध होती हैं। फलतः उसका गोत्रमण्डल से नूतन होना स्वाभाविक है।)

विषय की न्यूनता— इस मण्डल में भौतिक विषय से संबंध तथा आध्यात्मिक विचार धारा से संवलित अनेक सूक्त उपलब्ध होते हैं। भौतिक विषयों में श्रद्धा तथा विवाह का स्थान अग्रगण्य है। ऋग्वेद 10,85 सूक्त में सूर्या के पाणिग्रहण के लिए अनेक देवों के रथ पर चढ़कर अपनी योग्यता सिद्ध करने के लिए दौड़ लगाने का प्रसङ्ग बड़ा ही सुन्दर एवं कौतुहलवर्धक है। सूर्या से अभिप्राय उषा से है, जिसका विवाह सोम के साथ होता है, तथा अश्विन इस कार्य में घटक का कार्य करते हैं। यह सूक्त साहित्यिक दृष्टि से बड़ा ही सुन्दर तथा तत्कालीन सामाजिक दशा के ज्ञान के लिए अत्यन्त रोचक है। गृह्यसूत्र में इसी सूक्त के मन्त्रों का विनियोग तथा प्रयोग विवाह के समय किया जाता है विवाह के भौतिक रूप की सिद्धि के साथ-साथ उसके आध्यात्मिक रूप का भी सुन्दर निरूपण है यह समग्र सूक्त मृदुल भावना से ओत-प्रोत है। पत्नी को पति के साथ रहने तथा प्रजा समृद्धि के लिए उपदेश दिया गया है—

इह प्रियं प्रजया ते समृध्यतामस्मिन् गृहे गार्हपत्याय जागृहि।

एना पत्या तन्वं संसृजस्वाऽधा जिव्री विदथमा वदाथः 10, 85, 27

पतिगृह में आने पर पत्नी को मांगलिक, सौख्यदात्री तथा वीरप्रसविनी होने की प्रार्थना बड़ी ही भव्य एवं प्रभावोत्पादक है। (दे. पृ. 372-73)

दशम मण्डल में अनेक सूक्तों में शवसंस्कार से संबंध रखने वाले मन्त्र भी मिलते हैं। प्रतीत होता है कि उस युग में शव को मिट्टी में गाड़ने की भी प्रथा कभी प्रचलित थी, यद्यपि सामान्य रीति से शवों के दाहसंस्कार का ही प्रचलित वर्णन मिलता है। इन मन्त्रों के भाव कविता की दृष्टि से सरल, रोचक तथा आवर्जक है। शव को पृथ्वी में गाड़ने के अनेक मन्त्र 10,18 सूक्त की ऋचाओं में मिलते है। शव के लिए पृथ्वी से फट जाने की तथा शव की रक्षा करने की प्रार्थना कितनी सुन्दर है। इस प्रसंग की उपमा भी मनोहारिणी है।

माता पुत्रं यथा सिचाऽभ्येनं भूम ऊर्णुहि।। 10,18, 11।।

(जिस प्रकार माता अपने पुत्र को वस्त्र में ढक देती है, उसी प्रकार हे भूमि तुम भी इस शव को अपने से आच्छादित कर दो)

10, 16 में अग्निदाह के अवसर पर प्रयुक्त मन्त्रों का वर्णन है (1 से लेकर छः मन्त्र तक) इस अवसर पर आर्यो की परलोक संबंधी धारणाओं के ज्ञान के लिए सूक्त 14, तथा 15 का अनुशीलन नितान्त उपादेय होगा। इन सूक्तों में यम के स्वरूप, उनके लोक तथा उसके मार्ग का वर्णन बड़ा मार्मिक है। शव से कहा गया है कि यमलोक जाकर वह पितरों तथा यम से सङ्गति प्राप्त करे, अपने पुण्यों के बलपर सुन्दरा शरीर तथा भव्य निकेतन को प्राप्त करे (10, 14,8)।

संगछस्व पितृभिः संयमेनेष्टापूर्तेन परमे व्योमन्।

हित्वायावद्यं पुनरस्तमेहि संगच्छस्व तन्वा सुवर्चाः।।

इस प्रसङ्ग में सबसे विलक्षण सूक्त है 10, 34, जिसमें कोई जूआ में हारने वाला जुआड़ी अपने भावों का वर्णन बड़ी ही कोमलता तथा यथार्थता के साथ करता है। यह सूक्त 'द्यूतकर का विषाद' नाम से सुप्रख्यात है। तत्कालीन समाज की झांकी देने के कारण भी यह सूक्त विशेष महत्व रखता है। ऋग्वेद काल में जूआ खेलने की बुरी प्रथा थी। समाज में बहुधा प्रचलित होने पर भी यह निन्दनीय प्रथा थी, ग्राह्य नहीं। इस सूक्त में द्यूतकर के मुख से द्यूत की निन्दा बड़े मार्मिक ढंग से की गई है पहले वह अपने प्रलोभनों का वर्णन करता हुआ कह रहा है कि किस प्रकार द्यूत की गोटियों (अक्ष) के अक्षपटल पर गिरने का शब्द उसके हृदय को अपनी ओर खींच रहा है। द्यूतकर को कोई भी मित्र साथ देने के लिए तैयार नहीं है। यहाँ तक कि उसकी प्रियतमा भी उससे घृणा करती है तथा घर के बाहर खदेड़ देती है। बड़े ही सरल शब्दों में अपनी दयनीय स्थिति का परिचय देते हुए कह रहा है कि दूसरे लोग मेरी स्त्री का स्पर्श कर रहे हैं, तथा माता-पिता और भाई लोग कह रहे है कि हम लोग इसे नहीं जानते इसे बाँधकर तुमलोग ले जाओ—

माता पिता भ्रातर एनमाहुर्न जानीमो नयता बद्धमेतम्। मन्त्र 4

अन्त में उपदेश दिया गया है (मन्त्र 13)—

अक्षैर्मा दीव्यः कृषिमित् कृषस्व वित्ते रमस्व बहु मन्यमानः।

जूआ कभी मत खेलो खेती करो— ये शब्द द्यूत के प्रति ऋग्वेदीय भावना के पूर्ण परिचायक माने जा सकते हैं। इस सूक्त की भावना, अर्वाचीन भावना से सम्बध होने के कारण पर्याप्त रूपेण आकर्षक है।

संवाद सूक्त— ऋग्वेद में जिस प्रकार दार्शनिक सूक्त उसे पदों के तात्त्विक विवेचनों के साथ संबद्ध करते हैं, उसी प्रकार कुछ सूक्त उसे प्रबन्ध काव्य तथा नाटकों के साथ भी संबंध जोड़ने वाले हैं। ऐसे सूक्तों में कथनोपकथन का प्राधान्य है और इसीलिए इन्हें संवादसूक्तों की संज्ञा प्रदान की गई है। ऐसे सूक्त समग्र ऋग्वेद में लगभग बीस हैं। इनके स्वरूप के विषय में पश्चिमी विद्वानों में गहरा मतभेद है। डा. ओल्डेनवर्ग की दृष्टि में ये प्राचीन आख्यानों के अवशिष्ट रूप हैं। इनके अनुसार ऋग्वेदकालीन 'आख्यान' गद्यपद्यात्मक थे। पद्यभाग रोचक तथा मंजुल होने से अवशिष्ट रह गया है। परन्तु गद्यभाग केवल कथात्मक होने से धीरे-धीरे लुप्त हो गया है। संस्कृत के पिछले युग में वर्तमान चम्पूशैली के आधार पर डा. ओल्डनवर्ग ने ऋग्वेद के संवादसूक्तों को आख्यान के नाम से अभिहित किया है। इसके विपरीत डा. सिल्वाँ लेवी, डा. श्रोदर और डा. हर्टल आदि विद्वानों की दृष्टि में ये वस्तुतः नाटक के अवशिष्ट अंश है, जिनका संगीत तथा पात्र के उचित सन्निवेश कर देने पर यज्ञ के अवसरों पर वस्तुतः अभिनय होता था। तीसरा मत डा. विन्टरनित्स का है, जो इन्हें प्राचीन लोकगीत काव्य (वैलैड) का नूमना मानते हैं, ये अर्धकथात्मक तथा अर्धरूपात्मक होने से कथानक तथा नाटक के सम्मिश्रण हैं। इन्हीं से अवान्तर काल में एक ओर महाकाव्य का उदय हुआ और दूसरी ओर नाटक की उत्पत्ति हुई। इस प्रकार भारतीय साहित्य में इन संवाद-सूक्तों का पर्याप्त महत्व है।

इन संवाद सूक्तों में तीन विशेष महत्वपूर्ण हैं 1. पुरूरवा उर्वशी— संवाद (ऋग्वेद 10, 85) 2, यम यमी संवाद (ऋग्वेद 10,10 तथा 3, सरमापाणि संवाद (ऋग्वेद 10,130) पुरूरवा तथा उर्वशी की कथा रोमांचक प्रेम का प्राचीन भव्य निदर्शन है जिसमें स्वर्गलोक की सुन्दरी, पृथ्वीतल के मानव राजा की पत्नी बनना स्वीकार करती है,परन्तु प्रतिज्ञाभंग के कारण वह उसका संग छोड़कर निर्मम की भांति चल देती है। इस सूक्त में केवल 18, मन्त्र हैं, जिसमें से कुछ उर्वशी के कथन हैं और कुछ पुरूरवा के। शतपथ ब्राह्मण (1, 5, 5, 1) ने इस प्रेमकथा को कुछ विस्तार से किया है, विष्णुपुराण, महाभारत आदि गन्थों में इस कथानक का उल्लेख है, परन्तु इसका सुन्दरतम रूपकरूप हमें महाकवि कालिदास की प्रतिभा से उनके विक्रमोर्वशीय नामक नाटक में मिलता है।दशम मण्डल के दशम सूक्त में यमयमी का परस्पर विलक्षण संवाद है, जिसमें यमी, यम को अपने प्रलोभनों से लुभाना चाहती है, परन्तु यम अपने उदात्त चरित्र का परिचय देते हुए इस अनैतिक सम्पर्क से अपने को दूर रखते हैं। साहित्यिक सौन्दर्य की दृष्टि से ये दोनों संवाद बड़े ही रोचक, हृदयवर्जक तथा कलात्मक हैं।

तीसरा संवादसूक्त ऋग्वेदीय युग के समाज की एक झांकी प्रस्तुत करता है। पणि लोगों ने आर्यों की गायों को चुराकर कहीं अंधेरी गुफा में डाल रखा है इन्द्र ने अपनी शुनी शरमा को पणियों को समझाने के लिए दौत्यकार्य सौंपा है, सरमा आर्यों के प्रबल पराक्रम की गाथा गाती है, तथा पणियों को धमका कर सचेत करती हैं। ये समग्र संवादसूक्त नाटकीय ओजस्विता से ओत-प्रोत हैं, और कलात्मक दृष्टि से नितान्त सुन्दर, सरस तथा भावोत्पादक हैं।

ऋग्वेद में लौकिक सूक्त— दशम मण्डल में अनेक सूक्तों के द्वारा लौकिक तथा व्यवहार से संबंध रखने वाले विषयों का रोचक वर्णन उपलब्ध होता है। ऐसे विषय अथर्ववेद की ही विशिष्ट सम्पत्ति माने जाते हैं ऐसी साधारण, मान्यता है, परन्तु ऋग्वेद के दशम मण्डल में भी ऐसी लोक संस्कृति से संबंध विषयों की उपलब्धि इस मण्डल की विशिष्टता सूचित करती है। यक्ष्मा के नाश के लिए यहाँ अनेक सूक्त मिलते हैं। 161 सूक्त में राजयक्ष्मा शब्द प्रयोग ही नहीं है प्रत्युत इस रोग से पीड़ित व्यक्ति को मृत्यु के पास से अपहरण करने का स्पष्ट वर्णन है। 163 सूक्त में यक्ष्मा के उपाय का, तथा शरीर के नाना अवयवों का भी वैज्ञानिक विवरण मिलता है। 162 सूक्त का नाम 'रक्षोह' सूक्त है जिसमें बाधक राक्षसों के विघ्नों से रक्षा का प्रबन्ध बतलाया गया है, विशेषकर गर्भ को बाधा पहुँचाने वाले राक्षस को दूर भगाने का संकेत है। एक सूक्त में पत्नी के कष्ट को दूर कर पति के पाने का विवरण है

इमां खनाम्योषधिं वीरुधंबलवत्तमाम्।

यया सप्त्नीं बाधये यया संविन्दते पतिम्।। 10, 145, 1।।

इस मन्त्र से पता चलता है कि पृथ्वी को खोदकर निकाली गई औषधि (जड़ी-बूटी) के प्रयोग करने से कोई पतिकामा, सपत्नी को दूर कर देती है, और अनुरूप पति पाने में समर्थ होती है। अन्य सूक्त शत्रुओं को दूर भगाने के लिए की गई हैं—

ऋषभं मां समानानां सपत्नानां विषासहिम्

हन्तारं शत्रूणां कृधि विराजं गोपतिं गवाम्।।10, 166,1।।

इस प्रकार इस सपत्नध्न सूक्त में शत्रुओं को परास्त करने की भावना को अग्रसर किया गया है। 10, 164 सूक्त में दुष्ट स्वप्न को दूर करने के लिए प्रार्थना है। 10, 58 सूक्त का नाम ही 'मन आवर्तन' सूक्त है, जिसमें किसी व्यक्ति के दूरगामी मन को लौट आने की प्रार्थना है, चाहे वह वैवस्वत यम, दिव, भूमि या समुद्र के पास चला गया हो, इस प्रार्थना के बल पर फिर उसी व्यक्ति के पास लौटकर चला आता है।

यत् ते यमं वैवस्वतं मनो जगाम दूरकम्।

तत् त आ वर्तयीमसीह क्षयाय जीवसे।। 10, 58, 1।।

तुम्हारे मन को विवस्मान पुत्र, गृह के पास लौटा लाते है। हे सुबन्धु! तू इस जंगल में रहने के लिए ही जीवित रहना चाहते हो। इस पूरे सूक्त में भूमि, आकाश, समुद्र, औषधि, उषा, पर्वत तथा विश्व भर में घूमने वाले मन को लौट आने की प्रार्थना है। 10, 67 सूक्त में आथर्वण भिषग् ऋषि ने औषधियों की बड़ी भव्य स्तुति प्रस्तुत की है। इस औषधि सूक्त में औषधियों के रंग— रूप तथा प्रभाव का सुन्दर विवरण आयुर्वेद की दृष्टि से विशेष महत्वशाली है। औषधियों के नाना प्रकारों का संकेत इस मन्त्र में स्पष्ट रूप से किया गया है।

याः फलिनीर्या अफला अपुष्पा याश्च पुष्पिणीः।

बृहस्पति— प्रसूतास्ता नो मुंचन्त्वं हसः। 10,97,15।।

फलवाली या फलहीन तथा पुष्पवाली और पिता विना पुष्प की सभी औषधियों को वृहस्पति उत्पन करते है। वे औषधियाँ पाप से हमारी रक्षा करें। दो सूक्त (10, 173-174) राजनीति की दृष्टि से अत्यन्त महत्वशाली हैं, जिसमें राजा की प्रशस्त स्तुति की गई है। इनके अनुशीलन से मालूम पड़ता है कि इस प्राचीन काल में भी समस्त प्रजा राजा का वरण करती थी।

अभि त्वा देव: सविताऽभि सोमो अवीवृतत्।

अभि त्वा विश्वा भूतान्यभीवर्तो यथाससि।। 10,174,3)

हे राजन् तुमने सविता देव की अनुकूलता प्रकट की है। अत: तुम इस विश्व में सबसे प्रिय हुए हो।

दार्शनिक सूक्त

नासदीय सूक्त (10,121), पुरुषसूक्त (10,90) हिरण्यगर्भ -सूक्त 10,121) तथा वाक् सूक्त (10, 145) अपनी दार्शनिक गंभीरता तथा नवीन कल्पना के कारण नितान्त प्रसिद्ध हैं। नासदीय सूक्त विज्ञ आलोचकों की दृष्टि में ऋग्वेदीय ऋषियों की अलौकिक दार्शनिक चिन्तनधारा का मौलिक परिचायक है। इस सूक्त का ऋषि जगत की प्रारंभिक स्थिति का वर्णन करता हुआ कह रहा है कि सृष्टि के आरंभ में न तो असत् था और न सत्, न दिन था और न रात; सृष्टि का अभिव्यंजक कोई भी चिन्ह उस समय नहीं था। सब से पहले काम उत्पन्न हुआ और यही काम की अभिव्यक्ति सृष्टि के नाना स्तरों में प्रतिफलत, होती है। उस समय एक ही तत्व था जो हवा के बिना भी सांस लेता था तथा अपनी स्वाभाविक शक्ति से जीवित था।

आनीदवातं स्वधया तदेकम्।

तस्माद्धान्यत्र पर: किंचनास।।10,129.12।।

अनुभूति के द्वारा तत्व की प्रतिष्ठा ही इस गम्भीर मन्त्र का गूढ़ रहस्य है।

श्रद्धासूक्त— ऋग्वेद के दशम मण्डल का 159 वाँ सूक्त है जिसमें श्रद्धा की स्तुति देवता के रूप में की गई है इसमें मन्त्र तो कुल छ: ही हैं, परन्तु विषय की अपूर्वता के कारण यह स्वल्पकाय सूक्त विपुल महत्व से युक्त माना जाता है। श्रद्धा का अर्थ है किसी कार्य विशेष में या वचन विशेष में हृदय से आदर के अतिशय की भावना। श्रद्धा के द्वारा सम्पादित कार्य ही वस्तुत: लाभदायक होता है। 9,113, 2 मन्त्र में ऋत और सत्य के अतिरिक्त श्रद्धा से सोम के सवन का विधान बतलाया गया है। साम का अभिषव, यजमान की श्रद्धा को प्रक्रट करता है। (श्रद्धाँ वदन् त्सोम राजन् 9, 113, 4) ऋषियों के द्वारा किये गये स्तोत्र को इन्द्र श्रद्धायुक्त मन की इच्छा से सुनता है।

वाग्सूक्त (ऋग्वेद 10, 145) में कहा गया है श्रुधि श्रुत श्रद्धिवं ते वदामि। यहाँ श्रद्धिवं का सायण ने अर्थ किया है, श्रद्धाबलेन लभ्यं ब्रह्मात्मकं वस्तु, अर्थात् ब्रह्म श्रद्धा के द्वारा ज्ञात तथा उपलब्ध होता है। इस अन्य मन्त्रों में ऋषियों की श्रद्धा के प्रति बड़ी पूज्य भावना है। परन्तु श्रद्धासूक्त में तो श्रद्धा, देवता के रूप में चित्रित की गई है इस मन्त्र की ऋषिका श्रद्धा है, जो कामगोत्र में उत्पन होने के कारण कामायनी के नाम से विख्यात है।

इस सूक्त में प्रथम मन्त्र में ही कहा है कि श्रद्धा के द्वारा अग्नि का समिन्धन किया जाता है। श्रद्धा से आहवनीय अग्नि में आहुति दी जाती है। आशय है कि यज्ञीय कार्यो में श्रद्धा की महती आवश्यकता है यहाँ अग्नि को हम ज्ञानाग्नि का प्रतीक मान सकते हैं। ज्ञान की अग्नि का समिन्धन भी श्रद्धा के द्वारा ही किया जा सकता है। श्रद्धा की व्यापकता विशाल है, इसकी उपासना मनुष्य अपनी कामना की सिद्धि के लिए नहीं करता है, प्रत्युत देवता भी असुरों के युद्ध के समय श्रद्धा का आश्रय लेकर अपने मनोरथ को पाने में सफल होते हैं।

दूसरे मन्त्र (10,151,4) में एक बड़े ही सुन्दर मनोवैज्ञानिक तथ्य की ओर स्पष्ट संकेत किया गया है— श्रद्धां हृदय्य याकूत्या श्रद्धया विन्दते वसु। हृदय में होने वाले संकल्प के द्वारा श्रद्धा की उपासना की जाती है। प्रथमतः साधक के हृदय में संकल्प का उदय होता है अनन्तर वह श्रद्धा करने के लिए तत्पर होता है किसी पवित्र कार्य के करने में किसी विद्या के ग्रहण करने में अथवा किसी गूढ़ तत्व के खोजने में, श्रद्धा के द्वारा धन की प्राप्ति होती है। यहाँ 'वसु' भौतिक द्रव्य का संकेत न होकर आध्यात्मिक कल्याण का प्रतीक है। आध्यात्मिक वसु है अज्ञान का नाश कर अमरत्व की प्राप्ति। अमरता की उपलब्धि का प्रधान साधन श्रद्धा होती है। अन्तिम प्रार्थना है—

श्रद्धे श्रद्धापयेह नः (10, 151, 5) 'हे श्रद्धा देवी हमको इस लोक में श्रद्धा का भाजन बनाइये''। बिना दैवी कृपा के मानव के हृदय में श्रद्धा का भाव जागरित नही हो सकता। उपनिषदों में श्रद्धातत्व का जो विपुल उपवृंहण हमें मिलता है उसका बीज इस प्रख्यात सूक्त में विद्यमान है।

ऋग्वेद के दशम मण्डल में अनेक अनुशीलन से पता चलता है कि मुख्य देव या देवाधिदेव की कल्पना दृढ़मूल हो गई थी, और यह प्रधानदेव कहीं हिरण्यगर्भ कहीं पुरुष और कहीं प्रजापति के नाम से विख्यात था। हिरण्यगर्भ के विषय में दशम मण्डल का यह प्रसिद्ध सूक्त है (10, 121) जिसका अन्तिम चरण है—''कस्मै देवाय हविषा विधेम''। इस चरण की कल्पना में वेदज्ञों की विभिन्न सम्मतियाँ हैं। पाश्चात्य विद्वानों की दृष्टि में इस का द्रष्टा ऋषि सचमुच संशायलु चित्त से पूछता है कि वह किस देवता के लिए हविष का दान तथा विधान कर रहा है? यह सूक्त प्रकट करता है कि किस प्रकार आदिम मानव उस देवता के रूप को जानना चाहता है, जिसके लिए वह हविष्य का होम करता है। ब्राह्मण ग्रन्थों तथा तदनुसारी भाष्य— कर्ताओं-निरुक्त, सायण आदि — की दृष्टि में 'क' शब्द प्रजाति का सूचक है; किम् शब्द अनिर्वचनीयता अथवा अत्यन्त सौख्य का सूचक माना गया है। फलतः नाम तथा रूप से निर्वचनीय न होने अथवा सुखरूप होने के कारण प्रजापति के लिए किम् शब्द का व्यवहार नितान्त युक्ति युक्त है। उपनिष्दों में भी इसी अनिर्वचनीयता के ही कारण यह परमतत्व नेति नेति शब्दों द्वारा अभिव्यक्त किया जाता है हिरणयगर्भ अग्रे, सृष्टि के आदि में विद्यमान था। वह उत्पन्न होने वाले प्राणिमात्र का पति (रक्षक) था। वह पृथ्वी, आकाश तथा अन्तरिक्ष लोक समस्त विश्व को धारण करता है। अपने महत्व के कारण वह जाग्रत तथा स्वप्नशील समग्र भूतों का अकेले ही राजा (शासक) है। इतना ही नहीं, वह मृत्यु के ऊपर भी शासन करता है। अमृतत्व उसकी छाया है जैसे छाया पुरुष के पीछे दौड़ती है, उसी प्रकार अमृतत्व, हिरण्यगर्भ का अनुसरण करता है। उसी की अध्यक्षता में सृष्टि का व्यापार चलता है। उसके पालन तथा रक्षण का काम हिरण्यगर्भ के हाथों में है। वह देवों में अद्वितीय देव है देवेष्वधिदेव आसीत्) उसकी रक्षा से द्यावा—पृथिवी (क्रन्दसी)

अपने-अपने स्थानों में प्रतिष्ठित है, तथा उसीके इस विलक्षण प्रभाव का चिन्तन किया करते हैं (मन्त्र 6) निष्कर्ष यह है कि हिरण्यगर्भ देवाधिदेव है। इसमें किसी तरह का संदेह नहीं रह जाता।

दशम मण्डल में पुरुष-सूक्त (10/90) अपनी दार्शनिकता, महनीयता, गम्भीरता तथा अन्तरदृष्टि के लिए नितान्त विख्यात है। इसमें पुरुष के आध्यात्मिक कल्पना का भव्य निदर्शन है। पुरुष के सहस्र (असंख्य) सिर हैं, सहस्र नेत्र तथा सहस्र पाद हैं अर्थात उसके पैर-सिर और नेत्र की संख्या की इयत्ता नहीं है। वह इस विश्व के परिणाम से अधिक है वह विश्व को चारों ओर घेर कर दश अंगूल बढ़कर है। 'अत्यतिष्ठत् दशांगुलम्' केवल परिमाणाधिक्य का उपलक्षणमात्र है। विश्व के समस्त मरणशील प्राणी उसके केवल एक चतुर्थ अंशमात्र हैं उसका अमृत त्रिपाद आकाश में है। यह इस बात का सूचक है कि वह इस विश्व को चारों ओर से घेर कर भी इससे अत्यधिक बड़ा है, वह अमरणधर्मा प्राणियों तथा उन मरण धर्मात्माओं का भी-जो अन्य भोजन करके बढ़ते हैं, शासक हैं। पुरुष के विषय में विलक्षण तथ्य यह है

पुरुष एवेदं सर्वं यद् भूत् यच्च भव्यम् (मन्त्र 2)

अकेले पुरुष ही समस्त विश्व है जो प्राचीन काल में उत्पन्न हुआ, जो आगे भविष्य में भी उत्पन्न होने वाला है, यह सर्वेश्वरवाद का सिद्धान्त पाश्चात्य विद्वानों की दृष्टि में आर्यो के प्रौढ़ धार्मिक विकास का सूचक है, तथा ऋग्वेदीय युग की अन्तिम प्रौढ़ दार्शनिक विचारधारा का परिचायक है। सृष्टि के उत्पादन में यज्ञ की कल्पना कितनी जागरूक तथा क्रियाशील होती थी, इसका परिचय इस सूक्त में उपलब्ध होता है। देवताओं ने पुरुष की बलि, यज्ञ में की और उससे जगत् के नाना प्राणियों की उत्पत्ति हुई। इसी सूक्त में ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य तथा शूद्र की उत्पत्ति पुरुष के मुख, बाहु, उरु, तथा पैरों से क्रमशः बतलायी गई (मन्त्र 12)। ऋग्वेद के अन्य किसी भी मन्त्र में इन चारों वर्णो का नाम नहीं आया है, जिससे प्रतीत होता है कि समाज में चतुर्विध वर्ण की कल्पना उस युग में हुई। इस प्रकार यह सूक्त वैदिक आर्यो की सामाजिक तथा आध्यात्मिक धारणाओं का परिचायक होने से नितान्त महत्वशाली है।

दशम मण्डल में सर्वेश्वरवाद का प्रतिपादक यही पुरुष सूक्त है। पश्चिमी विद्वानों की आलोचना में पुरुष एवेदं की भावना बहुदेवतावाद तथा एक देवतावाद के अनन्तर जायमान धार्मिक विकास की सूचना देती है जो उनकी दृष्टि में इस मण्डल को अन्य मण्डलों की अपेक्षा अर्वाचीन सिद्ध कर रहा है।

(ख) यजुः संहिता— आध्वर्य कर्म के लिए उपादेय यजुर्वेद में यजुषों का संग्रह है अक्षरों की संख्या जिसमें निश्चित न हो वह यजुः है। ऋक् तथा साम से भिन्न गद्यात्मक मन्त्रों का नाम ही यजुः है।

वेद के दो सम्प्रदाय हैं 1. ब्रह्म सम्प्रदाय तदा 2. आदित्य सम्प्रदाय। शतपथ ब्राह्मण के अनुसार आदित्य यजुः शुक्ल यजुष के नाम से प्रसिद्ध है, तथा याज्ञवल्क्य के द्वारा आख्यात है (शतपत्र ब्राह्मण 14,9,5,33)। अतः ब्राह्म सम्प्रदाय का प्रतिनिधि कृष्ण यजुर्वेद है। शुक्ल यजुर्वेद में दशपौर्ण मासादि अनुष्ठानों के लिए आवश्यक केवल मन्त्रों का ही संकलन है। कृष्ण यजुर्वेद में मन्त्रों के साथ ही साथ तन्नियोजक ब्राह्मणों का समिश्रण है। मन्त्र तथा ब्राह्मण भाग का एकत्र मिश्रण ही कृष्ण यजुः के कृष्णत्व का कारण है तथा मन्त्रों का विशुद्ध एवं अभिश्रित रूप ही शुक्ल यजुः के शुक्लत्व का मुख्य हेतु है।

कृष्ण यजुः की प्रधान शाखा ''तैत्तिरीय'' नाम से प्रख्यात है, जिसके विषय में एक प्राचीन आख्यान अनेकत्र निर्दिष्ट है— गुरु वैशम्पायन के शाप से भीत योगी याज्ञवल्क्य ने स्वाधीत यजुषों का वमन कर दिया और मृत्यु के आदेश से अन्य शिष्यों ने तितिर का रूप धारण कर उस वान्त यजुष का भक्षण किया। सूर्य को प्रसन्न कर उनके ही अनुग्रह से याज्ञवल्क्य ने शुक्ल-यजुष की उपलब्धि की।''

18वें अध्याय में वसोर्धारा सम्बन्धी मन्त्र निर्दिष्ट है। इसके बाद तीन अध्यायों में (18-21) सौत्रामणी यज्ञ का विधान है। अध्याय 22-25 तक अश्वमेध के विशिष्ट मन्त्रों का निर्देश है। अध्याय 26-29 में खिलमन्त्रों का संकलन है। 30 वें अध्याय में पुरुषमेध का वर्णन है। 31 वें अध्याय में प्रसिद्ध पुरुष सूक्त है जिसमें ऋग्वेद की अपेक्षा अन्त में 6 मन्त्र अधिक उपलब्ध होते हैं। 32 तथा 33 अध्याय में सर्वमेध के मन्त्र उल्लिखित हैं। 34 अध्याय के आरंभ में 6 मंत्रों का शिवसंकल्प उपनिषद् कहलाता है। 35 वें अध्याय में पितृमेध संबंधी मंन्त्रों का संकलन, 36 से 38 अध्याय तक प्रवर्ग्ययाग का विशद वर्णन है 40 वाँ अध्याय ईशावास्य उपनिषद है।

कृष्ण यजुर्वेद— शुक्ल यजुर्वेद में जहाँ केवल मन्त्रों का ही निर्देश किया गया है वहाँ कृष्ण यजुर्वेद में मन्त्रों के साथ तत् विधायक ब्राह्मण भी संमिश्रित है। कृष्ण यजुर्वेद की 85 शाखाएँ है जिसमें आज केवल 4 ही शाखाएँ उपलब्ध हैं— 1. तैत्तिरीय 2. मैत्रायणी 3. कठ 4. कपिष्ठल शाखा।

तैत्तिरीय संहिता— इस शाखा ने अपने संहिता, ब्राह्मण आरण्यक, उपनिषद्, श्रौतसूत्र तथा गृह्यसूत्र को बड़ी तत्परता से अक्षुण्ण बनाये रखा है। पूरी संहिता में 7 काण्ड 44 प्रपाठक 931 अनुवादक हैं। शुक्ल यजुर्वेद में वर्णित पौरोडाश, यजमान, वाजपेय आदि नाना यागानुष्ठानों का विशद वर्णन है।

मैत्रायणी संहिता— यह संहिता गद्यपद्यात्मक है। इस संहिता में 4 काण्ड हैं। प्रथम कांड 11 प्रपाठकों में विभक्त है, जिसके अन्तर्गत दर्शपूर्णमास, अध्वर, आधान, पुनराधान, चातुर्मास्य तथा वाजपेय का वर्णन है। द्वितीय काण्ड के 13 प्रपाठकों में काम्य इष्टि राजसूय तथा अग्निचिति का विस्तृत वर्णन है। तृतीय काण्ड के 6 प्रपाठकों में अग्निचिति, अध्वर विधि, सौत्रामणी के अनन्तर अश्वमेध का विस्तृत वर्णन, अन्तिम पाँच प्रपाठकों में (12-16) किया गया है। पुराणों तथा वैदिक साहित्य के अध्ययन से याज्ञवल्क्य वाजसनेय एक अत्यन्त प्रौढ़ तत्वज्ञ प्रतीत होते हैं, जिनकी अनुकूल सम्मति का उल्लेख शतपथ-ब्राह्मण तथा बृहदारण्यक उपनिषद् में किया गया है (अ. 3 और 4)। ये मिथिला के निवासी थे तथा उस देश के अधीश्वर महाराज जनक की सभा में इनका विशेष आदर और सत्कार था। इनके पिता का नाम देवराज था, जो दीनों को अग्र दान देने के कारण वाजसनि के अपर नाम से विख्यात थे। इन्होंने व्यासदेव के चारों शिष्यों से वेद चतुष्टय का अध्ययन किया था। अपने मातुल वैशम्पायन ऋषि से यजुर्वेद का अध्ययन किया था। शतपथ के प्रामाण्य पर इन्होंने उद्दालक आरुणि से वेदान्त का परिशीलन किया था। एक बार आरुणि ने इनके वेदान्त की प्रशंसा में कहा था— कि वेदान्त की शक्ति से अभिमन्त्रित जल से स्थाणु (पेड़ का केवल तना) को सींचा जाये, तो उसमें भी पत्तियाँ निकल जाती हैं। पुराणों से प्रतीत होता है कि योग्य शिष्य ने गुरु के पूर्वोक्त कथन को अक्षरशः सत्य सिद्ध कर दिखाया। इसकी दो पत्नियाँ थीं— मैत्रयी और कात्यायनी। मैत्रेयी बड़ी ही विदुषी तथा ब्रह्मवादिनी थीं, और घर छोड़कर वन में जाते समय याज्ञवल्क्य ने मैत्रेयी को ही ब्रह्मविद्या की शिक्षा दी। प्रगाढ़ पांडित्य, अपूर्वयोगबल

तथा गाढ़ दार्शनिकता के कारण ही योगी याज्ञवल्क्य, कर्मयोगी राजा जनक की विशेष अभ्यर्थना तथा सत्कार के भाजन थे। यजुर्वेद में मुख्यरूपेण कर्मकांड का प्रतिपादन है।

विषय विवेचन— शुक्ल यजुर्वेद की मन्त्र संहिता वाजसनेयी संहिता के नाम से विख्यात है। जिसके 40 अध्यायों में से अन्तिम 15 अध्याय खिलरूप से प्रसिद्ध होने के कारण अवान्तर-युगीय माने जाते हैं।

आरंभ के दोनों अध्यायों में दर्श तथा पौर्णमास इष्टियों से संबंध मन्त्रों का वर्णन है। तृतीय अध्याय में अग्निहोत्र तथा चातुर्मास्य (चार महीनों पर होने वाले यज्ञ) के लिए उपयोगी मन्त्रों का विवरण है। चतुर्थ से लेकर अष्टम अध्याय तक सोमयागों का वर्णन है, जिसमें अग्निष्टोम प्रकृति— योग होने के कारण अत्यन्त विस्तृत है। अग्नि-स्टोम में सोम को पत्थरों से कूटकर इसका रस चुलाते हैं। दूध मिलाकर उसे प्रातः माध्यह्ण, तथा सायंकाल अग्नि में हवन करते हैं। इसका नाम है सवन, जो तीनों समयों के अनुसार भिन्न-भिन्न नामों से विख्यात है। एक दिन में समाप्य 'एकाह' सोमयागों में 'वाजपेय' नाम अन्यतम है, तथा राजा के अभिषेक के अवसर पर होने वाला राजसूय यज्ञ है, जिसमें दयूत-क्रीड़ा, अस्त्र-क्रीड़ा, आदि नाना राजन्योचित क्रिया कलापों का विधान होता है। इन दोनों यज्ञों के संबंध, मन्त्र संहिता के नवम् तथा दशम अध्यायों में निर्दिष्ट किये गये है। इसके अनन्तर आठ अध्यायों (11-18) तक अग्निचयन अर्थात् होमाग्नि के लिए वेदिनिर्माण का वर्णन बड़े ही विस्तार के साथ किया गया है। वेदी की रचना 10,800 ईंटों से होती है जो विशिष्ट स्थान से लायेजाते हैं, तथा विशिष्ट आकार के बनाये जाते हैं। वेदी की आकृति पंख फैलाये हुए पक्षी के समान होती है। ब्राह्मण-ग्रन्थों में वेदी और उसके विविध ईटों के आध्यात्मिक रूप का आख्यान बड़ी मार्मिकता के साथ किया गया है।

16 वें अध्याय में शतरुद्रीय होम का प्रसंग है, जिसमें रुद्र की कल्पना का बड़ा ही सांगोपांग विवेचन मिलता है। वैदिकों में यह रुद्र अध्याय अत्यन्त उपयोगी होने से नितान्त प्रख्यात है। 18 वें अध्याय में वसोर्धारा संबंधी मन्त्र निर्दिष्ट हैं। इसके बाद तीन अध्यायों (19-21) में सौत्रामणी यज्ञ का विधान है। कहा जाता है कि अधिक सोमयाग करने से इन्द्र को रोग हो गया था, जिसको अश्विन् ने इस यज्ञ के द्वारा चिकित्सा की। राज्य से च्युत राजा पशुकाम यजमान तथा सोमरस की अनुकूलता से पराङ्मुख व्यक्ति के निहित इस याग का अनुष्ठान विहित है। इसकी प्रक्रिया का संक्षिप्त विवरण 19वें अध्याय के महीधर भाष्य के आरंभ में उपलब्ध है। सौत्रामणी यज्ञ में सोमरस के साथ सुरापान का विधान भी पाया जाता है (सौत्रामण्यां सुरां पिबेत्)।

अध्याय 22-25 तक अश्वमेध के विशिष्ट मन्त्रों का निर्देश है। अश्वमेध सार्वभौम आधिपत्य के अभिलाषी सम्राट् के लिए विहित है। इसका पूर्ण वर्णन शतपथ-ब्राह्मण के 13 वें काण्ड में तथा कात्यायन श्रौतसूत्र (20वें अध्याय) में हैं। इसी प्रसंग में यह प्रसिद्ध प्रार्थना (22/22) में उपलब्ध होती है, जिसमें यजमान अपने भिन्न-भिन्न पदार्थों के लिए उन्नति तथा वृद्धि की कामना करता है। 26-29 अध्याय तक खिल मन्त्रों का सकंलन है, जिससे पूर्व-निर्दिष्ट अनुष्ठानों के विषय में नवीन मन्त्र दिये गये हैं। 30वें अध्याय में पुरुषमेध का वर्णन है, जिसमें 184 पदार्थों के आलम्भन का निर्देश है। यह आलम्भन वास्तविक आलम्भन न होकर केवल प्रतीक रूप से उल्लिखित है। भारत में कभी भी पुरुषमेघ नहीं किया जाता था। यह केवल काल्पनिक यज्ञ है जिसमें पुरुष की नाना प्रतिनिधिभूत

वस्तुओं के लिए भिन्न-भिन्न पदार्थों में दान का विधान था, जैसे नृत्त के लिए सूत की, गीत के लिए शैलूष की, धर्म के लिए समाचार आदि के आलम्भन की विधि है। इस अध्याय से तत्कालीन प्रचलित व्यवसाय, पेशा तथा कलाकौशल का भी थोड़ा परिचय प्राप्त होता है। 31 वें अध्याय में प्रसिद्ध पुरुष-सूक्त है, जिसमें ऋग्वेद की अपेक्षा अन्त में 6 मन्त्र अधिक उपलब्ध होते हैं। 32 तथा 33 अध्याय में सर्वमेध के मन्त्र उल्लिखित हैं। 32 के आरंभ में हिरण्यगर्भ सूक्त के भी कुछ मन्त्र उद्धत हैं। 34 वें अध्याय के आरम्भ में छः मन्त्रों का शिवसंकल्प उपनिषद् मन तथा उसकी वृत्तियों के स्वरूप बतलाने में नितान्त उपादेय हैं। मन की महत्ता के प्रतिपादन के अनन्तर मन को शिवसंकल्प होने की प्रार्थना है, जिससे संकल्प (इच्छा) का वर्णन सर्वदा कल्याणकारी बने—

सुषारथिरश्वानिव यन्मनुष्यान्।

नेतीयतेऽभीशुभिर्वाजिन इव।।

हत्प्रतिष्ठं यदजिरं जविष्ठं।

तन्मे मनः शिवसंकल्पमस्तु।। यजुर्वेदः 34,6

जिस प्रकार शोभन सारथि अश्वों को आगे चलने के लिए प्रेरित करता है और वेगवान् उत्पथगामी घोड़ों को चाबुक से नियमन करता है, उसी प्रकार मन भी मनुष्यों को कार्यों में प्रेरित करता है, तथा उसका नियमन भी करता है, जिससे वे उन्मार्गगामी न बन जायें। वह हमारे हृदय में प्रतिष्ठित होने वाला जरा से रहित तथा अत्यन्त शीघ्रगामी मन शिव संकल्प बने। ये मन्त्र ऋक् परिशिष्ट सूक्त 33 में भी उपलब्ध होते हैं।

35 वें अध्याय में पितृमेध संबंधी मन्त्रों का संकलन 36 से 38 अध्याय तक प्रवर्ग्ययाग का विशद् वर्णन है। प्रवर्ग्य में आग के ऊपर कड़ाही रख देते हैं और वह तप्त होकर बिल्कुल लाल बन जाती है जिससे वह सूर्य का प्रतीक होती है उसके बाद दूध को उबाल कर अश्विन् को समर्पण किया जाता है। पीछे यज्ञ पात्रों को ऐसी स्थिति में रखते हैं जिससे मनुष्य की आकृति बन जाती है। अन्तिम अध्याय (40 वाँ अध्याय) ईशावास्य उपनिषद् है जो अपने प्रारम्भिक दो शब्दों के कारण यह नाम धारण करता है। उपनिषदों में यह लघुकाय उपनिषद् आदिम माना जाता है, क्योंकि इसे छोड़कर कोई भी अन्य उपनिषद् संहिता का भाग नहीं है। उपनिषद् ग्रन्थों से इसके प्राथम्य धारण करने का यही हेतु मुख्य है। इस संहिता का आदित्य के साथ घनिष्टता का परिचय इसका अन्तिम मन्त्र देता है—

हिरण्मयेन पात्रेण सत्यस्यापिहितं मुखम्।

योऽसावादित्ये पुरुषः सोऽसावहम्।। ईशावा 40, 17

काण्वसंहिता— शुक्ल यजुर्वेद की प्रधान शाखायें माध्यन्दिन तथा काण्व हैं। काण्व शाखा का प्रचार आजकल महाराष्ट्र प्रान्त में ही है और माध्यन्दिन शाखा का उत्तर भारत में। परन्तु प्राचीन काल में काण्व शाखा का अपना प्रदेश उत्तर भारत ही था, क्योंकि एक मन्त्र में (11,11) कुरु तथा पांचाल देशीय राजा का निर्देश संहिता में मिलता है (एष वः कुरवो राजा, एष पंचालो राजा)। महाभारत के आदि पर्व (64. 18) के अनुसार शकुन्तला को पोष्य-पुत्री बनाने वाले कण्व मुनि का आश्रम मालिनी नदी के तीर पर

था, जो आज भी उत्तर प्रदेश के बिजनौर जिले में मालन के नाम से विख्यात एक छोटी सी नदी है। अतः काण्वों का प्राचीन संबंध उत्तर प्रदेश से होने में कोई विप्रतिपत्ति नहीं दृष्टिगोचर होती।

काण्व संहिता का एक सुन्दर संस्करण मद्रास के अन्तगर्त किसी 'आनन्दवन' नगर तथा औंध से प्रकाशित हुआ है, जिसमें अध्यायों की संख्या 40, अनुवाकों की 328 तथा मन्त्रों की 2086 हैं। अर्थात माध्यन्दिन-संहिता के मन्त्रों (1675) से यहाँ 111 मन्त्र अधिक हैं। काण्व शाखा का संबंध पांचरात्र आगम के साथ विशेष रूप से पांचरात्र संहिताओं में सर्वत्र माना जाता है।

कृष्ण यजुर्वेद

ऊपर निर्दिष्ट विषय-विवेचन में कृष्ण यजुर्वेद की संहिताओं के भी विषय का पर्याप्त परिचय मिल सकता है, क्योंकि दोनों में वर्णित अनुष्ठान-विधियाँ प्रायः एक समान ही हैं। शुक्लयजुः में जहाँ केवल मन्त्रों का ही निर्देश किया गया है वहाँ कृष्णयजुः में मन्त्रों के साथ विधायक ब्राह्मण भी संमिश्रित हैं। चरणव्यूह के अनुसार कृष्णयजुर्वेद की 58 शाखायें हैं, जिसमें आज केवल 4 ही शाखायें तथा तत्संबंधी पुस्तकें उपलब्ध होती हैं— 1. तैत्तिरीय, 2. मैत्रायणी 3. कठ 4. कपिष्ठल-कठ शाखा।

तैत्तिरीय संहिता— तैत्तिरीय शाखा का प्रसारदेश दक्षिण भारत में है कुछ महाराष्ट्र प्रान्त तथा समग्र आन्ध्र द्रविड़ देश की इसी शाखा का अनुयायी है समग्र वैदिक ग्रन्थों— संहिता, ब्राह्मण, सूत्र आदि की उपलब्धि से इसका वैशिष्ठ्य स्वीकार किया जा सकता है, अर्थात् इस शाखा ने अपनी संहिता, ब्राह्मण, आरण्यक उपनिषद्, श्रौतसूत्र तथा गृह्यसूत्र को बड़ी तत्परता से अक्षुण्ण रखा है। तैत्तिरीय संहिता का परिणाम कम नही है यह काण्ड प्रपाठक तथा अनुवाकों में विभक्त है। पूरी संहिता में 7 लाख, 44 प्रपाठक तथा 361 अनुवाक हैं। विषय वही शुक्ल-यजुर्वेद में वर्णित विषयों के समान ही पौरोडाश, याजमान, वाजपेय, राजसूय, आदि नाना यागानुष्ठानों का विशद वर्णन है। आचार्य सायण की यही अपनी शाखा थी इसीलिए तथा यज्ञ के मुख्य स्वरूप के निष्पादक होने के कारण उन्होंने इस संहिता का विद्वतापूर्ण भाष्य सर्वप्रथम निबद्ध किया, परन्तु उनसे प्राचीन भाष्यकार भट्ट भास्कर मिश्र (11वीं शताब्दी) जिनका 'ज्ञान यज्ञ' नामक भाष्य प्रामाणिकता तथा विद्वता में किसी प्रकार न्यून नहीं है।

मैत्रायणी संहिता— कृष्ण यजुर्वेद की अन्यतम शाखा मैत्रायणी की सह संहिता गद्यपद्यात्मक है, अर्थात कृष्ण यजुर्वेदीय संहिता के समान यहाँ भी मन्त्र तथा ब्राह्मणों का संमिश्रण है। इस संहिता में चार काण्ड हैं (1) प्रथम (आदिम) काण्ड — 11 प्रपाठकों में विभक्त है, जिनमें क्रमशः दर्शपूर्णमास, अध्वर, आधान, पुनराधान, चातुर्मास्य तथा वाजपेय का वर्णन है। (2) द्वितीय (मध्यम) काण्ड के 13 प्रपाठकों में काम्य ईष्ठि, राजसूय तथा अग्निचिति का विस्तृत वर्णन है (3) तृतीय (उपरि) काण्ड के 16 प्रपाठकों में अग्निचिति, अध्वर विधि, सौत्रामणी के अनन्तर अश्वमेध का विस्तृत वर्णन अन्तिम पाँच प्रपाठकों में (12-16) किया गया है। (4) चतुर्थ काण्ड खिल काण्ड के नाम से विख्यात है, जिसके 14 प्रपाठकों में पूर्वनिर्दिष्ट, राजसूय आदि यज्ञों के विषय में अन्य आवश्यक सामग्री संकलित की गई है। समग्र संहिता में 2144 मन्त्र है, जिसमें 1701 ऋचायें ऋग्वेद से उद्धृत की गई हैं। प्रत्येक काण्ड में ऋग्वेद से मन्त्र उद्घृत हैं और ये मन्त्र ऋग्वेद के भिन्न-भिन्न मण्डलों में पाये गये हैं। यहाँ उद्घृत मन्त्र ऋग्वेद के प्रथम मण्डल (416) दशम 323 तथा षष्ठ मण्डल 157 मन्त्र से विशेष संबंध रखते

हैं। मैत्रायणी कृष्ण यजुर्वेद से सबंध रखती है। इसलिए इस संहिता के मन्त्रों तथा ब्राह्मणों का तैत्तिरीय तथा काठक संहिता में उपलब्ध होना आश्चर्य की घटना नहीं है। अनेक मन्त्र माध्यन्दिन तथा काण्व यजु संहिता में भी यजुष होने के नाते मिलते हैं।

कठ संहिता— यजुर्वेद की 27 मुख्य शाखाओं में कठ शाखा अन्यतम है। पुराणों में काठक लोग मध्यप्रदेशीय या माध्यम के नाम से विख्यात हैं, जिससे प्रतीत होता है कि वे प्राचीनकाल में मध्य-देश में निवास करते थे। पतंजलि के कथनानुसार कठसंहिता का प्रचार तथा पठन-पाठन प्रत्येक ग्राम में था जिससे प्राचीन काल में इस संहिता के विपुल प्रसार का पूर्णपरिचय प्राप्त होता है परन्तु आजकल इसके अध्येताओं की संख्या नगण्य है। कठसंहिता में पाँच खण्ड हैं, जो क्रमशः इठिमिका, मध्यमिका ओरिमिका, याज्या-नुवाक्या काण्ड तथा अश्वमेधद्यनुवचन के नाम से प्रसिद्ध हैं इन खण्डों के टुकड़ों का नाम 'स्थानक' है, जो वैदिक साहित्य में अन्यत्र नही मिलता। इस संहिता में स्थानक की संख्या 40 अनुवाचनों की 13 अनुवाकों की 843, मन्त्रों की 30191 तथा मंत्र ब्राह्मणों की सम्मिलित संख्या 18 हजार है।

इठिमिका के 18 स्थानकों में पुरोडाश, अध्वर, पशुबन्ध, वाजपेय, राजसूय आदि का विस्तृत वर्णन है। मध्यमिका (12 स्थानक) में सावित्री, पंचचूड़, स्वर्ग, दीक्षित, आयुष्य आदि का विवेचन है। ओरिमिका काण्ड (10 स्थानक) में पुरोडाश ब्राह्मण, यजमान ब्राह्मण, सत्र प्रायश्चित्ति, चातुर्मास्य, सव, सौत्रामणी आदि का वर्णन है, और इसी के भीतर चतुर्थ काण्ड का भी गतार्थ समझना चाहिये। अन्तिम काण्ड में 13 अनुवचन है। कृष्ण यजुर्वेदीय संहिताओं की सामान्य प्रकृति के अनुसार इस संहिता में मन्त्र तथा ब्राह्मणों का एकत्र मिश्रण है। इन निर्दिष्ट मुख्य भागों तथा इष्टियों में कतिपय प्रमुख याग ये हैं, दर्श पौर्णमास, अग्निष्टोम, अग्निहोत्र, आधान, काम्य इष्टि निरूढ़ पशुबन्ध, वाजपेय, राजसूय, अग्निचयन, चातुर्मास्य, सौत्रामणी और अश्वमेध।

कृष्ण यजुर्वेद की चारों मन्त्र संहिताओं में केवल स्वरूप की ही एकता नहीं है प्रत्युत उनमें वर्णित अनुष्ठानों तथा तन्निष्पादक मन्त्रों में भी बहुत ही अधिक साम्य है। यह होना भी चाहिये, क्योंकि ये भिन्न-भिन्न शाखा की मन्त्र— संहितायें एक ही मूलभूत वेद की अवान्तर शाखायें हैं, जो अध्येतृगणों की विशिष्टता तथा विभिन्नता के कारण ही भिन्न सी हो गई हैं।

कपिष्ठल कठ संहिता— चरण व्यूह के अनुसार चरकशाखा के ही अन्तगर्त कठाः प्राच्यकठाः तथा कपिष्ठल-कठा का उल्लेख मिलता है। जिससे इसके शाखा संबंध का पूरा परिचय मिलता है। कपिष्ठलो गोत्रे (8, 3, 91) सूत्र में किया है। दुर्गाचार्य ने भी अपने को कापिष्ठलो वासिष्ठः कहा है। (निरुक्त टीका 4/4) सभवतः यह किसी स्थानविशेष का नाम था इस संहिता के सम्पादक का अनुमान है कि कपिष्ठल ग्राम का वर्तमान प्रतिनिधि कोई '' कैथल नामक ग्राम है जो कुरुक्षेत्र में सरस्वती नदी से थोड़ी दूर पूर्व की ओर था। इस ग्राम का उल्लेख वाराहमिहिर के वृहत्संहिता (14/4) में किया है।

सारांश— सम्पूर्ण यजुर्वेद कर्मकाण्ड का धार्मिक अनुष्ठान है। यह यज्ञों को करने के लिए धर्मविधियों को बताता है। ऋग्वेद के एक या दो शताब्दी के बाद संग्रहीत हुआ। संबंधी सूत्र अध्वर्यु के द्वारा उच्चरित किये जाते हैं, क्योंकि अध्वर्यु या पुरोहित ही यज्ञ का हस्तचालित भाग संचालित

करते हैं।

(ग) **सामवेद**— सामवेद का मूल शब्द ''समन' अथात राग है। अतः सामवेद रागों या लयों का समूह है। इसके 1603 लय या राग हैं। परन्तु 11 को छोड़कर बाकी सब ऋग्वेद से लिए गये। ये राग सोम यज्ञ के समय गाये जाते हैं।

वैदिक संहिताओं में साम का महत्व गौरवमय माना जाता है। 'बृहद् देवता'' का कहना है कि जो पुरुष साम को जानता है, वही वेद के रहस्य को जानता है— ''सामानि यो वेत्ति स वेद तत्वम्।'' गीता में भगवान श्री कृष्ण ने स्वयं सामवेद को अपना ही स्वरूप बतलाया— वेदानां सामवेदोऽस्मि (10. 42)। गीता में प्रणवः सर्ववेदेषु तथा अनुगीता में ओंकार सर्ववेदानाम् कहकर ओंकार के सर्व वेदों में श्रेष्ठ होने की बात कही गई है, उससे पूर्व वाक्य में किसी प्रकार का विरोध घटित नहीं होता, क्योंकि छन्दोग्य के कथन अनुसार (साम्न उद्‌गीथो रसः) उद्‌गीथ सम्पूर्ण सामवेद का सार बतलाया गया है। उद्‌गीथ ओंकार का ही दूसरा नाम है। अतः ओंकार को सब वेदों में भगवद्‌रूप होने का तात्पर्य सामवेद के महत्व प्रतिपादन में ही है। ऋग्वेद तथा अथर्ववेद में भी साम की प्रशस्त प्रशंसा की गई मिलती है। एक मन्त्र की स्पष्ट उक्ति है कि जो विद्वान्, मनुष्य जागरणशील है, उसी को साम प्राप्त होते हैं परन्तु जो निन्द्रालु हैं वह साम गायन में कभी प्रवीण नहीं हो सकता है। (ऋग्वेद 5, 44,14)। एक दूसरे मन्त्र में पक्षियों का गायन सामगायन के समान मधुर बतलाया गया है। (ऋग्वेद 2,43,2)

अथर्ववेद के अनेक स्थलों पर साम की विशिष्ट स्तुति ही नहीं की गई, किन्तु परमात्मभूत 'उच्छिष्ट' (परब्रह्म) तथा स्कम्भ से इसके आविर्भाव का भी उल्लेख है। एक ऋषि पूछ रहा है जिस स्कम्भ के साम लोग हैं, वह स्कम्भ कौन सा है, (अथर्ववेद 10, 7, 20)? दूसरे मन्त्र में ऋक् के साथ साम का भी आविर्भाव 'उच्छिष्ट' से बतलाया गया है (अथर्व 11. 7. 24)। एक तीसरे मन्त्र में कर्म के साधनभूत ऋक् और साम की स्तुति का विधान किया गया है (अथर्व 7, 54, 1)। इस प्रशंसा के अतिरिक्त विशिष्ट सामों के अभिधान प्राचीन वैदिक साहित्य में उपलब्ध होते हैं, जिससे इन सामों की प्राचीनता निःसंदिग्ध रूप से सिद्ध होती है। ऋग्वेद में वैरूप, बृहत, रैवत, गायत्र, भद्र, आदि सामों के नाम मिलते हैं। यजुर्वेद में रथन्तर, वैराज, वैखानस, वामदेव्य, शाक्वर, रैवत् अभीवर्त तथा ऐतरेय ब्राह्मण में नौधस, रौरय, यौधाजय, अग्निष्टोमीय आदि विशिष्ट सामों के नाम निर्दिष्ट किये गये मिलते हैं। इससे पता चलता है कि साम गायन अर्वाचीन न होकर अत्यन्त प्राचीन काल से चला आ रहा है यहाँ तक कि ऋग्वेद के समय में भी इन विशिष्ट गायनों का अस्तित्व स्पष्ट रूप से सिद्ध होता है।

साम का अर्थ— साम शब्द का प्रयोग दो अर्थों में किया गया मिलता है। ऋक् मन्त्रों के ऊपर गाये जाने वाले गान ही वस्तुत साम शब्द के वाच्य हैं, परन्तु ऋक् मन्त्रों के लिए भी साम शब्द का प्रयोग किया है, तथा यह उद्‌गाता देवता के स्तुतिपरक मन्त्रों की ही आवश्यकता अनुसार विविध स्वरों में गाता है। अतः साम का आधार ऋक् मन्त्र ही होता है यह निश्चित है (ऋचि अध्यूढं साम-छान्दोग्य उपनिषद् 1, 6, 1) ऋक् और साम के इ स पारस्परिक गाढ़ संबंध को सूचित करने के लिए इन दोनों में दाम्पत्य-भाव की भी कल्पना की गई। पति संतानोत्पादन के लिए पत्नी को आह्वान करते हुए कह रहा है कि मैं सामरूप पति हूँ, तुम ऋचा रूपी पत्नी हो, मैं आकाश हूँ और तुम पृथ्वी हो। अतः आवो, हम दोनों मिलकर प्रजा का उत्पादन करें (बृहदारण्यकोपनिषद् 6, 4, 20 अथर्व वेद 14.2. 07; ऐ ब्रा.

8.27); छान्दोग्य उपनिषद् (1,84) में स्वर साम का स्वरूप बतलाया है। अतः निश्चित है कि साम शब्द से हमें उन गानों को समझना चाहिये जो भिन्न-भिन्न ऋचाओं पर गाये जाते है।

'साम' शब्द की एक बड़ी सुन्दर निरुक्ति बृहद्ारण्यक उपनिषद् में दी गई है— सा च अमश्चेति तत्साम्नः सामत्वम् (1, 3, 22) सा शब्द का अर्थ है ऋक् और 'अम शब्द का अर्थ है गान्धार आदि स्वर। अतः साम शब्द की की व्युत्पत्ति हुई ऋक् के साथ संबंध स्वर प्रधान गायन— "तया सह संबद्धः अमो नाम स्वरः यत्र वर्तते तत्साम"। जिन ऋचाओं के ऊपर ये साम गान होते हैं उनको वैदिक लोग साम योनि नाम से पुकारते हैं।

सामवेद का परिचय— सामवेद के दो प्रधान भाग होते हैं :— आर्चिक तथा गान। आर्चिक का शाब्दिक अर्थ है ऋक्, समूह, जिसके दो भाग है पूर्वाचिक तथा उत्तरार्चिक। पूर्वार्चिक में 5 प्रपाठक या अध्याय है। प्रत्येक प्रपाठक में दो अर्ध या खण्ड है और प्रत्येक खण्ड में एक दशति औरु हर एक दशति में ऋचायें हैं। 'दशति' शब्द से प्रतीत होता है कि इन ऋचाओं की संख्या दस होनी चाहिए परन्तु किसी खण्ड में यह दस से कम है और कहाँ दस से अधिक। दशतियों में मन्त्रों का संकलन छन्द तथा देवता की एकता पर निर्भर है। ऋग्वेद के भिन्न-भिन्न मण्डलों के भिन्न-ऋषियों के द्वारा दृष्ट ऋचाएँ भी हैं एक देवता वाचक होने से यहाँ एकत्र संकलित की गई हैं। प्रथम प्रपाठक को आग्नेय काण्ड (या पर्व) कहते हैं, क्योंकि इसमें अग्निविषयक ऋक् मन्त्रों का समवाय उपस्थित किया गया है। द्वितीय से लेकर चतुर्थ अध्याय तक इन्द्र की स्तुति होने से ऐन्द्र-पर्व कहलाता है। पंचम अध्याय को 'पवमान पर्व' कहते हैं, क्योंकि वहाँ सोम विषयक ऋचायें संगृहीत हैं, जो सम्पूर्ण ऋग्वेद के नवम् (पवमान) मण्डल से उद्धृत की गई हैं। षष्ठ प्रपाठक को आरणयक पर्व कहते है, क्योंकि देवताओं तथा छन्दों की भिन्नता होने पर भी इसमें गान-विषयक एकता विद्यमान है। प्रथम से लेकर पंचामाध्याय तक की ऋचायें तो ग्राम-गान कही जाती हैं, परन्तु षष्ठ अध्याय की ऋचायें अरण्य में ही गाई जाती हैं। इसीलिए इन सब का यहाँ एकत्र संग्रह कर दिया गया है। इसके अन्त में परिशिष्ट रूप से महानाम्नी नामक ऋचायें (10) दी गई है। इस प्रकार पूर्वाचिक के मन्त्रों की संख्या छः सौ पचास (650) है।

उत्तरार्चिक में 9 प्रपाठक हैं। पहले पाँच प्रपाठकों में दो-दो भाग हैं, जो प्रपाठकार्ध कहे जाते हैं, परन्तु अन्तिम चार प्रपाठकों में तीन-तीन अर्ध हैं।

यह राणायनीय शाखा के अनुसार है। कौथुम शाखा में इन अर्धो को अध्याय तथा दिशतियों को खण्ड कहा जाता है। उत्तरार्चिक के समग्र मन्त्रों की संख्या 1225 है। अतः दोनों आर्चियों की सम्मिलित मन्त्र-संख्या (1875) है। यह बात सत्य है कि साम ऋचायें ऋग्वेद से संकलित की गई हैं, परन्तु कुछ ऋचायें नितान्त भिन्न हैं, अर्थात् उपलब्ध शाकल्य-संहिता में ये ऋचायें बिल्कुल नहीं मिलती। यह भी ध्यान देने की बात है कि पूर्वार्चिक के 267 मन्त्र उत्तरार्चिक में पुनः लिखी गई हैं। अतः ऋग्वेद की वस्तुत 1504 ऋचायें ही सामवेद में उद्धृत हैं। सामान्यतः 75 मन्त्र अधिक माने जाते हैं, परन्तु वस्तुतः संख्या इससे अधिक है, 99 ऋचायें एकदम नवीन हैं, इनका संकलन संभवतः ऋग्वेद की अन्य शाखाओं की संहिताओं से किया गया होगा। यह आधुनिक विद्वानों की मान्यता है।

गानों के प्रकार— गान चार प्रकार के हैं, जिनके निर्देशक भिन्न-भिन्न ग्रन्थ हैं। इन चारों के नाम हैं। (1) वेयगान, (2) आरण्यगान, (3) अरण्यगान, (4) अह्यगान। प्रथम दो गान (वेय तथा

आरण्य) योनिगान हैं, तथा ऊह और ऊह्य विकृति-गान कहे जाते हैं। ऊह की प्रकृति वेय गान है, तथा ऊह्य की प्रकृति (या योनि) आरण्य गान। इसका तात्पर्य है कि वेयगान में प्रयुक्त स्वरादि का आश्रय लेकर ही ऊहगान का निर्माण होता है और अरण्य गान के स्वररागादि के आधार पर ऊह्य गान की रचना की गई। इन चारों गानों के स्वरूप का पार्थक्य उनके नामकरण से भली-भाँति चलता है। वेयगान का दूसरा नाम है— ग्रामे गेय गान, अर्थात् वह ग्राम में, समाज में गाने योग्य होता है, परन्तु आरण्य-गान के अन्तर्गत साम, अरण्य में ही गाने योग्य होते हैं। सामवेदियों की मान्यता है कि आरण्य-गान के स्तोम इतने विलक्षण तथा विचित्र हैं कि ग्राम में गाने पर उनसे अनर्थ होने की सम्भावना रहती है। वे इतने पवित्र होते हैं कि अरण्य के पूत वातारवण में ही उनका उचित गायन किया जा सकता है और उचित प्रभाव उत्पन्न किया जा सकता है।

ऊह का अर्थ होता है ऊहन, किसी अवसर विशेष पर मन्त्रों का सामयिक परिवर्तन। इसी व्याख्या के अनुसार 'ऊह-गान' सोम-याग के अवसर पर प्रयोजनीय सामों का नाम है 'उह्य-गान' का पूरा नाम उह्य (रहस्य) गान है, तथा रहस्यात्मक होने के कारण ही ये अरण्यगान के विकृति गान माने जाते हैं। अरण्य गान के समान ये गान भी रहस्यात्मक होते हैं और इसीलिए सर्व- साधारण के सामने समाज के भीतर इनका गायन निषिद्ध माना जाता है।

मन्त्रों पर साम निश्चित है किस ऋचा पर कौन से तथा कितने साम होंगे? इसका निश्चय वैदिकों की परम्परा से होता आया है साम अनियत नहीं किन्तु नियत हैं। सामवेद में पठित समग्र ऋचाओं पर साम हो, ऐसा कोई नियम नहीं है। कुछ ऋचाओं पर साम का सर्वथा अभाव है। ऋचायें उत्तराचिंक में ही पाई जाती हैं। उदाहरणर्थः— यत्र वाणाः सम्पतन्ति कुमारा विशिखा इव; (सामवेद सं 1866 भद्र कर्णेभिः-शृणुयाम देवा; (सामवेद सं आशुः शिशानो वृषभो न भीमः सामवेद सं 1849) ऋचाओं पर कोई भी गान, गानग्रथों में नहीं दिये गये हैं। ऋचा विशेष पर सामों की संख्या भी वैदिक प्रसिद्धि से नियत ही है। ऐसी अनेक ऋचायें मिलती हैं, जिनके ऊपर चारों प्रकार के गान होते हैं और वे भी अनेक प्रकार के मिलते हैं। उदाहरणार्थ अया रुचा हिरिण्या (सामवेद सं 463) तथा अयं पूषा रयिर्भगाः (सामवेद सं 546 तथा 818) के ऊपर पूर्वोक्त चारों प्रकार के गान मिलते हैं। द्वितीय ऋचा पर तो समग्र सामों की संख्या 25 है। इतना ही नही एक ऋचा के ऊपर प्रयुक्त सामों की सबसे बड़ी संख्या 61 है जो पुनानः सोम धारया (ऋग्वेद 9,10, 4, सामवेद सं 511) के ऊपर गाये जाते हैं इससे उतर कर सामों की दूसरी बड़ी संख्या 56 है, जो, पुरोजिती वो अन्धसः (सामवेद सं 545) ऋचा के ऊपर अधिष्ठित होते हैं। तीसरी संख्या 48 सामों की है, जो यो धारया पावकया सामवेद सं 698 के ऊपर गाये जाते हैं 25 सामों को रखनेवाली ऋचायें तो संख्या में अनेक हैं। इन विशिष्ट सामों की स्थिति तथा संख्या का नियम प्राचीन वैदिक परम्परा के ऊपर आश्रित है।

स्तोम तथा विष्टुति— शस्त्र तथा स्तोत्र में अन्तर होता है शस्त्र का लक्ष्य है बिना गाये मंत्र के द्वारा सम्पादित स्तुति। शस्त्र ऋग्वेद में होता है और स्तोत्र सामवेद में। स्तोत्र का अर्थ स्पष्ट है प्रगीत-मन्त्र-साध्या स्तुतिः स्तोत्रम्। स्तोम भी स्तुति का ही एक प्रकारान्तर है। स्तोमों का प्रयोग भी यज्ञ यागों में होता था। इनका विशेष वर्णन ताण्ड्यब्राह्मण में किया गया है स्तोम की संख्या नौ है 1. त्रिवत्, 2. पंचदश, 3. सप्तश 4. एकविंश, 5. त्रिणव, 6. त्रयस्त्रिंश, 7. चतुर्विंश, 8. चतुश्चत्वारिंश तथा 9.

अष्टचत्वारिंश। ये स्तोम प्रायः तृच पर हुआ करते हैं। इन तृचों को तीन पर्याय में गाने का नियम है और उसके पर्याय में तृचों पर साम के गान की आवृति का नियम है। इस प्रकार तृतीय पर्याय में स्तोम का स्वरूप निष्पन्न हो जाता है। इस आवृति-जन्य गान के प्रकार की संज्ञा विष्टुति (विशेष स्तुति) है। इन नवों स्तोमों की समग्र विष्टुतियाँ संख्या में 28 हैं, जिसका विशेष ताण्ड्य-ब्राह्मण के द्वितीय तथा तृतीय अध्याय में दिया गया है।

उदाहरणर्थ पंचदशस्तोम को लीजिये, इसकी तीन विष्टुतियाँ होती हैं। प्रत्येक विष्टुति में तृच की प्रत्येक ऋचा का गायन तीन पर्याय में सिद्ध होता है। प्रतिपर्याय में 5 बार गायन होता है, जिससे मिलाकर पूरा गायन 15 बार सम्पन्न होता है। प्रथम पर्याय में पहली ऋचा को तीन बार तथा दूसरी और तीसरी को एक-एक बार गाना पड़ता है। द्वितीय पर्याय में प्रथम बार तृतीय ऋचा को एक-एक बार और द्वितीय ऋचा को तीन बार गाना चाहिये। तृतीय पर्याय में प्रथम द्वितीय ऋचा एक-एक बार तथा तृतीय ऋचा को तीन बार गाना होता है। इस प्रकार पूरे पर्यायों की समाप्ति पर पन्द्रह बार गायन होने से इसे पंचदश स्तोम का अन्वर्थक नाम दिया गया है, इसी प्रकार अन्य स्तोमों की भी दशा है।

साम के विभाग—

सामगान की पद्धति बहुत जटिल है साधारण ज्ञान के लिए यह जानना पर्याप्त है कि सामगान के पाँच भाग होते हैं—

1. **प्रस्ताव**— यह मन्त्र का आरम्भिक भाग है जो 'हूँ' से प्रारंभ होता है। इसे प्रस्तोता नामक ऋत्विज् गाता है।
2. **उद्गीथ**— इसे साम का प्रधान ऋत्विज, उद्गाता गाता है। इसके आरंभ में ओम् लगाया जाता है।
3. **प्रतिहार**— इसका अर्थ है दो को जोड़ने वाला, इसे प्रतिहर्ता नामक ऋत्विज् गाता है।
4. **उपद्रव**— जिसे उद्गाता गाता है।
5. **निधन**— जिसमें मन्त्र में दो पद्यांश या ओम् रहता है। इसका गायन तीनों ऋत्विज्-प्रस्तोता, उद्गाता प्रतिहर्ता-एक साथ मिलकर करते हैं। उदाहरण के लिए सामवेद का प्रथम मन्त्र लीजिये— अग्न आयाहि वीतये गुणानो हव्यदातये। नि होता सत्सि बर्हिषि।

   इसके ऊपर जिस साम का गायन किया जायेगा उसके पांचों अंग इस प्रकार है।

1. हुँ ओग्गाई (प्रस्ताव)
2. ओम् आयाहि वीतये गुणानो हव्यदातये (उद्गीथ)
3. नि होता सत्सि बर्हिषि ओम् (प्रतिहार)

   इस प्रतिहार के दो भेद होंगे, जो दो प्रकार से गाये जायेंगे।

4. नि होते सत्षि ब (उपद्रव)
5. र्हिषि ओम् (निधन)।

इसी साम को जब तीन बार गाया जाता है तब उसे स्तोम कहते है

साम-गायन के लिए

स्वर को कभी ह्रस्व और कभी विकृत या परिवर्तित करना पड़ता है, जैसे— पूर्व मन्त्र के अग्न के गायन में परिवर्तित रूप (ओग्नाई हो जाता है। गायन में पूर्ति के लिए कभी-कभी निरर्थक पद भी जोड़ दिये जाते हैं, जैसे औ, हौ, वा. हा आदि। इन्हें स्तोम कहते है।

(घ) अथर्वसंहिता

वेदों में अन्यतम अथर्ववेद एक भूयसी विशिष्टता सम्पन्न है। ऋग्वेद आदि तीनों वेद आमुष्मिक फल देने वाले हैं, अर्थात् इन वेदों के मन्त्रों द्वारा स्वर्गलोक की प्राप्ति आदि परलोक संबंधी विषयों का प्रतिपादन किया गया है परन्तु अथर्ववेद ऐहिक फल देने वाला भी है। इस जीवन को सुखमय बनाने के लिए जिन साधनों की आवश्यकता होती है, उनकी सिद्धि के लिए नाना अनुष्ठानों का विधान इस वेद में किया गया है। यज्ञ के पूर्ण निष्पादन के निमित जिन चार ऋत्विजों की आवश्यकता होती है, उनमें से अन्यतम ऋत्विज्-ब्रह्मा का साक्षात् संबंध इसी वेद से है। ब्रह्मा नामक ऋत्विज् यज्ञ का अध्यक्ष होता है। इसका प्रधान कार्य नाना विधानों का निरीक्षिण तथा संभावित त्रुटियों का मार्जन करना होता है। इस कार्य के लिए ब्रह्मा का सर्ववेदविद् होना अनिवार्य है तथा उसको मानस बल से सम्पन्न भी होना चाहिये। परन्तु उसका प्रधान वेद अथर्ववेद ही होता है। ब्राह्मण ग्रन्थों में ब्रह्मा का महनीय गौरव अनेकत्र वर्णित है। गोपथ-ब्राह्मण (3,2) का कथन है कि तीनों वेदों के द्वारा यज्ञ के केवल एक पक्ष का ही संस्कार होता है। ब्रह्म, मन के द्वारा यज्ञ के दूसरे पक्ष का संस्कार करता है। ऐतरेय ब्राह्मण (5, 33) के अनुसार यज्ञ के दो मार्ग है वाक् तथा मन। वचन के द्वारा वेदत्रयी यज्ञ के एक पक्ष को संस्कृत बनाती है दूसरे पक्ष का संस्कार ब्रह्मा करता है और वह मन के द्वारा करता है। इन कथनों से स्पष्ट है कि यज्ञ के पूर्ण संस्कार के लिए अथर्ववेद की नितान्त आवश्यकता है।

पुरोहित के लिए अथर्ववेद का ज्ञान इसलिए आवश्यक होता है कि वह राजा की शान्ति और पौष्टिक कार्यो का सम्पादन अथर्ववेद के द्वारा ही करता है। अथर्व-परिशिष्ट का तो यहाँ तक कहना है कि जिस राजा के जनपद में अथर्ववेद का ज्ञाता निवास करता है वह राष्ट्र उपद्रवविहीन होकर वृद्धि को प्राप्त होता है। इस प्रकार ऐहिक तथा आयुष्मिक, लौकिक तथा पारलौकिक, विषयों का प्रतिपादक होने के कारण अथर्ववेद वैदिक संहिताओं में अपना वैशिष्ट्य रखता है।

अथर्ववेद के उपलब्ध अनेक अभिधानों में अथर्ववेद, ब्रह्मवेद, अंगिरोवेद, अथर्वागिंरस वेद आदि नाम मुख्य हैं। 'अथर्व' शब्द की व्याख्या तथा निर्वचन निरुक्त (11, 2. 17) तथा गोपथ-ब्राह्मण (1, 4) में मिलता है। थर्व धातु कौटिल्य तथा हिंसावाची है। अतएव अथर्व शब्द का अर्थ है अकुटितला तथा अहिंसा वृत्ति से मन की स्थिरता प्राप्त करने वाला व्यक्ति इस व्युत्पत्ति की पुष्टि में योग के प्रतिपादक अनेक प्रसंग स्वयं इस वेद में मिलते हैं (अथर्व 6, 1; 10, 2, 26-28) होतृवेद आदि नामों की तुलना पर ब्रह्मकर्म के प्रतिपादक होने से अथर्व वेद ब्रह्मवेद कहलाता है ब्रह्मवेद नाम का यही मुख्य कारण है ब्रह्मज्ञान का अंशतः प्रतिपादन है, परन्तु वह बहुत कम है।

अथर्वङ्गिरस पद की व्याख्या करने से प्रतीत होता है कि यह वेद दो ऋषियों के द्वारा दृष्ट मन्त्रों का समुदाय प्रस्तुत करता है। अथर्व-दृष्ट मन्त्र शान्ति पुष्टि कर्मयुक्त है तथा अंगिरस दृष्ट मन्त्र अभिचारिक है। इसलिए वायुपुराण (56, 27) तथा ब्रह्माण्ड पुराण, (2,1,36) में अथर्व वेद को घोर कृत्याविधि से युक्त तथा प्रत्यंगिरस योग से युक्त होने के कारण द्विशरीर शिरा: कहा गया है।'प्रत्यंगिरसयोग का तात्पर्य अभिचार का प्रतिविधान अर्थात् शान्ति पुष्टिकर्म है। इस अभियान से स्पष्ट है कि अथर्ववेद में दो प्रकार के मन्त्र संकलित हैं:— शान्तिक पौष्टिक कर्मवाले तथा अभिचारिक कर्म वाले। आंगिरसकल्प में मारण, मोहन, उच्चाटन आदि प्रख्यात षट्कर्मों का विधान बतलाया गया है, ऐसा नारदीय पुराण का कथन है (5, 7)।

तैत्तिरीय ब्राह्मण (3, 12, 9,1) में अथर्वणामंगिरसां प्रतीची' में दोनों के मिलित स्वरूप का वर्णन है। संभवत: इन दोनों ऋषियों के द्वारा दृष्ट मन्त्रसमूह पृथक् सत्ता भी धारण करता था। इस दृष्टि से गोपथ ब्राह्मण के एक ही प्रकरण में अथर्वणो वेदोऽभवत् और आंगिरसो वेदोऽभवत् वाक्य मिलते है (11, 5, 11 ,18) शतपथ ब्राह्मण (13, 4, 3, 2) में भी इन दोनों का पृथक उल्लेख किया गया है। सर्वत्र ही अर्थवागिंरस अभियान उपलब्ध है, जिससे अथर्वा ऋषि के अभ्यर्हित होने का संकेत मिलता हैं इससे यह तथ्य निकाला जा सकता है कि इस वेद में शान्तिक पौष्टिक मन्त्रों की सत्ता प्रथम थी जिसमें आभिचारिक मन्त्रों का योग पीछे किया गया।

अथर्ववेद के स्वरूप की मीमांसा करने से पता चलता है कि दो धाराओं के मिश्रण का परिणत फल है। इनमें से एक है अथर्वधारा और दूसरी है अंगिरोधारा। अथर्व द्वारा दृष्ट मन्त्र शान्ति पुष्टि कर्म से संबंध है। इसका संकेत भागवत 3, 24, 24 में भी उपलब्ध होता है। है अथर्वणेऽदात् शातिं यया यज्ञो वितन्यते। अंगिरोधारा आभिचारिक कर्म से संबंध रखती है और यह इस वेद के जन-सामान्य में प्रिय होने का संकेत शान्तिक कर्म से सम्बन्ध होने से अथर्व का संबंध श्रौतयाग से आरंभ से ही है। पीछे आभिचारिक कर्मो का भी संबंध होने से यह राजा के पुरोहित वर्ग के लिए नितान्त उपादेय वेद हो गया। ऋग्वेदत्रयी तथा अथर्व का पार्थक्य स्पष्टत: ग्रन्थों में किया गया है। वेदत्रयी जहाँ पारत्रिक पारलौकिक फलों का दाता है वहाँ अथर्व ऐहलौकिक है। जयन्तभट्ट ने न्यायमंजरी में अथर्ववेद को 'प्रथम वेद' माना है। नागर खण्ड भी इसे आद्य वेद बतलाया है तथा युक्ति देता है कि सार्वलौकिक कार्यसिद्धि में अथर्व ही मुख्य रूपेण प्रयुक्त होता है, और इसीलिए वह आद्य कहलाता है। जयन्तभट्ट ने अथर्ववेद के प्राथम्य पर विस्तार से विचार किया है।

राजा के लिए अथर्ववेद का विशेष महत्त्व है। राजा के लिए शान्तिक पौष्टिक कर्म तथा तुलापुरुषादि महादान की महती आवश्यकता होती है, और इन सब का विधान अथर्ववेद की निजी सम्पत्ति है। इस विषय में पुराण तथा स्मृति ग्रन्थों का प्रमाण प्रचुर मात्रा में उपलब्ध होता है विष्णु पुराण का स्पष्ट कथन है कि राजाओं के पौरोहित्य, शान्तिक पौष्टिक आदि कर्म अथर्व वेद के द्वारा करना चाहिये। मत्स्यपुराण का कथन है कि पुरोहित को अथर्व मन्त्र तथा ब्राह्मण में पारंगत होना चाहिये। कालिदास के वचनों द्वारा इस तथ्य की पुष्टि होती है। कालिदास ने वसिष्ठ के लिए 'अथर्वनिधि' का विशेषण दिया है, जिसका तात्पर्य है कि रघुवंशियों के पुरोहित वसिष्ठ अथर्व मन्त्रों तथा क्रियाओं के भण्डार थे (रघु.

1.56) राजा अज अथर्व वेद के वेत्ता गुरु वसिष्ठ द्वारा अभिषेक संस्कार किये जाने पर शत्रुओं के लिए दुर्धर्ष हो गये (8, 3)। यहाँ पर कालिदास ने वसिष्ठ को अथर्व वेत्ता कहा है (रघु. 8, 3)। अथर्वपरिशिष्ट में लिखा है कि अथर्ववेद का ज्ञाता शान्तिकर्म का पारगामी जिस राष्ट्र में निवास करता है वह राष्ट्र उपद्रवों से हीन होकर वृद्धि को प्राप्त करता है। इन सब प्रमाणों का निष्कर्ष है कि राजपुरोहित को अथर्ववेद के मन्त्रों तथा तत्संबंधी अनुष्ठानों का ज्ञाता अवश्य होना चाहिये। इन्हीं कारणों से अथर्व वेद ऐहलौकिक माना जाता है। जहाँ अन्य तीनों वेद पारलौकिक माने गये है।

अथर्ववेद की शाखाएँ– पुराण के अनुसार वेदव्यासजी ने जिस शिष्य को अथर्व का अध्ययन कराया उनका नाम सुमन्तु था। भागवत में अभिचार-प्रधान वेद के मुख्य प्रचारक होने के कारण सुमन्तु 'दारुण मुनि' की उपाधि से विभूषित थे। अथर्ववेद की शाखाओं का विस्तार पुराणों में वर्णित है विष्णुपुराण (3, 6, 9) सुमन्तु के शिष्य कबन्ध का उल्लेख करता है, परन्तु भागवत (12, 7, 1) में कबन्ध का नाम निर्दिष्ट नहीं है इस पुराण में सुमन्तु के दो ही शिष्य बताये गये हैं– पथ्य तथा वेददर्श। विष्णुपुराण में भी दो शिष्यों की चर्चा है– परन्तु वेददर्श के स्थान पर देववर्श नाम है। दोनों के बीच यही नाम प्रामाणिक प्रतीत होता है, क्योंकि आथर्वण महानारायणोपनिषद् अपने को देवदर्शी नामक अथर्वशाखा से संबंध बतलाया है। फलतः देवदर्श या देवदर्शी नाम ही उपयुक्त प्रतीत होता है। विष्णुपुराण के अनुसार पथ्य के तीनों शिष्यों के नाम क्रमशः जाबालि कुमुदादि तथा शौनक दिये गये हैं; अन्य प्रमाणों की उपलब्धि होने पर इन नामों के निश्चित रूप का भी निर्णय किया जा सकता है। पथ्य के तीन शिष्य थे 1. जाबालि 2. कुमुद 3. शौनक। देवदर्श के चार शिष्य थे 1. मोद 2. ब्रह्मबलि 3. पिप्पलाद 4. शौष्कायनि। इनमें शौनक के शिष्य ब्रभ्रु तथा सैन्धवायन बतलाये जाते हैं। इन्हीं मुनियों द्वारा अथर्ववेद का विशेष प्रचार हुआ।

पतञ्जलि ने पस्पशाह्णिक में नवधाऽऽथर्वणो वेदः लिखकर इस वेद की 6 शाखाओं का उल्लेख किया है। प्रपंचहृद्‌य, चरणव्यूह तथा सायण-भाष्य के उपोद्घात में शाखाओं की संख्या में अभिन्नता होने पर भी इनके नामों में महती भिन्नता दृष्टिगोचर होती है। इनकी तुलना करने पर इसके अभिधान इस प्रकार ठीक जँचते हैं:–

1. पिप्पलाद, 2. स्तौद, 3. मौद, 4. शौनकीय, 5. जाजल, 6. जलद, 7. ब्रह्मवद, 8. देवदर्श तथा 9. चारण वैद्‌य। इन शाखाओं में पिप्पलाद तथा शौनकीय के अनुसार कतिपय ग्रंथ उपलब्ध होते हैं। अन्य शाखाओं का तो नाममात्र शेष है।

1. **पिप्पलाद**– पिंप्लाद मुनि एक बहुत बड़े अध्यात्मवेत्ता प्रतीत होते हैं। अपनी आध्यात्मविषयक शंकाओं के निवारण करने के अभिप्राय से सुकेश भारद्वाज आदि छः मुनियों के इनके पास आने का उल्लेख मिलता है और इन्होंने जो उत्तर दिये वे प्रश्नोपनिषद में सुरक्षित हैं। इसके दो ग्रन्थ थे। प्रपंचहृदय का कथन है कि पिप्पलाद शाखा की मन्त्र संहिता 20 काण्ड वाली है, तथा उसके ब्राह्मण में आठ अध्याय विद्यमान हैं।

3. **मौद-महाभाष्य**– (4,1, 86) तथा शावर भाष्य (1, 1, 30) में इसका उल्लेख मिलता है अथर्व-परिशिष्ट (2,5,2) ने मौद तथा जलद शाखा वाले पुरोहित के सामने से राष्ट्र के नाश की

आशंका प्रकट की है, जिससे इन शाखाओं के कम से कम अस्तित्व या प्रचलन का पता चलता है।

3. **शौनक**— आजकल प्रचलित संहिता तथा गोपथ-ब्राह्मण इसी शाखा के हैं। तौद, जाजल, ब्रह्मवद तथा देवदर्श नाम मात्र प्रसिद्ध हैं। अथर्व की अन्तिम शाखा चारण-वैद्यों के विषय में कौशिक सूत्र की व्याख्या (6,37) तथा अथर्व परिशिष्ट (22/2) से कुछ पता चलता है। वायुपुराण से ज्ञात होता है कि इस शाखा की संहिता में छः हजार छब्बीस 6026) मन्त्र थे, परन्तु यह संहिता अभी तक उपलब्ध नहीं हुई है।

अथर्व का विस्तार— अथर्ववेद में 20 काण्ड, 731 सूक्त तथा 5987 मन्त्रों का संग्रह है आरंभ में सात काण्डों में छोटे-छोटे सूक्त सम्मिलित हैं। प्रथम काण्ड के प्रत्येक सूक्त में नियम से 4 मन्त्र द्वितीय काण्ड में 6 मन्त्र, चतुर्थ काण्ड में 7 मन्त्र तथा पंचम काण्ड में 8 मन्त्र है। षष्ठ काण्ड में 142 सूक्त हैं तथा प्रतिसूक्त में कम से कम तीन मन्त्र हैं। सप्तम काण्ड में 118 सूक्त हैं, जिसमें अधिकतर सूक्त एक या दो हीं मंत्र के हैं। आठ से लेकर बारह काण्डों में बड़े-बड़े सूक्त हैं, परन्तु विषयों की एकता न होकर विभिन्नता ही दृष्टिगोचर होती है। 13 से लेकर 18 काण्ड तक विषय की एकता विशेष रूप से दृष्टि गोचर होती है। 12वें काण्ड के आरंभ में पृथ्वी सूक्त (63, मन्त्र) हैं, जिसमें अनेक राजनीतिक तथा भौगोलिक सिद्धान्तों की भव्य भावना आलोचक की दृष्टि को आकर्षित करती है 13वाँ काण्ड अध्यात्म— विषयक है। 14 वें काण्ड में केवल दो लम्बे सूक्त हैं (139 मन्त्र) जिसमें विवाह का ही प्रधानतया वर्णन है। 16वाँ काण्ड दुःस्वप्ननाशक मन्त्रों (103), का एक सुन्दर संग्रह है। 17वें काण्ड में केवल एक ही सूक्त 30 मन्त्रों का है, जिसमें अभ्युदय के लिए भव्य प्रार्थना की गई है। 18 वाँ काण्ड श्राद्ध काण्ड है, जिसमें पितृमेध संबंधी मन्त्र संकलित है। अन्तिम दोनों काण्ड खिल काण्ड के नाम से प्रसिद्ध है, जो मूल ग्रन्थ की रचना के पीछे जोड़े गये माने जाते हैं। 19वें काण्ड में 72 सूक्त तथा 453 मन्त्र हैं, जिसमें भौषज्य, राष्ट्रवृद्धि तथा आध्यात्म-विषयक मन्त्र संकलित हैं। अन्तिम काण्ड में मन्त्रों की संख्या लगभग एक हजार की है जो विशेष रूप से सोमयाग के लिए आवश्यक होते हैं, तथा ये मन्त्र ऋग्वेद ऋचाओं से साम्य रखते हैं।

अथर्ववेद का निर्माण ऋग्वेद संहिताओं के समकालीन हुआ हो या पश्चाद्वर्ती काल में हुआ हो, इतना निश्चित है कि उसमें चित्रित संस्कृति मानव समाज के आरम्भिक युग से संबंध रखती है प्राचीन मानव समाज में ऐसी नाना क्रियायें, अनुष्ठान तथा विश्वास थे जिनका विशद चित्र वैदिक साहित्य में अन्यत्र अनुपलब्ध होकर इसी अथर्व-संहिता में उपलब्ध होता है। शुत्रओं पर विजय पाने के लिए, क्लेशदायी दीर्घ रोग निवारण के लिए सद्योजात बालकों तथा उनकी माताओं को सन्तप्त करने वाले भूत प्रेतों के विनाश के लिए नाना अभिचारों का विचित्र वर्णन अथर्ववेद को मानव शास्त्र के अभ्यार्थियों के लिए एक बहुमूल्य विश्वकोष सिद्ध कर रहा है। जादू-टोना का प्रचार आथर्वण युग की एक विशेष घटना है। जादू भी दो प्रकार के होते हैं— शोभन प्रकार के जादू में किसी दूसरे अनिष्ट से अपने आपको बचाने की प्रबल भावना रहती है। अशोभन प्रकार के जादू में जिसे अंग्रेजी में 'ब्लैक मैजिक (काला जादू) के नाम से पुकारते हैं शत्रु विशेष के ऊपर मारण मोहन तथा उच्चाटन की भावनायें विशेष जागरूक रहती हैं अथर्ववेद में इन दोनों प्रकार के जादू टोने का उत्कृष्ट साम्राज्य मानव संस्कृति के आदिम युग का

परिचायक है।

अथर्ववेद में विज्ञान-- अथर्ववेद के भीतर आयुर्वेद के सिद्धान्त तथा व्यवहार की अनेक बातें भरी हुई हैं। रोग, शारीरिक प्रतीकार तथा औषध के विषय में अनेक उपयोगी एवं वैज्ञानिक तथ्यों की उपलब्धि अथर्ववेद की आयुर्वेदिक विशिष्टता बतलाने के लिए पर्याप्त मानी जा सकती है। तक्म रोग (ज्वर) का सामान्य वर्णन (6, 21, 1-3) सतत-शारद ग्रीष्म, शीत-वार्षिक-तृतीयक आदि ज्वर के प्रभेदों का निर्देश 1, 25, 4-5) बलास रोग का अस्थि तथा हृदय को पीड़ा करना (6, 14, 1-3) अपचित (गण्डमाला) के एनी-श्येनी-कृष्णा आदि भेदों का निदर्शन (3, 83, 1-3) यक्ष्मा, विद्रथ, आतीकार आदि नाना रोगों का वर्णन (9, 13, 1-22) इस संहिता में स्थान-स्थान पर किया गया है। प्रतीकार के विषय में आधुनिक प्रणाली की शल्य चिकित्सा का निर्देश अतीव विस्मयकारी प्रतीत होता है। जैसे मूत्रधात होने पर शरशलाका आदि के द्वारा मूत्र का निःसारण (1, 3, 16) सुख प्रसव के लिए योनिभेदन (1,11,1-6), जल धावन द्वारा व्रण का उपचार (5, 7, 12-3) आदि। नाना कृमियों के द्वारा नाना प्रकार के रोगों की उत्पत्ति का सिद्धान्त प्राचीन आयुर्वेद को आधुनिक वैद्यशास्त्र के साथ संबंध कर रहा है। रोग कारक नाना कृमियों का वर्णन (2, 31, 1-5), नेत्र नासिका तथा दाँतों में प्रवेश करने वाले कृमियों के नाम तथा निरसन उपाय (5, 13, 71-13) तथा सूर्य किरणों के द्वारा इनका नाश (4, 37, 1-12) आदि अनेक विषय वैज्ञानिक आधार पर प्रतीत होते हैं। रोगों के निवारणार्थ तथा सर्पविष के दूरी करणार्थ नाना औषधियों, तथा मणियों का निर्देश यहाँ मिलता है। आश्चर्य की बात है विषस्य विषमौषधम् का सिद्धान्त भी अथर्व के एक मन्त्र में (7,88,1) पाया जाता है इसीलिए तो आयुर्वेद अथर्ववेद का उपवेद माना जाता है।

अनेक भौतिक विज्ञानों के तथ्य भी यहाँ यत्र-यत्र बिखरे मिलते हैं। उन्हें पहचानने तथा मूल्यांकन करने के लिए वेदज्ञ होने के अतिरिक्त विज्ञानवेता होना भी आवश्यक है एक दो पदों या मन्त्रों में निगूढ़ वैज्ञानिक रहस्यों का उद्घाटन किया गया है जिसे वैज्ञानिक की शिक्षित तथा अभ्यस्त दृष्टि ही देख सकती है। उदाहरण के लिए अथर्ववेद के पंचम काण्ड के पंचम सूक्त में लाक्षा लाख का वर्णन है, जो वैज्ञानिकों की दृष्टि में अत्यन्त प्रामाणिक तथ्यपूर्ण तथा उपादेय है। आधुनिक विज्ञान के द्वारा समर्थित और पुष्ट की गई सूक्त की निर्दिष्ट बातें संक्षेप में ये हैं:-

1. लाह (लाख, लाक्षा) किसी वृक्ष का निस्यन्द नहीं है, प्रत्युत उसे उत्पन्न करने का श्रेय कीट-विशेष को (मुख्यतया स्त्री-कीट) जाता है। वह कीट यहाँ शिलाची नाम से व्यवहृत है उनका पेट लाल रंग का होता है और इसी से वह स्त्री (कीट) सखिया खाने वाली मानी गई है। यह कीट अश्वस्थ, न्यग्रोध, धव खादिर आदि वृक्षों पर विशेषत रहकर लाक्षा को प्रस्तुत करता है। (5, 5, 5,)।

2. स्त्री कीट के बड़े होने पर अण्डा देने से पहले उसका शरीर क्षीण हो जाता है और उसके कोष में पीलापन आ जाता है इसीलिए यह कीट यहाँ 'हिरण्यवर्णा' तथा सूर्यवर्णा कही गई है (5, 5, 5,) इसके शरीर के ऊपर रोंये अधिक होते है, इसीलिए यह लोमश वक्षण कहीं गई है। लाह की उत्पत्ति विशेष रूप से वर्षा काल की अंधेरी रातों में होती है, और इसीलिए

इस सूक्त को रात्रि भ्राता तथा पिता बतलाया है (1, 5, 1)। कीड़े दो प्रकार के होते हैं— (क) सरा -रेंगने वाले; (ख) पतत्रिणी-पंखयुक्त उड़ने वाले।

3. कीड़े (पुरुष कीट)। शरा नामक (स्त्री) कीड़े वृक्षों तथा पौधों पर रेंगते है, और इससे वे स्परणो कहलाते है।

विषय-विवेचन

अथर्ववेद का विषय-विवेचन अन्य वेदों की अपेक्षा नितान्त विलक्षण है। इसमें वर्णित विषयों का तीन प्रकार से विभाजन किया जा सकता है— (1) अध्यात्म, (2) अधिभूत और (3) अधिदैवत। अध्यात्म प्रकरण में ब्रह्म, परमात्मा के वर्णन के अनतर चारों आश्रमों का भी पर्याप्त निर्देश है। अधिभूत प्रकरण में ब्रह्म, परमात्मा के वर्णन के अनन्तर चारों आश्रमों का भी पर्याप्त निर्देश है। अधिभूत प्रकरण में राजा, राज्य-शासन, संग्राम शत्रुवाहन आदि विषयों का वर्णन प्रस्तुत किया गया है। अधिदैवत प्रकरण में नाना देवता, यज्ञ तथा काल के विषय में पर्याप्त सामग्री है। इस स्थूल विवेचन के बाद विस्तृत विवरण नीचे दिया गया है।

(1) **भैषज्यानि सूक्तानि**— इस प्रकरण के अन्तर्गत रोगों की चिकित्सा से संबंध रखने वाले मन्त्र तथा विधि विशेषों का अन्तर्भाव होता है। रोगों की उत्पत्ति नाना प्रकार के पीड़ा पहुँचाने वाले राक्षसों तथा भूत-प्रेतों के कारण होती है इसलिए अनेक मन्त्रों में इन्हें दूर करने का उपाय वर्णित है। कौशिक सूत्र में इन मन्त्रों की सहायता से किये जाने वाले जादू टोनों का भी विशेष वर्णन है। रोगों के लक्षण तथा उनके कारण उत्पन्न शारीरिक विकारों का विशद वर्णन आयुर्वेद की दृष्टि से विशेष महत्वशाली है। अथर्ववेद में तक्मन ज्वर का ही नाम है, इसके विषय अथर्ववेद का कथन है कि ज्वर मनुष्यों को पीला बना देता है तथा आग के समान तीव्र गर्मी से लोगों को जला डालता है इसलिए उससे प्रार्थना की जाती है कि या तो वह गायब हो जाये अथवा यह मूजवत् बह्णिक तथा महावृष नामक सुदूर प्रान्तों में भाग जाये (2,25, 7, 8)। बलास रोग (क्षय) (6, 14), मण्डमाला (6, 83), यक्ष्मा (6, 85), जिसे दूर करने के लिए करुण नामक औषधि के सेवन का उपयोग, खाँसी (6, 105), दन्त-पीड़ा (6, 140) आदि रोगों तथा उनकी ओषधि का वर्णन बड़ी ही सुन्दरता से अथर्ववेद में किया गया है। सर्प विष को दूर करने के भी अनेक उपाय वर्णित है। सूत्र 5, 13 में असित तैमात् आलिगी, विलिगी उरूगूला आदि साँपों के नाम उल्लिखित है, जिन्हें लोकमान्य तिलक ने विदेशी प्रभावों का सूचक बललाया है।

(2) **आयुष्याणि सूक्तानि**— दीर्घ आयु के लिए प्रार्थना करने वालों का संबंध इस विभाग से है इन सूक्तों का विशेष प्रयोग पारिवारिक उत्सवों के अवसर पर होता था जैसे बालक का मुण्डन, युवक का गोदान (प्रथम क्षौरकर्म) तथा उपनयन संस्कार। इन सूक्तों में एकशत शरद् तथा एकशत हेमन्त तक जीवित रहने के लिए सौ प्रकार की मृत्युओं से बचने के लिए, प्रत्येक प्रकार के रोग से रक्षा के निमित्त प्रार्थनायें उपलब्ध होती हैं। अथर्व में आयु की दीर्घता के लिए हाथमें रक्षा सूत्र के धारण करने का विशेष विधान मिलता है। इस रक्षासूत्र के धारण करने से प्राणी को पूर्ण स्वास्थ्य तथा चिरजीवन की सद्य प्राप्ति होती है। 17वें काण्ड का एकमात्र सूत्र इसी के अन्तर्गत आता है।

(3) **पौष्टिकानि**— इस विभाग के अन्तर्गत घर बनाने के लिए हल जोतने के लिए, बीज बोने के लिए अनाज उत्पन्न करने के लिए, पुष्टि के लिए विदेश में व्यापार के लिए जानेवाले वणिक् के लिए, नाना प्रकार के आर्शीवाद की प्रार्थना की गई है इस विषय में सब से सुन्दर वृष्टि सूक्त (अथर्व 4,15) है जिसमें वृष्टि का बड़ा ही रमणीय, साहित्यिक वर्णन उपलब्ध होता है।

(4) **प्रायश्चित्तानि**— इन सूक्तों में प्रायश्चित्त का विधान पाया जाता है। प्रायश्चित्त का विषय है चारित्रिक त्रुटि या धार्मिक विराध तथा अन्य विधिहीन आचरण के कारण, ऋण का प्रतिशोध न करने के कारण, बड़े भाई के पूर्व, छोटे भाई के विवाह करने के कारण जो अपराध मानवों से होता है, उसे दूर करने के लिए यहाँ प्रायश्चित्तों का विधान है इनसे संबंध रखने वाले ऐसे उत्सव गीत तथा मन्त्र पाये जाते हैं, जिसके द्वारा शारीरिक दुर्बलता, मानसिक त्रुटि, दुःस्वप्न, अपशकुन, आदि वस्तुएँ निराकृत तथा दूरीकृत की जाती हैं। इस युग में अशुभ शकुनों में भी विश्वास या पक्षियों के उड़ने का स्वप्न, युग्म बालक के जन्म का स्वप्न, बालक का अशुभ नक्षत्र में जन्म। आज की भाँति उस युग में भी इन अपशकुनों के द्वारा मानव अपने कल्याण की भावना से भयभीत तथा त्रस्त होता था और उसे दूर करने के निमित्त अनेक उपयोगों को करता था जिनका यहाँ बहुत विवरण मिलता है।

(4) **स्त्रीकर्माणि**— विवाह तथा प्रेम से संबंध रखने वाले बहुत से सूक्त तत्कालीन समाज का चित्र प्रस्तुत करने के लिए विशेष सहायक हैं। इन सूक्तों में पुत्रोत्पत्ति के लिए तथा सद्योजात शिशु की रक्षा करने के लिए भव्य प्रार्थना की गई है। 14 वाँ काण्ड विशेषतः इसी प्रसंग से संबंधित है दूसरे प्रकार के मन्त्रों में अपनी सपत्नी को वश में करने के लिए तथा अपने पति के स्नेह का सम्पादन करने के लिए अनेक जादू-टोनों का वर्णन है। कौशिक सूत्र से पता चलता है किसी स्त्री के प्रेम सम्पादन के लिए किस प्रकार उसकी मिट्टी की मूर्ति बनायी जाती है, तथा वाण के द्वारा उसके हृदय को वेद्ध दिया जाता है, तथा उस समय अथर्ववेद (3, 25) के मन्त्रों का पाठ भी किया जाता है इसी प्रकार पति के वशीकरण के निमित्त स्त्री उसकी मूर्ति बनाकर गरम वाणों के सिरे से उसके मस्तक को बेधती है, साथ ही अथर्व वेद के 6, 130; 4, 6, 138 सूक्त के मन्त्रों का पाठ भी करती है। इन सूक्तों में देवताओं से पति को पागल बनाने की प्रार्थना है जिससे वह दिन-रात उसी के ध्यान में आसक्त रहे। हे मरुत! मेंरे पति को उन्मत्त बना दो। हे अन्तरिक्ष! तथा हे अग्नि! उसे पागल बना दो जिससे वह मेरा ही चिन्तन किया करे (66, 130, 4), यदि वह भागकर तीन या पाँच योजन भी अन्यत्र चला गया हो तो वह लौट आवे (6,131, 4) इन मन्त्रों तथा क्रियाओं को आभिचारिक नाम से पुकारते हैं, क्योंकि विशेषत मारण मोहन (वशीकरण) तथा उच्चाटन आदि फलों की सिद्धि के निमित्त ही इनका प्रयोग बहुत होता है।

(6) **राजकर्माणि**— राजाओं से संबंध बहुत से सूक्त अथर्व-वेद में पाये जाते है, जिनके अध्ययन से तत्कालीन राजनैतिक दशा का चित्र उपलब्ध होता है। शत्रुओं को परास्त करने की प्रार्थना के साथ-साथ संग्राम तथा तदुपयोगी साधनों, जैसे रथ, दुन्दुभि शंख आदि का विशेष विवरण सांग्रामिक दृष्टि से भी अथर्व वेद की महत्ता घोषित कर रहा है। अथर्ववेद और क्षत्रवेद नाम का यही कारण प्रतीत होता है। उस युग में प्रजा ही राजा का संवरण चुनाव करती थी। अथर्व 3, 4, सूक्त में मनुष्यों के साथ ही साथ अश्विन् मित्रवरुण, मरुत् तथा वरुण द्वारा भी राजा के संवरण करने का वर्णन किया गया है।

अन्य सूक्त (अर्थव 3, 3) से पता चलता है कि देश से निष्कासित राजा पुनः राज्य में बुलाया जाता था, तथा सम्मानपूर्वक प्रतिष्ठा पाता था। संग्राम के लिए वीरों के हृदय में उत्साह फूँकनेवाले नगाड़ों (दुन्दुभि) का वर्णन अत्यन्त साहित्यिक तथा वीर रस से पूर्ण है। पाँचवें काण्ड का दशमसूक्त कवित्व तथा मनोहर भावों के प्रदर्शन के कारण बड़ा ही रोचक सरस तथा अभिव्यंजनात्मक है। दुन्दुभि की गड़गड़ाहट सुनकर शत्रु की नारी का भयानक अस्त्रों के संघर्ष के बीच में अपने पुत्र को छाती से चिपकाकर भाग जाने की यह प्रार्थना संग्राम के प्रांगण में करुणाजनक दृश्य उपस्थित करती है। (अथर्व. 5, 20 5)

(7) **पृथिवी सूक्त**— भाषा तथा भाव की दृष्टि से नितान्त उदात्त तथा सरस यह सूक्त है। इस सूक्त में आथर्वण ऋषि ने 6,3 मन्त्रों में मातृरूपिणी भूमि की समग्र पार्थिव पदार्थो की जननी तथा पोषिक, के रूप में महिमा उद्घोषित की है, तथा प्रजा को समस्त बुराइयों क्लेशों तथा अनर्थो से बचाने तथा सुख सम्पत्ति की वृष्टि के लिए प्रार्थना की है।

इस सूक्त में मातृभूमि की बड़ी ही मनोरम कल्पना की गई है मातृभूमि एक सजीव रूप में हमारे सामने प्रस्तुत होती हैं। माता भूमि पुत्रोऽहंपृथिव्याः (12, 1, 12) अर्थात् मेरी माता भूमि है और मै मातृभूमि का पुत्र हूँ, बड़ी ही उदात्त भावना का प्रेरक मन्त्र है। इस भूमि के निर्माण तथा संरक्षण में देवताओं का सहयोग जागरूक रहा है। अश्विनों ने जिसे मापा, विष्णु ने अपने-अपने तीन पादप्रक्षेपों को रखा। शक्ति के स्वामी शचीपति इन्द्र ने जिसे अपने लाभ के लिए शत्रुओं से विरहित बनाया वह भूमि मुझे उसी प्रकार दूध दे जिस प्रकार माता अपने पुत्र को स्वतः अनुराग से दूध देती है। (मन्त्र 70) 'सा नो भूमिर्विसृजतां माता पुत्राय में पयः इस वाक्य में कितनी ममता भरी हुई है। पृथ्वी के ऊपर नाचने कूदने फाँदने तथा लड़ने -भिड़ने का कितना स्वाभाविक वर्णन यहाँ किया गया है। पृथ्वी का एकांकी रूप प्रस्तुत न होकर उसका सर्वांगीण रूप इस सूक्त में उपस्थित किया गया है। पृथ्वी के ऊपर नदी तथा पर्वत सदा लाभदायक बने, छहों ऋतुओं का आगमन प्रजा के कल्याण के निमित्त हो, समग्र प्रजा एक समष्टि के रूप में कल्याण के भाजन बनायी गई है। पृथ्वी से प्रार्थना है कि जितने सर्प-वृश्चिक, हिंसक तथा रोगवर्द्धक कीड़े वर्षा ऋतु में तुम पर चलें वे हमसे दूर भाग जायें तथा शिव कल्याण हमारे पास आवे (मन्त्र 45) इस प्रकार यह भूमिसूक्त अथर्ववेदीय युग की महनीय राष्ट्रीयता का सन्देशवाहक बनकर आज भी हमारे लिए उत्साह तथा उल्लास का सद्यः प्रेरक है। (12, 1)

(8) **ब्रह्मण्यानि**— इसमें जगत के परम तत्वभूत परमात्मा तथा परब्रह्म के स्वरूप और कार्य का विवेचन है इन आमुष्मिक ब्रह्मण्य सूत्रों के कारण ही अथर्ववेद ब्रह्मवेद के महनीय अभिधान से पुकारा जाता है। इन सूक्तों में अर्न्तदृष्टि से संवलित प्रतिभासम्पन्न ऋषियों के स्वानुभूत तत्वों का विवेचन इन्हें बहुमूल्य तथा दार्शनिक दृष्टि से विशेष उपादेय सिद्ध कर रहा है।

परमतत्व नाना अभिधानों तथा संज्ञाओं के द्वारा अभिहित किया गया है। वही 'काल' नाम से जगत् पृथ्वी तथा दिव का उत्पादक और नियन्ता हैं। काल समस्त प्रपंच का अधिष्ठाता है। उसमें केवल मन प्राण, तथा नाम ही समाहित नहीं है, किन्तु वह सब का ईश्वर तथा प्रजापति का भी पिता है। उसी के संकल्प पर यह जगत् उत्पन्न हुआ और उसी में प्रतिष्ठित है इस प्रकार काल से ही जगत् उत्पन्न हुआ और उसी में प्रतिष्ठित है। इस प्रकार काल ही जगत् का परमतत्व स्वीकृत किया गया है। (18, 53, 8)

त्रयोदश काण्ड के अनेक सूक्तों में जिस रोहित का वर्णन है वह भी सूर्य का सूर्यस्थ वीर्य का प्रतीक होने से जगत् सृष्टि समस्त व्यापारों का निर्वाहक है। सूर्य के घोड़े उसी रोहित को रथ पर चढ़ा कर चारों ओर ले जाते हैं। वही यज्ञका जनयिता अथ च समग्र विश्व का निर्माता है। उसी के अधिष्ठान के ऊपर यह विश्व खड़ा है तथा अपना जीवन यापन करता है। इस वर्णन से स्पष्टतः प्रतीत होता है कि रोहित ब्रह्म का ही प्रतीक है।

अन्य सूक्तों में गौ का वर्णन बड़ी मार्मिकता के साथ किया गया (10,10) तथा वशा गौ जगत् के समस्त पदार्थो की जननी के रूप में चित्रित की गई है। ब्राह्मणों के लिए दक्षिणा स्वरूप होने से ही गौ का महत्व वैदिक युग में नहीं था। किन्तु कृषक समाज के लिए सर्वस्व होने के कारण भी गौ का गौरव अतीव महान् था। इस सूक्त में वशा गौ जगत में सर्वश्रेष्ट तत्व के रूप में चित्रित की गई है। कोई वशा की अमृत रूप से और कोई मृत्युरूप से उपासना करते हैं, संसार में देव, मनुष्य, असुर, पितर, तथा ऋषिगण सब कुछ वशा ही हैं (अथर्व 10, 10, 26)। गौ के इस आध्यात्मिक महत्व को समझनेवाले व्यक्ति को ही यज्ञ में दान देने से वह सफल तथा कल्याणप्रद होता है (मं. 27)।

स्कम्भ (10, 7, 8) तथा उच्छिष्ट (प्रकारान्तर से परब्रह्म के ही नवीन अभिधान एवं स्वरूप प्रतीत होते हैं। जगत् के समस्त पदार्थों का आश्रय तथा अधिष्ठाता होने के कारण ही वह परमतत्व स्कम्भ (आधार) की संज्ञा से मंडित है। वह केवल विश्व का ही कारण नही: प्रत्युत ब्रह्म का भी कारण है और इसीलिए वह ज्येष्ठ ब्रह्म कहलाता है। जिसमें भूमि, अन्तरिक्ष तथा आकाश समाहित है। अग्नि, चन्द्रमा, सूर्य तथा वायु जिसमें अर्पित होकर रहते हैं। वही स्कम्भ है (10, 7, 12) वही आत्मा के साथ ऐक्य धारण करने वाला तत्व है। उच्छिष्ट शब्द का अर्थ होता है बचा हुआ शेष पदार्थ। दृश्य प्रपंच के निषेध करने पर जो वस्तु अवशिष्ट रहती है वही उच्छिष्ट है अर्थात् नेति नेति ब्रह्म जगत के समस्त पदार्थों की उत्पत्ति वेद तथा पुराण की उत्पत्ति (मन्त्र 24) प्राण, अपान, चक्षु, श्रोत्र आदि की उत्पत्ति (मन्त्र 24) उच्छिष्ट से ही हुई है (11,7, 23)।

व्रात्य— अथर्ववेद की शौनक शाखा की जो संहिता उपलब्ध है, तथा आजकल प्रचलित है उसका 15 वाँ काण्ड व्रात्यकाण्ड के नाम से पुकारा जाता है। क्योंकि इसमें व्रात्य का ही समग्रतया विवरण है। इस काण्ड में दो अनुवाद हैं जिसमें प्रथम अनुवाक में 7 सूक्त और दूसरे में 11 सूक्त हैं इस प्रकार इसमें 18 सूक्त हैं और प्रति सूक्त में अनेक गद्यात्मक मन्त्र हैं। पैपलाद शाखा की उपलब्ध अपूर्ण संहिता में 18वें कांड के 27वें सूक्त में व्रात्य विषयक केवल 6 मन्त्र मिलते हैं, शेष मन्त्र लुप्त हो गये हैं। विचारणीय प्रश्न है व्रात्य कौन है? साधारणतः व्रात्य उस मनुष्य को कहते है जिसका जन्म तो द्विजकुल में हुआ हो पर जिसका उपनयनादि संस्कार न हुआ हो। जान पड़ता है कि प्राचीन काल में आर्यो की कुछ अर्धसभ्य शाखाएँ थीं जो बस्तियों के बाहर रहती थीं और धीरे-धीरे वे आर्य समाज में मिल गई परन्तु उस आदिम काल में उनका रहन-सहन अन्य लोगों से भिन्न था। सम्भवतः वे वैदिक संस्कारों को नहीं मानती थीं। ताण्ड्य-ब्राह्मण (17,1) में इनकी वेश भूषा का बड़ा ही विस्तृत तथा सजीव वर्णन किया गया है, जिससे इनकी जातिगत विशिष्टता, आचार-व्यवहार और रहन सहन का रोचक चित्र हमारे नेत्रों के सामने झलक उठता है, परन्तु अथर्ववेदीय व्रात्यकाण्ड में निर्दिष्ट व्रात्य का तात्पर्य क्या है?

आचार-विचार से रहित तथा नियम की शृंखला में बद्ध न होने वाले व्यक्ति का द्योतक होने के कारण व्रात्य शब्द का लाक्षणिक अर्थ हुआ ब्रह्म, जो जगत् के नियमों की शृंखला में न बद्ध है और न जो कार्यकारण की भावना से ही ओत-प्रोत है इसी ब्रह्म के स्वरूप का तथा उससे उत्पन्न ऋष्टिक्रम का व्यवस्थित वर्णन इस काण्ड में विस्तार के साथ किया गया है।

व्रात्यो वा इद्म अग्र आसीत्-पैप्लाद शाखा के इस वाक्य से स्पष्ट है कि जगत् के आदि में व्रात्य ही केवल विद्यमान था। फलतः व्रात्य शब्द से ब्रह्म का ही यहाँ संकेत है। यह व्रात्य गतिमान होकर प्रजापति को प्रेरित करता है। यहाँ प्रजापति से तात्पर्य हिरण्यगर्भ से है "स प्रजापतिः सुवर्णमातान्यपश्यत् तत्प्राजनयत्।" यहाँ जीवों के शुभाशुभ कर्मो के संस्कार को सुवर्ण कहा गया है। जिस प्रकार सोने से नाना आकार वाले भूषणों की उत्पत्ति होती है, उसी प्रकार जीवों के संस्कार समूह से नाना रूप वाला जगत बनता है इन्हीं के आधार होने के कारण प्रजापति हिरण्यगर्भ के भी नाम से प्रख्यात है।

अथर्ववेद के दार्शनिक सूक्तों में निर्दिष्ट तत्व उपनिषदों की पूर्वपीठिका माने जा सकते हैं इन्हीं सूक्तों की महती व्याख्या उपनिषदों में की गयी है। अथर्ववेद का रचना काल ऋग्वेद की अपेक्षा अवान्तर कालीन प्रतीत होता है। अथर्ववेद की भाषा ऋग्वेद की संस्कृति से अर्वाचीन प्रतीत होती है शब्द भी इसी प्रकार है। अथर्व में चित्रित समाज ऋग्वेद के समाज से अवान्तर कालीन है। अथर्व के काल में आर्य दक्षिण-पूर्व की ओर बढ़ रहे थे। इसीलिए व्याघ्र उल्लेख है, राजा राज्याभिषेक समय व्याघ्रचर्म पर आसीन होता, जो उसकी राजकीय शक्ति का प्रतीक समझा जाता है। ऋग्वेद में चारों वर्णो का उल्लेख है परन्तु अथर्व में ब्राह्मण की शक्ति तथा गरिमा की गौरव-गाथा विशेष रूप से गाई है, अथर्ववेद में इन्द्र-अग्नि आदि ऋग्वेद देवों की अधिकता होने पर भी उनके स्वरूप और कार्यो में पर्याप्त पार्थक्य दृष्टिगोचर होता है। इन देवताओं का प्राकृतिक दृश्यों का प्रतीकात्मक रूप अब विस्मृतप्राय बन जाता है। अब वे केवल देवविशेष के रूप में ही उपस्थित होते हैं जिनका काम केवल राक्षसों का संहार, रोगों का विनाश और शत्रुओं का विध्वंसन है। अथर्व में बहुत से आध्यात्मवाद तथा सृष्टिवाद से संबंध सूक्त भी उसे पीछे की रचना सिद्ध कर रही है। इनका प्रयोग भी इन्द्रजाल के अवसर पर भूतों और पिशाचों को मनाने के उद्देश्य से किया जाता है। इन प्रमाणों पर दृष्टि डालने से स्पष्ट है कि अथर्व संहिता की रचना का समय ऋक संहिता के निर्माण काल से अवश्यमेव पीछे का है। वेद के लिए प्राचीन साहित्य में त्रयी शब्द का प्रयोग था अर्थात् ऋक यजुः और साम। अथर्ववेद को त्रयी में नहीं गिना गया इसका तात्पर्य है कि बहुत काल तक त्रयी के समान अथर्ववेद की मान्यता नहीं प्राप्त थी और यह मान्यता शनै-शनै अवान्तर शताब्दियों के प्रयास का फल है।

2. ब्राह्मण-ग्रन्थ

हिन्दुओं की धार्मिक व्यवस्था और आचार आदि के संबंध में जो नीति-नियम और विधि व्यवस्थायें हैं, उनका विस्तार से निरूपण करने वाले आदि ग्रन्थों में ब्राह्मण-ग्रन्थों का नाम प्रमुख है। प्राचीनता की दृष्टि से उनका स्थान वैदिक संहिताओं के बाद है, और मान्यता की दृष्टि से उनका स्थान वेदों के समकक्ष है। उनकी प्राचीनता और मान्यता का अनुमान इसी से लगाया जा सकता है कि स्वयं वेद-भाष्यकार ऋषियों ने मन्त्र-संहिताओं और ब्राह्मण ग्रन्थों, दोनों को वेद कहा है, क्योंकि दोनों

ही यज्ञ के प्रमाण रूप हैं, अथवा मंत्र और ब्राह्मण दोनों वेद हैं। इनके अतिरिक्त प्राय: सभी सूत्रों ग्रन्थों, मीमांसा वेदान्त और मनुस्मृति आदि में ब्राह्मण-ग्रन्थों की इस मान्यता का विस्तार से प्रतिपादन किया गया है। ब्राह्मण ग्रन्थों के संबंध में एक मत यह भी है कि वे अपनी पुष्टि के लिए वेदों को प्रमाणस्वरूप उद्धृत् करने के कारण किसी के द्वारा विरचित हैं।

किन्तु दूसरा मत सप्रमाण यह प्रतिपादित करता है कि ब्राह्मणों में जो वेदमन्त्रों के उद्धरण दिये गये है, वह इसलिए है कि वेदमन्त्रों के साथ अपने विचारों का सामंजस्य स्थापित हो। वेद के छ: अंगों-शिक्षा, कल्प, निरुक्त आदि के प्रतिपादक तथा आचार होने के कारण ब्राह्मण ग्रन्थ, वेदों ही के अंग है। अत: अंग (ब्राह्मण), अंगी (वेद) से भिन्न नहीं है।

मेदिनी कोश के अनुसार वेद भाग का सूचक 'ब्राह्मण' शब्द नपुंसक ही होता है— ''ब्राह्मण ब्रह्मसंधाते वेदभागे नपंसकम्।'' ग्रन्थ अर्थ में 'ब्राह्मण' शब्द का प्रयोग पाणिनीय अष्टाध्यायी (3, 4, 36), निरुक्त (4, 27) ब्राह्मण (शतपथ 4, 6, 9,20) ऐतरेय ब्राह्मण (6, 25, 8, 2) में ही उपलब्ध नहीं होता; प्रत्युत तैत्तिरीय संहिता में इसका सब से प्राचीन प्रयोग मिलता है ''एतद् ब्राह्मणानि एवं पंचहवीषि'' (तैत्तिरीय संहिता 3, 7,1, 1,1)। इसके भेद में मतभेद नहीं है। ब्रह्मण, ब्राह्मन् के व्याख्यापरक ग्रन्थों का नाम है। ब्रह्म शब्द स्वयं अनेक अर्थों में प्रयुक्त होता है। जिसमें इसका एक अर्थ है मन्त्र, वेद में निर्दिष्ट मन्त्र (शतपथ ब्राह्मण 7, 1, 1,5)। इस प्रकार मन्त्रों के व्याख्यान उपस्थित करने के कारण 'ब्राह्मण' का यह नामकरण है। 'ब्रह्म' शब्द का एक दूसरा अर्थ है— यज्ञ। विस्तार किये जाने के कारण 'ब्रह्म' तथा 'वितान' शब्द के द्वारा अभिहित किया जाता है। इस व्युत्पत्ति के अनुसार यज्ञ के कर्मकाण्ड की व्याख्या तथा विवरण प्रस्तुत करना ब्राह्मणों में मन्त्रों, कर्मों तथा विनियोगों की व्याख्या है। ब्राह्मणों की अन्तरंग परीक्षा करने पर यह स्पष्ट है कि ब्राह्मण ग्रन्थ, यज्ञों की वैज्ञानिक, अधिभौतिक तथा आध्यात्मिक मीमांसा प्रस्तुत करने वाला एक महनीय विश्वकोश है। संसार में किसी भी धार्मिक साहित्य में ब्राह्मण जैसे ग्रन्थों का नितान्त अभाव है, जिसमें कर्मकाण्ड का विशेषकर यज्ञ-यगादि के विधान का, इतना सांगोपाद तथा पूर्ण परिचय दिया हो। सच तो यह है कि यज्ञ भी विज्ञान है, जिसके प्रत्येक क्रिया-कलाप का अपना मूल्य है, और जिसका पूर्ण निर्वाह तथा समग्र फल इन विधानों के उचित अनुष्ठान पर ही आश्रित रहता है। यज्ञ के पूर्ण रूप का परिचायक यही ब्राह्मण ग्रन्थ है।

इसके अतिरिक्त एक परम्परा यह भी सिद्ध करती है कि यज्ञ-यागादियों का विधान करने वाले ब्राह्मण पुरोहितों के एकमात्र निजी ग्रन्थ होने के कारण उनको 'ब्राह्मण' कहा गया है। विद्वानों ने ब्राह्मण शब्द को 'जातिपरक' नहीं माना है। श्री वामन शिवराम आप्टे के संस्कृत-अंग्रेजी कोश में 'ब्राह्मण' का अर्थ है—'वेदों का वह भाग, जो विभिन्न वैदिक यज्ञों के लिए वेदमन्त्रों के प्रयोग के नियमों, उनकी उत्पत्ति एवं विवरणपूर्ण आस्था का कथन करता है, तथा जिसमें समय-समय पर सुविस्तृत दृष्टान्तों के रूप में परम्परागत कथाओं एवं कहानियों का समावेश रहता है, ब्राह्मण कहलाता है।'

ब्राह्मण-ग्रन्थों का विस्तार बहुत ही विशाल था। आश्वलायन गृह्यसूत्र (3, 3) में ऋषि तर्पण के साथ आचार्य-तपर्ण भी उपलब्ध होता है। आश्वलायन ने ऋषियों और आचार्यों में भेद किया है। ऋषि मन्त्र द्रष्टा हैं परन्तु आचार्य ब्राह्मणों के द्रष्टा हैं। ऐसे आचार्यों के तीन गण हैं— (1) माण्डूकेय गण (2)

शांखायन गण (3) आश्वलायन गण। इन आचार्यों के नाम ये है— कहोल, कौषीतक, महाकौषीतक, भरद्वाज, पैंगय, महापैंगय, सुयज्ञ, शांखायन, ऐतरेय, बाष्कल, शाकल, गार्ग्य, सुजातवक्र, औदवहि, सौजामि, शौनक, आश्वलायन। हम निश्चयपूर्वक नहीं कह सकते कि इन समस्त आचार्यो ने ब्राह्मण-ग्रन्थों का निर्माण किया है। परन्तु ऐतरेय तथा शांखायन तो निश्चय ही ब्राह्मण द्रष्टा थे।

ब्राह्मण तथा संहिता का विषय पार्थक्य— संहिता तथा ब्राह्मण के स्वरूप तथा विषय का पार्थक्य स्पष्ट है। संहिता का स्वरूप दोनों प्रकार का है। अधिकांश संहितायें छन्छोबद्ध हैं। उनके कतिपय अंश ही (कृष्णयजुर्वेदीय संहिता में तथा अथर्वसंहिता का स्वल्प अंश) गद्यात्मक हैं, परन्तु ब्राह्मण सर्वथा गद्यात्मक ही होता है। विवेच्य विषय में भी अन्तर है। ऋग्वेद मन्त्रों में देव स्तुतियों का प्राधान्य है, अथर्व-मन्त्रों में नाना प्रकार के ऐहिक तथा पारलौकिक फल देने वाले विषयों का विवेचन है। उसके सूक्त रोग निवारण, सुयोग्य पति का वरण, घर बनाने, हल जोतने, बीज बोने आदि गार्हस्थ्य सम्बन्धी कार्यों के लिए आर्शीवाद राजकीय विषयों-जैसे शत्रु को परास्त करना, संग्राम में सेना का संचालन तथा तदुपयोगी साधनों का विवरण आदि लौकिक विषयों का प्रतिपादन विस्तार से करते हैं। यजुर्वेद की संहिताओं में मुख्यतया दर्शपौर्णमास इष्टियों तथा अन्य यज्ञों का विस्तृत विवरण है।

ब्राह्मणों का विषय इनसे बिल्कुल भिन्न है। ब्राह्मणों का मुख्य विषय विधि है— यज्ञ का विधान कब किया जाये? कैसे किया जाये? उसमें किन साधनों की आवश्यकता होती है? उन यज्ञों के अधिकारी कौन होते हैं? इस प्रकार के यज्ञ की प्रक्रिया के विषय को सुलझाने कि लिए इस साहित्य का उदय तथा अभ्युदय हुआ। यज्ञ के विषय में यदि कुछ विरोध हुआ, तो उसका परिहार करना भी ब्राह्मण का उद्देश्य है। कहने का तात्पर्य है कि संहिता में स्तुति की प्रधानता है और ब्राह्मण में विधि का।

फलत: विधि ही ब्राह्मण ग्रन्थों का प्रधान विषय है और जितने भी अन्य विषय उपलब्ध हैं, वे सब अवान्तर होने से उसी के पोषक तथा निर्वाहक मात्र हैं। ऐसे विषयों का मीमांसक अभिधान 'अर्थवाद' है। अर्थवाद में निन्दा तथा प्रशंसा का निवेश रहता है, जिसमें यागनिषिद्ध वस्तुओं की निन्दा रहती है, तथा यागोपयोगी द्रव्यों की प्रशंसा रहती है। विधि-विधान केवल कल्पना मात्र की प्रसूति न होकर युक्ति तथा तर्क की आधारशिला पर खड़ा रहता है। अत: इनके लिए 'हेतु' या कारण का निर्देश करना भी ब्राह्मणों का कार्य है। स्थान-स्थान पर अनुष्ठेय वस्तुओं की पुष्टि के लिए ही अनेक प्राचीन इतिहास तथा आख्यान दिये गये हैं जो अनुष्ठानों की प्रशंसा कर उनके प्रति याज्ञिकों की संख्या बढ़ाने में समर्थ होते हैं। निर्वत्रन या निरुक्ति का उदय इन्हीं विधियों में शब्द विशेष की व्युत्पत्ति दिखलाने से होता है। निरुक्तिजन्य अर्थ से भी ब्राह्मण वाक्यों का समर्थन होता है। तात्पर्य यह है कि ब्राह्मणों में विधि ही वह केन्द्रविन्दु है, जिसके चारों ओर निरुक्ति, स्तुति, आख्यान तथा हेतु वचन आदि विविध विषय अपना आवर्तन पूरा किया करते हैं।

विषय-विवेचन

विधि का अर्थ है— यज्ञ तथा उसके अंगों-उपांगों के अनुष्ठान का उपदेश, ताण्डय ब्राह्मण (6, 7) अनेक विधियों में उपलब्ध होती है। उदाहरणार्थ 'बहिष्-पवमान' के लिए अध्वर्यु तथा उद्गाता आदि पाँच ऋत्विजों के प्रर्सपण का विधान किया गया है। साथ ही साथ दो नियमों का पालन करना भी

नितान्त आवश्यक होता है। ऋत्विजों को प्रसर्पण करते समय धीरे-धीरे पैर रखने का नियम है, तथा मौन रहने का विधान भी है। पाँचों ऋत्विजों में अध्वर्यु, प्रस्तोता, उद्गाता, प्रतिहर्ता तथा ब्रह्मा को एक दूसरे के पीछे इसी क्रम में पँक्ति कर चलने की व्यवस्था है। इस पँक्ति के टूट जाने पर अनेक हानि तथा अनर्थ की सम्भावना होती है। इस समय अध्वर्यु अपने हाथ में कुश लेकर चलता है।

शतपथ ब्राह्मण तो विधि-विधानों की एक विशाल राशि प्रस्तुत करता है। आरम्भ के ही काण्ड में दर्श और पौर्णमास इष्टियों के मुख्य या अवान्तर अनुष्ठानों का वर्णन यागक्रम से किया गया है तथा द्वितीय काण्ड में आधान तथा पुनराधान, अग्निहोत्र तथा उपस्थान, आग्रायण, तथा दाक्षायण यज्ञ का वर्णन बड़े विस्तार से किया गया है। विधि के साथ ही साथ हेतु का सयुक्तिक निर्देश भी दिया गया है। शतपथ के आरंभ की कंडिका में ही सहेतुक विधि का निर्देश भी उपलब्ध होता है। पौर्णमास इष्टि में दीक्षित होने वाला व्यक्ति आह्वनीय तथा गार्हपत्य अग्नियों के बीच पूर्व की ओर खड़ा होकर जल का स्पर्श करता है। जल मेध्य होता है, अर्थात् यज्ञ के लिए उपयोगी पदार्थ होता है। झूठ बोलने वाला व्यक्ति यज्ञ करने के लिए उपयुक्त नहीं होता। अत: जल के स्पर्श करने से वह पापों को दूर कर मेध्य बनता है, या जल पवित्र होता है।

विनियोग— ब्राह्मण-ग्रन्थों में यह बताया गया है कि किस मन्त्र का प्रयोग किस उद्देश्य की सिद्धि के लिए होता है। ताण्डय ब्राह्मण (6, 10, 4-5) के एक-दो उद्धरणों को लिया जा सकता है—

स न: पवश्च शं गवे (ऋग्वेद 9, 11, 3)ऋचा का गायन पशुओं की रोगनिवृत्ति के लिए किया जाता है। इस विनियोग के विषय विवेचन की आवश्यकता नहीं, क्योंकि वह बात तो मन्त्र के पदों से सिद्ध होती है। (ताण्ड्य 6, 9, 6-9) परन्तु आ नो मित्रावरुणा (ऋग्वेद 3, 62,16) मन्त्र के गायन का विनियोग दीर्घ रोगी की रोग निवृत्ति के लिए है, क्योंकि मित्रावरुण का संबंध प्राण और अपान से है। दिन के देवता होने से ही मित्र प्राण के प्रतिनिधि हैं; तथा रात्रि के देवता होने के कारण वरुण अपान के प्रतीक है। अत: दीर्घ रोगी के शरीर में मित्रावरुण के रहने की प्रार्थना अन्ततः प्राण तथा अपान के धारण करने के प्रकारान्त से संकेत है। अत: इस मन्त्र का पूर्वोक्त विनियोग अत्यन्त सयुक्तिक है।

हेतु— हेतु से अभिप्राय उन कारणों के निर्देश से है जिसे कर्मकांड की विशेष विधि के लिए उपयुक्त बतलाया गया है। ब्राह्मण ग्रन्थों में यज्ञ के विधि-विधान के निमित्त उचित तथा योग्य कारण का भी निर्देश विस्तार के साथ किया गया है। अग्निष्टोम याग में उद्गाता एदस् नामक मण्डप में औदुम्बर वृक्ष की शाखा का उच्छ्रयण करता है इस विधान के कारण का निर्देश करते हुए ताण्ड्य-ब्राह्मण (6, 4, 1) का कथन है कि प्रजापति ने देवताओं के लिए ऊर्ज का विभाग किया। उसी से उदुम्बर वृक्ष की उत्पत्ति हुई। इस प्रकार उदुम्बर वृक्ष का देवता प्रजापति है। उद्गाता का भी संबंध प्रजापति से है। इसीलिए उद्गाता उदुम्बर शाखा के उच्छ्रयण का कार्य अपने प्रथम कर्म से करता है। साथ ही इस अवसर पर प्रयुक्त होने वाले उच्छ्रयण मन्त्र की भी व्याख्या की गई है। इसी प्रकार द्रोणकलश में सोम रस चुलाकर अग्निष्टोम में रखने की व्यवस्था है। यह द्रोण कलश रथ के नीचे रखा जाता है। इस विधान के कारण का पूर्ण निर्देश ताण्ड्य ब्राह्मण (6, 5) में मिलता है। प्रजापति ने कामना की कि मैं नाना प्रजाओं की सृष्टि करूँगा, इस प्रकार विचार करते ही उनके मस्तक से आदित्य की सृष्टि हुई। उन्होंने प्रजापति के

सिर को काट डाला। उसी से द्रोण कलश की सृष्टि हुई। उसी द्रोण में चमकने वाले सोम रस को देवताओं ने ग्रहण कर दीर्घ आयु प्राप्त किया।'' 'बहिष्यवमान' स्तोत्र में पाँचों ऋत्विजों के आगे चलने वाला अध्वर्यु अपने हाथ में दर्भ की मुष्टि (प्रस्तर) लेकर चलता है। इसके लिए ताण्ड्य ब्राह्मण (6, 7, 16-20) में अवश्यक रूप धारण कर यज्ञ के भागने तथा दर्भ की मुष्टि दिखला कर उसे लौटा लाने का आख्यान हेतुरूप से उपस्थित किया गया है।

अर्थवाद— यज्ञ में निषिद्ध पदार्थों की निन्दा-ब्राह्मण-ग्रन्थों में अनेक स्थलों पर पाई जाती है। यज्ञ में मास (उड़द) का विधान निषिद्ध है। इसीलिए इसकी निन्दा इस वाक्य में की गई—'अमेध्या वै माषा (तै. संहिता 5, 1, ,7, 1)। अनुष्ठानों, हवनीय हव्यों तथा देवताओं की भूयसी प्रशंसा से ब्राह्मणों का कलेवर बढ़ा है। अग्निष्टोम याग की विशेष प्रशंसा ताण्ड्य (6, 3) में पाई जाती है। सब कामों के लिए उपादेय होने के कारण यही वास्तविक यज्ञ कहा गया है। यज्ञों में अधिक महत्वशाली होने से यही ज्येष्ठ यज्ञ की संज्ञा से मंडित किया जाता है (ताण्ड्य ब्राह्मण 6, 3, 8, 5) अर्थवाद का उपयोग विधि की आस्थापूर्वक पुष्टि के लिए होता है और इन अर्थवाद प्रशंसावचनों से ब्राह्मण-ग्रन्थ आंदि से अन्त तक भरे पड़े हुए हैं।

निरुक्ति— ब्राह्मण-ग्रन्थों में शब्दों के निर्वचन (व्युत्पति) का भी स्थान-स्थान पर निर्देश किया गया है। निरुक्त में जिन शब्दों की व्युत्पत्तियाँ दी गई हैं, उनका मूल इन्हीं ब्राह्मण-ग्रन्थों में उपलब्ध होता है। वे निर्वचन काल्पनिक नहीं हैं, किन्तु भाषा विज्ञान की दृष्टि से इनकी वैज्ञानिकता है। ऐसी निरुक्ति स्वयं संहिता भाग में भी उपलब्ध होती है, जिसका आश्रय लेकर ब्राह्मण-ग्रन्थों की व्युत्पत्तियाँ हुई। 'दधि' तथा 'उदक' शब्द की व्याख्या संहिता ग्रन्थों में इस प्रकार है—'तद्दध्नो दधित्वम्' (तैत्तिरीय संहिता 2, 5, 3, 3) ''उदानिषुर्महीरिति तस्मादुदकमुच्यते'' (अथर्व 3, 13, 1)। शतपथ-ब्राह्मण तथा ताण्ड्य-महाब्राह्मण ऐसी महत्त्वपूर्ण तथा उपादेय निरुक्तियों के भण्डार हैं। नाना प्रकार के स्तोत्र तथा साम के नामों की सुन्दर निरुक्ति ताण्ड्य-ब्राह्मण में उपलब्ध होती है। आज्य स्तोत्र की व्याख्या 'अजि' शब्द से बतला कर सुन्दर आख्यान का भी उपक्रम किया गया मिलता है—''यदाजिमायन् तदाऽऽज्यानाम् आज्यत्वम् (ताण्ड्य 7, 21)। रथन्तर की निरुक्ति इस प्रकार है-रथं मया क्षेप्लाऽतारीत् इति तद् रथन्तरस्य रथन्तर त्वम् (ताण्ड्य 7, 6, 4)।

इसका आशय है कि रथन्तर साम के अनन्तर 'वृहत्' नामक साम की उत्पत्ति हुई। प्रजापति के मन में यह साम वृहत्काल तक निवास करता था, इसीलिए इस साम का यह विशिष्ट नामकरण है।

आख्यान— विधि-विधानों के स्वरूप की व्याख्या ही इन आख्यानों की जननी है। आख्यान दो प्रकार के है— स्वल्पकाय तथा दीर्घकाय। स्वल्पकाय आख्यानों में उन कथाओं की गणना है, जो सद्यः विधि की सयुक्तिकता प्रदर्शित करने के लिए उल्लिखित हैं। ये आख्यान किंचित् भेद से अनेक ब्राह्मणों में उपलब्ध होते हैं। उदाहरण-वाक् ने देवों का परित्याग कर जल और अनतर वनस्पति में प्रवेश किया (ताण्ड्य 6, 5, 10-12); स्वर्भानु असुर का आदित्य पर आक्रमण तथा अत्रि द्वारा उस अन्धकार का विघटन (ताण्ड्य 6, 6, 8); यज्ञ का अश्वरूप में देवताओं से अपाक्रमण तथा दुर्भमुष्टि के द्वारा उसका प्रत्यावर्तन (ताण्ड्य 6, 7, 18); अग्निमन्थन के समय घोड़े को आगे रखने का प्राचीन इतिहास (शतपथ

ब्राह्मण 1, 6, 4, 15); असुरों तथा देवों के बीच नाना संग्राम (शतपथ ब्राह्मण 2, 1, 6, 6, 8-18; ऐतरेय ब्राह्मण 1, 4, 23; 6, 2, 1)।

इन छोटे आख्यानों में कभी-कभी बड़ी गंभीर तात्विक बातों के भी संकेत मिलते हैं, जो ब्राह्मणों के कर्मकांडात्मक वर्णन से भिन्न होते हैं। प्रजापति की प्रार्थना उपांसु रूप से करने के निमित्त शतपथ ने जिस कथानक का उपक्रम किया है वह बहुत ही रहस्यमय है। श्रेष्ठता पाने के लिए मन और वाक् में कलह उत्पन्न हुआ। मन का कहना था कि मेरे द्वारा अनगिनत बात वाणी नहीं बोलती। मेरा अनुकरण करती हुई मेरे पीछे चलती है। वाणी का कथन था कि जो तुम जानते हो; उसका विज्ञापन मैं ही करती हूँ। मन के द्वारा ज्ञान का चिन्तित तथ्यों का प्रकटीकरण वाणी करती है। अतः मैं ही श्रेष्ठ हूँ। दोनों प्रजापति के पास गये। उन्होंने अपना निर्णय मन के पक्ष में दिया। फलतः वाणी की अपेक्षा मन श्रेष्ठ माना जाता है। इस कथानक के भीतर मनौवैज्ञानिक तथ्य का संकेत है (शतपथ ब्राह्मण, 1, 4, 5, 8-12)

सृष्टि के विषय में भी अनेक आख्यान ब्राह्मण ग्रन्थों में उपलब्ध होते हैं। पुरुष के द्वारा चारों वर्णो की उत्पत्ति का उल्लेख तो पुरुषसूक्त में ही उपलब्ध है। ब्राह्मणों में भी इस प्रसंग का सुन्दर वर्णन मिलता है। ताण्ड्यब्राह्मण (6, 1) प्रजापति के अंग विशेष से वर्णो की तथा तत् तत् देवताओं की उत्पत्ति बतलाया है, जिसमें शूद्रवर्ण को यज्ञाधिकार से वंचित होने की भी सुन्दर उपपत्ति प्रस्तुत की गई है। प्रजापति के मुख से ब्राह्मण तथा अग्नि की, बाहु से क्षत्रिय तथा इन्द्र की, मध्यदेश से वैश्य तथा विश्वेदेवा की तथा पैरों से केवल शूद्र का कल्याण होता है, यज्ञ करने से नहीं, क्योंकि उसके साथ किसी देवता की उत्पत्ति ही नहीं हुई थी (ताण्ड्य. 6, 1, 11)।

किन्हीं आख्यानों में साहित्यिक सौन्दर्य तथा कल्पना की सुन्दर अभिव्यंजना मिलती है। रजनी के उदय के विषय में एक सुन्दर आख्यान मैत्रायणी संहिता (1, 5, 12) में मिलता है, जिससे प्रतीत होता है कि रात्रि की उत्पत्ति यमी के विषाद को भुला देने के लिए की गई है। यम के परलोक चले जाने पर यमी उसके वियोग से दुखित होकर विलाप करती थी। उस समय दिन का ही राज्य था। दिन में उसकी स्मृति भूलती न थी। प्रजापति ने दयावश रात्रि को जन्म दिया। अन्धकार से जगत् व्याप्त हो गया। तभी यमी, यम को भूल सकी। पर्वतों के पक्ष सम्पन्न होने तथा इन्द्र के द्वारा उनके पक्षच्छेदन की कथा भी इसी संहिता (1, 10,12) में उपलब्ध होती है। वृहत्काय आख्यानों में पुरूरवा तथा उर्वशी का आख्यान (शतपथ ब्राह्मण 11, 5, 1), प्राचीन जलौघ का इतिहास (शतपथ ब्राह्मण 1, 8, 1), तथा शुनः शेप का आख्यान (ऐतेरय ब्राह्मण 7, 2) मुख्य हैं। इनमें से अनेक आख्यानों के बीज संहिताओं में ही अन्तर्निविष्ट हैं, जिन्हें ग्रहण कर ब्राह्मणों तथा पुराणों ने अपनी पद्धति के अनुरूप उनका पल्लवन किया है। पुरूरवा तथा उर्वशी का वर्णन तो ऋग्वेद के विख्यात सूक्त (ऋग्वेद 10, 65) में है, जिसमें दोनों में परस्परोपकथन-विषयक मन्त्र दिये गये है। शतपथ में यही आख्यान विस्तार के साथ दिया गया है, यथा पुरूरवा एवं उर्वशी का प्रेम आदर्शकोटि तक पहुँचा हुआ प्रदर्शित किया गया है। प्राचीन जलप्लावन की कथा भारतेतर साहित्य में भी उपलब्ध होती है। विषम जलप्लावन से एक वर्धिष्णु मत्स्य ने मनु को कैसे बचाया तथा किस प्रकार मनु ने प्लावन के बाद मानवी मूर्ति का पुनः आरभ किया-यह कथा मत्स्यावतार से संबंध रखती है, तथा पुराणों में विस्तार से वर्णित है (दे. भागवत स्कन्ध 8, 24)। शुनः शेप की कथा का संकेत ऋग्वेदीय सूक्तों में (1, 24-30) उपलब्ध होता है और इसी का सुन्दर विन्यास

ऐतरेय ब्राह्मण का वैशिष्ट्य है। ब्राह्मण-ग्रन्थों को सरस, रोचक तथा आकर्षक बनाने का बहुत कुछ श्रेय इन्हीं आख्यानों को जाता है।

ब्राह्मणों का समय— शतपथ-ब्राह्मण का रचनाकाल दीक्षित के अनुसार तीन सहस्र ई. पू. है तथा ब्राह्मण युग तीन सहस्र ई. पू. से लेकर दो सहस्र ई. पूर्व' मानना चाहिये। प्राचीनतम होने के कारण शतपथ इस काल के आदि में और अर्वाचीन होने से गोपथ इसके अन्त में आया है।

उपलब्ध ब्राह्मणों की संख्या वेदानुसार इस प्रकार है—

ऋग्वेद— 1. ऐतरेय ब्राह्मण 2. शांखायन ब्राह्मण

शुक्लयजुर्वेद — 3. शतपथ-ब्राह्मण

कृष्णयजुर्वेद — 4. तैत्तिरीय-ब्राह्मण

सामवेद— 5. ताण्ड्य 6. षड्विंश 7. सामविधान 8. आर्षेय 9. दैवत 10. उपनिषद्-ब्राह्मण 11. संहितोपनिषद् 12. वंशब्राह्मण 13. जैमिनीय ब्राह्मण

अथर्ववेद— 14 गोपथ-ब्राह्मण

विशेष परिचय

1. ऐतरेय ब्रह्मण— इसके रचयिता महिदास ऐतरेय माने जाते हैं। यह ग्रन्थ ऋग्वेदीय ब्राह्मणों में सर्वप्रथम उल्लेखनीय है। इस ब्राह्मण ग्रन्थ में 40 अध्याय 8 पंचिका तथा 285 कंडिकायें हैं। ऋग्वेद से संबंध यह ब्राह्मण यज्ञ में होतृ नामक ऋत्विज् के विशिष्ट कार्य-कलापों का विशेष विवरण प्रस्तुत करता है। प्रथम तथा द्वितीय पंचिका में 'अग्निष्टोम' याग में होतृ के विधि-विधानों तथा कर्तव्यों का विस्तृत वर्णन है। यही 'अग्निष्टोम' समस्त सोमयागों की प्रकृति है इसलिए इसका विशेष विवरण यहाँ प्रस्तुत किया गया है, तृतीय, चतुर्थ पंचिका में प्रातः सवन, माध्यन्दिन सवन तथा सायं सवन के समय प्रयुज्यमान शस्त्रों का वर्णन मिलता है। साथ ही साथ अग्निष्टोम की विकृतियों -उक्थ, अतिरात्र तथा षोडशी नामक यागों का भी संक्षिप्त विवेचन है। पंचम में द्वादशाह योगों का तथा षष्ठ में कई सप्ताहों तक चलने वाले सोमयागों में होता तथा उसके सहायक ऋत्विजों के कार्यों का विवेचन पर्याप्त रूप मे मिया गया है। सप्तम में राजसूय का वर्णन है। तथा इसी प्रसंग में शुनः शेप का प्रख्यात आख्यान भी विस्तार के साथ दिया गया है। अष्टम पंचिका ऐतिहासिक दृष्टि से महत्वशाली है, क्योंकि प्रथमतः इसमें ऐन्द्र महाभिषेक' का तथा तदनतर उसी के आधार पर चक्रवर्ती नरेशों के महाभिषेक का बड़ा ही रोचक वर्णन प्रस्तुत किया गया है। अन्तिम अध्याय में पुरोहित के धार्मिक तथा राजनीतिक महत्व का प्रतिपादन नितान्त उपादेय है। इस प्रकार ऐतरेय ब्राह्मण सोमयाग के नाना प्रकारों के स्वरूप तथा इतिहास बतलाने में विशेष गौरव रखता है।

2. **शांखायन ब्राह्मण**— ऋग्वेद का यह दूसरा ब्राह्मण 30 अध्यायों में विभक्त है। प्रत्येक अध्याय में खण्ड है जो 5 से लेकर 17 तक है। संपूर्ण खंडों की संख्या 226 है। खंडों के भीतर लम्बे-लम्बे

गद्य हैं। इसमें कौषीतकि नामक आचार्य का उल्लेख पैम्य आचार्य के विरोध में किया गया है। तथा कौषीतकि का मत यथार्थ ठहराया गया है (8, 9, 26, 3) कौषीतकि के मत का निर्देश अन्य स्थलों पर भी है (11, 5, 25, 15)

विषय दृष्टि से यह ऐतरेय का ही अनुगामी है, इसमें आरंभिक तीस अध्यायों का विषय वहाँ प्राय: समानता के साथ किया गया है। इसके अनुशीलन से अनेक महनीय बातों का परिचय मिलता है–

1. उदीच्य लोगों का संस्कृत ज्ञान प्रशंसनीय माना गया है। उस समय के लोग भाषा सीखने के लिए उदीच्य प्रान्त में जाते थे और देश में लौटने पर ये आदर पाते थे (8, 6)। पाणिनि भी उदीच्य थे, क्योंकि उनका जन्मस्थान शालापुर तक्षशिला के ही पास था। इस घटना से पाणिनि का भाषा ज्ञान विशेष श्लाघनीय प्रतीत होता है।
2. रुद्र की विशेष महिमा का वर्णन है। वह देवों में श्रेष्ठ तथा ज्येष्ठ माना गया है (25, 13) अध्याय 6 में शिव के भव, शिव, पशुपति, उग्र, महादेव रुद्र, ईशान तथा अशनि नाम दिये जाते है; तथा इन नामों की उत्पत्ति विचित्र रूप से बतलाई गई है साथ ही उनके विशिष्ट व्रत का भी यहाँ निर्देश किया गया है।
3. सप्तम अध्याय में अग्नि बिल्कुल निम्न कोटि के तथा विष्णु उच्च कोटि के देवता माने गये हैं।
4. यज्ञ से हिंसित पशुओं के विषय में कहा गया है कि वे दूसरे लोक में जाकर यज्ञ करने वाले को खाते हैं जिससे स्पष्ट है कि पशु याग तथा मांस भक्षण के प्रति लोगों में घृणा की भावना जाग रही थी। (22, 13)
5. अध्याय 23, 2 में शक्वरी (छन्द) के नाम की ऐतिहासिक निरुक्ति है इन छन्दों के द्वारा इन्द्र, वृत्र को मारने में समर्थ हुआ, यही तो शक्वरी का शक्वरीत्व है। महानाम्नी साम औरा शक्वरी ऋचायें है और यह मुख्यतया इन्द्र के प्रति कहा गया है।
6. गोत्र का प्रचलन तथा प्रभाव दृढ़ हो गया था, क्योंकि एक स्थान पर ब्राह्मण से कहा गया है कि वह अपने ही गोत्र वाले ब्राह्मण, क्षत्रिय तथा वैश्य के साथ निवास करे? अन्य गोत्रीय के साथ नहीं (25 15)

(ग) **यजुर्वेदीय ब्राह्मण–शतपथ–ब्राह्मण**— ब्राह्मण-ग्रन्थों में सब से अधिक महत्वशाली विपुलकाय तथा यागानुष्ठान का सर्वोत्तम प्रतिपादिक ग्रन्थ यही शतपथ–ब्राह्मण है। शुक्ल यजुर्वेद की उभयशाखाओं माध्यन्दिन तथा काण्व शाखाओं में यह उपलब्ध होता है। विषय की एकता होने पर भी उसके वर्णनक्रम तथा अध्यायों की संख्या में यहाँ अन्तर पड़ता है। माध्यन्दिन शतपथ में काण्डों की संख्या में यहाँ अन्तर पड़ता है। माध्यन्दिन शतपथ में काण्ड़ों की संख्या 14, अध्यायों की पूरी एक सौ, प्रपाठकों की 68, ब्राह्मणों की 368 तथा कण्डिकाओं की 7624 है। काण्व ब्राह्मण में प्रपाठक नामक उपखण्ड का अभाव है तथा काण्डों की संख्या 17, अध्यायों की 104, ब्राह्मणों की 435 तथा कंडिकाओं की 6806 है। माध्यन्दिन शतपथ में प्रथम काण्ड से आरंभ कर नव काण्ड तक पिण्डपितृ यज्ञ को छोड़कर विषयों

का क्रम माध्यन्दिन संहिता के अनुसार है। पिंडपितृ यज्ञ का वर्णन संहिता में दर्शपौर्णमास के अनन्तर है, परन्तु ब्राह्मण में आधान के अनन्तर है, यही अन्तर है। अवशिष्ट कांडों में भी संहिता का ही क्रम अंगीकृत किया गया है। दोनों शतपथों के आरंभ में ही एक अन्तर दृष्टिगोचर होता है। माध्यन्दिन शतपथ के प्रथम काण्ड का विषय (दर्शपूर्णमासेष्टि) काण्व के द्वितीय काण्ड में है, और द्वितीय काण्ड का विषय (आधान, अग्निहोत्र आदि) काण्व के प्रथम काण्ड में ही समाविष्ट है। अन्यत्र विषय उतने ही हैं, परन्तु उनका क्रम दोनों में भिन्न-भिन्न है।

माध्यन्दिन शतपथ के प्रथम काण्ड में दर्शपूर्णमास इष्टियों का तथा द्वितीय काण्ड में आधन, अग्निहोत्र, पिण्डपितृयज्ञ, आग्रायण और चातुर्मास्य का वर्ण है। सोमयाग के नाना योगों के विवरण से संबंध तृतीय और चतुर्थ काण्ड हैं। पंचम काण्ड में वाजपेय यज्ञ तथा राजसूर्य याग का विवेचन है। काण्ड 6 से लेकर काण्ड 10 तक उषासम्भरण, विष्णुक्रम, वनीवाहनक्रम (6 काण्ड), चयन का सम्पूर्ण वर्णन (7 तथा 8 काण्ड), शतरूद्रिय होम (9 काण्ड) तथा चित्तसम्पत्ति तथा उपनिषद् रूप से अग्नि की उपासना आदि का वर्णन (10 काण्ड) किया गया है। प्रथम काण्ड-पंचम में याज्ञवल्क्य का जो चतुदर्श काण्ड में समस्त शतपथ के कर्ता माने गये है प्रमाण्य है, परन्तु द्वितीय काण्ड पंचम (6 काण्ड -10 कांड) में याज्ञवल्क्य का नाम न होकर शाण्डिल्य ऋषि का ही प्रामाण्य निर्दिष्ट है। ये ही शाण्डिल्य दशम काण्ड में वर्णित 'अग्नि रहस्य' के प्रवक्ता बतलाये गये हैं। अन्तिम काण्ड चतुष्टय (11-14 काण्ड) में अनेक नवीन विषयों का विवेचन उपलब्ध होता है, साधारण नीति से ब्राह्मणों में संकेतित नहीं होते। ऐसे विषयों में कुछ महत्वशाली विषय ये हैं-उपनयन (11, 5, 4) स्वाध्याय जो ब्रह्मयज्ञ के रूप में स्वीकृत किया गया है (11, 5, 6-8), और्ध्वदेहिक क्रियाओं का अनुष्ठान (13, 8) अश्वमेध, पुरुषमेध तथा सर्वमेध का विशुद्ध विवेचन 13 वें काण्ड में तथा प्रवर्ग्य याग का वर्णन 14वें काण्ड में किया गया है। शतपथ के अन्त में बृहदायरण्यक उपनिषद् है।

शतपथ का विषय-विवेचन— शतपथ ब्राह्मण विभिन्न यज्ञ-यागों का बड़ा ही सांगोपांग तथा पूर्ण विवरण प्रस्तुत करता है, जो अन्य ब्राह्मणों में या तो दुर्लभ है, या मात्रा में बहुत ही न्यून है। यज्ञ का आरंभ वैदिक युग के आरंभ काल से है। पहले यज्ञ का विधान संक्षेप में होता था, परतु कालान्तर में यह यज्ञ संस्था बहुत ही विस्तृत बन गई।

शतपथ-ब्राह्मण का संबंध शुक्ल यजुर्वेद से (अर्थात् वाजसनेयी संहिता) है। इसलिए संहिता में निर्दिष्ट इष्टि और याग उसी क्रम से यहाँ भी उल्लिखित हैं। शतपथ के प्रथम नौ काण्डों में वाजसनेयी संहिता के प्रथम 18 अध्यायों की क्रमबद्ध व्याख्या है, जिसमें ब्राह्मणोचित आख्यायिकाओं का भी यथा स्थान निवेश यज्ञ के शुष्क वर्णनों को सजीव तथा रोचक बना देता है। इष्टियों में दर्शपूर्णमास प्रधान तथा प्रकृति माने जाते हैं। दर्श दृष्टि प्रत्येक अमावस्था के अनन्तर प्रतिपद में सम्पन्न होती है और पूर्णमास दृष्टि पूर्णिमा के दूसरे दिन होने वाली प्रतिपदा में इनके प्राधान्य के कारण इनका सांगोपांग विवरण शतपथ के प्रथम काण्ड में दिया गया है। इन दृष्टियों के उपयुक्त मन्त्रों का निर्देश संहिता के प्रथम अध्याय की पंचम कण्डिका से लेकर द्वितीय अध्याय की 28वीं कण्डिका तक किया गया है। द्वितीय काण्ड में अग्निहोत्र का वर्णन प्रथमतः है। प्रत्येक आर्यगृहस्थ के लिए अग्नि का आधान करके उसमें प्रातः और

सायं हवन करने की विधि है। इसी का नाम 'अग्निहोत्र' है। 'पिण्डपितृ-यज्ञ पितरों की तृप्ति के उद्देश्य से किया गया है। 'नवान्नेष्टि' में अगहन के महीने में अन्न के उत्पन्न होने पर उसी से हवन का विधान है। 'चातुर्मास्य' भी एक विशिष्ट याग है। पूर्वोक्त चारों यागों का विवरण शतपथ के द्वितीय काण्ड में प्रस्तुत है।

तृतीय और चतुर्थ काण्ड का विषय सोमयाग है। सोमयाग में सोमलता को कूटकर उसका रस निकालते हैं और उसमें गाय का दूध तथा मधु मिलाकर उचित समय पर देवता के निमित्त आग में हवन करते हैं। सोमयाग का प्रकृतिभूत भाग 'अग्निष्टोम' कहलाता है, इसके उपयोगी मन्त्रों का संकलन वाजसनेय संहिता के चौथे अध्याय से आरंभ कर 8 वें अध्याय की 32 वीं कण्डिका तक किया गया है। प्रकृति याग होने के कारण 'अग्निष्टोम' का वर्णन तृतीय काण्ड में तथा इसकी विकृति होने वाले ज्योतिष्टोम आदि इतर सोमयागों का वर्णन चतुर्थ काण्ड में दिया गया है। पंचम काण्ड में वाजपेय तथा राजसूय का विस्तृत वर्णन है। राजसूय याग का अधिकारी मूर्धाभिषिक्त क्षत्रिय नरेश ही होता था। अभिषेक प्राचीन भारत में राजनैतिक आधिपत्य का सूचक एक महत् व्यापार था। अभिषिक्त राजन्य राजसूय जैसे लम्बे याज्ञिक अनुष्ठान का सम्पादक होता था। षष्ठ काण्ड से लेकर दशम काण्ड तक 'अग्निचयन' का विशिष्ट और विस्तृत विवरण है। शतपथ के अन्तिम चार काण्डों की विषय योजना मूल संहिता के आधार पर है। 99 वें काण्ड में पशुबन्ध, पंचमहायज्ञ तथा दर्श-पूर्णमास के अवशिष्ट विधानों का वर्णन है। भूतयज्ञ, मनुष्ययज्ञ पितृयज्ञ, देवयज्ञ और ब्राह्मयज्ञ— ये प्रख्यात यज्ञ 'महायज्ञ' के रूप मे यहाँ वर्णित हैं (11, 5, 6)। स्वाध्याय वेद का अध्ययन-ब्राह्मयज्ञ का ही रूपान्तर है, जिसकी यहाँ (11, 5, 6) अत्यंत प्रशंसा की गई है। ऋक् का अध्ययन देवों के लिए पय आहुति, यजुष की आज्याहुति, साम का सोमाहुति, अथर्वांगिरस का भेद— आहुति तथा अनुशासन (वेदांग) विद्या वाकोवाक्य, इतिहास-पुराण और नाराशंसी गाथाओं का अध्ययन देवों के लिए मधु की आहुति है और इसलिए शतपथ का वेद तथा वेदांग के अनुशीलन के लिए बड़ा ही बलवान् आग्रह है। अनेक प्रमाणों से 'स्वाध्यायोध्येतव्यः' का समर्थन इस काण्ड का महिमामय सिद्धान्त है। द्वादश काण्ड में द्वादश सत्र, संवत्सर सत्र, सौत्रामणी और और्ध्वदेहिक अनुष्ठान का विस्तृत वर्णन है। जो यज्ञ आरंभ के दिन से लेकर लगातार बारह दिनों तक चलते हैं, उन्हें ''क्रतु'' कहते हैं। बारह दिनों से अधिक दिनों (6 मास या कई सालों) तक चलने वाले यज्ञों को 'सत्र' कहते हैं। द्वादश सत्र और संवत्सर सत्र (वर्ष भर तक चलने वाला यज्ञ)के बाद सौत्रामणी नामक प्रख्यात याग का विवरण कुछ विस्तार के साथ किया गया है (12, 7, 1)। इस याग के आध्यात्मिक रूप का भी वर्णन बड़ा मार्मिक है (12, 7, 1)।

13वें काण्ड में अश्वमेध, पुरुषमेध, सर्वमेध तथा पितृमेध का विवरण है। मूर्धाभिसिक्त राजन्य को ही 'अश्वमेध' करने का अधिकार था। अश्वमेध अनेक दिनों में व्याप्त होने वाला याज्ञिक विधान था, जिसमें यज्ञीय अश्व के हवन का विधान है। 14वें काण्ड में 'प्रवर्ग्य'' का वर्णन है। अन्तिम पाँच अध्यायों में (चौथे अध्याय से लेकर 8 वें अध्याय तक) बृहदारण्यक उपनिषद् निबद्ध है। इस प्रकार यज्ञ के नाना प्रकारों का विस्तृत प्रांजल तथा प्रामाणिक विवरण देने में शतपथ ब्राह्मण अद्वितीय है।

(घ) **तैत्तिरीय ब्राह्मण**— तैत्तिरीय ब्राह्मण कृष्ण यजुर्वेदीय शाखा का एकमात्र उपलब्ध ब्राह्मण

है। इस ब्राह्मण का पाठ स्वरों से युक्त मिलता है, जिस प्रकार शतपथ ब्राह्मण का। अतः यह अत्यन्त प्राचीन प्रतीत होता है। परिणाम में भी यह न्यून नही है। यह तीन भागों में विभक्त है, जिन्हें 'काण्ड' कहते हैं। पीछे ये ऋग्वेदीय विभाग के समान 'अष्टक' के नाम से भी प्रसिद्ध हुए। प्रथम तथा द्वितीय काण्ड में आठ अध्याय (मूल नाम प्रपाठक) है, तृतीय काण्ड में 12 अध्याय जिनके अवान्तर खण्ड 'अनुवाक्' नाम से प्रसिद्ध हैं।

तैत्तिरीय ब्राह्मण के प्रथम काण्ड में अग्न्याधान, गवामयन, वाजपेय, सोम, नक्षत्रेष्टि तथा राजसूय का वर्णन है। द्वितीय काण्ड में अग्निहोत्र, उपहोम, सौत्रामणी (जिसमें सोम के स्थान पर सुरा के पान का विधान है) तथा वृहस्पति सव, वैश्य सव आदि सत्रों का विवरण दिया गया है। प्रत्येक अनुष्ठान के उपयोगी ऋग्मन्त्रों का भी सर्वत्र निर्देश है। इनमें से अनेक ऋचायें ऋग्वेद से उद्धृत हैं, तथा अनेक नवीन प्रतीत होती हैं। नासदीय सूक्त (ऋग्वेद 10, 128) के मन्त्रों का विनियोग एक सामान्य उपहोम (काण्ड 2, प्रपाठक 8) के निमित्ति है। इस काण्ड से अनेक मन्त्रों में ऋग्वेद के प्रश्नों का भी उत्तर मिलता है। उदाहरणार्थ ऋग्वेद 10, 81, 4 में उस वन तथा वृक्ष का नाम पूछा गया है जिससे द्यावापृथिवी का निर्माण किया गया है। इस ब्राह्मण में उत्तर दिया गया है कि वन तथा वृक्ष 'ब्रह्म' ही है। अतः उपनिषदों के ब्रह्मतत्व का संकेत यहाँ विशद तथा अविस्मरणीय शब्दों में किया गया है, परन्तु यज्ञ की भावना से यह सर्वत्र ओतप्रोत है इसीलिए यज्ञ की वेदि ही पृथ्वी का परम अन्त तथा मध्य मानी गई है– (तै. ब्रा. 2, 7, 4-10)।

तृतीय काण्ड अवान्तरकालीन रचना माना जाता है।, जिसमें प्रथमतः 'नक्षत्रेष्टि' का विस्तृत वर्णन है। चतुर्थ प्रपाठक में पुरुषमेध के उपयुक्त पशुओं का वर्णन है, जो कृष्ण यजुर्वेद की संहिता में उपलब्ध नहीं होता, अतः माध्यान्दिन-संहिता से वहाँ उद्धृत किया गया है। इस काण्ड के अन्तिम तीन (10-12) प्रपाठक 'काठक' नाम से यजुर्वेदियों के द्वारा अभिहित किये जाते हैं। हो सकता है कि यह अंश काठक शाखीय ब्राह्मण का हो तथा किसी विशेष उद्देश्य से यहाँ संगृहीत हो। एकादश प्रपाठक में ब्रह्मचर्य के द्वारा भरद्वाज ऋषि ने अनन्त वेदों में से केवल तीन मुष्टियों को प्राप्त किया जो त्रयी-विद्या से प्रसिद्ध हैं। चतुर्थवेद के नाम न होने से कुछ विद्वान् अथर्व को तैत्तिरीय ब्राह्मण से भी अवान्तर रचना मानते हैं। नाचिकेत अग्नि की वेदि तथा उपासना का यहाँ विशेष वर्णन है, जिसमें अग्निविद्या के ही द्वारा मोक्ष-प्राप्ति का निर्देश है कठोपनिषद् में इसी आख्यान का विकसित रूप दिया गया है। द्वादश प्रपाठक में चातुर्होत्र तथा वैश्वसृज याग का वर्णन है। वैश्वसृज याग एक प्रतीकात्मक अनुष्ठान है, जिसमें समस्त पदार्थों का होम सम्पन्न किया जाता है।

इस ब्राह्मण में सामवेद समस्त वेदों का शीर्ष-स्थानीय माना गया है। मूर्ति तथा वैश्य की उत्पत्ति ऋक् से गति तथा क्षत्रिय की उत्पत्ति यजुष से तथा ज्योति आर ब्राह्मण की उत्पत्ति सामवेद से बतला कर यह ब्राह्मण साम को सर्वश्रेष्ठ बतलाता है।

सामवेदीय ब्राह्मण

सामवेद के ब्राह्मणों की संख्या इतर वेद के ब्राह्मणों की अपेक्षा कही अधिक है सायण ने जिनका नामोल्लेख इस प्रकार किया है—

1. प्रौढ़ ब्राह्मण (ताण्ड्य, पंचविंश) (सामविधान), 2. षड्विंश 3. साम विधि 4. आर्षेय 5. देवताध्याय

6. उपनिषद् ब्राह्मण 7. संहितोपनिषद ब्राह्मण तथा 8. वंश ब्राह्मण

इन ब्राह्मणों का यहाँ इसी क्रम से संक्षेप में परिचय दिया जा रहा है।

(क) **ताण्ड्य-ब्राह्मण**— सामवेद का प्रधान ब्राह्मण ताण्डि शाखा से सम्बध होने के कारण 'ताण्ड्य,' पच्चीस अध्यायों में विभक्त होने के कारण 'पंचविंश' तथा विशालकाय होने से 'महाब्राहाण' के नाम से ख्यात है। यज्ञ के विविध रूपों का एक-दिन से लेकर संवत्सर तक चलने वाले यज्ञों का -एकत्र प्रतिपादन इस महाब्राह्मण में है। इसके द्वितीय अध्याय में पंचदश, सप्तदश आदि स्तोमों की विष्टुतियों का विशद वर्णन है।

चतुर्थ तथा पंचम अध्ययों में 'गवामयन' का वर्णन है। यह एक वर्ष तक चलने वाला योग तथा समस्त सत्रों की प्रकृति है। 6-9/2 अध्याय तक ज्योतिष्टोम, उकथ्य तथा अतिरात्र का वर्णन है, जो एकाह तथा अहीन यज्ञों की प्रकृति होते है। अध्याय 6/7-8 तक ज्योतिष्टोम की उत्पत्ति, उद्गाता के द्वारा औदुम्बरी शाखा की स्थापना, द्रोण कलश की स्थापना का वर्णन है।

सप्तम खण्उ 6/7 से लेकर 7 द्वितीय खंड तक प्रातः सवन; 7/2 से लेकर 8/3 तक माध्यन्दिन सवन, जिसमें रथन्तर, वृहत्, नौधस तथा कालेय सामों का विस्तृत वर्णन है।

8 के शेष से नवम अध्याय तक सायं सवन तथा रात्रिकालीन पूजा का विधान है। दशम से लेकर 15 अध्याय तक द्वादशाह यागों का विधान, जिसमें क्रमशः प्रथम दिन से आरम्भ कर दशम दिन तक के विधानों तथा सामों का विशिष्ट वर्णन है। 16-18 अ. तक नाना प्रकार के 'एकाह' यागों का विवरण है। 20-22 अध्याय अहीन का वर्णन है। 'अहीन याग' से तात्पर्य उस सोम यज्ञ से है, जिसमें तीनों वर्णों का अधिकार रहता है, दक्षिणा होती है, अन्त में अतिरात्र संस्था होती है तथा एक दो चार आदि अनेक यज्ञमानों के द्वारा निषन्न होता है।

23-25 अ. तक सत्रों का वर्णन सत्र में आहिताग्नि अग्निष्टोम संस्था के सम्पादक कम से कम 17 और अधिक से अधिक 24 अधिकारी होते हैं। सभी यजमान होते हैं, इसीलिए सत्रजन्य फल सबको समान रूपेण मिलता है और दक्षिणा नहीं दी जाती है। सभी के यजमान होने पर 17 अधिकारी पक्ष में एक गृहपति कहलाता है तथा अन्य सोलह ब्रह्मादि का कार्य करते हैं। 24 अधिकारी पक्ष में गृहपति होते हैं तथा ऋत्विक् आदि का कार्य करते हैं। इन्हीं अध्यायों में 13 दिन में समाप्त त्रयोदशाह यज्ञ से लेकर सहस्र संवत्सर सत्र का विशद विवेचन है।

ताण्ड्य ब्राह्मण में साम और सोम याग का वर्णन ही मुख्य विषय है। सामवेद से संबद्ध होने के कारण साम के विशेष प्रकारों का तथा उनके नामकरण उनके द्रष्टा ऋषियों के कारण पड़ता है। वैखानस ऋषि के द्वारा दृष्टमास ''वैखानस'' (14, 4, 7) शर्कर दृष्ट साम 'शार्कल' (14, 5, 14) सामों के नामों की यही परिपाटी है। कहीं-कहीं सामों की स्तुति तथा महत्ता के प्रदर्शनार्थ प्राचीन रोचक आख्यायिका भी दी गई है। यथा 'वात्स' साम के विषय में। वत्स तथा मेथातिथि दो काण्व ऋषि थे।

मेधातिथि ने वत्स को शूद्रपुत्र तथा अब्राह्मण कहकर गाली दी। वत्स 'वात्स साम' से तथा मेधातिथि मेधातिथ्य साम से अग्नि के पास ब्राह्मीयान् के निर्णय के लिए पहुँचे तथा अपने को वत्स ने अग्नि में डाल दिया परन्तु अग्नि ने उसका रोआ भी नहीं जलाया। तभी से वात्स साम इच्छाओं के पूरक होने से 'कामसनि' के नाम से विख्यात हुआ (14, 6, 6)। इसी प्रकार वीङ्क साम के द्वारा च्यवन ऋषि को यौवन प्रदान करने की आख्यायिका का उल्लेख किया गया है (14, 6, 10)

इन ब्राह्मणों में यज्ञ के प्रधान विषयों को लेकर विभिन्न ब्रह्मवादियों के मतों का उल्लेख बहुत बार मिलता है (ताण्ड्य 14, 5, 8; 15, 12, 3)। भिन्न-भिन्न आचार्यो के मतों का खण्डन कर स्वाभीष्ट मत की पुष्ट स्थापना भी की गई है। 17, 1, 11-12 में प्रसंग है कि व्रात्य यज्ञ में अग्निष्टोम साम का विधान किस मन्त्र पर हो। किसी की सम्पत्ति है देवो वा द्रविणोदा (साम, उत्तरार्चिक 7, 1, 10)पर साम का विधान होना चाहिये। अन्य आचार्य 'आदर्शि गातु वित्तम' (उत्तरार्चिक 7, 1, 11) सतो बृहती पर साम रखने के पक्षपाती हैं। ताण्ड्य का रचनाकाल यज्ञ के उत्कर्ष का प्रतीक है, जब यज्ञ ही मनुष्य को मनुष्य बनाने के लिए पर्याप्त साधन माना जाता था। इसीलिए एकत्र उल्लेख है (ताण्ड्य 18, 1, 1) कि इन्द्र ने यज्ञ न करने वाले यतियों को शृंगालों को भक्षण करने के लिए दे दिया था। इसी कारण अपनी लौकिकी स्मृद्धि पाने के लिए नागों ने भी यज्ञ किया था।

(च) **षड्विंश ब्राह्मण**— 'षड्विंश का विभाजन दो प्रकार से उपलब्ध होता है — 1. प्रपाठक तथा खण्ड 2. अध्याय तथा खण्ड। इसके प्रारंभिक अध्यायों में यज्ञ का ही विषय वर्णित है। केवल अन्तिम भाग (पञ्चम प्रपाठक; षष्ठ अध्याय)का विषय पूर्व भागों की अपेक्षा नितान्त भिन्न है। यह ब्राह्मण पञ्चविंश ब्राह्मण का ही परिशिष्ट भाग है और इसका विषय उस ब्राह्मण के विषयों का आवश्यक पूरक सा प्रतीत होता है। इसके पंचम प्रपाठक को 'अद्भुत ब्राह्मण' इसीलिए कहते है कि इसमें भूकम्प, अकाल में पुष्प तथा फल उत्पन्न होने, अश्वतरी के गर्भ होने, हथिनी के डूबने आदि नाना प्रकार के उत्पातों के लिए शान्ति का विधान किया गया है। यह प्रपाठक उस युग की विचित्र भावनाओं को समझने के लिए नितान्त उपयोगी है। इन्हीं विषयों को ग्रहण कर पिछले युग के धर्मग्रन्थों में प्रायश्चित्तों का विपुल विधान पाया गया है। दोनों की तारतम्य परीक्षा के लिए इस प्रपाठक का मूल्य अत्यधिक है।

तत्कालीन धार्मिक धारणाओं का भी विशेष संकेत उपलब्ध होता है। प्रथम काण्ड के आरंभ में ही 'सुब्रह्मण्या' ऋचा का विशेष आख्यान मिलता है। अभिचार के समय ऋत्विजों के वेष के वर्णन से पता चलता है कि वे लोग लाल पगड़ी तथा किनारी वाली धोतियों को यज्ञ के अवसर पर पहनते थे (4 अध्याय, 2 खण्ड 22)। ब्राह्मणों के लिए सन्ध्यावंदन का काल अहोरात्र के सन्धिकाल में बतलाया गया है (5, 5, 4)। इसी प्रकार के अन्य उपादेय तथ्यों का संकलन किया जा सकता है।

(छ) **सामविधान**— यह सामवेद का अन्यतम ब्राह्मण है। इसका विषय ब्राह्मणों में उपलब्ध विषयों से बिल्कुल भिन्न है। इस ब्राह्मण में जादू टोना करने के लिए-जैसे किसी व्यक्ति को गाँव से भागने के लिए, शत्रु को ध्वस्त करने के लिए, धन पाने के लिए नाना उपद्रवों की शान्ति के लिए सामगायन के साथ कुछ अनुष्ठानों के करने का विधान है। अन्य वेदों में भी तत्तत् मंत्रों के इस प्रकार आभिचारिक प्रयोग के उपयोग का वर्णन मिलता है।' ऋग्विधान में ऋग्वेदीय मन्त्रों का तथा

'यजुर्विधान' में यजुर्वेदीय मन्त्रों के प्रयोग ऐसी क्रियाओं के लिए किया गया है, परन्तु ये ब्राह्मणों से भिन्न ही ग्रन्थ हैं।

ब्राह्मण की शैली न तो पुनरुक्ति प्रधान है, और न अत्यन्त संक्षिप्त है। यह दोनों शैलियों के बीच की रचना है। कुमारिल भट्ट (सप्तम शतक) ने सामवेद के आठों ब्राह्मणों का नाम निर्देश किया है, जिनमें यह ब्राह्मण अन्यतम है।

इस ब्राह्मण में तीन प्रकरण है, जिसमें प्रथम प्रकरण कृच्छ्र, अतिकृच्छ्र आदि स्मृतियों में बहुशः वर्णित व्रतों का वर्णन उपलब्ध होता है। पुराणों में वर्णित व्रतों का मूल इस ब्राह्मण में उपलब्ध है, जैसे किसी मन्त्र को जल में कमर तक खड़े होकर जपने से विशेष फल की प्राप्ति आदि। इन्हीं विषयों का ग्रहण धर्मसूत्रों तथा कालान्तर में धर्मशास्त्रों में विशेष रूप से उपलब्ध होता है।

साम विधान (2, 6, 14) में किसी शत्रु को गाँव से भगाने के लिए चौराहे पर किसी चिता से भस्म को लाने तथा शत्रु के घर में या बिस्तर पर उसे फेंकने का वर्णन है। इसी प्रकार मणिभद्र (यक्ष-विशेष) की मांस-बलि तथा साम-गायन के साथ पूजा का विधान सुवर्ण की प्राप्ति के लिए किया गया है (3, 3, 3); पुराणों के प्रसिद्ध रुद्रानुचरों की शान्ति के लिए भी यहाँ साम का विधान कम कौतूलहवर्धक नहीं है। विनायक तथा स्कन्ध की शान्ति दो सामों के द्वारा तथा रुद्र और विष्णु की शान्ति अन्य दो सामों के द्वारा विहित है (1, 34, 6-19)। शत्रु को मारने की एक विचित्र विधि का उल्लेख यहाँ मिलता है। शत्रु की आटे की मूर्ति बनानी चाहिये, जिसका गला छुरे से काटना होता है तथा अंगों को काट-काट कर आग में डालना पड़ता है (2, , 5, 4)। राजयक्ष्मा एक भयानक रोग माना गया था, जिसे दूर करने की विधि का वर्णन यहाँ मिलता है (2, 4, 8)। द्वितीय प्रकरण में सुन्दर तथा दीर्घायु पुत्र की प्राप्ति के लिए नाना प्रयोगों का वर्णन किया गया है।

तृतीय परिच्छेद में ऐश्वर्य, नवीन गृह में प्रवेश तथा आयुष्य की प्राप्ति के लिए नाना अनुष्ठानों का वर्णन भिन्न-भिन्न साम-गायन के साथ किया गया है। अभिषेक के समय 'एकवृष्' साम से अभिषेक करने पर राजा, सम्राट् हो जाता था। सेना के नाना अंगों-घोड़ा, हाथी आदि को मारने के लिए आटे की मूर्ति बनाकर छूरे से गला काटने का विधान बहुशः किया गया है। भूत-प्रेत-गन्धर्व अप्सरा तथा देवताओं के लिए सामों का प्रयोग किया गया है (3, 7, 8)। 'श्रुतिनिगादो' ऐसे व्यक्ति को कहते हैं जो किसी मन्त्र को एक बार में ही सुनकर पाठ करने लगता है। इस सिद्धि की प्राप्ति के लिए भी सामगायन का विधान है।

यह ब्राह्मण-ग्रन्थ धर्मसूत्रों की पूर्व पीठिका है, क्योंकि धर्म सूत्रों में विस्तार से वर्णित दोष, अपराध तथा उनके प्रायश्चित्त इस ब्राह्मण के मुख्यतया प्रतिपादित हैं। उस काल में समाज चार वर्णों में विभक्त था; तथा शूद्रा के साथ विवाह सर्वथा निषिद्ध माना जाता था। जिन पापाचरणों के लिए प्रायश्चित्त का विधान है, उन्हें देखकर तत्कालीन समाज की स्थिति का परिचय मिल सकता है, और स्मृतियों में निर्दिष्ट अपराधों से ये भिन्न हैं। शूद्रों का वेद पढ़ना तथा उनसे यज्ञ कराना, अशोभन शब्दों को बोलना, सुरा पीना, ब्राह्मण आदि चारों वर्णो के व्यक्तियों की हत्या, गाय को मारना, जेठ भाई से पहिले ही विवाह करना, शूद्रा के साथ व्यभिचार, ब्राह्मणों के लिए दूध, मधु आदि रसों तथा पशुओं का बेचना, इन पापाचरणों

के दूरीकरण के लिए प्रायश्चित्त का विधान इस ब्राह्मण में किया गया है।

इस प्रकार यह ग्रन्थ एक नवीन तथा विचित्र विधि-विधानों के परिचय के लिए अपना विशेष महत्त्व है।

(ज) आर्षेय ब्राह्मण— यह सामवेद का चौथा ब्राह्मण है। यह तीन प्रपाठक तथा 82 खण्डों में विभक्त है। इस ब्राह्मण में साम के उद्‌भावक ऋषियों का नाम तथा संकेत दिया गया है। सामवेद के वर्णन के समय साम योनि ऋचाओं तथा सामों में विभेद दिखलाया गया है। यह ब्राह्मण सामगायन के प्रथम प्रचारक ऋषियों का वर्णन करने के कारण ऐतिहासिक दृष्टि से भी विशेष महत्वशाली है। साम गान का विषय बड़ा ही कठिन तथा पेचीदा है। इसका सच्चा अध्ययन विशेष अध्यवसाय, मनोयोग तथा अनुशीलन का परिणाम हो सकता है। इस कार्य में नारदीय, गौतमी तथा माण्डूकी आदि सामवेदी शिक्षाओं का गंभीर अध्ययन अपेक्षित है।

(झ) **देवताध्याय ब्राह्मण**— यह दैवत ब्राह्मण सामवेदीय ब्राह्मणों में बहुत ही छोटा है। इसमें केवल तीन खंड है— 1. प्रथम खंड में (26 कंडिका) देवताओं का वर्णन है। प्रथम कंडिका के अनुसार ग्राम देवताओं का नाम-निर्देश इस प्रकार है-अग्नि, इन्द्र, प्रजापति, सोम, वरुण, त्वष्टा, अंगिरस, पूजा, सरस्वती तथा इन्द्राग्नी तथा इन देवताओं की प्रशंसा में गेय सामों के विशिष्ट नाम भी दिये गये हैं। 2. द्वितीय खंड (11 कंडिका) में छन्दों के देवता तथा वर्णो का विशेष वर्णन 3. तृतीय खण्ड (25 कंडिका) में छन्दों की विभक्तियाँ दी गई हैं। इन निरुक्तियों में से अनेक निरुक्तियाँ यास्क ने अपने निरुक्त में ग्रहण की है (7, 12, 13)। यह खण्ड भाषाशास्त्र की दृष्टि से बड़े महत्व का है, क्योंकि छन्दों के नाम का निर्वचन बड़े ही प्रामाणिक ढंग से यहाँ किया गया है। 'गायत्री' छन्द के नाम का अर्थ है— स्तुति अर्थ वाले गै धातु से निष्पन्न होने से देवताओं के प्रशंसक तथा वेद समुदाय को गाने वाले ब्राह्मण से उत्पन्न होने वाला छन्द। इसी प्रकार अन्य छन्दों के भी निर्वचन उपलब्ध होते हैं।

(ञ) **उपनिषद् ब्राह्मण**— यह ब्राह्मण 10 प्रपाठकों में विभक्त है, जिसमें दो ग्रन्थ सम्मिलित हैं—

मन्त्र ब्राह्मण— इसी का दूसरा नाम छान्दोग्य-ब्राह्मण है। इसके संस्करण भारत तथा विदेशों में अनेक विद्वानों ने प्रकाशित किया है। इस ब्राह्मण में दो प्रपाठक हैं, और प्रत्येक प्रपाठक में 8, 8 खंड हैं। यह ब्राह्मण गृह्य संस्कारों में प्रयुक्त होने वाले मन्त्रों का एक सुन्दर संग्रह है। ये ही मन्त्र खादिर एवं गोभिल गृह्यसूत्रों में भिन्न-भिन्न संस्कारों के अवसर पर प्रयुक्त होते हैं।

इस ब्राह्मण में कुल मन्त्र 257 हैं, इसके अतिरिक्त गुणविष्णु ने गृह्यसूत्रों से 11 मन्त्र और लेकर उनको सम्भाष्य जोड़ा है। प्रथम प्रपाठक में विवाह, गर्भाधान, सीमन्तोन्नयन, चूड़ाकरण उपनयन, समावर्तन एंव गोवृद्धि के लिए मंत्र दिये गये हैं। दूसरे प्रपाठक में भूतबलि, आग्रहायणीकर्म, पितृपिंडदान, देवबलिहोम, दर्शपूर्णमास, आदित्योपस्थान, नवगृह- प्रवेश, स्वत्ययन एवं प्रासादप्राप्ति आदि के मन्त्र हैं। यद्यपि अनेक मन्त्रों की भाषा सरल, आकर्षक एवं प्रासादपूर्ण है (1, 2, 2)।

गुणविष्णु का भाष्य मन्त्रों के गूढ़ भाव को संक्षेप में प्रकट करने में सक्षम है। उन्होंने ऋषि, देवता, छन्द और मन्त्र का विनियोग सर्वत्र दर्शाया है। अर्थ के महत्व को दर्शाने के लिए उन्होंने 'स्थाणुरयंभारहार: किलाभूत' (आर्षेय ब्राह्मण 3; निरुक्त 118) मन्त्र को उद्‌घृत करते हुए अपने भाष्य

का आरंभ किया है; और उसी के अनन्तर ऋषि, छन्द आदि के महत्व को दर्शाने के लिए 'यो ह वा अविदितार्षेयछन्दो दैवतब्राह्मणेन मन्त्रेण याजयति वाऽध्यापयति वा स्थाणुं यर्च्छति . . . . ''इत्यादि (आर्षेय ब्राह्मण 1, 1) उद्घृत किया है। सर्वत्र उन्होंने अर्थ की स्पष्टता के साथ ऋषि, छन्द देवता और विनियोग को संक्षिप्त रूप में ही बतलाने का स्तुत्य प्रयास किया है। सायण का भाष्य गुणविष्णु के भाष्य का अनुवर्तन करता है, उसनें विशेषता यह है कि वह उतना संक्षिप्त न होकर विशद है।

(ख) **छान्दोग्य उपनिषद्**— इस ब्राह्मण के अन्तिम पाठ प्रपाठक प्रसिद्ध छान्दोग्य उपनिषद् है, जिसके अनेक संस्करण तथा अनेक भाषाओं में अनुवाद समय-समय पर होते आये है।

(ट) **संहितोपनिषद् ब्राह्मण**— यह ब्राह्मण सामगायन का विवरण प्रस्तुत करने में अपना महत्व रखता है। संहिता के उपनिषद् अर्थात् रहस्य का प्रतिपादक यह ब्राह्मण सामवेदी ब्राह्मणों में वैशिष्ट्य रखता है। संहिता का अर्थ है मन्त्रों का समुदायक (जैसे ऋक् संहिता आदि) परन्तु यहाँ इसका तात्पर्य है साम के गायनों की संहिता क्योंकि इनमें भी सातत्य विद्यमान रहता है। इसी अर्थ में यह शब्द यहाँ व्यवहृत किया गया है। इसमें पाँच खण्ड है और प्रतिखंड सूत्रों में विभक्त है। प्रथमखण्ड में त्रिविध गान-संहिताओं के स्वरूप तथा फल का विवरण है। संहिता तीन प्रकार की होती है (1) देवहू संहिता (ख) वाक्शबहू संहिता और (ग) अभित्रहू संहिता। जिसमें प्रथम संहिता कल्याणकारी तथा अन्तिम दोनों अमंगलप्रदा है। द्वितीय तथा तृतीय खण्ड में गान संहिता की विधि स्तोम, अनुलोम-प्रतिलोम स्वर, अन्य नाना स्वर आदि का बड़ा ही व्यापक प्रतिपादन है। यह विषय वैज्ञानिक है और सामगायन के मर्म का उद्घाटन यहीं पूरे विस्तार के साथ किया गया है। इन खण्डों की जानकारी सामगायन के विधान के लिए नितान्त आवश्यक है। तृतीय खंड के अन्तिम भाग में गुरु तथा शिष्य की योग्यता का विवेचन तथा पात्र में दान की भूयसी प्रशंसा की गई है। चतुर्थ तथा पंचम खंड का विषय पूर्वोक्त तथ्य का पूरक है। इस प्रकार साम गायन के रहस्य के लिए यह ब्राह्मण अद्वितीय है।

यह ब्राह्मण कभी बहुत ही प्रसिद्ध था। निरुक्तकार ने अपने ग्रन्थ (2, 4) में विद्या ह वै ब्राह्मणमजगाम' आदि शब्दों को इसी ब्राह्मण के तृतीय खंड में से उद्धृत किया है। इसी मन्त्र का भावानुवाद मनुस्मृति (2, 114) में मनु ने किया है। इससे स्पष्ट है कि यह ब्राह्मण निरुक्त तथा मनुस्मृति से प्राचीनतम है।

(ठ) **वंश ब्राह्मण**— यह ब्राह्मण मात्रा में बहुत छोटा है, इसमें केवल तीन खंड है इसमें सामवेद के आचार्यों की वंशपरम्परा दी गई। प्राचीन ऋषियों के इतिहास जानने के लिए यह ग्रन्थ बहुत ही उपयोगी सिद्ध होगा।

(ड) **जैमिनीय ब्राह्मण**— ब्राह्मणों में शतपथ के समान यह ब्राह्मण भी विपुल काय तथा यागानुष्ठान के रहस्य जानने के लिए अत्यन्त उपयोगी है। 'जैमिनीय उपनिषद् ब्राह्मण भी इस महान् ग्रन्थ का ही एक अंश मात्र है जो गायत्र्युपनिषद् के नाम से विख्यात है।

(ढ) अथर्ववेदीय ब्राह्मण—

गोपथ ब्राह्मण— अथर्ववेद का केवल एक ही ब्राह्मण है, जिसका नाम ''गोपथब्राह्मण'' है। इसके दो भाग हैं (1) पूर्व गोपथ (2) उत्तर गोपथ। प्रथम ग्रन्थ में पाँच तथा द्वितीय में 6 प्रपाठक या अध्याय

है। प्रपाठक का विभाजन कंडिकाओं में हुआ है, जो कुल मिलाकर 285 है।

ब्राह्मण साहित्य में यह ग्रन्थ बहुत ही पीछे की रचना माना जाता है। इस ब्राह्मण में अथर्ववेद की स्वभावतः महिमा गाई गई। अथर्व ही सब ब्राह्मण में अग्रगण्य तथा प्रथम माना गया है। अथर्व से ही तीनों वेदों तथा ओंकार की उत्पत्ति और ओम् से समस्त संसार की उत्पत्ति बताई गई है। इसलिए इस ब्राह्मण का आग्रह है कि प्रत्येक वेदाभ्यासी को अन्य वेदों के पढ़ने के पूर्व अथर्व का अध्ययन करना आवश्यक है। पूर्व गोपथ के प्रथम प्रपाठक में ओंकार तथा गायत्री की विशेष महिमा का वर्णन है। द्वितीय प्रपाठक में ब्रह्मचारी के नियमों का विशेष वर्णन है। प्रत्येक वेद के अध्ययन के लिए बारह वर्षों का समय नियत रहता है, परन्तु छात्र की शक्ति को देखकर इस अवधि में कमी भी की जा सकती है। तृतीय प्रपाठक में यज्ञ के चारों ऋत्विजों के कार्यकलाप का वर्णन है। चतुर्थ प्रपाठक में ऋत्विजों की दीक्षा का विशेष वर्णन किया गया है। पंचम प्रपाठक में प्रथम संवत्सर सत्र का वर्णन है। अनन्तर अश्वमेध, पुरुषमेध, अग्निष्टोम आदि अन्य सुप्रसिद्ध यज्ञों का भी विवरण है। उत्तर गो पथ नाना प्रकार के यज्ञों तथा तत्संबंध आख्यायिकाओं के उल्लेख से यह भाग भी पूर्व की अपेक्षा बहुत रोचकहै।

गोपथ ब्राह्मण के रचयिता निश्चय ही 'गोपथ' ऋषि हैं। अथर्ववेद के प्रथम मन्त्र का उल्लेख यह ''शन्नो देवीरभिष्ट्य से करता है जिससे उसका पिप्पलाद-शाखीय होना अनुमान से सिद्ध है। यास्क ने निरुक्त में गोपथब्राह्मण के निश्चित अंशों को उद्धृत किया। ब्राह्मण साहित्य में पिछली रचना पर भी यह एक सहस्र वर्ष वि. पू. से अर्वाचीन नहीं हो सकता है।

अथर्ववेद का एक मात्र होने से इसके अन्तिम खण्ड में अथर्व की प्रशंसा की गई है। इसमें बहुत से नवीन विचार पाये जाते हैं, जैसे ब्रह्म द्वारा कमल के ऊपर ब्रह्म का उदय (पृ. 1, 6) ब्राह्मण को न नाचना चाहिये, न गाना और आग्लागृध नहीं कहलाना चाहिये (2, 21); प्रत्येक वेदमन्त्र के उच्चारण पूर्व ओंकार का उच्चारण, किसी अनुष्ठान से आरंभ के पहले तीन बार आचमन करना (1, 38) ऋग्वेद से अनेक मन्त्र उद्घृत हैं, परन्तु मन्त्रों के ऋषियों के विषय में पार्थक्य दीखता है। यह ब्राह्मण 700 ई. पूर्व. से भी पहले की रचना है।

ग्रन्थों का रचना काल— ब्राह्मण ग्रन्थों का उद्‌गम व विकास ऋग्वेद के काल के बाद हुआ है। मैक्समूलर के अनुसार 600-800 ई. पूर्व माना जाता है। भारतीय ज्योतिष शास्त्र के अनुसार 2500 ई. पू. ब्राह्मण ग्रन्थ रचे गये हैं।

ब्राह्मण ग्रन्थों की उपयोगिता— वैदिक साहित्य की परम्परा में ब्राह्मण ग्रन्थों का विशेष महत्व है। एक ओर जहाँ उनमें सांसारिक क्रिया-कलापों का वर्णन देखने को मिलता है, वही दूसरी ओर उनमें आध्यात्मिक विषय का भी गंभीर चिन्तन किया गया है। ब्राह्मण ग्रन्थों में यज्ञ को सर्वोपरि माना गया है। यज्ञ करने से मनुष्य समस्त पापों से मुक्त हो जाता है। यज्ञ करने से सम्पूर्ण प्रजा का कल्याण होता है।

हवि अन्तरिक्ष में व्याप्त होकर वर्षा के रूप में फिर धरती में अन्न जल की वृद्धि करता है ब्राह्मण ग्रन्थों की यह धारणा न केवल धार्मिक दृष्टि से अपितु वैज्ञानिक दृष्टि से भी सत्य एवं सर्वमान्य है।

ब्राह्मण ग्रन्थों में सत्य की महिमा का बड़ा बल दिया गया है। उनमें स्पष्ट रूप से यह निर्देश

किया गया है कि जो असत्य बोलता है, वह अपनी पवित्रता का हनन् कर अपना ही अनिष्ट करता है (शतपथ ब्राह्मण 3, 3, 8)।

इस प्रकार ब्राह्मण ग्रन्थ भारतीय संस्कृति के उच्चादर्शो के प्रतीक, आर्य जाति के सर्वस्व और ज्ञान-विज्ञान एवं कला-कौशल के विश्वकोश हैं।

(3) आरण्यक-ग्रन्थ

एकान्त अरण्य में ब्रह्मचर्य में रत होकर ऋषियों ने जिस गंभीर और चिन्तनपूर्ण विद्या का अध्ययन किया, उसे 'आरण्यक' कहते हैं। सायण के अनुसार 'एकान्त अरण्य में रहने वाले वानप्रस्थ लोग जिन यज्ञादिकों को करते थे, उनको बताने वाले ग्रन्थों को 'आरण्यक' कहते हैं। उसी प्रकार ऐतरेय आरण्यक भाष्य में कहा है कि अरण्य में पढ़ाये जाने के कारण इसे 'आरण्यक' कहते हैं। तैत्तिरीयाण्यक के भाष्य में भी सायण ने कहा है कि 'जिस विद्या को अरण्य में पढ़ा या पढ़ाया जाये, उसे आरण्यक'' कहते हैं। इस प्रकार आरण्यकों के अध्ययन, मनन एवं चिन्तन के लिए अरण्य का एकान्त वातावरण ही उपयुक्त समझा जाता था। ओल्डनवर्ग का कथन है कि आरण्यक वे ग्रन्थ हैं, जिसका प्रतिपाद्य विषय सूक्ष्म आध्यात्मवाद होने के कारण वे गुरु द्वारा अरण्य के एकान्त वातावरण में ही अधिकारी शिष्य को दिये जा सकते हैं। आरण्यक का मुख्य विषय यज्ञ नहीं, प्रत्युत यज्ञ-यागों के भीतर विद्यमान आध्यात्मिक तथ्यों की मीमांसा है; यज्ञीय अनुष्ठान नहीं, बल्कि तदन्तर्गत दार्शनिक विचार ही इनके मुख्य विषय है। प्राणविद्या की भी महिमा का विशेष प्रतिपादन यहाँ स्पष्ट उपलब्ध होता है। संहिता के मन्त्रों में इस विद्या का संकेत अवश्य है, परन्तु आरण्यकों में इन्हीं बीजों का पल्लवन है।

अरण्यक की महत्ता सर्वत्र स्वीकार की गई है। आदिपर्व में महाभारत का कथन है कि औषधियों से उद्धृत अमृत के समान ही आरण्यक, वेदों से सारभूत मान कर उद्घृत किया गया है (आरण्यकं च वेदेभ्य ओषधिम्योऽमृतं यथा 1, 265)। मन्त्र-ब्राह्मणात्मक वेद के जिस अंश में प्राणविद्या तथा प्रतीक उपासना का विषय वर्णित है, वह अंश 'आरण्यक' कहलाता है। आरण्यक भी ब्राह्मण का ही अंश है, परन्तु उसकी विशिष्टता दिखलाने के लिए वह 'रहस्य ब्राह्मण' के नाम से जाना जाता है। आरण्यक का दूसरा नाम 'रहस्य' भी है (गोपथ 2, 10)। इसका कारण यही प्रतीत होता है कि आरण्यक यज्ञ के गूढ़ रहस्य का प्रतिपादन करता है और कर्मकाण्ड की दार्शनिक व्याख्या करता है। विषय की दृष्टि से आरण्यक और उपनिषद् में साम्य है, इसीलिए बृहद्-आरण्यक आदि ग्रन्थों को उपनिषद् भी माना जाता है, परन्तु दोनों में वर्ण्यविषयक की कुछ समता होने पर भी दोनों का पार्थक्य भी स्पष्टः दिखाई पड़ता है। आरण्यक का मुख्य विषय प्राणविद्या तथा प्रतीकोपासना है, जब कि उपनिषद् का वर्ण्य विषय निर्गुण ब्रह्म के स्वरूप तथा प्राणविद्या तथा प्राणविद्या जैसी रहस्यात्मक विद्याओं के वर्णन तथा विवेचन के कारण दोनों में साम्य भी है। अतएव दोनों ही रहस्य ग्रन्थ हैं।

प्रमुख आरण्यकों का परिचय

(ख) **ऐतरेय आरण्यक**— ऋग्वेद के दो आरण्यकों में अन्यतम आरण्यक यही है। यह ऐतरेय-ब्राह्मण का परिशिष्ट भाग है। इसमें पाँच आरण्यक हैं, जो वस्तुतः पृथक ग्रन्थ माने जाते हैं। ऋक् श्रावणी को ऋग्वेदी लोग वेदपारायण के अवसर पर पढ़ते हैं। ऐतरेय-ब्राह्मण को तो उसके वाक्य के

द्वारा निर्देश कर समाप्त करते हैं, परन्तु ऐतरेय आरण्यक के अवान्तर गत पाँचों आरण्यकों के आध पदों का पाठ् पृथक् रूप से करते हैं। यह इनके पृथक ग्रन्थ मानने का प्रमाण माना जा सकता है।

प्रथम आरण्यक में महाव्रत का वर्णन है, जो ऐतरेय-ब्राह्मण (प्रपाठक 3) के 'गवामयन' का ही एक अंश है। द्वितीय प्रपाठक के प्रथम तीन अध्यायों में उक्थ या निष्केवल्य शस्त्र तथा प्राणविद्या और पुरुष का विवेचन है। चतुर्थ, पंचम तथा षष्ठ अध्यायों में ऐतरेय उपनिषद है। तृतीय आरण्यक का दूसरा नाम है— संहितोपनिषद् जिसमें संहिता, पद, क्रम पाठों का वर्णन तथा स्वर, व्यंजन आदि के स्वरूप का विवेचन है। चतुर्थ आरण्यक बहुत ही छोटा है, जिसमें महाव्रत के पंचम दिन में प्रयुक्त होने वाली कतिपय महानाम्नी ऋचाएँ दी गई हैं। अन्तिम आरण्यक में निष्केवल्य शास्त्र का वर्णन है। इन आरण्यकों में प्रथम तीन के रचयिता ऐतरेय, चतुर्थ के आश्वलायन तथा पंचम के शौनक माने जाते हैं। यह शौनक बृहद्देवता के निर्माता हैं, यह सिद्धान्त मान्य नहीं है। डाक्टर कीथ इसे निरुक्त से अर्वाचीन मानकर इसका रचनाकाल पष्ठशतक विक्रम पूर्व मानते है, परन्तु वस्तुतः यह निरुक्त से प्राचीनतर है, तथा महिदास ऐतरेय के प्रथम तीन आरण्यकों के रचयिता होने से यह ऐतरेय ब्राह्मण का ही समकालीन सिद्ध होता है।

(ख) **शांखायन-आरण्यक**— ऋग्वेद का यह दूसरा आरण्यक है, जो सामान्यत ऐतरेय आरण्यक के समान ही है। इसके 15 अध्यायों में से तीन से लेकर छः तक कौषतकि नाम से प्रसिद्ध है। षष्ठ अध्याय में उशीनर, मत्स्य, काशी, विदेह तथा कुरुपांचाल का निर्देश इसे मध्यदेश से सम्बन्ध सिद्ध करता है। त्रयोदश अध्याय में उपनिषदों से-विशेषतः बृहदारण्यक उपनिषद् से अनेक उद्धरण यहाँ दिये गये मिलते हैं। इसका वर्ण्यविषय प्रायः ऐतरेय आरण्यक के समान है।

(ग) **बृहदारण्यक**— शुक्ल यजुर्वेद के शतपथ ब्राह्मण की माध्यन्दिन और काण्व दोनों शाखाओं के अन्तिम 6 अध्यायों को बृहदारण्यक कहते हैं। इसमें आरण्यक और उपनिषद् दोनों का मिश्रण है। इसमें बीच-बीच में यज्ञों के रहस्य का वर्णन किया गया है, अतः इसे 'आरण्यक' कहते हैं, किन्तु इसमें आत्मतत्व का विस्तृत उपदेश दिया गया है। इस प्रकार उपनिषद् का अधिक वर्णन होने के कारण इसे 'उपनिषद्' भी कहते हैं। इस प्रकार इसका नाम 'बृहदारण्यकोपनिषद' भी है। कृष्ण यजुर्वेदीय मैत्रायणीय शाखा का भी एक आरण्यक है, जो मैत्रायणीय उपनिषद् कहलाता है।

4. **तैत्तिरीय आरण्यक**— कृष्णयजुर्वेद की तैत्तिरीय शाखा का आरण्यक ''तैत्तिरीय' आरण्यक है। इस आरण्यक में दस परिच्छेद या प्रपाठक है, जो साधारण रीति से 'अरण' कहे जाते हैं तथा इनका नामकरण इनके आद्य पद के अनुसार होता है। जैसे प्रथम का नाम है, भद्र (2) सहैब, (3) चित्ति, (4) युंजते, (5) देव वै (6) परे, (7) शिक्षा, (8) ब्राह्मविद्या, (9) भृगु (10) नारायणीय। इसमें सप्तम, अष्टम, तथा नवम प्रपाठक मिलकर ''तैत्तिरीय उपनिषद्'' कहलाते हैं। दशम प्रपाठक भी महानारायणीय उपनिषद् है,जो इस आरण्यक का परिशिष्ट माना जाता है। प्रपाठकों का विभाजन 'अनुवाकों' में है तथा नवम् प्रपाठक तक के समस्त अनुवाक संख्या में 160 हैं। तैत्तिरीय-ब्राह्मण के समान ही यहाँ भी प्रत्येक अनुवाक में दस वाक्यों की एक इकाई मानी गई है, तथा प्रत्येक दशक का अन्तिम पद अनुवाक् के अन्त में परिगणित किया गया है। इस आरण्यक में ऋग्वेदस्थ ऋचाओं का

उद्धरण पर्याप्त संख्या में किया गया है।

प्रथम प्रपाठक आरुण-केतुक नामक अग्नि की उपासना तथा तदर्थ इष्टका चयन का वर्णन करता है। द्वितीय प्रपाठक में स्वाध्याय तथा पंच महायज्ञों का वर्णन है और यहाँ गंगा-यमुना का मध्यदेश अत्यन्त पवित्र तथा मुनियों का निवास बतलाया गया। तृतीय प्रपाठक चातुर्होत्र चिति के उपयोगी मन्त्रों का वर्णन करता है। चतुर्थ में प्रवर्ग्य के उपयोगी मन्त्रों का संग्रह है। यहाँ कुरुक्षेत्र तथा खाण्डव का वर्णन भौगोलिक स्थिति के अनुसार है। इस प्रपाठक में अभिचार मन्त्रों की भी सत्ता है, जिसका प्रयोग शत्रु के मारण आदि के लिए किया जाता था। 4, 27 में तथा 4, 37 में अभिचार मन्त्रों का स्पष्ट वर्णन है। 4, 38 में भृगु तथा अंगिरा के रौद्र प्रयोगों का उल्लेख अथर्ववेद के अभिचारों की ओर स्फुट संकेत है। पंचम में यज्ञीय संकेतों की उपलब्धि होती है। षष्ठ प्रपाठक में पितृमेध संबंधी मन्त्रों का उल्लेख किया गया है, तथा अनेक मन्त्रों का उल्लेख किया गया है तथा अनेक मन्त्र ऋग्वेद से यहाँ उद्घृत किये गये है। दशम प्रपाठक नारायणीयोपनिषद् है, जो खिल-काण्ड माना जाता है। सायण के कथनानुसार इसके अनुवाकों की भी संख्या बड़ी अस्त-व्यस्त हैं। द्रविड़ों के अनुसार इसमें 64 अनुवाक हैं, आन्ध्रों के अनुसार 80, कर्नाटकों के अनुसार कहीं 74 और कहीं 89। ऐसी परिस्थिति में मूल पाठ का पता लगाना एक विषम समस्या है। आन्ध्र होने से सायण ने आन्ध्र पाठ के अनुसार 80 अनुवाकों की सत्ता मानी है।

इस आरण्यक में अनेक विशिष्ट बातें स्थान-स्थान पर आती हैं। (1) कश्यप का अर्थ है सूर्य इसकी व्युत्पत्ति पर्याप्त वैज्ञानिक है (कश्यपः पश्यकः भवति यत् सर्वं, परि पश्यतीति सौक्ष्म्यात् 1, 8, 8) अर्थात् 'पश्यक' शब्द से वर्णव्यत्यय के नियम से 'कश्यप' शब्द निष्पन्न हुआ है। (2) पाराशर्य व्यास का उल्लेख यहाँ मिलता है (1, 9, 2)। (3) द्वितीय प्रपाठक के आरंभ में ही सन्ध्या में प्रयुक्त सूर्य के अर्ध्य जल की महिमा वर्णित है कि उस जल के प्रभाव से सूर्य पर आक्रमण करने वाले मन्देह' नामक राक्षसों का सर्वथा संहार हो जाता है (2, 2,)।

(ड) **मैत्रीयणी आरण्यक**— कृष्ण यजुर्वेद की मैत्रायणी शाखा ''मैत्रायणी-आरण्यक'' है। इसी को ''मैत्रायणी उपनिषद्' कहा जाता है। इसमें सात प्रपाठक हैं। पाँचवें प्रपाठक से कैत्सायनी स्तोत्र का प्रारंभ होता है। उसमें आरण्यक और उपनिषद् दोनों के अंश मिश्रित हैं। इसमें परमात्मा को अग्नि और प्राण कहा गया है। इसमें अश्वपति, हरिश्चन्द्र, अम्बरीष, शर्याति, ययाति आदि राजाओं का उल्लेख है।

6. **तवल्कार आरण्यक**— सामवेद की जैमिनीय शाखा से संबंध आरण्यक' को तवल्कार आरण्यक कहते हैं। इसी को 'जैमिनीयोपनिषद् ब्राह्मण' भी कहते हैं। इसमें चार अध्याय हैं प्रत्येक अध्याय में कई अनुवाक् या खण्ड हैं। इसमें साम मन्त्रों की सुन्दर व्याख्या की गई है। इस आरण्यक के चतुर्थ अध्याय के दशम अनुवाक् को केनोपनिषद् कहते है। इसका दूसरा नाम 'तवल्कार' उपनिषद भी है।

अथर्ववेद का कोई आरण्यक उपलब्ध नहीं होता। इस वेद से संबंध जो अनेक उपनिषद् उपलब्ध होते हैं, वे किसी आरण्यक के अंश न होकर आरंभ से ही स्वतंत्र ग्रन्थ के रूप में विद्यमान हैं।

(छ) **छान्दोग्यारण्यक**– यह सामवेद के ताण्ड्य ब्राह्मण से संबंध आरण्यक है। छान्दोग्यो– पनिषद् का प्रथम भाग छान्दोग्यारण्यक है। इसमें 'सामन्' और उदगीथ की धार्मिक दृष्टि से व्याख्या की गई है।

(4) उपनिषद्

वैदिक वाङ्मय में उपनिषदों का स्थान अत्यन्त महत्वपूर्ण है। वैदिक सूक्तों में जिस दार्शनिक विचारधारा का प्रारूप मिलता है, उसका विकसित रूप उपनिषदों में दृष्टिगोचर होता है। उपनिषद् शब्द 'उप' एवं 'नि' उपसर्ग पूर्वक सद् (सद्लृ) धातु 'क्विप्' प्रत्यय लगाकर बनता है, जिसका अर्थ होता है 'समीप' में बैठना अर्थात् गुरु के समीप बैठकर ज्ञान प्राप्त करना। धातु पाठ के सद् (सद्लृ) धातु के तीन अर्थ निर्दिष्ट हैं-विशरण (विनाश होना), गति (प्रगति), अवसादन (शिथिल होना)। इस प्रकार जो विद्या समस्त अनर्थों के उत्पादक सांसारिक क्रिया-कलापों का नाश करती है, ईश्वर के कारणभूत अविद्या (माया) के बन्धन को शिथिल करती है और ब्रह्म का साक्षात्कार कराती है, उसे 'उपनिषद्' कहते हैं।

आचार्य शंकर 'उपनिषद्' शब्द की व्याख्या करते हुए कहते हैं– ''जो मनुष्य भक्ति एवं श्रद्धा के साथ आत्मभाव से ब्रह्मविद्या को प्राप्त करते हैं, यह विद्या उनके जन्म मरण, रोग आदि अनर्थों को नष्ट करती है और परब्रह्म को प्राप्त कराती है। तथा अविद्या आदि संसार के कारणों को समूल नष्ट करती है ''वह उप + नि पूर्वक सद् धातु का अर्थ स्मरण होने से उपनिषद् है। आचार्य शंकर की इस व्याख्या के अनुसार 'उपनिषद' शब्द का प्रमुख अर्थ 'ब्रह्मविद्या और ब्रह्मविद्याप्रतिपादक ग्रन्थ-विशेष गौण अर्थ है।

प्राचीन काल में इस उपनिषद् विद्या का अध्ययन-अध्यापन रहस् (एकान्त) स्थान में किया जाता था, अत: इसे रहस्य-विद्या' भी कहते हैं। उपनिषदों में अनेक स्थलों पर 'रहस्यविद्या' के अर्थ में 'उपनिषद्' शब्द का प्रयोग किया है। इस प्रकार जिन ग्रन्थों में रहस्यात्मक आत्मविद्या की चर्चा की जाती है, उसे 'उपनिषद्' कहते हैं और वेद का अन्तिम भाग होनेके कारण उसे 'वेदान्त' भी कहते हैं।

उपनिषदों की संख्या

1. ऋग्वेद के उपनिषद्	1. ऐतरेय उपनिषद्
	2. कौषीतकि उपनिषद्
2. शुक्ल-यजुर्वेद के उपनिषद्	3. ईशोपनिषद्
	4. बृहदारण्योपनिषद्
3. कृष्णयजुर्वेद के उपनिषद्	5. तैतिरीयोपनिषद्
	6. कठोपनिषद्
	7. श्वेताश्वतरोपनिषद्
	8. मैत्रायणी उपनिषद्
	9. महानारायणी उपनिषद्

4. सामवेद के उपनिषद् 10. केनोपनिषद्
11. छान्दोग्योपनिषद्
5. अथर्ववेद के उपनिषद् 12. मुण्डकोपनिषद्
13. भाण्डूक्योपनिषद्
14. प्रश्नोपनिषद्

उपरोक्त उपनिषदें किसी एक काल एवं किसी एक व्यक्ति की रचना नहीं है विभिन्न काल के विभिन्न ऋषियों ने अपने जीवन काल में संसार का जो कुछ अनुभव किया है, इसमें उनके अनुभवों और विचारों का संग्रह है।

उपनिषदों के प्रमुख सिद्धान्त :— उपनिषदों का मुख्य विषय 'आत्मविद्या' है। ऋग्वेद में उपलब्ध 'आत्मन्' और 'ब्रह्मन्' शब्द जो उपनिषत्काल में आत्मा और परमात्मा के वाचक बन गये, उनका ऐक्य प्रतिपादन करना ही उपनिषदों का प्रमुख सिद्धान्त है। छान्दोग्योपनिषद् का 'त्तत्वमसि' यह वाक्य आत्मा और परमात्मा के ऐक्य का प्रतिपादक वाक्य है। उपनिषदों में प्रमुख रूप से आत्मा, ब्रह्म, जीव-जगत्, पुनर्जन्म सिद्धान्त, आचार-व्यवहार नैतिक आदर्श आदि विषयों का विवेचन है।

1. **ऐतरेय-उपनिषद्**— ऐतरेय आरण्यक के द्वितीय आरण्यक के अन्तर्गत चतुर्थ से लेकर षष्ठ अध्यायों का नाम 'ऐतरेय' उपनिषद् है। इसमें तीन अध्याय हैं, जिसके द्वितीय तथा तृतीय अध्याय तो एक खण्ड के हैं। प्रथम अध्याय में दो खण्ड हैं, जिसमें सृष्टि तत्व का मार्मिक विवेचन है, जिसके भिन्न-भिन्न अवयवों में देवताओं ने प्रवेश किया, तदन्तर परमात्मा उसके मूर्ध-सीमा को विदीर्ण कर प्रवेश करता है तथा जीवभाव को प्राप्त कर भूतों के साथ तादात्म्य रखता है। इसके बाद गुरुकृपा से बोध के बाद सर्वव्यापक शुद्ध स्वरूप का साक्षात्कार होता है तथा तादात्म्य रखता है 'इन्द्र' की संज्ञा प्राप्त होती है। अन्तिम अध्याय में 'प्रज्ञान' की विशेष महिमा प्रदर्शित है जिससे निःसंदेह यह उपनिषद् आदर्शवाद का प्रतिपादक सिद्ध होत है।

2. **कौषीतकि उपनिषद्**— इस उपनिषद् में चार अध्याय है, जिसमें प्रथम में देवयान तथा पितृयान का विस्तृत वर्णन है तथा चतुर्थ में बालाकि और अजातशत्रु के आख्यान की (बृहदारण्यक में वर्णित) पुनरावृत्ति है। द्वितीय अध्यायों में विशुद्ध दार्शनिक सिद्धान्तों का वर्णन है। तृतीय अध्याय में प्रतर्दन इन्द्र से ब्रह्मविद्या सीखते हैं, जिसके पर्यवसान में प्राणतत्त्व का विशद विवरण है। प्राण प्रथमतःजीवन का तत्व है, तदनन्तर चैतन्य का तत्व है। अन्त में यही प्राण आत्मा का प्रतीक सिद्ध किया गया है, जो जगत् के समस्त पदार्थो का कारण है, तथा प्राणिजात उसके हाथ में यन्त्रवत् घूमते रहते हैं।

3. **ईशोपनिषद**— यह माध्यन्दिनशाखीय यजुर्वेद संहिता का 40 वाँ अध्याय है। आद्य पद्यों (ईशावास्यमिदं सर्वम्) के आधार पर इसका यह नामकरण है। इसमें केवल 18 मन्त्र हैं, जिसमें ज्ञानदृष्टि से कर्म की उपासना का रहस्य समझाया गया है। यह उपनिषद् कर्म सन्यास का पक्षपाती न होकर यावज्जीवन निष्काम भाव से कर्म सम्पादन का अनुरागी है (श्लोक 2)। यहाँ अद्वैतभावना का स्पष्ट प्रतिपादन है। ब्रह्म के स्वरूप के वर्णन के अनन्तर विद्या-अविद्या तथा सम्भूति-असम्भूति का विवेचन है।

4. **बृहदारण्यकोपनिषद्**— परिणाम में ही विशाल नहीं, किन्तु तत्वज्ञान के प्रतिपादन में गंभीर तथा प्रामाणिक है। इसमें 6 अध्याय हैं। इस उपनिषद् के सर्वस्व दार्शनिक हैं याज्ञवल्क्य, जिसकी उदात आध्यात्मक-शिक्षा से यह ओतप्रोत है। प्रथम अध्याय (6 ब्राह्मण) में मृत्यु के द्वारा समग्र पदार्थ के ग्रास किये जाने का, प्राण की श्रेष्ठता विषयक रोचक आख्यायिका तथा सृष्टि विषयक सिद्धान्तों का वर्णन है। द्वितीय अध्याय (6 ब्राह्मण) के आरंभ में अभिमानी गार्ग्य तथा शान्तस्वभाव काशी के राजा अजातशत्रु का रोचक संवाद है। इसी अध्याय (चतुर्थ ब्राह्मण) में याज्ञवल्क्य अपनी दोनों भार्याओं— कात्यायनी तथा मैत्रेयी को अपना धन विभक्त कर वन में जाते हैं साथ ही मैत्रयी के प्रति उनकी दिव्य दार्शनिक सन्देश की वाणी मिलती है। तृतीय में जनक की सभा में नाना ब्रह्मवादियों को याज्ञवल्क्य के हाथों परास्त होने तथा मौन होने के विशेष वर्णन है। तृतीय में इस प्रकार महाराज जनक वैदेह केवल तटस्थ श्रोता हैं, परन्तु चतुर्थ में वे स्वयं महर्षि से तत्वज्ञान सीखते हैं। इस अध्याय के पंचम ब्राह्मण में कात्यायनी तथा मैत्रेयी का आख्यान मिलता है। पंचम अध्याय में नाना प्रकार के दार्शनिक विषयों का विवेचन है, जैसे नीति-विषयक, सृष्टि विषयक तथा परलोक विषयक तथ्य। षष्ठ अध्याय में प्रवहण जैबलि तथा श्वेतकेतु आरुणेय का दार्शनिक संवाद है, जिसमें जैबलि द्वारा पंचाग्नि विद्या का विशद विवेचन है। याज्ञवल्क्य का तत्वज्ञान बड़ा ही विशद, प्रामाणिक तथा तर्कपूर्ण है। उपनिषद् युग के वे सर्वमान्य तत्वज्ञ थे, जिनके सामने ब्रह्मविद् जनक भी नतमस्तक होकर तत्वज्ञान सीखने से पराङ्मुख नही होते। वे केवल सिद्धान्तवादी ही नही थे, प्रत्युत व्यवहार में तत्वज्ञान के उपदेशक थे।

5. **तैत्तिरीयोपनिषद्**— यह तैत्तिरीय आरण्यक का (सप्तम, अष्टम तथा नवम् खंडों का) ही अंश है। आरण्यक के सप्तम प्रपाठक का नाम है, 'संहिती उपनिषद्' जो यहाँ शीक्षावल्ली के नाम से विख्यात है। आरण्यक का वारुणी उपनिषद् (प्रपाठक आठ और नव) यहाँ ब्रह्मानन्दवल्ली और भृगुवल्ली के नाम से प्रख्यात है। अत: ब्रह्मविद्या की दृष्टि से वारुणी उपनिषद् का ही प्राधान्य है। परन्तु चित्त की शुद्धि तथा गुरु कृपा की प्राप्ति के निमित्त शिक्षावल्ली का भी गौणरूपेण उपयोग है। इसमें कई प्रकार की उपासना तथा शिष्य और आचार्य-संबंधी शिष्टाचार का निरूपण है। 11 वें अनुवाक में स्नातक के लिए उपयोगी शिक्षाओं का एकत्र निरूपण है, तदनन्तर भृगुवल्ली में ब्रह्मप्राप्ति का मूल्य साधन ''पंचकोश-विवेक'' वरुण तथा भृगु के संवाद रूप से वर्णित है।

6. **कठोपनिषद्**— कृष्ण यजुर्वेद की कठशाखा का अनुयायी यह उपनिषद् अपने गंभीर अद्वैत तत्व के लिए विख्यात है। इसमें दो अध्याय तथा प्रत्येक में तीन बल्लियाँ है। तैत्तिरीय आरण्यक में संकेतित नचिकेता की उपदेशप्रद कथा से यह आरंभ होता है। नचिकेता के विशेष आग्रह पर यम उसे अद्वैत तत्व का मार्मिक उपदेश देते है 'नेह नानास्ति किंचन' इस उपनिषद् का गंभीर शंखनाद है। नित्यों में नित्य, चेतनों में चेतन वह एक ब्रह्म सब प्राणियों की आत्मा में निवास करता है। उसी का दर्शन शान्ति का एकमात्र साधन है (2, 213)। योग ही उसके साक्षात्कार का प्रधान है। मूँज से इषीका (सीक) के मसान इस शरीर के भीतर विद्यमान आत्मा की उपलब्धि योग द्वारा करनी चाहिये यही इसका व्यवहारिक उपदेश है।

7. **श्वेताश्वतरोपनिषद्**— यह उपनिषद् तो शैवधर्म के गौरव प्रतिपादन के लिए निर्मित प्रतीत होता है। द्वितीय अध्याय में योग का विशद प्राचीन विवेचन है। तृतीय से पंचम तक शैव तथा सांख्य सिद्धान्तों

का प्रतिपादन है। अन्तिम अध्याय में गुरुभक्ति का तत्त्व वर्णित हे। गुरुभक्ति देशभक्ति का ही रूप है (6, 23)। भक्तितत्व का प्रथम प्रतिपादन इस उपनिषद् की मुख्य विशेषता है। यह उस युग की रचना है, जब सांख्य का वेदान्त से पृथक्करण नही हुआ था। दोनों के सिद्धान्त मिश्रित रूप से उपलब्ध होते हैं। औपनिषद् सांख्य सेश्वर था। इसलिए सांख्य का ईश्वर प्रधान के ऊपर आधिपत्य रखने वाला वर्णित है (6, 10); वेदान्त में अभी माया का सिद्धान्त विकसित नहीं हुआ था। त्रिगुणों की साम्यावस्थारूपा प्रकृति का विवेचन निःसन्देह है (4, 5), परन्तु अभी तक वह पूरा सांख्य तत्व नहीं होता। क्षर, प्रधान, अक्षर आदि तत्वों का समावेश गीता ने यही से लिया (1, 10), शिव परमात्मत्व के रूप में अनेक बाद वर्णित है (1, 10)। इस प्रकार सांख्य तथा वेदान्त के उदय काल के सिद्धान्तों की जानकारी के लिए यह उपनिषद् महत्वपूर्ण है।

8. **मैत्रायणी उपनिषद्**— अपने विचित्र सिद्धान्तों के लिए सदा प्रख्यात है। इसमें सांख्य-दर्शन, के तत्व, योग के षड्अंगो का तथा हठयोग के मन्त्र-सिद्धान्तों का वर्णन, दर्शनों के विकास को समझने के लिए अत्यन्त उपयोगी है। इस उपनिषद्में सात प्रपाठक हैं। पूरा उपनिषद् गद्यात्मक है, परन्तु स्थान-स्थान पर पद्य भी दिये गये है। अन्य उपनिषदों के भी निःसन्दिग्ध संकेत तथा उद्धरण यहाँ मिलते हैं। इसलिए यह त्रयोदश उपनिषदों में अपेक्षाकृत अर्वाचीन माना जाता है।

9. **महानारायणोपनिषद्**— सायण भाष्य के साथ प्रकाशित तैत्तिरीय आरण्यक का दशम प्रपाठक और उनके पूर्ववर्ती भट्टभास्कर के भाष्य के साथ प्रकाशित उस ग्रन्थ का छठा प्रपाठक महानारायणोपनिणद् याज्ञिक्युपनिषद् या केवल नारायणीयोपनिषद् के नाम से अभिहित है। इसके अनुवाकों की संख्या की विविधता का उल्लेख आरण्यक के प्रसंग में किया जा चुका है। पाठ की अनेक रूपता, तथा वेदान्त, संन्यास, दुर्गा, नारायण, महादेव, दन्ति और गरुड़ आदि शब्दों के मिलने के कारण इसे बहुत प्राचीन नहीं माना जाता, फिर भी विट्रतित्स ने मैन्युपनिषद् से इसे प्राचीन माना है। बौधायन सूत्रों में इसका विवरण पाया जाता है, अतः यह उपनिषद् अधिक अर्वाचीन भी नहीं कहा जा सकता। इसमें नारायण का उल्लेख परमात्मतत्व के रूप में बहुत बार किया गया ह। साथ ही स्नान, आचमन, होम आदि के लिए उपयुक्त मन्त्रों की सत्ता तथा अन्त में (अनुवाक् 14) तत्वज्ञानी के जीवन का यज्ञ के रूप नें चित्रण (जैसे आत्मा, यजमान है, श्रद्धा पत्नी है इत्यादि)। इन्हीं तथ्यों के आधार पर इसका नाम नाराणीय या याज्ञिकी उपनिषद् रखा गया है। इसमें आत्मतत्व का निरूपण विशद रूप में है। एक ही परम सत्ता है, वही सब कुछ है (अनुवाक् 10, मन्त्र 20)।

10. **केनोपनिषद्**— अपने आरम्भिक पद (केनेषितंपतति) के कारण यह उपनिषद् 'केन' तथा अपनी शाखा के नाम पर 'तवलकार' उपनिषद् कहलाता है। इस छोटे परन्तु मार्मिक उपनिषद् में केवल चार खण्ड हैं। प्रथम खंड में उपास्य ब्रह्म तथा निगुर्ण ब्रह्म में अन्तर बतलाया गया है। दूसरे में ब्रह्म के रहस्यमय रूप का संकेत है। तृतीय और चतुर्थ खण्ड में उमा हैमवती द्वारा परब्रह्म की सर्वशक्तिमत्ता तथा देवताओं की अल्पशक्तिमत्ता का सुन्दर निदर्शन है। छोटे होने पर भी दार्शनिक दृष्टि से महत्वपूर्ण ग्रन्थ हैं।

11. **छान्दोग्योपनिषद्**— यह सामवेदीय उपनिषद् प्राचीनता, गंभीरता तथा ब्रह्मज्ञान-प्रतिपादन की दृष्टि से उपनिषदों में प्रौढ़, प्रामाणिक तथा प्रमेय बहुल है। इसमें आठ अध्याय या प्रपाठक हैं, जिसमें अन्तिम

तीन अध्यात्म दृष्टि से महत्वपूर्ण है। इसके आदिम अध्यायों में अनेक विद्याओं का ओंकार तथा साम के गूढ़ स्वरूप का विवेचन मार्मिकता से किया गया है। द्वितीय अध्याय के अन्य में 'शौव उद्‌गीथ' है जो केवल भौतिक स्वार्थ पूर्ति के लिए यागानुष्ठान तथा सामगायन करने वाले व्यक्तियों के ऊपर मार्मिक व्यंग्य है। तृतीय अध्याय में सूर्य की देवमधु के रूप में उपासना है। गायत्री का वर्णन, घोर आंगिरस के द्वारा देवकी पुत्र कृष्णको अध्यात्म-शिक्षा (3, 17) तथा अन्त में अण्ड से सूर्य के जन्म (3, 18) का सुन्दर विवेचन है। इस अध्याय का यह प्रसिद्ध सिद्धान्त ''सर्वं खल्विदं ब्रह्म'' सब कुछ ब्रह्म ही है (3, 14, 1) अद्वैतवाद का विजय घोष है। चतुर्थ अध्याय में रैक्व का दार्शनिक तथ्य सत्यकाम जाबाल तथा उसकी माता की कथा (4, 4, 9); उपकोशल को सत्यकाम जाबाल से ब्रह्मज्ञान की प्राप्ति (4, 10-17) का विस्तृत तथा रोचक विवेचन है। पंचम प्रपाठक में प्रवाहण जैबलि के दार्शनिक सिद्धान्त तथा केकय अश्वपति के सृष्टि विषयक तथ्यों का विस्तृत वर्णन है, जिसमें छः विभिन्न दार्शनिकों के सिद्धान्तों का समन्वय किया गया है (5, 11-24)। षष्ठ प्रपाठक छान्दोग्य का अध्याय हैं, जिसमें महर्षि आरुणि के ऐक्यप्रतिपादिक सिद्धान्तों की रोचक व्याख्या है। जिस प्रकार याज्ञवल्का बृहदारण्यक के सर्वश्रेष्ठ आध्यत्म-उपदेष्टा हैं, उसी प्रकार आरुणि छान्दोग्य के दार्शनिक हैं। इनके सिद्धान्त इतने सुन्दर, प्रामाणिक तथा तर्कपूर्ण है कि शपथ के अनुसार याज्ञवल्वय के आरुणि के शिष्य होने में कोई आश्चर्य नहीं 'तत्त्वमसि'— आरुणि की अध्यात्म शिक्षा का ठीक स्थानीय मन्त्र है। सप्तम प्रपाठक में सनत्कुमार तथा नारद का अत्यन्त विश्रुत वृतान्त है। जिसमें मंत्रविद् नारद, आत्मविद्या की शिक्षा के निमित्त महर्षि सनत्कुमार के पास आते हैं। अन्तिम प्रपाठक में इन्द्र तथा विरोचन की कथा है, तथा आत्म प्राप्ति के व्यवहारिक उपयोगों का सुन्दर संकेत मिलता है।

12. **मुण्डकोपनिषद्**— यह अथर्ववेदीय उपनिषद् 'मुण्डक' (मुण्डन-सम्पन्न व्यक्तियों) के लिए निर्मित है। इस उपनिषद् में ब्रह्मा अपने ज्येष्ठ पुत्र अथर्वा को ब्रह्मविद्या का उपदेश देते हैं। यज्ञादि अनुष्ठान को ही श्रेष्ठ मानने वाले व्यक्ति स्वर्गलोक पाकर भी अन्ततः इस भूतल पर आते हैं (1, 2, 10)। इस प्रकार कर्मकांड की हीनता तथा दोषों के अनन्तर ब्रह्मज्ञान की श्रेष्ठता प्रतिपादित है। द्वैतवाद का प्रथम स्तम्भ रूप 'द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया' (3, 1, 1) मन्त्र इस उपनिषद् में आता है। 'वेदान्त' शब्द का सर्वप्रथम प्रयोग यहीं उपलब्ध होता है (3, 2, 9)। ब्रह्मज्ञानी के ब्रह्म में लय प्राप्त करने की तुलना नाम रूप को छोड़कर नदियों के समुद्र में अस्त होने से दी गई है। इसमें सांख्य तथा वेदान्त के तथ्यों का भी थोड़ा प्रभाव दृष्टिगोचर होता है।

13. **माण्डूक्योपनिषद्**— यह भी अथर्ववेद से संबंधित एक लघु ग्रन्थ है, परन्तु सिद्धान्त में उतना ही विशाल है। इसमें केवल 12 खण्ड या वाक्य हैं, जिसमें चतुष्पाद आत्मा का बड़ा ही मार्मिक तथा रहस्यमय विवेचन है। इस उपनिषद् को ओंकार की मार्मिक व्याख्या करने का श्रेय प्राप्त है। ऊँकार में तीन मात्रायें होती हैं, तथा चतुर्थ अंश 'अमात्र' होता है। चैतन्य की तदनुरूप चार अवस्थायें होती हैं— जागरित, स्वप्न, सुषुप्ति तथा चैतन्य की अव्यवहार्य तुरीय दशा। इन्हीं का आधिपत्य धारण करने वाला आत्मा भी क्रमशः चार प्रकार का होता है— वैश्वानर, तैजस, प्राज्ञ तथा प्रपंचोपशमरूपी शिव, जिसमें अन्तिम ही चैतन्य आत्मा का विशुद्ध रूप है। इसके ऊपर गौडपादाचार्य ने चार खण्डों में विभक्त अपनी कारिकायें (माण्डूक्य-कारिका) लिखी हैं, जो मायावादी अद्वैत-वेदान्त की पूर्ण प्रतिष्ठा मानी जाती है।

14. **प्रश्नोपनिषद्**— इस उपनिषद् में छः ऋषि ब्रह्मविद्या की खोज में महर्षि पिप्पलाद के समीप जाते है और उनसे अध्यात्मविषयक प्रश्नों का उत्तर पूछते हैं। प्रश्नों के उत्तर में निबद्ध होने से इसका 'प्रश्न' उपनिषद् नाम सार्थक है। मीमांस्य प्रश्न है (1) प्रजा की उत्पत्ति कहाँ से होती है? (2) कितने देवता प्रजाओं को धारण करते हैं, तथा कौन इनको प्रकाशित करता है तथा कौन सर्वश्रेष्ठ है? (3) प्राणों की उत्पत्ति, शरीर में आगमन तथा उक्रमण आदि विषयक प्रश्न; (5) ओंकार पुरुष की उपासना तथा उससे लोकों की जीत, (6) षोड्षकला— सम्पन्न पुरुष की विवेचना। इन प्रश्नों में अध्यात्म की समस्त समस्याओं का विवेचन बड़ी सुन्दरता तथा गम्भीरता के साथ किया गया है। अक्षर ब्रह्म ही इस जगत् की प्रतिष्ठा बतलाया गया है।

उपरोक्त 14 उपनिषदों के अतिरिक्त चार नव प्राप्त उपनिषद् भी है—

15. **बाष्कलमन्त्रोपनिषद्**— यह उन चार नव प्राप्त उपनिषदों में से अन्यतम है, जिसकी पाण्डुलिपि आड्यार लाइब्रेरी में प्राप्त है। यह ऋग्वेद की उस बाष्कल शाखा के अन्तर्गत है, जो अब अप्राप्य है। इसमें कुल 25 मन्त्र हैं, आत्म तत्व ही प्रतिपाद्य विषय है।

16. **छागलेयोपनिषद्**— बाष्कलमन्त्रोपनिषद् की भाँति इसकी भी केवल एक ही पाण्डुलिपि आड्याचार लाइब्ररी में प्राप्त है। इसका प्रकाशन भी उसके साथ उपर्युक्त तीन स्थानों से हुआ है। बहुत ही छोटा उपनिषद् (केवल 6 अनुच्छेद) है। इसके अन्त में एक बार छागलेय नाम आया है। सरस्वती के तट पर ऋषियों के सत्र का उल्लेख है। उन्होंने कवष ऐलूष की निन्दा 'दास्या पुत्र' कहकर की। कवष ऐलूष ने पास के ही आत्रेय के शव की ओर संकेत करके पूछा कि जिस आत्रेय ने शुनकों के सत्र में अच्छावाक् के रूप में महान् यज्ञीय कार्य किये थे, उनका वह सब ज्ञान क्या हुआ? ऋषि बता न सके। कवष ऐलूष ने उन्हें कुरुक्षेत्र में वालिशों (एतन्नामक ऋषियों) के पास भेजा। वहाँ वे वर्ष भर रहे, और तदनन्तर बालिशों ने उन्हें रथ के दृष्टात द्वारा उपदेश दिया।

17. **आर्षेयोपनिषद्**— यह भी उपर्युक्त दो उपनिषदों के समान एक मात्र पाण्डुलिपि से ज्ञात एवं प्रकाशित है। इसमें भी केवल अनुच्छेद है। ऋषियों का ब्रह्मोद्य (ब्रह्मविचार) परस्पर विमर्श द्वारा वर्णित है। विश्वामित्र, जमदग्नि, भरद्वाज, गौतम, वशिष्ठ प्रमुख ऋषि हैं। इन ऋषियों के विचार विमर्श का विवरण देने से ही इसका नाम आर्षेय (ऋषि-संबंध) प्रतीत होता है।

18. **शौनकोपनिषद्**— उपर्युक्त तीन उपनिषदों की ही श्रेणी में शौनकोपनिषद् आड्याचार लाइब्रेरी की एकमात्र पाण्डुलिपि से ज्ञात एवं प्रकाशित है। इसके अन्त में उपदेष्टा के रूप में शौनक का उल्लेख है, इसी से इसका नाम ''शौनकोपनिषद'' है।

प्राचीन उपनिषदों का यह विश्लेषण उनके महत्व तथा उपदेश को दिशा बतलाने में पर्याप्त माना जा सकता है। उपनिषदों के तत्वज्ञान तथा कर्तव्य शास्त्र का प्रभाव भारतीय दर्शन पर पूर्ण रूप से विद्यमान है। उपनिषद् वेदों के तत्व तथा रहस्य प्रतिपादन के कारण सचमुच ही वेदान्त' हैं।

(5) स्मृति

स्मृति

भारतीय धर्मशास्त्र का स्रोत वेद है और वेद के विषय में यह मान्यता है कि (1) मनुष्य के लिए

जो कुछ भी कल्याणकारी है, वह वेद से जाना जाता है। (2) इसका ज्ञान केवल वेद से ही हो सकता है और (3) जो कुछ भी वेद कहता है वह अनिवार्य सत्य है। इस मान्यता को आधार मानकर ही भारतीय विचारकों ने अपने चिन्तन की आधारशिला वेद को जनाया है। किन्तु साथ ही साथ भारतीय ऋषि समय के प्रवाह को भी नहीं भूले हैं। परिणामत जैसे-जैसे समय में विचारों की क्रान्ति होती गई उन्होंने उन विचारों की क्रान्ति के बीज भी वेद में देखे हैं। परिणाम यह हुआ है कि वैदिक साहित्य के बाद अपनी प्रगतिशील आस्था में जीवन की परिवर्तित अवस्थाओं में स्मृतियों का उदय हुआ। कोई भी व्यक्ति यह स्वीकार करने के लिए तैयार नहीं है कि स्मृतियों में कुछ ऐसी नई बात है, जो वेदों में न हो। उसका दृढ़ विचार है कि स्मृतियाँ जैसा कि नाम से प्रतीत होता है, धर्मशास्त्र ग्रन्थ हैं, जो ऋषियों द्वारा स्मृति पूर्वक लिखे गये हैं। इसके लिखने वाले भी वे ऋषि हैं, जिनको वेद का ज्ञान है। इन स्मृतियों का प्रणयन भी इस कारण हुआ कि ऋषियों ने यह अनुभव किया कि आगे आने वाली पीढ़ी उस ज्ञान को हृदयंगम करने में असमर्थ है, जो ज्ञान वेदों में सुरक्षित है। अतः वेदों के ज्ञान को उन मुग्ध बुद्धि वाले व्यक्तियों तक पहुँचाने के लिए ही सार रूप में स्मृतियाँ लिखी गई। ये स्मृतियाँ भी स्थान और काल के भेद से सभी मनुष्यों को समान रूप से प्रभावित नहीं कर सकती थीं। अतः स्थान और समय भेद को ध्यान में रखते हुए अनेक स्मृतियों का प्रणयन हुआ।

इन स्मृतियों का निर्माण काल भारत के विभिन्न स्थानों पर विभिन्न समयों में हुआ था और उनके लिए यह आवश्यक था कि वे मनुष्यों की सर्वसम्मत आकांक्षाओं का मार्गदर्शन करें और समाज की विद्यमान अवस्था और सामान्य अनुभव को प्रतिबिम्बत करें। जिस समय स्मृतियों का निर्माण हुआ था; उस समय स्मृतियों में वर्णित अनेक जातियाँ थीं तथा अनेक जातियों की सामाजिक स्थिति प्रत्येक स्थान पर अथवा समय-समय पर निर्धारित हो चुकी थीं।

धर्मसूत्रों तथा श्लोकात्मक स्मृतियों के प्रधान विषय हैं, वर्णधर्म तथा आश्रम-धर्म। धूर्मसूत्रों में राजधर्म तथा न्याय और व्यवहार के धर्म का संक्षिप्त विवेचन है। इन का विस्तृत विवेचन मनुस्मृति, विष्णु स्मृति, याज्ञवल्वय स्मृति तथा नारद स्मृति में किया गया है। विशेष रूप से मनुस्मृति राजधर्म की दृष्टि से बड़ा ही महत्वपूर्ण ग्रन्थ है। इसमें सातवें अध्याय के पश्चात् सामाजिक संस्थाओं तथा राजनीति का विस्तार के साथ विवेचन किया गया है। इससे यह कहना आवश्यक प्रतीत होता है कि मनुस्मृति भारतीय धर्मशास्त्र के इतिहास में विकास या प्रगति के नये युग का परिचायक है। मनुस्मृति की समाज संबंधी विचार पद्धति में वेद सम्बन्धी ऐहिक दृष्टिकोण का प्रथम परिचय प्राप्त होता है कि उस काल में राज्य तथा वर्णव्यवस्था के विषय में एहिकता प्रधान विचार पद्धति का जन्म नहीं हुआ था। कम से कम उसको एक प्रौढ़ रूप प्राप्त नहीं हुआ था, ऐसा कहा जा सकता है। एक दृष्टि से और भी मनुस्मृति अपना विशिष्ट स्थान रखती है और वह यह है परिस्थिति तथा काल के भेदों के अनुसार मनुस्मृति पर समय-समय पर किये गये अनेकों संस्कार, जिससे पर्व के परिवर्तनों का क्रम पाया जाता है। इस संबंध में नियोग को उद्धृत किया जा सकता है। मनुस्मृति में एक स्थान (8,56-60) पर नियोग का विधान है, तो दूसरे स्थान (9,64-68) पर उसकी घोर निन्दा की गई है। इसी प्रकार का अन्य विरोध मांस खाने के विषय में उपलब्ध होता है। इस तरह का और इतना अन्तर्विरोध गौतम, आपस्तब आदि धूर्मसूत्रों में नहीं मिलता। अन्य स्मृति ग्रन्थों में भी नहीं मिलता। अन्य स्मृति के आधार पर तो निश्चित रूप से कहा जा सकता

है कि प्राचीन काल में नियोग को मान्यता प्राप्त थी। इस विषय में मनुस्मृति (9, 36-37) का कथन है कि दुष्ट राजा वेण के काल में इस पशु धर्म का सूत्रपात हुआ। विश्वरूप, इस नियोग धर्म को शूद्रों के लिए मानते है, त्रैवर्णिकों के लिए नहीं, याज्ञवल्वय ने नियोग की निन्दा कहीं नहीं की है। मनु, ब्राह्मण को शूद्र कन्या के साथ विवाह करने की अनुमति देता है (3, 12) जब कि याज्ञवल्क्य का यह स्पष्ट कहना है कि ऐसा मेरा मत नहीं है (1, 56)। फिर भी याज्ञवल्क्य में शूद्र कन्या के साथ जो विवाह का वर्णन उपलब्ध होता है, वह तत्कालीन समाज का प्रतिबिम्ब है, अथवा मनु के प्रति आदर भाव प्रकट करने के लिए ऐसा किया गया है, ऐसा समझना चाहिये। यही स्थिति जुए के विषय में है। मनुस्मृति (1, 2 और 107) और याज्ञवल्क्य स्मृति (5, 1) के सदृश प्राचीन स्मृतियों में यह परम्परा पाते हैं कि ऋषिगण उन स्मृति निर्माताओं के पास प्रणतभाव से जाते हैं और उसमें प्रार्थना करते हैं कि हमको वर्णों और आश्रमों के धर्मों के विषय में उपदेश दीजिये। इस प्रकार ऋषियों की, महान् समृतिकारों के पास जाने की चर्चा प्रायः सभी स्मृतियों में पाई जाती है। कहा गया है कि याज्ञवल्वय स्मृति तथा नारद स्मृति को यह महत्व प्राप्त है कि उसने धर्मशास्त्र के अन्दर व्यवहार के विधानों की आधिकारिता की स्थापना की और अर्थशास्त्र को व्यवहार के विषय में किसी प्रकार की स्वतंत्र प्रामाणिकता से वंचित कर दिया (याज्ञवल्क्य 2, 21)। इसका अर्थ यह है कि याज्ञवल्क्य स्मृति के काल से अर्थशात्र गौण हो गया। पराशर (1, 24) कहता है कि कृतयुग में मनुविहित धर्म, कर्म माना जाता है, त्रेता युग में गौतम का वचन, धर्म के विषय में प्रामाणिक होता है, द्वापर में शंखलिखित और कलि युग पराशरोक्त धर्म, कर्म कहा जाता है। इस प्रकार पराशर ने चारों युगों के लिए चार स्मृतियों की प्रामाणिकता को सुस्थिर कर दिया है। संभवतः स्मृतिकारों में वृहस्पति सब से पहला विधिज्ञ है, जिसने व्यवहार और न्याय व्यवस्था में भेद किया।

स्मृति का अर्थ— श्रुति का तात्पर्य उस ज्ञान से है और पर्याप्त ध्यानपूर्वक चिन्तन के बाद की गई उस दिव्य ज्ञान की व्याख्या 'स्मृति' है। यद्यपि विद्वानों ने आजकल की भाषा में सामान्य रूप से 'स्मृति' को 'हिन्दू लॉ' नाम से अभिहित किया है, पुनरपि यह उसके सम्पूर्ण भाव का हृदयंगम कराने में अक्षम है। 'स्मृति' शब्द का अर्थ विस्तार की दृष्टि से सभी प्राचीन वैदिक साहित्य से भिन्न, साहित्य के लिए प्रयुक्त होता है; और सभी श्रौत सूत्र, गृह्य सूत्र और धर्म सूत्रों के लिए तथा मनु और याज्ञवल्क्य सदृश अन्य सभी स्मृतियों के लिए। सीमित अर्थ की दृष्टि से स्मृति और धर्मशास्त्र— ये दोनों ही शब्द समानार्थक है, जैसा कि मनु ने कहा है— ''श्रुतिस्तु वेदो विज्ञेयो धर्मशास्त्र तु वै स्मृतिः।'' 2, 10। गौतम धर्मसूत्र (1, 2), और वसिष्ठ धर्मशास्त्र (1, 4) स्मृति को धर्म के स्रोत के रूप में वर्णन करते है। उत्तर-मीमांसा में 'स्मर्यते च' इस सूत्र के भाष्य में महाभारत को भी स्मृति कहा गया है। स्मृतियों की प्रामाणिकता श्रुति के बाद आती है। धर्मशास्त्र के अन्तर को प्रकट करते हुए अपरार्क (पृ. 626) ने कहा है— ''प्रमाणान्तर दृष्टार्थ विषया स्मृतिरर्थशास्त्रम् वैदिक समधिगम्यार्थ विषया तु धर्मशास्त्रम्।'' इस शब्द से केवल मनु और याज्ञवल्क्य आदि स्मृतियों का ही ग्रहण किया गयाहै।

स्मृतियों की संख्या— 'स्मृति' नाम से कही जाने वाली स्मृतियों की संख्या और उसके नाम के विषय में पर्याप्त मतभेद है। वस्तुतः स्मृतियों की संख्या निरन्तर बढ़ती ही गई है। वीरमित्रोदय (परिभाषा पृ. 18) में दिये गये उद्धरण के अनुसार प्रयोगपारिजात में 18 मुख्य स्मतियों, 10 उपस्मृतियों

और 21 अन्य स्मृतिकारों का प्रयोग है।

(क) प्रयोग पारिजात के अनुसार 18 प्रमुख निम्न स्मृतिकार हैं— मनु, वृहस्पति, दक्ष, गौतम, यम, अंगिरस, योगीश्वर, प्रचेतस, शातातप, पराशर, संवर्ग, उशनस्, शंख, लिखित, अत्रि, विष्णु, आपस्तम्ब और हारीत।

(ख) 18 उपस्मृतिकार हैं-जाबालि, नाचिकेत, स्कन्ध, लौगाक्षि, कश्यप, व्यास, सनत्कुमार, शान्तनु, जनक, व्याघ्र, कात्यायन, जातूकर्ण्य, कपिजल, बौधायन, काणाद, विश्वामित्र, पैठीनसि, गोभिल।

(ग) अन्य 11 स्मृतिकार इस प्रकार हैं-वशिष्ठ, नारद, सुमन्तु, पितामह, विष्णु, कार्षाजिनि, सत्यव्रत, गार्ग्य, देवल, जमदग्नि, भरद्वाज, पुलस्त्य, पुलह, क्रतु, ओत्रेय, गवेय, मरीचि, वत्स, पारस्कर, ऋष्यशृंग, वैजावाप।

मिताक्षरा और अपरार्क आदियों ने षड्त्रिंशन्मत नामक स्मृति का भी उल्लेख किया है। अपरार्क (पृ. 7) का कहना है कि भविष्यपुराण में 36 स्मृतियों का उल्लेख है।

वृद्धगौतम स्मृति (जीवानन्द भाग 2) ने 57 धर्मशास्त्रों की सूची प्रस्तुत की है।

यदि बाद में रचित निर्णयसिन्धु, नीलकंठ विरचित मयूख तथा वीरमित्रोदय आदि निबन्धों में वर्णित सभी स्मृतियों का परिगणन् कर लिया जाये तो इन स्मृतियें की संख्या 100 से ऊपर होगी। इनमें से कुछ स्मृतियाँ पूर्णरूप से गद्य में है, कुछ गद्य और पद्य मिश्रित हैं, और कुछ पूर्णरूपेण पद्य में है। इनमें से अधिक संख्या स्मृतियों की ऐसी है जो पद्य में हैं। ये सभी स्मृतियाँ समान रूप से प्रामाणिक नहीं हैं। धर्मसूत्रों को छोड़कर बड़ी कठिनाई से एक दर्जन स्मृतियाँ इस प्रकार की होंगी, जिन पर टीकाकारों की टीकायें उपलब्ध होती हैं। यदि हम किसी स्मृति की प्रामाणिकता को उसके ऊपर की गई टीकाओं की दृष्टि से देखें तो इस अवस्था में मनुस्मृति सब से अधिकप्रामाणिक तत् पश्चात् याज्ञवल्क्य स्मृति का नम्बर आता है।

साहित्य

साहित्यिक विकास— वैदिक साहित्य के मंत्र, ब्राह्मण, उपनिषद् आदि विभिन्न अंगों का साहित्यिक दृष्टि से अध्ययन महत्वपूर्ण है। तुलनात्मक भाषाशास्त्र के विद्वान् भलीभाँति जानते हैं कि प्राचीन आर्यभाषा परिवार में वैदिक भाषा का स्थान कितना महत्वपूर्ण है। निरुक्त, व्याकरण आदि के नियमों से भाषा को सारस्य व प्रौढ़ता प्राप्त हुई थी। यह भाषा जिस वर्णमाला के आधार पर विकसित हुई थी, वह वर्णमाला भी पूर्णतया वैज्ञानिक थी, जिसका विवेचन महान् वैयाकरण पाणिनि ने अपनी अष्टाध्यायी के प्रारम्भ में किया है। विश्व की किसी भी भाषा की वर्णमाला— चाहे वह भाषा प्राचीन हो या अर्वाचीन उतनी वैज्ञानिक नहीं है। इस विकसित भाषा के द्वारा वैदिक आर्यो ने जीवन संबंधी अपने उत्कृष्ट-अनुभव, विचार, तथा अपनी परिपक्व भावनायें साहित्य के रूप में उपस्थित कीं। इस प्रकार जिस साहित्य का सर्जन हुआ, उसने जीवन के विभिन्न क्षेत्रों को स्पर्श किया। ऋग्वेदादि संहिताओं के आलोचनात्मक अध्ययन से हमें यह भी ज्ञात होता है कि वैदिक युग में साहित्य के विभिन्न रूप भी वर्तमान थे, जैसे गद्य, पद्य व नाटक। इन तीनों में पद्य सबसे महत्वपूर्ण था। वैदिक साहित्य का अधिकांश

भाग पद्य में ही है। गद्य के सर्वप्रथम दर्शन हमें यजुर्वेद व ब्राह्मण साहित्य में होते हैं। नाटक का प्रत्यक्ष उल्लेख तो वैदिक साहित्य में नहीं आता, किन्तु विद्वानों का मत है कि वैदिक यज्ञों का क्रिया-कलाप नाटकीय तत्वों से परिपूर्ण था, अतएव उसके वर्णन ने नाटकीय साहित्य की रचना के लिए प्रेरणा प्रदान की। ऋग्वेद में संवाद-सूक्त वैदिक अविकसित नाटकीय साहित्य के अंग माने जाते हैं। इस युग में काव्य अधिकांश पद्य से ही सम्बन्धित था।

गद्य

प्राचीन भारतीयों को गद्य से अधिक प्रेम न था। उनका अधिकांश साहित्य, यहाँ तक कि व्याकरण, ज्योतिष, आयुर्वेद आदि से सम्बन्धित साहित्य भी पद्यमय ही है। प्राचीन गद्य का इतिहास यजुर्वेद के गद्यांशों से प्रारम्भ होता है (मैकडॉलेन-संस्कृत लिटरैचर पृ. 177) यथार्थ में यजुर्वेद में जो गद्यांश है उसको साहित्यिक नहीं कहा जा सकता, क्योंकि साहित्य में जो कल्पना की उड़ान, भाषा की प्रांजलता तथा उसका लालित्य सौष्ठव आदि आवश्यकीय हैं, वे उसमें नहीं है। यजुर्वेद का गद्य भाग तो यज्ञ की दृष्टि से लिखा गया है, यज्ञ से सम्बन्धित किसी तथ्य को गद्य द्वारा शास्त्रीय ढंग पर समझाने का प्रयत्न किया गया है। इस प्रकार के वर्णन में शुष्क गद्य का प्रयोग किया गया है, जैसा कि निम्नांकित उदाहरण से स्पष्ट हो जाता है।

"अपां त्वेमन्त्सादयाम्यपां त्वोद्मन् सादयाम्यपान्त्वा भस्मन् सादयाम्यपान्त्वा ज्योतिषि सादयाम्यपां त्वायने सादयाम्यर्णवे त्वा सदने सादयामि समुद्रे त्वा सदने सादयामि। सरिरे सदने सादयाम्यपां त्वा क्षये सादयाम्यपान्त्वा सधिषि सादयाम्यपां त्वा सदने सादयाम्यपां त्वा सधस्थे सादयाम्यपां त्वा योनौ सादयाम्यपां त्वा पुरीषे सादयाम्यपां त्वा पाथसि सादयामि गायत्रेण त्वा छन्दसा सादयामि त्रैष्टुभेन त्वा छन्दसा सादयामि जागतेन त्वा छन्दसा सादयाम्यानुष्टुभेन त्वा छन्दसा सादयामि पाङ्क्तेन त्वा छन्दसा सादयामि।"

उपरोक्त गद्यांश का वर्णित विषय "आप:" (जल) है। यज्ञ के कर्मकाण्ड के समय ऋत्विक् पवित्र जल को विभिन्न स्थानों में स्थापित करता है। तथा ऐसा करते समय त्रिष्टुप, अनुष्टुप्, जगती, पंक्ति आदि वैदिक छन्दों का उच्चारण करता है। इस क्रिया-कलाप को समझाने के लिए एक ही कर्म व एक ही क्रिया को कितनी ही बार दुहराया गया है। यह शैली यज्ञ के कर्मकाण्ड में भले ही उचित प्रतीत होवे, किन्तु साहित्यिक गद्यशली में इस प्रकार का शब्दविन्यास बिल्कुल अप्रासंगिक प्रतीत होता है।

यजुर्वेद के पश्चात् ब्राह्मण साहित्य में प्राचीन गद्य के नमूने प्राप्त होते हैं। ब्राह्मण ग्रन्थों में इसके विकास का स्पष्ट पता चलता है। सब ब्राह्मण ग्रन्थ गद्य में ही लिखे गये हैं। इनके आलोचनात्मक अध्ययन से मालूम होता है कि ब्राह्मण-काल में गद्य के भिन्न-भिन्न अंगों का विकास हो गया था। किन्तु वह गद्य आलंकारिकों का काव्यमय गद्य नहीं है। उसमें किसी रसविशेष का अस्तित्व नहीं है।

यज्ञ के क्रिया-कलाप में संहिता के मन्त्रों का विनियोग कैसा होना चाहिये इस पर ब्राह्मण ग्रन्थों में प्रकाश डाला गया है। इसलिए कुछ विद्वान् उन ग्रन्थों को वैदिक मन्त्रों का भाष्य भी मानते हैं। उनमें वर्णित विषय को तीन विभागों में विभाजित किया जा सकता है।

(1) **विधि**— इसमें यज्ञ करने की विधि, यज्ञवेदि बनाने का तरीका व यज्ञ के लिए अन्य आवश्यकीय बातों का वर्णन किया गया है।

(2) **अर्थवाद**— इसमें यज्ञ के महत्व व फल को उदाहरणों द्वारा समझाया गया है। इसके अन्तर्गत प्राचीन काल के कितने ही यज्ञ करने वाले राजाओं का वर्णन आता है, जिससे तत्कालीन धार्मिक, सामाजिक आदि जीवन का अच्छा दिग्दर्शन होता है।

(3) **उपनिषद्**— इसमें यज्ञ व तत्सम्बन्धी कितनी ही बातों पर दार्शनिक ढंग पर विचार किया गया है। यज्ञ के कर्मकाण्ड को दार्शनिक विचारसरणी की सहायता से प्रतीक के रूप में समझाने का प्रयत्न किया गया है।

यद्यपि ब्राह्मण-ग्रन्थों का आलंकारिकों का काव्यमय गद्य नहीं है, तथापि वह यजुर्वेद का शुष्क व नीरस शब्द-विन्यास भी नहीं है। उसमें प्रभावोत्पादक छोटे-छोटे वाक्यों द्वारा प्रतिपाद्य विषय को समझाया गया है। निम्नांकित उदाहरण से ब्राह्मण-साहित्य के गद्य का साहित्यिक महत्व समझ में आ जायगा।

"हरिश्चन्द्रो ह वैधस ऐक्ष्वाको राजपुत्र आस। तस्य ह शतं जाया बभूवुः। तासु पुत्रं न लेभे। तस्य ह पर्वतनारदौ गृह ऊषतुः स ह नारदं पप्रच्छ— "

"यन्विमं पुत्रमिच्छिन्ति ये विजानन्ति ये च न।
किंस्वित्पुत्रेण विंदते तन्म आचक्ष्व नारद।"
"इति स एकया पृष्टो दशभिः प्रत्युवाच।।"

उपरोक्त उद्धरण शौनः शेप आख्यान में से लिया गया है। राजा हरिश्चन्द्र का परिचय कितने रोचक व प्रभावोत्पादक ढंग से छोटे-छोटे वाक्यों की सरल भाषा में दिया गया है। यह आख्यान वेदकालीन लौकिक कथा साहित्य का उत्कृष्ट उदाहरण है। गद्यांश के बीच में कहीं-कहीं अधिक प्रभाव उत्पन्न करने के विचार से पद्यांश को भी रख दिया गया है, जिससे आख्यान का साहित्यिक सौन्दर्य अधिक बढ़ जाता है। उक्त गद्यांश की शब्दावली कितनी सरल है। संस्कृत भाषा का साधारण विद्यार्थी भी उसे सरलता से समझ सकता है। व्याकरण की दृष्टि से भी उक्त शब्दविन्यास में कोई क्लिष्टता नहीं है। उक्त आख्यान को आलोचनात्मक दृष्टि से पढ़ने से स्पष्ट होता है कि वह वैदिककाल के अत्यन्त ही लोकप्रिय साहित्य का उत्कृष्ट नमूना है, जो पारम्परिक रूप से कितने ही वर्षों से जनता में प्रचलित था बाद में पंचतन्त्र, हितोपदेश आदि के साहित्य ने इसी से प्रेरणा प्राप्त की होगी, ऐसा प्रतीत होता है। इस प्रकार ब्राह्मण ग्रन्थों के आख्यानों का साहित्यिक महत्व हो जाता है।

उपनिषद् ग्रन्थ भी वैदिक साहित्य का ही अंग माने जाते हैं। वे गद्य और पद्य दोनों ही हैं। उपनिषदों का गद्यांश साहित्यिक गद्य नहीं कहा जा सकता, उसे शास्त्रीय गद्य कह सकते हैं। गुरु जिस प्रकार अपने शिष्य को कोई गूढ़ विषय समझाता है, किसी मुद्दे को अलग-अलग ढंग से हृदयंगम कराता है, उसी प्रकार उपनिषदों के गद्य में भी किया गया है। ऐसा करते समय क्लिष्ट शब्दावली का आश्रय भी लिया है। निम्नांकित उदाहरण (ऐतरेयोपनिषद् 1/2/5) से उपनिषदों के गद्य का स्वरूप समझ में आ जाएगा।

"तमशनायापिपासे अब्रूतामावाभ्यामभिप्रजानीहीति। ते अब्रवीदेतास्वेव वां देवतास्वाभजाम्येतासु भगिन्यौ करोमीति। तस्माद्यस्यैकस्यै च देवतायै हविर्गृह्यते भागिन्यावेवास्यामशनायापिपासे भवतः।"

उपरोक्त गद्यांश में भूख-प्यास व परमात्मा के मध्य वार्तालाप वर्णित है। इसमें दर्शाया गया है कि परमात्मा ने देवताओं के हविर्भाग में भूख प्यास को भी हिस्सा दिया है। उक्त गद्यांश में क्लिष्ट शब्द-विन्यास का प्रयोग किया गया है, समास, सन्धि आदि का भी फायदा उठाया गया है। गूढ़ व गम्भीर विषय के प्रतिपादन के लिए समास, सन्धि व व्याकरण के नियमों से जकड़ी हुई भाषा का प्रयोग उपयुक्त ही मानना चाहिये।

उपनिषदों में आवश्यकतानुसार सरल से सरल शब्दविन्यास का भी प्रयोग किया गया है। निम्नांकित उदाहरण (तैत्तिरीयोपनिषद् 1. 2, 5) से यह बात स्पष्ट हो जाती है। (गद्यांश और अनुवाद के लिए दे. पृ. 267, वेदकालीन शिक्षा)

वेदाध्ययन की समाप्ति पर आचार्यअन्तेवासियों को जो बहुमूल्य उपदेश देता था, उसका कुछ भाग निहित है। कदाचित् ही किसी और भाषा में इतने बहुमूल्य उपदेश इतनी सरल व प्रभावकारी भाषा में भर दिये गये हों। उपरोक्त गद्यांश को पढ़ने से ऐसा प्रतीत होता है, मानो आर्य-संस्कृति से ओतप्रोत तपस्या व संस्कारों की मूर्ति किसी आचार्य ने अपना हृदय ही अपने अन्तेवासियों के सामने उँडेल दिया है। उक्त उपदेश के ''सत्यं वद'' ''धर्मं चर'' स्वाध्यायान्मा प्रमद,'' मातृदेवो भव'' ''पितृदेवो भव, ''आचार्यदेवो भव'' आदि वाक्य तो विश्व साहित्य में सुवर्णाक्षरों में लिखे जाने योग्य है, तथा देशकाल से अबाधित हैं।

उपरोक्त गद्यांशों को आलोचनात्मक दृष्टि से पढ़ने ये ज्ञात होगा कि वैदिक युग में गद्य-साहित्य का बहुमुखी विकास हुआ था। समाज के विद्वज्जनों ने गद्य की विभिन्न शैलियों पर इतना अधिकार पा लिया था कि वे आवश्यकतानुसार क्लिष्ट से क्लिष्ट व सरल से सरल शैली का प्रयोग कर सकते थे। व्याकरण, सन्धि, समास आदि के नियमों ने भाषा को प्रौढ़ता प्रदान की थी, जिससे कि गम्भीर से गम्भीर विचारों का भी प्रतिपादन उसके द्वारा किया जा सकता था।

पद्य काव्य

वैदिक साहित्य का मंत्रभाग पद्यमय है, और इसी पद्यांश में उत्कृष्ट काव्य के दर्शन होते हैं। वैदिक ऋषियों ने दैवी प्रेरणा से प्रेरित होकर विभिन्न देवताओं का वर्णन करते समय ह्रदय के भावों को मंत्रो में भर दिया है। ऋषियों ने देवताओं का बड़ा सजीव चित्रण किया है। ऋग्वेद के देवता दैवीशक्तियुक्त मानव प्रतीत होते हैं, जिनके जीवन का परम लक्ष्य मानव-कल्याण है। वे अपना ऐश्वर्य प्रकट करने के लिए सुवर्ण के चमकीले रथों में इधर-उधर घूमते हैं व मनुष्य को उसके सुख-दुःख में सहायता करते हैं। वे अपने भक्तों के शत्रुओं को युद्ध में विभिन्न हथियारों की सहायता से पराजित करते हैं। वे मनुष्यों के समान गार्हस्थ्य-जीवन भी व्यतीत करते हैं।

उत्कृष्ट काव्य के उदाहरण तो हमें उषासूक्तों में प्राप्त होते है। वैदिक ऋषियों ने काव्यमय भाषा में उषाका वर्णन किया है। उषा उषःकाल की देवी है। वह देदीप्यमान वस्त्र धारण कर पूर्व दिशा में एक नर्तकी के रूप में दिखाई देती है। वह अन्धकार को भगाती है, तथा रात्रि के काले वस्त्र को हटाती है। वह पुराणी (वृद्धा) रहते हुए भी युवा है। उसकी चमकीली किरणें गायों के झुन्डों के समान प्रतीत होती हैं। उषा को सूर्य की माता कहकर देदीप्यमान बालक को लेकर आती हुई वर्णित किया गया है।

उषा के अतिरिक्त अन्य देवताओं के वर्णन में भी काव्य की कमी नहीं है। इन्द्र के लिए कहा गया है कि वह सोम पीकर मरुतों को साथ लेकर वृत्र या अहि पर आक्रमण करता है। जब घनघोर युद्ध होता है, तब पृथ्वी व आकाश काँपने लगते हैं। इन्द्र-वृत्र युद्ध के रूप में बादलों का भयंकर गर्जन बिजली की चमक व गड़गड़ाहट तथा इन सब के परिणामस्वरूप घनघोर वर्षा का गिरना आदि का सुन्दर व काव्यमय चित्रण किया गया है। वरुण की कल्पना एक राजा या सम्राट के रूप में की गई है। वह अपने भव्य प्रासाद में बैठकर मनुष्यों के कर्मों का निरीक्षण करता है। उसके गुप्तचर उसके आसपास बैठकर दोनों लोकों का अवलोकन करते हैं। सूर्य उनका सोने के पंखवाला दूत है। विष्णु के लिए कहा गया है कि वह अपने तीन पदों में पूरे आकाश व पृथ्वी को नाप लेता है। यहाँ आलंकारिक भाषा में सूर्य के समूचे आकाश में भ्रमण करने का वर्णन किया गया है। पूषा को एक दाढ़ी जटा वाले व्यक्ति के रूप में वर्णित किया गया है, जो सोने का भाला, चाबुक आदि लेकर बकरे जुते हुए रथ में बैठता है, तथा आकाश व पृथ्वी में दूर-दूर तक जाता है। अग्नि को द्यावापृथिवी का पुत्र कहा गया है। वह शुष्क काष्ठ से उत्पन्न होता है और उत्पन्न होते ही अपने पिता का भक्षण करता है। उसकी पीठ घृत की बनी है व बाल ज्वालाओं के हैं, तथा दाँत सुवर्ण के हैं। लकड़ी या घी उसका भोजन है। वह दिन में तीन बार भोजन करता है। जब वह जंगलों पर आक्रमण करता है व दाढ़ी बनानेवाले नाई के समान पृथ्वी की हजामत करता है, तब उसका मार्ग काला रहता है।

निम्नांकित उदाहरणों से ऋग्वेद के उत्कृष्ट काव्य की कल्पना सहज ही में की जा सकती है।

''इदं श्रेष्ठं ज्योतिषां ज्योतिरागाच्चित्रः प्रकेतो अजनिष्ट विभ्वा।

यथा प्रसूता सवितुः सवायँ एवां रात्र्युषसे योनिमारैक्।'' (ऋग्वेद 1/113/1)

(यह ज्योतियों में श्रेष्ठ ज्योति आई है, प्रकाश की पताका उत्पन्न हुई है। सविता के सव से प्रेरित किये जाने पर रात्रि उषा को स्थान देती है।)

''समानो अध्वा स्वस्त्रोरनन्तस्तमन्यान्या चरतो देवशिष्टे।

न मेथेते न तस्थतुः सुभेके नक्तोषासा समनसा विरूपे। (ऋग्वेद 1/113/3)

(दोनों बहिनों (रात व दिन) का मार्ग एक ही है, जो अनन्त है। देवता द्वारा अनुशासित होकर वे एक के बाद एक उस मार्ग पर चलती हैं। अलग-अलग रूप की होती हुई भी सुन्दर तथा एक से विचारवाली रात्रि व उषा न कभी झगड़ती हैं, और न कभी रुकती हैं।)

''एषा दिवो दुहिता प्रत्यदर्शि व्युछन्ती युवतिः शुक्र वासः।

विश्वस्येशाना पार्थिवस्य वस्व उषो अद्येह सुभगे व्युच्छ (ऋग्वेद 1/13/7)

(यह आकाश की दुहिता हमारे सामने प्रकट हुई है। यह युवती अपने शुभ वस्त्रों में चमक रही है। हे समस्त पार्थिव द्रव्य की शासिका व सौभाग्यशाली उषा यहाँ प्रकाशित होओ।)

उपरोक्त उद्धरणों में जो उषा का वर्णन है, वह यथार्थ में उत्कृष्ट काव्य का नमूना है। रात्रि व उषा का बहिनों के रूप में वर्णन तथा उनका नियमपूर्वक चलना कभी न लड़ना व एक से विचार रखना यथार्थ में पाठकों के मन को प्रभावित करता है।

निम्नांकित उद्धरण (ऋग्वेद 1/115/1) में सूर्योदय का वर्णन किया गया है—

''चित्रं देवानामुदगादनीकं चक्षुर्मित्रस्य वरुणस्याग्नेः। आप्रा द्यावापृथिवीमन्तरिक्षं सूर्य आत्मा जगतस्तस्थुषश्च।''

(देवताओं का देदीप्यमान सुख, मित्र वरुण व अग्नि की आँख प्रकट हुई है। स्थावर व जंगम की आत्मा सूर्य द्यावापृथिवी व आकाश में फैल गया है।)

उपरोक्त उद्धरण में उदित होते हुए सूर्य के लिए देवताओं के सुन्दर मुख या मित्र, वरुण, इन्द्रादि की आँख की कल्पना बड़ी सुन्दर प्रतीत होती है। नीचे के मंत्र (ऋग्वेद 1/115/2) में उषाकाल के पश्चात् सूर्य के आगमन की तुलना एक युवक का युवती का पीछा करने से की गई है, जो कि अत्यन्त ही सुन्दर व मार्मिक है।

''सूर्यो देवीमुषसं रोचमानां मर्यो न योषामभ्येति पश्चात्।''

(जिस प्रकार एक युवक एक युवती का पीछा करता है, उसी प्रकार सूर्य सुन्दर उषा देवी के पीछे-पीछे आता है।)

निम्नांकित मंत्रों में रात्रि का काव्यमय वर्णन किया गया है:—

''रात्रीव्यख्यदायती पुरुत्रादेव्यक्षभिः। विश्वा अधिश्रियोऽधित। (ऋग्वेद 10/127/1)

(विस्तार पानेवाली रात्रि देवी अपनी बहुत सी सुन्दर आँखों से प्रकाशित हो रही है। उसने सम्पूर्ण सौन्दर्य धारण कर लिया है।)

''निरु स्वासारमस्कृतोषसं देव्यायती। अपेदु हासते तमः।। (ऋग्वेद 10/127/3)

(रात्रि देवी ने अपनी बहिन ऊषा का स्वागत किया, अन्धकार दूर भाग गया)

''सा नो अद्य यस्या वयं नि ते यामन्न विक्ष्महि। वृक्षे न वसतिं वयं।। (ऋग्वेद 10/127/4)

(आज यह वही रात्रि है, जिसके आगमन पर हम अपने गृहों में प्रवेश करते हैं, जिस प्रकार पक्षी वृक्ष पर स्थित अपने घोंसले में प्रवेश करता है।'')

''नि ग्रामासो अविक्षत नि पद्वन्तो नि पक्षिणः। नि श्येनासश्चिदर्थिनः।। (ऋग्वेद 10/127/5)

(गाँव, चौपाये, पक्षी आदि सब पूर्णतया निस्तब्ध हो गये हैं। भूखा बाज पक्षी भी निस्तब्ध है।'')

ऋग्वेद (10/ 146/1-6) में अरण्यानी (वन) का वर्णन काव्यमय भाषा में किया गया है, जिसका भावार्थ निम्नांकित है:—

''हे अरण्यानी (वनदेवी) तुम देखते-देखते ही दृष्टि से ओझल हो जाती हो। तुम गांव के मार्ग पर क्यों नहीं जाती? क्या तुम एकाकी रहने में भयभीत नही होती? कोई जन्तु बैल के समान शब्द करता है और कोई 'चीं' करता हुआ ही उसका उत्तर देता है, उस समय लगता है कि वे वीणा के प्रत्येक स्वर को निकालते हुए अरण्यानी का यश-गान करते हैं। इस जंगल में कहीं गौएँ चरती हुई जान पड़ती हैं, और कहीं लता-गुल्म आदि से निर्मित कुटीर दिखाई देती है। ऐसा भी लगता है कि सायंकाल में वनमार्ग

से अनेक शकट निकल रहे हो। अरण्यानी में निवास करनेवाला व्यक्ति रात्रि में शब्द सुनता है और दूसरा पुरुष वृक्ष से काष्ठ को काटता है।''अन्त में कहा गया है–

''आंजनगन्धि सुरभिंवह्वन्नाभकृषीवलाम्। प्राहं मृगाणां मातरमरण्यानिमशंसिषम्।। (ऋग्वेद 10/146/6)

(मैने मृगों की माता अरण्यानी की स्तुति की है, जो सुवासित अंजन से युक्त है, जो सुगंधि से परिपूर्ण है, और जो, उनमें कृषि न होते हुए भी भोजन से परिपूर्ण है।)''

उपरोक्त वर्णन में भी उत्कृष्ट काव्य के दर्शन होते हैं। निम्नांकित मंत्र में पर्जन्य का सुंदर वर्णन किया गया है:—

'रथीव कशयाश्वाँ अभिक्षिपन्नाविर्दूतान्कृणुते वर्षयाँ अह।

''दूरात्सिंहस्य स्तनथा उदीरते यत्पर्जन्यः कृणुते वर्ष्यं नभः।। (ऋग्वेद 5/83/3)

(जिस प्रकार रथ चलाने वाला अपने घोड़ों को चाबुक से आगे बढ़ाता है, उसी प्रकार वह (पर्जन्य) वर्षा के दूतों को आगे प्रेरित करता है। जब पर्जन्य आकाश को वर्षा से आच्छादित कर देता है, तब दूर से सिंह के गर्जन जैसा शब्द सुनाई देता है।)

ऋग्वेद के मण्डूकसूक्त में मेढकों का बड़ा ही हास्यरसपूर्ण वर्णन किया गया है, जिसके कुछ उदाहरण नीचे दिये जाते हैं—

''संवत्सरं शशयाना ब्राह्मणा व्रतचारिणः।

वाचं पर्जन्यजिन्वितां प्रमण्डूका अवादिषुः।। (ऋग्वेद 7/103 1)

(ब्रह्मचारी के समान वर्षा भर ध्यानावस्थित रहकर पर्जन्य को प्रेरित करने वाली वाणी को मेंढकों ने उच्चारित की है।)

''यदेषामन्यो अन्यस्य वाचं शाक्तस्येव वदति शिक्षमाणः।

सर्वं तदेषां समृधेव पर्व यत्सुवाचो वदथनाध्यप्सु।'' (ऋग्वेद 7/103/5)

(एक मेंढक दूसरे मेंढक के शब्द को दुहराता है, जिस प्रकार विद्यार्थी अपने शिक्षक के वचनों को दुहराता है। ये मेंढक जल में सुवाचा ये युक्त होकर जो शब्द कर रहे हैं, वह उनके आनन्द का सूचक है।)

ऋग्वेद के उर्वशीपुरूरवा-संवाद (ऋग्वेद 10/85/1-18) में एक निराश प्रेमी तथा निर्घृणहृदया प्रेमिका के भावों का सुन्दर चित्रण किया गया है, जिसका कुछ अंश इस प्रकार है:—

''हे निर्दय नारी! तुम अपने मन को अनुरागी बनाओ। हम शीघ्र ही परस्पर वार्तालाप करें। यदि हम यह समय मौन रहेंगे, तो आगामी दिवसों में सुखी नहीं होंगे।''हे पुरूरवा! वार्तालाप से कोई लाभ नहीं। मैं वायु के समान ही दुष्प्राप्य नारी हूँ। उषा के समान तुम्हारे पास आई हूँ। तुम अपने गृह को लौट जाओ।'' ''हे उर्वशी! मैं तुम्हारे वियोग में इतना संतप्त हूँ कि अपने तरकस से वाण निकालने में भी असमर्थ हो रहा हूँ। इस कारण मैं युद्ध में जय-लाभ करके असीमित गौओं को नहीं ला सकता। मैं

राजकार्यों से विमुख हो गया हूँ, इसलिए मेरे सैनिक भी कार्यहीन हो गये है'' ''हे पुरूरवा! मुझे किसी सपत्नी से प्रतिस्पर्धा नहीं थी, क्योंकि मैं तुमसे हर प्रकार सन्तुष्ट थी। जब से मैं तुम्हारे घर में आई, तभी से तुमने मेरे सुखों का विधान किया।'' ''हे उर्वशी! तुम्हारा पुत्र मेरे पास आकर रोवेगा। पारस्परिक प्रेम के बन्धन को कौन सद्‌गृहस्थ तोड़ना स्वीकार करेगा?'' हे पुरूरवा! मेरा उत्तर सुनो। मेरा पुत्र तुम्हारे पास आकर रोवेगा नहीं। मैं उसकी सदा मंगल-कामना करूँगी। तुम अब मुझे नहीं पा सकोगे, अतः अपने घर को लौट जाओ। मैं तुम्हारे पुत्र को तुम्हारे पास भेज दूँगी।'' हे उर्वशी! मैं तुम्हारा पति आज पृथ्वी पर गिर पड़ा हूँ, मैं फिर कभी न उठ सकूँगा। मैं दुर्गति के बन्धन में पड़कर मृत्यु को प्राप्त होऊँ, वृकादि मेरे शरीर का भक्षण करें।''

यह निर्विवाद है कि उपरोक्त संवाद में उत्कृष्ट काव्य ओत-प्रोत है। उसके निम्नांकित शब्द तो अत्यन्त ही मार्मिक हैं।

''न वै स्त्रैणानि सख्यानि सन्ति सालावृकानां हृदयान्येता।''(ऋग्वेद 10/85/19)

(''स्त्रियों का प्रेम यथार्थ प्रेम नहीं हैं, उनके हृदय भेड़ियों के हृदय के समान होते है।'')

उपरोक्त उद्धरणों से यह स्पष्ट हो जाता है कि वैदिक आर्यों ने काव्य को अच्छी तरह से विकसित किया था। वे हृदय के विभिन्न भावों को काव्य का रूप देकर शृंगार, भयानक, शान्त हास्य आदि रसों का सफलापूर्वक निर्माण कर सकते थे।

वाह्य स्वरूप की दृष्टि से वैदिक मन्त्रों को तीन विभागों में विभाजित किया जा सकता है।, यथा, ऋक्, यजु व सामन्। इस विभाजन का सम्बन्ध यज्ञ के कर्मकाण्ड से था। ऋक् मन्त्र होता द्वारा, यजु अध्वर्यु द्वारा व सामन् उद्‌गाता द्वारा उच्चारित किये जाते थे। इस विभाजन का मंत्रों के साहित्यिक स्वरूप पर कोई विशेष प्रभाव नहीं पड़ता था।

6. वेदांग साहित्य

बहुत समय बीतने पर जब वैदिक साहित्य की भाषा जटिल प्रतीत होने लगी तब उसको भली भाँति समझने में सहायता देने के लिए सूत्र भाषा में एक नया साहित्य तैयार किया गया जिसका नाम वेदांग रखा गया। ये वेदांग छः हैं शिक्षा, छन्द, व्याकरण, निरुक्त, कल्प तथा ज्योतिष।

प्रथम चार वेदमन्त्रों में शुद्ध उच्चारण और शुद्ध अर्थ को समझने के लिए तथा अन्तिम दो कर्मकाण्ड व धार्मिक कृत्य तथा इसके लिए उपयुक्त समय को सूचित करने के लिए बनाये गये थे। यद्यपि वेदांग साहित्य वैदिक संहिताओं और ब्राह्मणों के पश्चात् का है तथा सूत्र शैली में है जो कि बहुत बाद में विकसित हुई तथापि उसमें प्रतिपादित विषय और उससे संबंधित सामग्री वैदिक साहित्य की समकालीन है तथा उसके विकास में उक्त सामग्री से पर्याप्त सहायता मिली थी अतएव वेदांग साहित्य के ज्ञान के विना हमारा वैदिक साहित्य के विकास का अध्ययन अधूरा ही रहेगा।

वेदांग का अर्थ तथा महत्व

अंग शब्द का व्युत्पतिलभ्य अर्थ है उपकारक अर्थात् जिनके द्वारा किसी वस्तु के स्वरूप को जानने में सहायता प्राप्त होती है उन्हें अंग कहते हैं। वेद स्वयं एक कठिन विषय है अतएव वेद का अर्थ

जानने में उसके कर्मकाण्ड के प्रतिपादन में तथा इस प्रकार की सहायता देने में भी उपयोगी शास्त्र है उन्हें वेदांग के नाम से पुकारते हैं। वेद के यथार्थ ज्ञान के लिए छः विषयों को जानने की नितान्त आवश्यकता है। वेद के मन्त्रों का ठीक-ठीक उच्चारण प्रथम आवश्यक वस्तु है। उच्चारण करने के लिए जो शास्त्र सहायता करता है वह वेदांग शिक्षा कहलाता है। वेद का मुख्य प्रयोजन वैदिक कर्मकाण्ड यज्ञ, याग का यर्थात् अनुष्ठान है। इसके लिए प्रवृत्त होने वाला अंग 'कल्प' कहलाता है कल्प का व्युत्पत्तिलभ्य अर्थ है — यज्ञ के प्रयोग का समर्थक शास्त्र (कल्पयते समर्थ्यते यागप्रयोगोऽत्र अर्थात् जिसमें यज्ञ के प्रयोगों का समर्थन या कल्पना की जाये) व्याकरण-शास्त्र पदों की प्रकृति तथा प्रत्यय का उपदेश देकर पद के स्वरूप का परिचय कराता है और उसके अर्थ का भी निश्चय कराता है। फलतः पदस्वरूप और निश्चय के निमित व्याकरण का उपयोग होने से वह भी वेदांग है। निरुक्त का काम है पदों की निरुक्ति बतलाना पदों की व्युत्पति सिखाना। निरुक्ति की भिन्नता से अर्थ की भिन्नता होती है, इसलिए वेद के अर्थ निर्णय के लिए निरुक्त की आवयश्कता होती है। वेद छन्दोमयी वाणी है फलतः छन्दों से परिचय पाने पर ही मन्त्रों के उच्चारण और पाठ ज्ञान हमें हो सकता है। ज्योतिष यज्ञ-याग के उचित समय का निर्देश करता है श्रौत याग का अनुष्ठान विशिष्ट ऋतु में किसी विशिष्ट नक्षत्र में होना चाहिये। विवाह जैसे गृह-कर्म के लिए नक्षत्र का ज्ञान ज्योतिष से ही हमें प्राप्त होता है। दीक्षा का विधान कर्मकाण्ड का एक आवश्यक विषय है। तैतिरीय ब्राह्मण का कथन है कि कृत्तिका में अग्नि का आधान करना चाहिये (1, 1, 2, 1)। फाल्गुनी पूर्णमास में दीक्षा का विधान है। वसन्त में ब्राह्मण के लिए अग्नि का आधान विहित है। ग्रीष्म में क्षत्रिय के लिए तथा शरद में वैश्य के लिए। इस प्रकार नक्षत्र, तिथि, मास, तथा संवत्सर की जानकारी वैदिक कर्मकाण्ड के लिए आवश्यक है। इसीलिए ज्योतिष की वेदांगता है।

संक्षेप में हम कह सकते है कि मंत्रों के उचित उच्चारण के लिए शिक्षा का कर्मकाण्ड और यज्ञीय अनुष्ठान के लिए कल्प का, शब्दों के रूप ज्ञान के लिए व्याकरण का, अर्थ ज्ञान के लिए शब्दों के निर्वचन के निमित्त निरुक्त का, वैदिक छन्दों की जानकारी के लिए छन्द का तथा अनुष्ठानों के उचित काल-निर्णय के लिए ज्योतिष का उपयोग के कारण ये छहों वेदांग माने जाते हैं।

(क) शिक्षा

वेदागों में शिक्षा का एक महत्वपूर्ण स्थान है यह वेद रूपी पुरुष का घ्राण कही जाती है। जिस प्रकार सब अंगों के परिपुष्ट तथा सुन्दर होने पर भी घ्राण के विना पुरुष-शरीर नितान्त गर्हणीय प्रतीत होता है, उसी प्रकार शिक्षा नामक वेदांग से विरहित होने पर वेदपुरुष का स्वरूप बीभत्स दीख पड़ता है। शिक्षा का व्युत्पति लभ्य अर्थ है वह विद्या जो स्वर, वर्ण आदि उच्चारण के प्रकार का उपदेश दे। वेद के अध्याय की प्रणाली यह है कि पहले गुरु किसी मन्त्र का उच्चारण स्वयं करता है और शिष्य इस उच्चारण को सुनकर स्वयं उसका अनुसरण करता है।

उपनिषत्काल में शिक्षा— परिच्छेद वैदिक काल में ही इस वेदांग की ओर वैदिक ऋषियों का ध्यान आकृष्ट हुआ था। तैत्तिरीय उपनिषद् की प्रथम वल्ली में इस विषय का समस्त मूल सिद्धान्त प्रतिपादित है। शिक्षा के छः अंगों के नाम इस उपनिषद् के अनुसार ये है। 1. वर्ण 2. स्वर 3. मात्रा 4. बल 5. साम और 6. सन्तान।

1. वर्ण से अभिप्राय है अक्षरों से है, वेद जानने के लिए संस्कृत वर्णमाला का ज्ञान नितान्त आवश्यक है। पाणिनीय शिक्षा से ज्ञात होता है कि संस्कृत की वर्णमाला में 63 या 64 वर्णों की संख्या निधारित की गई है।

2. स्वर-स्वर से अभिप्राय उदात्त और स्वरित से है। इसमें उदात्त ऊँचे स्वर उच्चरित होता है। अनुदात्त का धीमे स्वर से उच्चारण किया जाता है तथा स्वरित उदात्त और अनुदात्त के बीच की अवस्था का प्रतिनिधि है। पाणिनि की शब्दावली में इन दोनों के लक्षण है— नीचैरूदात्तः समाहारः स्वरित।

वेद में शब्द एक होने पर भी स्वर भेद से उसका अर्थ भेद हो जाता है। इस विषय में एक अत्यन्त प्राचीन आख्यायिका प्रचलित है। एक बार वृत्र ने अपने शत्रु इन्द्रके विनाश के लिए एक वृहद् यज्ञ का आयोजन किया। होम का प्रधान मन्त्र था ''इन्द्र शत्रुवर्धस्व'' अर्थात् इंद्र का शत्रु विजय प्राप्त करें। इन्द्र शत्रुः शब्द में षष्ठी तत्पुरुष समास अभीष्ट था। परन्तु यह अर्थ तभी सिद्ध हो सकता था जब इन्द्रशत्रुः अन्तोदात हो लेकिन ऋवित्जों की असावधानी से अन्तोदात के स्थान पर आदि उदात्त (इन्द्र शब्द में 'इ' पर) का उच्चारण किया गया। इस परिवर्तन से यह शब्द तत्पुरुष समास से बहुव्रीहि बन गया और इसका अर्थ हुआ इन्द्रः शत्रुः यस्य' अर्थात् इन्द्र जिसका घातक है। इस प्रकार यज्ञ यजमान के लिए ठीक उल्टा ही सिद्ध हुआ। जो यज्ञ यजमान की फलसिद्धि के लिए किया गया था, वही उसके लिए घातक सिद्ध हुआ। इसीलिए पाणिनीय शिक्षा में यह स्पष्ट घोषित कर दिया गया है कि जो मन्त्र स्वर से या वर्ण से हीन होता है वह मिथ्या प्रयुक्त होने के कारण अभीष्ट अर्थ का प्रतिपादन नहीं करता। वह तो वाग्वज्र बनकर यजमान का ही नाश कर देता है, जिस प्रकार स्वर अपराध से इन्द्रशत्रु शब्द यजमान का ही विनाशक बन गया है (पाणिनीय शिक्षा 52)।

3. **मात्रा**— परिच्छेद से अभिप्राय है स्वरों के उच्चारण करने में लगने वाला समय-मात्रा तीन प्रकार की होती है ह्रस्व, दीर्घ और प्लुत। एक मात्रा के उच्चारण करने में जितना समय लगता है उसे 'ह्रस्व,' दो मात्रा के उच्चारण करने में लगने वाले वर्ण को 'दीर्घ और तीन मात्रा के उच्चारण में लगने वाले वर्ण को 'प्लुत' कहते हैं।

4. **बल**— बल से तात्पर्य है स्थान और प्रयत्न। स्वर तथा व्यंजन के उच्चारण के समय वायुमुख के जिन स्थानों से टकराता हुआ बाहर निकलता है, उन वर्णो के वे स्थान कहे जाते है ऐसे स्थानों की संख्या आठ है। अक्षरों के उच्चारण में जो प्रयास करना पड़ता है, उसे प्रयत्न कहते हैं। ये दो प्रकार के होते हैं 1. आभ्यन्तर और 2. वाह्य। आभ्यन्तर प्रयत्न चार प्रकार का होता है— स्पष्ट, ईषत्पृष्ट, विवृत्त तथा संवृत्त। वाह्य प्रयत्न 11 प्रकार का होता है 1. विचार, 2. संवार, 3. श्वास, 4. न्राद , 5. धोष, 6, अधोष, 7. अल्पप्राण, 9. उदात्त, 10. अनुदात्त, 11. स्वरित।

5. **साम**— साम का अर्थ है साम्य दोष से रहित तथा माधुर्यादि गुण से युक्त उच्चारण। पाणिनि ने सुन्दर ढंग से पढ़ने वाले पाठक के ये गुण बतलाये हैं 1. माधुर्य, 2. अक्षर व्यक्ति, अर्थात् अक्षरों का अलग अलग स्पष्ट उच्चारण, 3. पदच्छेद पदों का अलग-अलग प्रतिपादन, 4. सुस्वर अर्थात् लय से युक्त होकर पढ़ना, 5. धर्य धरीता से पढ़ना, 6, लयसमर्थ अर्थात् लय से युक्त होकर पढ़ना।

6. **सन्तान**— इस शब्द का अर्थ है संहिता अर्थात् पदों की अतिशय सन्निधि। पदों का स्वतंत्र अस्तित्व रहने पर कभी-कभी दो पदों का आवश्यकतानुसार शीघ्रता से एक के अनन्तर उच्चारण होता है, इसे ही संहिता कहते हैं। संहिता होने पर ही पदों में सन्धि हुआ करती है उदाहरण के लिए 'वायो आयाहि' में दो स्वतंत्र वैदिक पद हैं। जब एक ही वाक्य में दोनों का साथ-साथ उच्चारण होता है तब संधि के कारण इनमें परिवर्तन हो जाता है पूर्व उदाहरण का सन्धिजन्य रूप 'वाय-वायाहि' होगा।

प्रधान शिक्षाएँ— इसके उपर वेंकट राम शास्त्री द्वारा रचित वेदतैजस नामक व्याख्या ग्रन्थ उपलब्ध है।

भरद्वाज शिक्षा— इस ग्रन्थ का संबंध तैत्तिरीय संहिता के साथ है। यह संहिता शिक्षा के नाम से व्यवहृत होती है क्योंकि इसका प्रधान लक्ष्य संहिता के पदों की शुद्धता है तथा उसके लिए विशिष्ट नियमों का विवरण है, और कहीं विशिष्ट शब्दों का संकलन भी है। तैतिरीय संहिता में वृजिन् शब्द की उपलब्धि होती है, परन्तु जकार के उदात्त स्वर युक्त होने पर यह आकारयुक्त 'वृजन' होता है। इसी प्रकार 'पर्शु' शब्द अन्तोदात होने पर 'परशु' रूप में परिणत हो जाता है। इसी प्रकार के नियम यहाँ दिये गये हैं। अक्षर क्रम से ग्रन्थ का संकलन है। यह शिक्षा प्राचीन प्रतीत होती है। सिद्धान्त शिक्षा (श्रीनिवास दीक्षित) भी इस शिक्षा के विषय के प्रतिपादन में अनुगमन करती है।

पाणिनीय शिक्षा— यह शिक्षा नितान्त प्रसिद्ध तथा लोकप्रिय है यह लोक तथा वेद उभय शास्त्रों के लिए उपयोगी होने के कारण अत्याधिक महत्त्वपूर्ण है इसमें 60 श्लोक हैं, जिसमें उच्चारणविधि से संबंध रचाने वाले विषयों का संक्षेप में बड़ा ही उपादेय विवरण प्रस्तुत किया गया है। इसके रचयिता का पता नहीं चलता। ग्रन्थ के अन्त में पाणिनि का उल्लेख 'दाक्षीपुत्र' के नाम से किया गया है, तथा उनकी प्रशंसा में कई श्लोक भी दिये गये हैं। इससे स्पष्ट है कि पाणिनि इसके लेखक नहीं हो सकते। पाणिनि मतानुयायी किसी वैयाकरण ने इस उपयोगी ग्रन्थ का निर्माण किया है इसके ऊपर अनेक टीकाएँ भी उपलब्ध होती हैं। परिमाण में न्यून होने पर भी सारगर्मित है।

शिक्षा संग्रह— नामक ग्रन्थ में एकत्र प्रकाशित छोटी बड़ी 32 शाखाओं का समुच्चय है। ये शिक्षायें चारों वेदों की भिन्न-भिन्न शाखाओं से संबंध रखती हैं। इन्हीं का संक्षिप्त वर्णन नीचे दिया जा रहा है।

(क) **याज्ञवल्क्य-शिक्षा**— यह परिमाण में बड़ी है। इसके श्लोकों की संख्या 232 है। इसका संबंध शुक्लयजुर्वेद की वाजसनेयी संहिता से है। इस शिक्षा में वैदिक स्वरों का उदाहरण के साथ विशिष्ठ तथा विस्तृत वर्णन प्रस्तुत किया गया है। लोप, आगम, विकार तथा प्रकृतिभाव-इन चार प्रकार की सन्धियों का विवेचन भी किया गया है। वर्णों के विभेद, स्वरूप, परस्पर साम्य तथा वैषम्य आदि विषय भी सुन्दर रीति से वर्णित है।

(ख) **वासिष्ठी शिक्षा**— इसका भी संबंध वाजसनेयी संहिता से है। इस संहिता में आने वाले ऋक्-मन्त्र तथा यजुर्मन्त्र का पार्थक्य इस ग्रन्थ में बड़े विस्तार के साथ किया गया है। इस शिक्षा के अनुसार शुक्लयजुर्वेद की समग्र संहिता में ऋग्वेदीय मन्त्र 1467 है और यजुषों की संख्या 2823 है। यह संख्या विभाग इस वेद के अध्ययन करने वालों के लिए बड़ा उपादेय है।

(ग) **कात्यायनी शिक्षा**— इस शिक्षा में केवल 13 श्लोक है, जिनके ऊपर जयन्त स्वामी नामक विद्वान् ने संक्षिप्त टीका लिखी है।

(घ) **पाराशरी शिक्षा**— इस शिक्षा में 160 श्लोक है। इसमें भी स्वर वर्ण संन्धि आदि आवश्यक विषयों का विवेचन है।

(ङ) **माण्डव्य शिक्षा**— इस शिक्षा का संबंध शुक्लयजुर्वेद से है। इस शिक्षा में वाजसनेयी संहिता में आने वाले ओष्ठ्य वर्णो का संग्रह किया गया है। बड़े परिश्रम से समस्त संहिता का अध्ययन कर यह ग्रन्थ लिखा गया है। स्वर तथा वर्णो का विचार न कर केवल ओष्ठ से उच्चारण किये जाने वाले वर्णो का ही इसमें संग्रह किया गया है।

(च) **अमोघानन्दिनी शिक्षा**— इसमें 130 श्लोक हैं जिसमें स्वरों का तथा वर्णो का पर्याप्त सूक्ष्म विचार किया गया है। इसका एक संक्षिप्त संस्करण भी है, जिसमें केवल 17 ही श्लोक हैं।

(छ) **माध्यान्दिनी शिक्षा**— इसमें केवल द्वित्व के नियमों का विचार है यह दो प्रकार की है। एक बड़ी और दूसरी छोटी, पहली गद्यात्मक है और दूसरी पद्यात्मक है।

(ज) **वर्णरत-प्रदीपिका**— इसके रचयिता भारद्वाजवंशी कोई अमरेश नामक विद्वान् है। इसके समय का कुछ पता नही चलता। इस ग्रन्थ के श्लोक की संख्या 227 है।

(झ) **केशवी शिक्षा**— इसके रचयिता आस्तीक मुनि के वंशज गोकुल दैवज्ञ के पुत्र केशव देवज्ञ हैं यह शिक्षा दो प्रकार की उपलब्ध होती है। पहली शिक्षा में माध्यन्दिन-शाखा से संबंध परिभाषाओं का विस्तृत विवेचन है। प्रतिज्ञा— सूत्र के समस्त नव सूत्रों की विस्तृत व्याख्या उदाहरण के साथ यहाँ दी गई है। दूसरी शिक्षा पद्यात्मक है और इसमें 31 पद्यों में स्वर का विस्तृत विचार है।

(ञ) **मल्लशर्म शिक्षा**— इसके रचायिता उपमन्यु-गोत्रीय अग्निहोत्री खगपति के पुत्र मल्लशर्मा नामक कोई कान्यकुब्ज ब्राह्मण है। इसके पद्यों की संख्या 65 है इसकी रचना लेखक के अनुसार 1726 ई. में हुई थी।

(ट) **स्वराकंश शिक्षा**— इसके लेखक जयन्तस्वामी ने 25 पद्यों में स्वरों का विवेचन किया है।

(ठ) **षोडश-श्लोकी शिक्षा**— इसके रचयिता रामकृष्ण नामक विद्वान् ने 16 पदों में वर्ण और स्वरों का विचार प्रस्तुत किया है।

(ड) **अवसान निर्णय शिक्षा**— इसके लेखक अनन्तदेव नामक विद्वान् ने शुक्लयजुर्वेद से संबंध इस शिक्षा का निर्माण किया है।

(ढ) **स्वरभक्ति लक्षण-शिक्षा**— इसके रचयिता महर्षि कात्यायन बतलाये जाते हैं इसमें स्वर भक्ति का विचार उदाहरणों के साथ किया गया है।

(ण) **प्रातिशाख्य प्रदीप शिक्षा**— इसके लेखक बालकृष्ण नामक कोई विद्वान् हैं। यह शिक्षा

परिमाण में बहुत बड़ी है। इसमें प्राचीन ग्रन्थों में मतों का उल्लेख कर स्वर एवं वर्ण आदि शिक्षा के समग्र विषयों का पूर्ण विवेचन है। शिक्षा के यथार्थ ज्ञान के लिए यह ग्रन्थ बहुत उपयोगी है।

(त) **नारदीय शिक्षा**— यह शिक्षा सामवेद से सम्बद्ध है यह बड़ी ही विस्तृत तथा उपादेय शिक्षा है। सामवेद के स्वरों के रहस्य को जानने के लिए यह बड़ी ही उपयोगी है सामवेद से संबंध दो छोटी शिक्षाएँ और भी मिलती हैं, 17 गौतमा शिक्षा, 18 लोमशी शिक्षा।

(थ) **मांडूकी शिक्षा**— इसका संबंध अथर्ववेद से है। इसके श्लोकों की संख्या 176 है अथर्ववेद के स्वरों तथा वर्णो को भली-भाँति जानने के लिए यह शिक्षा उपयोगी है।

इन शिक्षा ग्रन्थों के अतिरिक्त अन्य छोटी शिक्षाएँ भी मिलती हैं।

(द) **क्रम सन्धान**— शिक्षा (21) गलदृक शिक्षा, (22) मनः स्वर शिक्षा, जिनके रचयिता याज्ञवल्क्य मुनि हैं।

इन शिक्षा ग्रन्थों के अतिरिक्त प्राचीन शिक्षा सूत्र भी विद्यमान थे। आपिशलि, पाणिनि तथा चन्द्रगोभी रचित सूत्र प्रकाशित हैं।

आपिशलि शिक्षा सूत्र में स्थान, करण, अन्तः प्रयत्न, बाह्यप्रयत्न, स्थानपीडन, वृत्तिकार-प्रकरण प्रक्रम, नाभितल-प्रकरण नाम से आठ प्रकरण विद्यमान हैं, जिनमें अक्षरों की उत्पत्ति स्थान, तथा प्रयत्नों का विशद वर्णन है। शिक्षा सूत्रों में से कतिपय सूत्रों को वृषभदेव ने वाक्यपदीय की टीका में, हेमचन्द्र ने अपने व्याकरण की वृहद्वृति में, तथा न्यासकार ने अपने न्यास में उद्धृत किया है। पाणिनि के शिक्षा-सूत्र में भी आपिशलि शिक्षा-सूत्रों के समान क्रम तथा प्रकरणों का निर्देश है। सूत्रों में भी विशेष रूप से समता उपलब्ध होती है। चन्द्रगोभी ने जैसे अष्टाध्यायों के आधार पर अपने व्याकरण की रचना की है, उसी प्रकार पाणिनीय शिक्षा सूत्रों के आधार पर अपने वर्ण सूत्रों की रचना की है, जो संख्या में 80 हैं। ये शिक्षा-सूत्र ऊपर उल्लिखित शिखा ग्रन्थों से नि-संदेह प्राचीनतर प्रतीत होते हैं।

इन शिक्षा ग्रन्थों के अनुशीलन से यह सिद्ध होता है कि प्राचीन ऋषियों ने भाषाशास्त्र के इन आवश्यक अंग का कितना वैज्ञानिक अध्ययन किया था। आजकल के पाश्चात्य विद्वान भी उच्चारण विद्या के अन्तर्गत इस विषय का अध्ययन करते हैं। आज कल उच्चारण के स्वरूप को समझने के लिए कई प्रकार के यन्त्र भी बनाये गये है। प्राचीन भारत में ये साधन उपलब्ध नहीं थे तौभी विषय का इतना गंभीर वर्णन तथा अनुशीलन प्राचीन भारतीयों की उच्चारण- संबंधी वैज्ञानिक गवेक्षण के द्योतक हैं। आज भी तत् तत् वैदिक-संहिताओं के मन्त्रों का उच्चारण उसी प्रकार होता है।

(ख) कल्पसूत्र

वैदिक वाङ्मय के विकास में कल्पसूत्रों का महत्वपूर्ण स्थान है कल्पसूत्र शब्द कल्प और सूत्र इन शब्दों के रूप से निष्पन्न हुआ है। कल्प शब्द का अर्थ है— वेद विहित कर्मो का क्रमपूर्वक कल्पना करने वाला शास्त्र। विवाह उपनयनादि संस्कारों एवं यज्ञ-यागादि विधियों का क्रमवद्ध रूप से वर्णन करने वाले सूत्र-ग्रन्थों को 'कल्प' कहते हैं। सूत्र शब्द का अर्थ है संक्षेप अर्थात् जहाँ थोड़े शब्दों

में विशेष अर्थ को कहा जाये उसे 'सूत्र' कहते हैं। इस प्रकार सूत्रों में किसी भी विषय को संक्षेप में कहा जाता है। अतः कल्पसूत्र का अर्थ होता है यज्ञ-यागादि के नियमों को संक्षेप (सूत्र रूप में) कहना। कल्पसूत्र में सम्पूर्ण धार्मिक नियमों तथा यज्ञविधान के नियमों का संक्षेप में (सूत्ररूप में) कहना। कल्पसूत्र में सम्पूर्ण धार्मिक नियमों तथा यज्ञ विधान के नियमों का संक्षेप तथा व्यवस्थित रूप में प्रतिपादन हुआ है। कल्पसूत्रों के मुख्यतः चार प्रकार होते है। श्रौतसूत्र, गृह्यसूत्र, धर्मसूत्र और शुल्वसूत्र।

श्रौतसूत्र– वैदिक संहिताओं में वर्णित यज्ञ यागादि विधानों का संक्षिप्त विवरण प्रस्तुत करने वाले सूत्रों को श्रौतसूत्र कहते हैं। इनमें ब्राह्मणों में प्रतिपादित कर्मकाण्ड से संबंध विधानों का सार सूत्र में संकलित है। श्रौत सूत्रों का मुख्य उद्देश्य श्रौतयागों का संक्षिप्त सुव्यवस्थित क्रमवद्ध प्रतिपादन है। इस उद्देश्य को ध्यान में रखकर उनके रचयिताओं ने ब्राह्मणों में उपलब्ध मूल सामग्री का कहीं विस्तार, कही संक्षेप, पर उन्हें बोधगम्य का सफल प्रयास किया है। श्रौतसूत्रों में श्रुति प्रतिपादित चौदह यज्ञों का क्रमबद्ध वर्णन प्राप्त होता है। ये हैं सात हविर्यज्ञ और सात सोम याग। अग्न्याधान, अग्निहोत्र, दशपूर्णमास, आग्रहायण, चातुर्मास्य, निरूढ़पशुबन्ध और श्रौतामणि ये सात हविर्याग कहलाते हैं। अग्निष्टोम, अत्यग्निष्टोम, उवथ्य, षोडशी, वाजपेय अतिरात्र और आप्तोर्याम के सात सोम याग कहलाते हैं।

हविर्यागों में घृत, पायस, दधि, पुरोडाश आदि हविष्यान्तों की आहुतियाँ दी जाती हैं। हविर्यागों में अग्निहोत्र प्रमुख है। अग्निहोत्र में प्रातः तथा सायं त्रेता अग्नि में दो-दो आहुतियाँ दी जाती हैं (शतपथ ब्राह्मण 2, 3, 3, 1) दर्शपूर्णमास अमावस्या और पूर्णिमा के दिन किया जाता है। चातुर्मास्य यज्ञ चार-चार महीने पर किया जाता है। इसमें चार पर्व होते हैं। वैश्वदेव, वरुणप्रधा, साकमेध और शुनासीरीय। आग्रहायण प्रतिवर्ष वसन्त और शरद्-ऋतु में नये अन्न से किया जाता है। निरूढ़-पशुबन्ध प्रतिवर्ष वर्षाऋतु में अथवा दक्षिणायन या उत्तरायण में संक्रान्ति के दिन किया जाता है। इसे पशुयाग भी कहते है। सौत्रामणी एक पशुयाग है, जो इन्द्र के निमित किया जाता है।

सोमयागों में प्रमुख याग अग्निष्टोम है। इसमें 16 ऋत्विज होते हैं। यह एकाह यज्ञ है। इसमें प्रातः सांय और मध्याह्न में सोमरस निकाला जाता है जब सोलहों ऋत्विज अहिताग्नि और बिना दक्षिणा वाले होते हैं, तो उसे सत्र कहते हैं। सत्र में बारह से लेकर एक हजार तक सुत्याएँ होती है प्रातः सायं मध्याह्ण तीनों कालों में सोमरस निकालकर जो हवन किया जाता है उसे सुत्या कहते है। जिस यज्ञ में दो से लेकर ग्यारह सुत्यायें होती है, उसे अहीन याग कहते हैं सोमयाग की एक पवित्रतम विधि, अग्नि चयन है। अग्निचयन में वेदी निर्माण के लिए इष्टिकाओं का चयन किया जाता है। कुल 108000 इष्टिकायें अपेक्षित होती है। श्रौतयाग के संबंध में विशेष उल्लेखनीय बात यह है, कि यह कभी भी सामूहिक रूप में नहीं किया जाता, बल्कि एक व्यक्ति के कल्याण के लिए किया जाता था।

ऋग्वेद के दो श्रौत सूत्र हैं आश्वलायन तथा शांखायन। आश्वलायन श्रौतसूत्र में 12 अध्याय हैं। प्रसिद्धि है कि आश्वलायन ऋषि के शिष्य शौनक ऋषि थे, तथा ऐतरेय आरण्यक के अन्तिम दो अध्यायों (आरण्यकों) को गुरु और शिष्य ने मिलकर बनाया था। इसमें वैदिक यागों के अनुष्ठान, प्रकार एवं विधान, आदि का विशेष रूप से वर्णन है। शांखायन श्रौतसूत्र, शांखायन ब्राह्मण से संबंध है। इसमें 18 अध्याय हैं, और अन्तिम दो अध्याय इसमें बाद में जोड़े गये हैं, जो कौषीतकि

आरण्यक के दो अध्यायों के समान हैं इसमें दर्शपौर्णमास आदि वैदिक यागों का विवरण है। इसके साथ ही वाजपेय, राजसूय, अश्वमेध, पुरुषमेघ आदि यज्ञों की विस्तृत विवृति भी है।

(ग) गृह्यसूत्र

गृह्यसूत्र गार्हस्थ्य जीवन से संबंध धार्मिक अनुष्ठानों, आचार-विचारों एवं गृह्य यज्ञों का विवेचन करते हैं। इसमें गर्माधान से लेकर मृत्यु पर्यन्त और मृत्यु के बाद भी किये जाने वाले संस्कारों तथा अनुष्ठान-विधियों का विवरण प्राप्त है। गृह्यसूत्रों में 42 संस्कारों का वर्णन है किन्तु गौतम 40 संस्कार ही मानते हैं इनमें गर्भाधान से विवाह पर्यन्त अठारह संस्कार कायिक संस्कार कहलाते हैं। शेष बाईस संस्कार यज्ञपरक हैं। इनमें सात पाकयज्ञ और पाँच दैनिक यज्ञ (पंचमहायज्ञ) भी सम्मिलित हैं। सात पाकयज्ञों में दर्शपूर्णमास यज्ञ, जो अमावस्या एवं पूर्णिमा के दिन जाता है, प्रमुख है।

पाँच महायज्ञों के नाम हैं— ब्रह्मज्ञान, देवयज्ञ, पितृयज्ञ, और नृयज्ञ। ब्रह्मयज्ञ को ऋषियज्ञ भी कहते है नित्य वेदों का स्वाध्याय या मन्त्रपाठ करना ब्रह्मयज्ञ है। गार्हपत्य यज्ञ में देवताओं के निमित्त नित्य किया जाने वाला हवन देवयज्ञ है। पितरों के निमित्त तर्पण एवं श्राद्ध आदि करना पितृयज्ञ है, बलि रूप में अन्न आदि का दान भूतयज्ञ है अतिथियों की सेवा करना नृयज्ञ या अतिथियज्ञ है। गृहस्थ जीवन में इन पाँच यज्ञों का सर्वाधिक महत्व है। इनके अतिरिक्त इनमें विविध प्रकार के जादू-टोनों, भूतापसारण रोगों एवं अपशकुनों का उपशमन, गृहनिर्माण, पशुपालन, कृषि-विधान तथा आचार-व्यवहारों का समुचित निरूपण है। इनमें सत् आचरण और सद्गुणों पर ऋषियों ने विशेष जोर दिया है। गौतम ने अन्त्येष्टि को संस्कार नहीं माना है।

ऋग्वेद से सम्बन्ध दो गृह्यसूत्र प्रमुख हैं आश्वालायन गृह्यसूत्र और शांखायन गृह्यसूत्र। आश्वालायन गृह्यसूत्र ऐतरेय ब्राह्मण से संबंध है। इसमें चार अध्याय हैं और प्रत्येक अध्याय में अनेक खण्ड हैं। प्रथम अध्याय में विवाह, पार्वण, पशुयज्ञ, चैत्ययज्ञ, गर्भाधानादि संस्कारों का वर्णन है। द्वितीय अध्याय में श्रावणी, आश्वयुजी, आग्रहायणी, अष्टका, गृहनिर्माण और गृहप्रवेश का वर्णन है। तृतीय अध्याय में वेदाध्ययन के नियम एवं श्रावणी का वर्णन है। चतुर्थ अध्याय में अन्त्येष्टि और श्राद्ध का विवेचन है। इस पर जयन्त स्वामी, देवस्वामी, नारायण एवं हरदत्त की व्याख्या, वृत्ति एवं भाष्य है।

शांखायन गृह्यसूत्र में छः अध्याय हैं, जिनमें चार अध्याय ही मौलिक प्रतीत होते हैं। इसके प्रथम अध्याय में गर्भाधानादि संस्कारों एवं पार्वण का वर्णन है। द्वितीय अध्याय में उपनयन एवं ब्रह्मचर्य आश्रम का विवरण है। तृतीय में स्नान, गृहनिर्माण, गृहप्रवेश, वृषोत्सर्ग, आग्रहायणी और अष्टक का वर्णन है। चतुर्थ अध्याय में श्राद्ध, श्रावणी, आश्वयुजी और चैत्री का उल्लेख है, पंचम और षष्ठ में प्रायश्चित्तों का विवरण है। कौषीतकि शाखा से सम्बन्ध एक कौषीतकि गृह्यसूत्र भी है इसकी रचना शाम्बव्य ने की थी, इसीलिए इसे शाम्बव्य गृह्यसूत्र भी कहते हैं। इसमें पाँच अध्याय हैं, इसमें विवाह तथा अन्य संस्कारों, वैश्वदेव, श्राद्ध आदि का वर्णन है। कौषीतकि और शांखायन में बहुत कुछ साम्य है। कौषीतकि में पाँच अध्याय हैं। जबकि शांखायन में छः अध्याय है, प्रथम चार अध्यायों का विषयक्रम दोनों में एक सा है, किन्तु अन्तिम अध्याय के विषय नहीं मिलते। कौषीतकि के अन्तिम अध्याय में पितृमेध का वर्णन है, जिसका शांखायन गृह्यसूत्र में अभाव है, किन्तु शांखायन श्रौतसूत्र में है।

शांखायन गृह्यसूत्र के प्रमुख भाष्यों में सुमन्तसूत्र भाष्य-जैमिनीयसूत्र-भाष्य 'वैशम्पायन सूत्र भाष्य' और पैलसूत्रभाष्य का नाम उल्लेखनीय है।

उपरोक्त दो गृह्य सूत्रों के अतिरिक्त तीसरा गृह्यसूत्र शौनक का भी है।

शुक्लयजुर्वेदीय कल्पसूत्र-- शुक्लयजुर्वेद से संबंधित कात्यायन श्रौतसूत्र है, इसके रचयिता कात्यायन हैं। इसमें 26 अध्याय हैं। प्रथम अध्याय (10 कंडिकाओं में विभक्त) याग संबंधी अनेक आवश्यक विषयों का लक्षण प्रस्तुत करता है। द्वितीय अध्याय (8 कंडिका) तथा तृतीय अध्याय (8 कंडिका) मिलाकर दर्श-पूर्णमास याग का समग्र वर्णन देते हैं। प्रथम में आरम्भिक अनुष्ठानों का तथा अन्तिम में मुख्य भाग का विवरण है। चतुर्थ अध्याय (15 कंडिका) पिण्डपितृयज्ञ, दाक्षायण, आग्रयण, अग्न्याधान, पुनराधान, अग्न्युप स्थान, और अग्निहोत्र का क्रमशः वर्णन करता है। पंचम अध्याय (13 कंडिका) चातुर्मास्य और मित्रविन्द इष्टि का विधिवत् सुव्यवस्थित वर्णन करता है। षष्ठ अध्याय (10 कंडिका) निरूढ़ पशुबन्ध का विस्तार से विवरण देता है। सप्तम से लेकर दशम अध्याय तक हम अग्निष्टोम याग का सांगोपांग विवरण पाते हैं जिनमें सप्तम तथा अष्टम में अग्निष्टोम के पूर्ववर्ती अनुष्ठानों का, नवम् में प्रातः सवन का और दशम में माध्यन्दिन तथा सायं सवन का विधिवत् विवरण इस अंश की महत्ता का सूचक है। एकादश अध्याय में महत्वपूर्ण भागों में ब्रह्मा नाम ऋत्विज के कार्य तथा उपयोग का वर्णन है। द्वादश अध्याय में द्वादशाह का त्रयोदश में गवामयन का, चतुर्दश में वाजपेय का, पच्चदश में राजसूय का, षोडश से अष्टादश अध्याय में अग्निचयन का, उन्नीसवें में सौत्रामणी का, तथा बीसवें मे अश्वमेध का, इक्कीसवें में पुरुषमेध, सर्वमेध तथा पितृमेध का विधिवत् सुव्यस्थित रूप से वर्णन उपलब्ध होता है। प्रथम अध्याय कात्यायन के मौलिक विचारों का प्रतिपादक है, परन्तु 2 और 21 अध्याय का वर्ण्य विषय शतपथ ब्राह्मण के विभिन्न काण्डों के आधार पर निर्मित है 22 अध्याय से 24 अध्याय का वर्ण्य विषय क्रमशः एकाह, अहीन तथा सत्र से संबधित है और इस खण्ड का मूल्य आधार ताण्डय महाब्राह्मण है जो सामवेद का प्रधान ब्राह्मण होने पर भी इस शुक्ल यजुर्वेदीय ब्राह्मण में बहुत उपयुक्त है। 25 अध्याय में प्रायश्चित्त का वर्णन है जो उत्पातों के शमन तथा यज्ञ में विहित त्रुटियों के लिए किया जाता है। अन्तिम 26 अध्याय प्रवर्ग्य का विवरण देता है और इसी के साथ कात्यायन श्रौत सूत्र की समाप्ति होती है।

इस वर्णन से श्रौत सूत्रों के विषय की सामान्य रूपरेखा हमारे सामने प्रस्तुत हो जाती है। ब्राह्मण-ग्रन्थों में भी यज्ञयागों का विधान उपलब्ध है। परन्तु वह कहीं अत्यन्त विस्तृत है, कहीं विभिन्न अध्यायों में विकीर्ण रूप से प्राप्त है। श्रौतसूत्रों का मुख्य उद्देश्य श्रौतयागों का संक्षिप्त सुव्यवस्थित क्रमबद्ध प्रतिपादन है और इस उद्देश्य को ध्यान में रखकर उनके रचयिताओं ने ब्राह्मणों में उपलब्ध मूल सामग्री का कहीं विस्तार, कहीं संक्षेप कर उन्हें बोध-गम्य तथा सरल बनाने का सफल प्रयास किया है। कात्यायन श्रौतसूत्र की मुख्य आधार-शिला शतपथ-ब्राह्मण ही है परन्तु वह तीन अध्यायों (22-24 अध्याय) के लिए ताण्ड्य महाब्राह्मण का भी अधमर्ण है।

शुक्ल-यजुर्वेद का एकमात्र गृह्यसूत्र 'पारस्कर-गृह्यसूत्र' के नाम से विख्यात है। इसके तीन-काण्डों में से प्रथम काण्ड में आवसथ्य अग्नि का आधान, विवाह तथा गर्भधारण से आरम्भ कर

अन्नप्राशन तक वर्णित है। द्वितीय काण्ड में चूडाकरण, उपनयन, समावर्तन, पंञ्चमहायज्ञ, श्रवणाकर्म, सीता-यज्ञ का विवरण है तथा अन्तिम काण्ड में श्राद्ध के अनन्तर अवकीर्णि-प्रायश्चित्त आदि विधि विधियों का प्रतिपादन है। इसके पाँच भाष्यकारों की व्याख्याएँ गृह्य के अर्थगौरव को प्रदर्शित करती हैं। इसके नाम है:— (1) कर्क कात्यायन-श्रौतसूत्र के व्याख्याता, (2) जयराम (3) हरिहर (4) गदाधर तथा (5) विश्वनाथ। कात्यायन श्राद्धसूत्र, श्राद्ध-विषय का वर्णन विस्तार के साथ करता है। इसमें 9 कंडिकायें है और प्रति कंडिका में सूत्र हैं। कात्यायन की रचना होने से ये 'कातीय श्राद्धसूत्र' के नाम से विख्यात हैं। कात्यायन रचित शुल्बसूत्र में सात कण्डिकाएँ है, जिनमें प्रथम में परिभाषा का प्रकरण है। वेदि-निर्माण, चतुरस्त्रादि क्षेत्र तथा चित्ति आदि का निरूपण यहाँ किया गया है।

कृष्णयजुर्वेद के श्रौतसूत्र (1) बौधायन, (2) आपस्तम्ब (3) हिरण्यकेशी, (4) वैखानस, (5) भारद्वाज (6) मानवश्रौत सूत्र। इनमें से प्रथम पाँच तो तैत्तिरीय शाखा से संबंध रखते हैं तथा अन्तिम मैत्रायणी शाखा से। इनमें बौधायन तथा आपस्तम्ब शाखा ने कल्प के चारों सूत्र ग्रन्थों-श्रौत, गृह्य, धर्म तथा शुल्ब को पूर्ण तथा समग्र रखा है। ये परस्पर में इतने सम्बन्ध हैं कि हम इन्हें एक ही ग्रन्थ के चार-खण्ड मान सकते हैं। इन कल्पसूत्रों में बौधायन तथा मानव निःसन्देह प्राचीनतर हैं, क्योंकि इनका उल्लेख आपस्तम्ब श्रौत में उपलब्ध होता है।

(1) **बौधायन-श्रौतसूत्र**— को डॉ. कैलेण्ड ने सम्पादित किया है, तथा गोविन्द स्वामी के भाष्य के साथ यह मैसूर से भी प्रकाशित हुआ है। बौधायन गृह्यसूत्र, धर्मसूत्र, तथा शुल्वसूत्र भी सम्पादित होकर प्रकशित हुआ है।

(2) **आपस्तम्ब का कल्पसूत्र**— तीन प्रश्नों या अध्यायों में विभक्त है जिनमें से प्रथम तेईस प्रश्न श्रौतसूत्र हैं 24 प्रश्न परिभाषा हैं 25 और 26 प्रश्नों में गृह्यकर्म के उपयोगी मन्त्रों का एकत्र संकलन है तथा सत्ताईसवाँ प्रश्न गृह्यसूत्र है। 28 तथा 29 प्रश्न धर्मसूत्र हैं अन्तिम 30 प्रश्न शुल्क-सूत्र हैं। आपस्तम्ब गृह्यसूत्र का मुख्य संबंध तैत्तिरीय-ब्राह्मण से है और इसीलिए 30 खण्ड हैं, जिसमें विवाह, उपनयन, समावर्तन, मधुपर्क, सीमन्तोन्नयन आदि तेइस विषयों का मुख्यतया प्रतिपादन है। आपस्तम्ब धर्मसूत्र में ब्रह्मचर्य, भोजन, विचार प्रायश्चित्त आदि उपयोगी विषयों का वर्णन है।

(3) **हिरण्यकेशी श्रौतसूत्र**— यह कृष्णयजुर्वेद का श्रौतसूत्र है। इसमें 14 प्रश्न है जिनमें नाना यागविधानों का वर्णन किया गया है। यह आपस्तम्ब श्रौतसूत्र के साथ घनिष्ठ सम्बन्ध रखता है तथा बहुत स्थानों पर उसके सूत्रों को सीधे ग्रहण करता है।

(4) **वैखानस श्रौतसूत्र**— यह भी तैत्तिरीय शाखा से सम्बन्ध है इसके ऊपर बौधायन श्रौतसूत्र आदि पूर्ववर्णित तीनों सूत्रों का विशेष प्रभाव पड़ा है। कल्पसूत्र के 32 अध्यायों में से 21 प्रश्नों में श्रौतयागों का ही विवरण उपलब्ध है। बौधायन श्रौतसूत्र के समान इस ग्रन्थ की भी रचना शैली है।

(5) **वाधूल श्रौतसूत्र**— यह भी तैत्तिरीय शाखा से संबंध श्रौतसूत्र है।

(6) **भारद्वाज श्रौतसूत्र**— महर्षि भरद्वाज का संबंध कृष्ण यजुर्वेद की तैत्तिरीय शाखा से परिज्ञात होता है। भारद्वाज श्रौतसूत्र में 15 प्रश्न हैं जिनमें वर्ण्य विषय क्रमशः है दर्शपूर्णमास, अग्न्याधेय, अग्निहोत्र, आग्रयण, निकट पशुबन्ध, चातुर्मास्य, पूर्व प्रायश्चित्त, ज्योतिष्टोम, (प्रातः सवन, माध्यंदिन सवन, तृतीय

सवन), ज्योतिष्टमोम बह्यत्व। भारद्वाज पैतृमेधक सूत्रों का मुख्य विषय श्राद्ध के नाना अनुष्ठान हैं। इसमें दो प्रश्न (अध्याय) हैं, जिनमें क्रमशः प्रेतसंस्कार, श्मशाननयन, दाहचित्ति, पात्रचय, अस्थिसंचयन, श्मशानचिति, यमयज्ञ का सूत्रों में प्रतिपादन किया गया है। भारद्वाज परिशेष-सूत्र यज्ञीय परिभाषा की व्याख्या करने वाला सूत्र है। अतएव उसी का अपर नाम परिभाषा सूत्र भी है जो संख्या में दो सौ बाइस हैं।

भारद्वाज धर्मसूत्र की आज उपलब्धि नहीं हो रही है, परन्तु इनकी सत्ता प्राचीन काल में अवश्य थी, प्राचीन टीकाकारों ने इससे कहीं तो स्पष्ट उद्धरण दिया है और कहीं इसके मत का उल्लेख किया है। विश्वरूप ने याज्ञवल्क्यस्मृति के 1/15 पर भारद्वाज के मत का निर्देशक वाक्य भी उद्धृत किया है, जिससे प्रतीत होता है कि वे शिष्य को म्लेच्छ भाषा के पढ़ाने का आदेश नहीं देते।

निष्कर्ष यह है कि भारद्वाज का समग्र कल्पसूत्र विद्यमान था। उसके अन्तगर्त श्रौत, गृह्य तथा धर्म-इन तीनों सूत्रों की उपलब्धि हो गई है।

(7) **मानव श्रौतसूत्र**— कृष्णयजुर्वेद की मैत्रायणी शाखा से संबंध यह श्रौतसूत्र प्राचीनतम सूत्रों में अन्यतम माना जाता है। समग्र ग्रन्थ पाँच अध्यायों में विभक्त है, और प्रत्येक अध्याय खण्डों में विभक्त है इसकी शैली वर्णनात्मक है और कृष्ण यजुर्वेद के ब्राह्मणों के विशिष्ट विषय हैं।

(8) **वाराह श्रौतसूत्र**— यह भी मैत्रायणी शाखा से संबंध रखता है। इसमें तीन अध्याय हैं, और प्रति अध्याय खण्ड हैं। प्रथम अध्याय में दर्शपूर्णमास, अग्न्याधान, पशुबन्ध, चातुर्मास्य आदि का, द्वितीय अध्याय में अग्निचयन का तथा तृतीय अध्याय में बाजपेय, राजसूय तथा अश्वमेध का वर्णन किया गया है। यागानुष्टानों का विस्तृत वर्णन यहाँ कात्यायन श्रौतसूत्र के समान उपलब्ध नहीं है। सूत्र छोटे-छोटे हैं तथा समझने में सरल सुबोध हैं।

(9) **काठक श्रौत सूत्र**— इस ग्रन्थ के थोड़े से टुकड़े उपलब्ध होते हैं। पिण्डपितृयज्ञ से संबंध इस श्रौतसूत्र का थोड़ा भाग उपलब्ध है। काठक कल्पसूत्र का गृह्य भाग तीन टीकाओं के सारांश के साथ प्रकाशित है।

कृष्णयजुर्वेद से संबंध गृह्यसूत्र

1. **ब्रौधायन गृह्यसूत्र**— यह गृह्यसूत्र बौधायन कल्पसूत्र का एक विशिष्ट अंश है। यह गृहसूत्र परिभाषा, गृहशेष तथा पितृमेध सूत्रों के साथ समन्वित है इसमें चार प्रश्न हैं इतर हस्तलेखों में इसके दश प्रश्न (अध्याय) उपलब्ध हैं, जिससे इसमें अनेक परिवर्तनों और परिवर्धनों के संकेत मिलते हैं।

2. **भारद्वाज गृह्यसूत्र**— यह भारद्वाज कल्पसूत्र का अंश है जिसमें तीन प्रश्न (अध्याय) हैं। विवाह प्रकरण में बहुत सी बातों में आधुनिकता का संकेत मिलता है, परन्तु इससे यह अंश क्षेपक थोड़े ही माना जा सकता है।

3. **आपस्तम्ब गृह्यसूत्र**— आपस्तम्ब कल्पसूत्र का 27 वाँ प्रश्न यही गृह्यसूत्र है, जिसमें तीस प्रश्न हैं। यह गृह्य सूत्र मन्त्रपाठ के मन्त्रों का निर्देश करता है, जो इस कल्पसूत्र के 25 तथा 26 प्रश्नों में दिया गया है।

4. **हिरण्यकेशि गृह्यसूत्र**— इसका दूसरा नाम सत्याषाढ़ गृह्यसूत्र है, जो हिरणकेशि कल्पसूत्र का 18 तथा 20 प्रश्न रूप है। गृह्य अनुष्ठानों में आवश्यक मन्त्र इसमें समग्र रूप से दिये गये हैं। इसमें प्रयुक्त अनेक शब्द पाणिनीय व्याकरण से सुसंगत नहीं हैं इसके ऊपर मातृदत की प्रौढ़ व्याख्या है।

5. **वैखानस गृह्यसूत्र**— तैतिरीय शाखा से सम्बन्ध यह गृह्यसूत्र अवान्तर कालीन माना जाता है। यह अनुष्ठानों में प्रयोजनीय मन्त्रों के केवल प्रतीकों का उल्लेख करता है, और इन सब मन्त्रों का स्वतंत्र संकलन वैखानसीया मन्त्र संहिता के रूप में किया गया है गृह्य तथा मन्त्र संहिता के परस्पर संबंध के विषय में विद्वानों में पूर्ण एक मत है। कुछ लोग मन्त्र संहिता को गृह्य से प्राचीन मानते हैं और कुछ अर्वाचीन या समकालीन।

6. **अग्निवेश्य गृह्यसूत्र**— इस ग्रन्थ के रचयिता अग्निवेश नामक वैदिक आचार्य हैं जिन्होंने तैत्तिरीयों की वाधूल शाखा के अन्तर्गत अग्निवेश उपशाखा का प्रवर्त्तन किया है। अन्य गृह्य सूत्रों से इसका वर्ण्यविषय तथा रचना कौशल, नितान्त भिन्न दृष्टिगोचर होता है। इसमें वर्णित अनुष्ठानों में नारायणबलि, यति संस्कार, सन्यास विधि, वानप्रस्थ विधि आदि के ऊपर अवान्तरकालीन धार्मिक सम्प्रदायों का प्रभाव स्पष्टत: लक्षित होता है।

7. **मानवगृह्यसूत्र**— इसका दूसरा नाम मैत्रायणीय मानव गृह्यसूत्र भी है। मैत्रायणी शखा के चिरणव्यूह में निर्दिष्ट भेदों (मानव, वराह, दुन्दुम, छागलेय, हारिद्रवेय तथा श्यामायनीय) के मानव गृह्यसूत्र में अन्यतम विभेद है। फलत: इस उपशाखा का यह मानवगृह्य सूत्र मैत्रायणीय संहिता के मन्त्रों को प्रयोगों के अवसर पर निर्दिष्ट करता है जो उचित ही है। इस गृह्यसूत्र में दो पुरुष या प्रकरण हैं, और प्रत्येक पुरुष में अनेक कंडिकायें है। इसमें विनायक पूजा का विशिष्ट वर्णन है भाष्यकार इसके रचयिता का नाम मानवाचार्य बतलाते हैं।

8. **वाराह गृह्यसूत्र**— यह गृह्यसूत्र मैत्रायणी संहिता के मन्त्रों का प्रयोग करता है। इसके बहुत से सूत्र मानव गृह्यसूत्र तथा काठक गृह्यसूत्र के समान ही हैं। गृह्योपयोगी विशेष वस्तुओं के अभाव में उतना महतवपूर्ण नहीं है।

9. **काठक गृह्यसूत्र**— यह भी मानव गृह्यसूत्र से मिलता-जुलता है, तथा कठशाखा से अपना संबंध रखता है। इस गृह्यसूत्र का दूसरा नाम लौगाक्षिगृह्यसूत्र है। इसमें दो प्रकार के विभाग मिलते हैं— एक विभाग के अनुसार इसमें आरम्भ से लेकर अन्त तक 73 कंडिकायें हैं। दूसरे प्रकार में इसमें पाँच बड़े-बड़े खण्ड या अध्याय हैं, इसी कारण इसका नाम गृह्य-पंचिका है। इसके तीन टीकाकारों में आदित्यदर्शन प्राचीनतम है।

सामवेदीय कल्पसूत्र

सामवेद के कल्पसूत्रों में आर्षेय कल्पसूत्र सब से प्राचीन माना जाता है। यह अपने रचयिता के नाम पर मशक कल्पसूत्र के नाम से भी पुकारा जाता है। इसमें साम गानों का सतत् विशिष्ट अनुष्ठानों में विनियोग का विवरण है। यह पंचविश ब्राह्मण के यागक्रम का अनुसरण करता है तथा इससे स्पष्टत: संबंध है। यह लाटलायन श्रौतसूत्र से प्राचीनतर है। लाटलायन श्रौतसूत्र उन सामों के गायन का वर्णन करता है जो अग्निष्टोम तथा इतर सोमयागों में प्रयुक्त किये जाते हैं, द्राह्यायन श्रौतसूत्र भी इसी वेद से

संबंधित है। इस ग्रन्थ में 32 पटलों की सत्ता है। लाटलायन श्रौतसूत्र के साथ इसकी विपुल समानताएँ विद्यमान हैं। जैमिनीय श्रौतसूत्र भी सामवेद की जैमिनीय शाखा से संबंध रखने वाली श्रौत सूत्र है इसमें केवल 26 कंडिकायें है। अग्नाधेय और अग्निहोत्रहोम का यहाँ वर्णन है। सामवेद से संबंध तीन गृह्यसूत्र हैं-गोभिल गृह्यसूत्र, खादिरगृह्यसूत्र और जैमिनीय गृह्यसूत्र।

गोभिलगृह्यसूत्र— सामवेदीय गृह्यसूत्रों में गोभिल गृह्यसूत्र बहुत ही प्रख्यात तथा बहुत प्रचलित कौथुम शाखा से संबंधित होने के कारण बहुत लोकप्रिय भी है। इस प्रकार कात्यायन ने कर्मप्रदीप नाम से परिशिष्ट लिखा। यह ग्रन्थ स्मृति श्रेणी का है। गोभिल गृह्यसूत्र के भट्टनारायण, सायण और विश्राम के पुत्र शिवि टीकाकार हुए। अन्य विषयों के साथ यह पिण्डपितृयज्ञ का वर्णन करता है। साम संहिता के मन्त्र भी उद्घृत हैं। मन्त्रब्राह्मण तथा गोभिलगृह्यसूत्र के पौर्वापर्व के विषय में मतभेद है। परन्तु दोनों ग्रन्थों के तुलनात्मक समीक्षण में मन्त्र-ब्राह्मण तथा गोभिलगृह्यसूत्र के पौर्वापर्व के विषय में मतभेद है। परन्तु दोनों ग्रन्थों के तुलनात्मक समीक्षण में मन्त्र-ब्राह्मण निःसंदेह गोभिल गृह्यसूत्र से प्राचीनतर सिद्ध होता है।

गोभिल गृह्यसूत्र में चार प्रपाठक हैं। प्रथम प्रपाठक में ब्रह्मयज्ञ, दर्शपूर्ण मासादि का वर्णन है। द्वितीय में विवाह तथा गर्भाधानादि संस्कारों का विवेचन है तृतीय में ब्रह्मचर्य, गोपालन, गोयज्ञ, अश्वयज्ञ श्रावणी आदिका वर्णन है। चतुर्थ में अष्टका गृह-निर्माणादि विधियों का वर्णन है।

खादिर गृह्यसूत्र— सामवेद की राणायणीय शाखा से सम्बन्ध यह गृह्य गोभिल गृह्य सूत्र के ऊपर आधारित है। फलतः यह एक प्रकार से गोभिलगृह्यसूत्र का संक्षिप्त संस्करण है।

जैमिनीय गृह्यसूत्र— दो खण्डों में विभक्त है प्रथम खण्ड में 24 कण्डिकायें और दूसरे खण्ड में 6 कण्डिकाएँ हैं पुरुषसूक्त की सात ऋचायें यहाँ निर्दिष्ट हैं, जो इसकी सामशाखा के अनुसार हैं।

सामवेद का एक गौतमधर्मसूत्र भी उपलब्ध है, विषयवस्तु और ऐतिहासिक दृष्टि से जिसका महत्वपूर्ण स्थान है।

अथर्ववेदीय कल्पसूत्र

अथर्ववेद का एकमात्र कल्पसूत्र 'वैतान श्रौतसूत्र' है यह गोपथ ब्राह्मण के ऊपर आधारित है तथा कात्यायन श्रौतसूत्र से भी धनिष्ट संबंध रखता है। इसमें आठ अध्याय हैं जो कण्डिकाओं में विभक्त हैं यह परिणाम में स्वल्प है और ब्रह्मा नामक ऋत्विज् उसके सहायक तथा यजमान के कर्तव्य तथा अनुष्ठानों का विवरण देता है। यह गोपथ ब्राह्मण का अनुसरण अनेक अंशों में करता है, यद्यपि कात्यायन श्रौतसूत्र का भी प्रस्ताव इसके ऊपर विशेष है।

कौशिकगृह्यसूत्र— अथर्ववेद का एकमात्र गृह्यसूत्र है। व्याख्याएँ उपलब्ध होती हैं। यह 24 अध्यायों में विभक्त है तथा इसके ऊपर हारिल एवं केशव की संक्षिप्त व्याख्याएँ उपलब्ध होती हैं। यह ग्रन्थ प्राचीन भारतीय यातुविद्या (जादू-विद्या) की जानकारी के लिए अनुपम सामग्री प्रस्तुत करता है जो अन्यत्र दुर्लभ है इस ग्रन्थ की सहायता से हम अथर्ववेद के नाना अनुष्ठानों के विधि-विधान को पूर्ण रूपेणजान सकते हैं। अतः इसके अनुशीलन के अभाव में अथर्व का रहस्य प्रकट नहीं होता है।

धर्मसूत्र

धर्म सूत्र कल्प के अविभाज्य अंग हैं। नियमतः प्रत्येक शाखा का अपना विशिष्ट धर्मसूत्र होना चाहिये, पर वस्तु स्थिति ऐसी नहीं है। आश्वलायन, शांखायन तथा मानव शाखा के श्रौतसूत्र तथा गृह्यसूत्र दोनों उपलब्ध हैं, परन्तु उनका धर्मसूत्रात्मक अंश उपलब्ध नही है। मानव धर्मसूत्र भी जिसके आधार पर कालान्तर में मनुस्मृति का निर्माण हुआ अभी तक उपलब्ध नही है केवल बौधायन, आपस्तम्ब तथा हिरण्यकेशी के कल्पसूत्रों की ही उपलब्धि पूर्णरूपेण होती है, और इसीलिए इनके धर्मसूत्र भी मिलते हैं।

गृह्यसूत्र, पाकयज्ञ तथा संस्कारों का विशेषतः उपनयन, विवाह तथा श्राद्ध का विशेष वर्णन करते हैं। धर्मसूत्र भी इन विषयों पर वर्णन निश्चय ही करते हैं, परन्तु, दृष्टिभेद से गृह्य में अनुष्ठानों के आकार-प्रकार तथा विधान पर ही विशेष आग्रह है, धर्मसूत्र इससे भिन्न आचार, कर्तव्य, कर्म, व्यवहार को महत्व देता है। धर्मसूत्रों में चतुर्वर्णों के कर्तव्य कर्म तथा वर्तन प्रकार के साथ-साथ राजधर्म का वर्णन मुख्य है। राजा के कर्तव्य प्रजा के साथ संबंध व्यवहार के नियम अवस्था विशेष में प्रायश्चित्त का विधान धर्मसूत्र को महत्व प्रदान करता है। विवाह के नाना प्रकारों का उभयत्र वर्णन है, परन्तु गृह्यसूत्र का मुख्य उद्देश्य केवल उसकी धार्मिक पद्धति तथा अनुष्ठान के प्रकार के विवरण से है। धर्मसूत्र में विवाह से उत्पन्न पुत्रों के बीच सम्पति के विभाजन का प्रश्न मुख्य है। दाय-भाग से वंचना, स्त्रियों की परतंत्रता, व्यभिचार के लिए प्रायश्चित्त, नियोग के नियम, गृहस्थ के नित्य तथा नैमित्तिक कर्तव्यों का वर्णन सब धर्मसूत्रों में नियमतः थोड़ी या अधिक मात्रा में आता है। धर्मसूत्रों के अध्ययन से ज्ञात होता है कि धर्मो का विवेचन धर्मसूत्रों का मुख्य विवेचन है। इसके अतिरिक्त द्विजातियों के खान-पान की व्यवस्था, आत्मा का स्वरूप, पुनर्जन्म के सिद्धात का विवेचन भी धर्मसूत्रों में प्राप्त होती है। लेकिन आचार एव व्यवहार की सामग्री इसमें पर्याप्त मात्रा में है। भारतीय कानून के ये आदि ग्रन्थ हैं इन्हीं धर्मसूत्रों का संक्षित विवरण दिया जा रहा है।

1. **गौतम धर्मसूत्र**— धर्मसूत्रों में प्राचीनतम ग्रन्थ गौतम-धर्मसूत्र माना जाता है, जिसका संबंध कुमारिल के प्रामाण्य पर सामवेद की राणायनीय शाखा से है। गोभिल ने गृह्यसूत्र में गौतम को उद्घृत किया है प्राचीन धर्मकारों में केवल मनु का उल्लेख यहाँ मिलता है। बौधायन धर्मसूत्र में इसका केवल उल्लेख ही नहीं है, किन्तु तीसरे प्रश्न के दशम अध्याय में गौतम धर्मसूत्र के 18वें अध्याय से प्रायश्चित्त विषयक सब साम्मग्री ली गई है। इसी प्रकार वसिष्ठ-धर्मसूत्र का 12वाँ अध्याय, गौतम के 18वें अध्याय से लिया गया है। इस ग्रन्थ में 28 अध्याय हैं, जिनमें वर्णधर्म, राजधर्म, नित्यकर्म तथा प्रायश्चित्त का विशेष प्रतिपादन है। गौतम धर्मसूत्र का निर्देश याज्ञवल्क्य, कुमारिल, शंकराचार्य तथा मेधातिथि ने किया है। इसका 600 वि. पू. और 400 वि. पू. के बीच में आविर्भाव माना जा सकता है। प्रथम एवं द्वितीय अध्याय में ब्रह्मचर्य एवं उपनयन का वर्णन है तृतीय में वैखानस और संन्यासी के धर्म, चतुर्थ और पंचम में गृहस्थधर्म, आठ प्रकार के विवाह, चार आश्रमों तथा मिश्र जातियों का वर्णन है। षष्ठ अध्याय में अभिवादन, सप्तम में आपत्कालीन वृतिसंग्रह, अष्टम में चालीस संस्कार, नवम में स्नातकधर्म, दशम में विभिन्न जातिधर्म, एकादश में राजधर्म, द्वादश में राजकीय विधि, त्रयोदश में विचार और साक्ष्यग्रहण,

चतुर्दश में अुशद्धि-विचार पञ्चदश में श्राद्ध, षोडश में वेदपाठ, सप्तदश में खाद्य-विचार तथा अष्टादश में स्त्री विवाह आदि का वर्णन है। उन्नीसवें से सत्ताइसवें अध्याय तक प्रायश्चित्तों का विवेचन है, और 28 वे अध्याय में उत्तराधिकार के संबंध में विवरण है।

2. बौधायन धर्मसूत्र– यह उनके कल्पसूत्र का ही एक अंशमात्र है अर्थात् कृष्णयजुर्वेद की तैतिरीय शाखा से संबंधित है। उसकी रचना गद्य-पद्यात्मक है। इसमें चार प्रश्न या खण्ड हैं, अन्तिम प्रश्न परिशिष्ट के रूप में है। यह कल्पसाहित्य के इतिहास में सबसे प्राचीन है। इस धर्मसूत्र के रचयिता बौधायन हैं। प्रथम प्रश्न में ब्रह्मचर्य शुद्धाशुद्ध विचार, राजकीय विधि और अष्टविध विवाह का वर्णन है द्वितीय प्रश्न प्रायश्चित्त, उत्तराधिकार, चारों गृहस्थ के धर्म, तथा श्राद्ध का विवरण देता है। तृतीय प्रश्न में वैखानस तथा संन्यासी के धर्म तथा चान्द्रायण आदिव्रतों का विधान है, तथा चतुर्थ प्रश्न में काम्य सिद्धियों का वर्णन है। इन प्रश्न चतुष्टयों में अन्तिम प्रश्न की भाषा शैली प्रथम तीन प्रश्नों से पार्थक्य रखती है। अतएव चतुर्थ प्रश्न अवान्तर काल में जोड़ा गया प्रतीत होता है। तृतीय प्रश्न की मौलिकता में भी संदेह किया जाता है। इस प्रश्न का दशम अध्याय गौतम धर्मसूत्र के 16 वें अध्याय से पूर्ण समता रखता है। अतएव आरंभ के दोनों प्रश्न ग्रन्थ के मौलिक अंश नि:सन्देह माने जाते हैं। बौधायन गृह्यसूत्र को बौधायन धर्मसूत्र से प्राचीनतर मानना चाहिये क्योंकि उसका निर्देश धर्मसूत्र में दो बार किया गया है।

तैत्तिरीय शाखा का बौधायन कल्पसूत्र समस्त कल्प-साहित्य के इतिहास में प्राचीनतम है। इसके अनेक पुष्ट प्रमाण उपलब्ध होते हैं। तैतिरीय संहिता के टीकाकार भट्टभास्कर मिश्र ने अपनी टीका के आरंभ में प्राचीन ग्रन्थकारों में बौधायन के नाम का उल्लेख किया है बौधायन शाखा के अनुयायियों की उत्सर्जनविधि के वर्णनावसर पर बौधायन प्रवचनकार कहे गये हैं, जब कि अन्य सूत्रों के रचयिता 'सूत्रकार' माने गये हैं। प्रवचन' से तात्पर्य यह है कि बौधायन ने श्रौत विषयों का विधिवत् उपदेश प्रथम बार दिया। अत: वे अपने विषय के मौलिक ग्रन्थकार हैं। दूसरे आचार्यो ने पूर्वोपलब्ध सामग्री का निवेश सूत्रों में किया, फलत: उनका कार्य मौलिक अनुशीलन न होकर केवल संकलनमात्र है। इनकी भाषा पाणिनीय संस्कृत से भिन्न रखती है, अनेक प्राचीन धर्माचार्यों के नाम तथा मत का उल्लेख ग्रन्थ में पाया जाता है। आपस्तम्ब तथा वसिष्ठ के अनेक धर्मसूत्र बौधायन से अक्षरश: मिलते हैं जिससे बौधायन का उन दोनों की अपेक्षा प्राचीनतर होना अनुमान-सिद्ध है।

3. आपस्तम्ब धर्मसूत्र– आपस्तस्ब कल्पसूत्र का अट्ठाइसवाँ एवं उन्तीसवाँ अध्याय आपस्तम्ब धर्म-सूत्र है। यह धर्मसूत्र कृष्ण यजुर्वेद की तैत्तिरीय शाखा से सम्बन्ध है। इसमें दो प्रश्न हैं। प्रत्येक प्रश्न में ग्यारह पटल हैं। इसकी रचना गद्य और पद्य दोनों में है। इसमें ब्रह्मचारी के कर्तव्य, गृहस्थ धर्म प्रायश्चित्त विधान हैं।

4. हिरण्यकेशि धर्मसूत्र– इस शाखा के कल्पसूत्र का दो प्रश्न मात्र (26 तथा 27) हैं। इसे स्वतंत्र-ग्रन्थ मानना उचित नहीं है। यह एक प्रकार से आपस्तम्ब-धर्म सूत्र का ही संक्षिप्त प्रवचन है। इन्होंने आपस्तम्ब से सैकड़ों सूत्रों को अक्षरश: अपने ग्रन्थ में उद्धृत किया है। इसके सूत्रों का पाठ पाणिनि के विशेष अनुकूल है। आपस्तम्ब धर्मसूत्र से केवल पाठ भेद मात्र अन्तर है। इसीलिए इसे स्वतंत्र ग्रन्थ नहीं कहा जा सकता।

5. वशिष्ठ धर्मसूत्र— महर्षि वशिष्ठ हमारे स्मृतिकारों में उच्च स्थान पर प्रतिष्ठित धर्मसूत्रकार हैं, जिनका धर्मशास्त्र मात्रा में स्वल्पकाय होने पर भी गुणों में विपुल और महनीय है। कुमारिलभट्ट तन्त्रवार्तिक में वसिष्ठ धर्मसूत्र का सम्बन्ध ऋग्वेद के साथ बतलाते हैं। किन्तु काणे के अनुसार इसमें सभी वेदों के उद्धरण प्राप्त होने के कारण इसका संबंध किसी एक वेद से नहीं माना जा सकता है, क्योंकि ऋग्वेदियों का अपना धर्मसूत्र नहीं था, अत: 'वशिष्ठ' इस नाम के कारण ऋग्वेदियों ने इसे अपना धर्मसूत्र मान लिया था। आज वशिष्ठ धर्मसूत्र के जितने भी संस्करण उपलब्ध हैं, उनके अध्यायों में भिन्नता प्राप्त होती है। इससे ज्ञात होता है कि इसका समय-समय पर परिवर्तन-परिवर्धन होता रहा है, और इसमें नये-नये अध्याय जोड़े गये हैं। विद्वानों का मत है कि इसके तीन अध्यायों में से अन्तिम 24 में से तीस अध्याय बाद में जोड़े गये हैं। वशिष्ठ धर्मशास्त्र गृह्य विषयों जैसे उपनयन, अनध्याय, स्नातक के नियम तथा पंचमहायज्ञ आदि के लिए सांखायन-गृह्यसूत्र के साथ संबंध रखता है। वशिष्ठ धर्मसूत्र के अनेक सूत्र ऋग्वेद के तीनों गृह्य सूत्र, सांख्यायन आश्वलायन, तथा कौषीतकि के साथ समता रखते हैं।

गौतम धर्मसूत्र के साथ भी इस ग्रंथ का विशेष संबंध लक्षित होता है। वशिष्ठ धर्मसूत्र के 20 वें अध्याय और गौतम धर्मसूत्र के 19वें अध्याय में अक्षरश: साम्य है। वर्तमान मनुस्मृति तथा वसिष्ठ-धर्म सूत्र में लगभग 40 श्लोक अक्षरश: एक ही हैं। विद्वानों की धारणा है कि वशिष्ठ का धर्मसूत्र ही वर्तमान मनुस्मृति से अथवा इसके विशुद्ध प्राचीन मूल रूप से इन श्लोकों को उद्धृत करता है।

वशिष्ठ धर्मसूत्र में तीस अध्याय हैं जिसमें आचार, व्यवहार, एवं प्रायश्चित्त आदि विषयों का विवेचन है। प्रारंभ के चौदह अध्यायों में आचार, मध्य के पाँच अध्यायों में (15-19 तक) व्यवहार और अन्तिम ग्यारह अध्यायों में (20-30 तक) प्रायश्चित्त वर्णित है इसमें अनेक भौतिक विचार एवं विषय की स्पष्टता विद्यमान है। वशिष्ठ ने आचार को सर्वश्रेष्ठ धर्म कहा है। उन्होंने छः प्रकार के विवाहों की ही मान्यता दी है न कि परम्परागत आठ प्रकार के विवाहों को।

स्मृतिकार वशिष्ठ की ख्याति प्राचीन स्मृतिग्रन्थों में बहुत मिलती है। याज्ञवल्क्य ने अपनी स्मृति में (1/4) प्राचीन स्मृतिकारों में वशिष्ठ का उल्लेख किया है। विश्वरूप ने याज्ञवल्क्य स्मृति की टीका में तथा मेधातिथि ने महाभाष्य में वशिष्ठ धर्मशास्त्र के मतों का उद्धरण सम्मानपूर्वक बहुत बार किया है। यह बात ध्यातव्य है कि 'वशिष्ठ' तथा 'वृद्धवसिष्ठ' नामक दो स्वतंत्र स्मृतिकार हैं। वृद्ध वशिष्ठ का कोई स्वतंत्र ग्रन्थ आज उपलब्ध नहीं है, तथापि अवान्तरकालीन भाष्य तथा निबन्धकर्ताओं के साक्ष्य पर वृद्ध वसिष्ठ के ग्रन्थ की सत्ता निःसंदेह प्रमाणित होती है, विश्वरूप ने याज्ञवल्क्य के एकश्लोक (1,19) की टीका में 'वृद्ध' वसिष्ठ के मत का उल्लेख किया है, मिताक्षरा (2, 19) में जयपत्र (अर्थात् फैसला) का लक्षण इनके ग्रन्थ से उद्धृत है। स्मृतिचन्द्रिका में लगभग 20 श्लोक आहिनक तथा श्राद्ध के विषय में उद्घृत हैं। इससे यही निष्कर्ष निकलता है कि वृद्ध वसिष्ठ की स्मृति भी प्राचीन है, तो याज्ञवल्क्य स्मृति के समान ही आचार के साथ अन्य सभी व्यवहारों का भी विशेष वर्णन करती है। ग्रन्थ के अभाव में वसिष्ठ तथा वृद्ध वसिष्ठ के परस्पर संबंध का पता नहीं लगाया जा सकता। वशिष्ठ की श्लोकवद्ध स्मृति अभी प्रकाश में नहीं आई है, परन्तु इसकेहस्तलेख अवश्य विद्यमान हैं। यह स्मृति परिमाण में काफी बड़ी है इसके 10 अध्यायों में 1,100 श्लोक हैं, जिसमें स्मृति से संबंध नाना विषयों-जैसे स्त्रीधर्म, श्राद्ध, अशौच, विष्णुमूर्ति-प्रतिष्ठा, विष्णु-पूजन आदि का विस्तृत विवेचन है।

6. वैखानस धर्मसूत्र

यह धर्मसूत्र वैखानस स्मृतिसूत्र का अष्टम, नवम्, तथा दशम प्रश्न है। इसमें कुल चार प्रश्न हैं, जिनमें मुख्य रूप में वर्णाश्रम धर्म का विवेचन है। वानप्रस्थ, संन्यास तथा गृहस्थ आश्रम के अवान्तर प्रकारों का इतना विशद वर्णन यहाँ है, परन्तु राजा के कर्तव्य, न्याय का विधान, श्राद्ध का अनुष्ठान आदि धर्मशास्त्रों में नियमतः प्राप्त विषयों का यहाँ सर्वथा अभाव है इसके श्लोक मनुस्मृति के पद्यों से विशेष साम्य रखते हैं। इसमें बुधवार शब्द का प्रयोग मिलता है डॉ. कैलेण्ड ने इसका सम्पादन तथा अंग्रेजी अनुवाद किया है।

7. विष्णु धर्मसूत्र

यही एक धर्मसूत्र है जो किसी मानव ग्रन्थकार की रचना न होकर अपनी दिव्य उत्पति में श्रद्धा रखता है। इसमें गद्यात्मक सूत्रों तथा पद्यों का एकत्र सन्निवेश है। इसके स्वरूप के विषय में पर्याप्त मतभेद है। मनुस्मृति के साथ इस सूत्र का संबंध तथा पौर्वापर्य विप्रतिपति का विषय है। इस धर्मसूत्र के 160 श्लोक मनुस्मृति के पद्यों से साम्य रखते हैं। इस ग्रंथ के सम्पादक डा. जाली इस धर्मसूत्र को मनुस्मृति से प्राचीनतर मानने के पक्ष में है। परन्तु दोनों की तुलना करने पर विष्णुधर्म सूत्र ही मनुस्मृति का अधमर्ण प्रतीत होता है, क्योंकि उसने मनु के अनेक श्लोकों के यत्र-तत्र परिवर्तन कर अपने में सम्मिलित कर लिया है। मनुस्मृति के अनेक श्लोकों में मनु के नाम की छाप है। उन श्लोकों में यह छाप अन्य शब्दों के द्वारा हटा दी गई है। मनुस्मृति (5, 41) में इत्यब्रवीन्मनुः के स्थान पर कथंचन शब्द प्रयुक्त है। इससे पता चलता है कि विष्णु धर्मसूत्र मनुस्मृति से अवान्तर कालीन रचना है। जिसने अपनी प्रतिष्ठा तथा प्रामाण्य के लिए मनु के श्लोकों का किंचित परिवर्तन के साथ उपयोग किया है। इसी प्रकार याज्ञवल्क्य स्मृति, गौतम धर्मसूत्र, वसिष्ठ धर्मसूत्र, भगवद्गीता के श्लोक तथा सूत्र अक्षरशः अथवा किंचित परिवर्तन के साथ यहाँ उपलब्ध होते हैं। काठक गृह्यसूत्र के भी वैश्वदेव, बलिश्राद्ध, तथा वृशोत्सर्ग-विषयक अनेक सूत्रों के साथ यहाँ साम्य उपलब्ध होता हैं। ऐसी दशा में विष्णु धर्मसूत्र की प्राचीनता तथा मौलिकता नितान्त संदिग्ध है। ऐसा लगता है कि इसी ने उपरि निर्दिष्ट ग्रन्थों से सामग्री लेकर अपने को सजाया है।

8. हारीत धर्मसूत्र— इस धर्मसूत्र का संबंध कृष्ण यजुर्वेद से जोड़ा जाता है। किन्तु इसमें सभी वेदों के उद्धरण प्राप्त होते हैं। अतः यह किसी एक वेद से संबंध नहीं किया जा सकता है। इसमें गद्य और पद्य दोनों हैं। इस धर्मसूत्र में धर्म के उपादान, पंच महायज्ञ, वेदाध्ययन की विधि गृहस्थ धर्म-आठ प्रकार के विवाह, राजधर्म, न्याय, व्यवस्था व्यवहारनिरूपण, प्रायश्चित्त अशौच, तथा श्राद्ध आदि धर्म-शास्त्रीय सभी विषय प्रतिपादित हैं।

इनके अतिरिक्त मानवधर्मसूत्र शंखलिखित धर्मसूत्र, भारद्वाज धर्मसूत्र, वृहस्पति धर्मसूत्र आदि अन्य धर्मसूत्र के ग्रन्थ भी प्राप्त होते हैं।

(ग) व्याकरण

व्याकरण शास्त्र की परम्परा— व्याकरण तीसरा वेदांग है। वेदमन्त्रों को सुरक्षित रखना और उसमें गुरु गम्भीर ज्ञान को अभिव्यक्त करना ही व्याकरण का उद्देश्य है। विचारों की अभिव्यक्ति का माध्यम भाषा रही

है। इतिहास के माध्यम से ज्ञात होता है कि भाषा और विचारों का क्षेत्र सदा एक जैसा न रहा। उसमें परिवर्तन होता रहा। आज हमारे पास विचार है और उनको अभिव्यक्ति देने के लिए सम्पन्न भाषा भी है। किन्तु आरंभ में ऐसा नहीं था, भाषा और विचारों का क्षेत्र सदा ही बदलता और विकसित होता रहा। भाषा और विचारों का संबध जोड़ने वाली विद्या व्याकरण है। व्याकरण एक स्वतंतत्र शास्त्र है, जिसकी अपनी समृद्ध परम्परा है।

व्याकरण भी प्रकृति और प्रत्यय का उपदेश देकर पद के स्वरूप, तथा उसके अर्थ के निर्णय के लिए प्रयुक्त होता है। व्याकरण का व्युत्पति लभ्य अर्थ है पदों की मीमांसा करने वाला शास्त्र-व्याक्रियन्ते शब्दा अनेनेति व्याकरणम्। व्याकरण वेद पुरुष का मुख्य माना जाता है :— मुखं व्याकरणं स्मृतम्। मुख होने से ही वेदांगों में व्याकरण की मुख्यता है जिस प्रकार मुख के विना भोजनादि के न करने से शरीर की पुष्टि असम्भव है, उसी प्रकार व्याकरण के बिना वेदरूपी पुरुष के शरीर की रक्षा तथा स्थिति असंभाव्य है। इसीलिए हमारे प्राचीन ऋषियों ने व्याकरण की महत्ता का प्रतिपादन बड़े ही गम्भीर शब्दों में किया है।

स्वयं ऋक् संहिता में इस व्याकरण शास्त्र की प्रशंसा में अनेक मंत्र भिन्न-भिन्न स्थानों में उपलब्ध होते हैं। ऋग्वेद के एक सुप्रसिद्ध मन्त्र में शब्द शास्त्र (व्याकरण) का ऋषभ से रूपक बाँधा गया है, जिसमें व्याकरण ही कामों (इच्छाओं) की पूर्ति (वर्णन) करने के कारण वृषभ नाम से उल्लिखित किया गया है। इसके चार सींग हैं (1) नाम (2) आख्यात (3) उपसर्ग और (4) निपात। वर्तमान, भूत और भविष्य ये तीन काल इसके तीन पाद हैं। इसके दो सिर हैं सुप् और तिङ्। इसके सात हाथ सात विभक्ति-प्रथमा, द्वितीया, आदि के रूप में हैं। यह उर, कण्ठ और सिर इन तीन स्थानों में बाँधा गया है। यह महान् देव है जो मनुष्यों में प्रवेश किये हुए है (ऋग्वेद 4, 58, 3)

चत्वारि शृङ्गा त्रयो अस्य पादा द्वे शीर्षे सप्त हस्तासो अस्य।
त्रिधा बद्धो वृषभो रोरवीति महो देवो मर्त्यां आविवेश।।

ऋग्वेद के एक दूसरे मन्त्र में व्याकरण शास्त्र के विशेषज्ञ तथा अनभिज्ञ व्यक्तियों की तुलना बड़ी ही मार्मिक रीति से की गई है। व्याकरण से अनभिज्ञ व्यक्ति एक ऐसा जीव है जो वाणी को देखता हुआ भी नहीं देखता और सुनता हुआ भी नहीं सुनता है। परन्तु व्याकरण के विद्वान् के लिए वाणी अपने रूप को उसी प्रकार से अभिव्यक्त करती है जिस प्रकार शोभन वस्त्रों से सुसज्जित कामिनी अपने पति के सामने अपने को समर्पण करती है (ऋग्वेद 10,71,4)।

महर्षि पतञ्जलि ने व्याकरण के तेरह प्रयोजनों का वर्णन महाभाष्य के प्रारंभ (पस्पशाह्णिक) में बड़ी ही सुन्दर भाषा में किया है इसी प्रकार आचार्य वररूचि ने व्याकरण शास्त्र के महत्व को बतलाते हुए इसके अध्ययन के पाँच प्रधान प्रयोजन बतलाये हैं:—

वररूचि के अनुसार व्याकरण के मुख्य पांच प्रयोजन निम्नलिखित हैं :— 1. रक्षा 2. ऊह 3. आगम 4. लघु 5. असन्देह।

1. **रक्षा**— व्याकरण के अध्ययन का प्रधान लक्ष्य वेद की रक्षा है। वेद का उपयोग यज्ञ-यागों के विधान में है। इन्हीं प्रयोगों में उपयुक्त होने वाले मन्त्रों का समुच्चय वेद की संहिताओं में किया गया

है, किस मन्त्र का उपयोग किस यज्ञ में किया जाये? किस मन्त्र का विनियोग कहाँ सम्पन्न है? इन प्रश्नों का उत्तर वही विद्वान् दे सकता है जो इन मन्त्रों में आये हुए पदों के स्वरूप को पहचानता है तथा उनके अर्थ से परिचय रखता है। इसीलिए वेद की रक्षा का प्रधान भार वैयाकरण के ऊपर है।

2. **ऊह**— ऊह का अर्थ नये पदों की कल्पना से है। वेद में मन्त्र न तो सब लिंगों में दिये गये हैं, और न सब विभक्तियों में। यज्ञ की आवश्यकता के अनुसार इन मन्त्रों के शब्दों का भिन्न-भिन्न विभक्तियों तथा भिन्न लिंगों में परिणाम अनिवार्य होता है। इस विपरिणाम का सम्पादन वही पुरुष कर सकता है जो व्याकरण सम्भत शब्दों के रूपों से परिचित हो।

3. **आगम**— स्वयं श्रुति ही व्याकरण के अध्ययन के लिए प्रमाण भूत है, वह कहती है कि ब्राह्मण का यह कर्तव्य है कि वह निष्कारण धर्य तथा अंग सहित वेद का अध्ययन एवं ज्ञान प्राप्त करे। ऊपर यह प्रतिपादित किया गया है कि षड् अंगों में व्याकरण ही मुख्य है। मुख्य विषय में किया गया प्रयत्न विशेष फलवान् होता है। इस लिए श्रुति के प्रामाण्य को स्वीकार कर वैयाकरण का अध्ययन करना प्रत्येक द्विज का कर्तव्य है।

4. **लघु**— लघुता के लिए भी व्याकरण का पठन-पाठन आवश्यक है संस्कृत भाषा के प्रत्येक शुद्ध शब्द का यदि हम अध्ययन करना चाहें तो इस लघु जीवन की तो बात ही क्या अनेक जीवन व्यतीत हो जाये परन्तु इस शब्द-वारिधि के अन्त तक नही पहुँच सकते। व्याकरण ही वह लघु उपाय है जिसका आश्रय लेकर हम अपने मनोरथ को पूरा कर सकते हैं। व्याकरण का अध्ययन सकल शास्त्रों की यह कुंजी है जिससे सरलता से उनके रहस्य का उदघाटन हो सकता है।

5. **असन्देह**— वैदिक शब्दों के विषय में उत्पन्न संदेह का निराकरण व्याकरण ही कर सकता है। ऐसे अनेक समासयुक्त, पदों का प्रयोग मिलता है जिसमें अनेक प्रकार के समासों की सम्भावना बनी रहती है यह बहुव्रीहि भी हो सकता है, और तत्पुरुष भी। अब इस सन्देह का निराकरण करे तो कौन करे? स्वर की सहायता से ही इसका निर्णय किया जा सकता है। यदि यह पद अन्तोदात्त हो तो कर्मधारय होगा और यदि वह पूर्वपद प्रकृति-स्वर हो तो बहुव्रीहि होगा। स्वर की इस सूक्ष्म बातों का पता वैयाकरण को ही रहता है। इसीलिए वैदिक अध्ययन के निमित्त व्याकरण शास्त्र की उपयोगिता है।

इन उपर्युक्त पाँच प्रयोजनों के अतिरिक्त पतंजलि ने अन्य 13 प्रयोजनों का भी उल्लेख बड़े विस्तार के साथ किया है

1. **अपभाषण**— शब्दों के अशुद्ध उच्चारण के दूर हटाने का मार्ग हमें व्याकरण ही बताता है। सुना जाता है कि असुर लोग 'हेलय:हेलय: ऐसा उच्चारण करते हुए पराभव को प्राप्त हुए। हम वर्णो तथा शब्दों का अशुद्ध उच्चारण न करते हुए म्लेच्छ न हो जायें इसलिए व्याकरण का अध्ययन आवश्यक है।

2. **दुष्ट शब्द**— शब्दों की शुद्धि तथा अशुद्धि का ज्ञान व्याकरण के अधीन है अशुद्ध शब्दों के प्रयोग से उत्पन्न होने वाले अर्थों से हम भली भाँति परिचित हैं। अतः दुष्ट शब्दों के प्रयोग से अपने को बचाने के लिए व्याकरण का अध्ययन आवश्यक है।

3. **अर्थज्ञान**— वेद के अर्थ को जानने के लिए व्याकरण का जानना आवश्यक है विना अर्थ को जाने हुए शास्त्र का अध्ययन उसी प्रकार फल नहीं देता जिस प्रकार आग में न रखी गई सूखी लकड़ी। सूखी लकड़ी में जलने की योग्यता अवश्य है, पर उसका आग के साथ संयोग होना भी आवयक है इसी प्रकार अर्थ-ज्ञान के सम्पन्न होने पर ही शब्द ज्ञान सफलता प्राप्त करता है।

4. **धर्मलाभ**— जो कुशल व्यक्ति व्यवहार के समय शुद्ध शब्दों का प्रयोग करता है, वह स्वर्ग लोक में अनन्त फल प्राप्त करता है। परन्तु जो केवल अपशब्दों का ही प्रयोग करता है। वह अनेक पाप का भाजन बनता है। शुद्ध शब्द एक ही होता है, पर उसी के अनेक अपभ्रंश उपलब्ध होते हैं। ''गौ'' शब्द व्याकरण से शुद्ध है पर उसी के स्थान में गावी, गोणी, गोपोतलिका आदि उनके अपभ्रंश मिलते हैं। धर्म लाभ के लिए शुद्ध शब्दों का प्रयोग न्याय है अपभ्रंश का नहीं।

5. **नामकरण**— गृह्यकारों का कहना है कि उत्पन्न हुए बच्चे का नामकरण दशम दिन में करना चाहिये। इस नामकरण के विशिष्ट नियम हैं, जिनमें एक यह है कि वह कृदन्त होना चाहिये तद्धितान्त नहीं, इन सूक्ष्म बातों का परिचय वही पा सकता है जिसने व्याकरण का अनुशीलन किया हो।

इन कतिपय सिद्धान्तों से ही व्याकरण की महती आवश्यकता का पर्याप्त परिचय हमें प्राप्त हो सकता है। प्राचीन व्याकरण के विषय का निर्देश गोपथ-ब्राह्मण (1, 24) में स्पष्ट किया गया है। धातु, प्रातिपदिक, नाम, आख्यात, लिंग, वचन, विभक्ति, प्रत्यय, स्वर, उपसर्ग, निपात, मात्रा, वर्ण, अक्षर, पद-संयोग, स्थानानुप्रदान-आदि पारिभाषिक शब्द उस समय के व्याकरणशास्त्र के मान्य शब्द थे। इस उद्धरण का शिक्षिका: शब्द भी पारिभाषिक है। इस शब्द का प्रयोग शुद्ध उच्चारण की शिक्षा देने वाले व्यक्ति के लिए किया गया है। व्याकरण शब्द का प्रयोग भी इस बात का स्पष्ट प्रतिपादक है कि गोपथ-ब्राह्मण की रचना से बहुत पूर्वकाल में ही इस शास्त्र की उत्पत्ति हो चुकी थी।

अब विचारणीय प्रश्न यह है कि वेद के इस अंग का प्रतिनिधि ग्रन्थ कौन सा है। आजकल प्रचलित व्याकरणों में पाणिनीय व्याकरण ही प्राचीनतम है। परन्तु पाणिनि से भी पहले एन्द्र व्याकरण की सत्ता थी, जिसके प्रबल तथा पुष्ट प्रमाण उपलब्ध हुए हैं।

महर्षि शाकटायन ने ऋक तंत्र (पृ. 3) में लिखा है कि व्याकरण का कथन ब्रह्मा ने वृहस्पति से किया, वृहस्पति ने इन्द्र से, इन्द्र ने भारद्वाज से, भारद्वाज ने ऋषियों से और ऋषियों ने ब्राह्मणों से। इस शास्त्र को अक्षर-समाम्नाय कहते हैं। तैत्तिरीय संहिता में इस विषय का सर्वप्रथम तथा प्राचीनतम उल्लेख मिलता है। पूर्वकाल में वाक् अव्याकृत थी इसमें पद प्रकृति की कथमपि व्याख्या न थी उसका व्याकरण नहीं था, और इस व्याकरण का नियमन भगवान इन्द्र ने ही किया। इसी निर्देश को स्पष्ट कर पतंजलि ने महाभाष्य में लिखा है कि वृहस्पति ने इन्द्र को प्रत्येक पद का उल्लेख कर दिव्य सहस्र वर्षो तक शब्द-पारायण किया, परन्तु अन्त को न प्राप्त हो सके इतना अगाध अनन्त है यह शब्द रूपी महार्णव।

ऐन्द्र व्याकरण— यह व्याकरण, ग्रन्थ रूप में था, इसका भी परिचय हमें इन प्रमाणों से चलता है।

(क) नन्दकेश्वर स्मृत 'काशिका' वृत्ति की तत्वविमर्शिनी व्याख्या में उपमन्यु ने स्पष्ट लिखा है— तथा चोक्तम् इन्द्रेण अन्तर्वर्णसमुद्भूता धातवः परिकीर्तिताः

(ख) वररुचि ने ऐन्द्र विघण्टु के आरंभ में ही इसका निर्देश किया है—

पूर्वं पद्भभुवा प्रोक्तं श्रुत्वेन्द्रेण प्रकाशितम्।

तद् बुधेभ्यौ वररुचिः कृतवानिन्द्रनामकम्।।

(ग) वोपदेव ने संस्कृत के मान्य व्याकरण सम्प्रदायों में प्रथम स्थान इन्द्र को दिया है।

इन्द्रश्चन्द्रः काशकृत्स्नापिशली शाकटायनः।

पाणिन्यमरजैनेन्द्रा जयन्त्यष्टादिशब्दिकाः।।

(घ) सरस्वत-प्रक्रिया के कर्ता अनुभूति-स्वरूपाचार्य ने भी इन्द्र को ही शब्दसागर के पार करने के उद्योगी पुरुषों में प्रथम बतलाया है।

इन्द्रदयोऽपि यस्यान्तं न ययुः शब्दवारिधैः।

प्रक्रियां तस्य कृत्स्नस्य क्षमो वक्तुं नरः कथम्।।

वररुचि ने भवन्ती, अद्यतनी, ह्यस्तनी, आदि जिन पारिभाषिक शब्दों का उल्लेख किया है, वे पाणिनि के लट्, लङ्, लिट् आदि शब्दों से प्राचीन हैं और इनका प्रयोग ऐन्द्र व्याकरण में किया गया था ऐसा पंडितों का अनुमान है।

पाणिनि-व्याकरण— आजकल व्याकरण रूपी वेदांग का प्रतिनिधित्व करने वाला एक ही व्याकरण है, और वह है पाणिनीय व्याकरण। महर्षि पाणिनि ने लगभग 4000 अल्पाक्षर सूत्रों के द्वारा संस्कृत भाषा के अत्यन्त वैज्ञानिक व्याकरण प्रस्तुत कर विद्वानों को आश्चर्य में डाल दिया है। पाणिनि का ग्रन्थ आठ अध्यायों में विभक्त है इसीलिए इसे 'अष्टाध्यायी' कहते हैं। इसका समय ईसा पूर्व षष्ठ शतक है। पाणिनि के द्वारा अव्याख्यात संस्कृत में प्रयुक्त होने वाले शब्दों की व्याख्या करने के उद्देश्य से कात्यायन ने ई. पूर्व. चतुर्थ शतक में वार्तिक की रचना की, तदनन्तर ई. पूर्व द्वितीय शतक में पतञ्जलि ने महाभाष्य का निर्माण किया। सूत्रों पर अनेक भाष्य हैं परन्तु विषय की व्यापकता, विचार की गंभीरता के कारण यही भाष्य महाभाष्य के गौरवपूर्ण अभिधान को प्राप्त कर सका है। इसे व्याकरण का ही ग्रन्थ मानना अनुचित होगा, व्याकरण के दार्शनिक सिद्धान्तों की मीमांसा सर्वप्रथम यहीं उपलब्ध होती है। ग्रन्थकार ने कथनोपथन की शैली में समग्र ग्रंथ की रचना नितान्त मनोरंजक रूप में की है। व्याकरण के ये ही मुनित्रय हैं— पाणिनि, कात्यायन और पतंजलि। महाभाष्य के अनन्तर व्याकरण, दर्शन का सब से प्रधान ग्रन्थ वाक्यपदीय है। इसके रचयिता आचार्य भर्तृहरि थे। (षट शतक)। वाक्यपदीय में व्याकरणशास्त्रका दर्शनिक रूप प्रकट होता है। भर्तृहरि शब्दाद्वैत के संस्थापक थे। उनकी दृष्टि में स्फोट ही एकमात्र परम तत्व है, और यह उसी का विर्वत्त रूप है उन्होंने महाभाष्य के ऊपर एक व्याकरण लिखी थी परन्तु वह आजकल उपधब्न नही है। ग्रन्थोपथन की शैली में समग्र ग्रंथ की रचना नितान्त मनोरंजक रूप में की है। महाभाष्य प्रदीप के उपर नागेश भट्ट ने उद्योत की रचना कर, प्रदीप के सिद्धान्तों को नितान्त स्पष्ट बनाने का श्लाघनीय उद्योग किया।

अब तक जो टीकाएँ लिखी गई हैं, वे अष्टाध्यायी के क्रम को मान कर प्रवृत्त हुई परन्तु

रामचन्द्राचार्य ने पंचदश शतक में अष्टाध्यायी के सूत्रों की प्रक्रिया के अनुसार एक नये क्रम से निबद्ध किया। इस क्रम में पदों की ही सिद्धि, प्रधान लक्ष्य रखी गई है इसी क्रम को अग्रसर करने वाले विख्यात वैयाकरण भट्टोजिदीक्षित हुए। नव्य व्याकरण ग्रन्थों के अध्ययन-अध्यापन मीमांसा तथा समीक्षा में व्यस्त रहा है।

दीक्षित ही की परम्परा में नागेश भट्ट उद्‌भट् वैयाकरण हुए। इनकी प्रतिभा बहुमुखी है इनका शब्देन्दुशेखर मनोरमा की विस्तृत व्याख्या है। इनकी लघु मंजूषा शब्द और अर्थ के सिद्धान्तों को विस्तृत मीमांसा करने वाला सर्वश्रेष्ठ ग्रन्थ है।

निघण्टु— निघण्टु में वेद कठिन शब्दों का क्रमबद्ध संकलन है। यास्क ने निघण्टु पर निरुक्त नामक भाष्य लिखा है। कुछ विद्वानों का विचार है निघण्टु और निरुक्त दोनों के रचयिता यास्क हैं, परन्तु महाभारत में कश्यप को निघण्टु का रचयिता बताया गया है। निरुक्त के प्रारंभ में निघण्टु को समाम्नाय कहा है। कहा जाता है कि कृतधर्मा ऋषियों ने बिखरे हुए मन्त्रों को एकत्र कर निघण्टु नामक ग्रन्थ बना कर अध्ययन अध्यापन द्वारा इसका विस्तार किया, पहले ब्राह्मण ग्रन्थों में समान्नात किया गया। जब ब्राह्मण ग्रन्थ वेदार्थज्ञान में पर्याप्त नही हुए, तब निरुक्तादि ग्रन्थों में उन्हें समाम्नात किया गया।

निघण्टु में पाँच अध्याय हैं। प्रथम तीन अध्यायों को नैघण्टुक काण्ड कहते है। चतुर्थ अध्याय को नैगमकाण्ड और पंचम अध्याय को दैवत-काण्ड कहते हैं।

निघण्टु के शब्दों का निर्वचन निरुक्त में किया गया है। वेदमन्त्रों के अर्थज्ञान के लिए व्युत्पति का ज्ञान आवश्यक है, और वेदमन्त्रों के कठिन शब्दों की व्युत्पति निरुक्त करता है। अतः उसके अर्थज्ञान के लिए निरुक्त का अध्ययन आवश्यक है। सायण ने निरुक्त शब्द की व्याख्या करते हुए कहा है कि अर्थ के ज्ञान के लिए दूसरे की सहायता के बिना निरपेक्ष रूप में पदों का जहाँ पर कथन है उसे निरुक्त कहते हैं। दुर्गाचार्य का कथन है कि अर्थ का ज्ञान कराने के कारण ही यह वेदांगों में प्रधान है, क्योंकि वैयाकरण तो शब्दों पर ही विचार करता है और कल्प मन्त्रों का विनियोग बतलाता है, किन्तु निरुक्त, शब्द और अर्थ के निर्वचन का ज्ञान कराता है। इस प्रकार वेद का अर्थ स्पष्ट करने के लिए निरुक्त आवश्यक है, और व्याकरण शास्त्र का पूरक है।

निरुक्त

निघण्टु काल के बाद निरुक्तों का समय आरंभ होता है। दुर्गाचार्य के अनुसार निरुक्त संख्या में 14 थे। यास्क के उपलब्ध निरुक्त में 12 निरुक्त कारों के नाम तथा मत निर्दिष्ट किये गये है। इनके नाम अक्षरक्रम से इस प्रकार है— 1. अग्रायण, 2. औपमन्यव, 3. औदुम्बरायण, 4. और्णवाभ, 5. कात्थक्य, 6. क्रौष्टुकि, 7. गार्ग्य, 8. गालब, 9. तैटीकि, 10, वार्ष्यायणि, 11. शाकपूणि, 12. स्थौलाष्ठीवि, तेरहवें निरुक्तकार स्वयं यास्क हैं इनके अतिरिक्त 14 वाँ निरुक्तकार कौन थे? इसका ठीक-ठीक परिचय नहीं मिलता। इन ग्रन्थकारों में शाकपूणि का मत अधिकता से उद्धृत किया गया है। वृहद्‌देवता में तथा पुराणों में शाकपूणि का अधिकतर शाकपूणि नाम से स्मरण है, तथा यास्क से इन्हें विरुद्ध मत मानने वाला कहा गया है।

यास्क का निरुक्त— निरुक्त वेद के षड् अंगों में अन्यतम है निरुक्त में 12 अध्याय हैं, अन्त में दो अध्याय परिशिष्ट रूप में दिये गये हैं। इस प्रकार समग्र ग्रन्थ चौदह अध्यायों में विभक्त है ये पाणिनि से भी प्राचीन हैं। महाभारत के शान्तिपर्व में (अ. 342) यास्क के निरुक्तकार होने का स्पष्ट निर्देश है। यास्क को हम विक्रम से सात-आठ सौ वर्ष पूर्व मान सकते हैं।

निरुक्त एक प्रकार से निघण्टु का भाष्य है, और निघण्टु वैदिक शब्द कोश है। निरुक्त एक वेदांग है और निघण्टु का व्याख्या-ग्रथ। निघण्टु में वैदिक शब्दों का संग्रह है, और निरुक्त में उसकी व्याख्या। वेद का अर्थ समझने के लिए निरुक्त सर्वाधिक सहायक ग्रन्थ है और निरुक्त को समझने के लिए व्याकरण का ज्ञान आवश्यक है।

निरुक्त के प्रतिपाद्य विषय— वर्णागम, वर्णविपर्यय, वर्णविकार, वर्णनाश, और धात्वर्थ के अतिशय योग। ये ही पाँच विषय व्याकरण में भी हैं, किन्तु निरुक्त व्याकरण का ग्रन्थ नहीं है, बल्कि व्याकरण शास्त्र का पूरक कहा जाता है। निरुक्त वैदिक शब्दों का निर्वचन करता है। शब्दों का निर्वचन ही इसका प्रधान विषय है। यास्क के अनुसार सभी शब्द किसी न किसी धातु से बने है अत: सभी शब्द धातुज है। इस प्रकार भाषा का मूल धातु है इस सिद्धान्त का प्रतिपादन यास्क ने लिया है, जो भाषाशास्त्र की दृष्टि से अत्यन्त महत्वपूर्ण है।

निरुक्त तीन काण्डों में विभक्त है। इसमें बारह अध्याय हैं और अन्त में दो अध्याय परिशिष्ट के रूप में जोड़े गये हैं इस प्रकार निरुक्त में कुल चौदह अध्याय हैं। निरुक्त के प्रथम काण्ड को नैघण्टुक काण्ड कहते हैं। इस काण्ड में तीन अध्याय हैं। प्रथम अध्याय में व्याकरण और निरुक्त के संबंधों पर विचार किया गया है। द्वितीय और तृतीय अध्यायों में पर्यायवाची शब्दों की व्याख्या है। यास्क के अनुसार नाम, आख्यात, उपसर्ग और निपात ये चार पद होते हैं। इनमें नाम और आख्यात विना किसी सहायता के स्वतंत्र रूप से अर्थ को प्रकट करते हैं तथा उपसर्ग और निपात दूसरे शब्द की सहायता से अर्थ प्रकट करते हैं। नाम में सत्व (द्रव्य) की प्रधानता होती है और आख्यात भाव-प्रधान होते हैं। भाव का निर्वचन है 'भवतीति भाव:' यास्क ने भाव-विकार छ: बताये हैं जायते, अस्ति, विपरिणमते, वर्धते, अपक्षीयते,विनश्यति। निपात और उपसर्ग उँचे और नीचे अर्थ में उपमा और पादपूर्त्ति में प्रयुक्त होते हैं।

द्वितीय काण्ड को नैगमकाण्ड कहते हैं। इसे ऐकपदिक भी कहते हैं। नैगमकाण्ड में एक पदादि और अनवगत संस्कार पदों का वर्णन किया गया है। जैसे पिता शब्द अनवगत संस्कार है इसका अर्थ है, पिता पालयिता। इस प्रकार इस काण्ड में एकार्थ में अनेक शब्द और अनेकार्थ में एक-शब्द तथा अनवगत संस्कार शब्दों का निर्देश किया गया है। जैसे पृथ्वी, अर्थ में गै आदि अनेक शब्द आये हैं, और पृथ्वी रश्मि, इन्द्रिय, गौ आदि अनेक अर्थो में गो शब्द का प्रयोग है, इसी प्रकार वृक शब्द भी अनवगत और अनेकार्थ है। वृक का अर्थ चन्द्रमा भी है, और सूर्य को भी वृक कहा गया है।

निरुक्त के तृतीय काण्ड को दैवतकाण्ड कहते हैं। इसमें देवताओं की प्रधानतया स्तुति की गई है। देवता की स्तुति चार प्रकार से होती है— नाम, रूप, कर्म और बन्धु। स्तुति के मन्त्र तीन प्रकार के हैं— परोक्षकृत, प्रत्यक्षकृत और आध्यात्मिक। यास्क ने निरुक्त में तीन प्रकार के देवता बताये हैं— पृथ्वी, स्थानीय, अग्नि। अन्तरिक्ष स्थानीय इन्द्र या वायु और द्यू स्थानीय देवता आदित्य। इसके

अतिरिक्त परिशिष्ट में अग्नि स्तुति तथा जिनके निर्वचन में प्रकृति-प्रत्यय के योग का ज्ञान नहीं हो सकता है, ऐसे मन्त्र निर्दिष्ट हैं। अन्त में ब्रह्म की स्तुति है, ब्रह्मनिष्ठ होकर कर्म करना श्रेयस्कर है। उससे मोक्ष की प्राप्ति होती है। इस प्रकार निरुक्त में विविध प्रकार के शब्दों की व्युत्पत्ति बतायी गई है, और प्रत्येक नाम शब्द का संबंध किसी-न किसी धातु से जोड़ा गया है।

(घ) छन्दशास्त्र

वेद के छः अंगों में छन्द को वेद का पाद कहा गया है, अर्थात् वेद में छन्द-शास्त्र का वही स्थान है जो शरीर में पैरों का। जिस प्रकार पैर के विना मनुष्य चलने में असमर्थ होता है, उसी प्रकार छन्दोज्ञान के विना वेद पंगु है। भाव यह है कि छन्दों के सम्यक् ज्ञान के विना वैदिक मंत्रों का शुद्ध उच्चारण नहीं हो सकता। यास्क ने छन्दः शब्द की व्युत्पत्ति छद् (छदि) धातु से बतायी है, जिसका अर्थ होता है (छन्दांसि छादनात् निरुक्त 7, 3)। तैत्तिरीया संहिता (5, 9, 9, 1) में कहा गया है कि छन्दों से अपने शरीर को आच्छादित करके देवता अग्नि के पास गये अतः इन्हें छन्द कहते हैं। निघण्टु में बताया गया है कि छद् धातु का अर्थ स्तुति करना, पूजा करना और प्रसन्न करना है, क्योंकि छन्दों के द्वारा देवताओं की स्तुति की जाती है, उन्हें प्रसन्न किया जाता है अतः उन्हें छन्द कहते हैं (निघण्टु 3, 4) वैदिक छन्दों की सब से बड़ी विशेषता है कि इसमें अक्षरों की गणना होती है। गुरु लघु के क्रम पर कोई विचार नहीं होता है। अतः कात्यायन ने सर्वानुक्रमणी में छन्द का लक्षण किया है— जो अक्षरों का परिणाम (संख्या) है वह छन्द है अथर्ववेद की वृहत्सर्वानुक्रमणी में अक्षर के अवच्छेदक को छन्दः कहा है। इसी प्रकार वैदिक छन्दों में लौकिक छन्दों की तरह पाद-संख्या भी नियत नहीं है। कुछ छन्द एक पाद के होते हैं, कुछ दो पाद और कुछ तीन पाद के होते हैं। कुछ छन्दों में चार पाद होते है। वेद में कुछ छन्द ऐसे है जो केवल अक्षर संख्या पर आधारित हैं, जहाँ पाद के लिए कोई स्थान नहीं है।

वैदिक छन्दों में गुरु और लघु पर विचार नहीं किया जाता है और न उनकी संख्या पर ही विचार किया जाता है एक या एकाधिक अक्षरों का न्यूनाधिका होने पर भी छन्द परिवर्तित नहीं होता, तो उस छन्द के नाम के साथ निवृत का प्रयोग होता है। जैसे गायत्री छन्द चौबीस अक्षर का होता है। यदि उसमें तेइस अक्षर हो तो उसे निवृत गायत्री कहेंगे। इसी प्रकार यदि किसी छन्द में उसके नियताक्षरों से एक संख्या अधिक हो जाये तो उसे भूरिक् कहते हैं। जैसे गायत्री छन्द चौबीस अक्षर का होता है यदि उसमें एक अक्षर अधिक होकर पच्चीस हो जाये तो उसे भूरिक् गायत्री कहेंगे। इसी प्रकार दो अक्षर कम होने पर विराट् कहेंगे। दो अक्षर अधिक होने पर उसे स्वराष्ट् कहते हैं। जैसे छन्द में यदि छब्बीस अक्षर हों तो उसे स्वराट् गायत्री कहेंगे। इसी प्रकार अन्य छन्दों से संबंध में भी समझना चाहिये।

छन्दशास्त्र के प्रवर्तक आचार्य पिङ्गल हैं।

वैदिक छन्दों की कुल संख्या छब्बीस है। इनमें प्रारभ के पाँच छन्द वेद में प्रयुक्त नहीं हैं। शेष इक्कीस छन्दों को तीन सप्तकों में विभाजित करते हैं। प्रथम सप्तक में गायत्री से लेकर जगती तक सात छन्द हैं— गायत्री, अनुष्टुप, बृहती, पंक्ति, त्रिष्टुप् और जगती। द्वितीय सप्तक में अतिजगती से लेकर अतिधृती तक सात छन्द है अति जगती, शक्वरी अतिशक्वरी, अष्टि, अत्यष्टि, धृति और अतिधृति।

तृतीय वर्ग में कृति से लेकर उत्कृति तक सात छन्द हैं— कृति, प्रकृति, आकृति, विकृति, संस्कृति, अभिकृति और उत्कृति। प्रारंभ के पाँच छन्द जो वेद में प्रयुक्त नहीं हैं— मा, प्रमा, प्रतिमा, उपमा और समा। निम्नलिखित तालिका द्वारा इन्हें भली-भाँति समझा जा सकता है—

क्रम संख्या	छन्द का नाम		अक्षर संख्या
1.	मा	—	4
2.	प्रमा	—	8
3.	प्रतिमा	—	12
4.	उपमा	—	16
5.	समा	—	20,
6.	गायत्री	—	24
7.	उष्णिक्	—	28
8.	अनुष्टुप्	—	32
9.	बृहती	—	39
10.	पंक्ति	—	40
11.	त्रिष्टुप्	—	44
12.	जगती	—	48
13.	अतिजगती	—	52
14.	शक्वरी	—	56
15.	अतिशक्वरी	—	60
16.	अष्टि	—	64
17.	अत्यष्टि	—	68
18.	धृति	—	68
19.	अतिधृति	—	79
20.	कृति	—	80
21.	प्रकृति	—	84
22.	आकृति	—	88
23.	विकृति	—	92
24.	संस्कृति	—	69
25.	अभिकृति	—	100
26.	उत्कृति	—	104

किन्तु इसमें प्रथम सप्त के सात छन्द ही मुख्य हैं। इन सात छन्दों में गायत्री, त्रिष्टुप्, और जगती ये तीन छन्द सर्वाधिक प्रयुक्त हैं। इनमें भी त्रिष्टुप् का स्थान सर्वोपरि है। ऋग्वेद का लगभग 2/5 भाग त्रिष्टुप् छन्द में ही निबद्ध है इसके बाद गायत्री का स्थान आता है। इस छन्द में ऋग्वेद का 1/4 भाग निबद्ध है। इसके बाद जगती छन्द का स्थान आता है। कात्यायन की सर्वानुक्रमणी के अनुसार ऋग्वेद के मन्त्रों की संख्या इस प्रकार है :— त्रिष्टुप् 4253 गायत्री 2450 जगती अनुष्टुप् 588 उष्णिक् 371 बृहती 381, पंक्ति 498।

(ङ) ज्योतिष

वेद के छः अंगों में ज्योतिष का महत्वपूर्ण स्थान है पाणिनि ने ज्योतिष को वेदपुरुष का नेत्र कहा है। यज्ञों के विधान में विशिष्ट समय का ज्ञान अपेक्षित है और यज्ञ यागों के लिए उपयुक्त समय वर्ष, मास, ऋतु तिथि, नक्षत्र, पक्ष, दिन, रात, आदि का ज्ञान ज्योतिष के द्वारा ही संभव है। अतः उक्त नियमों के निर्वाह के लिए ज्योतिष का ज्ञान नितान्त आवश्यक है। वेदांग ज्योतिष में, ज्योतिष को वेद का सर्वोतम अंग माना गया है। वेदांग ज्योतिष भारतीय ज्योतिषशास्त्र का प्राचीनतम ग्रन्थ है। इसके रचयिता लगध नामक ऋषि थे। इसके दो पाठ मिलते हैं। एक 'ऋग्वेद ज्योतिष' जिसमें छत्तीस श्लोक हैं और दूसरा यजुर्वेद जिसमें चौवालिस श्लोक मिलते हैं। दोनों ग्रन्थों के अधिकांश श्लोक मिलते जुलते हैं, पर उनमें क्रम में अन्तर परिलक्षित होता है। वेदांग ज्योतिष का काल अनेक प्रमाणों के आधार पर 1400 ई. पूर्व के आस-पास ठहरता है।

वेदांग ज्योतिष का प्राचीन रूप वैदिक संहिताओं में प्राप्त होता है। संहिताकाल में ज्योतिष का अस्तित्व विद्यमान था। वेदमन्त्रों एवं वैदिक संहिताओं में उसके सूत्र बिखरे हुए मिलते हैं। वेदों में सूर्य, चन्द्रमा और कुछ नक्षत्रों के लिए स्तुतिपरक मन्त्र उपलब्ध होते हैं। ऋग्वेद के एक मन्त्र में 12 राशियों के नाम आये हैं। तैत्तिरीय संहिता में बारह मास, छः ऋतु एवं सभी नक्षत्रों के नाम गिनाये हैं। अथर्ववेद में 28 नक्षत्रों की गणना है। ऋग्वेद के कुछ मन्त्रों में मृगशिरा नक्षत्र पर वसन्तसम्पात बताया गया है, और कुछ मन्त्रों में पुनर्वसु पर वसन्त-सम्पात होने का उल्लेख है। (1, 33, 12;1, 10, 6; 10, 89, 5) ऋग्वेद के कुछ मन्त्रों में नक्षत्र शब्द ताराओं के लिए प्रयुक्त हुआ है। वहाँ कहा गया है कि सूर्य के आगमन पर तारे और रात चोर की तरह भागते है (1, 50,2)। अथर्ववेद में भी यह स्पष्ट उल्लिखित है कि उस समय नक्षत्रों का अर्थ तारा-समूह लिया जाता था (अथर्व 19, 7, 1-5)। तैत्तिरीय संहिता में सब नक्षत्रों के नाम परिगणित हैं, और वहाँ पर नक्षत्र शब्द चन्द्रमार्ग में पड़ने वाले तारा समूह के लिए प्रयुक्त हुआ है (4, 4, 10)।

ब्राह्मण काल में कृत्तिका नक्षत्र की गणना की जाती थी और कृत्तिका के प्रथम चरण में ही वसन्त-सम्पात होता था। उन दिनों कृत्तिका नक्षत्र में दिन-रात बराबर होता था। शतपथ ब्राह्मण (2, 1, 3) में उत्तरायण और दक्षिणायन का विभाजन 12 मास को दृष्टि में रखकर किया गया है। तैतिरीय ब्राह्मण (1, 5, 2; 1, 2, 3) में प्रजापति को नक्षत्र का प्रतीक मान कर चित्रा, हस्त, स्वाती आदि नक्षत्रों को उसके विभिन्न अंगों के रूप में माना गया है। वहाँपर संवत्सर को एक पक्षी के रूप में कल्पित कर उत्तरायण और दक्षिणायन उसके दो पंख बताये गये हैं।

कल्पसूत्रों में नक्षत्रों एवं ध्रुव, अरुन्धती और सप्तर्षि आदि ताराओं के नाम आये हैं। गृह्यसूत्रों में तो उत्तरप्रोष्ठपद, फाल्गुनी और रोहिणी नक्षत्रों में खेत जोतना चाहिये इस प्रकार का उल्लेख है पारस्करगृह्य-सूत्र में विवाह के संबंध में, खेत जोतने के संबंध में तथा नक्षत्रों के शुभाशुभ फल का निर्देश है कल्पसूत्र में विवाह प्रकरण में 'ध्रुव इव स्थिरा भव' वाक्य आया है। इस कथन से ज्ञात होता है कि उस समय विवाह के अवसर पर वर-बधू को ध्रुवदर्शन कराने की प्रथा थी। ध्रुव एक चमकीला तारा है जो पहले अधिक चमकीला और स्थिर था। वेदांग निरुक्त में सप्तर्षियों का उल्लेख तथा उत्तरायण-दक्षिणायन, दिन-रात और शुक्ल एवं कृष्ण पक्ष की चर्चाएँ हैं। अष्टाध्यायी में भी वर्षनाम हायन, मासों के चैत्रादि नाम, नक्षत्र नाम एवं ग्रह शब्द का प्रयोग हुआ है।

वेदांग-ज्योतिष में गणना के लिए पाँच वर्ष का युग माना गया है। इन वर्षों के नाम है संवत्सर, परिवत्सर, इदावत्सर, अनुवत्सर, और इद्वत्सर। ये नाम तैत्तिरीय ब्राह्मण में दिये गये हैं। उस समय वर्ष माघ मास से प्रारंभ होता था। ज्योतिष के सिद्धान्त ग्रन्थोंमें 12 राशियों से गणना की जाती है, परन्तु इस ज्योतिष में राशियों का कहीं नाम निर्देश नहीं है, प्रत्युत गणना के आधार पर 27 नक्षत्र हैं।

इस प्रकार भारतीय-ज्योतिष की परम्परा वैदिक युग से प्रारंभ होकर आज तक अक्षुण्ण रूप से बनी है।

ज्योतिषशास्त्र की वैज्ञानिकता— ज्योतिष पूर्ण विज्ञान है। बौद्धिक अनुभूतियों का संघात जब बुद्धिक्षेत्र में एक नियम बनाता और बुद्धि से परिमार्जित होकर सिद्धान्त रूप बन जाता है, तो उसे भौतिक या पार्थिव विज्ञान कहते हैं। इसी प्रकार आध्यात्मिक अनुभूतियाँ ज्ञानकाण्ड में एक नियमित पद्धति ज्ञान द्वारा उपपत्तिमान् होती है, तो उन्हें आध्यात्मिक विज्ञान से सम्बोधित किया जाता है। विज्ञान के दो भाग हैं भौतिक तथा आध्यात्मिक। उक्त दोनों विज्ञानों में दो शाखाएँ होती हैं प्रथम शाखा में नियम और दूसरी शाखा में उसकी निष्पत्ति तथा यौगिक प्रतिक्रियाएँ होती हैं। जिस विज्ञान में उक्त दोनों शाखाएँ प्रतिपदोक्त प्रतिपादित हो वह पूर्ण विज्ञान है। उक्त दोनों शाखाएँ ज्योतिषशास्त्र में गणित तथा फलित रूप से वर्णित है, अतएव ज्योतिष पूर्ण विज्ञान है।

वेदांगों में ज्योतिष शास्त्र का मुख्य स्थान है। इससे दर्शन का कार्य होता है। दर्शन दो प्रकार का है भौतिक तथा तात्विक। भौतिक शाखा में स्थूल पिण्ड का केवल वाह्य रूप ही देखा जाता है किन्तु तात्विक दर्शन से उस पिण्ड का अन्तः तत्व भी देखने में आता है। ज्योतिर्दर्शनानुसार दोनों युगपत् काल में साथ-साथ व्यस्तानुपात से चलते हैं।

ज्योतिषशास्त्र की अनेक शाखाएँ हैं और प्रत्येक शाखा विज्ञानमूलक है। किन्तु ऐसी बात ज्योतिषशास्त्र के बहिरंग से नहीं प्रतीत होती है। जिस प्रकार एक मणि मुद्रा को किसी कपड़े में ढंक कर रखने पर बाहर नया कपड़ा ही दीख पड़ता है, उसी प्रकार ज्योतिषशास्त्र बहिरंग से केवल अंक का ही खेल प्रतीत होता है। किन्तु अन्दर प्रवेश करने पर वही बात होती है जो आश्रम के महावाक्यों का श्रवण मनन एवं निविध्यासन से प्राप्त होती है।

ज्योतिषशास्त्र वेदमूलक और सिद्धान्त संहिता तथा होरा त्रिस्कन्धात्मक है, जिनके सम्पादनार्थ अंक, बीज और रेखा ये तीन ही उपकरण त्रिभुज (सत्व, रज और तम) के स्थानों में आये हैं। अंक

एक संख्या है। संख्या का अर्थ ज्ञान, गणना और वस्तु के परिभाण का बोधक है। अंक के समपर्याय संख्या शब्द से समस्त सांख्यदर्शन निर्मित है। यहाँ सांख्य शब्द का अर्थ ज्ञान है। गीता में भी सांख्य का अर्थ ज्ञान ही है। ज्योतिदर्शन में एक का अर्थ ब्रह्म है। यह वेदान्त के आगम से सिद्ध है कि जैसे एक ही ब्रह्म कार्य-व्यापार में उपाधि भेद से अपने विविध रूप बनाते हैं, जो एक से नौ पर्यन्त है। जैसे वेदान्त में अनादि अविद्या-सम्भूत बुद्धि से जगत् है, और अनित्य है, वैसे ही सोपाधिक एकत्त्व-संख्या से दो आदि-रूप (जगत्) निर्मित है, यह भी मिथ्या है। इसका अस्तित्व ही नहीं हैं यदि कुछ अस्तित्व माना भी जाये तो वह एक से भिन्न नहीं है। जैसे ब्रह्म में जगत् की सत्ता ब्रह्म भिन्न नही है वैसे एकत्व में द्वित्रयादि का अस्तित्व एक भिन्न नहीं कहा जा सकता। कारण भूमि में एक से अलग कुछ भी नहीं। यदि दो आदि का अस्तित्व अलग माना जाये तो एकत्व संख्या का आरम्भ और अवसान अवश्य ही मानना होगा जो असंभव है, क्योंकि एक का मूल्य कितना है, यह इदमित्थं रूप से कोई नहीं बता-सकता न कोई इसका आदि है न अन्त।

ज्योतिषशास्त्र, अंकशास्त्र सांख्यदर्शन, बीजशास्त्र, वेदान्त दर्शन और रेखाशास्त्र, न्यायवैशेषिक और योगदर्शन के साथ एकान्त समन्वय संबंध रखता है।

ज्योतिषशास्त्र केमुख्य दो भाग है : प्रथम गणित और दूसरा फलित। गणित के भी दो अंग हैं पहला सिद्धान्त और दूसरा विशुद्ध गणित। गणित की अंक, बीज, रेखा, इन तीनों की प्रक्रिया द्वारा समवेत है। सिद्धान्त का अर्थ है, जिस निबन्ध में 'सूच्या भिन्ने पद्मपत्रे त्रुटि रित्याभिधीयते नवीन पद्धति के अनुसार एक सेकेण्ड का 33, 750 भाग त्रुटिकाल हैं। सिद्धान्तशेखर- मतानुसार- त्रुटिसंख्यया नावगम्या, अर्थात् इसका परिणाम संख्या साध्य नहीं है, किन्तु संख्यातीत है। त्रुटि से आरंभ कर प्रलय पर्यन्त काल की गणना काल का नवधा विभाग, ग्रह-नक्षत्रों का चार कथन, व्यक्ताव्यक्त गणित का निबन्धन, सोत्तर प्रश्नों का विवरण, पृथ्वी, ग्रह, नक्षत्रों का संस्थान वर्णन और यन्त्र का निरूपण जिस निबन्ध में हो, उस निबन्ध को सिद्धान्त कहा गया है। अंक, बीज और रेखा इन उपकरणों द्वारा पार्थिव और अन्तरिक्ष' वस्तुओं के परिणाम स्थिति और गुण का विवेचन तथा नियमन जिस निबन्ध में हो उसका नाम गणित है। इस गणित की पारिणामिक प्रतिक्रिया या प्रयोग जिस क्षेत्र में हो वह फलित कहा गया है। जहाँ गणित क्रिया है वहाँ उसकी प्रायोगिक प्रतिक्रिया फलित है जैसे वृक्ष से फल होना अनिवार्य है, उसी प्रकार गणित से फलित होना भी अनिवार्य है। गणित अंगी तथा फलित उसका अंग है, मूल में दोनों एक ही हैं। अतएव गणित यदि विज्ञान है तो, फलित उसका अंग विज्ञान और वह उससे भिन्न नहीं कहा जा सकता। विना फलित के गणित भी शुष्क और नीरस है।

नाटक की उत्पत्ति— नाटक की उत्पत्ति के बारे में विद्वानों में बहुत मतभेद है कुछ विद्वानों के मतानुसार नाटक का प्रारंभ वैदिक युग में हुआ था, किन्तु इस संबंध में निश्चित रूप से कुछ भी नहीं कहा जा सकता। भरत मुनि के नाट्यशास्त्र (2, 1-20) ई. 200 के लगभग में एक दन्तकथा वर्णित है जिसके अनुसार नाटक का आरंभ सत्ययुग के अन्त और द्वापर केआरम्भ में हुआ। ब्रह्मा ने जीवधारियों के मनोरंजन व आनन्द के लिए नाट्य वेद उत्पन्न किया तथा उसे भरतमुनि को दिया। बह्मा ने चारों वेदों की सहायता से नाट्यवेद का निर्माण किया (भरत-नाट्यशास्त्र 1, 16-18)। ब्रह्मा ने ऋग्वेद से पाठ्य, सामवेद से गीत, यजुर्वेद से अभिनय और अथर्ववेद से रस ग्रहण किया और नाट्यवेद को जन्म दिया।

इस प्रकार उपरोक्त दन्तकथा के अनुसार नाटक का प्रारंभ वैदिक साहित्य से होता है।

वैदिक साहित्य में नाटक के अस्तित्व का कोई प्रत्यक्ष प्रमाण प्राप्त नहीं होता, किन्तु ऋग्वेद के संवाद-सूत्रों में कुछ नाटकीय तत्व अवश्य प्राप्त होते हैं। इन संवाद सूक्तों में दो व्यक्तियों के बीच वार्तालाप है जैसे यम यमी (ऋग्वेद 10,10), पुरूरवा उर्वशी (ऋग्वेद 10, 15) नेम-भार्गव इन्द्र (8, 100), अगस्त्य-लोपामुद्रा (ऋग्वेद 1, 179) और उनका पुत्र, इन्द्र-इन्द्राणी, सरमा-पाणि (ऋग्वेद 10, 108) आदि इन संवादों के संबंध में कुछ विद्वानों का मत हैं कि यज्ञ समय ऋत्विक, संवादों के भिन्न पात्रों का रूप धारण करके उनके वार्तालाप का उच्चारण करते थे। गीत, नृत्य आदि अन्य नाटकीय तत्व भी नाटक के लिए आवश्यकीय तत्व अस्तित्व में आ गये थे। इस आधार पर श्रोदर ने यह सिद्धान्त उपस्थित किया कि वेदयुगीन नृत्य गीत, साम गान आदि के वातावरण में संवादादि में से नाटक का विकास हुआ। हर्टल के मतानुसार वेदों के मन्त्र गाये जाते थे। वैदिक यज्ञों का स्वरूप भी बहुत नाटकीय था। ये यज्ञ मूकभावों के प्रदर्शन के सुन्दर अवसर थे। होता अध्वर्यु उद्गाता आदि ऋत्विकों को अपने-अपने काम पृथक रूप से करने पड़ते थे। यज्ञ वेदी बनाना, यज्ञ सामग्री आदि को व्यवस्थित रूप से सजाना आदि कार्य नाटक के अभिनय के समान ही रोचक बन जाते थे। शायद यह भी संभव है कि इन मूक अभिनयपूर्ण यज्ञों से सर्वप्रथम नाटक लिखने की प्रेरणा प्राप्त की गईं हो (कीथ-संस्कृत ड्रामा, पृ. 23-24)।

वैदिक युग की साहित्यिक प्रवृत्तियों के संबंध में ऊपर जो कुछ लिखा है उसके आधार पर यह कहा जा सकता है कि वेदकालीन समाज में साहित्य के विकास को समुचित स्थान प्रदान किया गया था। भाषा को विभिन्न अलंकारों व छन्दों द्वारा लालित्य प्रदान करके तथा व्याकरण निरुक्त आदि के नियमों से उसे व्यवस्थित तथा सौष्ठवयुक्त बना कर वैदिक आर्यों ने गद्य, पद्य, संवाद आदि के द्वारा अपने हृदय के भावों को व्यक्त करके उच्चकोटि के साहित्य का सर्जन किया था।

II. विज्ञान की विभिन्न दिशाएँ

विज्ञान के विभिन्न क्षेत्रों में भी वेदकालीन समाज ने पर्याप्त प्रगति की थी। ज्योतिष, गणित, आयुर्वेद, भौतिकशार्स्त्र, वनस्पतिशास्त्र, धातुशास्त्र आदि का विकास वैदिक युग में प्रारंभ हो गया था। यज्ञ की आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए गणित, ज्योतिष आदि शास्त्रों का विकास किया गया था। दिवस, पक्ष, मास, ऋतु के अनुसार यज्ञों का सम्पादन किया जाता था, अतएव वैदिक ऋषियों ने विभिन्न नक्षत्र, ग्रह, सूर्य, चन्द्र, पृथ्वी आदि की गतियों तथा पारस्परिक सम्बन्ध को समझने का प्रयत्न किया था। इस प्रकार ज्योतिषशास्त्र का सूत्रपात किया गया। विभिन्न यज्ञों के लिए भिन्न-भिन्न आकार की वेदियों की आवश्यकता होती थी, जिसके कारण गणितशास्त्र के रेखागणित का विकास प्रारम्भ हुआ। ऋग्वेद में आयुर्वेद से सम्बन्धित बहुत से तथ्यों पर प्रकाश डाला गया है। ऋग्वेद के अश्विन देवता इस शास्त्र में पारंगत बताये गये हैं उन्होंने अपने कलानैपुण्य से च्यवन ऋषि को पुनः यौवन प्रदान किया। अथर्ववेद से इस संबंध की बहुत सी बातें मालूम होती है। विद्वानों का मत है कि प्राचीन भारत में आयुर्वेद का प्रारंभ अथर्ववेद से ही होता है

(क) आयुर्वेद के विकास के परिणाम स्वरूप वैदिक युग में शरीर-विज्ञान का भी विकास हुआ था,

जिसके कारण शारीरिक विकास के महत्वपूर्ण सिद्धान्त निश्चित किये गये थे। वैदिक साहित्य में यत्र-तत्र भौतिकशास्त्र, वनस्पतिशास्त्र, धातुशास्त्र आदि से संबंधित महत्वूर्ण बातें उल्लिखित हैं जिनके आधार पर यह कहा जा सकता है कि वैदिक युग में उन शास्त्रों का विकास प्रारंभ हो गया था।

भौतिकादि शास्त्र— प्राचीन आर्यों ने जिस प्रकार आध्यात्मिक जगत् में अनेकत्व में एकत्व के दर्शन किये उसी प्रकार भौतिक जगत् में भी अनेकत्व में एकत्व ढूँढ़ने का प्रयत्न किया। ऋग्वेद (10, 129/1-2) में असत् व सत् का विवेचन करते हुए कहा गया है कि असत् से सत् उत्पन्न हुआ फिर उसको अदिति से सम्बन्धित किया गया है। उसके पश्चात् इस जगत का विकास हुआ (ऋग्वेद 10/72/3-9)। यहाँ से असत् से समस्त भौतिक जगत् का विकास दर्शाया गया है। यही भाव नासदीय (ऋग्वेद 10/129) सूक्त में भी स्पष्ट किया गया है। इसी प्रकार एक और स्थान (ऋग्वेद 10/19/1-3) पर सृष्टि के विकास-क्रम को समझाते हुए कहा गया है कि तप से ऋत व सत्य (भौतिक तथा आध्यात्मिक जगत् को संचालित करने वाले नियम) उत्पन्न हुए, उसके पश्चात् अन्धकार व समुद्र उत्पन्न हुए। तत्पश्चात् काल, सूर्य, चंद्र, पृथिवी, आकाश आदि उत्पन्न हुए। यहाँ सृष्टिविकास को ऋत व सत्य से सम्बन्धित किया गया है। इन उल्लेखों पर से यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि वैदिक आर्यों ने भौतिक व आध्यात्मिक जगत् के मध्य एकत्व को स्थापित कर विश्व को संचालित करने वाले भौतिक व आध्यात्मिक नियमों को समझने का प्रयत्न किया था, जिन्हें ऋत व सत्य नाम से सम्बोधित किया गया था। यजुर्वेद (40/6-7) यस्मिन्त्सर्वाणि भूतान्यात्मैवाभूद्विजानत: में भौतिक व आध्यात्मिक जगत् के मध्य एकत्व स्थापित करते हुए कहा गया है कि जो सब भूतों को अर्थात् भौतिक जगत् को आत्मा में देखता है, तथा आत्मा को सब भूतों में देखता है उसे एकत्व के अनुभव के कारण कोई मोह, शोक नहीं होता। पुरुषसूक्त (ऋग्वेद 10/90/2-5) में भी एक परमतत्व से सृष्टि का विकास वर्णित है।

प्रकाश के सात रंगों को भी वैदिक आर्यो ने समझ लिया था। ऐसा प्रतीत होता है कि इन्द्रधनुष के सात रंगों को देखकर प्रकाश का विश्लेषणात्मक अध्ययन प्रारंभ किया गया था। ऋग्वेद में सूर्य को सात घोड़ों के रथ में बैठने वाला (ऋग्वेद 1/50/8 ''सप्त त्वा हरितो रथे वहन्ति देव सूर्य . . . . ।'') तथा सप्तरश्मि (ऋग्वेद 1/105/9 (सात प्रकार की किरणों वाला) कहा गया है। सूर्य की किरणों को अत्यन्त ही वेगवान् घोड़ों की उपमा देना बिल्कुल ही उपयुक्त है, क्योंकि सूर्य का प्रकाश अत्यन्त ही शीघ्रगामी है। वैज्ञानिकों के मतानुसार सूर्य की किरणें एक सैकन्ड में 1,86000 मील जाती है (हेडले -ए. हरीडे फिजिक्स, पृ. 252)।

रसायन शास्त्र के विकास का प्रारंभ भी वैदिककाल से हुआ था, क्योंकि आयुर्वेद के ज्ञान के लिए उसके ज्ञान की आवश्यकता रहती है व वैदिक काल में आयुर्वेद का विकास प्रारंभ हो गया था (अथर्व 5/23/1-7)। यजुर्वेद (30/6-7, 11, 17, 20) में मणिकार, कर्मार आदि के उल्लेख से तत्कालीन धातुशास्त्र के ज्ञान का पता लगता है। रसायनशास्त्र के ज्ञान के विना धातुओं के गलाने आदि की रासायनिक क्रियाएँ समझ में आ नहीं सकतीं। अतएव वैदिक युग में रसायनशास्त्र का विकास होना निर्विवाद है।

वनस्पतिशास्त्र का प्रारंभ भी वैदिक युग से ही होता है। वैदिक-काल से ही सब जीवधारियों को दो विभागों में बाँटा गया था, स्थावर व जंगम। ऋग्वेद में उन्हें क्रमशः तस्थुष व जगत् शब्दों से सम्बोधित किया गया है (ऋग्वेद 1/115/1 'सूर्य आत्मा जगतश्च तस्थुश्च।।'', यजु 7/42)। वैदिक ऋषियों ने अपनी तीव्र बुद्धि से इन प्राणियों का सम्यक् अध्ययन किया था, तथा उनके जीवन में सूर्य के प्रकाश का क्या महत्व है, इस महान् वैज्ञानिक तथ्य को भी समझ लिया था। इसीलिए उन्होंने सूर्य को स्थावर व जंगम की आत्मा कहा (ऋग्वेद 1/115/1 यजु. 7/42)।

वनस्पतियों में जीवन है व उन्हें भी जागृति, निद्रा, सुख, दुख आदि का अनुभव होता है, यह सिद्धान्त वैदिक युग में ज्ञात था। वेद तथा उपनिषदों में इसका स्पष्ट उल्लेख आता है (ऋग्वेद 1/115/1; यजु. 22/28) तैत्तिरीय सं. 7/3/19/1; 7/30, 20; ऋग्वेद 1/32/5) अथर्व. 10 /7/38; बृहदारण्यक, 4/6/1)। ऋग्वेद में तस्थुष (स्थावर) जीवनधारियों में वनस्पतियों को स्थान देकर इस बात की पुष्टि की गई है कि उनमें जीव है। ऋग्वेद (8/43/9) में एक और स्थान पर वनस्पतियों के जल में विकास प्राप्त होने का उल्लेख करके उनमें जीवन है, इस बात को स्पष्ट किया गया है।

वैदिक साहित्य में अप्रत्यक्ष रूप से कुछ उल्लेख आये हैं, जिनके आलोचनात्मक अध्ययन से ज्ञात होता है कि वैदिक युग में भूगर्भशास्त्र, धातुशास्त्र का विकास हुआ था। पृथ्वी को वसुधा या वसुन्धरा नाम से सम्बोधित करना स्पष्टतया बताता है कि प्राचीन भारतीयों ने पृथ्वी के गर्भ से नाना प्रकार की बहुमूल्य वस्तुएँ खोदकर निकाली होंगी। सुवर्ण ऋग्वेद युग में बहुत ही लोकप्रिय धातु था। उसके विभिन्न आभूषण बनाये जाते थे, जिनका स्पष्ट उल्लेख ऋग्वेद में आता है। गाय, घोड़े, रथ आदि को भी सुवर्ण से आभूषित किया जाता था। देवताओं के वर्णन में भी सुवर्ण का उपयोग किया जाता था। ऋग्वेद में सूर्य के लिए कहा गया है कि सूर्य सुवर्ण के समान चमकता है और देवताओं का श्रेष्ठ धन है। (ऋग्वेद 1/43/5; '' . . . .सूर्यो हिरण्यमिव रोचते। श्रेष्ठो देवानां वसु।।'')। इस प्रकार सुवर्ण ऋग्वेद में कई स्थानों में उल्लिखित है। इन्द्र के वज्र के लिए कहा गया है कि उसका वज्र सुवर्ण का बना हुआ है (1/57/2; ''इन्द्रस्य वज्रः श्नथिता हिरण्ययः।'' अग्नि को घोड़े की उपमा देते हुए कहा गया है कि उसकी अयाल सुवर्ण की बनी हुई है (ऋग्वेद 1/ 163! 9 हिरण्यश्रृंगो. . .।) एक और स्थान (ऋग्वेद 1/122/2) में सूर्य के प्रकाश की तुलना सुवर्ण के प्रकाश से की गयी है। इन उल्लेखों से स्पष्ट है कि वैदिक युग में सोना बहुत अधिक मात्रा में वर्तमान था (ऋग्वेद 3/34/8; 4/10/6; 4/17/11)। सोने को खदानों में से खोदकर निकालने का ज्ञान भी तत्कालीन समाज में वर्तमान था।

ऋग्वेद में 'अयस्' शब्द का भी उल्लेख आता है (1/57/3, 1/13/9, 6/3/5)। अयस् के अर्थ के सम्बन्ध में विद्वानों में मतभेद है, और वे इसे ताम्बा, काँसा या लोहे से सम्बन्धित कर रहे हैं (वैदिक एज; भारतीय विद्या भवन, पृ. 386)। किन्तु ऐसा प्रतीत होता है कि साधारणतया अयस् का प्रयोग लोहे के अर्थ में किया गया है, जैसा कि सरस्वती नदी के वर्णन में आता है, जहाँ उसे ''आयसी पूः'' अर्थात् लोहे का किला कहकर सम्बोधित किया गया है (ऋग्वेद 7/95/1; ''सरस्वती धरुणमायसी पूः।'') रथादि के कल-पुर्जे, हथियार, बर्तन आदि बनाने में लोहे का उपयोग किया जाता था। इस प्रकार वैदिक युग में लौहशास्त्र का भी विकास किया गया था।

(ख) आयुर्वेद— आयुर्वेद के विकास का प्रारंभ भी वैदिक काल से ही होता है। ऋग्वेद व विशेषकर अथर्ववेद से इस सम्बन्ध की बहुत सी बातें मालूम होती है। ऋग्वेदादि संहिताओं के आलोचनात्मक अध्ययन से ज्ञात होता है कि वैदिक आर्यो को बीमारियों से दूर करने के लिए विभिन्न औषधियों का ज्ञान था। तत्कालीन समाज में जड़ी-बूटियों की सहायता से विभिन्न रोगों को दूर करने का ज्ञान रखने वाले व्यक्ति थे, उन्हें भिषक् कहा जाता था। रुद्र को ''भिषजां भिषक्तमं'' (ऋग्वेद 2/33/4;'' उन्नो वीरां अपेय भेषजेभिर्भिषक्तमं त्वा भिषजां शृणेमि।'') (वैद्यों में सर्वश्रेष्ठ वैद्य कहा गया है। दवाइयों द्वारा रोग दूर करने की रुद्र की शक्ति का उल्लेख किया गया है (ऋग्वेद 2/33/12)। उससे प्रार्थना की गई है कि पूरे गाँव में रोग किसी को न सतावे (ऋग्वेद 1/114/1)। ऋग्वेद में एक स्थान पर कहा गया है कि वैद्य हमेशा रोगी की खोज में रहता है (ऋग्वेद 8/112/1)। इससे स्पष्ट होता है कि वेदकालीन समाज में कुछ लोग ऐसे थे जो वैद्य के धंधे से उदरनिर्वाह करते थे, क्योंकि उपरोक्त मन्त्र में भिषक् को तक्षा (बढ़ई) के समकक्ष बैठाया है। एक स्थान पर वैद्य को गाय, घोड़ा, वस्त्र आदि देने का उल्लेख है (ऋग्वेद 10/97/4)।

ऋग्वेद में एक सूक्त (ऋग्वेद 10/97/1-23) जिसमें 23 मंत्र हैं, औषधियों (जड़ी -बूटी) की स्तुति है। उसका ऋषि भिषगाथर्वण है। उक्त सूक्त का सारांश इस प्रकार है—

''प्राचीन कालीन तीन युगों में देवताओं ने जिन औषधियों की कल्पना की वे सब पीतवर्ण की औषधियाँ एक सौ सात स्थानों में वर्तमान हैं। हे औषधियो! तुम सैकड़ों गुणों से सम्पन्न हो, अतः मुझे आरोग्य देकर स्वस्थ करो। हे पुष्प-फल से सम्पन्न औषधियो! तुम रोगों पर अनुग्रह करने वाली बनो। हे मातृवत् औषधियो! तुम अत्यन्त तेजस्विनी हो। मैं तुम्हारे समक्ष यह कहता हूँ कि मैं भिषक् को गौ, अश्व और वस्त्रादि प्रदान करूँगा। सभाओं में जैसे राजागण एकत्र होते हैं, वैसे ही जहाँ औषधियाँ एकत्र रहती हैं और जो मेधावी उनके गुण धर्म का ज्ञाता है, वही चिकित्सक कहलाता है, क्योंकि वह रोगों को शमन करने वाले विभिन्न यत्नों को प्रयुक्त करता है। मैं अश्ववती, सोमावती, अर्जयन्ती, उषोजस, आदि औषधियों को जाननेवाला हूँ। वे औषधियाँ इस रोगी को आरोग्यता प्रदान करें। हे औषधियो! तुम में से एक दूसरी से और दूसरी तीसरी से मिश्रित होवे। इस प्रकार सभी औषधियाँ परस्पर मिलकर गुणवाली होवें। फलवाली या फलहीन तथा पुष्पवाली और विना पुष्प की सभी औषधियों को बृहस्पति उत्पन्न करते हैं। हे औषधियो! मैं तुम्हें खोदकर निकालता हूँ, तुम मुझे हिंसित मत होने देना। मैं तुम्हें जिस रोगी के लिए ग्रहण कर रहा हूँ, वह रोगी भी नाश को प्राप्त न हो, हमारे मनुष्य व पशु भी स्वस्थ रहें। सब औषधियों ने अपने राजा सोम से कहा कि स्तुति करनेवाले भिषक् जिसकी चिकित्सा करते हैं, उसी रोगी की हम रक्षा करती हैं।''

औषधियों की स्तुति को पढ़ने से हमें वेदकालीन वैद्यों की स्थिति, औषधियों को बनाने की विधि तथा वे कितनी प्रभावशाली रहती थीं आदि के बारे में बहुत कुछ ज्ञात होता है। प्रभावशाली व अच्छी औषधियाँ सफल भिषक् बनने के लिए आवश्यकीय थीं। हमें यह भी ज्ञात होता है कि वैदिक आर्य विभिन्न रोगों के दूर करने में जड़ी बूटियों के गुण, लाभ आदि से पूर्णतया परिचित थे। उनके सहस्रों प्रयोग थे, उनके रस आदि निकालकर रोगियों को दिये जाते थे।

ऋग्वेद में चीर-फाड़ आदि का भी उल्लेख आता है। ऋग्वेद में पैर काटने व उसके स्थान में लोहेका पैर लगाने का उल्लेख है। इन सब कार्यो में अश्विन् देवता सिद्धहस्त थे। वे दैवी वैद्य कहे जाते थे। उन्होने अन्धों को दृष्टि दी, लँगड़ों को चलने योग्य बनाया तथा वृद्ध व अपंग को नवयौवन प्रदान किया। अश्विन् देवताओं ने वृद्ध च्यवन को यौवन प्रदान किया तथा दीर्घ जीवन भी दिया और वह सहस्रों युवतियों का पति हुआ (ऋग्वेद 1/16/1)। ऋजाश्व को उनके पिता ने अन्धा बना दिया था, क्योंकि उसने एक सौ एक भेड़ें भेड़िये को खिला दी थीं। अश्विन् देवताओं ने उनकी आँखें सुधार दी (ऋग्वेद 1/116/16)। इसी प्रकार परावृत को भी उन्होंने पुनः दृष्टि प्रदान की व उसके लँगड़े पैर सुधार दिये (ऋग्वेद 1/112/8)। जब युद्ध में विश्पला का पैर कट गया तब अश्विन् देवताओं ने उसे एक लोहे का पैर लगा दिया (ऋग्वेद 1/112/10; 1/116/15)। उन्होंने घोषा की कोढ़ की बीमारी दूर की तथा अपने पिता के घर अधिक उम्र की होने पर भी उसे पति प्राप्त करवाया (ऋग्वेद 1/17/7)। यद्यपि ये सब आश्चर्यजनक कार्य अश्विनों द्वारा किये गये थे, किन्तु यह कहा जा सकता है कि वैदिक युग में यथार्थ में शल्य-चिकित्सा में निष्णात व्यक्ति वर्तमान थे।

अथर्ववेद— अथर्ववेद में विभिन्न रोगों का उल्लेख है तथा उनके उत्पादक कीटाणुओं का भी उल्लेख (अथर्व. 2/31-33) है। 'किलास' (अथर्व. 1/23/1-4 1/24/1-4) अर्थात्-कुष्ठ रोग के निवारण के लिए किसी औषधि विशेष का वर्णन आया है तथा उससे प्रार्थना की गई है कि कुष्ठ रोग को पूर्णतया दूर करो। अन्त में कहा गया है कि "कुष्ठरोग का नाश हुआ, और त्वचा एक रूप हो गई।" (अथर्व 1/24 /2 "अनीनशत्किलासं सरूपामकरत् त्वचम्।") तक्मन् (अथर्व. 1/25/1-4)(शीत ज्वर) का वर्णन भी आता है उससे हट जाने की प्रार्थना की गई है। दो या तीन दिनों के अन्तर से आने वाले शीत ज्वर का भी उल्लेख है। कास (खाँसी) का भी उल्लेख आता है, जहाँ उसे समुद्र में नष्ट हो जाने के लिए कहा गया है (अथर्व. 1/25/12-4)। इसी प्रकार यक्ष्मा (राजयक्ष्मा) रोग का भी विशद वर्णन है (अथर्व. 2/33/1-7)। यक्ष्मा रोग को कहा गया है कि तुम्हें रोगी के शरीर के प्रत्येक अंग से हटाया जा रहा है। इस प्रसंग में शरीर के इन अवयवों का उल्लेख आया है अक्षी, नासिका, कर्ण, छुबुक (ठुड्डी), शीर्ष मस्तिष्क, जिह्वा, अंस (कंधा), बाहु, हृदय, पार्श्व, स्तन, प्लीह, आन्त, गुदा, उदर, कुक्षि, पद, श्रोणी, अस्थि, मज्जा, स्नायु, धमनी, पाणि, अंगुलि, नख, लोम, पर्व, त्वच् आदि।

अथर्ववेद में रोग-कीटाणुओं का भी उल्लेख आता है, जिनके द्वारा शरीर में विभिन्न रोग फैलते हैं। कृमियों का वर्णन करते हुए उनका नाश करने का निश्चय दर्शाया गया है (अथर्व. 2/31/1-5)। दृष्ट व अदृष्ट कृमियों का भी उल्लेख है (अथर्व 2/31/2)। इसी प्रकार शिष्ट (दही, शराब, आदि के) व अशिष्ट (रोगोत्पादक) कृमियों का भी उल्लेख है (अथर्ववेद 2/31/3)। एक स्थान पर सूर्य की किरणों द्वारा कृमियों के नाश करने का उल्लेख है (अथर्ववेद 2/32/1-6), जहाँ कहा गया है कि "सूर्य अपनी किरणों द्वारा पृथ्वी के अन्दर में जो कृमि हैं उनका नाश करने के लिए उदित हुआ है। ये कृमि नाना प्रकार के हैं जैसे विश्वरूप, चतुरक्ष, सारंग, अर्जुन आदि। अत्रि, कण्व व जमदग्नि के समान अगस्त्य के ब्रह्म से मैं कृमियों को पीस डालता हूँ। कृमियों का राजा स्थपति, उनकी माता, उनका भाई व उनकी बहिन सब मार डाले गये। जितने क्षुल्लक कृमि हैं सब के सब मार डाले गये। "इन कीटाणुओं का विशद् विवेचन किया गया है, जो कि इस प्रकार है (अथर्व 5/23/1-13)

"आकाश-पृथिवी, देवी सरस्वती, इन्द्र व अग्नि सब सम्मिलित होकर कृमियों का नाश करें। हे धनपते, इस इन्द्रकुमार के कृमियों का नाश करो। ये सब शत्रु मेरे उग्र वचनों से मार डाले गये हैं। जो कृमि, आँखों में, नाक में दाँतों में मध्य जाता है, उस कृमि का हम नाश करें। एक रूप वाले दो विरूप, दो कृष्ण (काले), दो रोहित (लाल), दो बभ्रु (भूरे), ये सब मांस के लोभी व भेड़िया-स्वभाव वाले कृमि मार डाले हैं। जो कृमि श्वेत कोख वाले हैं, व काले सफेद पैरों वाले हैं, और जो नाना रूप वाले हैं उन कृमियों का हम नाश करें। सूर्य भी ठीक सामने से आता हुआ स्वयं सबको दृष्टिगोचर होकर अदृष्ट कृमियों का नाश करता है, क्योंकि वह अपनी तेज किरणों से दीखने व न दीखनेवाले सब कृमियों का नाशकर्ता व उच्छेदकर्ता है। वाष, कष्कष, एजत्क, शिपवित्लुक आदि दृष्ट अदृष्टं कृमियों का नाश हो। त्रिशीर्ष, त्रिककुद्, सारंग, अर्जुन आदि सब कृमियों का मैं नाश करता हूँ। मैं सब कृमियों का सिर पत्थर से फोड़ता हूँ, व उसका मुख अग्नि से जलाता हूँ।"

उपरोक्त उल्लेखों के आधार पर यह कहा जा सकता है कि वैदिक युग में आर्यों ने रोगोत्पादक कीटाणुओं का ज्ञान प्राप्त कर लिया था। वे कीटाणु दृष्ट भी थे, तथा अदृष्ट भी थे। वे यह भी भलीभाँति जानते थे कि उन कीटाणुओं के विनाश में सूर्य की किरणों का विशेष कर उदित होते हुए सूर्य की किरणों का महत्वपूर्ण स्थान था। कृमियों के जो विभिन्न रंग, विभिन्न प्रकार आदि दिये हैं, उससे यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि वैदिक आर्यों ने विभिन्न रोगों के कीटाणुओं का शास्त्रीय व वैज्ञानिक अध्ययन किया होगा। उनके लिए यह अत्यन्त ही गौरव की बात है।

(ग) ज्योतिष—ज्योतिषशास्त्र का अध्ययन यज्ञ की आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए किया गया था। इसलिए इसका प्रारंभ भी वैदिक काल से ही होता है। विभिन्न नक्षत्रों का समय उपयुक्त समझा जाता था। धीरे-धीरे बहुत समय तक रहनेवाले यज्ञ भी किये जाने लगे। इसलिए ग्रह, नक्षत्र आदि के ज्ञान का विकास प्रारंभ हो गया। वैदिक काल में ग्रह, नक्षत्र आदि को समझने के लिए कोई यन्त्र इत्यादि नहीं थे, केवल नेत्र-शक्ति से ही सब काम लिया जाता था। वैदिक आर्यों को चन्द्र, गुरु, मंगल, शनि आदि का ज्ञान था (कल्चरल हेरिटेज ऑफ इन्डिया, जि. 3, पृ. 341-349)। वे वर्ष के बारह मास व लौंध मास भी जानते थे (ऋग्वेद 1/25/8 वेदमासो धृतव्रतो द्वादश प्रजावतः। वेदा या उपजायते। शतपथ ब्राह्मण 2/2/1/2।)। तैत्तिरीय संहिता (4/4/10), तैत्तिरीय ब्रा. 1/5/1) में लिखा गया है कि तीस दिन का साधारण मास चान्द्र मास से थोड़ा बड़ा रहता है। (चान्द्र मास 28) दिन का होता है। वैदिक आर्यों को चन्द्र की कलाओं का ज्ञान भी था। ऐसा माना जाता था कि देवता लोग चन्द्र को पी जाते हैं, इसलिए वह घटता है (कल्चरल हेरिटेज ऑफइंडिया जि. 3 पृ. 341)। चन्द्र के पूर्णतया लुप्त हो जाने का ज्ञान भी वर्तमान था। शतपथ ब्राह्मण (1/6/4/5) में लिखा है कि चन्द्र व सूर्य का सहवास ही अमावस्या है। अमावस्या की रात्रि को चन्द्र पृथ्वी पर उतर आता है, इसलिए उस रात्रि को दिखाई नहीं देता। चान्द्र व सौर वर्ष के अन्तर का भी ज्ञान वैदिक आर्यों को था। ऋभुओं को ऋतुओं के समान माना जाता है (ऋग्वेद 4/33-37, ऐतरेय ब्रा. 3, 30 कीथ-रिलीजन एन्ड फिलॉसफी ऑफ वेद, पृ. 176-178), तथा कहा गया है कि उन्होंने बारह दिन तक काम बन्द कर दिया व सूर्य के घर में वास किया। वैदिक युग में सूर्य व चन्द्र ग्रहण पर भी विचार किया गया था। एक मत ऐसा भी है कि ऋग्वेद के पाँचवें मण्डल के मन्त्रद्रष्टाअत्रि ऋषि इन ग्रहणों को पहले से जान सकते थे। चित्रा, रेवती, पूर्वफाल्गुनी, मघा आदि

नक्षत्रों का ज्ञान भी वैदिक आर्यो को था, क्योंकि उनका उल्लेख ऋग्वेद में आता है (ऋग्वेद 10/85 कल्चरल हेरिटेज जि. 3 पृ. 342)। ऐतरेय ब्राह्मण में दिन रात के बारे में लिखा है कि सूर्य जो अस्त होता है वह पुनः उदित होता है यह उसका दिवस के अन्त तक पहुँच वापिस लौटना है (शिव दत्त ज्ञानी भारतीय संस्कृति पृ. 333)।

वैदिक काल में ज्योतिष का महत्व इतना बढ़ गया था कि वेदांगों में उसका भी समावेश किया जाने लगा। लगधकृत वेदांग ज्योतिष ज्योतिषशास्त्र का एक मामूली व छोटा ग्रन्थ है। उसमें चन्द्र व सूर्य की गति समझने का प्रयत्न किया गया है। सूर्य 366 दिनों में एक पूरा चक्कर लेता है। दिन का काल साठ घटिका बताया गया है। वर्ष बारह सौर महीनों में व महीने को तीस दिनों में विभाजित किया गया है (लगध-वेदांग ज्योतिष)यजुष ज्योतिष) 28-29)। इस ग्रन्थ में भी यज्ञ के लिए ज्योतिषशास्त्र की आवश्यकता स्वीकार की गई है।

(घ) गणित— ज्योतिषशास्त्र व गणित का घनिष्ठ सम्बन्ध है। इसलिए वैदिक युग में ज्योतिष के साथ-साथ गणित का भी विकास हुआ था। अंकगणित का प्रारंभ वैदिक काल से ही होता है। उस समय बड़ी से बड़ी व छोटी से छोटी संख्या गिनने की विधि ज्ञात थी (छान्दोग्योप, 7/1/1-4, इन्डियनहिस्टारिकल क्वार्टरली, जि. 5, 1929, पृ. 479-512)। यजुर्वेद (17, 2) में कितनी ही संख्याओं का उल्लेख आता है, जो कि इस प्रकार है— एक, दश, शत, सहस्र, अयुत, अर्बुद, न्युर्बुद, समुद्र, मध्यम, अन्त व वरार्थ। यजुर्वेद (18/25) में 2 व 4 के पहाड़े का भी स्पष्ट उल्लेख है। इससे स्पष्ट है कि जोड़, घटाना, गुणा, भाग आदि अंकगणित के मौलिक सिद्धान्त वैदिक युग में पूर्णतया ज्ञात थे। बड़ी से बड़ी संख्याओं के ज्ञान से स्पष्ट होता है कि गणित विद्या सम्बन्धी विभिन्न तत्वों का सम्यक् विकास प्रारंभ हो गया था। शतपथ ब्राह्मण (3/3/1/13, 10/2/1/11, 13/4/1/6) के अग्निचयन करण में ऋग्वेद के सब अक्षरों की गणना की गई है, जो कि 432000 है।

यजुर्वेद में जो एक, दश, शत, सहस्र आदि संख्याएँ दी गई हैं, उन पर आलोचनात्मक दृष्टि से विचार करने पर ज्ञात होता है कि उन संख्याओं की कल्पना दशांशगणना-विधि पर आश्रित है। अतएव यह कथन अत्युक्ति न होगा कि दशांशगणना-विधि का ज्ञान वैदिक आर्यों को था। यह बात सर्वमान्य है कि गणित के सर्वश्रेष्ठ व सबसे अधिक उपयोगी सिद्धान्त 'सशून्य दशांशगणनाविधि का आविष्कार प्राचीन भारतीय गणितज्ञों ने ही किया था, जिसके लिए समस्त विश्व सदैव के लिए उनका ऋणी रहेगा।

रेखागणित का प्रारंभ भी वैदिक काल से ही होता है। इसके विकास का सम्बन्ध यज्ञों से है (मैकडॉनेल-संस्कृत लिटरैचर, पृ. 424-425, कल्चरल हैरिटेज जि. 3, पृ. 384-394)। वैदिक काल में यज्ञों का कितना प्राबल्य था, यह तो किसी से छिपा नहीं है। भिन्न-भिन्न यज्ञों के लिए भिन्न-भिन्न आकार की वेदियों की आवश्यकता होती थी। यज्ञवेदि के बनाने के लिए नयी ईटें बनाई जाती थीं, वे भी किसी निश्चित आकार की रहती थीं। उन वेदियों के लिए आवश्यकीय वस्तुओं का उल्लेख वेदों में किया गया है। इस सम्बध के मन्त्रों में रेखागणित के बहुत से पारिभाषित शब्दों का उल्लेख है, जैसे प्रता, प्रतिमा, निदान, परिधि, छन्द आदि (ऋग्वेद 10/132/3:) रेखागणित के विकास का विस्तृत ज्ञान शुल्व-सूत्रों से प्राप्त होता है। उन सूत्रों में यज्ञ-वेदि के आकार, नाप आदि के सम्बन्ध में पूरा-पूरा व्यौरा

दिया गया है। उनमें कोण, त्रिकोण आदि नापने की रीति समझाई गई है (कल्चरल हैरिटेज जि. 3 पृ. 384-94)। इस प्रकार वैदिक युग में रेखागणित के ज्ञान का विकास हुआ था।

(घ) शारीरिक विकास— शारीरिक विकास प्राचीन संस्कृति का मुख्य अंग था। वैदिक काल से ही समाज ने शारीरिक विकास के महत्व को समझ लिया था। वेदों में सभी इन्द्रियों के पूर्णतया सशक्त रहते हुए सौ वर्ष तक जीवित रहने की आकांक्षा दर्शाई गई है (ऋग्वेद 7/66/16' --तच्चक्षुर्देवहितं शुक्रमुच्चरत। पश्येम शरदः शतं जीवेम शरदः शतं शृणुयाम शरदः शतं प्रब्रवाम शरदः शतमदीनाः स्याम शरदः शतं भूयश्च शरदः शतात्।")। सौ वर्ष तक जीवित रहना, सुनना, बोलना आदि तभी ही सम्भव हो सकते हैं, जब कि शरीरयष्टि उत्तम व सुदृढ़ हो, किसी रोग आदि ने उसे जर्जरित न कर दिया हो। इस प्रकार यह स्पष्ट हो जाता है कि वैदिक काल के आर्य शारीरिक विकास के महत्व को भली भाँति समझ गये थे।

प्राचीन भारतीयों ने शरीर-विज्ञान को भलीभाँति समझ लिया था। वैदिक साहिय के पठन से ज्ञात होता है कि वैदिक आर्यो को शरीर के भिविन्न अवयवों का अच्छा ज्ञान था। अथर्ववेद में यक्ष्मा का वर्णन करते हुए शरीर के छोटे सब अवयवों को उल्लिखित किया गया है (अथर्व, 2/332 1-7:

"अक्षीभ्यां ते नासिकाभ्यां कर्णाभ्यां छुबुकादधि। यक्ष्मं शीर्षण्यं मस्तिष्काज्जिह्वायां विवृहामि ते। ग्रीवाभ्यस्त उष्णिहाभ्यः कीकसाभ्योमनूक्थात्। यक्ष्मदोषण्यमंसाभ्यां बहुभ्यां विवृहामि ते। हृदयात् ते परि क्लोम्नो हलीक्ष्णात् पार्श्वाभ्याम् यक्ष्मं मतस्ताभ्यां प्लीह्वो यकृस्तं विवृहामसि।। आन्त्रेभ्यस्ते गुदाभ्यो वनिष्ठोरुदरादधि। यक्ष्मं कुक्षिभ्यां प्लाशेर्नाभ्या विवृहामि ते।। ऊरुभ्यां ते अष्ठीवदभ्यां पार्ष्णिभ्यां प्रपदाभ्याम्।। यक्ष्मं भसद्यं श्रेणिभ्यां आसदं भंससो विवृहामि ते। अस्थिभ्यस्ते मज्जभ्यः स्नावभ्यो धमर्निभ्यः। यक्ष्मं पाणिभ्यामंगुलिभ्यो नखेभ्यो विवृहामि ते। अंगे-अंगे लोम्नि लोम्नि यस्ते पर्वणि पर्वणि। यक्ष्मत्वचस्यं ते वयं कश्यपस्य वी वर्हेण विष्वर्च्चं विवृहामसि।।"); जैसे अक्षी, नासिका, कर्ण छुबुक, शीर्ष, ग्रीवा, कीकस (हड्डी), अंस, बाहु, हृदय, अस्थि, मज्जा, स्नायु, धमनि, नख, लोम, त्वच् आदि। उक्त प्रकरण में अन्य कितने ही अव्यवों का उल्लेख आता है। इन उल्लेखों से स्पष्ट है कि वैदिक आर्यों ने मानव-शरीर के ढाँचे का बहुत बारीकी से अध्ययन किया था, व इस प्रकार शरीर-विज्ञान का पर्याप्त विकास किया था। वे शरीर की विभिन्न क्रियाओं को जानते और पहचानते थे। उन्हें अच्छी तरह मालूम था कि शरीर की रक्षा व पुष्टि के लिए वायु, जल अन्न आदि तीन वस्तुएँ अत्यन्त ही आवश्यकीय हैं। उपनिषदों में जो "अन्नमय कोष," "अन्नं वै प्राणाः।" (छान्दोग्योप 6/5) आदि वचन आते हैं, उन सब का यही तात्पर्य है।

जीवन के लिए शुद्ध वायु के महत्व को भी वैदिक आर्यो ने समझ लिया था। श्वासोच्छ्वास की क्रिया हमारा प्राण है, जो कि पूर्णतया वायु पर निर्भर है। इसलिए प्राचीन काल से ही यह व्यवस्था की गई थी कि अधिक से अधिक शुद्ध वायु का उपयोग मनुष्य किया करे, जिससे जीवन-शक्ति बढ़े। यही कारण है कि आश्रम-व्यवस्था में गृहस्थ को छोड़ अन्य आश्रमों को जंगल से संबंधित किया गया, जहाँ शुद्ध वायु पर्याप्त मात्रा में मिल सकती है। प्रत्येक व्यक्ति को अपने जीवन का लगभग तीन चतुर्थांश भाग जंगल की शुद्ध हवा में बिताना पड़ता था। इसके अतिरिक्त वायु को दूषित होने से बचाने की भी व्यवस्था की गई थी।

अथर्ववेद से ज्ञात होता है कि वैदिक काल के भारतीयों को कीटाणु-शास्त्र का पता चला था। वे यह जानते थे कि नाना प्रकार के रोग कीटाणु, जिनमें से अधिकांश अदृश्य हैं, वायु में इधर-उधर भ्रमण करते हैं व इस प्रकार 'वायु' दूषित हो जाती है। उस दूषित वायु के श्वासोच्छ्वास की क्रिया द्वारा शरीर में प्रवेश करने पर नाना प्रकार के रोग उत्पन्न हो सकते थे। इसलिए वायु-शुद्धि के लिए यज्ञ करने का आयोजन किया गया था। यज्ञ से दो प्रकार के लाभ होते हैं। वायु का शुद्धिकरण व वायु की बादल धारण करने की शक्ति में वृद्धि। यज्ञ में घी, चन्दन, केशर, कस्तूरी आदि नाना प्रकार के सुगन्धित द्रव्य डाले जाते थे। सुगन्धित द्रव्यों के यज्ञाग्नि में जलने से जो धुँआ निकलता है, उसमें वायु के विचरण करनेवाले नाना प्रकार के रोग-कीटाणुओं को नाश करने की शक्ति रहती है, इसलिए इन यज्ञों द्वारा वायु को शुद्ध किया जाता था। प्रत्येक आर्य को सायं प्रात: अग्हिोत्र करना पड़ता था, तथा दार्श पौर्णमास आदि यज्ञ सामूहिक रूप से किये जाते थे। इनके अतिरिक्त बहुत से नैमित्तिक यज्ञ भी किये जाते थे, विभिन्न संस्कारों के अवसर पर भी यज्ञ करना अनिवार्य था। स्वास्थ्य की दृष्टि से अंत्येष्टि संस्कार अत्यन्त ही महत्वपूर्ण है। यों तो मुर्दो को गाड़ने की अपेक्षा जलाना अधिक उत्तम व श्रेयस्कर है, किन्तु यदि शव को घृत, चन्दन, आदि सुगन्धित द्रव्यों से जलाया जाय तो वायु को शवदाह द्वारा दूषित होने से बचाया जा सकता है। इस प्रकार वैदिक युग में यज्ञ वायुशुद्धि का प्रधान साधन भी माना गया था। अन्य, जल आदि की शुद्धि पर भी पूरा ध्यान दिया जाता था।

वैदिक युग में शरीर-विज्ञान की आवश्यकताओं को समझ दैनिक जीवनक्रम इस प्रकार का निर्धारित किया गया था, जिससे स्वास्थ्य अच्छा रहे व शारीरिक शक्ति का विकास उत्तरोत्तर होता रहे। दैनिक स्नान, प्राणायाम, व्यायाम, खेल-कूद, वेषभूषा, भोजन-व्यवस्था आदि का विकास स्वास्थ्य-वर्धन की दृष्टि से किया गया था, जिससे शारीरिक शक्ति का विकास किया जा सके।

(च) कला

भारत की विभिन्न कलाओं का इतिहास भी बहुत पुराना है जिसका आरंभ वैदिक काल से होता है कला का उपयोग धर्म के तत्वों को समझाने के लिए किया जाता था। वैदिक काल (ऋग्वेद 1, 103, 3;2, 20, 8; 3, 12, 9; 4, 32, 10) में ही वास्तु निर्माण कला, गीत नृत्यादि का प्रारंभ हो गया था। वैदिक साहित्य में प्रत्यक्ष और अप्रत्यक्ष प्रमाण है, जिनसे विभिन्न कलाओं के विकास का पता चलता है ऋग्वेद में पुर, ब्रज, प्रहर्म्य, सद्‌भ, प्रसद्‌भ दीर्घप्रसद्‌भ, सदन, ओकस आदि शब्दों द्वारा छोटे-बड़े सब प्रकार के निवास-योग्य भवनों का उल्लेख किया गया है जिससे वास्तु निर्माण कला के विकास का ज्ञान होता है।

संगीत कला का विकास भी वैदिक युग में प्रारंभ हो चुका था। आर्यों का स्वर ज्ञान पर्याप्त रूप से विकसित हुआ था। उपयोग धैवत, निषाद, गान्धार, पंचम, ऋषभ, षड्ज, मध्यम आदि शब्दों का प्रयोग वेदमन्त्रोच्चारण में किया जाता था। सामवेद का सामगान तो प्रसिद्ध ही है।

इसी प्रकार नृत्यकला का विकास भी वैदिक काल से प्रारम्भ हो गया था ऋग्वेद के उषामन्त्रों में उषा को नर्तकी की उपमा दी गई है तथा यजुर्वेद में वंशनर्तिन् (बाँस पर नाचनेवाला) का उल्लेख आता है। इन उल्लेखों से स्पष्ट होता कि नृत्यकाल भी समाज में लोकप्रिय थी।

वैदिक आर्यो ने जीवन के गाम्भीर्य व भार को हल्का बना कर उसे सच्चे अर्थ में आनन्दमय बनाने के लिए खेल-कूद व अन्य मनोरंजन के साधन भी ढूँढे थे, जिनका उल्लेख ऋग्वेद आदि वैदिक साहित्य में आता है। वैदिक आर्य रथ की सवारी, घोड़े की सवारी आदि के बड़े शौकीन थे। रथ,घोड़े आदि दौड़ाने की स्पर्धा से उन्हें बड़ा मनोरंजन होता था। इसी प्रकार नृत्य, जुआ खेलना आदि भी उनके मनोरंजन के साधन थे।

सारांश में वैदिक आर्यो ने अपने सांस्कृतिक विकास इस तरह कर लिया था कि सैकड़ों वर्षो तक प्राचीन भारतीय जीवन उनसे प्रभावित रहा, तथा आज भी उनके प्रभाव को हिन्दुओं के सामाजिक जीवन के विभिन्न क्षेत्रों में देख सकते हैं।

वास्तुकला निर्माण— वेदकालीन समाज, जैसा कि वैदिक साहित्य से ज्ञात होता है, पूर्णतया सुसंस्कृत था, व उनके जीवन को सुखी बनाने के लिए वास्तुनिर्माण कला का विकास किया था। ऋग्वेद (5, 6, 7) में कितने ही स्थलों पर पुर, ब्रज आदि का उल्लेख आता है, जिससे तत्कालीन किलों का बोध होता है। वे किले मिट्टी के बनाये जाते थे या पत्थर के इस संबंध में निश्चित रूप से कुछ नहीं कहा जा सकता किन्तु इतना तो स्पष्ट है कि इतने प्राचीन काल में भी किले बनाने की कला का विकास हुआ था। इसी प्रकार ऋग्वेद में तत्कालीन गृहों का भी उल्लेख आता है। वास्तोष्पति-मंत्रों में गृह-देवताओं की स्तुति की गई है। ऋग्वेद में गृह (ऋग्वेद 8/22/3; 8/26/17 गय, वेश्म, हर्म्य, आदि शब्द भी गृह के अर्थ में प्रस्तुत हुए हैं। 6/2, 8, 1/121/1, 10/146/3, 1/1/8, 1/61/9), सद्म (ऋग्वेद 7/18/22), प्रसद्म (ऋग्वेद 8/10/1), दीर्घप्रसद्म (ऋग्वेद 8/10/1) आदि का उल्लेख आता है, जिससे स्पष्ट है कि वैदिक काल में छोटे से छोटे व बड़े से बड़े घर बनाये जाते थे। वे घर लकड़ी, मिट्टी, या पत्थर, अथवा तीनों को मिलाकर बनाये जाते थे। वैदिक युग में घर बनाने की कला बहुत लोकप्रिय थी, यह इससे भी सिद्ध होता है कि ऋग्वेद में साधारण घर के अर्थ में बाईस शब्द प्रयुक्त हुए है, जैसा कि निघण्टु (2/4) में लिखा है, गृहसूचक बावीस नाम इस प्रकार है गय, कृदर, गर्त, हर्म्य, अस्त, पस्त्य, दुरोण, नीलन, दुर्य, दम स्वसर, अमा, कृत्ति, योनि, सद्म, शरण वरुथ छर्दि, छदि छाया शर्म व अज्य।

वास्तुनिर्माण कला के विकास से वैदिक आर्यों की भौतिक जीवन सम्बन्धी बहुत सी आवश्यकताओं की पूर्ति हो जाती थी। धनाढ्य व निर्धन सब ही अपने साधनों के अनुसार रहने का आवास निर्माण कर अपने-अपने कामों में लग जाते थे। बड़े-बड़े सर्दार व धनाढ्य लोग पत्थर आदि से बने हुए बड़े-बड़े किलों में रहते थे। इन्द्र ने दिवोदास को पत्थर के सौ किले प्रदान किये थे (ऋग्वेद 4/30/20)। धनाढ्य लोग काठनिर्मित बड़े-बड़े प्रासादों में रहते थे, जो कभी-कभी शत्रुओं द्वारा जला दिये जाते थे (ऋग्वेद 7/5/3)। उन प्रासादों में बड़े-बड़े स्तम्भ रहते थे, जिनके आधार पर छत टिकी रहती थी। उसमें बहुत से दरवाजे भी रहते थे (ऋग्वेद 10/88/3)। शम्बर के पास पत्थर के सौ किले थे जो इन्द्र ने उससे छीन लिए थे (ऋग्वेद 4/30/20)। मित्र व वरुण के पास एक खम्भोंवाला महल था, जिसमें अगणित द्रव्य भरा था (ऋग्वेद 2/41/5) लोहे के किले या नगरों का भी उल्लेख ऋग्वेद में आता है (ऋग्वेद 7/3/7) जहाँ इन्द्र से प्रार्थना की गई है कि "हे अग्नि ! हमारी घृतयुक्त हृदय से उस प्रकार रक्षा करो, जिस प्रकार लोहे के अमित व महान् सौ किलों से होती है।" ऋग्वेद में एक स्थान पर (ऋग्वेद 7/95/1 "सरस्वती धरुणमायसी पूः") सरस्वती नदी को लोहे का किला कहा गया है।

पुर— ऋग्वेद में पुर कितने ही स्थलों पर उल्लिखित है, जिस्का अर्थ साधारणतया किला होता है, जिसमें राजा, उसका परिवार व उसके सेवक रहते थे, जो इतना मजबूत रहता था कि किसी भी आक्रमण का सामना कर सकता था (ऋग्वेद 1/53/7, 1/58/8, 1/131/14, 1/166/8, 3/15/4, 4/27/1, 7/15/14)। उसमें राजा का सोना, चाँदी, रत्न, धान्य की बड़ी-बड़ी कोठियाँ आदि भी रहती थीं। कभी-कभी ये किले बहुत बड़े भी रहते थे, इसीलिए उन्हें ''पृथ्वी'' व ''उर्वी'' शब्दों से भी सम्बोधित किया गया है। इससे यह भी निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि ये पुर किलेबन्दीवाले नगरों के समान थे, जिसमें न केवल राजा व उसके परिवार के सदस्य रहते थे, किन्तु सामन्त, बड़े-बड़े व्यापारी आदि भी रहा करते थे (ए. सी. दास ऋग्वेदिक कल्चर, पृ. 186, 187, ऋग्वेद 1/189/2 ''पूश्च पृथ्वी बहुला न उर्वी भवा तो काय तनयाय शं योः।'')। ऐसे किले साधारणतया पत्थर के बने रहते थे (ऋग्वेद 2/30/20) तथा उसके अन्दर रहने वाले लोगों का शत्रु, डाकू, आक्रमणकारी, अग्नि आदि से संरक्षण करते थे। ''शारदी'' किलों का भी उल्लेख आता है, जो कि दासों के थे, व जिनसे कदाचित् यह भाव निकलता है कि शरद ऋतु में आर्यों के आक्रमण से बचने के लिए अथवा नदियों के पूर से बचने के लिए दास लोग उन किलों का प्रयोग करते थे।

ऋग्वेद (शतभुजिभिस्तमभिह्नेरघात् पूर्भी रक्षता मरुतो यमावत 1, 166, 8 और पूर्भवा शतभुजिः 7, 15, 14) में सौ दीवालों (शतभुजी) से युक्त किलों का भी उल्लेख आता हे। किलों की दीवारें कभी-कभी लकड़ी की भी बनाई जाती थीं, जैसा कि दासों के किलों को जलाने के उल्लेख से स्पष्ट होता है।''

गृह— ऋग्वेद में गृह का उल्लेख एकवचन (ऋग्वेद 3/53/6, 4/49/6, 8/10/1) व बहुवचन (2/42/3, 5/70/4, 10/18/12, 10/85/26) दोनों में आता है जिससे स्पष्ट होता है कि वैदिक आर्यो ने अपने रहने के लिए बहुत से मकान बनाये थे। गरीबों के मकान, लकड़ी, बाँस, फूँस आदि के रहते थे। किन्तु अच्छी स्थिति के लोगों के मकान पत्थर के रहते थे। वसिष्ठ ने वरुण से प्रार्थना की कि मुझे मिट्टी के घर में न रहना पड़े (ऋग्वेद 7/89/1)। सप्त ऋषि ने इन्द्र से प्रार्थना की हे कि ''मुझे एक बहुत बड़ा मकान रहने को दो, जैसा किसी के पास न हो'' (ऋग्वेद 2/30/20)। 'दम' शब्द भी घर के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है, और पस्त्या व हर्म्य से कदाचित् घर व उसके आस-पास के छोटे-मोटे आवासों का बोध होता हैं जिनमें सम्पूर्ण परिवार व उससे सम्बन्धित व्यक्ति रहते थे। इस प्रकार के घरों में गाय, बैल, भेड़ आदि के रखने की भी व्यवस्था रहती थी (ऋग्वेद 7/56/6; 10/106/5)। ऐसे मकानों में बहुत से कमरे व उसके अहाते में बहुत सी झोपड़ियाँ रहती थीं। (ऋग्वेद 7/87/6)। दरवाजे (द्वार् या द्वार) का भी उल्लेख आता है, जिस पर से मकान को ''दुरोण'' भी कहते थे। प्रत्येक मकान में अग्नि प्रज्वलित रहती थी (मैकडॉनेल व कीथ वैदिक इन्डेक्स)।

मकान की बनावट आदि के बारे में ऋग्वेद से कुछ पता नहीं लगता, किन्तु अथर्ववेद द्वारा इस सम्बन्ध में कुछ बातें ज्ञात होती है (ए. सी. दास-ऋग्वेदिक कल्वर पृ. 189)। मकान बनाने के लिए किसी अच्छे स्थान पर चार खम्भे (उपमित) और उन पर म्यालें (प्रतिमित) रखी जाती थीं। छतें बाँस की बनाई जाती थीं। दीवारों के अन्दर घास भरी जाती थीं। मकान में विभिन्न कार्यों के लिए अलग-अलग कमरे रहते थे, जैसे हविर्धान (हवन सामग्री रखने का कमरा), अग्निशाला (यज्ञाग्नि रखने का कमरा), ''पत्नीनां सदन'' (स्त्रियों के बैठने का कमरा, सद्स (बैठक) (वेदिक इन्डेक्स 1/230, 231) आदि।

प्रत्येक घर की दो बाजुएँ रहा करती थीं, जिन्हें पक्ष कहते थे, जो आधुनिक बरामदे के समान थे। बरामदे के खम्भे लकड़ी के बने रहते थे, जिन पर मूर्तियाँ भी उत्कीर्ण रहती थीं। ऋग्वेद (ऋग्वेद 4/32/23) में एक स्थान पर कहा गया है कि 'हे इन्द्र तुम्हारे घोड़े दौड़ते समय इस प्रकार प्रकाशित होते हैं, जैसे कि एक नये खम्भे पर दो छोटी-छोटी लड़कियों की मूर्तियाँ । इस प्रकार उपरोक्त वर्णन से स्पष्ट होता है कि वैदिक युग के मकानों में साधारणतया एक बैठक का कमरा, जहाँ पुरुष-वर्ग बैठकर वार्तालाप आदि करता था, एक सामान रखने का कमरा, एक स्त्रियों का कमरा तथा यज्ञाग्नि रखने का कमरा रहता था। इसके अतिरिक्त सोने के कमरे अलग रहते थे। मकान के अहाते में मवेशियों के बाँधने की व्यवस्था रहती थी। इसके अतिरिक्त कदाचित् एक कमरा और रहता था, जिसको ''अवसथ'' कहते थे, जहाँ पर यज्ञादि के अवसर पर ब्राह्मणों का स्वागत किया जाता था (वेदिक इन्डेक्स 1/66)।

ऋग्वेद में एक स्थान (ऋग्वेद 6/46/9) ''इन्द्र त्रिधातु शरणं त्रिवरूथं स्वस्तिमत्। छर्दियच्छ मघवद्भ्यश्च मह्यं च यावयो दिद्युमेभ्यः। शंयु बार्हस्पत्य इंद्र से प्रार्थना करते हैं कि ''हे इन्द्र मुझे एक त्रिधातु व त्रिवरूथ (तीन खम्भों वाला) मकान प्रदान करो, जो कि कल्याणकारी हो। ''इस मंत्र में 'त्रिधातु' शब्द के अर्थ के विषय में बहुत मतभेद है। ग्रिफिथ के अनुसार त्रिधातु का शाब्दिक अर्थ लिया जाना चाहिये, एतएव त्रिधातु याने ईट, पत्थर व लकड़ी का बना हुआ मकान। किन्तु सायण के अनुसार त्रिधातु का अर्थ धिभूमिकम् अर्थात् तीनमंजिला मकान होता है 'त्रिवरूथ' शब्द एक स्थान (ऋग्वेद 10, 66, 5) पर और आया है, जहाँ विश्वेदेवा, से प्रार्थना की गई है कि हमें महान् त्रिवरूथ शर्म (घर) प्रदान करो। यहाँ 'त्रिवरूथ शर्म' का अर्थ साधारणतया तीन कमरेवाला मकान किया जाता है। सद्म (ऋ. 7/18/22), प्रसद्म दीर्घ प्रसद्म (ऋग्वेद 8, 10, 1) आदि के उल्लेखों से स्पष्ट होता है कि बहुत बड़े-बड़े मकान भी बनाये जाते थे, जिनकी तुलना गगनचुंबी प्रासादों से की जा सकती है।

शिल्पकारी आदि कलाएँ— वास्तुनिर्माण कला के अतिरिक्त अन्य कलाओं का विकास भी वैदिक युग में हुआ था। वैदिक साहित्य के आलोचनात्मक अध्ययन से ज्ञात होता है कि उस युग में रथ, हथियार, घरेलू, बर्तन, विभिन्न आभूषण आदि का बहुत उपयोग होता था, और इन सब के लिए विभिन्न धातुओं को गलाने आदि की कला का ज्ञान आवश्यकीय रहता है। ऋग्वेद में निष्क (ऋग्वेद 2/33/10; 8/47, 15; 5/19/3) रूक्म (ऋग्वेद 1/166/10; 4/10/5; 5/33/4, 8/20/11), रुक्म (शतपथ ब्रा. 6/7/1, 7, 27) पाश, रुक्म वक्षस् (ऋग्वेद 2/34/2, 8/55/1, 5/57/5), स्रज (ऋग्वेद 4/38/6, 5/34/4; 8/47/15) खादि (ऋग्वेद 5/54/11;1/166/8; 7/56/13; 5/58/2), कर्णशोभन (ऋग्वेद 8/78/3) आदि सुवर्ण के आभूषणों का उल्लेख आता है ऋग्वेद में मोती (ऋग्वेद 1/35/4; 10/68/1, 1/126/4) व मणि (1/33/8; 1/122/14) का भी उल्लेख आता है, जिनका उपयोग आभूषणों के लिए किया जाता था।

ऋग्वेद में दैनिक घरेलू उपयोग की कितनी ही वस्तुओं का उल्लेख आता है, जिनसे विभिन्न कलाओं के विकास का पता चलता है। तल्प (ऋग्वेद 7/55/8) (पलंग), प्रौष्ठ (ऋग्वेद 7/55/8), (एक प्रकार का पलंग) वह्य (वेदिक इन्डेक्स 2, 278), (एक प्रकार का पलंग) आदि लकड़ी के बनाये जाते थे व साधारणतया प्रत्येक घर में रहते थे। ऋग्वेद में कलश (1/117/12, 3/32/15), द्रोण (6/2/8; 6/44/20; 9/93/1), कुम्भ (1/189/14; 10/ 89/7) आदि का कितने ही स्थलों पर उल्लेख आता है।

कलश व कुम्भ विभिन्न धातुओं व मिट्टी के बनाये जाते थे, द्रोण बड़े बड़े बर्तन रहते थे जो लकड़ी के बनाये जाते थे। घरेलू बर्तन विभिन्न धातुओं के बनाये जाते थे। अथर्ववेद में सोने व चांदी के बर्तनों का उल्लेख है (8, 10/23/28) उख (पकाने का बर्तन), स्थाली, (पकाने का बर्तन), आसेचन आदि यज्ञ से सम्बन्धित बर्तन थे, जिनका उल्लेख वैदिक साहित्य में आता है। इसी प्रकार यज्ञ से सम्बन्धित अन्य वस्तुओं का भी उल्लेख आता है जो साधारणतया लकड़ी व धातु से बनाई जाती थीं। (ए. सी. दास-ऋग्वेदिक कल्चर, पृ. 184-195)।

यजुर्वेद (30/7, 17) में रथकार, तक्षा, कौलाल (कुम्हार), कर्मार (लुहार), मणिकार, हिरण्यकार, इषुकार, धनुषकार, ज्याकार आदि का स्पष्ट उल्लेख आता है। (दे ऊपर द्वितीय अध्याय पृ. 66 आर्यों के पेशे और व्यापार)।

रामायण और महाभारत के समय (600-500 ई. पू.) तक चित्र वास्तु एवं स्थापत्य कला के इन विभिन्न अंगों का अनेक उप अंगों में पूर्ण विकास हो चुका था। पाण्डवों के लिए मयासुर ने जिस सभा का निर्माण किया था उसका वर्णन पढ़ने से ऐसा प्रतीत होता है कि वह कल्पनामात्र थी किन्तु यह बात नहीं थी। मय असुर था, इसलिए महाभारत काल के लोगों की यही धारणा थी कि इस भाँति के उत्तम इमारतों को बनाने का काम असुर कर सकते थे।

महाभारत (सभापर्व, अध्यय 3) में युधिष्ठिर की सभा का बड़ा ही रोचक वर्णन देखने को मिलता है सभागृह के संबंध में लिखा गया है :—

सभा में अनेक खंभे थे। उनमें स्थान-स्थान पर सुवर्णवृक्ष निर्मित किये गये थे। द्वार पर हीरे मोती आदि रत्नों के तोरण लगाये गये थे, उसके परकोटे और फाटक रत्नों से बने हुए थे। उसमें अनेक प्रकार के अद्भुत चित्र अंकित थे। वह सब ओर से दस हजार हाथ विस्तृत थी, सभागृह् की दीवारों पर भाँति-भाँति के चित्र अंकित थे सभा के भीतर एक ऐसा चमत्कार दिखाया गया था कि सभा के बीच में एक सरोवर बना कर उसमें सुवर्ण के कमल बनाये गये थे। कमल लता के पत्ते इन्द्रनीलमणि के बनाये गये थे, विकसित कमलों की शोभा पद्मरागमणि की भाँति थी। उसमें अनेक प्रकार के पक्षी रहते थे। खिले हुए कमलों और सुनहली मछलियाँ तथा कछुओं से उसकी विचित्र शोभा हो रही थी। उस पोखरी में उतरने के लिए स्फटिक मणिकी विचित्र सीढ़ियाँ बनी थीं। उस में पंख रहित स्वच्छजल भरा हुआ था। उसके चारों ओर घाटों पर बड़ी-बड़ी मणियों की चौकोर शिलाखण्डों से पक्की वेदियाँ बनायी गयी थीं। मणियों तथा रत्नों से व्याप्त होने के कारण कुछ राजा लोग उस पुष्करिणी के पास आकर और उसे देखकर भी उसकी यथार्थता पर विश्वास नहीं करते थे और भ्रम से उसे स्थल समझ कर उसमें गिर पड़ते थे।

दीवार में जहाँ दरवाजा बना दिखायी देता था वहाँ पर वस्तुतः दरवाजा नहीं रहता और जहाँ नहीं दिखयी देता था वहीं पर दरवाजा बना होता था। ऐसे ही स्थान पर दुर्योधन को भ्रम हो गया था और वह धोखे में आ गया था।

एक जगह स्फटिक भूमि बना कर उसमें ऐसी कला दिखायी गयी थी कि वहाँ पानी के होने का आभास होता था। दूसरी जगह स्फटिक के एक हौज में पानी भरा हुआ था। उसमें स्फटिक का

प्रतिबिम्ब पड़ने के कारण ऐसा मालूम होता था कि वहाँ पानी बिल्कुल नहीं है। एक स्थान पर ऐसा चित्र खींचा गया था जिसका एक दरवाजा खुला हुआ दिखायी पड़ता था, परन्तु प्रवेश करते ही मनुष्य का सिर दीवार से टकरा जाता था।

रामायण की अपेक्षा महाभारत में शिल्प और कला पर बहुत कम कहा गया है। चित्रकला की दशा में तो प्राय: सारा महाभारत मौन सा दिखाई देता है। उस युग में शिल्प तथा कला के क्षेत्र में जो कुछ हुआ, उसको ग्रीकों की देन कहा जा सकता है। ग्रीक जब पहले भारत में आये तो उन्हें यहाँ उत्तम इमारतों का अभाव बड़ा अखरा। यहाँ के उत्तम घर लकड़ी और मिट्टी के बनाये जाते थे। दुर्योधन ने पाण्डवों के रहने के लिए जो लाक्षागृह बनवाने की आज्ञा दी थी उसमें लकड़ी और मिट्टी का ही काम था। इससे यह पता चलता है कि महाभारत काल में बड़े लोगों के रहने के लिए मिट्टी के घर होते थे।

रामायण— रामायण का वह मार्मिक प्रसंग जो जन-जन के हृदय-पटल पर अंकित है कि अश्वमेध यज्ञ के अवसर पर राम ने अपनी पत्नी सीता की सुवर्ण-प्रतिमा का निर्माण कराया था (रामायण 7/99/7) तत्कालीन शिल्पविधान का श्रेष्ठ प्रसंग है सीता की वह सजीव सुवर्ण-प्रतिमा तत्कालीन मय नामक शिल्पी की अद्भुत देन थी। इसी प्रकार रथों की साज-सज्जा में सुवर्ण प्रतिमाओं की योजना उस युग के शिल्पियों की निपुणता का परिचायक कहा जा सकता है। (2/15/32) रत्नों की आभा से दीप्त हेमपद्मों से विभूषित, वैदूर्यमणि, चाँदी तथा मूंगे के पक्षियों से अलंकृत, भाँति-भाँति के रत्नसर्पो से सज्जित और मणिमय, सीधे चिकने हीरे, मोती, मूँगे, सोना, चाँदी आदि के अलंकारों से विभूषित रावण का पुष्पक विमान उस युग के शिल्पकारों के कौशल का अपूर्व उदाहरण था (5/7/11-12; 5/9 23; 9/12/14; 8/121/25 आदि।

रामायण के युग में स्थापत्य कला भी परमोच्च स्थिति पर थी। दानवों के स्थपति मय और विश्वकर्मा जैसे कला के जनक उसी युग में हुए। भवन निर्माण का कार्य भी उस युग में चरमोत्कर्ष पर था। प्रासाद, विमान, हर्म्य और सौध आदि कई प्रकार के भवन उस युग में थे। उनमें भी सप्तभौम अष्टभौम और सहस्र स्तम्भ आदि अनेक विशिष्ट राजभवन होते थे।

रामायण में दीवारों कक्षों रथों और राजभवनों पर चित्रांकित करने के प्रचुर उल्लेख मिलते हैं। रावण के पुष्पक-विमान का उल्लेख ऊपर हो चुका है। रामायण के उत्तरकांड में बताया गया है कि उस विमान में दृष्टि और मन को सुख देने वाले और आश्चर्य-चकित कर देने वाले नाना भाँति के दृश्य अंकित थे, उसके कक्ष भागों (अलग-बगल) में उसकी शोभा का उत्कर्ष बढ़ाने वाले अनेक बेल बूटेदार चित्र अंकित थे। (5/7/9)।

सुन्दर काण्ड और लंका कांड में चित्रकला के संबंध में विशेष चर्चाएँ मिलती हैं। रावण की लंका में सीता की खोज करते समय हनुमान को एक चित्रशाला और चित्रों से सुसज्जित कई क्रीड़ागृह भी देखने को मिले। चित्र सुशोभित कैकेयी के राज-प्रासाद (2/10/13) के वर्णन में उसकी कलात्मक अभिरुचि का सहज ही परिचय मिल जाता है। बाली और रावण का शव ले जाने के लिए जो पालकियाँ बनवायी गई थीं, उसमें की गई चित्रकला का अद्भुत वर्णन रामायण (4/25/22; 7/15/38; 8/111/109) में देखने को मिलता है। चित्रकला के संबंध में यह भी अवगत होता है कि उस युग में हाथियों के मस्तक

पर और रमणियों के कपोलों पर सुन्दर चित्र रचनाएँ अंकित की जाती थीं (3/15/1; 4/30/55)। राम के राजप्रासाद में अनुपम भित्तिचित्र उत्कीर्णित थे। (2/15/35)।

सीता को भ्रम में डालने के लिए रावण ने अपने विवज्जित्र नामक चित्रकार को, जो कि उसका युद्ध सचिव भी था, राम का सिर और धनुष की छद्म आकृति बनाने का आदेश दिया था। यह कृत्रिम सिर और धनुष सीता के सामने यह प्रमाणित करने के लिए रखा गया कि सीता को राम की मृत्यु का विश्वास हो जाये यद्यपि सीता इस छद्म से बच गयी थी फिर भी राम के निथन को जानकर उन्होंने बड़ा विलाप किया।

महाभारत (3/293/13) में सत्यकाम् के संबंध में कहा गया है कि बचपन में उसको घोड़ों का बड़ा शौक था। अपने इसी शौक के कारण अपने माता पिता के साथ वन में रहते समय वह मिट्टी के घोड़े बनाता और भीत पर घोड़े के चित्र अंकित करता था। इसलिए बचपन में उसका नाम चित्राश्व पड़ा।

संगीत– वैदिक साहित्य के आलोचनात्मक अध्ययन से ज्ञात होता है कि वैदिक आर्यों ने संगीत-कला का भी विकास किया था। कुछ विद्वानों का मत है कि ऋग्वेदिक संहिताओं के मंत्र गाये जाते थे। यही कारण है कि सर्वानुक्रमणी आदि में वैदिक मंत्रों के स्वरों का भी उल्लेख है। प्रत्येक मंत्र का जहाँ ऋषि, देवता व छन्द रहता है, वहाँ उसका स्वर भी रहता है। ये स्वर सात हैं, जिसमें विभिन्न मंत्र गाये जाते थे, जैसे धैवत, मध्यम, पंचम, षड्ज, ऋषभ, निषाद व गान्धार।

वैदिक साहित्य के अन्तर्गत सामवेद के साम मंत्रोंका गाया जाना तो सुप्रसिद्ध है। ये सामगीत ऋग्वेद-काल में पूर्णतया ज्ञात थे, व स्थान-स्थान पर ऋषियों द्वारा गाये जाते थे। पुरुषसूक्त (ऋग्वेद 10/90/9: ''तास्माद्यज्ञात्सर्वहुत ऋच, सामानि जज्ञिरे।'') में कहा गया है कि 'उस सर्वहुत यज्ञ में से ऋचाएँ व सामगीत उत्पन्न हुए। इस प्रकार सामगीत की उत्पत्ति परमात्मा से बताई गई है। भारतीय अनुश्रुति के अनुसार संगीत-कला का प्रारम्भ सामवेद से होता है। सामवेद का उपवेद ही गान्धर्ववेद है, जो अब अप्राप्य है (दी कल्चरल हेरिटेज ऑफ इन्डिया, जि. 3, पृ. 566-68)। प्राचीन दन्तकथाओं के अनुसारसंगीत-कला का विकास गन्धर्वो द्वारा किया गया था, अतएव उसे गन्धर्व विद्या व उसके ग्रन्थ को गन्धर्व-वेद भी कहा गया है। इस लोकोक्ति के सहारे यह कहा जा सकता है कि प्राचीन काल में इस कला का इतना विकास हुआ था कि कुछ लोगों ने उसे ही अपने जीवन का सर्वस्व मान लिया था। कदाचित् प्राचीन कालीन गवैयों को गन्धर्व नाम से सम्बोधित किया गया है।

ऋग्वेद में संगीत के विभिन्न वाद्यों का उल्लेख आता है। दुन्दुभि (ऋग्वेद 1/28/5; ''इह द्युमत्तमं वद जयतामिव दुन्दुभिः'' 6/47/29 ''केतुमद्दुन्दुभिर्वावदीति।') का उल्लेख कई बार आया है, जिसका उपयोग युद्ध और शान्ति के समय होता था। यह वाद्य आजकल के नगाड़े के समान था। साधारणतया दुन्दुभि का उपयोग युद्ध के समय हुआ करता था। इन्द्र के युद्धों में दुन्दुभि का बजाया जाना उल्लिखित है। कर्करि (ऋग्वेद 2/43/3) बांसुरी के समान एक वाद्य था, जिसको आर्य लोग बजाया करते थे। मरुतों के पास क्षोणी (ऋग्वेद 2/35/13) नाम का वाद्य था, जो वीणा के समान था। एक स्थान पर 'वाण' ('धमन्तो वाणम्') बजाये जाने का उल्लेख है (ऋग्वेद 1/85/10; ''धमन्तो वाणं मरुतः सुदानवो मदे सोमस्य रण्यानि चक्रिरे।।'') इसके दो अर्थ लिए जाते हैं, एक बाँसुरी व दूसरा वीणा। सायण ने इसका

अर्थ ''वीणाविशेषम्'' किया है। यजुर्वेद में वीणावादन (यजु. 30/18) वीणा का बजाया जाना) का उल्लेख आता है। इसी प्रकार पाणिघ्न' (नगाड़ा बजाने वाला), 'शंखध्म' (शंख बजाने वाला) आदि का भी उल्लेख आता है (यजु. 31/20) ऋग्वेद में ''आघाटि'' (ऋग्वेद 10/146/2) का उल्लेख आता है। मैकडॉनेल व कीथ के मतानुसार आघाटि एक प्रकार का मृदंग थी, जो नृत्य के समय बजाई जाती थी।

ऋग्वेद में गीतों के गाये जाने का उल्लेख भी आता है। जब सात स्त्रियाँ सोमरस निकालती थीं, उस समय गीत गाती थीं (ऋग्वेद 9/66/8)। साम दैवी गीत थे, जो संगीतशास्त्र के अनुसार गाये जाते थे। पद्यात्मक गीतों को गाथा कहा जाता था (ऋग्वेद 1/167/6; 'गायद्गगधं सुतसोमो दुवस्यन्।' 8/32/1; 8/71/14; 8/98/9, 9/91/4, 9/99/4)। ये गीत सोमरस निकालते समय गाये जाते थे। गाथा गाने वाले को 'गाथिन्' कहते थे (ऋग्वेद 1/7/1)। इसी प्रकार 'गाथापति,' (ऋग्वेद 1/43/4) गाथानी (ऋग्वेद 1/190/1; 8/92/2) का भी उल्लेख आता है। ऋजु (ऋग्वेद 5/44/5) गाथा' शब्द गानेके अर्थ के रूप में प्रयुक्त हुआ है। ऐतरेय ब्राह्मण (7, 18) में ऋक् व गाथा के अन्तर को समझाते हुए कहा गया है कि ऋक् दैवी तथा गाथा मानुषी है। ऋग्वेद में जो दानस्तुतियाँ (मैकडॉनेल -संस्कृत लिटरेचर, पृ. 127) हैं, वे गाई जाती थीं, क्योंकि उनमें दानदाताओं की दानशूरता का वर्णन है। इस प्रकार स्पष्ट हो जाता है कि वैदिक युग में संगीत-कला का पर्याप्त विकास हुआ था।

देववाणी संस्कृत के लौकिक पक्ष में छंदोबद्ध रचना की पहली अवतरणा महामुनि वाल्मीकि की वाणी द्वारा हुई। अपनी कृति का लोक प्रचार आदि कवि ने लव-कुश के द्वारा वीणावादन के साथ कराया था। लव और कुश दोनों स्वर ज्ञान और शास्त्रीय संगीत में पारंगत थे जिनकी शिक्षा उन्हें स्वयं महामुनि ने दी थी।

नृत्य— वैदिक युग में नृत्यकला का भी विकास हुआ था। ऋग्वेद, यजुर्वेद आदि में नृत्य का उल्लेख आता है। उषा को एक नर्तकी की उपमा दी गई है। वैदिक युग में स्त्री व पुरुष दोनों ही नृत्य करते थे। ऋग्वेद व यजुर्वेद में बाँस लेकर नाचनेवाले का उल्लेख है (ऋग्वेद 1/10! 1, यजुर्वेद 30/21)। नाचनेवाले को ''नृत'' कहा जाता था। युद्ध के समय इन्द्र हर्षातिरेक से नाचता था (ऋग्वेद 1/130/7)। नर्तिका को ''नृतु'' कहते थे, जो कि नाचते समय सुन्दर वस्त्र धारण करती थी (ऋग्वेद 1/92/4)। ऋग्वेद में एक स्थलपर नृति व ह्रास का साथ उल्लेख है (ऋग्वेद 10/18/3) ऋग्वेद में देवताओं के नाचने का वर्णन है (ऋग्वेद 10/72/6)। युवक युवतियों का सजधज कर नाचने, गाने, झूला आदि झूलने का उल्लेख भी आता है। (ऋग्वेद 7/87/5; 7/88/3)। इस प्रकार वेदकालीन समाज में नृत्य-कला भी बहुत लोकप्रिय थी, जिसका उपयोग मनोरंजन के लिए किया जाता था।

(छ) मनोरंजन— वेदकालीन समाज ने अपने मनोरंजन के भी बहुत से साधन ढूँढ़े थे, जिनका उपयोग जनसाधारण द्वारा किया जाता था। वैदिक साहित्य के आलोचनात्मक अध्ययन से ज्ञात होता है कि वैदिक आर्यो के मनोरंजन के साधन इस प्रकार थे— रथदौड़, घुड़दौड़, जुआ, मेला, तमाशा, गीत, नृत्य, आख्यान-गाथा आदि श्रवण, शिकार इत्यादि। युद्ध प्रेमी व क्रियाशील आर्यों के लिए रथदौड़ बड़ा इच्छा मनोरजन का साधन था। वैदिक आर्यो के जीवन में रथ का महत्वपूर्ण स्थान था। रथ आर्यो को इतना प्रिय

था कि उनके देवी देवता हमेश रथ में विशेष कर सुवर्ण-रथ में घूमा करते थे। वैदिक साहित्य में उपमा, रूपक आदि द्वारा वर्णन को प्रभावशाली बनाते समय रथ का भी उपयोग किया गया है, जिस पर से निष्कर्ष निकाला जा सकता है आर्यो की प्रगति में रथ का महत्वपूर्ण स्थान था। रथ के समान, घोड़े का भी आर्यो के जीवन में महत्त्वपूर्ण स्थान था। आर्यों ने घुड़दौड़ को अपने मनोरंजन का साधन बनाया था। प्रत्येक गाँव में घुड़दौड़, रथदौड़, आदि के लिए एक निश्चित स्थान (मैदान) रहता था, जहाँ उत्सवादि के अवसर पर घुड़दौड़, रथदौड़, आदि हुआ करती थी, तथा विजेताओं को पारितोषिक वितरित किये जाते थे। उक्त स्थान को काष्ठा (ऋग्वेद 8/80/8) या आजि (ऋग्वेद 4/24/8, 10/156/1) कहते थे, तथा अथर्ववेद (13/2/4: ''मा त्वा दभन् परियान्तमाजिम्।'') से ज्ञात होता है कि वह मैदान कदाचित् अर्धगोलाकार रहता था। ऋग्वेद में दर्शाया गया है कि वह मैदान बहुत चौड़ा (उर्वी) रहता था व उसे नापा जाता था। (ऋग्वेद 8/80/8)। परितोषिक (धन) दिये जाते थे व उन्हें प्राप्त करने की आकांक्षा बहुत लोग रखते थे (ऋग्वेद 1/81! 3; 1/116/15; 8/80/8)। विजय व पारितोषिक के लिए कार (ऋग्वेद 5/29/8; 9/14/5) व भर (ऋग्वेद 5/29/8; 9/16/5) शब्द भी प्रयुक्त किये जाते थे। रथदौड़ आदि का संचालक आजिकृत् (ऋग्वेद 8/53/6) या आजिपति (ऋग्वेद 8/53/6) कहलाता था। घुड़दौड़ के जो तेज घोड़े (वाजिन्, अत्य) रहते थे, उनकी खूब देखभाल की जाती थी (ऋग्वेद 2/34/3; 9/109/10; 10/68/11; वैदिक इन्डैक्स 1/54)। ऋग्वेद में घोड़े के लिए विभिन्न शब्द प्रयुक्त किये गये हैं, जेसे अत्य (दौड़ने वाला), अर्वन्त (तेज), वाजिन् (सशक्त), सप्ति (दौड़नेवाला), हय (तेज गति वाला) आदि।

ऋग्वेद में एक स्थान पर रथदौड़ के अवसर पर इन्द्र से प्रार्थना की गई है कि हे इन्द्र! हमारा रथ पीछे रह गया है, मेरे लिए उसे सब के आगे कर दो। अरे आप चुपचाप केसे बैठे है, हमारे रथ को प्रथम करो (ऋग्वेद 8/80/4-5)''पुन: आगे कहा गया है कि ''हमें विजयी बनाओ'' (ऋग्वेद 8/80/6: ''अस्मान्त्सु जिग्युषस्कृधि।।'') एक स्थान में अग्नि से प्रार्थना की गई है, जिसमें कहा गया है (ऋग्वेद 10/156/1) कि '' हे अग्नि! हमारी बुद्धि को प्रेरित करो, जिस प्रकार घुड़दौड़ के मैदान में तेज घोड़ों को प्रेरित करते हो, जिससे कि बड़े-बड़े पारितोषिक पाते हैं। ''उपरोक्त उद्धरणों से वैदिक आर्यों का रथदौड़ व घुड़दौड़ के प्रति अगाध प्रेम स्पष्ट होता है।

जुआ— वैदिक आर्य जुए के भी बड़े प्रेमी थे। ऋग्वेद में जुए को अक्ष कहा गया है, जिसका बार-बार उल्लेख आता है। ऋग्वेद में जुआरी को एक बड़े समुदाय का नेता कहा गया है (''सेनानीर्महतोगणस्य'' (ऋग्वेद 10/34/12)। वैदिक साहित्य में जुए के खेल से सम्बन्धित कितनी ही बातों का उल्लेख आता है। जुआरी अपना सबकुछ हार जाते थे, यहाँ तक कि अपनी पत्नी को भी हार जाते थे (ऋग्वेद 10/34/2)। अग्याधेय, राजसूय आदि के अवसर पर भी जुआ खेला जाता था (ए. सी दास-ऋग्वेदिक कल्चर, पृ. 228)। कृत, त्रेता, द्वापर, कलि आदि जुए के विभिन्न दावों के नाम थे, जिनका उल्लेख वैदिक साहित्य में आता है (ऋग्वेद 10/116/9; अथर्व, 8/114/1; तैत्तिरीय सं. 4/3/3/1, 2 शतपथ ब्रा. 5/4/41/6)।

मेले-तमाशे

वैदिक युग का समनोत्सव तत्कालीन जन-जीवन की कलाप्रियता और विनोद-मनोरंजन का पुष्ट प्रमाण प्रस्तुत करता है इसका उल्लेख ऋग्वेद (9, 75, 3; 2, 16, 7 प्र ते नावं न समने; 6, 60, 2; 7, 2, 5) अथर्ववेद (6, 92, 2) और वाजसनेयि संहिता (9, 9) में हुआ है। पिशेल के अनुसार यह एक ऐसा जन सामान्य उत्सव होता था जिसमें स्त्रियाँ सज्ज-धज कर आनन्द मनाने के लिए जाती थीं (ऋग्वेद 1, 124, 8; 9, 75, 4; 7, 2, 5) जहाँ कवि यश प्राप्त करने के लिए जाते थे (ऋग्वेद 2, 19, 7; 9, 97, 47) अश्वारोही दौड़ प्रतियोगिता का पुरस्कार लेने के लिए एकत्र होते थे (ऋग्वेद 9, 96, 9) और धनुर्धर धनुविद्या का पुरस्कार प्राप्त करने के लिए जाते थे। यह उत्सव सूर्यास्त से लेकर प्रातः काल तक चलता था। (ऋग्वेद 1, 48, 6)। युवतियाँ और प्रोढ़ाएँ यहाँ पति प्राप्त करने की चेष्टा करती थीं (अथर्व 2, 36,1) जब कि नर्तकियाँ अवसर का लाभ उठाकर अर्थोपार्जन करती थीं (ऋग्वेद 4, 58, 8)।

इस सार्वजनिक उत्सव से तत्कालीन समाज की विभिन्न रूचियों एवं परम्पराओं का पता चलता है। पहली बात तो यह है कि आज की भाँति तब भी रात्रिकाल ही नृत्य-संगीत के लिए उपयुक्त समझा जाता था, जिससे यह उत्सव सांयकाल में ही आयोजित होता था।

इस उत्सव के अन्य अनेक अंग या पक्ष भी थे। वैदिक युग में संभवतः संगीत, नृत्य, घुड़दौड़, कवि गोष्ठियाँ, धनुर्विद्या आदि की राष्ट्रीय स्तर पर प्रतियोगिताएँ आयोजित होती थीं। उनमें विभिन्न कलाओं के पारखी लोगों की उपस्थिति में कुमारियाँ संगीत-नृत्य का प्रदर्शन करती थीं। इसी प्रकार युवक अपने कला-चातुर्य का प्रमाण देते थे। इस उत्सव के इन आयोजन-प्रयोजनों को दृष्टि में रखकर ऐसा प्रतीत होता है कि यह उत्सव कई दिनों तक चलता था।

आखेट— कृषि और पशुपालन वैदिक आर्यो की आजीविका के मुख्य साधन थे। यद्यपि मनुष्य अपने आदिम जीवन में ही मांसाहारी था, फिर भी वेदों तथा वैदिक साहित्य में कहीं भी आखेट, आजीविका का साधन नहीं माना है। वैदिक युग में आखेट बहुप्रचलित था और मनोरंजन, भोजन तथा पालतू पशुओं की रक्षा आदि अनेक उद्देश्यों से आखेट किया जाता था।

आखेट के लिए सामान्यतः वाण का प्रयोग होता था। पक्षियों को जालों (पाश, निधा, जाल) में पकड़ा जाता था। ऐसे शिकारियों को ऋग्वेद (8, 83, 4) में निधापति (बहेलिया) कहा गया है। हाथी आदि पशुओं को पकड़ने के लिए गड्ढ़े बनाये जाते थे (ऋग्वेद 10 36, 8)। आर्यो द्वारा सिंह के आखेट का ऋग्वेद (7, 18, 17) में उल्लेख हुआ है। सिंहों, को भी गड्ढ़ों में गिरा कर या घेर कर वध किया जाता था (ऋग्वेद 5, 15, 3; 5, 74, 4) शूकरों को दौड़ कर कुत्तों की सहायता से पकड़ा जाता था। (ऋग्वेद 10, 86, 4) महाभारत में आदि पर्व (अध्याय 69) में दुष्यन्त का शिकार के लिए वन जाने और विविध हिंसक वन जन्तुओं के वध का वर्णन है।

पशुओं के आखेट के अतिरिक्त वैदिक युग में मत्स्य पकड़ने का भी बहुत प्रचलन था। मछुवारे, दाना शौष्कल, बैन्द, केवर्त और मैनाल आदि क्रियाओं एवं जालों की सहायता से मछलियों को फँसाते थे (वाज सनेयी संहिता 30, 16)। मत्स्य मारना मछुओं की आजीविका का साधन था।

गाथा, संवाद आदि— वैदिक साहित्य में अनेकों स्थानों में गाथाओं का उल्लेख है। ब्राह्मण साहित्य में गद्यात्मक आख्यानों के बीच-बीच में पद्यात्मक गाथाएँ रहती थीं, जिनको गाया जाता था। ऐसा प्रतीत होता कि वे गाथा युक्त आख्यान सिद्धहस्त कथावाचकों द्वारा हाव-भाव के साथ सुनाये जाते थे तथा उनके अन्तर्गत गाथाएँ गाई जाती थीं जिनको सुनकर श्रोता मन्त्रमुग्ध हो जाते थे। धर्म्रप्राण वैदिक आर्यो के लिए प्राचीन राजाओं के जीवन से संबंधित आख्यान मनोरंजन के साधन थे।

इन्हीं आख्यानों में से रामायण और महाभारत की कथाओं का जन्म हुआ। ऋग्वेद में कितने ही संवाद सूक्तों का उल्लेख आता है, जिनका विवेचन कला के प्रकरण में किया गया है। कुछ विद्वानों का मत है कि यज्ञ के अवसर पर ऋत्विकों द्वारा संवादों का अभिनय किया जाता था। ये नाटकीय संवाद भी वैदिक युग में मनोरंजन के महत्वपूर्ण साधन थे। उन्हें प्राचीन भारतीय नाटकों के प्रारंभिक स्वरूप के समान भी माना गया है। इस प्रकार वैदिक आर्यो के लिए नाटकीय संवाद भी मनोरंजन के महत्वपूर्ण साधन थे।

III. सामाजिक जीवन

निसर्गसिद्ध संस्कार— मानव-जीवन के आलोचनात्मक अध्ययन से पता चलता है कि मनुष्य में ईश्वर प्रदत्त या निसर्गसिद्ध कुछ संस्कार रहते हैं, जिनके द्वारा उनके जीवन का विकास प्रारम्भ होता है। ये ही संस्कार समस्त सामाजिक विकास की जड़ में है। आत्म-रक्षा, एकत्रित हो समुदाय बनकर रहना, युग्मभावना, यौन संस्कार, मनोविकारादि से सम्बन्धित संस्कार आदि नैसर्गिक तत्व मानव जीवन के इतिहास में विशेष स्थान रखते हैं। यदि वेदकालीन सामाजिक जीवन का विश्लेषण किया जाय तो स्पष्ट होगा कि उसके अन्तर्गत उपरोक्त संस्कारों की क्रियाएँ एवं प्रक्रियाएँ वर्तमान है। वेदकालीन समाज ने उन्हीं संस्कारों को अपने सांस्कृतिक विकास के आधार-स्तम्भ बनाया था। वेदकालीन समाज पर यदि आलोचनात्मक दृष्टि से विचार किया जाय तो ज्ञात होगा कि तत्कालीन सामाजिक जीवन में आर्य-अनार्य, व्यष्टि-समष्टि तथा ऐहिकता-पारलौकिकता के मध्य सुन्दर समन्वय स्थापित किया गया था।

इतिहास के विद्वानों का साधारणतया यह मन्तव्य है कि वेदकालीन समाज आर्यो की विभिन्न जातियों का बना हुआ था जो परस्पर लड़ा करती थीं। इस समाज में धीरे-धीरे अनार्य दस्यु, दास, शूद्र आदि भी सम्मिलित किये गये थे जिसके परिणाम-स्वरूप आर्य व अनार्य के मध्य सामंजस्य स्थापित होने लगा इसी सामंजस्य ने वर्णव्यवस्था को जन्म दिया। इस युग के समाज ने मनुष्य के आन्तरिक व वाह्य दोनों जगतों का सुंदर विश्लेषणात्मक अध्ययन किया था। उसके मन, बुद्धि, आत्मा आदि को समझ उसके व्यक्तित्व का अध्ययन किया गया था। इसी व्यक्तित्व के विकास के लिए आश्रम-व्यवस्था का विकास हुआ था। आश्रम व वर्णव्यवस्था द्वारा व्यक्ति तथा समष्टि का सुन्दर समन्वय स्थापित होता है। इसके अतिरिक्त वेदकालीन समाज में जीवन का विकास आध्यात्मिकता से प्रभावित था। जीवन का उद्देश्य न तो भौतिकता से परिपूर्ण था और न विशुद्ध आध्यात्मिकता से ही। तत्कालीन समाज ने भौतिकता का आध्यात्मिकता के मध्य या ऐहिकता व पारलौकिकता के मध्य सुन्दर सामंजस्य स्थापित किया था। वेदकालीन आर्य जहाँ धन, धान्य, पुत्रपौत्रादि से परिपूर्ण जीवन का आनन्द उठाना चाहते थे, वहाँ ''भूरि श्रृंग'' गायों ''मध्व उत्स'' वाले विष्णुलोक में भी पहुँचना चाहते थे, साथ कि ''हिरण्यगर्भ'' 'पुरुष''

"सत्" "असत्" "तमस्" आदि के गूढ़ रहस्यों का विवेचन कर आध्यात्मिकता के वातावरण का भी निर्माण करते थे। इस प्रकार वेदकालीन समाज ने सर्वतोमुखी प्रगति प्रारम्भ कर दी थी तथा धर्म अर्थ काम मोक्ष आदि की प्राप्ति जीवन का ध्येय बनाया था।

वेदकालीन सामाजिक व्यवस्था पर यदि आलोचनात्मक दृष्टि से विचार किया जाय तो स्पष्ट होगा कि उसके पाँच आधार-स्तम्भ थे यथा पारिवारिक जीवन, तीन ऋण, वर्णव्यवस्था, आश्रम व्यवस्था तथा वर्ग चतुष्टय। समाज का समग्र जीवन इन्हीं आधार-स्तम्भों पर आश्रित था, जिनसे उसे कितनी ही शताब्दियों तक जीवनशक्ति प्राप्त होती रही। विश्व के अन्य किसी मानव-समाज ने इस प्रकार की सामाजिक व्यवस्था का विकास नहीं किया था।

(1.) **पारिवारिक जीवन**— वेदकालीन समाज पितृपक्ष-प्रधान था, परिवार में पिता का स्थान सर्वोच्च था, और परिवार के अन्य सदस्यों को उस के आश्रय में रहना पड़ता था और उसकी आज्ञा शिरोधार्य करनी पड़ती थी।

माता-पिता का अपनी सन्तान पर पूरा अधिकार रहता था, जैसा कि शुनःशेप के यूपस्तम्भ से बाँधे जाने के उल्लेख से सिद्ध होता है। (ऋग्वेद 1, 24, 12-15; 5, 2, 7)। पिता परिवार में दृढ़ अनुशासन रखता था और अपराधियों को दण्डित भी करता था, जिस प्रकार ऋजाश्व को उसके पिता ने अन्धा बना दिया था (ऋग्वेद 1, 116, 16)। ऐतरेय ब्राह्मण (7, 12-18) में शुनःशेप की कथा वर्णित है जिसमें बताया गया है कि आजीगर्ति मुनि ने अपने पुत्र शुनः शेप को रोहित के हाथ बेच दिया था। इसी प्रकार ऋग्वेद 10, 34, 4 में एक जुआरी का उल्लेख आता है जिसके माता-पिता उससे अपना संबंध विच्छेद करते हैं और कर्जदार को उसे बाँधकर ले जाने के लिए कहते हैं। इन उदाहरणों से सिद्ध होता है कि पुत्रों पर पिता द्वारा नियन्त्रण रहता था।

(क) **पारिवारिक जीवन में पितृ प्रभुत्व की सीमाएँ**— यह धारणा प्रायः प्रचलित है कि पूर्व वैदिक समाज पितृसत्तामक था, और सन्तान पर पिता के प्रभाव एवं अधिकार के पर्याप्त संकेत मिलते हैं, तथापि पत्नी के ऊपर पति की प्रभुता को सिद्ध करने के लिए बहुधा ऋग्वेद के 10, 34 को प्रमाण रूप में प्रस्तुत किया जाता है और यह प्रामाणिक निष्कर्ष निकाला जाता है कि पति अपनी पत्नी को द्यूत में दाँव पर लगा सकता था (अल्टेकर पोजिशन ऑफ वीमेन पृ. 213)। परन्तु इस सूक्त में जुआरी द्वारा पत्नी को दाँव पर लगाने का कोई स्पष्ट उल्लेख नहीं है। उसमें सिर्फ इतना ही कहा गया है कि अन्य पुरुष पत्नी का स्पर्श करते हैं ऋग्वेद 10, 34, 4 अन्ये जाया परिमृशन्ति' किन्तु इसका कारण उसकी आर्थिक हीनता एवं आरक्षित स्थिति भी मानी जा सकती है।

ऋग्वेद में दम्पती शब्द का अनेकश : प्रयोग परिवार में पति-पत्नी के सामूहिक स्वामित्व का सूचक है इसी प्रकार गृहपति ऋग्वेद 6, 53, 2 और गृहपत्नी ऋग्वेद 10, 85, 26 शब्दों का उल्लेख भी दोनों की समान स्थिति का संकेत करता है। ऋग्वेद 10, 85, 46 में वधू को परिवार के एक महत्वपूर्ण पुरुष सदस्य देवर पर शासन करने आर्शीवाद दिया गया है।

ऐसी स्थिति में समाज में पुरुष की प्रधानता, पिता की निरंकुश सत्ता (वैदिक इण्डेक्स 1, 5, 26) में एवं पुरुष की तुलना में स्त्री की स्थिति चल संपति की तरह होना (अल्टेकर, पोजीशन ऑफ

वीमेन पृ. 213) ये सभी कल्पनाएँ निराधार प्रतीत होती हैं। वैदिक संस्कृत हमें आदर्श, आनन्दमय, सुखी पारिवारिक जीवन का दिव्य संदेश देती है। परिवार ही व्यक्ति, समाज और राष्ट्र का आधार है। उसकी सुव्यवस्था शान्ति और उन्नति पर ही पारिवारिक जीवन, पारस्परिक आत्मीयता और कर्तव्य निष्ठा आधारित था। उसमें पारस्पारिक हित-चिंता और सब के लिए कर्म करते रहने की उदार भावना विद्यमान थी। पिता पुत्र, पौत्र, पितामह, पत्नी और माता तथा अन्य पारिवारिक सम्बन्धियों के प्रति सादर स्नेह प्रेमभाव का बाहुल्य था (अथर्ववेद 9, 5, 30)।

ऐसा प्रतीत होता है कि वैदिक युग में परिवार से लेकर समाज तक लोग छोटे बड़े संगठनों में बँधे हुए व्यवस्थित जीवन व्यतीत कर रहे थे। उस समय कुल के गठन का बड़ा महत्वपूर्ण स्थान था। सामाजिक संगठन की मूलभूत इकाई को तब 'कुल' के नाम से कहा जाता था। पिता का ज्येष्ठ भ्राता जो कुल का श्रेष्ठ या स्वामी हुआ करता था, 'कुलय' कहा जाता था। (ऋग्वेद 10, 17, 2) 'कुलय' के अनुशासन में अनेक यक्ति एक ही परिवार में सुखपूर्वक जीवन व्यतीत करते थे (ऋग्वेद 2, 4, 3) जाति और कुल अर्थात् समाज और परिवार में विशेष अन्तर नहीं था।

परिवार का मुखिया (कुलय) सोचता था कि परिवार के लोग प्रेमभाव से रहें और दूसरे के प्रति भी प्रेम का व्यवहार करें (अथर्व 19, 82,1; यजुर्वेद 18, 48)। इस उदार शुभैषी तथा स्नेह प्रेम की भावना के बीच वैदिक युग के पारिवारिक जीवन का विकास हुआ।

(ख) **गार्हपत्याग्नि**— गार्हपत्याग्नि पारिवारिक जीवन का केन्द्र बिन्दु थी। उसे गार्हपत्याग्नि इसलिए कहा जाता था कि इसका संरक्षण घर के मुखिया गृहपति द्वारा किया जाता था। परिवार के सुख दुःख की साक्षी यही अग्नि रहती थी। पारिवारिक जीवन के सातत्य का एक महान् प्रतीक उस अग्नि में प्रतिबिम्बित होता था, जिसमें परिवार का धार्मिक जीवन केन्द्रित रहता था। पारिवारिक जीवन पूर्ण तथा धार्मिक रहता था। प्रतिदिवस परिवार में पचंमहायज्ञादि धार्मिक कृत्य तथा अन्य नैमित्तिक कर्म किये जाते थे, जिनका सम्पादन उसी अग्नि में किया जाता था। अग्निपरिचर्या गृहपति व गृहिणी का पुनीत कर्तव्य समझा जाता था। इसी अग्नि के सामने उपनयन, विवाह आदि संस्कार सम्पादित किये जाते थे, जिनका वेदकालीन पारिवारिक जीवन में बड़ा महत्व था। इस प्रकार पारिवारिक जीवन में गार्हपत्याग्नि अत्यन्त ही महत्वपूर्ण थी।

(ग) **कर्तव्य-पंचमहायज्ञ**— वैदिक साहित्य के आलोचनात्मक अध्ययन से हमें तत्कालीन पारिवारिक जीवन के कर्तव्यों के बारे में भी बहुत कुछ बातें होती हैं। यद्यपि उन कर्तव्यों का व्यवस्थित रूप गृह्यादि सूत्रों तथा मन्वादि स्मृतियों से प्राप्त होता है किन्तु वैदिक काल में भी उसका अस्तित्व था व उन्हें महत्वपूर्ण माना जाता था इस सम्बन्ध में शंका के लिए कोई स्थान नहीं रहता। उन दैनिक कर्तव्यों में पंचमहायज्ञ का स्थान महत्वपूर्ण था। प्रत्येक गृहस्थ को ब्रह्मयज्ञ, पितृयज्ञ, देवयज्ञ, भूतयज्ञ व नृयज्ञ (अतिथि यज्ञ) करने पड़ते थे। ब्रह्मयज्ञ से वेदाध्ययन का तात्पर्य था। ब्रह्मचर्यश्रम के पश्चात् भी गृहस्थाश्रम में वेदों का स्वाध्याय तो नियमित रूप से करना ही पड़ता था। पितृयज्ञ में तर्पण द्वारा मृत पितरों को तृप्त किया जाता था। देवयज्ञ में सांय-प्रातः अग्निहोत्र द्वारा विभिन्न देवताओं को आहुतियाँ प्रदान की जाती थीं। भूतयज्ञ में पाकशाला की अग्नि में भोजन का अंश डाला जाता था तथा कुत्ते, पतित, पापी,

वायस,कृति आदि के लिए भी भोजन का कुछ अंश भूमि पर रख दिया जाता था। नृयज्ञ या अतिथियज्ञ में भोजन आदि द्वारा किसी अभ्यागत का आदर -सत्कार किया जाता था।

इन पांचों यज्ञों पर यदि आलोचनात्मक दृष्टि से विचार किया जाए तो स्पष्ट होगा कि प्राचीन भारतीय पारिवारिक जीवन में विभिन्न तत्वों का सामंजस्य उपस्थित किया गया था। वेदाध्ययन द्वारा, बुद्धि तथा आत्मा का विकास, पितृयज्ञ द्वारा मृत पितरों की स्मृति का नवीनीकरण, देवयज्ञ द्वारा धार्मिक प्रवृत्तियों को प्रोत्साहन, भूतयज्ञ द्वारा जीवमात्र के प्रति दया का भाव तथा अतिथियज्ञ के द्वारा नागरिकता के भाव की परिपुष्टि आदि के द्वारा प्रत्येक परिवार अपने जीवन के विभिन्न अंगों को परिपुष्ट करके विकसित करता था।

(घ) **यम-नियम**— मानव जीवन को नियंत्रित करने के लिए प्राचीन भारत में नैतिकतापूर्ण नियमों का विकास किया गया था तथा उन्हें दैवी स्वरूप भी प्रदान किया गया था। ऋग्वेद में वरुण के ऋत (7/56/12) का स्थान-स्थान पर उल्लेख आता है जिसका पालन प्रत्येक मनुष्य के लिए आवश्यकीय था। वरुण के व्रतों का भी यत्र-तत्र उल्लेख है। वरुण संबंधी मन्त्र पूर्णतया नैतिकतापूर्ण हैं (1/25/1-2; 6, 3.1,1/24/10- 15)। यों तो जहाँ कहीं भी देवताओं की स्तुति व प्रार्थना की गई है, वातावरण नैतिकतापूर्ण ही है। इसी वातावरण में यम-नियम के सिद्धान्त का विकास हुआ। यद्यपि इस सिद्धान्त का प्रत्यक्ष उल्लेख सूत्र स्मृत्यादि में प्राप्त होता है तथा उसके मूल सिद्धान्तों का अस्तित्व वैदिक काल से ही था। प्रत्येक को ब्रह्मचर्य, दया, क्षमा, ध्यान, सत्य, नम्रता, अहिंसा, अस्तेय, माधुर्य, व इन्द्रियदमन आदि दस यमों का तथा स्नान, मौन, उपवास, यज्ञ, स्वाध्याय, इन्द्रियनिग्रह, गुरुसेवा, शौच, अप्रमाद, अक्रोध आदि दस नियमों का सेवन करना पड़ता था। इसमें यम का पालन अनिवार्य था, किन्तु नियमों का पालन परिस्थितियों पर आश्रित रहता था। ये यम-नियम मानव-ज़ीवन को नियंत्रित करने में असमर्थ होते थे जिससे कि वह उन्मार्ग में प्रवृत्त नहीं होता था।

उपरोक्त वर्णन से सिद्ध होता है कि वेदकालीन पारिवारिक जीवन नैतिकतापूर्ण धार्मिकता के सिद्धान्त पर आश्रित था। जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में प्रभाव स्पटतया दृष्टिगोचर होता था। यज्ञसम्बन्धी कर्मकाण्ड, विविध संस्कार आदि का तत्कालीन पारिवारिक जीवन में विशेष स्थान था।

(ड) **रिवाज**— गृह्यसूत्रों में शिष्टाचार के अनेक नियम बताये गये हैं। अतिथि का कभी किसी भी परिस्थिति में सत्कार होता था। गुरु, राजा और श्वसुर का अत्यधिक सम्मान होता था। नंगे होकर स्नान करना और अनावश्यक दौड़ना वर्जित था।

बड़ों का आदर, आत्मसंयम, नैतिक शुद्धता, सभी प्रकार के परहेज, और विश्वसीयता ये आर्यो के गुण माने जाते थे। सफाई न केवल आदत थी, परन्तु एक मनोविकार समझा जाता था। नित्य स्नान, बार-बार हाथ और पैरों को धोना, वैदिक मन्त्रों के साथ वायु मण्डल को शुद्ध करना ये धर्मविधि के भाग थे। प्रातःकाल उठने को बढ़ावा दिया जाता था। 'करना' 'नहीं करना' वर्णित थे। इस प्रकार बहुत सी आदतें संस्कार के रूप में समझी जाती थीं।

प्रत्येक परिवार में उपरोक्त शिष्टाचार का पालन किया जाता था।

(च) **नैतिकता**— वैदिक स्तोत्र नैतिकता की प्रशंसा करते हैं। वैदिक स्तोत्रों में जरूरतमन्द की सहायता

नहीं करने वाले व्यक्तियों की निन्दा और गरीबों को दान करने वाले की प्रशंसा की गई है। अतिथियों का खुले दिन से सत्कार होता था। देवताओं से प्रार्थना की जाती थी कि चोर, डकैत, झूठे, जादूगरी डाइन, प्रलोभन और व्यभिचारी का विनाश करें। दूसरी तरफ चारण बड़ी भक्ति से अग्नि देवता के पास पवित्र विचार पाने के लिए प्रार्थना करते थे। अपने पापों का बन्धन खोल देने के लिए वरुण देवता के पास प्रार्थना करते थे जिससे विना कलंक अदिति के सामने खड़ा हो सकें।

डा. R.C. Majumdar, Early Aryan Society p. 50 के अनुसार वैदिक युग में नैतिकता और सदाचार के अनेक रूप देखने को मिलते हैं ऋग्वेद 10, 5, 6 के एक मंत्र में ब्रह्महत्या, मदिरापान, चोरी, गुरुपत्नी गमन, और पापाचार का सर्वथा निषेध किया गया है। ऋग्वेद के 7, 86, 6 इस मन्त्र में प्रार्थना करते समय कहा गया है कि है वरुणदेव! यह पापाचरण मेरा संकल्प नहीं था मदिरा क्रोध आदि व्यवसनों का सेवन विचारहीनता है। आज्ञा पालन सदाचार का श्रेष्ठ गुण माना गया है। इसी उद्देश्य से ऋग्वेद 1, 68, 5 में लिखा गया है कि जिस प्रकार पुत्र, पिता की आज्ञा का पालन करता है उसी प्रकार यजमान अग्नि का आदेश मानता है। अन्य मन्त्र 4, 25, 5 में कहा गया है—"हे अग्नि! मुझे ऐसा पुत्र प्राप्त हो, जो सत्य का पालन करने वाला, शत्रुओं पर विजय प्राप्त करने वाला हो। यजुर्वेद 1, 5 में कहा गया है कि मैं असत्य अनाचार से पृथक रहकर सदाचार की ओर प्रवृत्त रहूँ। इसी प्रकार एक अन्य मन्त्र 6,45, 1 में पाप को दूर भाग जाने के लिए कहा गया है। सत्य जो कि चरित्र का श्रेष्ठतम गुण है, उसके परिपालन से स्वर्ग प्राप्त किये जाने का ताण्ड्य ब्राह्मण (18, 2, 19) में उल्लेख हुआ है। सूर्य और चन्द्र को आदर्श मानकर आर्य लोक कल्याणकारी सत्पथ पर चलने की कामना करते हुए दिखायी देते हैं। (ऋग्वेद 5, 51 15)।

ऋग्वेद के एक अन्य मन्त्र 10, 20, 1 में कहा गया है कि भगवन् हमें ऐसी प्रेरणा दें जिससे हमारा मन कल्याण मार्ग का अनुगमन करे।

संयम और मर्यादा को भारतीय आचार का मूल बताया गया है। इस उच्चादर्श की व्यवस्था भी वेदों में देखने को मिलती है। वैदिक युग में मर्यादा को चरित्र का विशेष गुण माना जाता था। ऋग्वेद 10, 5, 6 में सात प्रकार की अमर्यादा का उल्लेख किया गया है। 1. हिंसा, 2. चोरी, 3. व्यभिचार 4, जुआ, 5, मद्यपान, 6. असत्यभाषण, 7. इन पापों को करने वाले पापियों का साथ। वैदिक परम में नैतिकता तथा संयम के अर्जन के लिए दुर्गुणों को दूर करने का बार-बार निर्देश किया गया है जीवन की प्रगति के बाधक जो मद, लोभ, काम, नामक छः शत्रु उनके संबंध में ऋग्वेद 7/104/22 के एक सन्दर्भ में कहा गया है कि गरुड़ के समान मद, गीध के समान लोभ, गौरेया के समान काम, कुत्ते के समान मत्सर, उल्लू के समान मोह, और भेड़िया के समान क्रोध को भगा देना चाहिये। इन षट्रिपुओं पर विजय पाना ही संयम है।

(2.) तीन ऋण— वैदिक युग में समाज के प्रत्येक नागरिक के मन पर पहिले ही से ये भाव अंकित कर दिये जाते थे कि पैदा होते ही उस पर कितना ही उत्तरदायित्व आ जाता है; वह स्वतंत्र व निःशृंखल नहीं है। उसे अपने जीवन में तीन ऋण चुकाने पड़ते थे, पितृऋण,. ऋषिऋण व देवऋण। पितृऋण पारिवारिक जीवन से सम्बन्धित था तथा ऋषिऋण व देवऋण का सम्बन्ध सामाजिक एवं धार्मिक जीवन

से था। ये दोनों पारिवारिक जीवन व सामाजिक जीवन को जोड़ने वाले पुल के समान थे। यद्यपि इन तीनों ऋणों का प्रत्यक्ष उल्लेख ऋग्वेद में नही है, तथापि यदि तत्कालीन पारिवारिक जीवन, शैक्षणिक व्यवस्था, धार्मिक जीवन आदि का आलोचनात्मक दृष्टि से विचार किया जाए तो स्पष्ट होगा कि ऋणत्रय के अन्तर्निहित भाव तत्कालीन समाज में वर्तमान थे। इस पर से यह कहा जा सकता है कि यद्यपि ऋणत्रय का स्पष्ट उल्लेख ऋग्वेद में नहीं है तथापि उसकी भावना व उसका सिद्धान्त तत्कालीन समाज में वर्तमान था। ऋणत्रय का स्पष्ट उल्लेख तैत्तिरीय संहिता (6/3/10/5) में आता है, जहाँ कहा गया है कि "ब्राह्मण उत्पन्न होते ही तीन प्रकार के ऋणों से ऋणवान् होता है, ब्रह्मचर्य से ऋषियों के प्रति, यज्ञ से देवताओं के प्रति व प्रजा से पितरों के प्रति जो पुत्रवान् और यज्ञ करनेवाला होता है तथा ब्रह्मचर्याश्रमम में प्रवेश करता है वह ऋणमुक्त हो जाता है।" तैत्तिरीय संहिता के इन शब्दों में ऋषि-ऋण, देवऋण तथा पितृऋण का महत्व एवं उनसे उन्मुक्त होने की विधि स्पष्टतया समझाई गई है। ब्रह्मचर्य्या। श्रम में वेदाध्ययन विद्यादि प्राप्ति द्वारा ऋषिऋण, यज्ञों द्वारा देवऋण तथा सन्तानोपत्ति द्वारा पितृऋण चुकाया जा सकता है। मन्वादि (मनुस्मृति, 4 /247, 6/35-36) स्मृतियों में भी इस सिद्धान्त का सुन्दर विवेचन किया गया है। प्राचीन भारत के सामाजिक जीवन के विकास में तीनों ऋणों का महत्वपूर्ण स्थान रहा है।

पितृऋण— पितृऋण का अर्थ होता है पुत्र के ऊपर पिता का ऋण। माता-पिता अपने पुत्र के लिए कितना ही कष्ट उठाते तथा त्याग करते हैं। इसलिए प्रत्येक, व्यक्ति पर माता-पिता का बड़ा भारी ऋण रहता है, जिसको चुकाना उसका परम कर्तव्य हो जाता है। इसी भावना के आधार पर पितृऋण का सिद्धान्त वेदकालीन समाज में वर्तमान था। वैदिक साहित्य में कहा गया है कि सन्तानोत्पत्ति द्वारा इस ऋण को चुकाया जा सकता है। समाज के भविष्य से सन्तानोत्पत्ति का कितना घनिष्ट सम्बन्ध है, यह तो स्पष्ट ही है। प्राचीन काल में अच्छी सन्तान उत्पन्न करना पवित्र कर्तव्य समझा जाता था। वैदिक ऋषि देवताओं से प्रार्थना किया करते थे कि उन्हें अच्छी सन्तान प्राप्त होवे व वह चिरंजीवी तथा समृद्धिशाली बने (ऋग्वेद 7/1/11, 12, 19, 24, 8/1/13)। आदर्श पुत्र वह समझा जाता था जो देवताओं का भक्त रहता था तथा प्रार्थना द्वारा उनको प्रसन्न कर सकता था, तथा जो बुद्धिशाली, शत्रुहन्ता तथा विद्वान् रहता था। (ऋग्वेद 10/47/3)। अत्रिपुत्र द्युम्न ने एक ऐसे पुत्र की प्राप्ति के लिए प्रार्थना की थी जो शत्रुओं को युद्ध में हरा सके (ऋग्वेद 5/23/1-2 : ए. सी. दास-ऋग्वेदिक कल्चर पृ. 241)। एक अन्य ऋषि ने सशक्त, आह्लादक, यज्ञकर्ता, दानदाता, व शत्रुओं के विजेता पुत्र की प्राप्ति के लिए प्रार्थना की थी (ऋग्वेद 5/33/1)। इन उल्लेखों से स्पष्ट हो जाता है कि वैदिक युग में पुत्रों को विद्वान्, धार्मिक, स्वावलम्बी, वीर व युद्धकलारत बनाया जाता था। इस प्रकार माता-पिता अपनी सन्तान को सुयोग्य बनाने में कोई कसर बाकी नहीं रखते थे। यही पितृऋण का तात्पर्य है। धार्मिक व पारलौकिक दृष्टि से मृत पितरों के लिए श्राद्ध आदि की क्रिया सम्पादित करने के लिए पुत्र अत्यन्त ही आवश्यकीय समझा जाता था। इस दृष्टि से भी सन्तानोत्पत्ति एक आवश्यकीय कृत्य समझा जाता था, क्योंकि सन्तान के अभाव में मृत पितरों के लिए पिण्डदान, श्राद्धकर्म इत्यादि असंभव था। इस प्रकार पितृऋण के कारण समाज का वातावरण पवित्र रहता था, तथा प्रत्येक व्यक्ति अपने उत्तरदायित्व को समझाता था।

ऋषिऋण

वैदिक साहित्य व प्राचीन आचार्यों के मतानुसार ऋषिऋण, ब्रह्मचर्य्याश्रम के पश्चात् भी वेदादि विद्याओं के अध्ययन द्वारा चुकाया जाता था। गुरुकुलों में आचार्य ब्रह्मचारियों को अपने आजीवन योग व तप का फल विद्या के रूप में देते थे। प्राचीन काल में विद्यार्थी, जो केवल विद्यार्थी ही नहीं बल्कि ब्रह्मचारी भी था, गुरु के कुल का सदस्य बन जाता था, वह गुरु जो किसी गूढ़ तत्व के शोध के कारण (यास्क-निरुक्त 1/20) कहलाता था। समाज का प्रत्येक बालक गुरुकुल के आचार्य के चरणों में बैठकर वेदाध्ययन द्वारा ज्ञानोपार्जन कर ब्रह्मप्राप्ति के मार्ग में अग्रसर होता था। संस्कार की किसी दौलत को कुछ भी न समझने वाले व अपने विद्यार्थियों से कोई स्वार्थ-साधन न करने वाले, निरीह व निर्लेप ऋषि, शिष्यों के लिए अपना सब कुछ न्यौछावर कर देते थे। ऐसी परिस्थिति में उन शिष्यों पर उनका कितना जबरदस्त ऋण हो जाता था, यह स्पष्ट ही है। इसीको प्राचीन आचार्यो ने ऋषिऋण कहा है व इसे चुकाना प्रत्येक का परम कर्तव्य माना गया है। यह ऋण स्वाध्याय द्वारा चुकाया जाता था। वेदाध्ययन व ज्ञानोपार्जन के काम में लोगों के लीन रहने से समाज में ज्ञान की ज्योति हमेशा जगमगाती रहती थी। गुरुकुल से निकलने के पश्चात् जब स्नातक गृहस्थाश्रम में प्रवेश करता था, तब वह इस बात को नहीं भूलता था कि उसे अपने ऋण को चुकाना है। वह इस ऋण को कुछ द्रव्य देकर नहीं किन्तु अपने अध्ययन को जारी रख कर तथा अपने व दूसरे की ज्ञानवृद्धि के साधनों को बढ़ाने में सहायता बन कर चुकाता था। इस प्रकार प्रत्येक गृहस्थ न केवल स्वत: ही वेदाध्यायन द्वारा ज्ञान वृद्धि करता था, किन्तु गुरुकुलों को हर प्रकार की सहायता भी देता था, जिससे ज्ञानपिपासा की तृप्ति के ये केन्द्र सूखने न पाये। ऋषिऋण के सिद्धान्त के कारण समाज की शैक्षणिक संस्थाएँ न केवल जीवित-जागृत ही रहती थीं, किन्तु उत्तरोत्तर वृद्धि व उन्नति भी करती थीं। प्रत्येक परिवार ज्ञान व बुद्धि के विकास का एक विशेष केन्द्र बन जाता था, जिससे सम्पूर्ण समाज पूर्णरूप से विकसित होकर उन्नत अवस्था को प्राप्त हो सकता था। प्राचीन भारत की ज्ञानवृद्धि का रहस्य इसी में छिपा है।

देवऋण

प्राचीन आचार्य्यों के मतानुसार यज्ञादि द्वारा देवऋण को चुकाया जा सकता है। वैदिक आर्य्यो के जीवन में यज्ञों का अत्यन्त ही महत्वपूर्ण स्थान था। वे दैनिक, पाक्षिक, मासिक, विभिन्न ऋतुओं से सम्बन्धित व वार्षिक एवं जीवन की विशेष घटनाओं पर भी यज्ञ करते थे। विवाह, गर्भाधान, जातकर्म, चूड़ाकर्म, यज्ञोपवीत आदि संस्कार यज्ञकर्म के अन्तर्गत आ जाते थे। इस प्रकार वैदिक आर्यों का जीवन यज्ञमय था व प्रत्येक के लिए यज्ञ करना आवश्यकीय था।

यज्ञ का विकास त्याग की भावना से होता है। वैदिक युग में विभिन्न देवताओं को परमात्मा की शक्ति के प्रतीक माना गया था। इन्द्र, वरुण, अग्नि, सूर्य, वायु आदि प्राकृतिक देवताओं का मानव जाति पर बड़ा उपकार था, एक प्रकार से मानव जाति उनकी ऋणी थी, ऐसी मान्यता वेदकालीन समाज में वर्तमान थी। उन देवताओं के ऋण को चुकाना प्रत्येक गृहस्थी का कर्तव्य था। यह देवऋण अग्नि में घी, दूध, धान्य, पुरोडाश तथा सुगन्धित द्रव्य आदि डालकर सांय— प्रात: अग्निहोत्र करके चुकाया जाता था। प्रत्येक गृहस्थ के लिए सायं-प्रात: अग्निहोत्र अनिवार्य था।

देवऋण पर अन्य दृष्टिकोण से विचार किया जा सकता है। वेदों में परमात्मा की विभिन्न शक्तियों को "देव" नाम से सबोधित किया गया है (ऋग्वेद 4/22/3; अथर्ववेद 3/15/5; तैत्तिरीय संहिता 3/5/4/1), क्योंकि उनका देदीप्यमान प्रकाश चहुँओर दिखाई देता है। "देव" शब्द, "दिव" धातु से बनता है जिसका अर्थ "चमकना" होता है। इसलिए "देव" शब्द का अर्थ "चमकने वाला," "प्रकाश युक्त," "देदीप्यमान" आदि हुआ। "देव" शब्द से जिस प्रकाश का तात्पर्य है, वह कदाचित् कोई कृत्रिम प्रकाश नहीं है, किन्तु आत्मिक प्रकाश है। जिसकी आत्मा अधिक परिष्कृत है उसके मुख पर एक प्रकार का दिव्य तेज दृष्टिगोचर होता है। इसलिए "देव' शब्द से उन महापुरुषों का तात्पर्य्य भी लिया जा सकता है, जो अत्मिक विकास के मार्ग में बहुत आगे बढ़ गये हैं व जिन्हें आत्म-साक्षात्कार हो चुका है। ये महान् आत्माएँ उन्मार्गगामी मानव- समाज को पुनः सन्मार्ग पर लाने के लिए ही भूमण्डल पर अवतरित होती हैं। उनका समाज पर कितना जबरदस्त ऋण रहता है यह तो प्रत्येक विचारशील व्यक्ति समझ सकता है। इसलिए उन महात्माओं के आदेशों पर चल कर, उनके ऋण से उन्मुक्त होना समाज के प्रत्येक सदस्य का कर्तव्य हो जाता है। सामाजिक विकास के लिए देवत्व का यह भाव अत्यन्त ही आवश्यकीय है।

पितृऋण, ऋषिऋण व देवऋण के सिद्धान्त के द्वारा वेदकालीन समाज में अनुशासन व नियमबद्धता द्वारा सच्चे नागरिकता के भाव को जागृत किया जाता था। समाज का व्यक्ति उच्छृंखल न बनने पावे, इसलिए प्रारंभ से ही उसे अपने कर्तव्यों व उत्तरदायित्व का बोध कराया जाता था जिनके निर्वाह में वह अपना जीवन व्यतीत करता था। तीनों ऋणों में जीवन के विभिन्न अंगों से सम्बन्धित कर्तव्यों का समावेश होता है। अतएव उन तीनों ऋणों से उन्मुक्त होने के कार्य में सम्पूर्ण जीवन का विकास हो जाता था; इस प्रकार मानव-समाज भौतिक, मानसिक व आध्यात्मिक उन्नति में अग्रसर हो जाता था। यही कारण है कि वेदकालीन समाज सर्वांगीन सांस्कृतिक विकास के मार्ग में अग्रसर हो सका।

(3.) वर्ण-व्यवस्था

वैदिक काल में आर्यों ने समाज को चार विभागों में विभाजित किया था। यह विभाजन साधारणतया अर्थशास्त्र के कार्य-विभाजन सिद्धान्त पर अवलम्बित था। ऋग्वेद (10/10/11-12) में इसका स्पष्टीकरण किया गया है। समस्त समाज को पुरुष का रूपक माना गया है व उसके भिन्न-भिन्न अंगों का वर्णन किया गया है। जिस प्रकार आधुनिक समाज-शास्त्र के ज्ञाता मानव-समाज को एक जीवित शरीर मानते हैं, उसी प्रकार ऋग्वेद में भी उक्त रूपक द्वारा समाज को एक जीवित पुरुष माना गया है। इस रूपक में यह भी ध्वनित होता है कि जिस प्रकार शरीर के सब अंग एक दूसरे से भली भाँति सम्बन्धित हैं, यदि एक अंग में कुछ पीड़ा हो जाए तो उसका अनुभव समस्त शरीर में होता है तथा शरीर भर में एक प्रकार की क्रान्ति मच जाती है, उसी प्रकार समाज में भी संगठन व जीवन-शक्ति रहनी चाहिये। यही जीवित समाज का लक्षण है। इस प्रकार यह स्पष्ट होता है कि संगठन व जागृति के भाव को व्यंजित करने के लिए ही पुरुष-सूक्त में समाज को पुरुष का रूपक दिया गया है। उस पुरुष के विभिन्न अंगों का वर्णन इस प्रकार है— "उरु (समाज रूपी पुरुष) का मुख ब्राह्मण था, उसकी भुजाएँ क्षत्रिय बनाई गई। जो उसकी जघाएँ थीं वे ही वैश्य बनीं तथा उसके पैरों से शूद्र उत्पन्न हुए (ऋग्वेद 10/90/12: "ब्राह्मणोऽस्य मुखमासीद् बाहू राजन्यः कृतः। ऊरू तदस्य यद्वैश्यः पद्भ्यां शूद्रोऽजायत।।)"

यहाँ समाजरूपी पुरुष के चार अंग इस प्रकार बताये गये है— मुख-ब्राह्मण, भुजायें-क्षत्रिय, जंघायें-वैश्य, व पैर— शूद्र।

वर्णो के कर्तव्य

चारों वर्णो में ब्राह्मण को मुख्य इसलिए कहा गया है कि समाज में वह विद्या और ज्ञान की व्यवस्था करे। वैदिक युग में ब्राह्मण और विद्या का अभेध संबंध था। ब्रह्मविद्या में ब्राह्मणों की विशेष रुचि थी। धर्म, वेद और वेदांग उनके अनिवार्य अध्ययन के विषय थे। मनुष्मृति (4,147) और याज्ञल्क्य स्मृति (1, 168) में ब्राह्मणों के लिए वेदाध्ययन पर विशेष बल दिया गया है। तैत्तिरीय संहिता (2,1, 10,1) में लिखा गया है कि जो ब्राह्मण वेदाध्ययन नहीं करता है वह दुर्बाह्मण है। वेदाध्ययन के साथ ही वेदाध्यापन भी ब्राह्मण का कर्तव्य था। पिता और गुरु दोनों ज्ञानप्राप्ति के माध्यम थे। ब्राह्मण गुरु की अनुपस्थिति या अभाव में क्षत्रिय या वैश्य को गुरु बनाया जा सकता था, किन्तु ऐसी स्थिति में ब्राह्मण शिष्य से शारीरिक सेवा नहीं ली जाती थी।

वेदों और वैदिक साहित्य में सर्वत्र ब्राह्मण को पृथ्वी में रहने वाला देवता कहा गया है। यज्ञ उसका एक मात्र अस्त्र है (ऐ. ब्रा. 7, 16) ''शतपथ ब्राह्मण (11, 5, 7, 1) में ब्राह्मणों के विशेषाधिकारों का उल्लेख इस प्रकार दिया गया है :(1) अर्या, (2) दान, (3) आज्येयता (4) अवध्यता। उनके कर्तव्य हैं (1) आनुवंशिक पवित्रता, (2) अपने जातिगत कर्तव्यों के प्रति आस्था, (3) लोक में शिक्षा का प्रचार। ऋग्वेद (10, 34, 13), तैत्तिरीय संहिता (2, 5 5) और वाजसनेयी संहिता (12, 97) के अनुसार ब्राह्मण को कृषि कार्य करने की भी छूट थी, परन्तु बाद में धर्मसूत्रों ने उस पर रोक लगा दी।

ब्राह्मणों का जीवन सादगी और निर्धनता का था। उनको अपने निर्वाह मात्रा के लिए ही अन्न-धन संचय करने की अनुमति थी। वेदाध्ययन और पुरोहिती उनकी आजीविका के साधन थे। सुपात्र से दान प्रतिग्रह ग्रहण करना उनका अधिकार था। इन कर्तव्यों के अतिरिक्त यज्ञ करना, यज्ञ कराना मन तथा इन्द्रियों को वश में रखना पवित्र जीवन बिताना, सन्तोष करना, दूसरे को क्षमा करना, सरल बने रहना, ज्ञानी तथा दयावान होना, ईश्वर में विश्वास करनाऔर सदा सत्य बोलना ब्राह्मणों के अनिवार्य कर्तव्य थे।

क्षत्रिय को भुजा कहा गया है। भुजाएँ शक्ति की प्रतीक होती हैं। शतपथ ब्राह्मण में (13, 1, 5, 9) में युद्ध उसका बल कहा गया है। इसलिए ऐतरेय ब्राह्मण (8, 9) में क्षत्रिय का ''बलि'' शब्द से उलेख हुआ है। राजा होने का अधिकार क्षत्रिय ही का है। क्षत्रिय का कर्तव्य है वह पूजा में सुव्यवस्था बनाये रखे। कहीं ऐसा न हो कि बलवान् निर्बल को खा जाये। अत: पूजा की रक्षा व्यवस्था क्षत्रिय का प्रमुख कर्तव्य बताया गया है। इसके अतिरिक्त दान देना, यज्ञ करना, वेद पढ़ना, विलासिता से दूर रहना, शूर वीर होना, धैर्य रखना, तेजस्वी होना, उदारता वरतना, मन तथा इन्द्रियों को वश में रखना, क्षमावान् होना, विद्वान् साधु ब्राह्मण का आदर-सत्कार करना और न्याय व्यवस्था करना क्षत्रिय के कर्तव्य हैं।

वैश्य को उरु (जंघा) कहा गया है जिस प्रकार जंघायें सारे शरीर को थामे रहती हैं और उनके हिलने डुलने से शरीर में रस का संचार होता है, उसी प्रकार वैश्य वर्ग भी समाज संचालक एवं जीवन रक्षक है। उसके प्रमुख कर्तव्य है गाय आदि पशुओं की रक्षा करना, खेती करना, दान देना, यज्ञ करना,

वेद पढ़ना, वाणिज्य व्यवस्था से देश की उन्नति करना, देवता, गुरु और ईश्वर पर श्रद्धा रखना, धर्म अर्थ काम नामक त्रिवर्ग का समुचित सदुपयोग करना, वेदों पर विश्वास करना, उद्योगशील बने रहना और समस्त कार्यों में चातुर्य दिखलाना, तैत्तिरीय ब्राह्मण(1, 5, 6, 1) में वैश्य को साक्षात् राष्ट्र कहा गया है। क्योंकि उसी के द्वारा अर्जित अर्थ से सभी वर्णो का निर्वाह होता है (ऐ. ब्रा. 8, 89)

शूद्र को पैर कहा गया है। पैर सारे शरीर का भार वहन कर उसे आराम पहुँचाते हैं। इसी प्रकार शूद्र वर्ग भी समाज के प्रति उत्तरदायी रहकर अपने कर्तव्यों का निर्वाह करता जाये। शूद्र का विशेष कर्तव्य था द्विजातियों की सेवा करना और उनसे भरण पोषण पाना जब वे बूढ़े हो जाते थे तो उनका पालन-पोषण स्वामी ही करता था। यदि इस सेवाकार्य से उनके परिवार का निर्वाह न हो सके तो मनुस्मृति (10; 66-100) के अनुसार वह बढ़ईगिरी, चित्रकारी और रंगसाजी आदि व्यवसायों को अपना सकता है।

शूद्र वर्ण की दो श्रेणियाँ की 'अनिवसित (बढ़ई, लोहार आदि) और ''निरवसित'' (चाण्डाल आदि)। अपने नियत कर्तव्यों से च्यूत शूद्र को चाण्डाल श्रेणी में गिना जाता था और उसके सब सामाजिक अधिकारों को छीन लिया जाता था।

उक्त कर्तव्यों के अतिरिक्त विनम्र बने रहना, स्नानादि से शुद्धता एवं पवित्रता धारण करना, मन में किसी प्रकार की मलिनता न आने देना, स्वामी की सेवा करना, चोरी न करना, सत्य बोलना और गाय-ब्राह्मणों की पूजा करना आदि शूद्र के अन्य कर्तव्य थे। मुख्य रूप से शूद्र का कार्य यद्यपि सेवा करना था, किन्तु जहाँ तक सामाजिक स्थिति, का सम्बन्ध था, समाज में उसकी अन्य वर्णो के समान ही उपयोगिता थी (शतपथ ब्राह्मण 13,2, 9, 12)। इसी ब्राह्मण (13, 9, 2, 10) के एक अन्य संदर्भ में कहा गया है कि शूद्र श्रम का मूर्तिमान रूप है। उसी पर यह सारा राष्ट्र टिका है।

इस प्रकार वैदिक समाज व्यवस्था में चारों वर्णो के कर्तव्य निश्चित थे और उन पर आरूढ़ रहकर चारों वर्ण राष्ट्र के उत्तरोत्तर उत्थान में संलग्न थे। उनमें किसी तरह का विरोध वैमनस्य नहीं था। सब का एक ही उद्देश्य था ''राष्ट्र की उत्तरोत्तर उन्नति करना''।

(4.) आश्रमों की उत्पत्ति

आश्रम व्यवस्था की उत्पत्ति रोमिला थापर (A History of India p. 46) के अनुसार इस प्रकार है— वैदिक आर्य को सृष्टि संबंधी जिज्ञासा हुई। इस जिज्ञासा ने तपस्या का मार्ग प्रशस्त किया। लोग तपस्या करने के लिए एकान्तवासी होकर अथवा छोटे दल बना कर सामान्य निवास स्थानों से दूर रहने लगे। तपस्या के दो मुख्य उद्देश्य थे—

1. तपस्याऔर ध्यान मनन के द्वारा रहस्यमय अभिचारिक शक्तियाँ प्राप्त करना।
2. समाज में संमजित न होने के कारण समाज से दूर रहना। समाज से अपने को दूर रखने का एक कारण और था कि सातवीं शताब्दी ईसा पूर्व पुरानी परम्पराएँ और प्राक् आर्य समाज की रूप रेखा बदल गयी थी जनजाति समुदाय स्थायी गणराज्य और राजतंत्र का मार्ग मजबूत राजनैतिक महत्वकांक्षाओं के साथ प्रशस्त कर रही थी। मत्स्यायन की राजनैतिक शिक्षा उस वातावरण में फलने फूलने लगी थी जिसमें सशक्त व्यक्ति निर्बल पर अधिकार करने लगा। गाँव की जमीन पर स्थानीय शासक का हक होने लगा। जमीन पर सामूहिक अधिकार का ह्रास होने लगा। व्यापार में भी होड़ बढ़ गई। समाज में अनिश्चिता और असुरक्षा के कारण बहुत से भावुक व्यक्तियों समाज

छोड़ कर जंगलों में निवास करने लगे।

ये सन्यासी हमेशा एकान्त जंगल या पहाड़ की चोटियों में नहीं रहने लगे। उनमें से कुछ अपने समुदाय में लौटे और वर्तमान सामाजिक एवं आर्थिक मानदंड को चुनौति देने लगे। ब्राह्मणों को इनसे बड़ा डर लगा। उन्होंने अनुक्रमका समर्थन करके मनुष्य के जीवन को चार भागों में बाँटा—

1. ब्रह्मचर्याश्रम— ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य को आरंभ जीवन के 25 वर्ष विद्या ग्रहण करना था।
2. गृहस्थाश्रम— इसके बाद विवाह करके गृहस्थ जीवन बिताना।
3. वानप्रस्थाश्रम— बच्चों के बड़े होने पर जिम्मेदारियाँ पुत्रों को सौंप कर जीवन बिताना।
4. सन्यासाश्रम— जीवन की अंतिमावस्था में सांसारिक बन्धनों से मुक्त हो जाना चाहे जंगल में तप करना अथवा परिवार में रहकर परोपकार द्वारा जीवन बिताना।

आश्रम व्यवस्था के उद्देश्य

मनुष्य को स्वभाव से ही भोग-विषयों में लिप्त होने की आदत बन जाती है। ये भोग विषय मनुष्य के पतन और अभ्युदय, दोनों के कारण हैं। यद्यपि दर्शन ग्रन्थों में इन भोग विषयों पर विजय प्राप्त करने के लिए इन्द्रिय निग्रह तथा वैराग्य मार्ग का निर्देश किया गया है, तथापि जन सामान्य के लिए सांसारिक संबंधों से मोह त्याग कर वैराग्य ग्रहण करना संभव नहीं है। इसलिए धर्माचार्यो ने शिक्षा के द्वारा धीरे-धीरे सांसारिक विषय-भोगों पर विजय पाने और अभ्युदय के लिए आश्रम धर्म की व्यवस्था की है।

इसके अतिरिक्त आश्रम धर्म की व्यवस्था का अन्य भी एक उद्देश्य है : चातुर्वण्य और उसके समष्टिरूप समाज तथा राष्ट्र की सुव्यवस्था एवं अनुशासन के लिए आवश्यक है कि प्रत्येक व्यक्ति का चरित्र और आचार ऊँचा हो। यदि व्यक्ति ही समाज और राष्ट्र का निर्माता है तो व्यक्ति की उन्नति पर ही समाज तथा राष्ट्र की उन्नति के लिए आर्य ऋषियों ने आश्रम धर्म की स्थापना की।

मर्यादा और सदाचार के परिपालन के लिए व्यक्ति के सम्पूर्ण जीवन को चार कालखण्डों में विभाजित किया गया है। ये चार खण्ड या विभाग प्राकृत नियमों के आधार पर निश्चित किये गये हैं। मनुष्य के भीतर जो प्राकृत शक्ति है, अवस्थानुसार उसमें परिवर्तन तथा विकास होता है। उसी के अनुसार मानव जीवन के चार विभाग किये गये हैं। शक्तियों के स्वरूप और संख्या की कोटियाँ अनन्त हैं, परन्तु सब का मूलाधार दो महती शक्यिाँ है, जिनका प्रवेश एवं प्रवाह आध्यात्मिक, आधिदैविक, और आधिभौतिक तीनों जगतों में है। ये महाशक्तियाँ कर्म और ज्ञान की हैं। मनुष्य की समस्त कामनाओं की पूर्ति इन्हीं दो शक्तियों के विकास पर निर्भर है। कर्म, मनुष्य के पूर्वार्द्ध (ब्रह्मचर्य तथा गृहस्थ) जीवन का और ज्ञान उत्तरार्द्ध (वानप्रस्थ तथा सन्यास) जीवन का आधार है। कर्म और ज्ञान के सम्यक् विकास के लिए आर्य ऋषियों ने जीवन को चार विभागों में व्यक्त किया। ये चार हैं:—

1. ब्रह्मचर्य
2. गृहस्थ
3. वानप्रस्थ
4. सन्यास

इनमें से प्रारंभ के दो आश्रम प्रवृति परक और अन्त के दो निवृत्ति परक हैं। जब तक मनुष्य ब्रह्मचर्य तथा गृहस्थ अवस्था में रहता है, तब तक उसका संबंध लोभ, मोह, ममता आदि से बना रहता है, परन्तु जब वह वानप्रस्थ तथा सन्यास आश्रमों में प्रवेश करता है, तब अपने आप उसके सारे लोभादि संबंध समाप्त हो जाते हैं।

शास्त्रों में मनुष्य की आयु-सीमा सामान्यतः सौ वर्ष मानी गई है। चारों आश्रमों के लिए पच्चीस-पच्चीस वर्ष की अवधि निश्चित की गई है। इस सौ वर्ष के जीवन को पचास-पचास वर्ष के लिए कर्म और ज्ञान के अनुष्ठान के लिए नियत किया गया है। पूर्वार्द्ध के पचास वर्ष कर्मानुष्ठानके लिए और उत्तरार्द्ध के पचास वर्ष ज्ञानानुष्ठान के लिए है। पूर्व की अर्धावस्था में यद्यपि कर्म -सम्पादन की प्रधानता रहती है, किन्तु उसमें ज्ञानार्जन का भी तारतम्य बना रहता है। इसी प्रकार उत्तर की अर्धावस्था में यद्यपि ज्ञानार्जन की प्रधानता रहती है, तथापि ज्ञानार्जन की प्रधानता रहती है, तथापि उसमें कर्मार्जन का भी तारतम्य बना रहता है।

1. ब्रह्मचर्याश्रम— तेज और ईश्वर के लिए ''ब्रह्म'' शब्द का प्रयोग होता है अतः विद्याध्ययन, तेजस्विता और ईश्वराधन के लिए जीवन के प्रथम चरण में जिस व्रत को धारण किया जाता है, उसी का नाम ''ब्रह्मचर्य'' है। ब्रह्म का एक नाम शुक्र भी है, शुक्र अर्थात् वीर्य। ब्रह्म का अर्थ है अति वृहत्, अनन्त, बृह्णशील। वीर्य भी वर्द्धनशील वृह्णशील और अनन्त शक्ति का आधार है। अतएव ब्रह्म ज्ञान और शक्ति की प्राप्ति, संचय तथा वृद्धि के लिए जिस को धारण किया है, उसी का नाम 'ब्रह्मचर्य'' है। पुरुषों के लिए ब्रह्मचर्याश्रम की अवधि पच्चीस वर्ष है और स्त्रियों के लिए सोलह वर्ष निश्चित है।

ब्रह्मचारी शब्द का उल्लेख ऋग्वेद (10, 106. 5) तथा अथर्ववेद (5, 17, 5) में आता है जहाँ ब्रह्मचारी को देवताओं का एक अंग माना है। अथर्ववेद में (11, 5, 1-29) में ब्रह्मचारी और ब्रह्मचर्य का विस्तृत वर्णन आता है। सूर्य को ब्रह्मचारी की उपमा देकर आलंकारिक भाषा में ब्रह्मचारी के विभिन्न कर्तव्यों और ब्रह्मवर्याश्रम के महत्व पर अच्छा प्रकाश डाला गया है। उक्त प्रकरण में वर्णन आता है कि आचार्य उपनयन संस्कार के पश्चात् ब्रह्मचारी को अन्तेवासी बनाता है (अथर्ववेद 11. 5. 3)। ब्रह्मचारी के समिधा हरण मेखला, तपस आदि का स्पष्ट वर्णन है (अथर्ववेद 11.5.4) तथा उसके भैक्ष्यचर्य का भी वर्णन किया गया है (अथर्ववेद 11.5.6)। इसी प्रकरण में आगे कहा गया है कि ब्रह्मचर्य और तप से देवताओं ने मृत्यु का भी हनन किया (अथर्व 11, 5, 16)। इस प्रकार ऋग्वेद तथा अथर्ववेद के उल्लेखों से स्पष्ट हो जाता है कि वैदिक युग में ब्रह्मचर्य। श्रम पूर्णतया विकसित हो चुका था।

2. **गृहस्थाश्रम**

ऋग्वेद में गृहस्थाश्रम का उल्लेख अप्रत्यक्ष रूप से से आया है। गृहपति, गृहपत्नी, गार्हपत्याग्नि आदि का उल्लेख बार-बार आयां है, तथा गृहस्थों के विभिन्न कर्तव्यों पर भी प्रकाश डाला गया है। ऋग्वेद (10, 85, 1-47) में सूर्य और सोम के विवाह का सुन्दर वर्णन आता है, जिसमें गृहस्थाश्रम के जीवन और कर्तव्यों पर भी अच्छा प्रकाश डाला गया है। उक्त प्रकरण में नवविवाहिता वधू को कहा गया है कि -''हे गृहपत्नी अपने (नये) घर में जाओ। वहाँ प्रजादि द्वारा समृद्ध होकर अपने गार्हपत्य (गृहस्थाश्रम

के कर्तव्यों के प्रति जागरूक रहो (ऋग्वेद 10 85, 29-27)। आगे चलकर नवविवाहित वर अपनी वधू के प्रति कहता है—"मैं तेरा हाथ सौभाग्य के लिए ग्रहण करता हूँ। भग, अर्यमा, सविता आदि देवताओं ने तुम्हें गार्हपत्य के लिए मुझे प्रदान किया है (10, 85, 39)। इन उल्लेखों से स्पष्ट हो जाता है कि स्नातक को विवाह संस्कार के पश्चात् अपनी नव विवाहिता पत्नी के साथ गृहस्थाश्रम में प्रवेश करना पड़ता था, तथा उस आश्रम के कर्तव्यों का निर्वाह करना पड़ता था। प्रत्येक गृहस्थ को अपनी गृहपत्नी के साथ गार्हपत्याग्नि को प्रज्वलित कर प्रति दिन तीन बार उसमें हविष की आहुतियाँ प्रदान करनी पड़ती थी (ए. सी. दास ऋग्वेदिक कल्चर पृ. 128-126)।

तीन ऋणों के सिद्धान्त के व्यापक होने पर गृहस्थाश्रम की महत्ता बढ़ गई। इसका कारण था कि सिर्फ विवाह करके ही कोई व्यक्ति संतानोत्पत्ति के द्वारा पितृ ऋण से मुक्त हो सकता था। इस संबंध में तैत्तिरीय संहिता का उद्धरण इस प्रकार है :—

जायमानो वै ब्राह्मणस्त्रिभिऋणैर्वा जायते ब्रह्मचर्येण।

ऋषिभ्यो यज्ञेन देवेभ्यः प्रजया पितृभ्य एष वा अनृणो (9, 3, 10, 5)।

"ब्राह्मण तीन ऋण लेकर जन्मता है। ब्रह्मचर्य द्वारा वह ऋषियों का, यज्ञ द्वारा देवताओं का और संतान द्वारा पितरों का ऋण चुका देता है।"

इसी का समानांतर स्थल शतपथ ब्राह्मण (1, 7, 2, 1) और तैत्तिरीय ब्राह्मण (9, 3, 10, 5) में मिलता है।

वशिष्ठ धर्मसूत्र में गृहस्थाश्रम को समुद्र की तुलना करते इस प्रकार कहा गया है :—

यथा नदोनदा सर्वे समुद्रे यान्ति संस्थितम्।

एवमाश्रिणः सर्वे गृहस्थे यान्ति संस्थितिम्।। 8, 15, जीवानंद 2, पृ. 472

समानान्तर स्थल मनुस्मृति 9,60।।

मनु प्रत्येक मनुष्य को आदेश देता है कि ब्रह्मचर्य के बाद गृहस्थाश्रम में निवास करे (1, 4)।

3. वानप्रस्थाश्रम

वैदिक साहित्य में वानप्रस्थाश्रम का प्रत्यक्ष उल्लेख तो नही है, किन्तु उसमें यति, मुनि आदि का उल्लेख स्थान-स्थान पर आता है। एक सद्गृहस्थ जब समस्त सांसारिक सुखोपभोगों से परितृप्त होकर गृहस्थ के सारे उत्तरदायित्वों को अपने युवा एवं विवाहित पुत्र पर निर्भर करके स्वयं ईश्वर की आराधना के लिए अपनी गृहिणी सहित अरण्य में एकान्त वास करने लगता है, तब उस अवस्था को "वानप्रस्थ" कहा जाता है। इस अवस्था में पहुँचकर मनुष्य सम्पूर्ण सांसारिक कामनाओं एवं इच्छाओं से विरत होकर जीवन के शेष भाग को धर्माजन में लगा देता है। धर्माजन एवं ईश आराधन में निरत रहने के कारण उसको दिव्यानुभूति होती है। ऋग्वेद (8, 3, 6; 8, 9, 18) में यतियों का उल्लेख आता है, जहाँ कहीं-कहीं उन्हें भृगुओं के साथ संबंधित किया गया है, तथा उन्हें सन्तुष्ट करने का उल्लेख है।

एक स्थान पर कहा गया है कि यतियों के समान देवता सकलभुवनों में व्याप्त हो गये (ऋग्वेद 10, 72, 7)। अथर्ववेद (2, 5. 3) में कहा गया है कि इन्द्र ने यतियों के समान वृत्र का हनन् किया। तैत्तिरीय संहिता (9. 2, 7, 5) में कहा गया है कि इन्द्र ने यति, भेड़ियों को प्रदान किये। इस प्रकार काठक संहिता (8,5) में यतियों का उल्लेख है। इन उल्लेखों से यह पता चलता है कि यति कदाचित भय के कारण थे। यातुविद्या या जादू को भी उनसे संबंधित किया जाता है।

4. सन्यासाश्रम

यह आश्रम-धर्म, जीवन की चौथी या अन्तिम अवस्था है। वैदिक साहित्य में मुनि का उल्लेख भी कई स्थलों पर आता है। ऋग्वेद 10, 139, 2) में कुछ मन्त्रों के दृष्टा भी "मुनयो वातरशनाः हैं। इस सूक्त में कहा गया है कि मुनि वायु भक्षण करने वाले तथा भूरे और मैले वस्त्र धारण करने वाले हैं (ऋग्वेद 10, 139, 2)। इसी प्रकरण में आगे कहा गया है कि मुनि अच्छे कर्मों के लिए देवताओं के मित्र हैं (ऋग्वेद 10, 139, 4)। इन्द्र को मुनियों का सखा भी कहा गया है। (ऋग्वेद 8, 17, 14)।

इन उल्लेखों से ज्ञात होता है कि मुनियों के जीवन का उद्देश्य समाज की सेवा तथा उसका उपकार करना था। वे समस्त देश में विचरण करते थे। ऋग्वेद (10, 139, 9) में उन्हें अप्सराओं, गन्धर्वों, व मृगों के पीछे भ्रमण करने वाले वर्णित किया गया है तथा विद्वान् "सखा" आदि विशेषणों से विभूषित किया गया है। ये मुनि सन्यासी ही थे कुछ विद्वानों के मतानुसार वैदिक साहित्य में चारों आश्रमों का सर्वप्रथम उल्लेख एतरेय ब्राह्मण (7, 13, 5) में आता है, जहाँ कहा गया है—"मल, अजिन, श्मश्रू व तप का क्या उपयोग है? हे ब्राह्मण! पुत्र की इच्छा करो, वही वर्णनातीत लोक है। इसमें अजिन (मृगचर्म) को ब्रह्मचर्याश्रम से, मल (मल, गार्हस्थ्य जीवन की गंदगी) को गृहस्थाश्रम से, श्मश्रू (दाढ़ी) को वानप्रस्थाश्रम से तथा तप को सन्यासाश्रम से संबंधित किया जाता है। वेदों के भाष्यकार सायणाचार्य का यह मन्तव्य है।

उपनिषदों में भी आश्रम व्यवस्था का उल्लेख यत्र-तत्र आता है। उपनिषदों के साहित्य का निर्माण ही अरण्य में वानप्रस्थियों द्वारा किया गया, क्योंकि यह साहित्य आरण्यक ग्रन्थों का अन्तिम भाग है। छन्दोग्योपनिषद् (3, 23,1) में तीन धर्मस्कंध बताये गये हैं। यज्ञ, अध्ययन, दानादि प्रथम हैं, जिन्हें गृहस्थाश्रम से संबंधित किया जा सकता है, तथा ब्रह्मचारी (ब्रह्मचर्याश्रम से संबंधित है) तृतीय है। जो व्यक्ति ब्रह्मसंस्था अर्थात् ब्रह्म में लीन है, वह मोक्ष प्राप्त करता है। यहाँ "ब्रह्मसंस्थ" को सन्यासाश्रम से संबधित किया जा सकता है।

सन्यास दो प्रकार का बताया गया है : कर्म सन्यास और ज्ञान सन्यास। ब्रह्मचर्य, गृहस्थ और वानप्रस्थ का नियमित रूप एवं शास्त्रोक्त विधि से पालन करने के उपरान्त धर्मशास्त्रानुसार जो सन्यास ग्रहण किया जाता है उसको "कर्म सन्यास" कहा जाता है। कर्म सन्यास में क्रमशः एक के बाद दूसरे आश्रम में प्रवेश होता है; किन्तु ब्रह्मचर्य के बाद सीधे सन्यास धारण करना "ज्ञान सन्यास' कहा जाता है। श्रुति कहती है कि ब्रह्मचर्य या गृहस्थ या वानप्रस्थ, कहीं से भी सन्यास लिया जा सकता है। जिस दिन वैराग्य उत्पन्न हो जाये, उसी दिन सन्यास लिया जा सकता है। इस अवस्था को तीव्र वैराग्य कहते हैं। तीव्र वैराग्य वह है, जिसमें यह इच्छा होती है कि मुझे ब्रह्मलोक के अतिरिक्त किसी भी लोक की

आवश्यकता नहीं है। ऐसी निश्चात्मक स्थिर बुद्धि से जो विषयों का त्याग किया जाता है, उसी को तीव्र वैराग्य कहते हैं।

आश्रमों के कर्तव्य

पहली ब्रह्मचर्यावस्था में ब्रह्मचर्यपूर्वक रहकर विद्याभ्यास करना चाहिये। आचार्य के आश्रम में रहकर निष्ठा से नित्य, नैमित्तिक कार्यो को करते जाना और स्वाध्याय में मन लगाना ब्रह्मचर्यावस्था का प्रमुख कर्तव्य है। इस अवस्था में मद्य, मांस, गंध, तथा धन आदि का सेवन नहीं करना चाहिये। मन, वचन और कर्म से ब्रह्मचर्य व्रत की रक्षा करते हुए गुरु आश्रम में जीवन बिताना चाहिये।

गृहस्थाश्रम के संचालन के लिए पूर्वाचार्यो ने विशेष नियम निर्धारित किये हैं। गृहस्थाश्रम में प्रवेश करने के लिए ब्रह्मचारी को चाहिये कि गुरु से आज्ञा प्राप्त कर, अपनी वंश परम्परा के अनुसार, अच्छे लक्षणों से युक्त रूपवती कन्या से विवाह करे। उसके बाद वह सुखी गृहस्थी का निर्माण करे। मनु ने (9, 1) कहा है कि ''द्विज को चाहिये कि वह दृढ़ प्रतिज्ञ होकर इन्द्रियों को वश में करके वन में निवास करे। किन्तु गृहस्थ जीवन से निवृत होने के लिए जब शरीर की त्वचा पर सिकुड़न पड़ जाये, और बाल पकने लगे, तब उस व्यक्ति को गृहस्थ से अवकाश ले लेना चाहिये (मनुस्मृति 9, 2)।

इसके अतिरिक्त जब तक कोई व्यक्ति अपने पोते को देख नहीं लेता, वह अवकाश ग्रहण करने का अधिकारी नहीं है। इसका आशय है कि गृहस्थ से अवकाश ग्रहण करने से पूर्व प्रत्येक व्यक्ति को अपने पुत्र को इस योग्य बना लेना चाहिये कि वह परिवार और समाज के अभ्युत्थान के लिए गृहस्थ के कर्तव्यों का भार वहन करने में सर्वथा योग्य बन सके।

गृहस्थ जीवन के लिए अतिथि सत्कार का बड़ा महत्व माना गया है। अथर्ववेद (6.9) में अतिथि सत्कार की महिमा का विस्तार से वर्णन किया गया है। तैत्तिरीय उपनिषद् (1, 11, 2) में भी निर्देश किया गया है कि ''अतिथि देव'' का समुचित सत्कार करना चाहिये।

वानप्रस्थी को चाहिये कि अरण्य में रहकर सादा जीवन व्यतीत करे। कन्द मूल फूलों से अथवा भिक्षाटन से उदरपूर्ति करे। पंच महायज्ञों का नियमत: अनुष्ठान करे। कुश अथवा घास-पूस की शय्या करे, मृगचर्म धारण करे। दोनों समय स्नान करके प्रात: मध्याह्ण और सांय, तीनों समय सन्ध्या वन्दना करे। अच्छे-अच्छे ग्रन्थों का अध्ययन अध्यापन करे। ईश्वर चिन्तन में मन लगाये।

वानप्रस्थ जीवन का नियमत: निर्वाह कर अवस्थानुसार मुमुक्षु पुरुष सन्यास को धारण करे। सन्यासी को चाहिये कि वह क्रोध का त्याग कर दे। इन्द्रियों को वश में रखे। शिक्षा और ज्ञान के लोक में विचरण करे। निर्भय तथा शोक रहित होकर जीवन व्यतीत करे। बाल, दाढ़ी, मुख, नाखून सब को साफ करके पात्र, दण्ड तथा भगवा वस्त्र धारण करे। सभी प्राणियों को सुख देते हुए स्वयं भी आनन्द से रहकर मुक्ति के लिए यत्न करे।

इस प्रकार शास्त्रानुकूल आश्रम धर्म का परिपालन करता हुआ मनुष्य लोक-परलोक का हित करे।

(5) वर्गचतुष्टय

वेदकालीन वर्णाश्रम-व्यवस्था पर आलोचनात्मक दृष्टि से विचार करने पर स्पष्ट होता है कि तत्कालीन समाज ने अपने जीवन का उद्देश्य निर्धारित कर लिया था। तत्कालीन सामाजिक व्यवस्था के

अन्तर्गत रहनेवाला व्यक्ति यह भली भाँति जानता था कि उसे आश्रम-व्यवस्था द्वारा वैयक्तिक जीवन व वर्णव्यवस्था द्वारा सामाजिक जीवन का विकास कर प्रवृत्ति तथा निवृत्ति मार्गो में सामंजस्य स्थापित कर धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष आदि वर्ग चतुष्टय की प्राप्ति में संलग्न होना चाहिये। इसी में पुरुषार्थ का समन्वय होता था। वर्गचतुष्टय में प्रवृत्ति व निर्वृति दोनों का समावेश हो जाता था।

यद्यपि धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष आदि वर्गचतुष्टय का पुरुषार्थ के रूप में स्पष्ट उल्लेख ऋग्वेदादि में प्राप्त नहीं होता, फिर भी उक्त साहित्य में धर्म, अर्थ, काम मोक्ष आदि का विशद् विवेचन यत्र तत्र किया गया है तथा उसकी उपादेयता भी प्रतिपादित की गई है। धर्म की महिमा तो वैदिक साहित्य में पद-पद पर गाई गई है। अग्नि, इन्द्र, विष्णु आदि विभिन्न देवताओं के स्तुतिमन्त्रों में नैतिकतामय जीवन व आध्यात्मिक विकास का सुन्दर विवेचन किया गया है। वरुण से सम्बन्धित मन्त्रों में उच्चकोटि की आध्यात्मिकतापूर्ण नैतिकता का सुन्दर विवेचन किया गया है। आध्यात्मिक, अधिदैविक, आदि तीन प्रकार के तापों या बन्धनों से मुक्त किये जाने के लिए कितने ही मन्त्रों द्वारा प्रार्थना की गई है। वरुण के "ऋत" अर्थात् नैतिक जीवन-क्रम को अपनाने का उल्लेख कितने ही स्थलों पर है। ज्यों-ज्यों समय बीतता गया, त्यों-त्यों इस ऋण का महत्व बढ़ता गया। तो कुछ ऋण के विपरीत था वह बुरा व हेय समझा जाने लगा। अनृत (जो ऋत नहीं है) व असत्य दोनों एक समान ही त्याज्य तथा ऋत व सत्य दोनों एक समान ही ग्राह्म समझे जाने लगे। धीरे-धीरे ये दोनों शब्द पर्यायवाची भी बन गये। तत्पश्चात् ऋत व सत्य, धर्म के पर्य्यायवाची भी बन गये, जैसा कि उपनिषदों में स्पष्टरूप से समझाया गया है। धर्म शब्द ऋग्वेद में विभिन्न स्थलों पर प्रयुक्त किया गया है (ऋग्वेद 10/80/16, 10/92/2)।

धर्म

प्राचीन भारतीयों ने धर्म को वैज्ञानिक ढंग पर समझने का प्रयत्न किया था (मैकडॉनेल व कीथ-वेदिक इन्डेक्स, पृ. 390)। प्राचीन आचार्य्यो ने "धर्म" का विवेचन करते समय समझाया है कि धर्म वह है जिससे अभ्युदय व निःश्रेयस की सिद्धि हो (कणाद-वैशेषिकसूत्र 1/1/2)। अभ्युदय से लौकिक व निःश्रेयस से पारलौकिक उन्नति व कल्याण का बोध होता है। जीवन के ऐहिक व पारलौकिक दोनों पहलुओं से धर्म को सम्बन्धित किया गया था। अतएव धर्म वही हो सकता है जिससे मानव जाति परमात्मा-प्रदत्त शक्तियों के विकास से अपना ऐहिक जीवन सुखी बना सके; साथ ही मृत्यु के पश्चात् भी जन्म-मरण के झंझटों में न पड़कर जीवात्मा सुख व शान्ति का अनुभव कर सके। धर्म की इससे अधिक, उदार परिभाषा दूसरी हो ही नहीं सकती। धर्म के शाब्दिक अर्थ पर विचार करने से भी इसका महत्व समझ में आ जाएगा। धर्म शब्द "धृ" (धारण करना) धातु में "मप्" प्रत्यय जोड़ने से बनता है, जिसका अर्थ धारणकरने वाला होता है। अतएव धर्म उन शाश्वत सिद्धान्तों के समुदाय को कह सकते हैं, जिसके द्वारा मावनसमाज सन्मार्ग में प्रवृत्त हो, उन्नतिशील बन कर अपने अस्तित्व को धारण करता है। सनातन धर्म शब्द भी इसी अर्थ का द्योतक है। इस प्रकार धर्म शब्द का अर्थ अत्यन्त गहन तथा विशाल है व इसके अन्तर्गत मानव-जीवन के उच्चतम विकास के साधनों व नियमों का समावेश होता है। प्राचीन भारत में इसी धर्म की प्राप्ति मानव-जीवन का मुख्य उद्देश्य था, व उसे वर्गचतुष्टय में प्रथम स्थान प्राप्त था।

अर्थ

मानव-जीवन के चार उद्देश्यों में अर्थ का स्थान दूसरा था। कृषि, वाणिज्य, व्यवसाय आदि द्वारा द्रव्योपार्जन कर ऐहिक उन्नति करना ही ''अर्थ'' का तात्पर्य था। प्राचीन भारत में आर्थिक विकास का विशेष उत्तरदायित्व वैश्यों पर था, इसीलिए ऋग्वेद के पुरुषसूक्त में वैश्यों को समाजरूपी पुरुष की जंघाओं की उपमा दी गई। वैदिक साहित्य के आलोचनात्मक अध्ययन से स्पष्ट होता है कि द्रव्यप्राप्ति की इच्छा समाज में साधारणरूप से वर्तमान थी। ऋग्वेद के प्रजापतिसूक्त (10/121/10) में कहा गया है कि ''हे प्रजापति आप के अतिरिक्त अन्य कोई नहीं है, जो समस्त जगत् में व्याप्त है। हमारी जो कुछ इच्छाएँ है, उन्हें हम प्राप्त करें, और हम रयि (ऋग्वेदिक कल्चर, पृ. 141) (द्रव्य) के स्वामी बनें। एक स्थान पर इन्द्र से भी रयि प्रदान करने के लिए प्रार्थना की गई है (ऋग्वेद 5/33/6)। इन उद्धरणों से स्पष्ट हो जाता है कि वेदकालीन समाज में द्रव्य-प्राप्ति भी जीवन का महान् उद्देश्य था, किन्तु उसकी भूमिका धर्म पर आश्रित थी।

आश्रम-व्यवस्था के अनुसार गृहस्थों को आर्थिक विकास से सम्बन्धित किया जाता है। गृहस्थों पर दो प्रकार की जिम्मेवारियाँ रहती थीं, आध्यात्मिक उन्नति की व आर्थिक उन्नति की। उन्हें मानव-जीवन के सच्चे उद्देश्य को ध्यान में रख आर्थिक उन्नति के मार्ग में अग्रसर होना पड़ता था। यही कारण है कि प्राचीन भारत के गृहस्थी विशेषकर वैश्य धन कमा कर एकत्रित करने को ही अपना जीवनसर्वस्व नहीं समझते थे। आर्थिक विकास समाज को उन्नत बनाने के लिए था, न कि भौतिक आवश्यकताओं को बढ़ा कर ऐश-आराम करने के लिए। इस प्रकार हमें प्राचीन भारत के आर्थिक विकास की भूमिका का पता लग जाता है।

काम

''काम शब्द साधारणतया इच्छा या आकांक्षा के अर्थ में प्रयुक्त होता है। ऋग्वेद में भी इसका उल्लेख आता है (ऋग्वेद 10/121/10) वर्गचतुष्टय के अन्तर्गत जिस ''काम'' का समावेश होता है उसका मतलब यह हो सकता है कि मनुष्य अपनी महत्वाकांक्षाओं को, जो कि उच्चकोटि की तथा आध्यात्मिक रहना चाहिये, सफल बनाने के साधन प्राप्त करे। काम को इस अर्थ में वानप्रस्थाश्रम से भी सम्बन्धित किया जा सकता है, क्योंकि उसी आश्रम में व्यक्ति आध्यात्मिक विकास के मार्ग में अग्रसर होता था तथा इस प्रकार अपनी महत्वकांक्षाओं की पूर्ति के साधन जुटा सकता था। प्राचीन भारत में वानप्रस्थी ही साधारणतया लोकहित व सार्वजनिक कार्यो में अपना हाथ बटाते थे। ऋग्वेदादि में यति, मुनि आदि के जो उल्लेख हैं वे उसी बात के द्योतक हैं।

मोक्ष

वर्गघतुष्टय के अनुसार मानव-जीवन का अन्तिम ध्येय मोक्ष था। मोक्ष से जीवन-मरण के बन्धन से जीवात्मा को मुक्त करना था। मोक्ष को सन्यासाश्रम से भी सम्बन्धित किया जा सकता है, क्योंकि उसमें सब सांसारिक बन्धनों को तोड़कर ब्रह्मप्राप्ति या आत्मसाक्षात्कार के लिए प्रयत्नशील होना पड़ता था। प्राचीन भारतीय का जीवन अधिकांश आध्यात्मिक था। इस लोक में रहते हुए भी परलोक का चित्र उसकी आँखों के सामने रहता था, जीवन-मरण की पहेलियाँ सर्वदा उसे चिन्तित किया करती थीं।

अथर्ववेद (11/5/19) में ब्रह्मचर्य के विवेचन के प्रकरण में समझाया गया है कि ब्रह्मचर्य्य व तप से देवताओं ने मृत्यु का भी हनन किया। यजुर्वेद (40/1-17) में आत्मा व ब्रह्म के स्वरूप का निरूपण करते हुए कहा गया है कि जो आत्मा का हनन करते हैं अर्थात् आत्मसाक्षात्कार न करने वाले लोग मरने के पश्चात् गूढ़ अन्धकारमय असुरों के लोक में जाते हैं (यजुर्वेद 40/3)। जो आत्मा का अस्तित्व सब भूतों में देखते हैं उन्हें एकत्व के दर्शन के कारण मोह, शोक आदि सता नहीं सकते (यजुर्वेद 40/7)।

उपनिषदों का पूरा साहित्य प्रकृति, जीव, ब्रह्म आदि की गुत्थियों को सुलझाने के प्रयत्वों से भरा हुआ है। उनमें ब्रह्मप्राप्ति, आत्मसाक्षात्कार, मोक्ष-प्राप्ति आदि का अच्छा विवेचन किया गया है। बृहदारण्योपनिषद् (10/5/1) में कहा गया है कि आत्माको पहचान कर ब्राह्मण पुत्रैषणा, वित्तैषणा लोकैषणा आदि का परित्याग कर भिक्षुकवृत्ति धारण करते हैं। छान्दोग्योपनिषद् (6/8/7) में आत्मा व ब्रह्म की एकता का निरूपण करते हुए समझाया गया है कि आत्मारूपी अदृश्य शक्ति सर्वत्र व्याप्त है तथा जीवात्मा परमात्मा एक ही है। उन दोनों के तादात्म्य का साक्षात्कार ही जीव को जीवन-मरण के बन्धनों से मुक्त कर सकता है। इस प्रकार अन्य उपनिषदों में भी जीव व ब्रह्म के तादात्म्य के निरूपण द्वारा मोक्ष-प्राप्ति का विवेचन किया गया है।

उपरोक्त उद्धरणों से स्पष्ट होता है कि वेदकालीन समाज ने आध्यात्मिकता को महत्व देकर आत्मसाक्षात्कार को मानव-जीवन का महान् उद्देश्य स्वीकार किया था। इस प्रकार मोक्ष-प्राप्ति या जीवन-मरण के बन्धन से जीवात्मा को मुक्त करना जीवन का प्रेरणास्रोत बन गया था। इसी ध्येय को अपने सामने रख प्राचीन भारतीय समाज सांस्कृतिक विकास के मार्ग में अग्रसर हुआ था।

6. सामाजिक उदारता

उदार दृष्टिकोण के कारण वेदकालीन आर्यो के जीवन में सामाजिक उदारता का महत्वपूर्ण स्थान था, जिसका परिचय तत्कालीन शिक्षापद्धति, समाज में स्त्रियों तथा शूद्रों के स्थान को भली भाँति समझने से प्राप्त होता है। जो समाज जितना उदार रहता है, उसकी शिक्षाप्रणाली उतने ही उदार सिद्धान्तों पर अवलम्बित रहती है तथा उसमें स्त्रियों और शूद्रों के साथ अच्छा व्यवहार किया जाकर उन्हें आत्मविकास का पूरा अवसर दिया जाता है। इस सिद्धान्त के अनुसार वेदकालीन शिक्षापद्धति उदार सिद्धान्तों पर आश्रित थी तथा स्त्रियाँ और शूद्रों को भी समाज में समुचित स्थान प्राप्त था, वे आत्मविकास के मार्ग में अग्रसर हो सकते थे।

(क) शिक्षा-पद्धति

यह स्पष्ट ही है कि वेदकालीन संस्कृति उदात्त सिद्धान्तों व तत्वों पर विकसित हुई थी। मानव जीवन के विशिष्ट उद्देश्यों की पूर्ति ही उस संस्कृति का ध्येय था। उन्हीं उद्देश्य को ध्यान में रख प्राचीन शिक्षा-प्रणाली का विकास किया गया था। वैदिक ऋषियों ने यह भली-भाँति जान लिया था कि यदि मृत्यु के रहस्य को समझ लिया जाय तो संसार के कितने ही दुःखों का अन्त हो सकता है। इसलिए वे मृत्यु का हनन करने में भी प्रयत्नशील रहते थे। वे ऋषि आत्मा व परमात्मा का सम्बन्ध तथा जीवनमरण की समस्याओं को समझनें में ही अपना जीवन व्यतीत करते थे। तत्सम्बन्धी बहुत से सत्य सनातन

सिद्धान्त व तत्व भी उन्होंने समझे व ढूँढे थे। इस प्रकार उन्होंने मानव-जीवन को पाशविकता के गर्त में से निकाल कर उसे विशाल व उदात्त उद्देश्यों से युक्त कर दिया था। इन उदात्त उद्देश्यों की पूर्ति भी योग्य व्यक्तियों द्वारा ही हो सकती है। योग्यता की प्राप्ति के लिए शिक्षा-प्रणाली विकसित की गई थी। इस प्रकार वेदकालीन शिक्षा-प्रणाली का उद्देश्य मनुष्य की नैसर्गिक, शक्तियों का सम्यक् विकास कर उसे सच्चे अर्थ में मानव बनाना था, जिससे वह जीवन की पहेलियों को सुलझाने में समर्थ हो सके।

ब्रह्मचर्याश्रम

आश्रम-व्यवस्था के अन्तर्गत जो ब्रह्मचर्याश्रम है उसका विशेष सम्बन्ध शिक्षा-प्रणाली से है। इस आश्रम का विकास अत्यन्त ही प्राचीन काल से हुआ था। ऋग्वेद 10/10/9 में ब्रह्मचारी का तथा अथर्ववेद 11/5/19 में ब्रह्मचर्य का स्पष्ट उल्लेख आता है। अथर्ववेद 11/5/1-26 में तो ब्रह्मचर्याश्रम के विकसित स्वरूप के दर्शन होते है। वहाँ ब्रह्मचारी, आचार्य समिध, भैक्ष्य, मेखला, ब्रह्मचर्यादि का उल्लेख आता है, तथा ब्रह्मचारी व ब्रह्मचर्याश्रम के महत्व की बहुत ही सुन्दर व्याख्या की गई है। अथर्ववेद के उक्त वर्णन को पढ़ने से हमें तत्कालीन शिक्षा-प्रणाली के स्वरूप तथा उद्देश्य का पता भी लगता है। उक्त प्रकरण में ब्रह्मचर्य के महत्त्व को समझाते हुए लिखा गया है, विश्व में कदाचित् ही कोई ऐसी संस्कृति हो, जिसने अपना उद्देश्य इतना ऊँचा बनाया हो। वेदकालीन आर्यो के सामने यही आदर्श रहता था कि वे ब्रह्मचर्य व तप के द्वारा मृत्यु का हनन कर अमरत्व को प्राप्त करें। इसी में प्राचीन शिक्षा-प्रणाली का रहस्य छिपा हुआ है।

ब्रह्मचर्याश्रम में ऐसी शिक्षा दी जाती थी जो धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष, आदि वर्गचतुष्टय की प्राप्ति में सहायक बन सके। इस आश्रम में मानव-जीवन के सर्वागीण विकास के लिए भी पूरा-पूरा स्थान था। वेदकाल का विद्यार्थी ब्रह्मचारी भी कहलाता था। उसके विद्याध्ययन का काल व स्थान ब्रह्मचर्याश्रम कहलाता था। ब्रह्मचारी व ब्रह्मचर्य शब्दों का तात्पर्य है, वह व्यक्ति या ऐसा जीवन जिसमें 'ब्रह्म' अर्थात् 'सत्य' को खोजने की एक धुन सी लगी हो।

गुरुकुल-जीवन

प्राचीन काल में प्रत्येक बालक के मन पर यह अंकित कर दिया जाता था कि वह समाज का एक घटक है, वह पूर्णतया स्वंतत्र नहीं है। इस संसार में आते ही वह पितृऋण, ऋषिऋण, देवऋण आदि से ऋणी हो जाता है। इन ऋणों को चुकाने का सामर्थ्य ब्रह्मचर्याश्रम में प्राप्त करता था। सात या आाठ वर्ष के बालक को ब्रह्मचर्याश्रम में प्रविष्ट कराया जाता था। आचार्य या गुरु द्वारा उसे ब्रह्मचर्याश्रम की दीक्षा मिलती थीं। इसी अवसर पर उसका यज्ञोपवीत या उपनयन संस्कार होता था, जब कि उसे यज्ञोपवीत धारण करने का अधिकार मिलता था।

यज्ञोपवीत धारण करने के पश्चात विद्यार्थी (ब्रह्मचारी) गुरु के परिवार का एक सदस्य बन जाता था। सत्य, तप, ज्ञान आदि की मूर्ति गुरु के सच्चरित्र व व्यक्तित्व का प्रभाव कोमलहृदय ब्रह्मचारियों पर पड़े विना नहीं रहता था। प्रकृति देवी के सानिध्य में बैठ कर गुरुकुल के ब्रह्मचारी अपनी नैसर्गिक शक्तियों का विकास करते थे।

ब्रह्मचर्याश्रम के अन्तर्गत जो विद्यार्थी-जीवन रहता था, उसकी विशेषता यह थी कि पद-पद पर उदात्त भाव दृष्टिगोचर होते थे। गुरुकुल में प्रवेश करते ही प्रत्येक बालक, को नीच, ऊँच, छोटा, बड़ा आदि के भाव भुला देने पड़ते थे, और बालपन से ही अपने कोमल हृदय पर समता का भाव अंकित करना पड़ता था। गृहस्थाश्रम में प्रवेश करने के पश्चात् वह इस भाव को समाज में भी फैलाता था, जिससे समाज का बड़ा हित होता था। जिन देशों में ऐसी व्यवस्था नहीं थी, वहाँ समाज में इस भाव को प्रचलित करने के लिए कितना ही रक्तपात किया गया।

सेवावृत्ति गुरुकुल-जीवन की विशेषता थी। प्राचीन काल में प्रत्येक ब्रह्मचारी को स्वावलम्बन के सिद्धान्त पर आचरण करना पड़ता था। अपना सब काम अपने हाथों कर उसे गुरु की सेवा भी करनी पड़ती थी। उसे जीवन की पूरी सादगी का ध्यान रखना पड़ता था। इन ब्रह्मचारियों को इन्द्रियलोलुपता को उत्तेजित करने वाली भड़कीली वेषभूषा, तैलमर्दन आदि श्रृंगार सामग्री से दूर रहना पड़ता था। तपस्वियों के समान वल्कल, मेखला आदि धारण कर उन्हें अपना जीवन तपोमय व ब्रह्मचर्ययुक्त बनाना पड़ता था।

शिक्षा

मंडूक सूक्त (ऋग्वेद 7, 103, 5) में ऋग्वैदिक शिक्षा प्रणाली की झलक मिलती है—

यदेषामन्यो अन्यस्य वाचं शाक्तस्येव वदति शिक्षमाणः।
सर्वं तदेषां समृधेव पर्व यत् सुवाचो वदथनाध्यप्सु।।

"जैसे शिष्य गुरु का अनुसरण करता है वैसे ही परस्पर एक-दूसरे के शब्द का यह अनुकरण करते हैं। हे मेढको! तुम सुन्दर शब्द करते हुए जल पर उछलते-कूदते हो, उस समय तुम्हारे शरीर के सब अवयव पुष्ट हो जाते हैं।" अर्थात जिस प्रकार मेंढक एक दूसरे के शब्द का अनुसरण करते हैं, उसी प्रकार गुरु जब वेदों को सुनाता है तो उसके वृन्दगान की आवाज को और उनके शब्दों को शिष्य अनुसरण करता है। सम्पूर्ण शिक्षा मौखिक दी जाती थी। यह विवादास्पद है कि ऋग्वेद युग में लिखने की शिक्षा दी जाती थी या नहीं। कंठस्थ करने अथवा याद करने का विशेष महत्व था। बहुधा साहित्यिक वाद-विवाद का आयोजन होता था। सुप्रसिद्ध गायत्री मन्त्र (ऋग्वेद 3, 62, 10 तत्सवितुर्वरेण्यं भर्गो देवस्य धीमहि। धियो यो नः प्रचोदयात्) में सविता के वरणीय तेज का ध्यान करने का उल्लेख है, तथा प्रार्थना की गई कि वह सविता, बुद्धि को प्रेरणा प्रदान करे। एक सूक्त (ऋग्वेद 10, 71, 1-11) में वाग्शक्ति द्वारा प्राप्त ज्ञान की महिमा का विवेचन है और विद्वानों के मध्य वाद-विवाद का उल्लेख है, तथा कहा गया है कि कुछ लोग वाग्शक्ति को देखते हुए भी नहीं देख पाते, सुनते हुए भी नहीं सुन पाते। एक अन्य सूक्त (ऋग्वेद 10, 125, 1-8) में वाग्शक्ति की अगाध महिमा गाई गई है। वाग्शक्ति कहती है —"मैं रुद्र, वसु, आदित्य, विश्वेदेव आदि के साथ विचरण करती हूँ। मैं मित्र, वरुण, इन्द्र, अग्नि, अश्विनीकुमार आदि का पोषण करती हूँ। मैं हविष् प्रदान करने वाले यजमान को द्रव्य प्रदान करती हूँ। जो देखता है, तो श्वासं लेता है, जो सुनता है वह मेरे कारण भोजन प्राप्त करता है। मैं स्वतः ही देवताओं के लिए प्रियवचन कहती हूँ। मैं जिसे चाहती हूँ उसे शक्तिशाली, ब्राह्मण, ऋषि और मेधावान् बना देती हूँ।" वाग्देवी की इस स्तुति से वेदकालीन समाज में विद्योपार्जन विद्याव्यासंग तथा बौद्धिक विकास का

कितना महत्व था, यह स्पष्ट हो जाता है। यह सब सुव्यवस्थित शिक्षा प्रणाली के अस्तित्व के विना असम्भव है।

ऋग्वेद के उपरोक्त उद्धरणों को देखने से पता चलता है कि तत्कालीन समाज में सुव्यवस्थित शिक्षा-प्रणाली विकसित थी। ब्रह्मचर्याश्रम प्रणाली के अनुसार शैक्षणिक संस्थाओं की स्थापना हुई थी, जिनका संचालन आचार्यों और ऋषियों द्वारा किया जाता था, वहाँ ज्ञानार्जन के लिए विभिन्न छात्र व छात्राएँ एकत्रित होते थे, जिन्हें ब्रह्मचारी और ब्रह्मचारिणी कहा जाता था।

अथर्ववेद में ब्रह्मचारी और ब्रह्मचर्य का जो वर्णन आता है, उससे स्पष्ट होता है कि ब्रह्मचर्य जीवन लगभग सब के लिए आवश्यक था। देवता, मनुष्य, कन्या, राजा सब को ब्रह्मचर्य जीवन धारण करना पड़ता था। ब्रह्मचारी का प्रभाव समस्त भूतल पर रहता था। जिस समाज में विद्योपार्जन और विद्योपार्जन करने वाले विद्यार्थियों को इतना अधिक महत्व दिया गया हो, वह सांस्कृतिक विकास के मार्ग में कितना आगे बढ़ा होगा, इसकी कल्पना ही की जा सकती है।

ऋग्वेदादि संहिताओं के मन्त्रद्रष्टा साधारण व्यक्ति नहीं थे। जिन्होंने धर्म, दर्शन, समाजशास्त्र, अर्थशास्त्र, राजनीति आदि के ऊँचे से ऊँचे सिद्धान्तों का विवेचन किया है वे अवश्य ही उच्चकोटि के विद्वान् थे। नासदीय सूक्त (ऋ. 10, 126, 1-7), पुरुष सूक्त (ऋग्वेद 10, 90, 1-16)हिरण्यगर्भसूक्त (ऋग्वेद 10, 121, 1-10), वागाम्भृणी सूक्त (ऋग्वेद 10, 125, 1-8), पृथ्वी सूक्त (अथर्ववेद 12, 1, 1-63), कालसूक्त (अथर्ववेद 19, 53, 1-10), ईशावास्यमसूक्त (यजुर्वेद 40, 1-17) आदि में जो ज्ञान का भंडार भरा हुआ है, वह साधारण मस्तिष्क की उपज नहीं हो सकता। ऐसे मस्तिष्क वाले व्यक्ति केवल उसी समाज में जन्म ले सकते है जिसका शैक्षणिक स्तर बहुत ऊँचा हो। ऊँचे शैक्षणिक स्तर के लिए उदात्त सिद्धान्तों के आधार पर विकसित शिक्षा प्रणाली का रहना अनिवार्य है।

विभिन्न विद्याओं का अध्ययन

ऋग्वेदादि संहिताओं में विभिन्न शाखाओं व विद्याओं का ज्ञान निहित है। वैदिक मन्त्रों के आलोचनात्मक अध्ययन से साहित्य के विभिन्न अंगों के व्यवस्थित विकास का स्पष्ट बोध होता है। वैदिक साहित्य के सँहितापाठ, पदपाठ, क्रमपाठ आदि तथा अनुदात्त, उदात्त, स्वरित आदि स्वरों के प्रयोग से तत्कालीन व्याकरण शास्त्र के विकास का ज्ञान होता है। गायत्री, त्रिष्टुप्, अनुष्टुप्, जगती, पड़ि आदि विभिन्न छन्दों के प्रयोग से तत्कालीन छन्दशात्र का ज्ञान होता है नासदीय सूक्त, हिरण्यगर्भसूक्त, पुरुषसूक्त आदि से दर्शनशास्त्र, समाजशास्त्र, अर्थशास्त्र आदि के विकसित रूप के दर्शन होते हैं। उषः, सूर्य, सविता, रात्रि, पुरुष आदि के सूक्त उत्कृष्ट काव्य के नमूने हैं। ज्योतिःशास्त्र, गणितादि विद्या, आयुर्वेद आदि से सम्बन्धित बहुत से तथ्य वैदिक साहित्य में वर्तमान है। वैदिक साहित्य में इतिहास व भूगोल से भी सम्बन्धित कितनी ही सामग्री वर्तमान है, जिससे वैदिक ऋषियों के इतिहास व भूगोल सम्बन्धी ज्ञान का स्पष्ट बोध होता है। इस प्रकार वैदिक साहित्य में धर्म व दर्शन के अतिरिक्त समाजशास्त्र, अर्थशास्त्र, राजनीति, गणितादि विद्या, ज्योति-शास्त्र, आयुर्वेद, इतिहास, भूगोल, व्याकरण, छन्दशास्त्र, अलंकारशास्त्र, काव्य आदि से सम्बन्धित कितनी ही सामग्री वर्तमान है। यह कहना न होगा कि वेदकालीन शिक्षा-प्रणाली में इन विद्याओं तथा शास्त्रों के अध्ययन-अध्यापन की व्यवस्था अवश्य रही होगी। इससे स्पष्ट है कि

वेदकालीन शिक्षा-प्रणाली में केवल धार्मिक अध्ययन को ही महत्व नहीं दिया गया था, किन्तु विभिन्न शास्त्रों व विद्याओं के अध्ययन को भी महत्त्व दिया गया था।

छान्दोग्योपनिषद् में एक स्थान पर महर्षि सनत्कुमार के पूछने पर नारद मुनि कहते हैं–'हे भगवन् मैंने ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद, अथर्ववेद, इतिहास-पुराण, वेदों के अर्थ विद्योयक ग्रन्थ, पितृविद्या, राशिविद्या, वेदविद्या, विधिविद्या, नक्षत्रविद्या और सर्प देवजन विद्याओं का अध्ययन किया है छन्दोग्योपनिषद् 7, 1, 2। इन विद्याओं की व्याख्या इस प्रकार की जा सकती है–"इतिहास पुराण" अर्थात पुराण प्राचीन अनुश्रुतियाँ 'वेदान्तो वेदम्" अर्थात वेदों के अर्थ जिंन विद्याओं से जाने जायँ वे विद्याएँ, निरुक्त, शिक्षा, छन्द, कल्प व ज्योतिष "पित्रयेम्" पितर सम्बन्धी विद्या 'राशिम्" गणित विद्या, "दैवम्," उत्पात विद्या, जैसे भूकम्प, जलप्लावन, वायुकोष "निधिम्" अर्थात् खानों की विद्या, "वाकोवाक्यम्" अर्थात् तर्कशास्त्र, "एकायनम्" अर्थात् नीतिविद्या, "ब्रह्मविद्या," "वाकोवाक्यम्:" अर्थात तर्कशास्त्र, "एकायनम्" अर्थात् नीतिविद्या, "ब्रह्मविद्या," जिसमें ब्रह्म की व्याख्या की गई हो, "भूतविद्या,"अर्थात प्राणियों की विद्या, प्राणियों के प्रकार, वर्णन, रचना आदि, "क्षत्रविद्या" अर्थात् धनुविद्या तथा राजशासनविद्या। "नक्षत्रविद्या" अर्थात् ज्योतिषविद्या। "सर्पदेवजनविद्या" का तात्पर्य ठीक तरह से ज्ञात नहीं होता, परन्तु सम्भव है कि सर्पो का विष दूर करने की विद्या तथा देव और जन से सम्बन्ध रखने वाली अनेक प्रकार की विद्याओं का वर्णन हो। इस प्रकार स्पष्ट होता है कि प्राचीन भारत में नाना प्रकार की विद्याएँ पढ़ाई जाती थीं। किन्तु साधारणतया, ब्रह्मचर्याश्रम तो एक प्रकार के अनिवार्य शिक्षाक्रम का एक नमूना था, जो सब के लिए आवश्यक था, जैसा किआजकल कितने ही स्थानों पर अनिवार्य प्राथमिक शिक्षा का आयोजन किया गया है। गुरुकुल जीवन में तो अपनी नैसर्गिक शक्तियों का सम्यक् विकास करके मनुष्य सच्चे अर्थ में मनुष्य बनता था।

वेदकालीन शिक्षा

प्रणाली के उद्देश्य तथा आदर्शो का दिग्दर्शन हमें उस उपदेश से होता है जो आचार्य विद्या समाप्ति पर अपने अन्तेवासियों (विद्यार्थियों) को देता था। विद्या समाप्ति पर आचार्य विद्यार्थियों को उनके भावीजीवन के प्रति प्रेरणा देते हुए उपदेश देता था तैत्तिरीय उप. 2/5: "सत्यं वद। धर्मचर। स्वाध्यायान्मा प्रमद। आचार्याय प्रियं धनमाहृत्य प्रजातन्तुं मा व्यवच्छेत्सीः। सत्यान्न प्रमदितव्यम्। स्वाध्यायप्रवचनाभ्यां न प्रमदितव्यम्। देवपितृकार्याभ्यां न प्रमदितव्यम्। मातृदेवो भव पितृदेवो भव। आचार्यदेवो भव। अतिथिदेवो भव। यान्यनवद्यानि कर्माणि तानि सेविव्यानि नो इतराणि। यान्यस्यामक् सुचिरितानि तानि त्वयोपास्यानि नो इतराणि। ये के चास्मच्छ्रेयांसो ब्राह्मणास्तेषां त्वयासनेन प्रश्नवसितव्यम्। श्रद्धया देयम्। अश्रद्धया देयम्। श्रिया देवम्। ह्रिया देयम्। भिया देयम्। संविदा देयम्। अथ यदि ते कर्मविचिकत्सा वा वृत्तविचिकित्सा वा स्यात्। ये तत्र ब्राह्मणा सम्मर्शिनो युक्ता अयुक्ता अलूक्षा धर्मकामाः स्युर्यथा ते तत्र वर्तेरन्। तथा तत्र वर्त्तेथाः। एष आदेशः। एष उपदेशः। एषा वेदोपनिषत्। एतदनुशासनम् एवमुपासितव्यम्। एवमु चैतदुपास्यम्। जो कि इस प्रकार है–

"सत्य बोलो, धर्माचरण करो, स्वाध्याय में प्रमाद् मत करो। आचार्य को प्रियधन (गुरुदक्षिणा) देकर प्रजातन्तु को मत तोड़ो (गहृस्थाश्रम में प्रवेश कर सन्तानोत्पति करो)। सत्य से प्रमाद न करो,

धर्म से प्रमाद न करो, अपने कुशलक्षेम के प्रति प्रमादी न बनो। अपनी समृद्धि के प्रति प्रमाद न करो। देवता-पितर आदि के कार्यो के प्रति प्रमाद न करो। माता को देवता के समान समझो, पिता को देवता के समान समझो, आचार्य को देवता के समान समझो। अतिथि को देवता के समान समझो, जो अनिन्द्नीय कर्म हैं उन्ही का सेवन करो, अन्यों की नहीं। जो हमारे सुचरित हैं, उन्हीं की उपासना तुम्हें करनी चाहिये अन्यों की नहीं। जो हमारे मध्य कल्याणकारी ब्राह्मण है, उनके निकट बैठ उनमें विश्वास करो, श्रद्धा से दान देना चाहिये, अश्रद्धा से दान देना चाहिये, ऐश्वर्य के लिए दान देना चाहिये, भय से दान देना चाहिये, प्रतिज्ञा से दान देना चाहिये। यदि तुम्हें सत्कर्म या सदाचार के प्रति किसी प्रकार का संशय होवे तो उस सम्बन्ध में वे विचारशील, योगी, अयोगी, आर्द्रचित्त व धार्मिक ब्राह्मण जैसा व्यवहार करे वैसा तुम्हें करना चाहिये। यही आदेश है, यही उपदेश है, यही वेदों व उपनिषदों की शिक्षा है। यही अनुशासन है। इसी की उपासना करनी चाहिये, यही उपासना करने योग्य है।''

एक शिक्षित युवक के लिए जीवन के प्रवेश करने के पूर्व उपरोक्त उपदेश से अधिक प्रेरणाप्रद व मार्गदर्शक और कोई उपदेश नहीं हो सकता। प्राचीन शिक्षा प्रणाली के अन्तर्गत प्रत्येक विद्यार्थी को अपनी शारीरिक, मानसिक व आध्यात्मिक उन्नति करने का पूर्ण अवसर प्राप्त होता था। गुरुकुल के शुद्ध जलवायु में उसका स्वास्थ्य अच्छा रहता था तथा शरीर पुष्ट बनता था। संयम व अनुशासन का जीवन शरीर की पुष्टि में पूरी सहायता करता था। जंगल की शुद्ध हवा में रहकर प्रातः ब्राह्ममुहूर्त में उठना, शौचादि से निवृत हो स्नान-सन्ध्या आदि बातें सोने में सुगन्ध का काम करती थीं। इसके अतिरिक्त जंगल में जाकर यज्ञार्थ लकड़ी काटने के काम से सम्पूर्ण शरीर को पूरा व्यायाम मिलता था। प्राणायाम आदि के द्वारा फेफड़ों के विकार दूर होकर उनकी शक्ति बढ़ती थी। कम-से-कम पन्द्रह वर्ष तक ऐसा जीवन व्यतीत करने पर शरीर इतना हृष्ट-पुष्ट बन जाता था कि कोई रोग उसमें प्रवेश तक नहीं कर सकता था। ऐसे ही शारीरिक विकास वाले लोग ''पश्येम शरदः शतं जीवेम शरदः शतम् आदि वैदिक वचनों को अपने जीवन में चरितार्थ करते थे।

वेदकालीन ब्रह्मचर्य जीवन में शारीरिक विकास के साथ-साथ मानसिक व आत्मिक विकास भी बराबर होता था। इस कार्य में विद्यार्थी पर, गुरु के व्यक्तित्व का बड़ा भारी प्रभाव पड़ता था। वेदादि के अध्ययन व अन्य विद्याओं के ज्ञान से ब्रह्मचारियों के मन व बुद्धि का विकास होता था, तथा आचार्य के सच्चरित्र व पवित्र जीवन द्वारा आत्मिक विकास के लिए प्रेरणा प्राप्त होती थी।

उपरोक्त वर्णन से वेदकालीन शिक्षा-प्रणाली का स्पष्ट दिग्दर्शन हो जाता है। तकालीन शिक्षा-प्रणाली का विकास उदात्त सिद्धान्तों पर हुआ था, जिसके अन्तर्गत शारीरिक, मानसिक व आत्मिक विकास के लिए पूर्ण अवसर प्रदान किया जाता था। समाज के प्रत्येक स्त्री-पुरुष, नीच-ऊँच सबको उत्तम शिक्षा के द्वारा आत्मविकास का पूरा अधिकार था। वैदिक साहित्य के आलोचनात्मक अध्ययन से ज्ञात होता है कि तत्कालीन समाज का शैक्षणिक स्तर बहुत ऊँचा था तथा उस समय विभिन्न शास्त्रों तथा विद्याओं का विकास हुआ था। यह यथार्थ में आश्चर्य की बात है कि जब विश्व के अनेक भाग अज्ञान व असभ्यता के अन्धकार में पड़े थे उस समय वैदिक आर्यों ने मानव समाज को दानवता के गर्त में से निकाल कर सच्चे अर्थ में मानवतापूर्ण बनाने के लिए शास्त्रीय व वैज्ञानिक ढंग पर विकसित एक सुन्दर शिक्षा प्रणाली का सूत्रपात किया था।

(ख) स्त्री का सामाजिक जीवन

कभी-कभी स्त्रियाँ अपने पति के साथ युद्ध में भी जाती थीं। खेल नृप की पत्नी विश्पला का एक पैर युद्ध में कट गया था। अश्विनी कुमार की कृपा से उसने लोहे के पैर लगवा लिए थे (ऋग्वेद 1/112/10; 1/116/15; 1/118/8; 10/39/8)। मुद्गल की पत्नी मुद्गलानी या इन्द्रसेना ने डाकुओं का पीछा करने में अपने पति की सहायता थी। वे डाकू उनकी गायें चुराकर भाग रहे थे। मुद्गलानी ने अपने पति के धनुष-वाण लेकर डाकुओं से युद्ध किया, उनको हराकर अपनी गायें वापिस ले ली (ऋग्वेद 10/102)। स्त्रियाँ सेना में भी भरती होती थीं क्योंकि ऋग्वेद में (5/30/9) में स्त्री योद्धाओं का भी उल्लेख आता है। इन उदाहरणों से स्पष्ट हो जाता है कि वैदिक युग के सामाजिक जीवन में स्त्रियों का महत्वपूर्ण स्थान था। उन्हें पुरुषों के समान शारीरिक, बौद्धिक और आध्यात्मिक विकास के अवसर दिये जाते थे।

(ग) शूद्रों का स्थान

वेदकालीन सामाजिक उदारता के स्पष्ट दर्शन हमें शूद्रों को समाज में जो स्थान दिया गया था, उसमें होते हैं। जाति व रंग आदि के भेदों से सम्बन्धित प्रश्नों ने आज भी पाश्चात्य, जगत् के लिए विकट सामाजिक समस्या का रूप धारण किया है, किन्तु वैदिक युग के आर्यो ने मानवता के सिद्धान्त को अपनाकर जाति, रंग आदि के भेदों से ऊपर उठकर असभ्य जातियों को संस्कृति का पाठ पढ़ा कर अपने समाज में स्थान दिया। प्राचीन भारत की वर्ण-व्यवस्था का प्रारम्भ यहीं से होता है।

शूद्र का उल्लेख ऋग्वेद के पुरुष-सूक्त ऋग्वेद 10/90/12 (पद्भ्यां शूद्रो अजायत) में आता है, जहाँ कहा गया है कि विराट पुरुष के पैर से उत्पन्न हुआ है। इस आलंकारिक वर्णन का तात्पर्य है कि शूद्रों को समाज में उच्चवर्ग के लोगों की सेवा आदि का काम करना पड़ता था। शूद्र के अतिरिक्त दास व दस्यु भी ऋग्वेद में कितनी ही बार उल्लेखित हैं। कुछ विद्वानों का मत है कि शूद्र, दस्यु, दास आदि अनार्य व असभ्य आदिम जातियाँ थी, जिनसे आर्यो ने पहिले युद्ध किया और फिर उन्हें पराजित करके धीरे-धीरे अपने समाज में मिला लिया। ऋग्वेद के पुरुषसूक्त में शूद्र का जो उल्लेख है उससे उन्हीं आदिम जाति के लोगों का तात्पर्य है, जिन्होंने आर्यों की सामाजिक व्यवस्था में रहना स्वीकार किया था। उनके साथ समाज में अच्छा व्यवहार किया जाता था, यह अथर्ववेद के उन वचनों से सिद्ध होता है जिनमें कहा गया है कि प्रत्येक को इस प्रकार का व्यवहार करना चाहिये, जिससे वह आर्यो व शूद्रों दोनों में प्रिय बन सके (19/62/1)

वैदिक साहित्य के आलोचनात्मक अध्ययन से स्पष्ट होता है कि वैदिक आर्यों ने अथर्ववेद के उपरोक्त वचनों का पूर्णतया पालन किया व शूद्रों को समाज में नागरिकता के अधिकार देकर उन्हें आत्मविकास का पूरा अवसर प्रदान किया। शूद्रों में बौद्धिक विकास व शिक्षा की कमी के कारण उन्हें साधारणतया समाज की सेवा तथा निम्न कोटि के कार्य करने पड़ते थे, किन्तु आत्मोन्नति का मार्ग उनके लिए पूर्णतया खुला था। इस मन्तव्य की पुष्टि में यजुर्वेद के वे मंत्र दिये जा सकते हैं, जिनमें कहा गया है कि 'वेद की कल्याणकारी वाणी मनुष्यमात्र के लिए कही गई है; वे ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र आदि कोई भी जाति के हों।''इससे स्पष्ट है कि शूद्रों को भी वेदाध्ययन का अधिकार प्रात था। यही कारण

है कि दासीपुत्र कवष ऐलूष, कक्षीवत् आदि शूद्र रहते हुए भी ऋग्वेद के कुछ मन्त्रों के द्रष्टा बन सके। यजुर्वेद के एक और मंत्र 30/5; से शूद्र के आत्मोन्नति के प्रयासों का पता लगता है। उस मंत्र में ब्राह्मण को ब्रह्म से, राजन्य या क्षत्रिय को क्षत्र से, वैश्य को मरुतों से और शूद्र को तप से सम्बन्धित किया गया है। असभ्य जातियों को सभ्य बनाने के लिए कितना तप अर्थात् कठिन परिश्रम करना पड़ता है यह स्पष्ट ही है। इसी सिद्धान्त के अनुसार शूद्रों ने भी, जब उन्हें आर्यों ने अपने समाज में समुचित स्थान दिया, तप अर्थात् कठिन परिश्रम द्वारा अपना विकास प्रारंभ किया होगा। इसी तप के परिणाम-स्वरुप उनमें से कुछ आत्मविकास की चरम सीमा तक भी पहुँच सके। बाद में धर्मसूत्र, स्मृति आदि साहित्य से ज्ञात होता है कि शूद्रों के लिए शिल्पवृति व दास्यकर्म निहित था। आर्यो के समाज में प्रवेश पाते ही शूद्रों ने दास्यकर्म द्वारा अपनी जीविका का उपार्जन किया होगा, यही एक मार्ग उनके लिए खुला होगा। किन्तु धीरे-धीरे ज्यों-ज्यों वे प्रगति करने लगे, त्यों-त्यों उन्हें जीविका निर्वाह के अन्य स्रोत भी प्राप्त होने लगे हैं। यजुर्वेद 30/6-7, 11, 17-21; में जिन विभिन्न व्यवसाय व उद्योगधंधों का उल्लेख है उनमें से बहुतों को शूद्रों ने अवश्य ही अपनाया होगा। सूत, नाचने वाला; शैलूष गानेवाला, रथकार, तक्षा, मकान बनाने वाला, कारीगर, कौलाल कुम्हार, कर्मार, लुहार, इषुकार वाण बनाने वाला; धनुष्कार ज्याकर धनुष की रस्सी बनाने वाला; रजुसर्ज रस्सी बनाने वाला, गोपाल, अविपाल भेड़ पालने वाला; अजपाल बकरी पालने वाला; सुरकाल शराब बनाने वाला; ग्वालिन आदि विभिन्न व्यवसाय व उद्योगधंधों के प्रतिनिधि शूद्रवर्ण में से ही रहे होंगे। वैदिक युग के पश्चात् ये सब कार्य शूद्रों द्वारा किये जाते थे। इस प्रकार स्पष्ट हो जाता है कि वैदिक युग से ही शूद्रों ने आर्यो के समाज में प्रवेश कर विभिन्न व्यवसायों को अपनाया व समाज की आर्थिक व्यवस्था में समुचित स्थान प्राप्त किया।

सामाजिक दृष्टि से भी शूद्रों को धीरे-धीरे महत्वपूर्ण स्थान प्राप्त होने लगा। दस्यु, दास, शूद्र आदि भारत के आदिम निवासी धीरे-धीरे आर्यों द्वारा अपने समाज में आत्मसात् किये जाने लगे। आर्यों ने उनके साथ खराब व्यवहार नहीं किया, उनकी योग्यता के अनुसार उन्हें समाज में समुचित स्थान दिया। इसका परिणाम यह हुआ कि वे समाज के आवश्यक अंग समझे जाने लगे। वैदिक समाज में विभिन्न वर्णों के लोग स्वतंत्रतापूर्वक आपस में रोटी बेटी व्यवहार किया करते थे। शूद्र अस्पृश्य नहीं समझे जाते थे और न घृणा के पात्र ही माने जाते थे। शतपथ 5/4/6/9 ब्राह्मण में लिखा है कि ब्राह्मण 'ओ३म्' से, क्षत्रिय 'भू' से, वैश्य 'भुव' से, और शूद्र 'स्व' से उत्पन्न हुए हैं। इससे सिद्ध होता है कि ब्राह्मण, क्षत्रिय व वैश्य के समान शूद्र भी समाज का एक अंग माना जाता था, उसे हेय नहीं समझा जाता था। अनुलोम व प्रतिलोम विवाह, जिनका स्पष्ट उल्लेख धर्म सूत्रों में आता है वैदिक युग से ही प्रारम्भ हो गये थे। राजा के राज्याभिषेक के अवसर पर जिन सौ रतिन्यों की आवश्यकता होती थी उनमें शूद्रों का भी स्थान था। तत्तिरीय संहिता 1/8/1-2; तैत्तिरीय ब्राह्मण 1/7/3, शतपथ ब्राह्मण 5/3/1 इससे शूद्रों के धार्मिक तथा राजनैतिक अधिकार पर प्रकाश पड़ता है।

वैदिक काल के पश्चात् भी शूद्रों को समाज में अच्छी दृष्टि से देखा जाता था। उच्च वर्ण के लोग उनसे घृणा नहीं करते थे। प्रतिलोम विवाह (नीचे वर्ण का पति व ऊँच वर्ण की स्त्री) तथा अनुलोम विवाह (ऊँच वर्ण का पति व नीच वर्ण की स्त्री) भी समाज में प्रचलित थे। प्रतिलोम विवाह के उल्लेख से स्पष्ट होता है कि शूद्र, ब्राह्मणी से भी विवाह कर सकता था। ऐतरेय ब्राह्मण 2/19; कौषीतकी ब्राह्मण

12/3 से हमें पता चलता है कि कवष दासीपुत्र होते हुए भी समाज में उच्च स्थान पा सका तथा ऋग्वेद का मन्त्रद्रष्टा बन सका। उपरोक्त वर्णन से स्पष्ट होता है कि आर्यो ने जिन आदिम निवासियों से प्रारंभ में युद्ध किया था, उन्हीं को बाद में अपने समाज में स्थान देकर उन्हें अपने सांस्कृतिक विकास का हिस्सेदार बनाया। रंगभेद, भाषाभेद आदि से ऊपर उठ कर उन्होंने उन शूद्रों को अपने सामाजिक जीवन का एक घटक मान कर उन्हें आत्मसात् कर लिया। वैदिक आर्यो के सांस्कृतिक विकास का यही मूल मंत्र है।

प्राचीन भारतीय सामाजिक व्यवस्था में जिन बारह प्रकार के पुत्रों को मान्यता प्रदान की गई थी, वे इस प्रकार थे-औरस, क्षेत्रज, दत्तक, कृत्रिम, गूढोत्पत्र, अपविद्ध, सहोढ, क्रीत, पौनर्भव, स्वयंदत्त व शौद्र (मनुस्मृति 9/169-160)।

स्त्री में स्वयं जिस पुत्र को उत्पन्न करे उसे 'औरस' पुत्र कहा जाता था। मृत, नपुंसक, रोगी आदि की पत्नी से जो पुत्र गुरु द्वारा यथा-विधि किये गये नियोग से उत्पन्न होता है वह 'क्षेत्रज' कहाता था। आपत्काल में माता-पिता प्रीतिपूर्वक जल द्वारा अपने जिस पुत्र को किसी को दे दें, वहउसका 'दत्तक' पुत्र कहलाता था। गुण दोष को समझने वाला व पुत्रगुणों से युक्त अपने जातिवाले को पुत्र बनाने पर वह 'कृत्रिम' पुत्र कहलाता था। जो घर में उत्पन्न होता है किन्तु यह ज्ञात नहीं होता कि वह किसका है, ऐसा पुत्र उसी का होता है, जिसकी पत्नी में उत्पन्न हुआ हो वे उसे 'गूढोत्पन्न' कहते थे। माता-पिता या उनमें से किसी एक के द्वारा परित्यक्त पुत्र को यदि स्वीकार किया जाय तो वह 'अपविद्ध' पुत्र कहलाएगा। पिता के घर कन्या जिस पुत्र को उत्पन्न करे वह उससे विवाह करने वाले का 'कानीन' पुत्र कहलाता था। जान या अनजान में जिस गर्भिणी का विवाह-संस्कार हो जाता है, उसका गर्भ उससे विवाह करने वाले का हो जाता था व उत्पन्न पुत्र 'सहोढ' पुत्र कहलाता था। माता-पिता के पास से जिसे पुत्र बनाने की इच्छा से खरीदा जाता था, वह 'क्रीतक' पुत्र कहलाता था। पति से त्यागी गई या विधवा स्त्री पुनर्विवाह कर जिस पुत्र को जन्म देती है वह 'पौनर्भव' कहलाता था। माता-पिताविहीन या माता-पिता से त्यागा हुआ पुत्र अपने को किसी अन्य को दे दे तो वह उसी का 'स्वयंदत्त' पुत्र हो जाता था। ब्राह्मण द्वारा किसी शुद्र में उत्पन्न पुत्र 'शौद्र' या 'पारशव' कहलाता था।

उपरोक्त बारह प्रकार के पुत्रों को मान्यता प्रदान करके प्राचीन भारतीय समाज ने अपनी उदारता का ही परिचय दिया था। वैदिक साहित्य में भी यत्र-तत्र ऐसे पुत्रों का उल्लेख आता है। ऋग्वेद के एक और प्रसिद्ध मंत्रद्रष्टा शुनःशेप अजीगर्ति विश्वामित्र ऋषि के कृत्रिम पुत्र थे। इसी प्रकार पौनर्भव आदि पुत्र भी तत्कालीन समाज में अवश्य रहे होंगे। प्राचीन काल में नैतिकता का भाव इतना कुण्ठित नहीं था, जितना कि आजकल है। प्राचीन काल में सब के हित पर दृष्टि रखी जाती थी। प्रत्येक जीव परमात्मा का ही अंश माना जाता था। इसलिए प्रत्येक बालक, चाहे उसके माता-पिता ने सामाजिक नियमों का उल्लंघन कर ही उसे क्यों न पैदा किया हो, समाज में स्थान पाने व पूर्णतया रक्षित किये जाने का अधिकारी समझा जाता था। समाज माता-पिताके अपराध के लिए उस बालक को शासित करना पूर्ण अन्याय समझता था। प्राचीन सामाजिक व्यवस्था जहाँ उच्चतम नैतिक आदर्शो पर अवलम्बित थी, वहाँ उसमें मनुष्य की गलतियों के लिए भी स्थान था। यही कारण है कि कानीन, सहोढ, गूढज आदि पुत्रों

को भी समाज में स्थान दिया गया था। इस प्रकार प्राचीन भारतीय समाज एक जीवित व प्रगतिशील संस्था था।

(7) नारी प्रकरण

वैदिक समाज में नारी की स्थिति को जानने के लिए कन्या से ही अध्ययन करना आवश्यक है।

1. कन्या

ऋग्वेद में कन्या के लिए दो नाम सर्वाधिक मिलते है, दुहिता और कन्या। 'कना' एक ही सूक्त में चार बार प्रयुक्त हुआ है (ऋग्वेद 10, 61, 5, 10-11 और 21) कुमारी के लिए प्राय: युवति, योषा, योषणा और योषन् का प्रयोग हुआ है। 'योषा' युवा स्त्री के अर्थ में भी आता है। ऋग्वेद में योषित् का कुमारी के अर्थ में प्रयोग एक ही बार हुआ है (दे. 9, 38, 4)। ऋग्वेद में कहीं भी पुत्री की निन्दा नहीं मिलती है। यद्यपि पुत्री की अपेक्षा पुत्र का अधिक महत्व था, फिर भी असंख्य स्थलों पर संतति (प्रजा) के लिए प्रार्थनायें मिलती हैं। अत: ऋग्वेद आर्य पुत्री की उपेक्षा नहीं करते थे।

कन्या की निन्दा के अभाव का कारण यह भी है कि पुत्री भी पुत्रों की तरह वेदों का अध्ययन कर सकती थी,और देवताओं को बलि चढ़ा सकती थी। उसके विवाह की समस्या नहीं थी, वह अपना पति चुनने के लिए स्वतंत्र थी, और विधवा बनने का इतना डर नहीं था क्योंकि नियोग और विधवाओं के पुनर्विवाह के लिए अनुमति थी। यदि पुत्रों के लिए विशेष प्रार्थना होती थी, तो यह आश्चर्य नहीं था। कारण यह था कि पुत्र वंश को बनाये रखते हैं, युद्ध में विजय के सहायक होते हैं, तथा माता-पिता के यश के कारण बन जाते हैं। ऋग्वेद के बाद, अथर्ववेद में पुंसवन-संस्कार सामग्री मिलती है।

कन्या शिक्षा

बृहद् देवता (2, 82-84) में अपाला, घोषा, शची, गोधा, आदिति, विश्ववारा, आत्रेयी, श्रद्धा, वैवश्वती, यमी और वाग्देवी का नाम उल्लेखनीय है। ये देवियाँ दिव्य शक्तियों का आगार थीं। ब्रह्मवादिन होने के साथ मन्त्रद्रष्टा, ऋषि और ऋषिका थीं। वैदिक साहित्य में कन्याओं को बुनाई का भी प्रशिक्षण दिया जाता था। ऋग्वेद में बुननेवाली स्त्रियों की चर्चा है (2,3,6) और अथर्ववेद में उषा और रात्रि की तुलना दो कन्याओं से की गयी है जो विभिन्न रंगों का ताना-बाना बुनती हैं (10, 7, 42)। छान्दोग्योपनिषद् में कहा गया है कि राजा अश्वपति के राज्य में कोई भी (इसलिए कोई भी स्त्री) अशिक्षित नहीं थी (नाविद्वान् 5, 11, 5)।

(ख) भाई का महत्व

भाई और बहन का पारस्परिक संबंध

ऋग्वेद में बहुत से स्थलों पर (उदाहरणार्थ 2, 32, 6; 6, 55, 4. 6, 55, 5; 10, 108, 9) स्वसृ शब्द बहन के लिए प्रयुक्त है। इसी प्रकार ऋग्वेद के एक अन्य स्थल (1, 124, 8) पर रात्रि को उषा की 'ज्यायसी स्वसृ'' कहा गया है। ऋग्वेद में 'जामी शब्द' का भी इसी अर्थ में अनेक स्थलों पर प्रयोग मिलता है (उदाहरणार्थ 1, 65, 7; 3, 31, 2; और 10, 10, 10)।

वैदिक काल में पिता के मरण के बाद पुत्र अपनी बहन की देखभाल करता और उसके विवाह का प्रबन्ध करता था (ऋग्वेद 3, 31, 2)।

(ग) अभ्रातृका

भ्रातृहीन कन्या वैदिक काल में दुर्भाग्यवाली समझी जाती थी। ऊपर हमलोगों ने देखा कि पिता के मरने के बाद भाई ही बहन की देखभाल करता था। भाई के अभाव में कन्या को पिता के मरण के बाद स्वयं पति ढूँढ़ना पड़ता था, और इसलिए वह समाज में बदनाम समझी जाती थी (1, 124, 7)। ऋग्वेद के एक अन्य स्थल (4, 5, 5) पर पापी की तुलना भ्रातृहीन कन्या से की गई है, जिससे स्पष्ट होता है कि अभ्रातृका कन्या का नाम अच्छा नहीं था।

ऐसी ही कुछ कन्याएँ अविवाहित रहकर पिता के घर में ही बूढ़ी हो जाती थीं। (ऋग्वेद 2, 17, 7)

वैदिक काल के अन्त में यह भी धारणा बन रही थी कि ऐसी कन्यायों से इसलिए विवाह नहीं करना चाहिये कि अभ्रातृका कन्या का पुत्र उसके पिता का होता है (यास्क, 3, 4)। जीवन भर अपने पिता के घर बूढ़ी हो जाने वाली कन्याओं को 'अमाजुर' कहते थे।

(घ) **कन्याओं की स्वतंत्रता और उसका परिणाम**

ऋग्वेदीय समाज में कन्याओं और युवतियों को घर में बंद नहीं रखा जाता था। वे उन्मुक्त वातावरण में रहती थीं और सज धज कर विवाहों तथा लोकोत्सवों में उपस्थित हो जाती थीं।

उषा के संबंध में कहा गया है कि वह उस कन्या के सदृश है जो अपने सौदर्य पर गर्व करती है (ऋग्वेद 1, 123, 10)। घृत की तुलना उन कन्याओं से की गई है जो विवाहोत्सव में उपस्थित होने के लिए उबटन लगाती हैं (ऋग्वेद 4, 58, 9)।

अथर्ववेद में अर्यमा (विवाह के मध्यस्थ) से निवेदन किया जाता है कि वह इस कन्या के लिए पति को ले आये क्योंकि वह अन्य कन्याओं के विवाहों में जाते-जाते थक गयी है (6, 60, 2)। युवतियाँ (योषा) समनों में जाया करती थीं, इसका उल्लेख ऋग्वेद में अनेक स्थलों पर किया गया है (उदा. 5, 58, 8; 6, 75, 4; 10, 168, 2)। उस अवसर के लिए वे अपना शृंगार भी करती थीं (1, 124, 8)। संभवत इसलिए कि वहाँ उपयुक्त पति के दर्शन मिले, क्योंकि एक स्थल पर इसका उल्लेख है कि अविवाहित युवतियाँ समन के अवसर पर उबटन लगाती थीं (7, 2, 5)।

अथर्ववेद के इस सूक्त से इस अनुमान की पुष्टि होती है, जिसमें यह आशा व्यक्त की जाती है कि कन्या जो समन में रमणीय है शीघ्र ही पति प्राप्त करें (2, 36, 1)।

विवाहों तथा लोकोत्सवों के अतिरिक्त युवतियाँ युवकों से मिल जुल सकती थीं और युवाजन एक दूसरे से प्रणय निवेदन भी कर सकते थे। यह ऋग्वेद की बहुसंख्यक उपमाओं से स्पष्ट हो जाता है

जिस प्रकार युवतियाँ युवक के लिए झुक जाती है (10, 30, 6)।

जिस प्रकार कन्या अपने प्रेमी यार को बुलाती है (9, 59, 3)।

हे अग्नि! हमारी स्तुति से प्रसन्न हो जैसे युवक कन्या से (9, 35, 5)।

जिस प्रकार युवति अपने मित्र को बुलाती है (5, 52, 14)।

वह शीघ्रता से आ रहा है जैसे प्रेमिका के यहाँ प्रेमी (1, 101, 14)।

जगाना जैसे जार थोड़ी निन्द्रा में आयी युवति को जगाता है (1, 135, 3)।

जिस प्रकार युवती संकेत स्थल पर आती है (10, 40, 6)।

अथर्ववेद के एक पूरे सूक्त (4, 5) का विषय एक अभिचार है, जिसका प्रयोजन यह है कि जिस घर में प्रेमिका रहती है, उसमें प्रेमी के पहुँचने पर सभी लोग सोते रहें (4, 5, 9)।

इसके अतिरिक्त अथर्ववेद में अनेक प्रकारों के अभिचारों का समावेश किया गया है। जो युवा जन के प्रेम से सबंध रखते हैं जिनका वर्गीकरण इस प्रकार है :—

1. युवक का प्रेम जीतने के लिए 6, 130, 69, 131 और 132, 7, 38।

2. किसी प्रतिद्वन्दी युवती के विरुद्ध 1, 14।

3. किसी युवती का प्रेम जीतने के लिए 1, 34; 2, 30; 3, 25; 6, 138, 6, 8, 6, 9, 89; 6, 102।

(ङ) कुमारी पुत्र

युवक युवतियों की इस स्वतंत्रता के कुपरिणाम का उल्लेख वैदिक साहित्य में यत्र-तत्र मिलता है। ऋग्वेद के एक स्थल पर कुमारी द्वारा गर्भपात का संकेत किया गया है (2, 29, 1)।

आदित्यों को संबोधित करते हुए इस प्रकार प्रार्थना की जाती है कि आप मेरे पापों को इस प्रकार दूर करें, जिस प्रकार कोई कुमारी गुप्त में प्रसव करने पर करती है।

अगर गर्भ नष्ट नहीं किया गया तो, इन कुमारी कन्याओं से उत्पन्न पुत्र समाज में अवैध माने जाते थे। अत: वे फेंक दिये जाते थे और कीड़े उन्हें खाया करते थे। ऋग्वेद के अनुसार इन्द्र ने दीमकों द्वारा भक्ष्यमान अग्रुपुत्र (कुमारी पुत्र) को वल्मीकि से निकाला था। (4, 19,8)।

इस घटना की ओर ऋग्वेद में अन्यत्र भी संकेत किया गया, और उसमें परित्यक्त पुत्र को परावृक्त अथवा परावृज की संज्ञा दी गई है।

2. विवाह की तैयारी

(क) कन्या द्वारा वर का चुनाव

वैदिक समाज में कन्याओं को पर्याप्त स्वतंत्रता थी। अत: वे अपना सुयोग्य साथी स्वयं चुनने योग्य थीं और ऐसा करती भी होंगी। इस संबंध में ऋग्वेद में अनेक उद्धरण मिलते हैं (दे. ऊपर स्वतंत्रता के परिणाम)। विवाह के लिए उत्सुक प्रेमी कन्या को धन का प्रलोभन देते थे और अतिंम निर्णय बहुधा कन्या की सहमति पर निर्भर रहता था।

(ख) परिवार का अधिकार

यद्यपि कन्या को वर चुनने की पर्याप्त स्वतंत्रता थी तथापि कन्यादान का अधिकारी सर्वप्रथम पिता ही होता था। शतपथ ब्राह्मण (45, 1, 5, 9) के अनुसार सुकन्या के पिता ने वृद्ध च्यवन से उसका विवाह किया, उसने पिता की आज्ञा का पालन किया।

यदि अविवाहित कन्या की उमर बढ़ने लगती है तो सारा परिवार विवाह के लिए चिंता करता था। (अथर्ववेद 2, 36, 1; 6, 60, 2-3)।

(ग) बेमेल विवाह

कभी-कभी बेमेल विवाह भी होते थे। ऋग्वेद में बेमेल विवाह के कई उद्धहरण हैं जो इस प्रकार है :—

"हे इन्द्र तुमने सोमपान करने वाले और स्तुत्याकांक्षी वृद्ध कक्षीवान् को वृचया नाम की सुन्दरी स्त्री प्रदान की थी (1, 51, 13)।

एक दूसरी ऋचा में इन्द्र से यह प्रार्थना की गयी है कि युवती भार्या पाने पर जिस प्रकार वृद्ध व्यक्ति क्रोध नहीं करता, उसी प्रकर तुम क्रोध न करो (8, 2, 19)। इसी वेद में जराक्रान्त च्यवन की कथा है जिसे अश्विनौ ने युवावस्था प्रदान की और उसे पत्नी के लिए आकर्षक बना दिया (5, 75, 5)। यही कथा बड़े विस्तार से शतपथ- ब्राह्मण में वर्णित है (4, 1, 5)।

बृहद्देवता से ज्ञात होता है कि राजा रथवीति ने श्यावाश्व नामक ऋषि को पहले अपनी पुत्री देना अस्वीकार किया क्योंकि वह ऋषि नहीं था और उसका जामाता होने के अयोग्य था। फिर भी उन्होंने बाद में उसी को अपनी पुत्री दे दी (5, 78-80)।

(घ) विवाह के समय कन्या की अवस्था

ऊपर कन्याओं की स्वतंत्रता तथा प्रेम विवाह का विवरण दिया जा चुका है, साथ ही पति चुनने के संबंध में कन्या के अधिकार की चर्चा की गई है। इससे स्पष्ट है कि ऋग्वेदीय समाज में कन्याएँ यौवनारंभ तक अविवाहित रहती थीं। ऋग्वेद का एक पूरा सूक्त 10, 58 विवाह विषयक रीति रस्मों से संबंधित है। इस सूक्त से पता चलता है कि क़न्या के पूर्ण रूप से विकसित होने पर ही उसका विवाह होता था।

3. वर-वधू के अपेक्षित गुण

वैदिक समाज में सवर्ण और असगोत्र विवाह और साथ ही सपिंड विवाह-विषयक नियम भी नहीं बने थे फिर भी शतपथ-ब्राह्मण के रचनाकाल के समय तक यह माना जाता था कि चौथी या तीसरी पीढ़ी के पुरुष के साथ कन्या का विवाह संभव था (1, 8, 3, 6)।

(क) वर के अपेक्षित गुण

छोटे भाई को अपने बड़े भाई के बाद विवाह करना चाहिये। यदि अग्रज के अविवाहित रहते अनुज पहले विवाह करे तो ऐसा विवाह 'परिविविदान' कहलाता था (यजुर्वेद 30, 9 मैत्रायणी संहिता

4, 1, 9 वाजसनेयी संहिता 30, 9)। इसी प्रकार अग्रज के अविवाहित रहते यदि अनुज विवाह करे तो अग्रज 'परिवित्त' कहलाता था (अथर्ववेद 6, 112, 3 यजुर्वेद 30, 8 तैत्तिरीया ब्राह्मण 3, 2, 8,12)।

वैदिक काल में उपरोक्त विवाह पाप माना जाता था। अथर्ववेद (6, 112), में अनुज द्वारा इस प्रकार के विवाह के प्रायश्चित्त स्वरूप एक पूरा सूक्त है।

(ख) वधू के अपेक्षित गुण

ऐसा व्यक्ति जो बड़ी बहन के अविवाहित रहते हुए भी छोटी बहन से विवाह करे वह अग्रेदिधिषुपति या एदिधिषुपति कहलाता था। (यजुर्वेद 30, 8 एदिधिषुः पति, मैत्रायणी संहिता 4,1, 9 काठक संहिता 31, 7 और तैत्तिरीय ब्राह्मण 3, 2, 9, 12)। यदि छोटी बहन बड़ी बहन से पहले विवाह करे तो बड़ी बहन 'दिधिषु' और उसका पति 'दिधिषुः पति' कहलाता है (काठक संहिता 31,7)।

विद्या, सुयोग्य वर प्राप्त करने में सहायक होती थी। (दे. ऊपर कन्या की शिक्षा) अथर्ववेद में एक सूक्त 7, 115 मिलता है, जिसका प्रयोग कुलक्षण को हटाने तथा सुलक्षण को उत्पन्न करने के लिए होता है। सातवलेकर सायण के मतानुसार उस सूक्त में बारह कुलक्षणों को पाते हैं जो इस प्रकार है :—

1. निर्लक्ष्म्यं ललाम्यं-सिर पर होने वाले बुरे लक्षण (मन्त्र 1)।
2. विलीढ्यं ललाम्यं— सिर पर का कुलक्षण (मन्त्र 4)।
3. रिश्यपदी— हरिण के समान कृश पाँव (मन्त्र 4)।
4. वृषदती— बैल के समान बड़े दाँत (मन्त्र 4)
5. गोमेधा— गाय के समान चलना (मन्त्र 4)
6. विधमा— कानों को बुरी लगने वाली आवाज (मन्त्र 4)
7. केशेषु घोरं— बालों में क्रूरता (मन्त्र 3)
8. प्रतिचक्षणे— नेत्रों में क्रूरता (मन्त्र 3)
9. तन्वा क्रूरं— शरीर में भयानकता, अर्थात शरीर के टेढ़े मेढ़े होने के कारण भयानक दृश्य (मन्त्र 3)।
10. आत्मनि क्रूरं— मन, बुद्धि, चित्त आत्मा में क्रूरता का भाव होना (मल्त्र 3)
11. अ-रातिं-उदारभाव का अभाव (मन्त्र 1)
12. पदोः हस्तयोःअः रणिः — पाँव और हाथों की पीड़ा अथवा कुछ विकार (मन्त्र 2)

4. सजातीय विवाह के अपवाद

यद्यपि ऋग्वेद में ब्राह्मणों, क्षत्रियों, वैश्यों तथा शूद्रों का वर्गीकरण किया गया है। (10, 10, 12) और उसी क्रम से उनकी श्रेष्ठता मानी गयी है फिर भी वैदिक साहित्य में अंतरजातीय विवाह के बहुत उदाहरण मिलते हैं।

वैदिक साहित्य में अनुलोभ तथा प्रतिलोम विवाह का पारिभाषिक शब्द के रूप में प्रयोग नहीं हुआ है। ऋग्वेद (10, 109, 5) और अथर्ववेद (5, 17) के अनुसार किसी राजा ने एक ब्राह्मण की पत्नी का अपहरण किया था, किन्तु वह उसे लौटाने के लिए विवश किया गया। इसमें असफल प्रतिलोम विवाह का संकेत देखा जा सकता है। प्रतिलोम विवाह के दूसरे उदाहरण नहीं मिलते हैं, किन्तु कई स्थलों पर अनुलोम विवाह उल्लिखित है।

(क) अनुलोम विवाह

ऋग्वेद में ऋषि च्यवन के विवाह की चर्चा है। शतपथ ब्राह्मण में यह विस्तार सहित वर्णित है और उसकी पत्नी राजकुमारी सुकन्या है, अतः अनुलोम विवाह का उदाहरण है (4, 2, 5, 7)।

बृहद्देवता में उल्लिखित ऋषि श्यवाश्व तथा राजा रथवीति की कन्या (5, 51, 80) और ब्राह्मण कक्षीवान तथा राजा स्वनय की कन्या के विवाह (3, 144) इसी श्रेणी में आते हैं।

तैत्तिरीय संहिता (7, 4, 16, 3), वाजसनेयी संहिता (23, 30-31), मैत्रायणी संहिता (3, 13, 1) और काठक संहिता (5, 8) में आर्य और शूद्रा के विवाह के उदाहरण मिलते हैं।

छादोग्योपनिषद् में राजा जानश्रुति और रैक्व के उपाख्यान (4, 1-3) के अनुसार रैक्व ऋषि से दीक्षा लेने के लिए शूद्र जानश्रुति ने उसे अपनी कन्या प्रदान की थी। इसी उपनिषद् (4, 4, 2) में सत्यकाम जाबाल की चर्चा है, जो दासीपुत्र होते हुए हारिद्रुमत गौतम का शिष्य बनता है।

बृहद्देवता के अनुसार ऋषियों ने सरस्वती के किनारे सत्र करते हुए कवष को, जो इलूषा का पुत्र था, यह कहकर सोम यज्ञ से निकाल दिया-यह दासीपुत्र ज्वारी, अब्राह्मण हमारे मध्य में दीक्षा को कैसे प्राप्त करेगा (2, 18, 1)?

5. वाग्दान अथवा वरण

यद्यपि वाग्दान की रीति का वर्णन वैदिक साहित्य में नहीं मिलता, फिर भी ऋग्वेद तथा अथर्ववेद के बहुत से स्थलों पर विवाह के मध्यस्थ का उल्लेख है। सूर्या के विवाह के संदर्भ में कहा गया है कि अश्विनी कुमार विवाह के वर अर्थात् मध्यस्थ (घटक, बरेखिया) थे (ऋग्वेद 10, 85,9)।

(क) वर

ऋग्वेद में अन्यत्र भी (10, 32, 1) और अथर्ववेद (2, 36, 1 और 6) में वर शब्द इसी अर्थ में प्रस्तुत है, किन्तु अन्य स्थलों पर यह शब्द प्रेमी के अर्थ में आया है। (ऋग्वेद 8, 101, 14;1, 83, 2; 5, 60, 4)।

वर के अतिरिक्त ऋग्वेद में घटक के लिए सखा (10, 85, 23) मित्र (10, 68, 2), दूत (2, 6, 7; 2, 36, 1), जन्य (4, 48, 9) और अर्यमन् का भी प्रयोग हुआ है जिससे स्पष्ट है विवाह का संबंध निश्चित करने के लिए प्राचीन काल से घटकों की सहायता ली जाती थी।

(ख) अर्यमा (अर्यमन्)

ऋग्वेद तथा अथर्ववेद में मुख्यतया एक मंगलमय देवता आदित्य के अर्थ में प्रयुक्त है। भग की तरह यह विवाह के सहायक देवता के अर्थ में आया है (अथर्ववेद 10, 58, 23, अथर्ववेद 14,

1, 34)। इस शब्द का प्रयोग मित्र तथा घटक के रूप में भी आया है, दे. ऋग्वेद 10, 68, 2; 10, 40, 12 और अथर्ववेद 2, 36, 16; 24, 1, 17। इसके अतिरिक्त वह दुल्हे के अर्थ में आया है (अथर्ववेद 14, 2, 5)।

(ग) भग

इसे विवाह का सहायक देवता माना गया है जो वर (अर्यमन्) को वधू के पास ले जाता है (दे. ऋग्वेद 10, 68, 2; 10, 58, 23 और अथर्ववेद 6, 74, 1)।

वैदिक युग में विवाह की सीमाओं के सम्बन्ध में कोई स्पष्ट निर्देश नहीं किया गया है। परन्तु ऋग्वेद 10, 10 में यम-यमी संवाद से स्पष्ट पता लगता है कि तब भाई-बहन का विवाह वर्जित था। शतपथ ब्राह्मण (1, 8, 3, 9)में चौथी या तीसरी पीढ़ी में ही विवाह करने की स्वीकृति दी गई है, वह देश विशेष तथा परिस्थिति विशेष को दृष्टि में रखता है। इसी प्रकार दाक्षिणात्यों में मातुल कन्या तथा बुआ की पुत्री (फुफेरी बहन)से विवाह करने की परम्परा थी। इन विवाहों में गोत्र और पीढ़ी का कोई विचार नहीं किया जाता था। यह प्रथा वैदिक युग की सपिण्ड परम्परा का द्योतक है।

इस सपिण्ड शब्द को विद्वानों ने एक ही रसोई में भोजन करने वाले व्यक्तियों से संबंध किया है जिसके अनुसार प्रथम दो पीढ़ियों को छोड़कर ममेरी तथा फुफेरी बहिन से विवाह करना वर्जित नहीं था। ये परिस्थितियाँ थी जो सामान्य जन जीवन से संबंद्ध थीं।

6. विवाह

(क) गृहस्थाश्रम का महत्व और उद्देश्य

वैदिक आर्य सुरक्षित एवं समृद्ध गृहस्थी और प्रचुर संतति की अभिलाषा करते थे इसलिए वे विवाह को अत्याधिक महत्व देते थे।

वैदिक युग में जब कि कुछ ही संस्कार सम्पन्न किये जाते थे, तब भी विवाह एक संस्कार माना जाता था।

जब तीन ऋणों का सिद्धान्त समाज में व्यापक हो गया, तब विवाह की महत्ता और भी बढ़ गयी, और यह एक धार्मिक कर्तव्य माना जाने लगा, क्योंकि सिर्फ विवाह करके ही कोई व्यक्ति संतानोत्पति के द्वारा पितृऋण से मुक्त हो सकता था। ऋग्वेद (9, 61, 1) वध्यश्व के पुत्र दिवोदास को ऋणच्युत अर्थात् पितृ ऋण चुकाने वाला कहा गया है। तीन ऋण की विस्तार से चर्चा ऊपर हो गई है दे. इसी अध याय में पृ. 253

तैत्तिरीय संहिता के अनुसार विवाह करने के बाद ही मनुष्य पूर्ण माना जाता था क्योंकि पत्नी पुरुष का आधा है— अथो अर्द्धो वा एष आत्मनः यत्पत्नी (6, 1, 8, 5) यही उद्घरण तैत्तिरीय ब्राह्मण (3, 8, 4, 7) में भी मिलता है।

पत्नी के महत्व के विषय में ऋग्वेद में कहा गया है— जाया इद् अस्तम् 'स्त्री ही गृह होती' है (3, 53, 4)। तैतिरीय ब्राह्मण में विवाह एक यज्ञ माना गया है। जिसकी पत्नी नहीं है वह यज्ञ के विना

है (2, 2, 2, 6) और इसलिए वह तिरस्करणीय है। शतपथ ब्राह्मण (5, 2, 1, 10) के अनुसार जब तक वह पत्नी प्राप्त नही करता उससे पुत्र के रूप में पैदा नहीं होता (प्रजायते) तब तक वह अपूर्ण रहता है। जब तक वह अपूर्ण रहता है जब वह पत्नी से विवाह करता है और उससे (पुत्र के रूप में) पैदा होता है तब वह पूर्ण होता है।

शतपथ ब्राह्मण के एक अन्य स्थल (8, 7, 2, 3) में यह कहा गया है कि पुरुष, स्त्री द्वारा ही पूर्ण हो जाता है यही विचार ऐतरेय ब्राह्मण (1, 2, 5) तथा ऐतरेय आरण्यक (1, 2, 4) में भी व्यक्त किया गया है। ऐतरेय ब्राह्मण (7, 3, 13) के अनुसार पत्नी इसलिए जाया कहलाती है कि पति उसमें पुत्र के रूप में पैदा होता है।

विवाह का महत्व समझने के लिए बृहदारण्यकोपनिषद् (1, 4, 3) में पुरुष और स्त्री की उत्पत्ति के विषय में माना गया है कि प्रजापति ने अपनी देह को ही दो भागों में विभक्त कर डाला, उससे पति और पत्नी हुए। इसलिए यह शरीर अर्द्धदाल (द्विदल अन्न के एक दल) के समान है ऐसा याज्ञवल्वय ने कहा। अतः यह आकाश, स्त्री से पूर्ण होता है। वह उस (स्त्री) से संयुक्त हुआ, उसी से मनुष्य उत्पन्न हुए हैं। यही कारण है कि पुरुष स्त्री के विना अपने को अपूर्ण समझता था।

(ख) विवाह का उद्देश्य

संतति और विशेष रूप से पुत्र की प्राप्ति के लिए ऋग्वेद की बहुसंख्यक प्रार्थनायें हैं, यह प्रमाणित करती है कि विवाह का मुख्य उद्देश्य संतानोत्पति है। ऋग्वेद के विवाह सूक्त में वधू को जो आशीर्वाद दिया जाता है, उसमें संतति पर सर्वाधिक बल दिया गया है।

विवाह का मुख्य उद्देश्य पूर्ण करने में असमर्थ हो जाने के कारण बाँझ पत्नी उपेक्षित थी (10, 102, 11)। ऋग्वेद के एक सूक्त में रात्रि तथा उषा की तुलना क्रमशः बाँझ तथा पुत्रवती पत्नी से की गई है। रात्रि बाँझ की तरह पुराने कपड़े पहनी है, जब कि उषा दूसरे की तरह सूर्य के हिरण्यमय वस्त्रों से सुशेभित है (1, 122, 2)। शतपथ व्राह्मण (6, 5, 3, 5) में प्रजा को ज्योति माना गया है और बाँझ स्त्री को अशुभ।

बृहदारण्यकोपनिषद् में पुत्र उत्पन्न करना यज्ञ माना गया है। यही कारण है कि स्त्रियों के शरीर की उपमा वेदी से की गई है। (6, 4, 3)।

संतान के अतिरिक्त गृहस्थ के रूप में गृह-धर्म चलाना ही विवाह का एक महत्व पूर्ण उद्देश्य था। पाणिग्रहण के समय पति कहता था कि देवताओं ने गृह धर्म चलाने के लिए मुझे तुम्हें सौपा है। (ऋग्वेद 10, 85, 36)।

(ग) विवाह का अटूट संबंध और एक पत्नीप्रथा

विवाह के विषय में वैदिक आर्यो की आदर्श भावना विशेष रूप से इन दो बातों से परिलक्षित है विवाह का अटूट संबंध तथा एक पत्नी प्रथा। विवाह के बाद दम्पती दापत्यसूत्र में बंध जाते हैं अतः उन्हें एक दूसरे से अलग नहीं किया जा सकता है। ऋग्वेद के विवाह सूक्त से पता चलता है कि वधू की विदाई के समय उसे अपने घर से वियुक्त तथा अपने पति से संयुक्त किया जाता है और नये

घर में पहुँचने पर उसे यह आर्शीवाद दिया जाता है यहीं रहो, कभी वियुक्त न हो (10, 58, 42)। शतपथ ब्राह्मण में दांपत्य प्रेम के बारे में कहा गया है सच्चाई पति है और विश्वास पत्नी, मन पति है और वाणी पत्नी, जहाँ पति है वहाँ पत्नी है (12, 8, 2, 9)। इसी शतपथ ब्राह्मण में जब अश्विनीकुमार सुकन्या के जरावृद्ध पति की आलोचना करते हैं तब वह विवाह के अटूट संबंध के विषय में अपना विश्वास व्यक्त करते हुए कहती है— मैं कभी भी अपने पति को नहीं छोड़ूँगी, जिसे मेरे पिता ने मुझे दिया है (4, 1, 5, 9)। तैत्तिरीय ब्राह्मण में दंपती को जीवन भर साथ रहने का आशीर्वाद दिया जाता है। (3, 7, 5, 1)।

फिर भी ऋग्वेद में मुद्गलानी की उपमा उस परित्यक्ता (परिवृक्ता) से की गयी है जो पति को फिर प्राप्त करती है (10, 102,11)। अपाला भी संभवतः परित्यक्ता थी (ऋग्वेद 8, 6, 1, 4)। अथर्ववेद के एक सूक्त में पति द्वारा परित्यक्ता (10, 13) का उल्लेख है। वह सूक्त कृत्या (जादू की भूतनी) के बहिष्कार से संबंध रखता है और पति द्वारा परित्यक्ता से उसकी तुलना की गयी है इससे यह पता चलता है कि पत्नी परित्याग कल्पनातीत नहीं था, किंतु उसकी निंदा भी यहाँ प्रतिध्वनित है।

(घ) एकपत्नी प्रथा

वैदिक काल में एकपत्नी प्रथा आदर्श तथा सामान्य नियम था। ऋग्वेद (5, 3, 2; 8, 31, 5; 10, 10, 5; 10, 68, 2; 10, 85, 312, 10, 65, 12) और अथर्ववेद (12, 3, 14) में दंपती द्विवचन शब्द (घर के दो स्वामी) से एकपत्नी की ओर संकेत किया गया है।

ऋग्वेद के विवाह सूक्त के कई मन्त्रों में वधू को जो आर्शीवाद दिया जाता है, उससे एक पत्नी प्रथा के प्रचलन की पुष्टि होती है-गृह में जाकर गृहिणी बनो। तू स्वामिनी बनकर समझदार बातें किया करो (10, 85, 26)। नये घर में प्रवेश करते समय तुम सास, ससुर, ननद, और देवरों की महारानी बनो (10, 85, 46)। यज्ञ के वर्णन में भी प्रातः एक ही पत्नी का उल्लेख हुआ है।

(ङ) एक विवाह प्रथा के अपवाद

(क) बहुपत्नीप्रथा

ऋग्वेद के रचनाकाल में विवाह का आदर्श ऊँचा था और एकपत्नी प्रथा का अधिक प्रचलन रहा होगा। फिर भी वैदिक साहित्य में बहुविवाह की ओर बहुत से संकेत पाये जाते हैं। ऋग्वेद के दसवें मण्डल का सूक्त 145 का उद्देश्य है — सौत से पति का प्यार अलग करना। यह सूक्त अथर्ववेद में भी मिलता है (3, 18)। एक अन्य सूक्त (10, 129) में भी इन्द्र की पत्नी शची का जिक्र है जिसने सभी सौतों पर विजयी होकर सब को मार डाला और इन्द्र तथा सभी दूसरे पुरुषों पर भी सर्वोपरि शासन करने लगी। ऋग्वेद के कई अन्य स्थलों (1, 62, 11; 1, 104, 3; 10, 33, 2; 1, 105, 8; 10, 101, 11; 1, 116, 10; 1, 71, 2; 1, 62, 10; 9, 2, 3) में बहुपत्नी की चर्चा है।

(ख) बहुपत्नी प्रथा के कारण

बहुपत्नी प्रथा के कारणों पर भी प्रकाश डाला गया है। सोम यज्ञ के अंत में अध्वर्यु एक यूप

में दो मेखलाएँ बाँधता है किन्तु वह एक मेखला को दो यूपों में नहीं बाँधता है, इसलिए एक पुरुष की दो पत्नियाँ होती है, और एक पत्नी के दो पति नहीं होते है। (6, 6, 4, 3) तैतिरीय संहिता (6, 5, 1, 4) और काठक संहिता (26, 8)।

राष्ट्रभृदहोम के वर्णन के अन्तर्गत शतपथ ब्राह्मण में बहुपत्नी प्रथा का कारण यह बताया गया है कि अध्वर्यु पहले पुरुष देवता को होम देता है, और बाद में स्त्री देवताओं को। इस प्रकार वह पुरुष देवताओं को अधिक वीर्य (सामर्थ्य) प्रदान करता है। वह एक ही पुरुष बहुत सी स्त्री देवताओं को होम अर्पित करता हैं। इस कारण एक ही पुरुष की अनेक पत्नियाँ होती हैं। ऋग्वेद में इंद्र की उपमा इस राजा से की गई है जो अपनी पत्नियों के साथ विराजमान है (7, 18, 2)। ऐतरेय ब्राह्मण में हरिश्चन्द्र की सौ पत्नियों की चर्चा है (7, 3, 13)। वास्तव में वैदिक साहित्य में राजा की चार पत्नियों का बहुधा उल्लेख हुआ है जो अश्वमेध यज्ञ के समय उपस्थित रहती हैं (शतपथ ब्राह्मण 13, 4, 1, 8)।

बहुपतिप्रथा

ऐतरेय ब्राह्मण में यह स्पष्ट रूप से कहा गया है कि एक पुरुष की अनेक स्त्रियाँ हो सकती है किन्तु एक स्त्री के अनेक पति नहीं (तैत्रीय संहिता 6, 6.4.3)।

वैदिक साहित्य में कुछ स्थलों पर पत्नी के विषय में पति अथवा श्वशुर का बहुवचन में प्रयोग किया है किन्तु यह बहुवचन वर्ग की ओर संकेत करता है, अथवा आदरसूचक है, अथवा किसी पौराणिक कथा की ओर संकेत करता है। पति के लिए बहुवचन-यस्यां बीजं मनुष्या वपन्ति (ऋग्वेद 10, 85, 37) सा वः प्रजां जनयद् (अथर्ववेद 4, 2, 14), पतिभ्यो वहतुं कृणु त्वम् (अथर्व 14, 1, 61), पतयो हयेव स्त्रिये प्रतिष्ठा (शतपथ ब्राह्मण 2, 6, 2, 14)। अथर्ववेद में दो बार श्वशुर के लिए बहुवचन का प्रयोग हुआ है। 14, 1, 44 और 14, 2, 27।

वैदिक साहित्य में कहीं भी बहुपति प्रथा के प्रचलन का स्पष्ट उदाहरण नहीं मिलता है। ऋग्वेद में अश्विद्वय की पत्नी के रूप में सूर्य का (1, 119, 5 और 8, 29, 8) और मरुतों की पत्नी के रूप में रोदसी (1, 137, 7) का उल्लेख हुआ है। इन पौराणिक कथाओं के प्रचलन का निष्कर्ष नहीं निकाला जा सकता है। ऐतरेय ब्राह्मण (3, 5, 47) में यज्ञ की तुलना पत्नी से की गई और इसके संदर्भ में यह कथा मिलती है— कई स्त्रियाँ भी तो एक ही पति से मैथुन करती है। (वह्वय इव जाया: पति ववित सां मिथुनं)।

7. विवाह के प्रकार

वैदिक आर्यो के समय निम्नलिखित प्रकार के विवाह प्रचलित थे—

(क) ब्राह्म विवाह

ऋग्वेद का विवाह सूक्त ब्राह्मविवाह से संबंधित है सूर्य ने अपनी पुत्री सूर्या को सोम के लिए प्रदान किया।

सोमो वधूयुरभवदश्विनास्तामुभा वरा।

सूर्या यत् पत्ये शंसन्तीं मनसा सविता ददात्। 10, 85, 9

सोम विवाह के इच्छुक वधूयुः थे। अश्विनीद्वय उसके वर अर्थात विवाह के मध्यस्थ हुए। सविता सूर्य ने मन से पति की कामना करती सूर्या को सोम को दिया। उसके बाद की ऋचाओं से स्पष्ट है कि वधू को घर वालों की ओर से अपने पति को सौपा जाता है (24, 26)। इस प्रकार के विवाह में दूल्हे से कुछ भी नहीं लिया जाता है। कन्या का पिता स्वयं वर को अपने घर में निमन्त्रित कर उसका सत्कार करता है और अपनी कन्या सौंप देता है। वर को चाहिये कि न केवल वेदों को अच्छी तरह जाने अपितु अपने दैनिक जीवन को भी वेद के अनुकूल बना ले।

(ख) दैव विवाह

बृहद्देवता में यजमान रथवीति द्वारा अपनी पुत्री को ब्राह्मण श्यावाश्व को देने की कथा है। कथा इस प्रकार है रथवीति दार्भ्य नाम के कोई राजा थे। वह यज्ञ की इच्छा से अत्रि के पास आये। ऋत्विज के रूप में अर्चनानस् चुने गये। अर्चनानस् के पुत्र का नाम श्यावाश्व था। जब यज्ञ चल रहा था तब श्यावाश्व का मन राजा की पुत्री पर आसक्त हो गया। सर्वप्रथम राजा ने यह विवाह संबंध स्वीकार नही किया। परन्तु बाद में अपनी पुत्री का विवाह श्यावाश्व से कर दिया। (5, 50, 81) टीकाकार यह समझते है कि ऋग्वेद में जो दान स्तुति की गई है (5, 61, 17-19) वह इस कथा की ओर संकेत है और इसलिए दैव विवाह वेद सम्मत है। ''यदि सुसज्जित कन्या यज्ञ करते समय ही यज्ञ करने वाले पुरोहित को दी जाती है तो इस प्रकार का विवाह दैव विवाह कहलाता है।

(ग) आसुर विवाह

एक ऋग्वेदीय ऋचा (1, 109, 2) और निरुक्त में अयोग्य जामाता (बिजामातृ) की चर्चा है जो वधू के लिए रुपये देता है। मैत्रायणी संहिता में आसुर विवाह से संबंधित एक उद्धरण इस प्रकार है—

अनृतं वा एषा करोति या पत्युः क्रीता सती अन्यैः संचरति , 10, 11

वह स्त्री निश्चय ही पाप करती है जो अपने पतिद्वारा खरीदी जाने पर भी दूसरे पुरुषों के संग घूमती है।

''जातिवालों (कन्या के माता-पिता, चाचा इत्यादि) को तथा कन्या के लिए यथा शक्ति धन देकर स्वेच्छा से कन्या को स्वीकार करना ही आसुर विवाह कहा जाता है। धन कितना दिया जाये इसकी कोई सीमा नहीं है। अतः यह विवाह कन्या की बिक्री के बराबर है।

(घ) गांधर्व तथा राक्षस विवाह

ऋग्वेद में ऐसी स्त्रियों की चर्चा है जो स्वयं पति को चुनती हैं। (दे. ऊपर कन्या स्वतंत्रता एवं वर का चुनाव)। ये गांधर्व विवाह के उदाहरण हैं।

ऋग्वेद में इस बात का अनेक बार उल्लेख है कि अश्विनीद्वय पुरुमित्र की कन्या कमद्यू को शीघ्रगामी रथ द्वारा विमद के लिए लाये (1, 112, 19; 1, 116, 1; 1, 117, 20; 10, 36, 7; 10, 65, 12)। सायण के अनुसार विमद को दूसरे राजाओं का सामना करना पड़ा था। अतः इसमें स्वयंवर की ओर निर्देश देखा जा सकता है। यदि अश्विनीद्वय कमद्यू को उसके पिता की इच्छा के विरुद्ध ले आये तो यहाँ पर राक्षस विवाह का उदाहरण है।

वैदिक समाज में स्वयंवर अधिक प्रचलित नहीं हुआ होगा, क्योंकि यह एकमात्र उदाहरण है और यह भी असंदिग्ध नहीं है इसके अतिरिक्त एक पौराणिक कथा का कई स्थलों पर उल्लेख है— त्वष्टा (प्रजापति) ने अपनी कन्या सरणयु का विवाह स्वयंवर के रूप में आयोजित किया था। ऋग्वेद 10, 17 अथर्ववेद 3, 21, 5 ऐतरेय ब्राह्मण 4, 2, 7)।

ऋग्वेद (10, 108, 5) के अनुसार एक राजा ने एक ब्राह्मणी का अपहरण किया और अपनी पत्नी बनाया। यह भी राक्षस विवाह का उदाहरणहै। बाद में उसने विवश होकर उसे उसके पति को लौटा दिया।

8. विवाह संस्कार

(क) शुभ समय

वैदिक साहित्य के अनुसार विवाह के लिए उपयुक्त महीना फाल्गुन था। ऋग्वेद (10, 58, 13) से पता चलता है कि सूर्य की पुत्री सूर्या का विवाह फाल्गुन में हुआ था। अथर्ववेद (14, 1, 13) में इसी का समानांतर उदाहरण मिलता है। विवाह के शुभ अवसर से संबंधित तैत्तिरीय ब्राह्मण का एक उदाहरण इस प्रकार है— ''यदि ऐसी इच्छा हो कि पुत्री अपने पति की प्रिया होवे तो उसे निष्ठा (स्वाति) नक्षत्र में प्रदान करना चाहिये तब वह निश्चित रूप से अपने पति को प्यारी होती है। पुन: (पिता के घर) नहीं आती है।

(ख) विवाह की धर्म विधियाँ

ऋग्वेद के एक पूरे सूक्त और अथर्ववेद के दो सूक्तों का वर्ण्य विषय विवाह है। इसमें प्राचीन काल में प्रचलित विवाह की रीतियाँ तथा धर्म विधियाँ सम्मिलित की गई हैं। इसकी कई ऋचाएँ आजकल तक विवाह के अवसर पर प्रयुक्त हैं। विवाह के अवसर पर पूरा वातावरण धार्मिक भाव से ओत-प्रोत था। विवाह के विषय में आर्यों का उच्च आदर्श था और नववधू का अपने नये घर में प्यार और आदर से स्वागत किया जाता था।

ऋग्वेद का विवाह सूक्त (10,85)

प्रारंभिक ऋचाएँ (1–19) सोम राजा तथा सूर्य की पुत्री सूर्या के विवाह से संबंधित है, क्योंकि सूर्या सामान्य वधू का प्रतीक है। इनमें सोम के महत्व (1-5) तथा सूर्या के 'वहतु' का वर्णन है। यह उल्लेखनीय है कि सूर्य के घर से एक स्त्री और एक सखी उसके साथ जाती है।

'वहतु' का अर्थ विवाह भी है और विवाह के बाद पति के साथ वधू की शोभायात्रा भी वहतु शब्द का प्रयोग ऋग्वेद के अन्य स्थलों (1, 18, 43; 4, 58, 9; 10, 17, 1) और अथर्ववेद (10, 1, 1 और 14, 1, 60) में हुआ है। विवाह शब्द अथर्ववेद (12, 1, 24, और 14, 2, 65) तथा परवर्ती रचनाओं (तैतिरीय संहिता 7, 2, 8, 7 काठक संहिता 25, 3 और ऐतरेय ब्राह्मण 4, 27, 5) में मिलता है। इस प्रस्तावना के बाद निम्नलिखित धर्म विधियों का वर्णन मिलता है—

(ण) पाणिग्रहण

गृभ्णामि ते सौभगत्वाय हस्तं मया पत्या जरदष्टिर्यथासः।

भगो अर्यमा सविता पुरंधिर्मह्यं त्वादुर्गार्हपत्याय देवाः ऋग्वेद 10, 85, 36 समानान्तर स्थल अथर्ववेद 14,1, 50।

तुम्हारे सौभाग्य के लिए मैं तुम्हारा हाथ पकड़ता हूँ। मुझे पति पाकर तुम वृद्धावस्था में पहुँचना। भग, अर्यमा, और पूषा ने तुम्हें मुझे गृह-धर्म चलाने के लिए दिया है।

पाणिग्रहण विवाह की मुख्य क्रिया थी। यही कारण है कि पति को हस्तग्राभ कहा गया है (ऋग्वेद 10, 18, 8 अथर्व 18, 3, 2)।

(घ) **अग्निपरिणयन**— इस संबंध में ऋग्वेद की चारों ऋचायें अथर्ववेद (14, 2, 1-4) में भी मिलती हैं 'हे अग्नि! आरंभ में तेरे लिए दहेज के साथ सूर्या को ले जाते थे। दीर्घायुष्य और तेज के साथ अग्नि ने पत्नी को पुनः प्रदान किया। इसका जो पति है वह दीर्घायु बनकर सौ वर्ष जीवित रहता है। सब से प्रथम, सोम की स्त्री है तेरा दूसरा पति गन्धर्व है। तेरा तीसरा पति अग्नि है, और तेरा चतुर्थ पति मानव है, जिसको सोम ने गन्धर्व को गन्धर्व ने अग्नि को, तथा धन और पुत्रों को अग्नि ने मुझे प्रदान किया।

सूर्या सभी विवाह योग्य कन्याओं का प्रतीक है, इसलिए उसका प्रथम पति सोम है। गंधर्व विश्ववसु उसके कुँआरेपन के रक्षक हैं। अग्नि तीसरे पति हैं इसलिए वह विवाह के समय अग्नि की परिक्रमा करती है (दे. ग्रिफिथ ऋग्वेद, भाग 2, 8, 506)।

(ङ) **वधू की विदाई**— वधू को रथ पर चढ़ने का निमन्त्रण दिया जाता है (ऋचा 20)। इसके बाद वह अपने घर से विमुक्त और पति से संयुक्त घोषित की जाती है (ऋग्वेद 10, 85, 24-26) हे कन्या ! सूर्य ने वरुण के जिस पाश से तुम्हें बाँधा था, उसे छुड़ता हूँ। जो सत्य का आधार है और जो सत्कर्म का निवास है, पितृकुल से छुड़ाता हूँ दूसरे स्थान से नहीं। भर्तृगृह में इसे भली-भाँति स्थापित करता हूँ। इन्द्र! यह सौभाग्यवती और सुपुत्रवाली है तुम्हें हाथ में धारण करके पूषा पुत्र यहाँ से ले जाये। गृह में जाकर गृहिणी बनो। पति के वश में रहकर भृत्यादि को आदेश दिया करो।

(च) **शोभायात्रा**— इस सूक्त में तत्संबंधी दो ऋचायें है कि देवता बीमारियों में वधू की रक्षा करें (10, 85, 31) और दम्पती की यात्रा सकुशल हो। (ऋचा 32) इसके बाद अतिथियों से कहा जाता है कि वे वधू को देखें तथा उसको आर्शीवाद देकर अपने घर चले जायें।

(छ) **नये घर में पहुँचने पर आर्शीवाद**— इह प्रियं प्रजायै, ते समृध्यतायास्मिन् गृहे गार्हपत्याय जागृहि। एना पत्या तन्वं त्वं, सृजस्वाऽध जिव्री वंदथमा वदाथः।। 27।। (अथर्ववेद 14, 1, 21)।

इहैव स्तं मा वि योष्टं विश्वमायुर्व्यश्नुतम्।

क्रीलन्तौ पुत्रर्नप्तृभिर्मोदमानौ स्वे गृहे। समानान्तर स्थल अथर्ववेद 14, 2, 22

आ नः प्रजां जनयतु प्रजा पतिराज रसाय समनक्त्वर्यमा

अदुमंङ्गली पतिलोकमा विश शं नो भव द्विपद शं चतुष्पदे।।

अघोरचक्षुरपति ध्न्येधि शिवा पशुभ्यः सुमनाः सुवर्चाः

वीरसूर्देवकामा स्योना शं नो भव द्विपदे शं चतुष्पदे।।

इमां त्वमिन्द्र मीढ्वः सुपुत्रां सुभगां कृणु।

दशास्यां पुत्राना धेहि पतिमेकादशं कृधि।।

सम्राज्ञी श्वशुरे भव सम्राज्ञी श्वश्रवां भव

ननान्दरि सम्राज्ञी भव सम्राज्ञी अधि देवृषु।।

समजन्तु विश्वे देवाः समापो हृदयानि नौ।

सं मातरिश्वा सं धाता समु देष्ट्री दधातु नौ।। ऋग्वेद 10, 85, 42-47

हे वधू ! इस घर में सन्तान उत्पन्न करके प्रसन्न होओ यहाँ सावधान होकर कार्य करना। स्वामी के साथ अपने शरीर को सम्मिलित करो। वृद्धावथा तक अपने गृह में प्रभुता करो, वर और वधू तुम दोनों यहीं रहो, पृथक नहीं होना। पूरी आयु प्राप्त करो। अपने घर में रहकर पुत्र पौत्रों के साथ आमोद, आह्लाद और क्रीड़ा करना। प्रजापति हमें सन्तति दे, अर्यमा बुढ़ापे तक साथ रहे। वधू तुम मंगलमयी होकर पतिगृह में ठहरना। हमारे मनुष्यों और पशुओं के लिए कल्याणकारी हो जाओ। तुम्हारा नेत्र निर्दोष हो, तुम पति और पशुओं के लिये मंगलमयी हो जाओ। तुम्हारा मन प्रफुल्ल हो और तुम्हारा सौन्दर्य शुभ हो। तुम वीर प्रसविनी और देवों की भक्ता होओ। इन्द्र! इस नारी को उत्तम पुत्रवाली और सौभाग्यवाली करो। इस गर्भ में दस पुत्र स्थापित करो, पति को लेकर इसे ग्यारह व्यतिवाली बनाओ, वधू तुम सास, सुसर, ननद और देवरों की सम्राज्ञी बनो। सारे देवता हम दोनों के हृदयों को मिला दें। जल, वायु, धाता और सरस्वती हम दोनों को संयुक्त करें। अथर्ववेद के सूक्त 14, 1 और 2 से बाद के मन्त्र हैं।

पहले सूक्त की अधिकांश सामग्री ऋग्वेद के सूर्या सूक्त से उधृत है। मन्त्र 1-16 में सोम और सूर्या के विवाह का वर्णन है। इसके बाद के मन्त्र तथा सूक्त 2 के मन्त्र सामान्य विवाहों से सम्बधित हैं और गृह्यसूत्रों में वर्णित विवाह संस्कार की रीतियों को क्रम से यहाँ उद्धृत अथवा निर्दिष्ट किये जायेंगे।

(ज) **विवाह के पहले वधू का स्नान** (14, 1, 37, 45)

पहले जल लाते मंत्र पढ़े जाते थे (37-40) और स्नान के पश्चात् वधू के कल्याण के लिए यह प्रार्थना की जाती थी और वस्त्र प्रदान किये जाते थे। ''हे वधू ! उत्तम मन, संतान, सौभाग्य और धन की आशा करने वाली तू पति के अनुकूल आचरण करनेवाली होकर अमरत्व के लिए सुखपूर्ण रीति से सिद्ध है। जैसे बलशाली समुद्र नदियों का साम्राज्य चलाता है वैसी तू पति के घर पहुँचकर सम्राज्ञी होकर वहाँ रह। तुम ससुर, देवरों, ननदों और सास की सम्राज्ञी बनकर रह। जिन देवियों ने सूत काता है, जिन्होंने बुना है जो ताना तानती हैं और चारों ओर अन्तिम भागों को ठीक रखती है, वे तुझे वृद्धावस्था तक रहने के लिए बुनें। तू दीर्घ आयुवाली होकर इस वस्त्र को धारण कर।

(झ)**पाणिग्रहण**— जिस उद्देश्य से अग्नि ने इस भूमि का दायाँ हाथ ग्रहण किया, उसी उद्देश्य से तेरा हाथ मैं पकड़ता हूँ, दुःख मत कर, मेरे साथ और धन के साथ रह। सविता देव तेरा पाणिग्रहण करे, राजा सोम उत्तम सन्तान युक्त करे। जातदेव अग्नि, पति के लिए सौभाग्ययुक्त स्त्री वृद्धावस्था तक जीने वाली करे। भग ने तेरा हाथ पकड़ा है, सविता ने हाथ पकड़ा है तू धर्म से मेरी पत्नी है, मैं तेरा गृहपति हूँ। यह स्त्री मेरा पोषण करने योग्य है वृहस्पति ने तुझे मुझे दिया है।

अग्निपरिणयन्— (14, 2, 1-7) ऋग्वेद की ऋचाएँ अथर्ववेद में दुहरायी गयी हैं।

(ञ) **अश्मारोहण**— "पृथ्वी देवी के पास तेरी संतान के लिए सुखदायी स्थिर पत्थर जैसा आधार करता है। उस पर खड़ा रह आनंदित हो, उत्तम तेज से युक्त हो। सविता तेरी आयु लम्बी बनावे।

(ट) **वधू की विदाई**— इसके सम्बन्ध में दो स्थलों पर मन्त्र मिलते हैं। प्रथम बार (14, 1, 17-20) ऋग्वेद की तीन ऋचाएँ (10, 85, 24-26) उद्घृत हैं और अर्यमन से यह प्रार्थना है—

"हम अर्यमन उत्तम बन्धु और पति का पता लगाने वाले का सत्कार करते हैं, खरबूजा जैसा बेल के बन्धन से दूर होता है, उसी प्रकार हम इस पितृगृह से तुझे छुड़ाते हैं, परन्तु पितृकुल से नहीं।"

दूसरी बार (14, 1, 58-60) की ऋचाओं से प्रधानतया यात्रा की शुभ कामनायें प्रकट की गयी हैं।

(ठ) **शोभा यात्रा**— यात्रा के समय वधू के कल्याण के लिए यह प्रार्थना की जाती थी— "हे देवो ! यह वधू भाईयों का वध न करने वाली, पति का नाश न करने वाली और पुत्र उत्पन्न करने वाली हमारे लिए प्राप्त करो। हे दोनों स्तम्भो! देवी के बनाये मार्ग पर इस कुमारी वधू की हिंसा न कर। घर रूप देवता के द्वार में, वधू जाने के मार्ग को हम सुखकर करते हैं। आगे, पीछे, अन्त में, बीच में अर्थात् सर्वत्र ब्रह्म अर्थात् ईश प्रार्थना के मन्त्रों का प्रयोग किया करो। वधू तू व्याधिरहित देवनगरी को प्राप्त होकर अपने पति के स्थान में कल्याण और सुख देने वाली होकर प्रकाशित हो।

दूसरे सूक्त में अनेक मंत्र (6-11) मिलते हैं जो शोभा यात्रा के समय उच्चरित किये जाते थे। इनका विषय यह है (वधू) जो औषधियाँ, नदियाँ, क्षेत्र और वन हैं वे सब पदार्थ पति के लिए संतानयुक्त तुझ को राक्षसों से सुरक्षित रखें। मनुष्यो ! मेरा यह भाषण सुनो जिस आर्शीवाद से दम्पती सुख प्राप्त करते हैं, इस वन में जो गंधर्व और अप्सराएँ ठहरी हैं, वे इस वधू के लिए सुखदायी हों और दहेज ले जाने वाले इस रथ का नाश न करें। जो लुटेरे समीप होगें, वे इस पति-पत्नी को न जानें। वे सुगमता से कठिन प्रसंग से पार हो जाये और इनके शत्रु दूर हों।

(ड) **नये घर में स्वागत**— अथर्ववेद के प्रथम विवाह सूक्त की कुछ ऋचायें (21-22 ऋग्वेद से उद्घृत हैं (10, 85, 27 और 42)। इसके अतिरिक्त वधू को इन शब्दों में आशीर्वाद दिया गया है— ऋग्वेद की एक ऋचा (10, 85, 44) उद्घृत है और इसके अतिरिक्त वधू को आर्शीवाद देने के लिए और बहुत से मंत्र मिलते हैं। वधू के दहेजयुक्त रथ को घर वाले मित्रता की आँख से देखें (ऋचा 12)। तुम दोनों सत्य व्यवहारों में रहकर, सत्य बोलते हुए, समृद्धियुक्त भाग्य प्राप्त करो। हे ब्राह्मण्स्पते! पति के विषय में इस स्त्री के मन में रुचि उत्पन्न कर।"

तत्पश्चात् घर से दरिद्रता को दूर करने के लिए प्रार्थना की जाती है (ऋचा 19)। वधू को गृह्याग्नि की पूजा करनी पड़ती है (ऋचा 20, 23, 24, 25)। भावी संतान के लिए मंगल कामना दी जाती है (ऋचा 22)। वधू के लिए प्रार्थना की जाती है कि वह श्वशुर और सास को प्रसन्न रख सके (ऋचा 26-27)।

(ढ) **लोगों की विदाई**— विवाह की विधि पूरी हो जाने पर सभी अतिथि अपने-अपने घर चले जाते थे इस अवसर पर वे ये ऋचायें (28-30) कही जाती थी "यह मंगलयुक्त वधू है। इकट्ठे

होओ और इसको सौभाग्य का आर्शीवाद देकर दुष्ट भाग्य को दूर करते हुए वापस जाओ। जो दुष्ट हृदयवाली स्त्रियाँ है वे इसको निश्चयपूर्वक तेज देवें और अपने घर को वापस जायें।

(ढ) **विवाह गीत**— अथर्ववेद के दूसरे सूक्त में कुछ मन्त्र (14, 2, 31-40) हैं जिसमें वर-वधू को रमण का निमन्त्रण दिया गया हैं। कौषीतकि गृह्यसूत्र के अनुसार अथर्ववेद के दो मन्त्र (7, 36, और 7, 37) प्रथम समागम के पूर्व उच्चरित किये जाते थे। पहला मन्त्र वर-वधू दोनों द्वारा कहा जाता था, जब वे एक दूसरे पर तेल का विलेपन करते थे। दूसरे मन्त्र का उच्चारण वधू द्वारा ही किया जाता था जब वह अपने पति को अपने वस्त्र से ढक लेती थी।

(त) **विवाह के दूसरे दिन की विधियाँ**— अथर्ववेद में इस सूक्त के उत्तरार्ध में विवाह के दूसरे दिन की विधियाँ वर्णित हैं। ब्राह्मण को वधू के विवाह-वस्त्र का प्रदान (41-50), वर द्वारा वधू का बुना वस्त्र पहनना (51) विश्वदेवताओं से वधू के कल्याण के लिए प्रार्थना (50-58 और 98-70) विवाहोत्सव में की गयी रंगरेलियों के प्रायश्चित्त के लिए अग्नि देवता के आदर में चार ऋचाएँ (58-63) विवाह की विधियों में यदि कोई गलती हुई तो उसके प्रायश्चित्त स्वरूप तीन ऋचाएँ (65-67)।

(थ) **वधू की प्रार्थना**— विवाह के दूसरे दिन की विधियों में वे प्रार्थनायें विवाह के धार्मिक वातावरण तथा वर वधू के कोमल प्रेम का परिचय देती हैं। वधू पूले हुए धान्य की आहुति देती हुई कहती है, कि मेरा पति दीर्घायु होवे, यह सौ वर्ष जीवित रहे (63)।

(द) **वर की प्रार्थना**— मैं प्राण हूँ और शक्ति तू है। साम मैं हूँ और ऋचा तू है, द्युलोक मैं हूँ और पृथ्वी तू है। हम दोनों इक्ट्ठे हों और संतान उत्पन्न करें (71)।

इसके बाद वर-वधू की सम्मिलित प्रार्थना इस प्रकार होती है:— अविवाहित लोग हम जैसे ही विवाह की इच्छा करते है, दाता लोग पुत्र की कामना करते हैं। प्राण रहने तक हम दोनों बड़े बल प्राप्ति के लिए साथ-साथ मिल कर रहें (ऋचा 72)।

(ध) **वधू को आर्शीवाद**— सूक्त की समाप्ति के रूप में वधू के प्रति यह शुभकामना प्रकट की गई है— "यह तेजस्विनी और उत्तम प्रजावती होकर विजयी होवे। उत्तम ज्ञानयुक्त जागती रहकर सौ वर्ष के दीर्घ जीवन के लिए जागती रह। अपने पति के घर की गृहस्वामिनी जैसी बनकर रह। सविता तेरी आयु दीर्घ बनावे।

वैदिक ग्रन्थों में व्यापक रूप से कन्या विक्रय संबंधी बातों के उल्लेख देखने को मिलते हैं। (मैत्रायणी संहिता 1, 10, 11 और तैत्तिरीय संहिता 2, 3, 4, 1 और 1, 1, 2, 4)। किन्तु कन्या विक्रय के इस कार्य को गर्हित समझा जाता था। (ऋग्वेद 1, 10, 9) और ऐसे प्रसंगों में दामाद अपने श्वशुर के प्रति व्यंग्य एवं कटुक्तियों का प्रयोग करते थे। अयोग्य दामाद अधिक मूल्य देकर कन्या खरीदते थे।

9. दहेज

विवाह में दहेज देने की प्रथा भी प्रचलित थी, विशेष कर ऐसी स्थिति में जबकि कन्या में किसी प्रकार का शारीरिक दोष हो (ऋग्वेद 6, 28, 5; 10, 27, 12) ऋग्वेद की एक ऋचा (1, 109, 2) में एक भाई का उल्लेख है, जिसने अपनी बहन के लिए पति प्राप्त करने में दहेज दिया था। यह प्रथा असुर विवाह का ही एक रूप है।

कन्या पक्ष की ओर से दिया जाने वाला धन अर्थात् दहेज भी कई स्थलों पर उल्लिखित है (अथर्ववेद 2, 36, 7; 14, 1, 6; 5, 17, 12) सेवा या पुरस्कार के रूप में कन्या को उपहार में देने की प्रथा का संकेत भी वैदिक युग में देखने को मिलता है। उदाहरण के लिए वृहद्देवता में उल्लिखित श्यावाश्व की कथा को उद्धृत किया जा सकता है। राजा ने पर्याप्त दहेज देकर पुत्री की विदाई की थी (ऋग्वेद 7, 54,1-3)।

10. विवाहित जीवन की आदर्श कल्पना

वेदों में विवाहित जीवन के अत्यन्त आकर्षक आदर्श की कल्पना की गयी है।

(क) **गृह का महत्व**— पारिवारिक जीवन का निवास स्थान आर्यों के मन में बहुत महत्व रखता था। वे गृह (जो प्राय: बहुवचन में प्रयुक्त हैं) के अतिरिक्तअपने निवास के लिए दम्, ओकम्, ओक्यम् अस्तम्, पस्त्या, हर्म्यम्, वास, वास्तु, विम् और दुरोणम् शब्दों का प्रयोग करते थे।

नये घर में प्रवेश करते समय वास्तोस्पति को इस प्रकार सम्बोधित किया जाता था—

''हे वास्तोष्पते (गृहपालक देव) तुम हमारा स्वागत करो। हमारा प्रवेश शुभ हो। हमारे घर को निरोग करो। हम जो धन माँगें वह दो। हमारे पुत्र पौत्र आदि द्विपदों और गौ अश्व आदि चतुष्पदों को सुखी करो। वास्तोष्पति, तुम हमारे धन के वर्द्धयिता होओ। सोम की तरह आह्लादक देव! तुम्हारे सखा होने पर हम गावों और अश्वों वाले और जरारहित होंगे। जैसे पिता पुत्र का पालन करता है वैसे ही तुम हमारा पालन करो। हे वास्तोष्पति। हमें अपना सुखकर, रमणीय और धनवान साहचर्य प्राप्त कराओ। तुम हमारे प्राप्त और अप्राप्त वरणीय धन की रक्षा करो और हमें स्वस्ति के साथ सदा पालन करो (ऋग्वेद 7, 54, 1-3)

गृहप्रवेश के अवसर पर अब तक यजुर्वेद के तीसरे अध्याय के ये मन्त्र पढ़े जाते हैं, जिस में के प्रेममय तथा शांतिमय वातावरण के लिए प्रार्थना की जाती है ऐसा गृह जिसका प्रवासी स्मरण ता है।

गृहा मा बिभीत मा वेपध्वमूर्जं बिभ्रतऽएमसि

ऊर्जं बिभ्रद्‌: सुमना: सुमेधा गृहानैमि मनसा मोदमान:।।41।।

येषामध्येति प्रवसन्येषु सौभनसो बहु:।

गृहानुपह्वयामहे ते नो जानन्तु जानत:।।42।।

उपहूताऽइह गावऽउपहूताऽअजावय: अथो अन्नस्य

कीलालऽउपहूतो गृहेषु न:।

क्षेमाय व: शानत्य प्रपद्ये शिवं शग्मं शंयो: शंयो:।।43।।

''हे गृह मत डरो, मत काँपो हम शक्ति धारण करते हुए तुम्हारे पास आये है। हम शक्ति धारण करते हुए सुन्दर मन वाले तथा अच्छी बुद्धि वाले होकर मन से प्रसन्न होते हुए तुम्हारे पास आते हैं। प्रवासी जिस गृह का स्मरण करता है, जिसमें अधिक हार्दिकता प्रीति है हम उस गृह का आह्वान करते हैं। उन

गृहदेवों को हम जानते हैं। वे हमें जानें हमारे, गृह में आहूत गाएँ, बकरियाँ, भेड़ें तथा भोज्य पदार्थों का रस विद्यमान रहे अर्थात् हमारा गृह इन सबों से सम्पन्न रहे। हम कल्याण तथा सुख की कामना करते हुए प्राप्त धन की रक्षा और शान्ति के लिए तुम्हारे पास पहुँचे हैं।

(ख) **साम्मनस्य और अनुशासन**— अथर्ववेद में एकअभिचार मिलता है, जिस से यह पता चलता है कि वैदिक आर्य घर के प्रेमपूर्ण वातावरण (साम्मनस्य) को कितना महत्व देते थे।

सहृदयं सांमनस्यमविद्वेषं कृणोमि वः
अन्यो अन्यमभि हर्यत वत्सं जातमिवाध्या
अनुव्रतः पितुः पुत्रो मात्रा भवतु संमनाः।
जाया पत्ये मधुमतीं वाचं वदतु शान्तिवाम्।।
मा भ्राता भ्रातरं द्विक्षन्मा स्वसारमुत स्वसा।
सम्यवञ्चः सव्रता भूत्वा वाचं वदत भद्रया
येन देवा न वियन्ति नो च विद्विषते मिथः
तत् कृण्मौ ब्रह्म वो गृहे संज्ञानं पुरुषेभ्यः।
ज्यायस्वन्तश्चित्तिनो मा वि यौष्ट संराधयन्तः सधुराश्चरन्तः।
अन्यो अन्यस्मै वल्गु वदन्त एत सध्रीचीनान् वः संमनसंस्कृणोमि।
समानी प्रपा सह वोऽन्न भागः समाने याक्त्रे सह वो युनज्मि।
सम्यञ्चोऽग्निं सचर्यतारारा नाभिमिवाभितः।।
सध्रीचीनान् वः संमनसंस्कृणोम्ये कश्नुष्टीन्त्संवननेन सर्वान्।
देवा इवामृत रक्षमाणाः सांयप्रातः सौमनसौ वो अस्तु ।।3, 30, 1-7।।

''मैं तुम्हें विद्वेष से रहित हृदय और मन की एकता प्रदान करता हूँ। एक दूसरे को उसी प्रकार प्यार करें जिस प्रकार गौ नवजात बछड़े को प्यार करती है। पुत्र, पितृभक्त और माता के संग एक विचारवाला हो जाये। पत्नी अपने पति से मधुर और शांति से बातचीत करे। भाई भाई से द्वेष न करे और बहन, बहन से द्वेष न करे, एक मत वाले और एक कर्म करने वाले होकर उतम रीति से भाषण करें। जिस अभिचार से देवताओं में मतभेद नहीं होता है और न एक दूसरे से ईर्ष्या ही करते है, उसे ही एकता बढ़ाने के लिए तुम्हारे घर के मनुष्यों के लिए हम करते हैं। अपने मनोनुकूल नेताओं का अनुसरण करते हुए तुम अलग मत हो जाओ। एक दूसरे को सहयोग देते हुए तुम यहाँ आओ। एक ही धुरा के नीचे एक दूसरे से प्रेम वचन कहते हुए आगे बढ़ो, मैं तुम्हें एक ही उद्देश्य और विचार प्रदान करता हूँ। मैं तुम्हें एक ही जोत में जोतता हूँ। तुम एक साथ अग्नि की पूजा करो जैसे आरें नामि के चारों ओर घूमते हैं। अपने इस साम्नमस्यकारी वशीकरण द्वारा मैं तुम्हें एक ही उद्देश्य के लिए प्रयत्न करने वाले (सध्रीचीन), एक ही तरह के विचार करने वाले और एक ही तरह का भोजन करने वाले बना देता हूँ जिस प्रकार देवता अमृत की रक्षा करते हैं, उसी प्रकार नेता दिन और रात तुम्हारी उत्तम व्यवस्था करें।

दाम्पत्य प्रेम— पति-पत्नी का यह अटूट संबंध और साम्मनस्य उनके दाम्पत्य प्रेम पर निर्भर है। उस दाम्पत्य प्रेम की शुभकामना ऋग्वेद तथा अथर्ववेद के बहुत सूक्तों में भली भाँति प्रकट की गयी है। मन्त्रों में वधू के सौभाग्य का अनेक बार उल्लेख है। पाणिग्रहण के समय वर कहता है-मैं तुम्हारे सौभाग्य के लिए तुम्हारे हाथ पकड़ता हूँ (ऋग्वेद 10, 58, 36)। नये घर में पहुँचने पर वर वधू की सम्मिलित प्रार्थना कितनी सुन्दर है— सारे देवता हमारे हृदय एक कर दें। समंजन्तु विश्वे देवाः समानो हृदयानि नौ (10, 85,47)। अथर्ववेद में द्वितीय सूक्त के अन्त में वर वधू यह अभिलाषा प्रकट करते हैं कि हम प्राण रहने तक एक साथ रहें अरिटासू सचेवहि (14, 27, 2)। अथर्ववेद के एक अन्य स्थल पर भी वर वधू यही इच्छा प्रकट करते है-मुझे अपने हृदय में रख— अन्त कृणुस्व मां हृदि (7, 36) और वधू कहती है तुम एक मात्रमेरे पति होकर अन्य स्त्रियों का नाम मत लो (7, 37)। ऋग्वेद में दाम्पत्य प्रेम का बहुत से स्थलों पर उल्लेख हुआ है उदाहरणार्थ (10, 40, 10) घोषा की प्रार्थना में (10, 40, 10) और पंति के निवेदन में (आ जाया युवते पतिम् 1, 105, 2)। अन्य स्थलों पर उपमान के रूप में दाम्पत्य प्रेम की चर्चा आयी है :—

अनवद्या पतिजुष्टेव नारी (1, 73, 3)। इस प्रकार के संदर्भ निम्नलिखित हैं 1, 124, 7 (उषा के वर्णन में) 4, 3, 2; 10, 71, 4 (वाग्देवी के वर्णन में); 1, 62, 12; 1, 71, 1; 10, 91, 13; 3, 62, 8; 4, 32, 16

11. विवाहित जीवन की समृद्धि

(क) **सन्तति, आयु, धन**— ऋग्वेद आर्य पारिवारिक जीवन की समृद्धि तीन बातों में देखते थे सन्तति, लम्बी आयु और धन-सम्पति (विशेषकर पशुधन)। ऋग्वेद में धन के लिए रयि और यै (समास में रायस्) सर्वाधिक प्रयुक्त है, इसके अतिरिक्त अन्य शब्दों का भी प्रयोग हुआ है अर्थात् द्रविणम्, भूति और वसु।

जो दम्पती नियमित रूप से सोमयज्ञ सम्पन्न करता है उसके विषय में कहा जाता है कि वे सन्तति, धन और लम्बी आयु (विश्वमायुः) प्राप्त करता है (8, 31, 8) प्रजा प्राप्ति की प्रार्थनाओं में बहुधा धन का भी उल्लेख है, और कभी-कभी सन्तति धन और लम्बी आयु तीनों के लिए एक ही सूक्त में प्रार्थना की जाती है। यहाँ ऋग्वेद तथा अथर्ववेद का एक-एक उदाहरण दिया जाता है।

इन्द्रावरुणा सौमनसमदृप्तं रायस्पोषं यजमानेषु धत्तम्।

प्रजां पुष्टिं भूतिमस्मासु धत्रं दीर्धायुत्वाय प्र निरतं न आयुः 8, 59, 7 ऋग्वेद

इन्द्र और वरुण ! जिस धन की वृद्धि से मन की तृप्ति होती है गर्व नहीं होता, उसे ही यजमान को प्रदान करो, हमें प्रजा, पुष्टि और भूति दो। हम दीर्घायु हो सकें, इसके लिए हमारी आयु को बचाओ।

अथर्ववेद के एक सूक्त (19, 64) में अग्नि से श्रद्धा, मेधा, और अमृत्व के अतिरिक्त प्रजा धन और आयु के लिए प्रार्थना की गई है।

(क) **सन्तति की प्रमुखता**— उपर्युक्त तीन बातों में आर्य सन्तति को सर्वाधिक महत्व देते थे। सन्तति के लिए ऋग्वेद में बहुत से शब्दों का प्रयोग हुआ है, अर्थात् प्रजा, अपत्यम्, तोकम्, तनम्,

जास् और तुच (9, 46, 12)। तनय बहुत से स्थलों पर तोकम् के विशेषण के रूप में भी आया है। सन्तति प्राप्ति अथवा सुरक्षा के लिए ऋग्वेद में निम्नलिखित देवताओं से प्रार्थना की गयी है।

मरुत 1, 38, 7; 1, 166, 8; 7, 36, 7; 7, 57, 9

मरुत और विष्णु 7, 36, 9।

अग्नि 2, 4, 8; 3, 3, 7; 6, 48, 9; 7,1, 11-12; 8, 23, 27; 8, 35, 10;

अग्नि और इन्द्र 1, 143, 8; 9, 49, 12।

इन्द्र 1, 54, 1; 3, 30, 18; 10, 157, 2

सोम 1, 8, 1; 9, 65, 21; 6, 89, 41; 1, 61, 9 (तोकातनयानि भूरि)।

अश्विद्वय 7, 67, 6; 9, 8, 35, 10 (प्रजां च धत्तं द्रविणं च धत्तम्)।

देवपत्नियाँ 5, 43, 7।

वरुण, अर्यमन्, आदित 3, 55, 18।

सिनीवाली 2, 32, 6।

यूप 3, 8, 11।

इन सभी स्थनों पर प्रजा मात्र के लिए समान रूप से पुत्रों और पुत्रियों दोनों के लिए प्रार्थना की गई है। यही नही अनेक बार एक ही ऋचा में पुत्रों के लिए, प्रजा के लिए, दोनों के लिए निवेदन किया गया है— वीरं बाजं और स्वपत्यं रयिं (2, 4, 8) रयिं सूवीरं स्वपत्यं (7, 1, 5)। ऐसा प्रतीत होता है कि ऋग्वेदीय आर्य पुत्री की उपेक्षा नहीं करते थे फिर भी पुत्रों का अधिक महत्व था।

(ख) **पुत्र का महत्व**— ऋग्वेद में पुत्र के लिए तीन शब्दों का प्रयोग हुआ है वीर, पुत्र और सूनु। ऋषि कक्षीवत एक सूक्त में कहते है-पतिः स्यां सुगवः सुवीरः (1, 116, 25)। ऋग्वेदीय माता-पिता की हार्दिक अभिलाषा थी-कामो रायः सुवीर्यस्य (7, 87, 4)। ऋग्वेद के अन्त में एक सूक्त (10, 183) में पुत्र काम पिता और पुत्रकामा माता की अभिलाषा व्यक्त की गई है और प्रजापति उन्हें आश्वासन देता है कि मैं ने पृथ्वी पर प्रजा को उत्पन्न किया और भविष्य में (अपरीषु) भी स्त्रियों के लिए पुत्रों को उत्पन्न करूँगा-अहं जनिभ्यो अपरीषु पुत्रान् (10, 183, 3)।

वधू को विवाह के बाद आशीर्वाद दिया जाता था, कि इन्द्र उसे दस पुत्रों को प्रदान करे— दशास्यां पुत्रानां धेहि (10, 85, 45)। पुत्र ही सर्वश्रेष्ठ सम्पति माना जाता था। एक स्थल पर यह उक्ति मिलती है उस मनुष्य की सम्पति (रवि) के सदृश, जिसके पुत्र हो 'रयिर्वीरवतो यथा (7, 15, 5), अतः पुत्रहीन माता-पिता अपने को दुर्भाग्यशाली समझते थे।

पुत्रों के विषय में कहा गया है कि वे पिता के यश, के कारण बन (1, 91, 20) जाते हैं, शत्रुओं का वध करते हैं, और घर की रक्षा करते हैं। (10,159, 3; 1, 64, 15; 6, 94, 18) और वंश को बनाये रखते हैं (10, 36, 14। यदि पुत्र नहीं था, तो संभवत किसी को गोद लेने की प्रथा भी थी, क्योंकि एक सूक्त में कहा गया है कि गोद लिया पुत्र प्रिय (सुशेव) नहीं है वह अन्य स्त्री से उत्पन्न (अन्योदर्य) है और अपने घर लौट जाता है। (7, 4, 7-8)। पुत्र का महत्व इसलिए भी था कि वह पितृ ऋण चुकाता

था। (6, 61, 1)

ऐतरेय ब्राह्मण के निम्नलिखित उदाहरण से स्पष्ट है कि वैदिक काल के अंत में पुत्री का महत्व कम होने लगा और पुत्र की महता बढ़ गयी है—

ऋणमस्मिन्त्संनयति अमृतत्वं च गच्छति।। पिता
पुत्रस्य जातस्य पश्येत चेत् जीवतो मुखं।। यावतः
पृथिव्यां भोगायां बंतो जातवेदसि। यावंतः अप्सु
प्राणिनां भूयान् पुत्रे पितुः ततः।। शश्वत् पुत्रेण पितरः
अति आयन् बहुलं तमः।।
आत्मा हि जज्ञ आत्मनः स इरावती अतितारिणी।।
सखा ह जाया, कृपणं ह दुहिता ज्योति ह पुत्रः परमेव्योमन्।।
तत् जाया जाया भवति यदस्यां जायते पुनः।। नापुत्रस्य
लोकोस्तीति।। एष पंथा उरुगायः सुशेवो यं पुत्रिण
आक्रमंते विशोकाः।। 7, 3, 13।।

अगर पिता जीते हुए पुत्र का मुख देख ले तो उसका ऋण छूट जाता है। और वह अमर हो जाता है प्राणियों के लिए जितने भोग पृथ्वी, अग्नि औरजल में है उसमें भी अधिक पिता के लिए भोग पुत्र में है। पिता सदा पुत्र के द्वारा आपत्तियों को पार करता है। आत्मा, आत्मा से उत्पन्न होता है। पुत्र एक उत्तम तारने वाली नौका है। स्त्री सखा है, पुत्री दुःख देने वाली है और पुत्र उस लोक में भी ज्योति है। स्त्री तभी जाया होती है जब पुरुष उसमें उत्पन्न होकर पुनः पैदा होता है। जिसके पुत्र नही, उसका संसार नहीं। जिनके पुत्र होते हैं वे शोकरहित होकर बड़े चौड़े मार्ग पर चलते हैं।

अतः यह स्वभाविक ही है कि ऋग्वेद में पुत्र प्राप्ति के लिए और उनकी सुरक्षा के लिए बहुसंख्यक प्रार्थनाएँ सुरक्षित हैं।

पुत्र प्राप्ति के लिए सर्वाधिक अग्नि और इन्द्र से प्रार्थनाएँ मिलती हैं, किन्तु अन्य देवताओं से भी निवेदन किया गया है। बहुत सी पुत्र प्राप्ति विषयक ऋचाएँ कई बार अन्य स्थलों पर दुहरायी जाती हैं निम्नलिखित सूची में उनका एक ही बार निर्देश किया गया है।

अग्नि— (1, 12, 11; 2, 4, 8; 3, 1, 23; 3, 16, 5; 5, 25, 5; 7, 1, 5; 10, 2, 1; 7, 4, 6; 10, 45, 12; 120, 122, 3)।

इन्द्र— 6, 24, 10; 8, 40, 9; 10, 47, 5; 10, 85, 25।

इन्द्र और पर्वत— 3, 53, 1।

अश्विद्वय— 1, 64, 15; 5, 42, 18।

सोम— 9, 61, 6; 9,97, 44।

वायु— 7, 92, 3।

विश्वेदेवा— 5, 42, 18।

मरुत— 3, 62, 3।

त्वष्टा— 3, 4, 9।

राका— 2, 32, 4।

ब्रह्मणस्पति— 2, 24, 15।

वृहस्पति— 1, 190, 8।

उषा— 1, 92, 13।

यजुर्वेद में पिंडपितृ यज्ञ (2, 33) और फिर सोम यज्ञ (8, 10) के अन्तगर्त यजमान की पत्नी पुत्र के लिए (गर्भ कुमारम्) प्रार्थना करती है। अथर्ववेद के समय तक पुत्री के प्रति अनिच्छा के लक्षण दिखाई देने लगे और पुंसवन संस्कार का प्रचलन होने लगा।

यद्यपि वैदिक साहित्य में पुत्री का महत्व पुत्र से अपेक्षाकृत कम है फिर भी बृहदारणयकोपनिषद् में पुत्री के जन्म की कामना है—

य इच्छेद दुहिता मे पंडिता जायेत

सर्वमायुरियादिति तिलौदनं पाचयित्वा

सर्पिष्मन्तमश्नीयातामीश्वरो जनयितवै। 9, 4, 17।।

''जो चाहता हो कि मेरी पुत्री विदुषी हो और पूरे सौ वर्षो की आयु तक जीवित रहे वह और उसकी पत्नी तिल और चावल की खिचड़ी पकाकर उसमें घी मिलाकर खाये । इससे उक्त योग्यता वाली कन्या को जन्म देने में समर्थ होते हैं।

(ङ) **गर्भाधान**— आर्यों के अनुसार विवाह का मुख्य उद्देश्य सन्तानोत्पति था। अतः गर्भाधान प्राचीन काल से संस्कार के रूप में देखा जाता था। गृह्यसूत्रों में चतुर्थी कर्म के प्रसंग में जो मन्त्र निर्दिष्ट किये गये हैं वे ऋग्वेद (10, 189) तथा अथर्ववेद (5, 25) से उद्घृत हैं ऋग्वेद के इस सूक्त में विष्णु त्वष्टा प्रजापति आदि से गर्भ प्रदान की प्रार्थना की जाती है

विष्णुर्योनिं कल्पयतु त्वष्टा रूपाणि पिंशतु।

आ सिंचतु प्रजापतिर्धाता गर्भं दधातु ते।।

गर्भं धेहि सिनीवालि गर्भं धेहि सरस्वति।

गर्भं ते अश्विनौ देवावा धत्तां पुष्कर स्रजा।।

हिरणययी अरणी यं निर्भन्थतो अश्विना

तं ते गर्भं हवामहे दशमे मासि सूतवे।। 10, 184, 1-3

विष्णु स्त्री के वरांग को गर्भाधान के उपयुक्त कर दे, त्वष्टा स्त्री-पुरुष के अभिव्यंजक चिन्हों का अवयव कर दें, प्रजापति वीर्य-पात में सहायक हो और धाता तुम्हारे गर्भ का धारण करें, सिनीवाली, गर्भ का धारण करो। सरस्वती, तुम भी गर्भ का धारण करो, स्वर्णमय कमल का आभूषण धारण करने वाले अश्विद्वय तुम्हारा गर्भ उत्पादित करे, पत्नी में तुम्हारी गर्भस्थ सन्तान के लिए अश्विद्वय जो स्वर्णनिर्मित दो अरिणियों का धर्षण किये हुए है, दसवें मास में प्रसव होने के लिए तुम्हारी उसी गर्भस्थ सन्तान को हम बुला रहे हैं'' (रामगोविन्द त्रिवेदी का अनुवाद)।

प्रजापति प्रजनन के अधिष्ठाता देवता हैं। यह ऋग्वेद के एक अन्य सूक्त से स्पष्ट है। सूक्त (10, 183) में गर्भाधान का आभास है, सन्तान के लिए प्रार्थना की जाती है और प्रजापति कहते है

अहं गर्भमदधामोषधीष्वहं विश्वेषु भुवनेष्वन्तः।

अहं प्रजा अजनयं पृथिव्यामहं जनिभ्यो अपरीषु पुत्रान्।।3।।

अथर्ववेद का सूक्त (5, 25) गर्भाधान और पुंसवन दोनों से संबंध रखता है उसमें सिनीवाली, सरस्वती, अश्विद्वय, मित्र-वरुण, बृहस्पति, इन्द्र, अग्नि से प्रार्थना की जाती है कि वे गर्भ स्थापित करें, और धाता, त्वष्टा सविता और प्रजापति से चार बार यही निवेदन किया गया है पुमांसं पुत्रमा धेहि दशमे मासिं सूतवे।। 5, 25,10।।

बृहदारण्यकोपनिषद् (6, 4, 19-21) में गर्भाधान का विवरण इस प्रकार है — विवाह के चौथे दिन प्रातःकाल ही पत्नी के कूटे हुए चावलों को लेकर स्थालीपाक की विधि से घी का संस्कार करके, चरु पकाकर उसका भी संस्कार करके स्थालीपाक के अन्न में से थोड़ा-थोड़ा लेकर प्रधान आहुतियाँ दे, उनके मन्त्र इस प्रकार हैं— अग्नये स्वाहा, अनुमतये स्वाहा, देवाय सवित्रे सत्य प्रसधाय स्वाहा, इस प्रकार आहुति देकर स्विष्टकृत होम करके स्थाली में बचे हुए चरु को एक पात्र में निकालकर उसमें घी मिला कर उसका पति उसी अन्न को खाता है। खाकर उसी उच्छिष्ट अन्न को अपनी पत्नी के लिए देता है तत्पश्चात् हाथ पैर धोकर शुद्ध आचमन करके जलपात्र को भर कर उसी जल से अपनी पत्नी का तीन बार अभिषेक करे। तदनन्तर पति अपनी कामना के अनुसार पत्नी को खीर आदि भोजन कराने के पश्चात् शयनकाल में अमोऽहमस्मि इत्यादि मन्त्र (अथर्ववेद 14, 2, 71) पढ़कर उसका आलिंगन करे तत्पश्चात् पत्नी के उरुद्धय को एक दूसरे से विलग करे (उस समय यह मन्त्र कहता है- विजिहीथां द्यावा पृथिवी इति) इसके बाद तस्मार्थं निष्ठाय और उसके मुँह से मुँह मिलाकर अनुलोभ क्रम में पत्नी के सम्पूर्ण शरीर का तीन बार मार्जन करे। मार्जन काल में विष्णुयोनिं कल्पयतु इत्यादि मन्त्र (ऋग्वेद 10, 184, 1) का पाठ करे। वैदिक साहित्य में समागम के दिनों के संबंध में सुनिश्चित नियम दिये गये है और यह माना गया है कि मासिक धर्म के बाद सोलह दिनों तक गर्भाधान संभव है।

मासिक धर्म

तैत्तिरीय संहिता (2, 5, 1, 101) में इसके विषय में यह कथा मिलती है-जब इन्द्र ने त्वष्टा के पुत्र विश्वरूप को मार डाला तो उसने ब्रह्महत्या का पाप किया। वह पृथ्वी पर आया जिससे उसके पाप के सहभागी मिल जायें। पाप का एक तिहाई स्त्रियों ने लिया। फलस्वरूप स्त्रियों ने वरदान पाया कि वे मासिक धर्म के बाद गर्भ करेंगी और प्रसव तक इच्छानुसार संभोग कर सकती हैं।

रजस्वला की शुद्धि

तैत्रिरीय संहिता के समय में रजस्वला स्त्री को अशुद्ध माना गया है। इसी संहिता (2, 5, 1, 5-6) में कहा गया है कि रजस्वला स्त्री से न बातें करनी चाहिये न उसके साथ बैठना चाहिये न उसका भोजन खाना चाहिये क्योंकि वह (इन्द्र द्वारा दे. ऊपर) ब्रह्महत्या के रंग का उत्सर्जन करती है। रजस्वला के साथ संभोग करने से जो यदि पुत्र उत्पन्न होता है, वह अभिशप्त है। तैत्तिरीय ब्राह्मण (3, 7, 1) के अनुसार यज्ञ का आधा भाग नष्ट हो जाता है। पुरुषों को चाहिये कि पत्नी को अलग कर यज्ञ करे। ऐसा करने से पत्नी के अनुपस्थित होने पर भी यज्ञ पूरा होता है।

बृहदारण्यकोपनिषद् (4, 13) में भी रजस्वला संबंधी चर्चा मिलती है। इसी उपनिषद् के अनुसार जिसकी पत्नी को रजोधर्म प्राप्त हो उसकी पत्नी तीन दिनों तक काँसे के बर्तनों में न खाये और चौथे दिन स्नान के बाद ऐसा वस्त्र पहने जो फटा न हो साफ सुधरा हो। इसे कोई शूद्र जातीय स्त्री या पुरुष न छुए। वह रजस्वला नारी जब तीन दिन बीतने पर स्नान कर ले, उसे धान कूटने के काम में लगावे।

पत्नी के कर्तव्य और अधिकार

कर्तव्य— वैदिक साहित्य में कही भी पत्नी के कर्तव्यों को सूचीबद्ध नहीं किया गया है। फिर भी विभिन्न स्थलों पर इनकी ओर निर्देश किया गया है।

ऋग्वेद तथा अथर्ववेद के विवाह सूक्तों में उसे विदाई के अवसर पर यह आर्शीवाद दिया गया है कि वह नये घर में गृहपत्नी के रूप में घर का संचालन करते हुए आदेश दिया करे (ऋग्वेद 10, 85, 26) और नये घर में पहुँचकर उसे सास, ससुर, ननदों और देवरों की सम्राज्ञी बनने का निमंत्रण दिया गया (ऋग्वेद 10, 85, 46)। यह आशा भी व्यक्त की गई कि वह उन सबों की सेवा परिचर्या और कल्याण करे (अथर्ववेद 14, 2 26-27)।

ऐसा प्रतीत होता है कि प्राचीन काल में यह माना जाता था कि वधू को ससुर के सामने श्रद्धावनत होना चाहिये। अथर्ववेद के एक मन्त्र (8, 6, 24) में पिशाचों के विषय में यह तुलना की गयी— वे सूर्य के सामने से इस प्रकार छिप जाते हैं, जैसे ससुर के सामने से वधू। ऋग्वेद 10, 15, 4 में स्नुषा द्वारा श्वसुर की विशेष सेवा का उल्लेख है।

नये घर में सम्राज्ञी के रूप में अवश्य उसका स्वागत किया जाता था, कि वह घर की अकेली स्वामिनी नहीं है, उसे पति के अधीन रहना था। वह पति के अनुशासन में रहकर ही घर का संचालन करे (ऋग्वेद 10, 85, 26 और अथर्ववेद 14, 1, 42)। शतपथ ब्राह्मण (2, 6, 2, 14) के अनुसार पति, स्त्री की प्रतिष्ठा है।

पाणिग्रहण के समय वर, वधू से कहता था कि अर्यमा और पूषा ने तुम्हें गृहधर्म चलाने के लिए मुझे दे दिया है (ऋग्वेद 10, 85, 36)। वास्तव में पत्नी को गृहस्थी के विभिन्न कार्यो में व्यस्त चित्रित किया गया है। इनमें से बच्चों का लालन पालन सर्वोपरि है। आर्यो की सम्पत्ति प्रमुख रूप से पशुधन था। पत्नी को पशुओं की विशेष जिम्मेवारी थी— ऐसा प्रतीत होता है विवाह सूक्तों में यह शुभकामना प्रकट की गयी है कि वह वधू, पशुओं के लिए मंगलमय हो (ऋग्वेद 10, 85, 44; अथर्ववेद 14, 2, 18)।

ऋग्वेद में उषा के वर्णन के प्रसंग में कार्य में व्यस्त स्त्रियों की चर्चा है (1, 92, 3)। उन घरेलू कार्यों में जल भरना, बुनाई और सिलाई की चर्चा ऋग्वेद में की गई है— कुंभ में जल ढोने वाली (1, 19, 1 और 14) और वस्त्र बुनने वाली (2, 3, 2/5, 47, 6) स्त्रियों का उल्लेख मिलता है। सिलाई की ओर भी निर्देश किया गया है (2, 32, 4)।

माता

1. **नाम, प्रेम, महिमा**— ऋग्वेद में माता के लिए चार शब्दों का प्रयोग हुआ है— माता, जनित्री, अम्बा और नना। प्रथम दो नामों का अधिक प्रयोग हुआ, अम्बा का तीन बार (2, 41, 16/10, 86, 7 और 10, 87, 2) और नना का एक ही बार (1, 112, 6)। हर माता अपनी सन्तान को प्यार करती है। वह अपनी सन्तान के लिए प्राण तक दे सकती है। ऋग्वेद की कथा के अनुसार वृत्र और इन्द्र के बीच युद्ध हो रहा था। वृत्र, इन्द्र द्वारा क्षत- विक्षत होकर पृथ्वी पर गिर पड़ा। तब वृत्र की माता उसकी रक्षा के लिए उसकी देह पर लेट गई, जिस तरह गाय अपने बछड़े की बगल में लेट जाती है। (1, 32, 4)।

ऋग्वेद के ऋषियों ने अनेक स्थलों पर मातृप्रेम की ओर संकेत किया है:—

— माता अपने पुत्र को सर्वोत्तम भाग देती है (2, 38, 5)।

— जिस प्रकार स्त्री अपनी सन्तान को प्यार करती है (3, 38,8)।

— जिस तरह माता अपने पुत्र को गोद में उठा रखती है (6, 75, 4)।

— जिस प्रकार माता अपने अतिप्रिय पुत्र को ग्रहण करती है (5, 42, 2)

— जिस तरह माता पुत्र को अपने अंचल से ढक लेती है (10, 18, 11)

— मैं दूध से फूली हुई माता के समान तुझ पर झुक जाऊँगा (7, 81, 4)।

— जिस प्रकार स्नेहमयी माताएँ दूध पिलाती हैं (10, 9, 2)।

— माताएँ अपने पुत्र के लिए वस्त्र बुनती हैं (5, 47, 6)।

— माता द्वारा सजाई हुई कन्या जैसी सुन्दर (1, 123, 11)।

उन पुत्रों के सदृश जिन्हें माता अपनी गोद में उठाकर रखती है (7, 10, 3) अथर्ववेद में परिवार के सुखमय तथा शांतिपूर्ण वातावरण के लिए जो प्रार्थना सुरक्षित है, उसमें वही पुत्र आदर्श माना गया, जिसके विचार अपनी माता के अनुकूल है (अथर्व 3, 30, 2)। जल के विषय में कहा गया है कि वह हमें माता की तरह शुद्ध कर देता है (10, 17, 10)।

अतः इसमें संदेह नहीं रह जाता है कि माता को समाज तथा परिवार में एक गौरवपूर्ण स्थान था।

2. माता के संस्कार

(अ) ऋग्वेद के स्तोत्रों में कभी भी पुत्री के जन्म की निन्दा नहीं की गई है। परन्तु अथर्ववेद

में स्पष्ट रूप से पुत्री, के जन्म को अवांछित कहा गया और पुत्रोत्पति के लिए प्रार्थना की जाने लगी। पुंसवन संस्कार का पूर्वरूप भी अथर्ववेद में मिलता है। गर्भ में स्थित पुत्र के लिए प्रार्थनाएँ की जाती थीं कि वह पुत्री में न बदल जाये— रक्ष जायमानं मा पुमांसा स्त्रियं क्रन् (8, 6, 25)। इसके अतिरिक्त एक पूरा सूक्त (6,11) का उद्देश्य पुंसवन ही है। अथर्ववेद का एक और सूक्त (5, 22) पुंसवन और गर्भाधान दोनों से संबंध रखता है।

(आ) **सोष्यन्ती कर्म**

प्रसव निकट आने पर परिवार में चिन्ता स्वाभाविक है। इस अवसर पर धार्मिक आर्य प्रार्थना किया करते थे (ऋग्वेद 5, 78, 7-9)। अथर्ववेद का एक पूरा सूक्त (1, 11) सोष्यन्ती कर्म से संबंध रखता है। बृहदारण्यकोपनिषद् (6, 4, 23) में भी सोष्यन्ती कर्म की चर्चा है। इसमें ऋग्वेद के मन्त्र 9, 78, 79) का किंचित परिवर्तित रूप मिलता है। मंत्र का अर्थ इस प्रकार है— "जैसे वायु पोखरी के जल को सब ओर से चंचल कर देती है, उसी प्रकार तेरा गर्भ अपने स्थान से चले और जरायु के साथ बाहर निकले। इन्द्र (प्रसूति वायु) के लिए यह योनि रूप मार्ग निर्मित हुआ है, जो अर्गला गर्भवेष्टन (जरायु) के साथ है। इन्द्र (प्रसववायु) उस मार्ग पर पहुँचकर गर्भ एवं मांसपेशी के साथ बाहर निकले।"

(इ) ऋग्वेद के दो स्थानों में नवजात शिशु के स्थान का उल्लेख है। बच्चे के पैदा होने के बाद उसे स्नान कराया जाता था (9, 96, 17: समानान्तर स्थल 9, 100, 12)

शतपथ ब्राह्मण के अनुसार नाभि काटने से पहले पाँच ब्राह्मणों को शिशु के ऊपर श्वास फूँकना चाहिये। पिता, ब्राह्मणों को बच्चे के चारों ओर खड़ा करता है। वे ब्राह्मण एक के बाद दूसरा क्रमशः बच्चे पर श्वास फूँकते हैं। यदि ब्राह्मण उपलब्ध न हो, तो पिता स्वयं शिशु पर श्वास फूँकता है (11, 8, 4, 6)।

ऐतरेय ब्राह्मण (7, 2, 1) के अनुसार जुड़वें बच्चे अशुभ माने जाते थे और उनके लिए प्रायश्चित्त भी करना पड़ता था।

बृहदारण्यकोपनिषद् में पहले-पहले जातकर्म संस्कार के अन्तर्गत प्राशन, गुप्त नामकरण और स्तन प्रदान की विधियों का वर्णन है—

(क) प्राशन— पुत्र जन्म होने पर पुत्र का पिता अग्नि स्थापन करके पुत्र को गोद में लेकर और कांसे के कटोरे में दधिमिश्रित घृत चढ़ा कर दही को घी में मिलाकर उसका थोड़ा-थोड़ा सा अंश लेकर अग्नि में आहुति देता था, और शिशु के दाहिने कान को अपने मुख के पास लेकर वाक् शब्द का उच्चारण करता था। तत्पश्चात् शिशु को दही और मधु खिलाया जाता था (6, 4, 25)

(ख) गुप्त नामकरण— प्राचीन काल से ही नाम के महत्व तथा रहस्यमय शक्ति में विश्वास उत्पन्न हुआ। नाम व्यक्ति का प्रतीक है— इसीलिए ऋग्वेद (10, 23, 2) में दास का नाम नष्ट करने का उल्लेख है, तथा यह भी कहा गया है —मैं दस्यु शत्रुओं को आर्य नाम नहीं दूँगा।"

वेदों मे गुप्त नाम का महत्व इसलिए समझा गया कि इससे एक रहस्यमय शक्ति मिलती थी। बृहदारण्यकोपनिषद् (6, 4, 26) में संतान को गुप्त नाम देने की चर्चा है। ऋग्वेद(8, 41, 5) के अनुसार

गुप्त नाम जानने से सामर्थ्य बढ़ता है इसलिए वरुण गुप्त नामों की जानकारी रखते हैं। इंद्र के गुप्त नाम की महत्ता तथा सामर्थ्य का उल्लेख है (ऋग्वेद 10, 55, 1-2; शतपथ ब्राह्मण 2, 9, 2, 11 और 5, 4, 3, 7)। अत: शिशु का एक गुप्त नाम दिया जाता था।

(ग) स्तन प्रदान— बालक को गुप्त नाम देने के बाद पिता बालक को माता की गोद में देता है। इसके बाद पिता ऋग्वेद (1, 164, 49) का 'यस्ते स्तन' आदि मन्त्र पढ़े, और माता मन्त्रोच्चारण के समय ही दूध पिलाती है।

बच्चों के संस्कार

बच्चों के संबंध में वैदिक साहित्य में अधिक सामग्री नहीं मिलती है। जब अपने बच्चे के ऊपरी दो दाँत बड़े हो जाते थे, तो वह अपने माता-पिता के लिए अनिष्ट का कारण बन सकता था, ऐसा विश्वास था। इसलिए अथर्ववेद में इसके निवारण के लिए एक सूक्त सुरक्षित है, जिसमें अनिष्ट के निवारण के लिए प्रार्थना की जाती थी (6, 140, 2)।

तैत्तिरीय संहिता के अनुसार बच्चे एक साल के होने पर बोलना शुरू करते हैं (6, 1, 6, 7)। इसी से मिलते-जलते उदाहरण शतपथ ब्राह्मण (7, 4, 2, 38/11, 1, 1, 3 और 11, 1, 6, 5) में भी मिलते हैं।

ऐतरेय आरण्यक के अनुसार ''तत''और ''तात'' बच्चे के सर्वप्रथम शब्द हैं (1, 3, 3,)। प्राचीन काल में बच्चों के मनोरंजन का भी ध्यान रखा गया। झूल (प्रेंङ्ग) ऋग्वेद में दो बार उल्लिखित (7, 87, 5 और 7, 88, 3)।

बच्चों के संस्कार समान रूप से पुत्रों तथा पुत्रियों के लिए संपन्न हो जाते थे।

1. **नामकरण**— डा. राजबलि पांडेय का अनुमान है कि आरंभ में नामकरण धर्मक्रिया नहीं बल्कि रिवाज मात्र था। सामाजिक महत्त्व के कारण वह संस्कार बना दिया गया। गृह्यसूत्रों के अनुसार शिशु का नामकरण दो बार होना चाहिये पहला नाम गुप्त रखा जाता है (गुप्त नामकरण के लिए दे. माता के संस्कार)।

दूसरे नाम के विषय में आपस्तम्ब गृह्य-सूत्र (6, 15, 9, 11) में कहा गया है—'नाम दो अक्षर या चार अक्षर का होना चाहिये, नाम का प्रथम भाग संज्ञा शब्द हो और अन्त में क्रिया पद हो, उसमें एक दीर्घ स्वर हो या अन्त में विसर्ग हो, आरंभ में घोष व्यंजन हो और नाम के मध्य में अन्तस्थ वर्ण (य, र, ल, व) हो। कन्या के नाम के अक्षरों की संख्या विषम होनी चाहिये।''

मानव गृह्यसूत्र (1, 18) के अनुसार कन्या का नाम तीन अक्षरों का हो। गोभिल गृह्यसूत्र (2, 8, 16) के अनुसार उनके नाम का ''दा'' से अन्त हो। पारस्कर गृह्यसूत्र (17, 3 प्रथम कांड) में कन्या के नाम के बारे में इस प्रकार कहा गया है—''कन्या का नाम विषम अक्षरों वाला हो, आ से अन्त हीने वाला और तद्धित हो।

वाराह गृह्य-सूत्र (बड़ौदा संस्करण 2, 3) के अनुसार कन्या के कुछ नाम वर्जित हैं—''कन्या का नाम नदी, नक्षत्र, चन्द्रमा, सूर्य अथवा पूषन् का न हो, दत्ता और रक्षिता से अन्त न हो।''

मनु (2, 33) के विचार कन्या के नाम संबंधी ये हैं—

स्त्रियों के नाम सुखपूर्वक उच्चारण करने योग्य, अक्रूर तथा स्पष्ट अर्थवाला मनोहर, मंगलसूचक, अन्त में दीर्घ स्वर वाला और मांगलिक अर्थवाला होना चाहिये।

नामकरण का समय

शांखायन (1, 24, 4), आश्वालायन (1, 15, 4), पारस्कर (1, 17); गोभिल (2, 7,15), खादिर (2, 2, 3) हिरण्यकेशिन् (2, 5, 2) आपस्तम्ब (गृह्यसूत्रों के अनुसार बच्चे के जन्म के दसवें अथवा बारहवें दिन नामकरण संस्कार किया जाये। मनु के अनुसार जन्म से दसवें या बारहवें दिन शिशु का नामकरण किया जाना चाहिये (2, 30)।

विधि

गोभिल गृह्यसूत्र (2, 8, 9-18) और काठक (2, 3, 7-12) गृह्यसूत्रों के अनुसार नामकरण की विधि इस प्रकार है—"सर्वप्रथम अग्नि जलायी जाती है और दर्भ घास बिछाई जाती है। नामकरण संस्कार करने वाला (पिता अथवा प्रतिनिधि) अग्नि के पश्चिम में पूर्व की ओर मुँह करके बैठता है। माता बच्चे को साफ वस्त्र पहना कर नामकरण करनेवाले व्यक्ति को देती है। बच्चे का मुँह उत्तर की ओर रहता है। वह स्वयं अनुष्ठाता की बगल से होकर उसकी बाई ओर, उत्तर दिशा की ओर रखे गये, घास पर बैठ जाती है। तत्पश्चात् अनुष्ठाता, प्रजापति को बच्चे की जन्म तिथि को, बच्चे के जन्म नक्षत्र को और नक्षत्र के देवता को बलि देता है। इसके बाद बच्चे की इन्द्रियों का स्पर्श करते हुए (कौन हो, कैसे हो) आदि मन्त्रों का उच्चारण करता है। इसके बाद अनुष्ठाता सबसे पहले माता को बच्चे का नाम सुनाता है। इस प्रकार यह विधि समाप्त होती है।

2. **निष्क्रमण संस्कार**— बच्चे को प्रथम बार घर से बाहर निकालने के अवसर पर निष्क्रमण — संस्कार किया जाता था। पारस्कर गृह्यसूत्र (1, 17, 6) के अनुसार पिता वाजसनेयि संहिता (34, 24) का मंत्रोच्चारण करके बच्चे को सूर्य दिखाता था। बौधायन गृह्यसूत्र (2, 2, 12-13) के अनुसार निष्क्रमण संस्कार के समय यज्ञ भी होता था और ब्राह्मणों को भोज मिलता था। बौधायन इस संस्कार को "उपनिष्क्रमण" कहते हैं।

काठक गृह्यसूत्र (37, 1) के अनुसार जन्म से साढ़े तीन महीने बाद,पारस्कर (1, 17, 5-6) कौषीतकि (1, 18) और बौधायन (2, 2, 1) गृह्यसूत्रों के अनुसार बच्चे के जन्म के चौथे महीने में निष्क्रमण संस्कार होना चाहिये। मनुस्मृति भी, गृह्यसूत्रों के समान इस का समर्थन करती है कि निष्क्रमण-संस्कार बच्चे के जन्म के चौथे महीने में हो (2, 2)। याज्ञवल्क्य स्मृति (1, 12) में भी यही समय बताया गया है।

3. **अन्नप्राशन संस्कार**— बच्चे को ठोस भोजन खिलाने के अवसर पर अन्नप्राशन-संस्कार सम्पन्न किया जाता था। काठक (39,1) आश्वलायन (, 16, 1) पारस्कर (1, 16, 1) सांख्यायन (1, 27, 1); बौधायन (2, 3, 1); मानव (1, 20); हिरण्यकेशिन् (2, 15, 1); भारद्वाज (1, 27) और आपस्तम्ब (6, 16, 1) गृह्यसूत्रों के अनुसार बच्चे के जन्म के छठे महीने के बाद अन्नप्राशन संस्कार

होता था।

आपस्तम्ब गृह्यसूत्र (6, 16, 1) के अनुसार ब्राह्मणों को भोजन कराकर उनसे आर्शीवचन, कहलवा कर दही, मधु घी तथा भात मिलाकर "भूरपां त्वा" आदि चार मन्त्रों से बच्चे का अन्नप्राशन होता था।

मनुस्मृति (3, 14) और याज्ञवल्क्य स्मृति (1, 12) के अनुसार अन्नप्राशन संस्कार बच्चे के जन्म के छठे महीने में करना चाहिये।

4. चूड़ाकर्म– आश्वलायन गृह्यसूत्र (1, 17, 3–17) के अनुसार चूड़ाकर्म की विधि इस प्रकार है– "सर्वप्रथम माता बच्चे को अपनी ग़ोद में लेती है। पिता ठंढा और गर्म पानी यह कहते मिलाता है– हे वायु! गर्म पानी के साथ इधर आओ। उसी जल से वह तीन बार बच्चे के सिर को आर्द्र करता है। वह उस्तरे से बच्चे को चोट नहीं पहुँचाने की विनय करने के पश्चात् बच्चे के बाल काटते हुए उसकी लम्बी आयु के लिए प्रार्थना करता है। वह बाल काटकर माता को देता है। वह उसे बैल के गोबर में रखती है। वह गोबर बाद में गाड़ा जाता है। तब पिता नापित से निवेदन करता है कि वह बालक के बाल कुल की रीति के अनुसार सँवारे।"

काठक (40, 1); आश्वलायन (1, 17, 1); द्राहायण (1, 3, 16–18; गोभिल (2, 9,1); अग्निवेश्य (2, 2, 5); पारस्कर (2, 1), सांख्यायन (1, 28, 1) और हिरण्यकेशिन् (2, 1, 6, 1) गृह्यसूत्रों के अनुसार चूड़ाकर्म संस्कार बच्चे के जन्म के तीसरे वर्ष में होना चाहिये।

मनुस्मति (2, 35) के अनुसार सभी द्विजाति बालकों को चूड़ाकरण संस्कार वेद के अनुसार पहले या तीसरे वर्ष में कराना चाहिये।

धर्मसिन्धु (पृ. 3, 82) के अनुसार 18 वीं शताब्दी से कन्याओं का चूड़ाकर्म नहीं होता था।

5. **कर्णवेध संस्कार**– कर्णों के छेद करने के अवसर पर कर्णवेध संस्कार सम्पन्न किया जाता है। कौषीतकी (1, 20) तथा पारस्कर (परिशिष्ट 1) गृह्यसूत्रों को छोड़कर अन्य गृह्यसूत्रों में इस संस्कार का उल्लेख नहीं हुआ है। मनु तथा याज्ञवल्क्य के स्मृतिग्रन्थों में भी कर्णवेध संस्कार के बारे में कुछ नहीं कहा गया है। विष्णुधर्मोत्तर पुराण के अनुसार बालक का दाहिना कर्ण और बालिका का बायां कर्ण पहले छेदित करना चाहिये। बृहस्पति (वीर मित्रोदय संस्कार प्रकाश भाग 1, पृ. 258) के अनुसार जन्म के दसवें, अथवा सोलहवें दिन में कर्ण वेध संस्कार होना चाहिये। आजकल चूड़ाकर्म तथा कर्णवेध बहुधा उपनयन-संस्कार के साथ सम्पन्न क़िये जाते हैं (राजबली पांडेय, पृ. 129)।

देवल कर्णवेध अनिवार्य मानते हैं। उसका कहना है कि जिस ब्राह्मण के कर्णछिद्रों से होकर सूर्यकिरणें नहीं जाती, उसे देखने पर संचित पुण्य विलुप्त हो जाता है (वीरमित्रोदय, भाग– 1, पृ. 263)।

6. **विद्यारम्भ संस्कार**– इस संस्कार के अनेक नाम प्रचलित है– विद्यारम्भ (वीरमित्रोदय संस्कार प्रकाश भाग 1, पृ. 321), अक्षराम्भ (वीरमित्रोदय संस्कार भाग– 1, पृ. 323 में वशिष्ठ का कथन), अक्षरलेखन (मार्कण्डेय पुराण, राजबली पांडेय, पृ. 137) और अक्षरस्वीकरण (अल्टेकर, एड्युकेशन इन एन्शन्ट इण्डिया, पृ. 288)।

गृह्यसूत्रों धर्मसूत्रों में विद्यारम्भ संस्कार का उल्लेख नहीं पाया जाता है। उसका वर्णन केवल वीरमित्रोदय संस्कार प्रकाश, अध्याय 1, पृ. 331, स्मृतिचन्द्रिका (संस्कार कांड, पृ. 66) और अपरार्क की याज्ञवल्क्य स्मृति की टीका में ही मिलता है। इसका कारण है कि प्राचीन काल में वैदिक मन्त्रों को कंठस्थ करने से अध्ययन आरंभ होता था। बाद में अध्ययन वेद से नहीं, बल्कि लिपि सीखने से प्रारंभ होता था, और इसके लिए एक नये संस्कार ''विद्यारम्भ'' का विधान किया गया है। बहुत समय तक यह संस्कार चौल संस्कार के साथ ही किया जाता था। इसलिए इस संस्कार का अलग वर्णन प्राचीन ग्रन्थों में नहीं मिलता है।

विश्वमित्र (वीरमित्रोदय संस्कार प्रकाश, भाग-1, पृ. 321 में उद्घृत)के अनुसार बच्चे के पाँचवें वर्ष में विद्यारम्भ संस्कार होना चाहिये।

विद्यारम्भ संस्कार सम्पन्न करने से पहले छोटे बच्चे को सरस्वती, विनायक और परिवार के अधिष्ठाता देवताओं की पूजा करनी पड़ती थी। देवताओं की पूजा के बाद प्राथमिक शिक्षक की पूजा की जाती थी। तत्पश्चात् बच्चा, शिक्षक के हाथों सौंप दिया जाता था। विशेष रूप से बनायी गई सोने या चाँदी की कलम से शिक्षक बच्चे से वर्णमाला लिखाता था। इस अवसर पर बहुमूल्य उपहार शिक्षक को दिये जाते थे और ब्राह्मणों को भी निमंत्रण दिया जाता था।

7. उपनयन संस्कार

''उपनयन'' शब्द की व्युत्पत्ति को दो प्रकार से समझा जा सकता है—

1. लड़के को आचार्य के पास ले जाना (येन कर्मणा समीपं नीयते गुरोः बालः)

2. वह रीति जिसके द्वारा आचार्य बालक को अपनी ओर खीचता है (उपनयामि त्वां सांखायन गृह्यसूत्र 2, 2, 12)।

उपनयन की परिभाषा आपस्तम्ब धर्मसूत्र के अुनसार इस प्रकार है— उपनयनं विद्यार्थस्य श्रुतितः संस्कार इति (10, 1)।

''उपनयन विद्या चाहने वाले का वेद के नियम के अनुसार किया जाने वाला संस्कार है।'' अतः उपनयन संस्कार वेदाध्ययन में भारती कहा जा सकता है। डा. काणे (भाग 2, पृ. 266) ने इस सूत्र का दूसरा अर्थ दिया है— ''उपनयन संस्कार का तत्व इसमें है कि विद्या चाहने वाले को श्रुति (गायत्री मंत्र) दी जाती है।'' इसके अनुसार उपनयन मुख्य रूप से गायत्री उपदेश है। उपनयन के ये नाम भी मिलते हैं— उपनयन, मौंजीबन्धन और यज्ञोपवीत।

हिन्दुओं के लिए उपनयन संस्कार अनिवार्य है। बिना उपनयन के कोई भी व्यक्ति अपने को द्विज नहीं कह सकता (दे. गौतम धर्मसूत्र 1, 1, 6; आपस्तम्ब धर्मसूत्र 1, 1, 16; वशिष्ठ धर्मसूत्र 2, 3-5)। उचित समय पर जिसका उपनयन संस्कार नहीं होता था वह ''पतितसावित्री'' घोषित किया जाता था। उसे जाति से अलग और साथ ही जाति की सभी सुविधाओं से वंचित किया जाता था। विना उपनयन संस्कार के आर्य कन्या के साथ विवाह नहीं हो सकता था (दे. गोभिल गृह्यसूत्र 2, 10, 5-6) सांख्यायन गृह्यसूत्र 2, 1, 9-13; आश्वलायन गृह्यसूत्र 1, 19, 5-6 और पारस्कर गृह्यसूत्र 2, 5,

36-40)।

मनुस्मृति (2, 39) के अनुसार यथासमय (ब्राह्मण 16, क्षत्रिय 22, वैश्य 25 वर्ष तक) यज्ञोपवीत संस्कार से रहित ये तीनों वर्ण (ब्राह्मण, क्षत्रिय ओर वैश्य) सावित्री से पतित तथा सज्जनों से निन्दित होकर ''व्रात्य'' कहलाते हैं। बौधायन, हिरण्यकेशिन्, भार्गव और मानव गृह्यसूत्र आदेश देते हैं कि विद्यार्थी यज्ञोपवीत पहन ले। बौधायन गृह्यसूत्र एक मन्त्र देता है, जिसे यज्ञोपवीत पहनने के समय पढ़ना चाहिये (2, 5, 7-8)।

अगर हम वैदिक साहित्य में उपनयन संस्कार का वर्णन ढूँढ़ेंगे तो ऋग्वेद में उपनयन संस्कार का वर्णन तो नहीं मिलता, किन्तु ''ब्रह्मचारी'' शब्द धर्म का अध्ययन करने वाले के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है, और ब्रह्मचारी को ईश्वर के शरीर का अंश माना गया हैं (10, 109, 5)।

अथर्ववेद के एक संपूर्ण सूक्त (11, 5) का विषय है ब्रह्मचारी तथा उसके आचार्य की प्रशंसा, और उसमें उपनयन की मुख्य विशेषताओं का उल्लेख भी मिलता है।

उपनयन को द्वितीय जन्म माना जाने लगा था। अथर्ववेद (12, 5, 3) के अनुसार आचार्य वैदिक अध्ययन करने वाले विद्यार्थी का भ्रूण अपने में ग्रहण करता है। उसे तीन रात्रि तक उदर में वहन करता और पैदा होते देखने के लिए देवता जमा होते हैं। इससे मिलता जुलता उद्धरण शतपथ ब्राह्मण में मिलता है :—''(शिष्य पर) अपना दाहिना हाथ रखने से शिक्षक को गर्भहोता है। तीसरी रात्रि में वह (ब्राह्मण के रूप में) सावित्री के साथ जन्म लेता है (11, 5, 4, 26)।

शतपथ ब्राह्मण के अन्य कई स्थलों पर ब्रह्मचारी के जीवन के उपनयन संस्कार का वर्णन मिलता है (दे. 11, 5, 4, 1-6/11, 3, 3, 7/3, 6, 2, 15)। इसी प्रकार के उद्धरण तैत्तिरीय ब्राह्मण (3, 7, 6, 3/3, 10, 11, 3); बृहदारण्यकोपनिषद् (6, 2, 7), छान्दोग्योपनिषद् (4, 4, 5/4, 10, 1/6, 1, 2/4, 3, 5) में भी पाये जाते हैं। उपरोक्त सभी संस्कारों की नींव वैदिक काल में हो चुकी थी।

विधवा

विधवाओं की दशा वैदिक समाज में दयनीय नहीं थी। उस समय सती प्रथा का प्रचलन नहीं था।

एक ऋग्वेदीय ऋचा (10, 18,7 नारीर विधवाः) में अविधवा नारियों की चर्चा है, जिससे यह निष्कर्ष निकाला जा सकता था कि ''विधवा'' नारियों का भी अस्तित्व था, अर्थात् ऐसी नारियाँ जो विधवा बनने के बाद फिर विवाह नहीं करती थीं। कुछ पुरुष भी पत्नी की मृत्यु के बाद दूसरा विवाह नहीं करते थे। ऐतरेय ब्राह्मण (7, 2, 1, 10) के अनुसार पत्नी के देहान्त के बाद भी अपत्नीक पुरुष यज्ञ कर सकता था, क्योंकि श्रद्धा उसकी पत्नी स्वरूपा थी।

अन्य विधवाएँ आजीवन अविवाहित नहीं रहती थीं, पुनर्विवाह कर सकती थी।

पुनर्विवाह

ऋग्वेद (1, 114, 7) में उषा की स्तुति में कहा गया है कि वह (गर्तारूगिव सनये धनानाम्) के सदृश है। सायण के अनुसार यहाँ विधवा (गतभर्तृका) की चर्चा है, जो न्यायालय में दायभाग के

अंश का दावा करती है। अन्य विद्वान् जैसे भागवत शरण उपाध्याय (सांस्कृतिक निबन्ध पृ. 41) यहाँ उन विधवाओं की ओर संकेत देखते हैं जो धन प्राप्ति के लिए घर (गर्त) आती हैं। इसलिए वह इस ऋचा को विधवा के पुनर्विवाह का प्रमाण मानते हैं।

अथर्ववेद (9, 5, 27-28) में विधवा के पुनर्विवाह का स्पष्ट प्रमाण मिलता है—''जिसका पहले कोई पति या, यदि वह दूसरे से विवाह करती है, और यदि वे दोनों दम्पती, बकरे को पंचौदन के साथ चढ़ाते हैं, तो एक दूसरे से अलग नहीं होंगे। दूसरा पति अपनी पुनर्विवाहिता पत्नी के साथ उसी लोक को प्राप्त करता है, जब वह बकरे का यज्ञ पंचौदन करता और हल्की दक्षिणा देता है। इससे पता चलता है कि पुनर्विवाह के कारण प्रायश्चित्त की आवश्यकता मानी गई है। काणे (2, 615) के अनुसार यह असंभव नहीं कहा जा सकता है कि यहाँ पर ऐसी कन्या की चर्चा है, जिसका भावी पति वाग्दान के बाद और विवाह से पहले मर गया हो।

अथर्ववेद का एक और मन्त्र 5, 17, 8-9) संभवत: विधवाओं के पुनर्विवाह से संबंधित है—''जिस स्त्री के दस अब्राह्मण पति रह चुके हों, यदि ब्राह्मण उससे विवाह करे, तो वही उसका वास्तविक पति होगा। एक ब्राह्मण ही उसका पति है, क्षत्रिय और वैश्य नहीं। काणे (भाग 2, पृ. 614) का अनुमान है कि इस उद्धरण में वाग्दान का प्रसंग है। यदि पहले कई लोगों के साथ किसी कन्या का वाग्दान हो चुका हो और बाद में ब्राह्मण से हो, तो वही उसका वास्तविक पति है।

5. **नियोग**— नियोग उस प्रथा का नाम है, जिसके द्वारा नि:सन्तान विधवा (अथवा नपुंसक की पत्नी) अपने देवर अथवा अन्य निकट संबंधी से सन्तान प्राप्त कर सकती है। वैदिक साहित्य में परिभाषित शब्द के रूप में ''नियोग'' का प्रयोग नहीं हुआ है, और इस प्रथा संबंधी नियम नहीं मिलते, फिर भी वैदिक समाज में नियोग का प्रचलन असंदिग्ध है।

नियोग का कारण प्राय: यह माना जाता है कि उस प्रकार का पुत्र दत्तक पुत्र की अपेक्षा अधिक सम्मानित है। ऋग्वेद (7, 4, 7) में कहा गया है—''हे अग्नि! परायों द्वारा उत्पन्न पुत्र, पुत्र नहीं है।'' ऋग्वेद की एक ऋचा (10, 40, 2) में अश्वि युगल को इस प्रकार सम्बोधित किया जाता है, ''कौन तुमको बुलाता है, जिस प्रकार विधवा अपने देवर को।'' इस उद्धरण से स्पष्ट नहीं है कि वह देवर से पुनर्विवाह अथवा नियोग की ओर संकेत करता है। निरुक्त (3, 15) में इस ऋचा की व्याख्या में देवर का अर्थ द्वितीयो वर: अर्थात् दूसरा पति कहा गया है।

ऋग्वेद (1, 117, 24 /6, 62, 7/10, 3, 97/10, 65, 12) में अश्विद्वय की स्तुति से पता चलता है कि इन देवताओं ने वध्रिमती को (जिसका पति नपुंसक था) नियोग द्वारा हिरण्यहस्त नाम का पुत्र प्रदान किया था।

अथर्ववेद (18, 3, 1-4) के मन्त्र को सभी आलोचक नियोग प्रथा का प्रमाण मानते हैं ''यह स्त्री पति लोक की कामना करती हुई हे मनुष्य! मृत पति को छोड़कर पुरातन धर्म का पालन करती हुई तेरे पास आयी है। उस धर्म में स्थित नारी के लिए संसार में संतति और धन को दे। हे स्त्री! जो तू मृतप्राण अर्थात् इस मृत पति के पास लेट रही है, वह तू उस मृत पति के पास से चली आ। संसार में आकर विवाह में तेरा पाणिग्रहण करनेवाले अथवा तेरा रक्षण, पालनादि रूप से धारण करने वाले तेरे पति की

सन्तान को प्राप्त हो। जीवित श्मशान की ओर ले आयी गयी अथवा मरे हुए मनुष्यों से पुनःवापिस घर को ली गई जवान स्त्री को मैंने देखा है। क्योंकि यह स्त्री शोकजन्य गहरे अंधकार से ढकी हुई थी। इसलिए इस पीछे की तरफ अर्थात् घर की ओर जाने वाली को यहाँ सामने लाया हूँ। हे मारने के अयोग्य स्त्री! संसार को भली-भाँति जानती हुई, और देवों के मार्ग पर चलती हुई,जो तेरा गोपति है, उससे प्रीति कर, और इस प्रकार इस गोपति को स्वर्गलोक में पहुँचा दे।''

सती-प्रथा का अभाव

न ऋग्वेद और न्न अथर्ववेद के मन्त्रों से सती प्रथा के प्रमाण मिलते है। परन्तु ऋग्वेद (10, 18, 8) की इस ऋचा से निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि संभवतः अत्यन्त प्राचीन काल में सती प्रथा प्रचलित थी। अथर्ववेद (18, 3, 1) में विधवा को मृत पति की बगल में ले जाना एक प्राचीन प्रथा कहा गया है।

अतः सूदूर अतीत में आर्यो के बीच सती-प्रथा संभवतः प्रचलित थी, किन्तु वैदिक साहित्य के रचना काल तक वह एक पुरानी प्रथा मानी जाती थी। ब्राह्मण साहित्य में भी सती प्रथा का निर्देश नहीं मिलता है।

बृहद्देवता (7, 13) से भी पता चलता है कि पति की मृत्यु के बाद स्त्रियाँ चिता पर लेट जाती थीं, परन्तु उसका देवर उन्हें चिता में भस्म होने नहीं देता था। देवर के नहीं होने पर ''होता'' यह काम करता था (बृहददेवता 7, 14)।

जहाँ तक सम्पत्ति का अधिकार है, विधवाओं को अपने पति की सम्पत्ति का उत्तराधिकार नहीं था।

(8) उत्तर वैदिक युगीन परिवारिक संगठन और स्त्रियों की दशा

संयुक्त परिवार— उत्तर— वैदिक— युगीन पारिवारिक संगठन बहुत कुछ पूर्व वैदिक-युग के समान था यद्यपि इस पर आर्थिक विकास एवं सामाजिक परिवर्तनों का प्रभाव पड़ने के कारण कुछ अन्तर भी आ गये थे। संयुक्त परिवार की परम्परा अभी विच्छिन्न नहीं हो पाई थी, अथर्ववेद (2.30, 1-3) में पारिवारिक जीवन के, जिस आदर्श का चित्रण है उससे यह बात स्पष्ट हो जाती है। पिता के जो कुटुम्ब का नायक होता था, जीवन काल में उसके सभी पुत्र एवं पौत्र बहुधा साथ-साथ रहते थे लेकिन अब कभी-कभी उसकी वृद्धावस्था में उसके पुत्र पारिवारिक सम्पत्ति का बंटवारा करने की मांग करने लगे थे। जैमिनीय ब्राह्मण से ज्ञात होता है कि अभिप्रतारण के चार पुत्रों ने उस समय सम्पत्ति के बटवारे के लिए कलह किया जब वह वृद्धावस्था में रोगशैय्या पर पड़ा हुआ था (जै. ब्र. 3, 156)। पुत्रों के कलह का कारण जानने पर अभिप्रतारण ने क्षुब्ध होकर कहा कि ''मैंने सुना था कि एक समय ऐसा आएगा जब पिता के जीवन काल में ही पुत्र सम्पत्ति का बटवारा करा लेंगे। उसके कथन से प्रमाणित होता है कि पिता के जीवन-काल में पुत्रों द्वारा सम्पत्ति-विभाजन एक अज्ञात-पूर्व एवं आश्चर्यजनक बात थी। मनु के पुत्रों ने भी उसके जीवन काल में सम्पत्ति का बटवारा करा लिया था (ऐत. ब्रा. 5, 14 तै. सं. 3. 1. 9. 4)। इस नवीन परिवर्तन से कई विषयों पर प्रकाश पड़ता था। प्रथम, इससे प्रतीत होता है कि

इस युग में पिता की असीम सत्ता का ह्रास होने लगा था। हम कह चुके हैं कि आर्यों की पितृ-प्रधान पारिवारिक व्यवस्था में पुत्रों पर पिता का प्रायः निरंकुश शासन रहता था। पारिवारिक सम्पत्ति का वह एकमात्र स्वामी था और पुत्रों का दाय- प्राप्ति का अधिकार मात्र नैतिक था (वैदिक इण्डेक्स, 1, 351)। किन्तु इसके विपरीत उत्तर-वैदिक युग तक पुत्र पिता की सम्पत्ति पर अपना स्वाभाविक अधिकार मानने लगे थे। स्पष्ट है कि इस युग में एक और पिता के निरंकुश अधिकारों का अन्त हो रहा था तो दूसरी ओर पारिवारिक सम्पत्ति पर सामूहिक स्वामित्व की चेतना विकसित हो रही थी। ब्राह्मण युग में पुत्रों के जन्मना स्वत्ववाद का सिद्धान्त अस्तित्व में आ चुका था। किन्तु परवर्ती युग में यह सिद्धान्त प्राचीन परम्परा के अनुकूल न होने के कारण धर्मसूत्रों द्वारा अनुमोदित नहीं हुआ। इन ग्रन्थों में पिता के अधिकारों का समर्थन करते हुए इस बात पर बल दिया गया है कि सम्पत्ति-विभाजन पिता के जीवन काल में नहीं होना चाहिए (गौतम 15,15, 19)।

उत्तरवैदिक युग में पारिवारिक विघटन एवं पुत्रों द्वारा सम्पत्ति-विभाज़न की यह नवोदित प्रथा बहुत कुछ परिस्थितिजन्य थी। पूर्ववैदिक आर्यो को युद्ध, विजय एवं प्रसार की संकटग्रस्त परिस्थितियों से होकर गुजरना पड़ा। ऐसी स्थिति में चाहते हुए भी एकाकी और विभाजित जीवन व्यतीत करना सर्वथा असुरक्षित था। दूसरे इस युग में पशु (और विशेषतः गायें) आर्थिक दृष्टि से विशेष महत्वपूर्ण होते हुए भी दुर्लभ नहीं होते थे। युद्ध में पराजित स्थानीय जनों के पशु-समूह सरलता से आर्यो के हाथ आ जाते थे। उन्हें प्राप्त करने के लिए पारस्परिक संघर्ष की आवश्यकता नहीं थी। इसके विपरीत उत्तरवैदिक युग तक आर्यो का प्रसार-क्रम काफी मन्द पड़ चुका था। वे स्थायी आवास बनाकर रहने लगे थे। राजसत्ता के विकास के साथ शान्ति एवं सुरक्षा में वृद्धि हुई। ऐसी स्थिति में भूसम्पत्ति एवं पशुधन की सहज प्राप्ति दुष्कर हो गई। परिणामतः धीरे-धीरे परिवार की पूर्वार्जित सम्पत्ति ही इसके सदस्यों के आकर्षण का प्रमुख केन्द्र हो गई। शक्तिमान पिता पारिवारिक सम्पत्ति के बटवारे में पूरी मनमानी करता था तथा अपने प्रियपुत्र को सम्पत्ति में से अधिक हिस्सा दे सकता था। ताण्ड्य ब्राह्मण (16.4. 4. 3-4) में कहा गया है कि पिता का प्रिय पुत्र अधिक सम्पत्ति प्राप्त करता है अतः अन्य पुत्रों को उससे स्वभावतः ईर्ष्या होती है। निश्चय ही सभी पुत्र सम्पत्ति विभाजन में समान भाग चाहते होंगे, अतः पिता के मनमाने विभाजन से बचने के लिए उनके अस्वस्थ अथवा अशक्त होने पर स्वयं विभाजन का प्रयास करने लगे। इसके अतिरिक्त पिता के शक्तिमान रहने पर तो पुत्रों और पुत्रवधुओं पर पर्याप्त शासन रहता था किंतु उसके प्रभाव के हटते ही भाईयों में कलह प्रारम्भ हो जाता था फिर उनका साथ-साथ रहना प्रायः कठिन हो जाता था। ऐसी स्थिति में यदा-कदा पिता के जीवनकाल में ही भाई अलग हो जाते थे। पिता की मृत्यु के पश्चात् भी यदि सभी भाई साथ-साथ रहते थे तो ज्येष्ठ भ्राता संयुक्त परिवार का प्रधान बनता था। जान मेन ने इसकी स्थिति पिता से भिन्न मानी है। उनके अनुसार जहाँ पिता प्रकृत्या परिवार का स्वामी था वहाँ ज्येष्ठ भ्राता केवल भाइयों के समझौते से परिवार का मुखिया बनता था (मेन, हिन्दु ला, पृ. 320)

उत्तरवैदिक-युगीन पारिवारिक जीवन में विघटन की प्रक्रिया का संकेत भ्रातृत्व शब्द के अर्थपरिवर्तन से भी होता है। भ्रातृत्व शब्द का अर्थ चचेरा भाई है (अथर्ववेद 2. 18.5)। अथर्ववेद में उसकी गणना बान्धवों में की गई है (अथर्ववेद 10.3. 8; 5. 22. 12)। किन्तु ब्राह्मण युग तक हम इसका प्रयोग प्रतिस्पर्धी शत्रु के अर्थ में पाते हैं (शत. ब्रा. 1, 1, 1, 21 ऐत. ब्रा. 3, 7 पंचविश ब्रा. 2, 7, 2, 12,

13, 2 अथर्ववेद 2, 18, 1; 7, 1, 18, वाज. सं. 1, 10 तै. सं., 1, 3, 2, 1; 3.5.9.2)। काठक संहिता में उसे ''अप्रिय'' ''पाप्मा'' और ''द्विषन'' विशेषण दिए गए है (काठक सं. (18, 8, 10, 7)। पाणिनि ने भ्रातृव्य शब्द के दोनों अर्थों को समान रूप से स्वीकार किया है। (अष्टाध्यायी 4, 1, 144-45)। भ्रातृव्य के शत्रु बनने का कारण सामूहिक पारिवार के साम्पत्तिक झगड़े प्रतीत होते हैं (ला आव प्राइमाजैनिचर, पृ. 228)। आप्टे महोदय का यह मत कि भातृव्य शब्द का शत्रुवाचक अर्थ सम्भवत इरानियों एवं भारतीय आर्यों के पारस्परिक कलह का स्मरण दिलाता है, (सोशल एण्ड रिलिजस लाइफ इन गृह्यसूत्राज, पृ. 67) नितान्त काल्पनिक प्रतीत होता है, क्योंकि वैदिक साहित्य के जिन अंशों में भ्रातृव्य शब्द का शत्रुवाचक अर्थ मिलता है वे अधिकांशतः हिन्द-इरानी युग से बहुत बाद के हैं। दूसरे भारतीय आर्यो एवं इरानियों के बीच किसी संघर्ष अथवा कलह के निश्चायक प्रमाण भी नहीं है। भ्रातृव्य शब्द के शत्रुवाची अर्थ से इतना तो स्पष्ट है कि चचेरे भाइयों का साथ-साथ रहना उत्तरवैदिक युग में एक असामान्य स्थिति थी। इनके इस सम्बन्ध से भाइयों के आपसी सम्बन्ध पर भी न्यूनाधिक रूप से प्रकाश पड़ता है। इससे इस बात की सम्भावना दृढ़ होती है कि भाइयों का सामूहिक और संयुक्त जीवन केवल पिता के प्रभाव के कारण ही था। उस प्रभाव से मुक्त होते ही वे अपने पृथक् परिवार की व्यवस्था का प्रयास करते होंगे। सूत्रकाल तक तो स्पष्ट रूप से विभाजन का सैद्धांतिक समर्थन हुआ। गौतम के अनुसार विभाजन से धर्म-वृद्धि होती है (28.4)।

विघटन के प्रमुख कारण

उत्तरवैदिक युग की संयुक्त-परिवार व्यवस्था के ह्रास में कई महत्वपूर्ण कारण थे। सबसे प्रबल कारण आर्थिक परिस्थितियों में परिवर्तन था। यद्यपि कृषि और पशुपालन आर्यो के प्रमुख व्यवसाय थे किन्तु अब धीरे-धीरे वाणिज्य और शिल्पों का भी विकास होने लगा था। पण, कार्षापण तथा ओढक, द्रोण, प्रस्थ आदि नामों के उल्लेख से उस समय की व्यापारिक प्रगति का संकेत मिलता है। व्यापारिक प्रगति एवं लघु उद्योग धन्धों के विकास के फलस्वरूप परिवार से अलग होकर जीविकोपार्जन करना सरल एवं स्वाभाविक हो गया। व्यापारिक तथा औद्योगिक विकास के अपेक्षया मन्द होने के कारण पारिवारिक विघटन की प्रवृत्ति भी धीमी रही।

व्यापारिक एवं औद्योगिक प्रगति का एक और भी परिणाम हुआ। कृषि एवं पशुपालन जैसे व्यवसायों में सामूहिक श्रम की आवश्यकता थी अतः इनसे उत्पन्न धन पर परिवार का प्रत्येक सदस्य व्यक्तिगत स्वत्व की कल्पना नहीं कर सकता था। इसके विपरीत पृथक् उद्योगों एवं व्यापार में अर्जित सम्पत्ति पर वैयक्तिक अधिकार एवं उसके उपभोग की स्वतंत्रता की भावना ने परिवार के सदस्यों को पृथक्-पृथक् रहने को प्रेरित किया होगा। वैदिक युग के पितृप्रधान संयुक्त परिवार के कठोर अनुशासन में पले व्यक्ति को यह पृथक् जीवन बड़ा ही भारहीन प्रतीत होगा साथ ही उसके अहंबुद्धि की तुष्टि भी हुई होगी।

पाल महोदय के अनुसार संयुक्त परिवार में विघटन का एक कारण पितृपूजा भी रही होगी। जब लोग यह विश्वास करने लगे कि पितर परलोक में अपने वंशजों द्वारा दिए गए अन्न के उपभोग से पलते हैं तो पुत्र में यह इच्छा होनी स्वाभाविक थी कि वह अन्य लोगों की अपेक्षा अधिक सावधानी

से अपने पिता को अन्न पहुँचाता रहे। यदि कोई विद्वान किसी दिन यह सिद्ध कर देगा कि वैदिक परिवार में इसी कारण ये झगड़े उत्पन्न हुए तो हमें इस बात पर कोई आश्चर्य नहीं होगा। इन झगड़ों से न केवल संयुक्त परिवार का विघटन हुआ बल्कि पितृपूजा में पितृपरम्परा में पूजी जाने वाली पीढ़ियों की संख्या भी मर्यादित हो गई (पृ. 248) किन्तु इस सम्भावना के पक्ष में न केवल प्रमाणों का अभाव है बल्कि यह असंगत भी प्रतीत होती है। एक ही परिवार में विभिन्न पितृपूजक सदस्यों में किसी प्रकार के पारस्परिक विरोध का कोई कारण नहीं होना चाहिए। परिवार के एक सदस्य की पितृभक्ति से दूसरे की पितृभक्ति का मार्ग अवरूद्ध नहीं होता। आज भी हिन्दु संयुक्त परिवारों में पितृपूजा होती है किन्तु उनके कारण पारिवारिक जीवन में कलह नहीं होता। अब भी प्राय: पारिवारिक विभाजन एवं विघटन के कारण आर्थिक ही हुआ करते हैं। सम्भव है कि इस युग की भाँति वैदिक युग में भी पारिवारिक कलह में स्त्रियों का हाथ रहा हो। रक्त सम्बन्ध के कारण जहाँ भाईयों में स्नेह और सहानुभूति की भावना होती है वहीं अन्य परिवारों से आने के कारण कुलवधुओं की निष्ठा पति के अतिरिक्त अन्य लोगों में कम होती है (रामायण 3, 45. 28)। पूरे परिवार के साथ आत्मीयता के अभाव में अपने को परिवार के सभी श्रेष्ठ जनों के प्रभुत्व से मुक्त करने के लिए पति को पृथक् परिवार की सृष्टि करने की प्रेरणा देना उनके लिए सर्वथा स्वाभाविक होता है।

कुछ विद्वानों ने कर्मवाद के सिद्धान्त के विकास को भी पारिवारिक विघटन का कारण माना है (प्रिंसिपुल्स आव हिन्दू ला आव इनहेरिटेन्स, पृ1. 55)। लेकिन स्पष्टत: कर्मवाद का सिद्धान्त व्यक्ति को संयुक्त परिवार में पृथक् करने का कारण नहीं वरन् विघटन के सैद्धान्तिक औचित्य को सिद्ध करने का एक साधन मात्र कहा जा सकता है।

संयुक्त परिवार की अक्षुण्ण परम्परा

संयुक्त परिवार के विघटन का यह तात्पर्य नहीं है कि ब्राह्मण युग में यह संस्था समाप्त हो चली थी। अभिप्रतारण और मनु के पुत्रों के उदाहरण पारिवारिक जीवन में एक क्रान्तिकारी परिवर्तन की सूचना देते हुए भी अपवाद मात्र थे। अथर्ववेद के स्वप्न सूक्त (4.5) और सांमनस्य सूक्त (3. 30) संयुक्त परिवार के अस्तित्व की ओर संकेत करते हैं। स्वप्न सूक्त में रात में परिवार के सभी सदस्यों को मन्त्रों से सुलाने की कामना करते हुए कहा गया है जो नारियाँ प्रोष्ठ (बेंच) पर लेटी हुई हैं, पलंग पर लेटी हुई हैं, पालकी में लेटा करती हैं, जो स्त्रियाँ उत्तम गंधवाली हैं, उन सबको हम सुलाते हैं। मध्यरात्रि में गति कराने वाली प्रत्येक वस्तु को हमने पकड़ रखा है। चक्षु, और श्वास को भी थाम लिया है तथा गति करने वाले अंगों को भी निरुद्ध कर लिया है। जो कोई बैठा हुआ है इधर-उधर जाता है, खड़ा होकर देखता है, हम उन सबकी आँखें नींद से बन्द करते हैं। माता सो जाये पिता सो जाये, कुत्ता सो जाये (अथर्ववेद 4. 5. 3-6)। सायणाचार्य के अनुसार इस सूक्त का पाठ स्त्र्यभिगमन् में उसके आसपास के लोगों एवं सम्बन्धियों को सुलाने के लिए होता था (ऋ. 7. 55. 5; 2. 5. 4)। इस सूक्त से यह स्पष्ट है कि एक ही परिवार में अनेक लोग रहते थे। अनेक सदस्यों से युक्त परिवार के अस्तित्व को सूचित करता है जिसमें पति-पत्नी के अतिरिक्त उनके माता-पिता अनेक सम्बन्धी और बहुत सी स्त्रियाँ साथ-साथ एक ही घर में रहती थीं। सांमनस्य सूक्त (3, 30) का कवि कहता है मैं तुम्हें समान हृदय वाला, समान मन वाला तथा द्वेषरहित बनाता हूँ। जैसे गाय अपने बछड़े को प्यार करती है उसी प्रकार

तुम आपस में प्रेम रखो। तुम समान चित्त वाले बनो, साथ-साथ चलो, साथ-साथ कार्यों की सिद्धि करो तथा आपस मे विभक्त न हो एक-दूसरे के प्रति मधुर वचन का प्रयोग करो। मैं तुम्हें मिलकर गति करने वाला तथा समान मन वाला बनाता हूँ। तुम एक स्थान में ज़ल पियो, साथ-साथ भोजन करो। मैं तुम सबको एक बन्धन में बाँधता हूँ। जिस प्रकार अरे रथचक्र के चारों ओर जुड़े रहते हैं, उसी प्रकार तुम एक साथ मिलकर गति करते हुए अग्नि की उपासना करो (अथर्ववेद 3, 30, 1, 5-6)। स्पष्टतः इस सूक्त में परिवार को अविभक्त और संयुक्त बनाए रखने का आदेश दिया गया है।

संयुक्त परिवार की यह अविछिन्न परम्परा गृह्यसूत्रों में भी पूर्णतः जीवन्त है। गोभिल गृह्यसूत्र से ज्ञात होता है कि उस समय विशाल संयुक्त परिवार होते थे (गो. गृ. सू. 1.4. 23-26)। परिवार के सदस्यों की संख्या इतनी अधिक होती थी कि भोजन एक चूल्हे पर नहीं बन पाता था, अतः अलग-अलग भोजन की व्यवस्था की जाती थी। पारस्कर गृह्यसूत्र में भी एक विशाल परिवार का उल्लेख हुआ है (पा. गृ. सू. 2.9) इस ग्रन्थ के अनुसार गहपति को वैश्वदेव यज्ञ के पश्चात् पहले भिक्षुओं, ब्रह्मचारियों, और अतिथियों को भोजन कराना चाहिए, फिर बालकों और बूढ़ों को, तदन्तर परिवार के अन्य सदस्यों को, उसे स्वयं सबके अन्त में भोजन करना चाहिए।

वैदिक परिवार में सामान्यतः तीन पीढ़ी के लोग साथ-साथ रहते थे (हिन्दू परिवार मीमांसा पृ. 38) जैसा कि श्रद्धा एवं अन्य यज्ञों के पितरों के आह्वान से संकेत मिलता है। उत्तर— वैदिक युग तक पितरों की पूजा का रूप पर्याप्त परिवर्तित हो चुका था। ऋग्वेद , शुक्ल यजुर्वेद तथा अथर्ववेद में वर्णित पितरों की पूजा में स्पष्ट अन्तर है। ऋग्वेद में पितरों का सामान्य रूप से आह्वान किया गया है (ऋ. 10.15)। ऐसा प्रतीत होता है कि उनका सम्बन्ध किसी कुल विशेष से नहीं वरन् सम्पूर्ण जन से माना जाता था। यज्ञादि पवित्र अवसरों पर इनका आह्वान होता था। उस समय सहस्रों की संख्या में देवताओं सहित इनकी उपस्थिति की आशा की जाती थी (हिन्दू किनशिप्, पृ. 12, फैमिली एण्ड किन इन इण्डोआर्यन कल्चर, पृ.44)। किन्तु ऋग्वेद में ही विशिष्ट परिवारों द्वारा अपने पारिवारिक पितरों की पूजा करने के संकेत भी मिलते हैं। ऋग्वेद के प्रथम मंडल में अगस्त्य और लोपामुद्रा का वार्तालाप इस दृष्टि से महत्वपूर्ण है (ऋ. 1. 179)। इस सूक्त में महर्षि अगस्त्य अपनी पत्नी लोपामुद्रा से यौन-सम्बन्ध की याचना करते हैं। दीर्घ काल तक अविवाहित रहने के पश्चात् अगस्त्य को ज्ञात होता है कि उनके पितर उनसे नियमित रूप से बलि न मिलने के कारण अत्यन्त कष्ट में है। पितरों ने अपने उद्धार का मार्ग अगस्त्य द्वारा गृहस्थ जीवन का स्वीकार बताया। इस पर अगस्त्य ने इनके उद्धार के लिए विदर्भराज से सृष्टि के समग्र प्राणियों के सर्वोत्तम अंगों से विनिर्मित लोपामुद्रा को माँगा (महाभारत, 3. 66)। यदि अगस्त्य और लोपामुद्रा का आधार महाभारतकार द्वारा प्रदत्त इस पुराकथा को माना जाय तो यह स्वीकृत करना पड़ेगा कि ऋग्वेदिक युग में ही पृथक्-पृथक् परिवारों में अपने पितरों की पूजा होने लगी थी तथा यह विश्वास भी प्रबल हो चुका था कि पितर पुत्रों द्वारा प्राप्त अन्न से पलते हैं। उत्तरवैदिक साहित्य में पितृपूजा के जो उदाहरण हमें मिलते हैं उनसे स्पष्ट है कि पुत्र अपने ही पिता, पितामह आदि पूर्वजों को यज्ञ द्वारा सन्तुष्ट करते थे। यजुर्वेद तथा अथर्ववेद में पितरों की पीढ़ियों की संख्या भी मर्यादित कर दी गई है। शुक्ल यजर्वेद (19, 36-37) में पिता, पितामह और प्रपितामह को नमस्कार करते हुए उनसे वंशजों को पवितत्र करने की प्रार्थना की गई है। अथर्ववेद के पितृमेध या श्राद्ध सबन्धी सूक्तों में

तत, ततामह और प्रततामह को स्वधादान का उल्लेख है (अथर्ववेद 18, 4, 75)। प्रपितामह का उल्लेख परवर्ती संहिताओं और ब्राह्मणों में अनेकशः हुआ है (तै. सं. 1. 8. 5. 1 शत. ब्रा. 2. 4. 2, 16; 12. 8. 1. 7)। पितृपूजा में केवल तीन पीढ़ी के पूर्वजों का आह्वान संयुक्त कुटुम्ब-व्यवस्था पर महत्वपूर्ण प्रकाश डालता है। घुरिये महोदय इस आधार पर यह निष्कर्ष निकालते हैं कि साधरणतया चार पीढ़ी के लोग एक परिवार में साथ-साथ रहते थे जिनमें चौथा अपने तीन पूर्वजों (पिता, पितामह, प्रपितामह) से सुपरिचित होने के कारण मृत्यु के पश्चात् उन्हें बलि देता था। यदि परिवार में तीन ही पीढ़ी के लोग रहते तो पितृपूजा में दो पीढ़ी के पूर्वजों को स्थान मिलता (फैमिली एण्ड किन इन इण्डो-आर्यन कल्चर, पृ. 45)। उपर्युक्त विद्वान का मत तर्कपूर्ण होते हुए भी प्रमाणिक नहीं कहा जा सकता क्योंकि चार पीढ़ियों का व्यवहारिक रूप में एक साथ रहना असामान्य घटना ही कही जाएगी। दूसरे, अथर्ववेद में (14. 1. 43-44) नववधू को पोतों पर संयुक्त परिवार शासन करने का आशीर्वाद दिया गया है। उसे प्रपौत्रों से युक्त परिवार पर शासन करने को नहीं कहा गया है। ऋग्वेद में एक स्थान पर प्रपौत्र का उल्लेख अवश्य हुआ है (ऋग्वेद 8. 17. 13)। किन्तु मात्र इसके आधार पर चार पीढ़ियों का साथ-साथ रहना सिद्ध नहीं होता। अपवादस्वरूप आज भी कुछ ऐसा परिवार मिल जाते हैं जिनमें प्रपितामह और प्रपौत्र को अल्पकाल तक साथ-साथ रहने का सौभाग्य प्राप्त हो जाता है किन्तु ऐसे स्थानों पर भी बहुधा बालक की चेतना के सजग होने के पूर्व ही प्रपितामह का देहावासन हो जाता है। हम देख चुके है कि ऋग्वेद 10. 85 में नववधू को सास श्वसुर की रानी बनने को कहा गया है किन्तु वहाँ भी प्रपितामह अथवा प्रपितामही का संयुक्त परिवार के जीवित सदस्य के रूप में उल्लेख नहीं पाते। ऐतरेय ब्राह्मण मे नप्तृ का प्रयोग प्रपौत्र के अर्थ में अवश्य हुआ है (ऐत. ब्रा., 32. 10) किन्तु इस प्रसंग से भी उसके पारिवारिक सदस्य होने की बात स्पष्ट नहीं होती है। इसमें एक व्यक्ति अपने वंशजों को पारिवारिक अग्निहोत्र की परम्परा को अक्षुणा रखने का संदेश देते हुए पुत्र, पौत्र और नप्तृ को सम्बोधित करता है। वस्तुतः यहाँ उसका सन्देश परिवार के सदस्यों के लिए नहीं बल्कि आने वाली पीढ़ियों के लिए है। अतः इसके आधार पर चार पीढ़ियों का साथ-साथ रहना पुष्ट नहीं होता। अभिप्रतारण की कथा से भी स्पष्ट है कि पुत्रों के युवावस्था तक पहुँचते-पहुँचते पिता स्वयं वृद्ध और अशक्त होता था। वैदिक परिवार का जो चित्र सामान्यतः मिलता है उससे ज्ञात होता है कि परिवार का केद्र गृहपति एवं उसके भाई होते थे और उनके साथ संयुक्त परिवार की ग्रन्थि को दृढ़ करने वाले बूढ़े माता-पिता तथा गृहपति एवं उसके भाई की अपनी सन्तानें होती थीं। इस प्रकार सामान्य रूप से वैदिक परिवार की सीमा पितामह से पोते तक ही समझनी चाहिए। पितृपूजा में तीन पीढ़ियों की संख्या मर्यादित करने के कारण दूसरा ही प्रतीत होता है। परिवार में पला प्रत्येक व्यक्ति अपने से ऊपर की दो पीढ़ियों से सुपरिचित होता था। अतः श्राद्ध के समय न केवल अपने पिता का आह्वान करता था बल्कि अपने पिता एवं पितामह के पिता के प्रति भी अपना आदर व्यक्त करता था।

दामपत्य जीवन की महता

उत्तरवैदिक युग में दाम्पत्य जीवन पर्याप्त सुखी था तथा पत्नी का स्थान पूर्ववत महत्वपूर्ण और आदरणीय माना जाता था। तैत्तिरीय संहिता से ज्ञात होता है कि समाज में तीन ऋणों की कल्पना जन्म ले चुकी थी (तै. सं. 6. 3. 10. 5)। पितृ ऋणसे मुक्त होने के लिए विधिवत विवाह एवं पुत्रोत्पत्ति

आवश्यक माने जाते थे। महर्षि अगस्त्य ने पितरों के उद्धार हेतु ही वैवाहिक जीवन स्वीकार किया था। अविवाहित पुरुष को यज्ञाधिकार से वंचित माना था (शत. ब्रा. 5. 1. 6. 10; तै. ब्रा. 22. 2. 6) विवाह करके पुत्र उत्पन्न करने के पश्चात् ही व्यक्ति पूर्ण समझा जाता था (शत. ब्रा. 56. 2. 1. 10)। यज्ञादि कार्यो की सिद्धि के लिए पुत्र प्राप्ति आवश्यक थी। ऐतरेय ब्राह्मण में एक स्थान पर सन्यास की निन्दा करते हुए पुत्रोत्पादन को ही परम-धर्म बताया गया है (ऐत. ब्रा. 33. 11)। विवाह एवं पुत्रार्जन की इस अनिवार्यता के पीछे सामाजिक हित एवं प्रगति की प्रबल भावना थी। पुत्र वृद्धावस्था का सहारा था, राष्ट्र की शक्ति था उसी के माध्यम से वंश की परम्परा अक्षुण्ण रहती थी। तैत्तिरीय संहिता में प्रजा के माध्यम से अमृतत्व प्राप्ति की कामना की चर्चा पीछे की जा चुकी है। एकाकी जीवन धार्मिक और आर्थिक दृष्टि से भी अपेक्षणीय था। अविवाहित व्यक्ति अपने पितरों को श्राद्ध नहीं दे पाता था। साथ ही मृत्यु के पश्चात् होने वाली दुर्गति की कल्पना से वह स्वभावत: खिन्न रहता था। विवाह की इस अनिवार्यता के पीछे नवीन वैराग्यमूलक प्रवृतियों से उत्पन्न प्रतिक्रिया का भी योग था। उत्तरवैदिक युग के अन्त तक नैष्ठिक ब्रह्मचारी तथा ब्रह्मवादिनीस्त्रियों के समूह समाज में बढ़ने लगे थे। इस नये विकास को रोकने के लिए भी विवाह की अनिवार्यता पर बल दिया गया। महाभारत में जरत्कारु और कुणिगर्ग की कथा द्वारा स्त्री-पुरुष दोनों के लिए विवाह एवं पारिवारिक जीवन की अनिवार्यता व्यक्त की गई है। जरत्कारु (1. 13 व 1.45) एक उग्र तपस्वी थे। उन्होंने विवाह नहीं किया था किन्तु पितरों की दुर्दशा देखकर अन्ततोगत्वा उन्हें विवाह करना पड़ा। कुणिगर्ग की कन्या ने आजीवन घोर तप किया (952) तथा बूढ़ी होने पर स्वगरािहण की इच्छा की किन्तु जब नारद द्वारा उसे यह ज्ञात हुआ कि अविवाहिता कन्या स्वर्ग की अधिकारिणी नहीं होती तब उसने अपनी तपस्या का अर्द्धांश देकर शृंगवान से शादी की और उसके पश्चात् ही वह स्वर्ग जा सकी। हिन्दू समाज में विवाह कीअनिवार्यता का विचार आज भी जीवित है। कई प्रदेशों में जब कोई व्यक्ति अविवाहित ही मर जाता है तो दाह-संस्कार के पूर्व उसका विवाह अवश्य कराया जाता है (सेन्सस रिर्पोट, 1931, खण्ड 1, भाग-1, पं. 227)

विवाह

उत्तर-वैदिक युग में विवाह-पद्धति से सम्बन्धित विभिन्न नियम तथा प्रणालियाँ दिखाई देती हैं। समाज के सम्भ्रान्त व्यक्तियों का झुकाव बहुपत्नीत्व की ओर था। उत्तर-वैदिक-साहित्य में बहुपत्नीकता की अस्वस्थ परम्परा को प्रोत्साहित किया गया है। उदाहरणार्थ तैत्तिरीय ब्राह्मण में बहुपत्नीत्व को सौभाग्यदायक बताया गया है (तै. ब्रा. 3. 84)। ऐतरेय ब्राह्मण में स्पष्ट कहा गया है कि एक पुरुष की अनेक पत्नियाँ हो सकती है किन्तु एक स्त्री के अनेक पति नहीं (ऐत. ब्रा. 12. 11 तै. सं. 6. 5. 10. 4)। याज्ञवल्क्य जैसे विद्वान तथा दार्शनिक ने भी मैत्रेयी और कात्यायनी नामक दो स्त्रियों से विवाह किया था (बृ. उप. 4. 5. 12)। ऐतरेय ब्राह्मण बृ राजा हरिश्चन्द्र की सौ पत्नियों का उल्लेख करता है (ऐत. ब्रा. 33.1)। इसके अतिरिक्त राजसूय की विधि के विवरण से ज्ञात होता है कि राजाओं की बहुधा विभिन्न वर्णोत्पन्न चार पत्नियाँ होती थीं। (शत. ब्रा. 13. 2. 6. 4.-6)। मैत्रायणी संहिता में मनु की दस पत्नियाँ बताई गई हैं (मैत्रा. सं. 1. 5. 8)। शतपथ ब्राह्मण में भी बहुपत्नीत्व का समर्थन किया गया है तथा इसका एक धार्मिक आधार प्रस्तुत किया गया है (शत. ब्रा. 8.1. 4. 6)। किन्तु वैदिक साहित्य में ही उपलब्ध प्रमाणों से यह स्पष्ट हो जाता है कि बहुपत्नीकता की यह परम्परा सामाजिक दृष्टि से

बहुत ही घातक थी। निश्चय ही इस सपत्नियों के कलह से पारिवारिक जीवन अशान्त और क्षुब्ध रहता होगा। अथर्ववेद में सपत्नी विनाश के लिए मन्त्रों का विधान है (अथर्ववेद 1. 14. 3. 18)। उत्तर-वैदिक साहित्य में स्थान-स्थान पर 'सपत्न' शब्द का प्रयोग प्रतिद्वन्दी के अर्थ में हुआ है (वैदिक इण्डेक्स 2. 424)। इससे यह सिद्ध होता है कि सपत्नियों में 'प्रिय सखीवृत्ति'' अकल्पनीय थी। उनकी प्रतिद्वन्दिता और संघर्ष ने जहाँ दामपत्य जीवन के सुखों को दूषित और विषाक्त किया वहीं वह स्त्रियों के पतन का भी एक प्रबल कारण बना। पति का, सपत्नियों की तुलना में अधिक प्रेम और साहचर्य प्राप्त करने के लिए उत्कण्ठिता नारी अपने गौरव-पूर्ण आसन को छोड़कर सेवा कार्य में संलग्न हुई और क्रमशः पति के चरणों में जा बैठी। संहिता युग की पत्नी उपनिषद काल तक भार्या (भरण के योग्य) कहलाने लगी (बृ. उप. 3. 4. 1; 4. 5. 1)। बहुसंख्यक अनार्या स्त्रियों का आर्यों के अन्तः पुर में प्रवेश इस प्रवृत्ति के परिणामस्वरूप द्रुततर हुआ होगा। ये स्त्रियाँ विजित और अनधिकृत थीं अतः उन्हें धार्मिक और सामाजिक अनुष्ठानों से पृथक् रखा जाता था तथा मात्र उपभोग की वस्तु माना जाता था। धीरे-धीरे यह दृष्टिकोण आर्या स्त्रियों पर भी लागू होने लगा और उन्हें भी उपभोग की वस्तु एवं प्रजनन-यन्त्र समझा जाने लगा। उत्तर-वैदिक नारी के लिए 'जाया' शब्द का, अपेक्षया अधिक प्रयोग इस बात का संकेतक है कि अब नारी की महत्ता का सबसे बड़ा कारण उसका प्रजनन कार्य माना जाता था। स्त्रियाँ धीरे-धीरे अयज्वन शूद्र की कोटि में रखी जाने लगीं (शत. ब्रा. 14. 1. 1. 13)।

वैदिक समाज के सम्भ्रान्त वर्गो में बहुविवाह के प्रचलन के मुख्य कारण सम्भवतः अनेक पुत्रों की लालसा एवं वर्द्धमान समृद्धिजन्य विलासप्रियता थी। आर्यो की पितृप्रधान व्यवस्था भी बहुपत्नीकता के प्रचलन के लिए कम उत्तरदायी नहीं थी। पुरुष शासित समाज ने अनेक-स्त्र्यभिगमन की स्वतंत्रता प्रदान की। श्रोदर महोदय ने ऐनक उद्धरणों के साथ यह बताया है कि प्रारम्भिक आर्य जातियों में विवाहित पुरुष के व्यभिचार को विशेष आपत्तिजनक नहीं माना जाता था किन्तु पत्नी का व्यभिचार एक भीषण अपराध समझा जाता था। (प्रिहिस्टरिक एण्टिक्विटीज, पृ. 388)।

बहुपत्नीकता के प्रचलन को सूचित करने वाले विभिन्न उदाहरणों के आधार पर हमें इसे तत्कालीन युग में प्रचलित सामान्य प्रथा नहीं लेनी चाहिए। साधारण जनों में एकपत्नीकता ही प्रतिष्ठित थी। सूत्र युग तक हम विधायकों के दृष्टिकोण में परिवर्तन पाते हैं। सूत्रकारों ने पारिवारिक जीवन को दुखद बनानेवाली बहुपत्नीक प्रथा का विरोध किया तथा एकपत्नीव्रत की व्यवस्था की। आपस्तम्ब ने धर्म और प्रजा से युक्त पत्नी की उपस्थिति में द्वितीय विवाह का निषेध किया है (आप. धर्म. सूत्र. 2. 1. 11. 12)। केवल स्त्री के अप्रजा, स्त्रीप्रजा अथवा मृतप्रजा होने पर ही द्वितीय विवाह की अनुमति दी गई है। किन्तु ऐसी स्थिति में भी एक निश्चित अवधि तक प्रतीक्षा करने का विधान किया गया।

ब्राह्मण साहित्य में बहुपति प्रथा का विरोध मिलता है। ऐतरेय ब्राह्मण (23, 12) स्पष्ट शब्दों में इस प्रथा का निषेध करता है। साथ ही तैत्तिरीय संहिता में भी ऐतरेय ब्राह्मण के इस मत का समर्थन हुआ है (तै. सं. 6. 6.4. 3 द्रष्टव्य केम्ब्रिज हिस्टरी आफ इण्डिया, ग्रंथ-1 पृ. 88 वैदिक इण्डेक्स 1. 479)। द्रौपदी के विवाह के प्रसंग में भी महाभारत में बहुपतिकता की इस प्रथा को अश्रुत और लोकवेदविरुद्ध बताया गया है (महाभारत 1. 189, 27-28)। कुन्ती को स्वतः अपनी आकस्मिक आज्ञा के दुष्परिणाम पर घोर कष्ट हुआ था (महाभारत 1. 123.2)। इस विरोध के होते हुए भी बहुपतिकता

के प्रचलन की प्रतिध्वनि हमें उत्तर वैदिक साहित्य में यत्र-तत्र मिलती है। अथर्ववेद (14.1. 61) में सूर्या के अनेक पतियों का उल्लेख मिलता है। यास्क ने यह स्वीकार किया है कि बहुधा पति के जीवन काल में भी स्त्री देवर के लिए गम्य हुआ करती थी (निरुक्त 3, 15)। महाभारत में हमें जटिला, गोतमी, वाक्षी, ममता और माधवी जैसी बहुपतिका स्त्रियों के जो उदाहरण मिलते हैं उन्हें केवल कल्पनाप्रसूत नहीं कहा जा सकता। उपनिषदों में प्राप्त अनेक ऋषियों एवं व्यक्तियों के नाम, जो उनकी माता के नाम पर आधारित हैं, बहुपतिकता के सूचक माने जा सकते हैं। सत्यकाम जाबाल, गौतमी-पुत्र, गार्गीपुत्र प्रभृति नाम सम्भवत: इस बात का संकेत करते हैं कि स्त्री के अनेक पति होने के कारण अथवा पितृत्व अज्ञात होनेके कारण माताओं के नाम का पुत्रों का नाम रखने की आवश्यकता पड़ी। इन अल्पंसख्यक उदाहरणों के आधार पर हम इतना ही कह सकते हैं कि वैदिक समाज में बहुपतिकता की परम्परा सर्वथा अज्ञात नहीं थी। साधारणत: पितृप्रधान समाज में बहुपतिकता के विकास की सम्भावना नहीं होती है। भारतवर्ष में आज भी यह व्यवस्था उन्हीं जातियों में दिखाई देती है जिनका समाज मातृसत्तात्मक है। कुमायूँ प्रदेश में प्राय: सभी भाई एक ही स्त्री से विवाह करते हैं तथा उससे उत्पन्न सन्तान सबसे बड़े भाई की मानी जाती है। (हिन्दू ला एण्ड कस्टम्स पृ. 103)। इस प्रकार की वैवाहिक रीति पंजाब, कोसेद्राज, लहौल आदि पहाड़ी जातियों में भी पाई जाती है। हिमालय की तराई में फैले किरात लोगों (मंगोलिद्स) में भी बहुपतिकता की प्रथा बहुत प्रचलित है। भारत में सुदूर दक्षिण में भी बहुपतिकता की परम्परा दृष्टिगोचर होती है। उत्तरी कन्नड़ से नायरों ने बहुपतिकता की परम्परा त्याग, ब्रिटिश शासन काल में किया। थियेन, तोनियार तथा वैल्लर जाति की स्त्री सभी भाईयों की सामूहिक पत्नी समझी जाती है। नीलिगिरि के टोडा लोगों में भी इस प्रथा का प्रचलन है। ट्रावनकोर-कोचीन तथा मलावार में कुछ अन्य ऐसी जातियाँ हैं जिनमें बहुपतिकता का प्रचलन है। इन उदाहरणों से ज्ञात होता है कि बहुपतिकता का प्रचलन भारतवर्ष में प्रमुखतया प्रजातिगत दृष्टि से हिमालय की तलहटी में बसने वाली मंगोल जातियों में तथा दक्षिण भारत के द्रविड़ भाषा-भाषी भूमध्यसागरीय लोगों में रहा है। विवाह की यह प्रणाली आर्यो की सामाजिक व्यवस्था के सर्वथा प्रतिकूल थी। इसीलिए भारतीय साहित्य में प्राय: सर्वत्र इस व्यवस्था का तिरस्कार किया गया। वैदिक साहित्य में बहुपतिकता के प्रचलन के जो संकेत मिलते हैं उन्हें अपवादस्वरूप ही ग्रहण करना चाहिए। बहुत सम्भव है कि इन एकाकी प्रसंगों में आर्येतर सामाजिक परम्पराओं का ही उल्लेख हो क्योंकि उत्तर-वैदिक युग आर्य एवं आर्येतर सांस्कृतिक परम्पराओं के सामंजस्य का युग था। ऐसी स्थिति में तत्कालीन समाज में ऐसे ब्राह्य तत्वों का प्रवेश सर्वथा स्वाभाविक था जिनकी उपस्थिति सामाजिक पृष्ठभूमि एवं सांस्कृतिक परिवेश को देखते हुए विचित्र लगे।

धर्मसूत्रों में बहुधा सपिण्ड एवं सगोत्र विवाह का निषेध मिलता है। गोभिल गृह्यसूत्र (3.4.5) और आपस्तम्बधर्मसूत्र (2. 5. 11-16) के अनुसार सपिण्ड कन्या से विवाह नहीं हो सकता। गौतम जैसे विधायकों ने सपिण्ड विवाह की सीमा निर्धारित करते हुए कहा गया है कि सपिण्ड विवाह पिता के पक्ष में सात पीढ़ी तक तथा माता के पक्ष में पाँच पीढ़ी तक निषिद्ध है। इसी आधार पर व्यवस्थाकारों ने मातुल दुहिता, पितृस्वसासुता से विवाह की परम्परा को दक्षिण भारत में प्रचलित माना है (बौधायन-1. 1. 19-26)। उत्तरी भारत की आर्य संस्कृति के लिए यह प्रथा कुछ विचित्र सी थी। महाभारत में भी सपिण्ड और सगोत्र विवाह का निषेध है (13. 44. 18)। वैसे महाभारत में वर्णित कृष्ण और रूक्मिणी

का विवाह तथा अर्जुन और सुभद्रा का विवाह प्रतिभ्रातृव्य (cross-cousin) विवाहों के न्यूनाधिक प्रचलन की सूचना देते है। सगोत्र विवाह को प्रायः सभी सूत्रकारों ने निषिद्ध बताया है। इसका क्षेत्र सपिण्ड विवाह की अपेक्षा अधिक विस्तृत है। चाहे युवक-युवती के बीच सैकड़ों पीढ़ियों का अन्तर क्यों न हो, फिर भी उनके सगोत्र होने पर विवाह नहीं हो सकता। बौधायन ने सगोत्र कन्या के साथ विवाह करने वाले के लिए चांद्रायण व्रत द्वारा प्रायश्चित्त करने की व्यवस्था की है (बौधायन, प्रवराध्याय 55)। गोभिल गृह्य सूत्र (3. 4. 4) हिरण्यकेशि गृह्यसूत्र (1. 11. 2) तथा आपस्तम्ब धर्मसूत्र (2. 11. 15) में भी सगोत्र विवाह निषिद्ध है। वैदिक साहित्य में पिण्ड शब्द का उल्लेख तो अनेकशः हुआ है (ऋ. 1. 162.19 तै. सं. 4. 6. 9. 3 शत. ब्रा. 2. 4. 3. 24)। किन्तु सपिण्ड शब्द कहीं भी नहीं मिलता। वैदिक युग में सपिण्ड विवाह निषिद्ध थे अथवा नहीं, कहना दुष्कर है। गोत्र की व्यवस्था सम्भवतः वैदिक युग में ही हो चुकी थी। अथर्ववेद (5. 11. 3) में निश्चित रूप से इस शब्द का प्रयोग परस्पर सम्बन्धित व्यक्तियों के समुदाय के अर्थ में हुआ है। गोत्र का नाम प्राय किसी पूर्वज के नाम पर होता था। प्रमुख ऋषियों के नाम पर समुदायों के नामकरण की परम्परा ऋग्वैदिक युग में भी अज्ञात नहीं थी (ऋग्वेद 6. 35. 5; 10. 66. 14) तैत्तिरीय ब्राह्मण में अंगिरस ऋषि के नाम पर एक समुदाय को अंगिरसी प्रजा कहा गया है (2 . 2. 3)। ऐतरेय ब्राह्मण शुनः शेप को जन्मना आंगिरस कहता है (33 .5) ताण्ड्य ब्राह्मण (18. 2. 11) तथा कौषीतकि ब्राह्मण (25. 15) में भी सगोत्र ब्राह्मणों का उल्लेख है। उपनिषद् युग तक भारद्वाज, आश्वलायन, गार्ग्य, कात्यायन, गौतम, भार्गव, जमदग्नि, वशिष्ठ, कश्यप आदि अनेक गोत्र अस्तित्व में आ चुके थे। किन्तु इस युग में गोत्र का विशेष महत्व यज्ञ और शिक्षा कार्य में ही था, यद्यपि उपनिषद युग तक सम्भवतः सगोत्र विवाहों का निषेध भी किया जाने लगा था (दत्त, एन. के. ओरिजिन एण्ड ग्रोथआव कास्ट इन इण्डिया, पृ. 108)। उत्तर वैदिक साहित्य में इस बात के प्रमाण अवश्य मिलते हैं कि रक्त सम्बन्धियों में विवाह सम्बन्ध घृणित समझा जाने लगा था। माता-पिता की तीन या चार अनुगामी पीढ़ियों के अन्तर्गत विवाह निषिद्ध माना जाता था (कौषीतकि ब्रा. 3.8 शत. ब्रा. 1. 8. 3. 6)। किन्तु यदा-कदा तीसरी या चौथी पीढ़ी से वैवाहिक सम्बन्ध हो सकता था यथा सौराष्ट्रों में चौथी पीढ़ी में होता था। धीरे-धीरे लोग उन धार्मिक अनुष्ठानों से भी उदासीन होने लगे थे जिनमें निकटाभिगमन की आंशका थी। जैमिनीय ब्राह्मण के अनुसार राजा जनक ने गोसव नाम अनुष्ठान का सम्पादन इसलिए नहीं किया क्योंकि उसमें निकटाभिगमन की व्यवस्था थी (जै. ब्रा. 2. 113) । वैदिक साहित्य में नवविवाहिता के लिए "वधू" शब्द का प्रयोग भी इस बात को सूचित करता है कि साधारणतया स्थानीय विवाह का प्रचलन नहीं था।

अन्तर्जातीय विवाह के प्रति किसी प्रकार की सामाजिक घृणा नहीं थी। अथर्ववेद (5. 18.9) के अनुसार यदि एक कन्या से विवाह के लिए ब्राह्मण और वैश्य दोनों इच्छुक हो तो ब्राह्मण युवक को प्राथमिकता मिलनी चाहिए। शतपथ ब्राह्मण में राजा शर्यात की पुत्री सुकन्या और च्यवन ऋषि के विवाह का उल्लेख मिलता है (शत. ब्रा. 4. 1. 5)। शतपथ ब्राह्मण (द्रष्टव्य काणे, हिस्टरी आव धर्मशास्त्राज, ग्रन्थ 2, भाग-1 पृ. 447) से इस बात का संकेत मिलता है कि एक क्षत्रिय के वणिक्-कन्या के साथ वैवाहिक सम्बन्ध का स्पष्ट निषेध नहीं था किन्तु शूद्र कन्या से विवाह तथा उनसे उत्पन्न सन्तान, दोनों को घृणा की दृष्टि से देखा जाने लगा था। यही कारण है कि कवष ऐलूष को यज्ञ से वहिष्कृत करने

का प्रयास किया गया (ऐत. ब्रा. 2. 19, कौषीतकि ब्रा. 12. 1. 3) तथा वत्स को अग्नि-परीक्षा के लिए विवश किया गया (पंच ब्रा. 14. 6. 6)। शूद्रों से वैवाहिक सम्बन्ध के विरोध के अनेक कारण प्रतीत होते हैं। गंगा के मैदान में आर्येतर जातियों के बाहुल्य तथा उनके साथ बढ़ते हुए सम्पर्क ने सम्भवतः आर्यों को रक्त-शुद्धता की ओर सचेत किया। दूसरे, पंजाब में जिन दासों (अनार्यो) के साथ आर्यो का संघर्ष और सम्पर्क हुआ वे पर्याप्त सुसंस्कृत एवं श्रीसम्पन्न थे। इसके विपरीत वे ज्यो-ज्यों दक्षिण पूर्व की ओर बढ़ते गये उनके मार्ग में अनेक अर्द्धसभ्य और भौतिक दृष्टि से नितांत हीन जातियाँ आई जिनके आचरण भी प्रायः घृणास्पद थे आर्यों ने उन्हें अपनी सामाजिक व्यवस्था में समाविष्ट तो किया किन्तु उनके साथ स्वतन्त्र वैवाहिक सम्बन्ध को प्रोत्साहन नहीं दिया। फिर भी शूद्रा से आर्य पुरुषों का वैवाहिक सम्बन्ध अज्ञात नहीं था। जैसा कि पहले बताया जा चुका है राजा की चतुर्थ पत्नी पालागली सम्भवतः शूद्रा हुआ करती थी। वैदिक ऋषियों का दासियों अथवा शूद्रा स्त्रियों से अवैध सबन्ध एवं समागम प्रमाणित करने वाले प्रसंग भी मिलते हैं (वाज. सं. 23. 31. तै. सं. 7. 4. 19)। किन्तु वे विरल ही हैं।

विवाह अब भी प्रायः पूर्ण प्रौढ़ावस्था में ही होता था। अथर्ववेद, ब्रह्मचर्य के पश्चात् ही कन्या द्वारा पति प्राप्ति का समर्थन करता है (अथर्ववेद-ब्रह्मचर्येण कन्या युवानं विन्दते पतिम्, 11.5.18)। इस युग में कुछ स्त्रियाँ ब्रह्मवादिनी भी हुआ करती थीं जो आजीवन अविवाहिता रहती थीं। सम्पूर्ण उत्तर वैदिक साहित्य में किसी कन्या के वाल्यावस्था में ही विवाह हो जाने का एक मात्र उदाहरण छान्दोग्य उपनिषद (1. 10. 1) में कुरु देश के एक निर्धन ब्राह्मण की ''आटकी'' पत्नी का है। शंकर से आटकी का अर्थ अविकसित-यौवना (अनुपजातपयोधरा) किया है। आटकी की उत्पत्ति यदि ''इट्'' धातु से मानी जाय तो इसका अर्थ घुमक्कड़ होगा। इस प्रसंग में शंकर भाष्य अपने युग की प्रथा से प्रभावित प्रतीत होता है।

पति-पत्नी

परिवार का प्रधान पुरुष पति और पिता के रूप में परिवार पर शासन करता था। पति शब्द उसके परिवारिक स्वामित्व का सूचक है। इस शब्द के प्रचलन का यह अर्थ लगाना भूल होगा कि पति को पत्नी का स्वामी माना जाता था, क्योंकि पति शब्द की भाँति पत्नी शब्द भी स्वामित्व का द्योतक है। इससे यह सिद्ध होता है कि पारिवारिक जीवन में दोनों की समान स्थिति थी। यही बात अथर्ववेद में अनेकश प्रयुक्त दम्पती (अथर्ववेद 1, 13, 3; 12, 3, 14; 14, 2, 9) शब्द की व्युपति से भी प्रमाणित होती है। तैत्तिरीय संहिता के अनुसार पत्नी पति के शरीर का आधा भाग होती है (तै. सं. 6.1. 8. 5)। शतपथ ब्राह्मण पति-पत्नी को दाने के दो दालों की भाँति मानता है (शत. ब्रा. 14. 4. 2, 4-5) जिनकी संयुत स्थिति ही दोनों को पूर्णता प्रदान करती है। इस प्रकार केवल पति-पत्नी की समानता की ही कल्पना नहीं की गई थी बल्कि दोनों को एक ही शरीर के दो अविभाजित अंग माना गया। इसीलिए शतपथ ब्राह्मण में अन्यत्र पत्नीविहीन जीवन अधूरा बताया गया है (शत. ब्रा. 5. 2. 1. 10)। धार्मिक अनुष्ठानों का सम्पादन भी दोनों साथ-साथ करते थे। आर्यो की परिवार व्यवस्था पितृप्रधान होते हुए भी पारिवारिक तथा सामाजिक जीवन में पत्नी की स्थिति पति के समान ही आदरणीय थी। अथर्ववेद में इन्द्र से यह प्रार्थना की गई है कि वह पति-पत्नी को चक्रवाक दम्पती की भाँति एक दूसरे के प्रति सच्चे अनुराग

की प्रेरणा दे। इस युग में स्त्रियों में परवर्ती युगों की पातिव्रत्यभावना का बीजरूपेण प्रारम्भ भी यत्र-तत्र दिखाई देता है। शर्यातपुत्री सुकन्या कहती हैकि मेरे पिता ने मुझे जिस व्यक्ति को विवाह में दे दिया है, जीवित रहते मैं उसका उपहास नहीं कर सकती (शत. ब्रा. 4. 1. 5. 9)।

पिता

उत्तर वैदिक युग का पिता, अपनी सन्तानों के भरण-पोषण और रक्षण के लिए सर्वदा सचेष्ट रहता था, जैसा कि उसके उदार नाम से ही स्पष्ट है। शतपथ ब्राह्मण में विवाह का प्रमुख प्रयोजन सन्तानोत्पत्ति बताया गया है। तैत्तिरीय संहिता में सन्तान द्वारा अमृत्व के उपभोग की कामना की गई है (तै. सं. 1. 4. 46. 1)। अथर्ववेद (3, 23) में वीर-प्रसूति के लिए प्रार्थना की गई है तथा नारी को बारबार पुत्र उत्पन्न करने का आशीर्वाद दिया गया है (अथर्ववेद 3. 23. 2-5)। पुत्र-प्राप्ति के लिए प्रार्थनाओं के अतिरिक्त लोग अनेक अनुष्ठान करतेथे। ह्विटने के अनुसार अथर्ववेद (6. 8.1 3) में पुत्र-प्राप्ति के लिए हाथ में ताबीज बांधने की प्रथा का संकेत है। तैत्तिरीय ब्राह्मण गर्भाधान का उद्देश्य पुत्र-प्राप्ति ही बतलाया है (तै. ब्रा. 3. 7. 1)। निश्चय ही इस युग में पुत्र-प्राप्ति के हेतु पुंसवन भी होने लगा था (अथर्ववेद 6. 11. आ. गृ. सू. 1. 13. शांखा. गृ. सू. 1. 20 गोभिल गृ. सू. 2. 6)। इतना ही नहीं अथर्ववेद में पुत्र-प्राप्ति के लिए औषधियों के प्रयोग का संकेत भी मिलता है। अथर्ववेद (6.11) में शमी वृक्ष के ऊपर उगा हुआ पीपल पुत्रदाता माना गया है। इसी प्रकार शतदार (अथर्ववेद 19. 36) तथा औदम्बर की (वही 19.31) मणियों का बांधना भी वीर पुत्र प्रदायक बताया गया है। शतपथ ब्राह्मण से ज्ञात होता है कि लोग पुत्र प्राप्ति का एक प्रबल साधन यज्ञ भी मानते थे (शत. ब्रा. 4. 4. 2.9)। ब्राह्मण ग्रन्थ द्वारा पुत्र प्राप्त करने वाले अनेक राजाओं का उल्लेख करते हैं। कक्षीवान, औशिज, वीतह्वय, श्रायस, त्रसदस्युआदि यज्ञ के द्वारा सहस्रों पुत्र प्राप्त किए (तै. सं. 5. 6. 5. 3)। यज्ञ के माध्यम से पुत्र प्राप्त करने वाले कपितपय राजाओं का उल्लेख काठक संहिता (22.3) पंचविश ब्राह्मण (25. 16. 3) तथा जैमिनीय उपनिषद ब्राह्मण (2, 6, 11) में भी मिलता है। महाभारत के अनुसार द्रौपदी और धृष्टद्युम्न यज्ञीय अग्नि से उत्पन्न हुए थे (महाभारत 1, 169, 39, 59)। इसी प्रकार रामायण में भी दशरथ को पुत्र-प्राप्ति के लिए यज्ञ करते दिखाया गया है।

पारिवार में पुत्रों का महत्वपूर्ण स्थान

पुत्र-प्राप्ति की उत्कण्ठा के पीठे आर्थिक और सामरिक कारण ही प्रमुख थे (शत. ब्रा. 12. 2. 3. 4)। साथ ही कुछ नवोदित विश्वास भी इसके लिए उत्तरदायी थे। जैसा कि पहले ही संकेत किया गया है उत्तरवैदिक युग में पितृऋण की भावना बलवती होने लगी थी (शत. ब्रा. 1. 7.2. 11 तै. सं. 6. 3. 10.5)। लोगों को यह विश्वास हो चला था कि पुत्र पुत् नामक नरक से पिता की रक्षा करने के कारण ही पुत्र कहलाता है (गो. ब्रा. 111. 12) यास्क ने अपने निरुक्त (2. 11) में इस व्युत्पत्ति को स्वीकार किया है। अनेक परवर्ती धर्मग्रन्थों एवं रामायण महाभारत में भी इस व्युत्पत्ति का समर्थन किया गया है। ऐतरेय ब्राह्मण (2, 3, 13 पुत्र की महिमा का वर्णन करते हुए उसे ऋणमुक्त करने वाला, अमृतत्व प्रदान करने वाला तथा पुत् नामक नरक से बचाने वाला कहता है (दे. ऊपर पुत्र का महत्व पृ. 464)

पिता पुत्र का सम्बन्ध प्रायः प्रेमपूर्ण होता था। शांखायन आरण्यक से ज्ञात होता है कि युवक

पुत्र के प्रति प्रेम प्रदर्शित करता हुआ पिता कभी-कभी उसका माथा चूमता था। स्वयं शिक्षित होने पर अनेक व्यक्ति अपने पुत्र को स्वयं शिक्षा प्रदान करते थे। श्वेतकेतु आरुणेय की कथा इस प्रसंग में उदाहरणीय है। उसके पिता उद्दालक ने उसे चौबीस वर्ष की अवस्था तक अध्ययन कराया था (बृ. उप. 6. 2. 14)। इसके अनुकूल ही हम पुत्रों में भी पिता के प्रति श्रद्धा भाव पाते हैं। अथर्ववेद (3. 30.2) पुत्र को पिता के प्रति अनुव्रत बतलाता है। पुत्र पिता की वृद्धावस्था में उसकी रक्षा एवं सेवा करते थे। जिमर महोदय ने प्रतिपादित किया है कि वैदिक युग में बेटे बूढे माता-पिता की हत्या कर देते थे तथा उन्हे जंगली जानवरों के खाने के लिए जंगल में छोड़ देते थे (वैदिक इण्डेक्स 1, 5,27)। जिमर की इस स्थापना का आधार "उद्धित्" शब्द है जिसका अर्थ है "उठाकर अलग रक्खा हुआ"। अथर्ववेद (18.2.34) में इस शब्द का प्रयोग पितृमेध सूक्त में शवों के प्रसंग में आया है। वैदिक युग में शवों को गाड़ने की विधि भी प्रचलित थी और जलाने की भी। पहले प्रकार में अनग्निदग्ध और दूसरे को अग्निदग्ध कहा जाता था (ऋग्वेद 10.15.14 अथर्ववेद18.2.34)। अनग्निदग्ध कभी छोड़ने की इस परम्परा को "उद्धित" कहा गया है। अथर्ववेद (18.2. 34) में मृतशरीर के ही उद्धित करने का वर्णन है जीवित शरीर के नहीं। ऋग्वेद (8.52.2) में अवश्य ही पार्षद्वाण द्वारा बूढ़े सोते पिता को उद्धित करने की बात कही गई है किन्तु इस प्रसंग में "उद्धित" शब्द केवल बाहर फेंक देने की क्रिया का संकेत करता है न कि हत्या का। सम्भव है उद्दण्ड पार्षद्वाण ने अभागे पिता को शयनावस्था में घर से बाहर फेंक दिया हो। इस प्रमाण के आधार पर पितृहत्या सर्वथा अकल्पनीय है। यदि इस प्रकार की कोई परम्परा वैदिक युग में प्रचलित होती तो कम से कम सूत्र साहित्य में कुछ निषेधात्मक निर्देश अवश्य मिलता। इसके विपरीत तत्तिरीय उपनिषद के अनुसार आचार्य शिक्षा समाप्ति पर विद्यार्थी को माता-पिता की देववत पूजा का उपदेश देते थे (तै. उप. 1. 11. 2)। पिता की ही भाँति पुत्र माता का भी सम्मान करता था। अथर्ववेद (3.30. 2) माता के अनुकूल मन वाला होने का उपदेश देता है। महाभारत (1,196, 16) में माता को सर्वश्रेष्ठ गुरु माना गया है। वैदिक साहित्य में पितृव्य शब्द का अभाव इस बात का संकेतक है कि चाचा को भी पिता ही कहकर पुकारते थे। महाभारत में भी चाचा को पितृव्य न कह कर पिता ही कहा गया है। पाण्डवों ने धृतराष्ट्र को कभी भी पितृव्य नहीं कहा। वे उन्हें "पिता" अथवा "तात' कहकर सम्बोधित करते थे।

कन्या की स्थिति

पुत्र उत्पन्न होने पर उसे (शय्यापर से) उठा लेते थे, नवजात कन्या को (शय्या पर ही) छोड़ देते थे (काठक सं. 27.8 तै. सं. 6.5.10.3 मैं. सं. 4.6.4; 4. 7.9)। यहाँ कन्या को छोड़ने के लिए "परास्यन्ति" शब्द का प्रयोग है। इसके आधार पर विद्वानों ने अनेक भीषण कल्पनाएँ कर ली हैं। जिमर और डेलब्रुइक ने प्रतिपादित किया है कि वैदिक युग में बालिकावध की प्रथा प्रचलित थी (वैदिक इण्डेक्स 1.487)। कन्यावध की परम्परा प्राचीनकाल में यूनान, चीन और अरब जैसे देशों और स्वयं मध्यकालीन भारत में प्रचलित थीं। अरब में कन्यावध का विरोध करने वाले पहले व्यक्ति मुहम्मद साहब थे। इन उदाहरणों से उत्पन्न पूर्वाग्रह के कारण जिमर एवं डेलब्रुइक महोदय ने मान्यता रखी है कि वैदिक आर्य कन्याओं को घने जंगलों में छोड़ देते थे, जिससे उन्हें वन्य पशु खा जाएँ। राजवार्ड ने उनके इस मन्तव्य का समर्थन किया है (निरुक्त, भंडाकार आरियण्टल रिसर्च इन्स्टीट्यू द्वारा प्रकाशित, पृ. 421)।

लेकिन इन विद्वानों की कल्पना सर्वथा निराधार है। किसी भी प्राचीन टीकाकार ने इस शब्द का यह अर्थ नहीं माना है। सायण में इसका अर्थ कन्या को पति कुल में छोड़ना किया है (सायण भाष्य तै. सं. 1. 4.28)। कन्यावध का समर्थन करने वाला कोई भी विद्वान वैदिक साहित्य से एक भी निर्विवाद प्रमाण नहीं दे सका है। वेबर महोदय पंचविश ब्राह्मण (11.8.8.) में प्राप्त आँगिरस युक्ताश्व की कथा को कन्या-वध का प्रमाण मानते हैं किन्तु इस कथा में युक्ताश्व द्वारा शिशुओं को केवल विपरिहार अथवा कष्ट देने का उल्लेख है न कि उनको मारने का।

कन्या के प्रति वैदिक आर्यो की उदासीनता तथा पारिवारिक जीवन में उनकी अवहेलना तत्कालीन समाज की संकीर्ण मनोवृत्ति का परिचायक है। जाति एवं वंश की परम्परा को अविच्छिन्न रखने में पुत्री का भी उतना ही योग था, जितना पुत्र का। वही कन्या विवाह के उपरान्त पत्नी और जाया के रूप में अधिक उपयोगी होने के कारण आदर प्राप्त करती थी किन्त उसके इस भावी महत्व पर ध्यान नहीं दिया जाता था। पूर्व वैदिक युग के समान ही माता-पिता की वृद्धावस्था में कन्या को प्रायः भाई और भाभी के शासन तथा सुरक्षा में रहना पड़ता था। जैसा कि भ्राता शब्द के अर्थ से ही स्पष्ट है-भाई, बहिन का रक्षक और बाद में भगिनी शब्द का विकास भी हुआ। वैदिक साहित्य में भ्रातृहीना कन्याओं की दुर्दशा का चित्र प्रायः मिलता है। अभ्रातृका कन्या का विवाह प्रायः कठिन होता था। या तो उन्हें आजीवन कौमार्य व्रत धारण करना पड़ता था अथवा विवश होकर वेश्यावृत्ति अपनानी पड़ती थी। (द्र. वैदिक इण्डेक्स 2.488, अथर्ववेद 1.17.1)। इसके कई कारण थे एक, प्रायः वैदिक आर्य अनाथ और अरक्षित कन्याओं से विवाह करने में हिचकते थे। विवाह के पश्चात् स्याला अपने बहिन के पति के लिए एक प्रबल मित्र और सहायक सिद्ध होता था। देवताओं की उदारता की तुलना स्याले की उदार वृत्ति से की गई (निरुक्त 6, 9 वैदिक इण्डेक्स 2, 113, 456, 496)। अतः यह स्वाभाविक ही था कि विवाहार्थी ऐसी कन्या से विवाह करने में हिचकिचाहट दिखावे जो इस उदार मित्र और सहायक से हीन हो (फैमिली एण्ड किन इन इण्डो आर्यन कल्चर, पृ. 48)। दूसरे मातृहीना-कन्याओं को पिता पिण्डदान की सुविधा के लिए पुत्रिका बना लेते थे (द्र. वैदिक इण्डेक्स, 1. 528, 537, 489)। ऐसी पुत्री प्रायः पिता के घर रहती थी, तथा उससे उत्पन्न पुत्र अपने पिताा को पिण्डदान न देकर अपने नाना (मैटर्नल ग्रैंड फादर) को देता था। इस प्रकार भ्रातृहीना कन्या से विवाह धार्मिक, आर्थिक और सामाजिक तीनों दृटियों से हानिकारण समझा जाता था।

भाई और बहिन के बीच स्नेह तन्तु के होते हुए भी बहुधा ननद-भाभी का सम्बन्ध प्रेमपूर्ण नहीं होता था। इसका कारण मनौवैज्ञानिक है। घर में इन दोनों की स्थिति प्रायः समान होती थी। ननद अपने भाई के दुलार तथा गृहस्वामिनी माता के प्यार की अधिकारिणी होनेके कारण परिवार में नारी सदस्यों में अपना महत्वपूर्ण स्थान रखती थी। इसके विपरीत नववधू न केवल परिवार के सदस्यों का स्नेह और ध्यान आकर्षित करती थी वरन् कालक्रम से ननद पर शासन भी करने लगती थी। ऐसी स्थिति में ननद का खिन्न और ईर्ष्यालु हो जाना सर्वथा स्वाभाविक था। ऐतरेय ब्राह्मण का एक प्रसंग ननद-भाभी के सम्बन्धों पर अच्छा प्रकाश डालता है। इसमें कहा गया है ''एक व्यक्ति की बहिन, जो उसी गर्भ से पैदा हुई है जिससे वह स्वयं पैदा हुआ है, उसकी पत्नी का जो दूसरे के गर्भ से उत्पन्न हुई है अनुसरण करती हुई जीवन व्यतीत करती है (ऐत. ब्रा. 3. 2. 12)। तृतीय या चतुर्थ सदी तक अथवा इसके पूर्व ही संस्कृत

शब्द ''ननदृ'' की व्युत्पत्ति 'न प्रसन होने वाली' (न नन्दति इति) किया जाने लगा था (द्रष्टव्य-इरावती कार्वे, किनशिप आर्गनाइजेशनइन इण्डिया, पृ. 43)। हम ठीक प्रकार से नहीं कह सकते कि यह स्थिति केवल कुमारी कन्याओं की ही थी अथवा विवाह के पश्चात पितृगृह में लौटी हुई कन्याओं की भी, किन्तु सम्भवतः दोनों स्थितियों में ननद के ऊपर भाभी का शासन प्रायः हुआ करता था क्योंकि उसकी भाभी का पति गृहपति होता था और वह गृहपत्नी।

वधू

वधू गृहपत्नी के रूप में न केवल पति की बहिनों पर शासन करती थी बल्कि न्यूनाधिक रूप से पति के छोटे भाई भी उसके प्रभाव क्षेत्र के अन्तर्गत थे, यद्यपि देवर कुछ अवस्थाओं में उसपर पतिवत् अधिकार भी रखता था। यास्क के देवर शब्द की टीका करते हुए उसे दूसरा पति बताया है (निरुक्त 3. 15)। महाभारत में भी पति के अभाव में देवर से विवाह का उल्लेख है। वैदिक युग में पति की मृत्यु के पश्चात् विधवा का विवाह प्रायः देवर से ही होता था। ऐसी सामाजिक व्यवस्था के अन्तर्गत भाभी के हृदय में देवर के प्रति (एक अज्ञात भय के कारण) सम्मान होना स्वाभाविक ही था। अथर्ववेद (14. 2. 18) से इन दोनों सम्बन्धियों के बीच प्रेम पूर्ण सम्बन्ध की पुष्टि होती है।

सास-ससुर के प्रति वधू का व्यवहार प्रायः आदरपूर्ण होता था। उत्तर वैदिक साहित्य में ऐसे अनेक प्रसंग मिलते हैं जिसमें यह प्रमाणित होता है कि वधू ससुर के समक्ष सलज्ज और अनुशासनयुक्त रहती थी। मैत्रायणी संहिता में ब्राह्मण के लिए एक स्थान पर सुरापान का निषेध इसलिए किया गया है कि सुरा के प्रभाव से ससुर और पुत्रवधू भी परस्पर अभद्र बातें करते हैं (मैत्रा. सं. 2. 4. 1. 2)। इससे प्रकट होता है कि ससुर और पुत्रवधू में बहुत ही संयत और अनुशासनपूर्ण व्यवहार तथा सम्बन्ध की अपेक्षा की जाती थी। अथर्ववेद में स्पष्टतः ससुर और पुत्रवधू के बीच लज्जाजनित दूरी का उल्लेख हुआ है (अथर्व 8. 6. 24)। यहाँ बताया गया है कि जिस प्रकार लोग धूप से दूर रहने और बचने का प्रयास करते हैं उसी प्रकार पुत्रवधू ससुर से दूर रहने का प्रयास करती है। ऐतरेय ब्राह्मण शत्रुसेना को शक्तिहीन करने के लिए एक अनुष्ठान का उल्लेख करता है जिसके प्रभाव में शत्रुहीन करने के लिए एक अनुष्ठान का उल्लेख करता है जिसके प्रभाव के प्रसंग में ससुर-पुत्रवधू संबन्ध का रूपक दिया गया है (ऐत. ब्रा. 12.11)। सायणाचार्य ने इस पर भाष्य करते हुए कहा है कि यह अनुष्ठान शत्रुसेना को पराजित करने में सहायक है क्योंकि इसमें जिस देवता का आह्वान होता है वह शत्रुसेना को पराजित करने में सहायक है क्योंकि इसमें जिस देवता का आह्वान होता है वह शत्रुसेना की संरक्षिका देवी का ससुर होता है। जिस प्रकार युवती पुत्रवधू ससुर के समक्ष लज्जावश अंगों को छिपाने के लिए अपने वस्त्रों से आच्छादित करती है तथा धीरे से घर के अन्दर सरक जाती है उसी प्रकार का आचरण इस विशेष अनुष्ठान के प्रभाव से शत्रु सेना करती है। आश्वलायन श्रौतसूत्र में भी शत्रु को वशीभूत करने के लिए ''स्नुषा-श्वशुरिय इष्टि'' का वर्णन है (आश्वलायन 2.11)। अथर्ववेद (14. 2. 26) में पुत्रवधू द्वारा श्वशुरकी सहायता की कामना की गई है। वृद्धावस्था में प्रायः श्वसुर पुत्रवधू के शासन और देखभाल में आ जाता था। वैदिक साहित्य में यद्यपि श्वश्रू (मदर इन ला) और स्नुषा के पारस्परिक सम्बन्धों को सूचित करने वाले प्रसंगों का अभाव है तथापि अथर्ववेद (14.2. 26) से स्पष्ट है कि पुत्रवधू श्वसुर और श्वश्रू दोनों का समान रूप से आदर और सत्कार करती थी (श्वशुराय शंभूः स्योना श्वश्रवै)। बहुवों का सास के प्रति व्यवहार पर्याप्त

नम्र होता था (काठक सं. 31. 1)। सास की वृद्धावस्था में बहू उसका उत्तरदायित्व संभालती थी, तथा घर की सम्राज्ञी बनती थी (ऋग्वेद 10.85.46)।

वैदिक परिवार के पितृप्रधान होने के कारण पत्नी के पिता अथवा स्त्री पक्ष के अन्य सम्बन्धियों का विशेष उल्लेख नहीं हुआ है। श्वशुर शब्द जहाँ पति के पिता का बोधक है, पत्नी के पिता का बोध नही है। स्याला के सम्बन्ध में जो एकाकी प्रसंग मिलते हैं उनका उल्लेख ऊपर हो चुका है। उसे इन्द्र और अग्नि के समान उदार (उपहारादि) देने वाला बतलाया गया है। मामा, जिनकी स्थिति महाकाव्यों और स्मृतियों के काल तक महत्वपूर्ण हो चली थी, वैदिक युग में प्रायः महत्वहीन सम्बन्धी है। सम्पूर्ण वैदिक साहित्य में उनका उल्लेख केवल एक बार हुआ है (मै. सं. 1.6.12)। वैदिक साहित्य में इन्हें ''मातृभ्रातृ'' कहा गया है। सूत्रकाल से आगे इन्हें मातुल कहा गया। सूत्र साहित्य में सम्मानित किए जाने वाले व्यक्तियों में मामा का स्थान पितृव्य के बाद माना गया है (गौतम 5.28.30, वशिष्ठ 11.1 बौधायन 2.46)।

स्त्रियों की दशा

किसी भी युग अथवा देश की सामाजिक व्यवस्था एवं तत्समबन्धी दृष्टिकोण का वास्तविक मूल्यांकन स्त्रियों की स्थिति एवं उनके विषय के प्रचलित धारणाओं के अध्ययन के विना प्रायः अपूर्ण है। उत्तर वैदिक युग की नारी का जीवन समुन्नत होते हुए भी पतनोन्मुख था। एक ओर जहाँ हम स्त्रियों के प्रति परम्परागत सम्मान का भाव देखते हैं वहीं दूसरी ओर उनके प्रति नवीन अस्वस्थ धारणाओं का जन्म होता हुआ भी पाते हैं। शैक्षणिक सुविधाएँ स्त्रियों को प्रायः पुरुषों की भाँति प्राप्त थीं। शिक्षित स्त्री-पुरुष को ही विवाह के उपयुक्त बतलाया गया है (शुक्ल यजुर्वेद 8.1)। वास्तव में कन्या ब्रह्मचर्य काल में अपने को न केवल विदुषी बनाती थी बल्कि सामाजिक जीवन के उपयुक्त बनने का भी प्रयास करती थीं। इसमें वह अपनी शारीरिक एवं बौद्धिक शक्तियों का विकास करती हुई समाज और धर्म के उन सभी नियमों से सुपरिचित हो जाती थी जिनकी उसे गृहस्थ जीवन में आवश्यकता पड़ती थीं। उपनिषदयुग तक तो स्त्रियाँ दार्शनिक विषयों के अध्ययन एवं चिन्तन में पर्याप्त ख्याति प्राप्त करने लगी थी। ऐसी स्त्रियाँ भी अज्ञात नहीं थी जो आजीवन अध्यात्मचिन्तन में ही लगी रहती थीं। उन्हें ब्रह्मवादिनी कहा गया है। पारिवारिक जीवन में उलझी गृहपत्नियाँ भी ब्रह्म और आत्मा के रहस्य को जानने के लिए जिज्ञासु रहती थीं। बृहदारण्यक। उपनिषद में हम याज्ञवल्क्य की पत्नी मैत्रेयी को दार्शनिक ज्ञान के लिए उत्कंठित देखते हैं (बृ. उप. 2.4.3 तथा 4.5.4)। इसी पुस्तक में इस बात का भी उल्लेख है कि विदेह राजा जनक के दरबार में याज्ञवल्क्य अनेक पण्डितों को परास्त करने के पश्चात गार्गी वाचक्नवी की विद्वता के समक्ष हतप्रभ हो गये थे (बृ. उप. 3.6 तथा 8)। कौषीतकि ब्राह्मण (2, 9) में एक कुमारी गन्धर्व-ग्रहीत अग्निहोत्र में पारंगत बतलाई गई है। तैत्तिरीय संहिता (6, 16, 5) तथा मैत्रायणी संहिता (3.7.3) में स्त्रियों की संगीत-नृत्य-अभिरुचि का वर्णन है (गायन्तं स्त्रियः कामयन्ते)। शतपथ ब्राह्मण (14. 3. 1. 35) सामगान को स्त्रियों का विशेष कार्य बतलाता है। इससे प्रकट है कि उत्तर वैदिक युग में स्त्रियाँ गान विद्या में प्रवीण होती थीं तथा उनमें मंत्रों के शुद्ध पाठ एवं स्वरों के उचित आरोहवरोह की क्षमता होती थी। आश्वलायन गृह्यसूत्र (3,8,11) में स्त्रियों के समावर्तन संस्कार का उल्लेख है इससे प्रकट होता है कि गृह्य सूत्रों के काल तक स्त्रियों को वेदाध्ययन का अधिकार पूर्ववत प्राप्त था। धार्मिक

एवं सामाजिक अनुष्ठानों, नियमों एवं विधि-निषेधों से स्त्रियाँ पुरुषों की अपेक्षा अधिक परिचित थीं। आपस्तब का कथन है कि अनुल्लिखित कर्तव्यों का ज्ञान स्त्रियों से प्राप्त करना चाहिए। उनका ज्ञान समस्त अध्ययन का पूरक है (आप. ध. सू. 2. 2. 29. 15)।

सामाजिक एवं धार्मिक महत्व के उत्सवों में स्त्रियाँ स्वतंत्रतापूर्वक भाग ले सकती थीं। अथर्ववेद में अलंकृता नारी के सभा में जाने का उल्लेख है (अथर्ववेद 2. 36. 1)। यज्ञ में तो पत्नी, पति के साथ अनिवार्य रूप से भाग लेती थी। स्त्रियों को स्पष्टत: यज्ञ का अधिकारिणी कहा गया है (अथर्ववेद 11. 1.17.27)। अपत्नीक व्यक्ति यज्ञ के लिए अनुपयुक्त समझा जाता था (शत. ब्रा. 22. 2. 6)। रामायण काल तक हम राम को सीता की अनुपस्थिति में यज्ञ करने में असमर्थ पाते हैं। इस समस्या के समाधान हेतु उन्हें सीता की सुवर्ण-प्रतिमा बनवानी पड़ी थी। शतपथ ब्राह्मण में पत्नी द्वारा यज्ञ की अनेक क्रियाओं के सम्पादन का वर्णन है (शत. ब्रा. 1. 9. 2. 1., 1.9.2.5)। यज्ञ की वेदी के निर्माण में उसकी सहायता अपेक्षित थी (शत. ब्रा. 10, 2, 3, 1; 10, 2, 3.3)। इसके अतिरिक्त अन्य याज्ञिक क्रियाओं में भी वह पति का सहयोग देती थी (शत. ब्रा. 3. 8. 2.1-6) पारस्कर गृह्यसूत्र (2.17) से ज्ञात होता है कि शस्य वृद्धि के लिए पत्नी स्वतंत्र रूप से भी सीता यज्ञ कर सकती थी। धार्मिक क्रियाओं की भाँति ही उनसे उत्पन्न फल के भोग में भी पत्नी, पति के समान ही अधिकारिणी समझी जाती थी। अकेले पुरुष स्वर्ग के भोग की भी आकांक्षा नहीं करता था। वाजपेय यज्ञ में यज्ञीय यूप के सहारे सीढ़ी पर चढ़ता हुआ पति, पत्नी से कहता था, आओ हम दोनों साथ-साथ स्वर्गारोहण करें (शत. ब्रा. 5. 2. 1. 10)।

उपर्युक्त वर्णन से वैदिक नारी की जिस उच्च स्थिति का बोध होता है वह चिरस्थायी नहीं थी। उत्तर वैदिक युग में ही स्त्रियों की दशा पतनोन्मुख हो चली थी। उनके विषय में विभिन्न प्रकार के हीन विचारों का प्रतिपादन एवं प्रचार हो रहा था। पत्नी के लिए अब अधिकांशत: भार्या और जाया शब्द का प्रयोग होने लगा था। पोष्या और भार्या जैसे शब्द स्त्री की अधीनता का संकेत करते थे। जाया शब्द का बाहुल्य नारी के प्रजनन-कार्य के महत्व पर बल दिए जाने का प्रमाण है। परवर्ती संहिताओं एवं ब्राह्मण ग्रंथों में जहाँ कभी भी स्त्रियों के महत्व पर उनकी उपयोगिता को पृथक् करके विचार किया गया है, प्राय: उनकी भर्तस्ना की गई है। मैत्रायणी संहिता (3, 6, 3) में स्त्री को झूठ बोलने वाली और मृत्यु के देवता से सम्बद्ध बताया गया है। शतपथ ब्राह्मण (14. 1. 1. 31) में भी स्त्रियों को अनृत कहा गया है। काठक संहिता नारी को भावुक और निर्वीर्य बतलाता है (28. 8. 44)। मैत्रायणी संहिता के एक अन्य प्रसंग में स्त्री पर चरित्रहीनता का दोष लगाते हुए कहा गया है कि पति द्वारा धन से खरीदी जाने वाली स्त्री भी अन्य पुरुषों के साथ विचरण करती है (1. 10. 11)। इस प्रसंग से स्त्रियों का क्रय-विक्रय की परम्परा के प्रचलन का संकेत यास्क ने अपने निरुक्त में भी दिया है। (निरुक्त (3.4)। तैत्तिरीय संहिता में भी नारी की शारीरिक हीनता का उल्लेख हुआ है और उसे यज्ञ में सोम का भाग लेनेके अधिकार से विहीन एवं पापी पुरुषों से भी तुच्छ बातें करने वाली बताया गया है (6.5.8.2)। जैमिनीय ब्राह्मण (1. 9.8) में स्त्रियों को दु:ख का साधन माना गया है तथा कहा गया है कि इन्हें देवताओं ने क्रोध, आलस्य, नींद, भूख या वासना तथा द्यूतक्रीड़ा जैसे दुर्व्यसनों के साथ मनुष्य को कष्ट देने के लिए बनाया है। शतपथ ब्राह्मण पुरुष के समक्ष नारी की हीनता का प्रतिपादन करते हुए यहाँ तक कहता है कि अनेक स्त्रियों के बीच एक छोटा बालक हो तो उनमें वही श्रेष्ठ समझा जाएगा (शत. ब्रा. 1. 3. 1. 9)।

इस युग के सामाजिक जीवन में जो संघर्ष दिखाई देता है उसका प्रभाव सामान्यजनों के व्यक्तिगत जीवन पर भी पड़ा। पारिवारिक जीवन में हम पुरुषों को स्त्रियों के समक्ष अपनी उच्चता का प्रतिपादन करते हुए देखते हैं। दाम्पत्य जीवन में भी समान अधिकारों का ह्रास एवं स्त्रियों की दुर्बलता का लाभ उठाकर उनके शोशण का प्रयास होने लगता है। शतपथ ब्राह्मण एक स्थान पर पति को 'अता' कहता है। विचारणीय है कि इसी प्रकार राजा को भी ''विश'' का अता कहा गया है। पत्नी के समक्ष पति की गुरुता एवं श्रेष्ठता की स्थापना का प्रयास शतपथ ब्राह्मण (1.1.4.13) में स्पष्ट दिखाई देता है। शतपथ ब्राह्मण का यह अंश इस बात की व्यवस्था करता है कि पत्नी को पति के पश्चात् भोजन करना चाहिए। शतपथ ब्राह्मण पत्नी के शरीर पर भी प्रायः पति का अधिकार मानता है (शत. ब्रा. 4.4.2.13)। इस अंश में हमें स्त्री की परतन्त्रता (न नारी स्वातंत्र्यमर्हति) का स्पष्ट वर्णन दिखाई देता है। यहाँ कहा गया है कि ''देवताओं ने पीट-पीट कर अपनी पत्नियों को शक्ति हीन कर दिया है। अतः इस प्रकार पीड़ित और शक्तिहीन होने के कारण उनका अपने शरीर और सम्पत्ति पर कोई अधिकार नहीं है।

इसी युग में नारी को याज्ञिक अधिकारों से भी वंचित करने का प्रयास किया गया। यद्यपि यज्ञों से धर्मपत्नी के रूप में नारी को बहिष्कृत नहीं किया जा सका, तथापि उसके धार्मिक अधिकारों को सीमित और संकुचित कर दिया गया। धार्मिक क्षेत्र में उनकी अपवित्रता और याज्ञिक अनुपयुक्ता का विचार प्रचलित हो गया जिसकी प्रतिध्वनि उत्तर वैदिक साहित्य के उतरार्द्ध में सर्वत्र मिलती है। याज्ञिकों के एक सम्प्रदाय ने यह प्रतिपादित किया कि स्त्रियाँ यज्ञ की अधिकारिणी ही नहीं है। उनका स्थान यज्ञ की वेदी से बाहर होना चाहिए (शांखा. ब्रा. 27.4)। यद्यपि ब्राह्मण स्त्रियों को यज्ञ से बहिष्कृत करने का समर्थन नहीं करता फिर भी उन्हें अयज्वन शूद्रों की कोटि में रखता है तथा उनकी अपवित्रता की घोषणा करता है (शत. ब्रा. 14. 1. 1. 13)। स्त्रियों का धार्मिक अनुष्ठानों से बहिष्कार एक आकस्मिक घटना नहीं थी। उनके अधिकारों का अपहरण बड़े मन्द गति से हुआ। जिन अपवित्रताओं एवं दूषणों के कारण उत्तरवैदिक युग के अन्त तक स्त्रियों को यज्ञाधिकार से वंचित कर दिया गया उनके निराकरण का प्रारम्भ में प्रयास भी किया गया। शतपथ ब्राह्मण (1. 3. 13) ने पत्नी के नाभि के नीचेवाले भाग को अपवित्र बतलाया है तथा इस अशौच को दूर करने के लिए वस्त्रों के ऊपर कुशा घास के चण्डातक की व्यवस्था करता है। यज्ञ में होने वाले विभिन्न अनुष्ठान धीरे-धीरे स्त्रियों के हाथ से निकल कर पुरोहितों के अधिकार क्षेत्र में आने लगे। पहले पत्नी द्वारा होने वाला हवि तैयार करने का कार्य अब पुरोहित (अग्नीध्र) करने लगा (शत. ब्रा. 1. 1. 4. 13)। इसी प्रकार सोमयाग में प्रवर्ग्य नामक कृत्य (धर्म नामक गरम बर्तन में दूध डालना) पहले पत्नी द्वारा सम्पादित होता था, किन्तु बाद में इसे -उद्गाता करने लगा (शत. ब्रा. 4.3.1.85)। इन प्रमाणों के आधार पर यद्यपि यह तो नहीं कहा जा सकता कि उत्तर वैदिक युगीन नारी धार्मिक जीवन में बहिष्कृत कर दी गई थी क्योंकि हम अनेक प्रसंगों में पत्नी को पति के साथ यज्ञ कार्य करते हुए पाते हैं, तथापि इनके आधार पर हम यह निष्कर्ष निकाल सकते हैं कि समाज के अन्य वर्गो एवं संस्थाओं की भाँति ही स्त्रियों के सम्बन्ध में भी नए विचारों एवं नवीन मूल्यों का उन्मेष प्रारम्भ हो गया था। इस प्रकार नारी के पतन का जो इतिहास बाद में उपलब्ध होता है विकास के बीज उत्तरवैदिक युग की सामाजिक व्यवस्था में ही निहित थे।

वैदिक आर्यो के पितृप्रधान समाज में पुरुष की अपेक्षा नारी को कम सम्मान प्राप्त होना स्वाभाविक था। पूर्व वैदिक युग की सामाजिक-अव्यवस्था एवं वाह्य संघर्षों ने पुरुष को स्त्रियों पर स्वामित्व के आरोपण का विशेष अवसर नहीं दिया। उत्तरवैदिक युग तक, जब समाज के विभिन्न वर्गो एवं पविार के विभिन्न सदस्यों के पारस्परिक सम्बन्धों एवं उनकी सामाजिक स्थिति स्पष्टतर होने लगी, पुरुषापेक्षी प्रवृत्तियाँ उग्र हो चलीं। इसके पीछे जहाँ एक ओर समाज के व्याप्त वर्ग संघर्ष, शोषण और अधिकरण की नूतन प्रक्रिया का परोक्ष प्रभाव था कहीं कतिपय अनार्य जनों के मातृमूलक समाज के सम्पर्क से उत्पन्न होने वाली प्रतिक्रिया भी थी।

स्त्रियों को धार्मिक जीवन से बहिष्करण के प्रयास के कारण अधिकांशतः परिस्थैतिक थे। वर्णव्यवस्था के विकास एवं पुरोहित वर्ग के प्रभावक्षेत्र में विस्तार के कारण यज्ञों का स्वरूप वामन के शरीर की भाँति बढ़ने लगा। याज्ञिक प्रक्रियाएँ उत्तरोत्तर जटिल और आडम्बरपूर्ण होने लगीं। यज्ञ की छोटी क्रियाओं के लिए विस्तृत विधियाँ निर्धारित की जाने लगीं। पहले पत्नी द्वारा किया जाने वाला साधारण कृत्य अब होता, उद्गाता, अध्वर्यु, ब्रह्मा आदि अनेक पुरोहितों की सहायता से होने लगा। वैदिक मंत्रों के उच्चारण में लेशमात्र भी त्रुटि अनिष्टकर मानी जाने लगी (पाणिनि शिक्षा 52)। फलतः कम पढ़ी-लिखी स्त्रियों के लिए यज्ञ में भाग लेना कठिन हो गया। दूसरे पुरोहितों ने पत्नी द्वारा सम्पादित होने वाले अनेक कृत्यों को स्वयं करना प्रारम्भ किया जिससे स्त्रियों का यज्ञों में सहयोग क्रमशः कम होने लगा। विशेषतः पुरोहितों द्वारा किए गए इस परिवर्तन पर आक्षेप करने में स्त्रियाँ समर्थ भी नहीं थीं। इस नैराश्य से प्रभावित होकर उपनिषद काल तक अनेक स्त्रियों ने ब्रह्मज्ञान को अपनी बौद्धिक एवं अध्यात्मिक जिज्ञासा का केन्द्र बनाया।

इसी प्रकार आर्यो का अनार्या स्त्रियों से विवाह भी पत्नी को यज्ञाधिकार से बहिष्कृत करने का एक प्रमुख कारण बना। यद्यपि शूद्रा अथवा अनार्या से विवाह हतोत्साहित किये जाते थे तथापि आर्य परिवारों में शूद्र स्त्रियाँ विवाहिता वधू, अथवा रखैल के रूप में आती रहीं। आर्यों की अनार्य पत्नियों का उल्लेख धर्मसूत्रों के काल तक मिलता है। वशिष्ठ धर्मसूत्र(18, 17) कृष्णावर्णा स्त्री को धर्म के लिए उपयुक्त न मानकर केवल रमण के लिए उपयुक्त मानता है। वैदिक कर्मकाण्डों से अपरिचित होने के कारण स्वभावतः अनार्या पत्नियाँ अनुष्ठानों में अधिक भूल कर सकती थीं। अतः यज्ञों की पवित्रता की रक्षा के लिए तथा अभीप्सित फल की प्राप्ति के लिए ऐसी स्त्रियों से याज्ञिक अधिकार छीनना वांछनीय समझा गया। किन्तु कालान्तर में इन शूद्राओं के दुर्भाग्य की छाया उनकी आर्या सपत्नियों पर भी पड़ने लगी तथा नारी मात्र को धार्मिक दृष्टि से अपवित्र समझा जाने लगा।

धार्मिक दृष्टि से स्त्रियों को अपवित्र घोषित करने के लिए उनकी दुर्बलताओं का आश्रय लेना आवश्यक था। इसीलिए स्त्रियों की अपवित्रता का प्रमुख कारण मासिक-धर्म बताया गया। रजस्वला नारी की अपवित्रता का संकेत हमें सर्वप्रथम तैत्तिरीय संहिता और तैत्तिरीय ब्राह्मण में मिलता है। तैत्तिरीय संहिता (2.5.1) के अनुसार "उस समय स्त्री मलिन वस्त्रों वाली होती है। ऐसी स्त्री के साथ न बोलना न बैठना चाहिये। उनका अन्न भी ग्रहण नहीं करना चाहिए। ऐसी स्थिति में यह स्वभाविक था कि पत्नी को यज्ञ कार्य से भी पृथक् किया गया। तैत्तिरीय ब्राह्मण उस पुरुष को भाग्यहीन बतलाता है जिसकी पत्नी उसके यज्ञ के समय रजस्वला होने कारण प्राप्त नहीं होती (तै. ब्रा. 3.7.1) क्योंकि पत्नी के

अभाव में आधा यज्ञ नष्ट हो जाता है। प्रारम्भ में केवल रजस्वला स्त्रियाँ अपवित्र समझी जाती रही होंगी किन्तु बाद में प्रतिमास होने वाले इस दूषण के कारण उन्हें स्थायी रूप से अपवित्र और अमेध्य मान लिया गया। शतपथ ब्राह्मण इसीलिए स्त्री के नाभि के नीचे वाले भाग को स्थायी रूप से अमेध्य बतलाता है (1. 3, 1.13; 5.2.1.18) मासिक धर्म से उत्पन्न होने वाले अशौच और कुप्रभाव को विश्व की अनेक प्राचीन एवं आधुनिक जातियों ने स्वीकार किया है (फ्रेजर, गोल्डेन बाउ 1, पृ. 226-27 हिन्दु परिवार मीमांसा, पृ. 135)। फ्रेजर महोदय के अनुसार इस अवस्था में स्त्री की अपवित्रता का कारण आदिम जातियों का यह विश्वास रहा है कि जीवन-शक्ति रक्त में रहती है (वही 2 पृ. 240) इसलिए रजस्वला स्त्रियाँ रक्तस्राव के कारण दुर्बल हो जाती हैं। अत: उनका स्पर्श करने वाला पुरुष भी दुर्बल और रुग्ण हो जाएगा। विधवा की स्थिति पूर्व वैदिक समाज की तरह ही थी।

नारी-प्रशंसा

ऋग्वेद के समय से लेकर स्त्रियों को बहुधा ''सुभगे'' (सौभाग्यशालिनी) के विशेषण से सम्बोधित किया गया (10, 10, 10/10, 10, 85)। सौभाग्यशाली होने के नाते वह शुभ मानी गयी है। छान्दोग्योपनिषद् के अनुसार यदि कोई किसी काम में लगा हो और स्वप्न में स्त्री देखे तो वह यह जान ले कि वह कर्म सफल हो चुका है (5, 2, 7)। जैमिनीय ब्राह्मण में पतिव्रता स्त्रियों को कल्याणी कहा गया है (2, 26, 6)।

मैत्रायणी संहिता में स्त्रियों को पुरुषों से श्रेष्ठ माना गया है (4, 7, 6)। प्राचीन काल से लोग यह मानते आ रहे हैं कि स्त्री अवध्य है। शतपथ ब्राह्म (11, 4, 3, 2) में यह प्रसंग मिलता है कि जब प्रजापति ने स्त्री की उत्पत्ति की, तो देवता उसे मार डालना चाहते थे। इस पर प्रजापति ने उन्हें ऐसा करने से रोका, क्योंकि पुरुष स्त्रियों को नहीं मार डालते है– न वै स्त्रैणं ध्नन्ति।

पत्नी और माता के रूप में स्त्रियों की सब से अधिक प्रशंसा की गई है।

परन्तु वैदिक काल में पराजित शत्रुओं की स्त्रियों का अपहरण ही होता था। ऋग्वेद की दान स्तुतियों से स्पष्ट है कि स्त्रियाँ चल संपत्ति की तरह दान में दी जाती थीं (8, 46, 33)। छान्दोग्योपनिषद् (5, 13, 2 और 6, 2, 7) में दासियों की चर्चा है। अत: यह निर्विवाद है कि अथर्ववेद के बाद दासी-प्रथा व्यापक रूप से प्रचलित थीं।

नारी निन्दा– ऋग्वेद में दो बार नारियों के स्वभाव की निन्दा की गई है। प्रथम बार इन्द्र की यह उक्ति-''स्त्रियों का मन समझाया नहीं जा सकता, उनकी बुद्धि चंचल होती है -स्त्रिया अशास्यं मन:। उत्तो अह क्रतुं रघुम् (8, 33, 17)। दूसरे स्थल पर उर्वशी पुरूरवा को समझाते हुए कहती है स्त्रियों की मैत्री स्थायी नहीं होती, उनका हृदय भेड़ियों जैसा होता है (10, 95, 25)। शतपथ ब्राह्मण (11, 5, 1,6) में यही उक्ति दुहरायी गई है। मैत्रायणी संहिता का एक उद्धरण (1, 10, 11) उस स्त्री को असत्य कहता है, जो पति द्वारा खरीदी गई है। शतपथ ब्राह्मण (15, 1, 1, 31) में स्त्री, शूद्र, कुत्ता और काला पक्षी चारों को असत्य घोषित किया गया है।

(9) खाद्य और पेय

वैदिक आर्यों का प्रमुख भोजन यव की रोटी और दूध-दही था। ऋग्वेद में यव का उल्लेख

अनेक स्थलों (1, 23, 15; 1, 125, 8; 2, 5, 14; 5, 83, 3) पर आया है। जौ को जाँत में पीसकर छलनी से उसे छानकर रोटी बनायी जाती थी। जौ का सत्तू भी बनता था, जो आर्यों का प्रिय भोजन था (10, 71, 2)। गेहूँ बहुत विरले ही खाते थे। वे न केवल उबाला हुआ चावल खाते थे, परन्तु आटे से बनी रोटी और केक भी खाते थे। भाष, मसूर, मुदम, सर्षप, तिल, घी, दूध, दही, आदि भोजन की मुख्य सामग्री थी। यजुर्वेद (18,12) के जिस मंत्र में यव, ब्रीहि, भाष, तिल, मुद्म, गोधूम, मसूर आदि का उल्लेख है उस मंत्र का द्रष्टा शुनः शेप है। धानाः शब्द का भी उल्लिखित अर्थ है जौ की लाई। करम्भ एक प्रकार का भोज्य पदार्थ था जो कि सिके हुए जौ के आटे को दही या घी में मिलाकर बनाया जाता था। यह भोजन पूषा देवता को बहुत प्रिय था (ऋग्वेद 1, 187, 16; 3, 52, 7; 6, 56, 01; 6, 57, 2; 8, 102, 2)। अनुप एक प्रकार की रोटी रहती थी जो जौ या चावल के आटे के साथ घी मिलाकर बनाई जाती थी (ऋग्वेद 3, 5, 27; 10, 45, 9 अपूपं देव घृतवन्तभग्ने)।

पक्ति— यह भी एक प्रकार की रोटी होती थी (ऋग्वेद 4, 24, 5; 4, 25, 6-7; 6, 29, 4) इन्द्रादि देवताओं के लिए इस रोटी के पकाये जाने का उल्लेख ऋग्वेद में मिलता है।

पुरोडाश (ऋग्वेद 4, 24, 5; 3, 52, 2) चावल के आटे की रोटी रहती थी जिसका उपयोग यज्ञ के कर्मकांड में आहुति आदि के लिए किया जाता था।

दूध व उसके बने विभिन्न पदार्थ भी भोजन के काम में लाये जाते थे। यह धारोष्ण भी पीया जाता था। दूध आर्यों का मुख्य पेय था। ऋग्वेद (1, 164, 28; 2, 14, 10; 4, 3, 9; 5, 84, 2; 100, 30, 13) में गाय के दूध को 'पयस्' कहा गया है। दूध से दही तैयार किया जाता था। दही को मथ कर मक्खन निकालते थे, तत्पश्चात् उसे पिघलाकर घी बनाते थे। मठे और दही को 'दधि' (ऋग्वेद 8, 2, 9; 9, 87, 1) कहा जाता था, जिसे सोम के साथ मिलाया जाता था। घृत का उल्लेख ऋग्वेद (1, 28, 4) में हुआ है। घृत का उपयोग अग्नि में आहुतियाँ देने के लिए भी होता था। मधुमक्खियों से शहद प्राप्त किया जाता थ। अक्षत धान का भी प्रयोग होता था। लाजा (भूना अनाज), दूध भात, दही, मट्ठा (दही, शहद, भात) भी भोज्य पदार्थ थे। ईख और कमल पौधे के विभिन्न भाग और फल भी खाद्य पदार्थ में शामिल थे (भी. के. अग्निहोत्र प्राचीन भारत पृ. 89-60; आर सी मजूमदार प्राचीन भारत पृ. 46)।

भोजन में शाकाहार और मांसाहार दोनों ही लिए जाते थे। मांसाहार के लिए मछली, चिड़िया, तीतर, भेड़, बकरे, भैंस और साँढ़ मारे जाते थे। कुछ विद्वान (ए. सी. दास-ऋग्वेदिक कल्वर पृ. 203-204) मानते हैं कि माँस के लिए गायों का भी वध होता था, परन्तु बाद में इसे निषिद्ध माना गया। गाय को तो ऋग्वेद में स्पष्ट शब्दों में अघ्न्या (1, 164, 27 और 40; 4, 1, 6; 5, 83, 8; 8, 69, 21; 19, 87, 16; यास्क-निरुक्त 11, 46) कहा गया है इससे स्पष्ट होता है कि गोहत्या यज्ञादि के लिए नहीं होती थी। इसके अतिरिक्त साँढ़, भैंसा आदि की बलि के बारे में जो मन्त्र उल्लिखित लिए गये हैं, उनके अर्थ के संबंध में मतभेद है। ऋग्वेद में स्थान-स्थान पर जहाँ कहीं यज्ञ का प्रकरण है पुरोडाश, क्षीरपाक, ओदन, अपूप आदि भोज्य पदार्थों के बनाये जाने का उल्लेख है, किन्तु मांसादि के पकाये जाने का उल्लेख कहीं नहीं आता। शिवदत्त ज्ञानी अपनी पुस्तक वेदकालीन समाज पृ. 106 में लिखते हैं कि इस संबंध में केवल अप्रत्यक्ष उल्लेख है, जिनके अर्थ के बारे में ही पर्याप्त मतभेद है। आर्यों के शाकाहारी

होने का प्रमाण 'पितु-सूक्त' से प्राप्त होता है, जिसमें पितु (भोजन) की प्रशंसा की गई है। इस सूक्त का देवता 'ओषधय: है, मांसाहार की ओर कहीं भी निर्देश नहीं है। उसमें शरीर को संबोधित करके कहा गया है—'हे शरीर! हम वनस्पतियों (शाकाहार) और जल का जो भाग भोजन के रूप में ग्रहण करते हैं, उससे तुम हृष्ट-पुष्ट बनो (1, 187, 8)। उसी सूक्त में आगे कहा गया है कि 'हम दूध और यव का कुछ भी भोजन ग्रहण करते हैं उससे हमारा शरीर पुष्ट बने (1, 187, 8)। अन्त में कहा गया है—'हे करम्भ (एक प्रकार का भोज्य पदार्थ) तथा औषधि (शाकाहार), तुम स्वास्थ्यवर्धक, शक्तिवर्धक और पुष्टिवर्धक बनो जिससे हमारा शरीर पुष्ट होवे। परन्तु बी. के. अग्निहोत्र पृ. 59-60 और आर. सी. मजूमदार, एन्शेंन्ट इण्डिया पृ. 46 में लिखते है कि श्राद्ध के अवसर पर बकरे, भेड़, तीतर और दूसरी चिड़ियों का मांस, मछली और समुद्र में रहने वाले दूसरे जीवों का मांस ब्राह्मणों के लिए परोसा जाता था। विशिष्ट अतिथियों का सत्कार मांस के बिना नहीं होता था। विद्यार्थी और विधवाओं के लिए मांस वर्जित था।

सोम और सुरा

आर्य लोग केवल दूध और पानी से अपनी प्यास नहीं बुझाते थे वे सुरा, धान और जौ से बना ब्रान्डी और सोम रस भी पीते थे। सोम का पौधा पर्वतों पर उगता था, मुंजवन्त पर्वत उसके लिए विशेष रूप से विख्यात था (ऋग्वेद 1, 93, 6; 3, 45, 2; 5, 36, 2; 5, 43, 4; 5, 85, 2; 9, 1, 18)। सोम के पौधे को दो पत्थरों के बीच में दबाया जाता था (ऋग्वेद 1/83 /6; 1/135/7)। कभी-कभी ऊखल में मूसल से कूटा जाता था (कीथ और मैकडोनल-वैदिक इन्डेक्स 2/476)। इसके बाद उसमें से स्त्रियाँ अपनी ऊँगलियों से रस निकालती थीं (ऋग्वेद 9/67 /6)। तत्पश्चात् सोम रस में पानी मिलाते तथा उसे एक कलश में छान लेते थे (ऋग्वेद 9 /67/9-12)। इस प्रकार छने हुए रस को दूध, दही या शहद के साथ मिलाते थे (ऋग्वेद 9/103/3)। यही रस देवताओं को दिया जाता था तथा लोग स्वत: भी पीते थे। ऋग्वेद का सम्पूर्ण नवाँ मण्डल और अन्य मंडलों के छ: सूक्त सोमरस की स्तुति में हैं। इससे स्पष्ट होता है कि वेदकालीन आर्य सोमरस को बहुत पसंद करते थे।

सुरा

सुरा एक प्रकार की नशीली शराब थी, जिसका ऋग्वेद में तिरस्कार किया गया है, क्योंकि उसके नशे में पाप और अपराध किये जाते थे (ऋग्वेद 7/86/6; 8/2/12)। परन्तु वेदकालीन समाज में पुरुषों के साथ स्त्रियाँ भी सुरा पीती थीं।

पान्त

यह भी ऋग्वेद (1/122/1; 1/155/1; 10/88/1) के अनुसार एक प्रकार का पेय या शराब था। यह देवताओं को दिया जाता था, इसलिए वेदों में भाष्यकार इसको सोम से संबंधित करते थे। किन्तु यह किसी प्रकार का पेय प्रतीत होता है।

उत्तर वैदिक युग में हम पाते हैं कि कृषि संबंधी उपयोगिता के कारण गोमांस भक्षण का भी निषेध होने लगा था। शतपथ ब्राह्मण में स्पष्ट घोषणा की गई है कि गाय और बैल पृथ्वी को धारण करते हैं, अत: उनका मांस नहीं खाना चाहिए (शतपथ ब्राह्मण 3, 2, 3)। फिर भी गोमांसाहार का पूर्ण त्याग

अभी नहीं हो सका है। विभिन्न पशुओं का मांस लोगों के जीवन का प्रमुख अंग था। हस्तिनापुर के उत्खनन से घोड़े, सूअर, भैंसा, गाय आदि पशुओं की हड्डियाँ प्राप्त हुई है (ऐन्शयेन्ट इण्डिया नं. 10-11 पृ. 85)। उत्तर वैदिक साहित्य में स्थान-स्थान पर अतिथि सत्कार के लिए महोक्ष (बड़ा बैल) अथवा महाज (बड़ा बकरा) के वध की व्यवस्था मिलती है (शत. ब्रा 3/4/1/2; सांखायन गृह्य सूत्र 2/15/2)।

सैकड़ों बैलों के वध का श्रेय अगस्त्य नाम के एक यजमान को दिया गया है (तैत्तिरीय ब्राह्मण 2/7/11/1; पंचविश ब्राह्मण 21/14/4)। विवाह के पुनीत अवसर पर भी मेहमानों के स्वागत के लिए गोवध होता था (ऋग्वेद 10, 85, 13 अघासु हन्यन्ते गावः)। शतपथ ब्राह्मण (3, 1, 2, 21) से ज्ञात होता है कि ऋषि याज्ञवल्क्य गोमांस खाने के शौकीन थे। सूत्रकाल तक हम गोमांस भक्षण की व्यवस्था पाते हैं। आपस्तम्ब ने श्राद्ध में गोमांस को पितरों की संतुष्टि के लिए सर्वोत्तम माना है (2, 7, 16, 26)। इस प्रकार स्पष्ट है कि भोजन सामग्री के रूप में भी पशुओं का महत्व पूर्ववत बना हुआ था।

गाय का दूध तथा उससे बनाये गये विविध पदार्थ तो भोजन के विभिन्न अंग थे ही। दूध सोमरस में मिलाने तथा क्षीरोदत्त बनाने के लिए भी अति उपयोगी था। इससे उत्पन्न दही और घी भोजन के काम में आता था।

(10) परिधान

वैदिक युग में सामान्यतया शरीर रक्षा के लिए तीन प्रकार के वस्त्र धारण किये जाते थे। एक भीतरी वस्त्र होता था, जिसे नीवि कहा गया है (अथर्ववेद 8/2/16), दूसरा ऊपरी परिधान होता था जिसे 'अधिवास' कहा गया है (तैत्तिरीय संहिता 16/1/1) और तीसरा परिधान जिसे (अथर्व 8/2/16) में केवल 'वासस्' शब्द द्वारा व्यक्त किया गया है, पगड़ी या साड़ी का बोधक है। अथर्ववेद (5, 3/10) में कहा गया है कि स्त्रियाँ चादर ओढ़ती थीं, जिसे 'द्रापि' कहा जाता था। द्रापि एक प्रकार का चोंगा भी होता था जो युद्ध के समय पहना जाता था। वरुण के बारे में कहा गया है कि 'हिरण्यय द्रापि' धारण करता है (ऋग्वेद 1/85/13)। प्रत्येक द्रापि आदि विभिन्न प्रकार के वस्त्र रहते थे, जिन्हें कदाचित् सुवर्ण आदि के तारों से सजाया जाता था। स्त्री और पुरुष दोनों अधोवस्त्र और ऊपर अंगरखा पहनते थे। उत्तरीय और मेखला धारण करने का भी प्रचलन था। स्त्रियाँ बहुधा साड़ी (वासस्) और पुरुष धोती पहनते थे। ऋग्वेद में (1/92/4-5; 2/3/6; 4/36/7) में सुवर्ण से सुसज्जित वस्त्र के लिए 'पेशस्' शब्द प्रयुक्त किया गया है। पेशस् वस्त्र को बुनने का काम स्रियाँ करती थीं, जिन्हें यजुर्वेद (30/9) में 'पेशस्कारी' कहा गया है। उनके किनारों पर आकर्षक कढ़ाई का काम होता था। स्त्रियाँ प्रायः लहंगा या घाघरा ही पहनती थीं। ऋग्वेद (2/6/6) में पेशस् नाम के ऐसे लहंगे का उल्लेख हुआ है, जिसे नृत्य के समय धारण किया जाता था, और जिस पर जरी का काम होता था। स्त्रियाँ सुन्दर और आकर्षक वस्त्र पहनना पसन्द करती थीं, जिससे वे अपने पति के लिए आकर्षण पैदा कर सकें। इसके अलावा रेशमी वस्त्र भी पहने जाते थे। मैत्रायणी संहिता (3/6/7) में 'मलमल वस्त्र' के अर्थ में 'क्षौम' शब्द का प्रयोग मिलता है। कभी-कभी स्त्रियाँ स्वर्णजटिल रेशमी वस्त्रों को भी धारण करती थीं। (ऋग्वेद 5/7/10)। ऋग्वेद में मरुतों को भी स्वर्णजटित रेशमी वस्त्रों को धारण किये हुए बताया गया है। जैसा कि आजकल भी प्रचलन एवं धार्मिक विधान है कि कोरे कपड़े को पहन कर ही धार्मिक कृत्यों को सम्पन्न करना चाहिये , वैदिक युग में यही

प्रथा थी।

विभिन्न स्रोतों से ज्ञात होता है कि तत्कालीन समाज में सादे और रंगीन दोनों प्रकार के वस्त्र पहने जाते थे। नीवी धारण करने और चुन्नरदार वस्त्रों को पहनने का विशेष रिवाज था। स्त्रियों के वस्त्रों में सामान्यत: नीवि, नीविबन्ध, चोली और साड़ी का प्रचलन था। इसीप्रकार पुरुषों के वस्त्रों में उत्तरीय या दुकूल (दुपट्टा) चोंगा, अर्धावस्त्र (धोती) और पगड़ी (वेष्टन) पहनने का प्रचलन था।

कपड़े साधारणतया चमड़े, ऊन, कपास आदि के बनाये जाते थे। आर्यों की प्रारंभिक अवस्था में कदाचित् चमड़े का अधिक उपयोग होता होगा। किन्तु फिर भी तपस्वी और जंगल के निवासी मृगचर्म, व्याघ्रचर्म आदि का उपयोग करते थे।

राजाओं के वस्त्रों और विशेष रूप से उनकी पगड़ियों के संबंध में अनेक तरह के उल्लेख देखने को मिलते हैं। वे उनके स्तर और श्रेणी के अनुसार अलग-अलग होती थीं। पगड़ियों के आधार पर उनके स्तर का सहज ही पता लग जाता था। राजाओं के अतिरिक्त पुरोहितों, योद्धाओं, श्रमिकों और सामान्य लोगों की पोशाकें भी संभवत: भिन्न-भिन्न हुआ करती थीं।

वस्त्र धारण की परवर्ती परम्परा

वेदों तथा वैदिक साहित्य में वस्त्र धारण के जो विभिन्न रूप जानने को मिलते है उनमें से कुछ पुष्टि सिन्धु सभ्यता की उपलब्ध सामग्री से और अधिकतर मौर्य, सातवाहन, गुप्त तथा आदि राजवंशों एवं राजाओं के समय की कृतियों और कला कृतियों से होती है। सिन्धु सभ्यता के जो उपकरण प्राप्त हुए हैं उनकी समीक्षा करने वाले इतिहासकारों एवं पुरातत्वज्ञों का कहना है कि तत्कालीन समाज में लम्बा कुर्ता या चोगा पहनने का रिवाज था। सामान्यत: लोग कन्धे पर एक वस्त्र डाले रहते थे और एक वस्त्र सिर पर बाँधे रहते थे। हाथी दाँत के कुण्डल और चमड़े के सफेद जूते पहनते थे, जिन पर बेल-बूटे बने रहते थे।

ऐतिहासिक तथ्यों से ज्ञात होता है कि प्राचीन भारत में बड़े पैमाने पर रूई का उत्पादन तथा व्यापार होता था। इसलिए वस्त्रों की सर्वत्र सुलभता एवं प्रचुरता थी। मेगास्थनीज ने मौर्याकुलीन भारत के रहन-सहन तथा वस्त्राभूषणों के संबंध में आंखों देखी बातें लिखी है। उन्होंने लिखा है कि भारतवासी आमतौर पर सादगी बरतने पर भी चटकीले और नाना प्रकार के रंगों से युक्त वस्त्र पहनते थे।

सातवाहनों के समय तक वस्त्रधारण की विभिन्न परम्पराएँ स्थापित हो चुकी थीं। रंगीन और चमकीले वस्त्रों के लिए लोगों में अधिक रुचि थी। वस्त्र धारण करना तब एक कला के रूप में ही नहीं, एक सांस्कृतिक प्रतीक के रूप में मान्य हो चुका था। समाज के विभिन्न वर्ग अपनी-अपनी परिस्थिति और जीविकोपार्जन की रीतियों के अनुकूल वस्त्रधारण करते थे सिर पर पगड़ी, गले में दुकूल (दुपट्टा), शरीर में चोंगा और अधोवस्त्र के रूप में धोती, पुरुषों की पोशाक बहुत प्रचलित थी। स्त्रियाँ नीवि, चोली (स्तनांशुक) साड़ी या लहंगा पहनती थीं।

महाकवि कालिदास की कृतियों में समाज द्वारा श्वेत, लाल, कषाय, और नीले वस्त्रों को धारण करने का उल्लेख हुआ है। सिल्क वस्त्रों का प्रचलन अधिक था। वे इतने महीन होते थे कि फेंक देने पर उड़ जाते थे वस्त्रों पर हंसों के जोड़े अंकित करने और उन्हें रत्नों से जटित करने का प्रचलन गुप्त

युग की विशेष देन है। आज की ही भाँति उस समय की स्त्रियाँ भी छींट की चोली पहनती थीं।

गुप्त साम्राज्य के बाद महाराज हर्षवर्द्धन के शासन काल में जानकारी के दो मुख्य साधन हैं। वैदिक, मौर्य और सातवाहन युग में रंगीन और तड़क-भड़क वाले वस्त्रों की प्रधानता दी जाती थी, वहीं हर्ष के समय सादे और विशेष रूप से ज्ञात होता है कि हर्ष का प्रतीहार कर्णित श्वेत, पुष्प के समान कंचुक पहने हुए था जिस समय स्वयं वाणभट्ट हर्ष से मिलने राजदरबार में गये थे, श्वेत वस्त्र धारण किये हुए थे। हर्ष के वस्त्रों का वर्णन करते हुए वाणभट्ट ने लिखा है कि वह हंसों के जोड़ों से युक्त दुकूल और निम्न भाग में रेशम से निर्मित फेन राशि के समान श्वेत वस्त्र धारण किये हुए था। हर्ष के शासन काल में समाज की यह सादगी, साधु जीवन की परिचायिका है।

हर्षकालीन भारत में' पुरुष सामान्यतः कमरबन्ध बाँधते थे। इसी प्रकार स्त्रियाँ सामान्यतः लम्बा तथा ढीला-ढाला वस्त्र धारण करती थीं, जो दोनों कन्धों सहित सारे शरीर को ढँके रहता था। पुरुष उत्तरीय (दुपट्टा) और धोती धारण करते थे।

ह्वेनसांग ने मध्ययुगीन भारत में धारण किये जाने वाले रूई, रेशम और ऊन के विभिन्न वस्त्रों का उल्लेख किया है। उसने लिखा है कि रेशमी (कौशेय), ऊनी (कम्बल) और जंगली पशुओं की खालों (रोलाली), ननिया (क्षौम) आदि के वस्त्रों को लोग धारण करते थे।

वाणभट् ने हर्ष की पुत्री राज्यश्री के विवाह के समय पहनाये गये रेशमी सूती और ऊनी तीनों प्रकार के वस्त्रों का उल्लेख किया है। उसने लिखा है कि वस्त्र बड़े महीन, स्पर्श द्वारा भाषित होने वाले, फूंक से उड़ जाने वाले और इन्द्रधनुष के समान रंगीन थे। उस समय के रेशमी वस्त्रों में चीरांशुक विशेष रूप से उल्लेखनीय है। हर्ष की माता यशोवती उसी का उपयोग करती थी। पुरुष-स्त्री दोनों की उसमें रुचि थी।

जहाँ तक समाज के अन्य लोगों का सम्बन्ध है, बौद्ध भिक्षु लाल, हिन्दु सन्यासी भगवा और जैन साधु सफेद तथा पीला वस्त्र धारण करते थे। राजा लोग रत्नजटित मुकुट और सामान्य लोग पगड़ी पहनते थे। राजा लोग गले में सफेद फूलों की माला भी धारण करते थे।

इसी प्रकार वैदिक युग और परवर्ती समाज में वस्त्र धारण की ये परम्पराएँ एवं प्रथाएँ न केवल भारत की सांस्कृतिक उपलब्धियों के द्योतक हैं, अपितु अपने आप में रोचक कहानी भी है। उसके अध्ययन अनुशीलन से तत्कालीन समाज की अभिरुचियों और आचार संबंधी बातों का भी पता चलता है। विभिन्न वर्गों और व्यवसायों से संबंध सामाजिकों की पहचान के माध्यम भी वस्त्र ही थे। साथ ही विभिन्न गुणों की सम्पन्नता और सांस्कृतिक अभ्युक्ति की जानकारी के माध्यम वस्त्राभूषण ही हुआ करते थे।

(11) केश विन्यास

केश-विन्यास या शरीर सज्जा के लिए वस्त्रों के अतिरिक्त केश-विन्यास और आभूषणों को धारण करने की प्रथा भी पुरातन काल से चली आ रही हैं यद्यपि वस्त्रों के प्रयोग की रीतियाँ अनेक रही हैं, तथापि उनकी अपेक्षा आभूषणों को धारण करने के ढंग अधिक प्रचलित थे। ऐसा प्रतीत होता है कि

वैदिक युग के समाज में धातु और रत्न दोनों प्रकार के आभूषण पहने जाते थे। संभवत: धनी लोग रत्न तथा स्वर्ण के और सामान्य लोग ताम्बे, हड्डियों और मिट्टी के आभूषण पहनते थे।

केश सज्जा के लिए (जूड़े) तैत्तिरीय संहिता (7, 3, 16) में शिखण्ड शब्द का प्रयोग हुआ है। काठक संहिता (23/1), तैत्तिरीय संहिता (1/5/6/6) और शतपथ ब्राह्मण (2, 5, 6/6) और (2, 6, 4, 1) में बालों की माँग काढ़ने और आँखों पर अंजन लगाने वाले शृंगार उपकरण को 'शल्ली' नाम से कहा गया है। बाद के समाज में प्रचलित 'शकाला' उसी का नामान्तर प्रतीत होता है।

वेदों और वैदिक साहित्य में कपर्द (वेणी और कपर्दिन् (वेणी बाँधना) शब्दों का प्रयोग हुआ है। ऋग्वेद (10, 85, 8) अथर्ववेद (6, 138, 1) में ओपश शब्द का लाक्षणिक प्रयोग हुआ है, जिसका आशय संभवत: वेणी है। 'ओपश,' कुम्ब और कुरीर शब्दों को ऋग्वेद (10, 85, 8) तथा अथर्ववेद (6, 138, 3) में विशेष रूप से वधू की केश-सज्जा तथा शृंगार के लिए प्रयुक्त किया गया है विवाह के समय कन्या को वस्त्र आभूषणों से सज्जित कर दान दिया जाता था (ऋग्वेद 10,28, 14; 9, 46, 3)।

आज की ही भाँति वैदिक युग में भी कृत्रिम वेणी बाँधने का प्रचलन प्रतीत होता है। ऋग्वेद (10, 86, 8) में चौड़ी वेणी वाला (पृथुष्टुक) और ढीली वेणी वाला (विपिपुष्टुक) शब्दों का प्रयोग हुआ है। ये दोनों प्रकार की वेणियाँ ऊपर से बाँधी जाती थीं। ऋग्वेद में एक कन्या को चार वेणियों वाली (चतुष-कर्पदा) कहा गया है। वाजसनेयी संहिता (121/56) में देवी सिनीवाली को सुन्दर वेणी (सुकर्पदा) कहा गया है। सुसज्जित ढंग से वेणी बाँधने के अतिरिक्त सादी वेणी भी बाँधी जाती थी, जिसके लिए वाजसनेयी संहिता (16/43) में 'पुलस्ति' शब्द का प्रयोग हुआ है। शतपथ ब्राह्मण (4/1/1) में भी वेणी बन्धन का उल्लेख है। इसी ब्राह्मण (6/5/1/10) में सुन्दर वेणी बन्ध तथा अलंकरण धारण करने वाली स्त्री की सुन्दरता की प्रशंसा की गई है।

स्त्रियों के अतिरिक्त पुरुष भी वेणी बाँधते थे, क्योंकि रुद्र और पूषन् दोनों को ऋग्वेद में (1/14/1; 6/55/2) वेणी युक्त कहा गया है।

वैदिक युग के समाज में पुरुषों की केश-सज्जा के लिए दाढ़ी-मूछों का भी महत्व था। यद्यपि दाढ़ी-मूछ पौरुष के द्योतक माने जाते थे, तथापि उन्हें शारीरिक सौन्दर्य का भी साधन माना जाता था। ऋग्वेद (2/11/12), अथर्ववेद (5/9/14) और शतपथ ब्राह्मण (12/9/1/6) में दाढ़ी मूछ दोनों के लिए 'श्मश्रु' शब्द का प्रयोग हुआ है और सिर के बालों से उनकी स्पष्ट मित्रता बतायी जाती है।

(12) आभूषण

केश सज्जा एवं वेणी-बन्ध के अतिरिक्त वेदों में विभिन्न प्रकार के आभूषण धारण करने के उल्लेख मिलते हैं। वैदिक युग में स्त्री व पुरुष दोनों आभूषणों को पसन्द करते थे। ऋग्वेद (2/33/10; 8/47/15; 5/19/3) में निष्क का उल्लेख है, जो कि गले में पहनने का एक सुवर्ण का आभूषण था। इसके सिक्के के रूप में भी उपयोग होता था। इस पर से यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है 'निष्क' गोल या चौकोन होगा, जिन्हें धागे में पिरो कर माला के रूप में गले में पहिना जाता होगा। कर्णों को सुशोभित करने वाले कुण्डलों का ऋग्वेद (8/78/3) में स्पष्ट उल्लेख हुआ है। वैदिक युगीन समाज में स्वर्ण कुंडल ऋग्वेद (1/122/2; 8/78/3) का कर्णभूषण शब्द कर्णाभूषण (कान की बालियों) का द्योतक

है, जिसको पुरुष धारण करते हैं। ऋग्वेद 9/98/3 में वक्ष पर निष्कों की माला धारण करने का संकेत हुआ है। ऋग्वेद (5/11/3) और अथर्ववेद (5/17/14) में निष्कग्रीव और ऐतरेय ब्राह्मण (8/22) में निष्कगण्ड का गले के स्वर्णाभूषण के लिए प्रयोग हुआ है।

वक्षस्थल पर धारण किये जाने वाले 'स्वर्णाभूषण' के लिए ऋग्वेद (1/166/10; 4/10/5) में 'रुक्म' कहा गया है। मोतियों का भी ऋग्वेद में (1/35/4; 10/68/1) नाम आता है जिससे स्पष्ट होता है कि मोतियों की माला पहनी जाती थी। स्रज् (माला) का भी आभूषण के रूप में उल्लेख है (ऋग्वेद 4/38/6; 5/53/4; 8/47/15)। 'खादि एक सुवर्ण का आभूषण था जिसे या तो पैरों में पहना जाता था (ऋग्वेद 1/166/9; 7/56/13)।

इन आभूषणों के अतिरिक्त मोती, मणि आदि का भी उल्लेख ऋग्वेद में आता है जो कि उस युग में बहुतायत से पाये जाते होंगे। सविता के रथ का मोतियों द्वारा सजाये जाने का उल्लेख ऋग्वेद (8/35/4) में है। इसी प्रकार घोड़े को भी मोतियों से सजाया जाता था (ऋग्वेद 1/126/4) मणि का उल्लेख भी ऋग्वेद (1/33/8; 122/14) में आता है जिसका आभूषण के रूप में उपयोग किया जाता था। यजुर्वेद में मणिकार (30/7) तथा हिरण्यकार (30/17) का उल्लेख आता है जिनका काम नाना प्रकार के आभूषण बनाने का था। हाथों में सुवर्ण के कड़े धारण करने का ऋग्वेद (5/8/13) में उल्लेख हुआ है। बाजूबन्द अथवा वलय का ऋग्वेद (5/59/11) के अन्य स्थलों पर भी वर्णन हुआ है। शांखायन श्रौतसूत्र (3/5/12) के अनुसार ये वलय स्वर्ण के हुआ करते थे। हाथों के अतिरिक्त पैरों की शोभा बढ़ाने वाले आभूषणों का भी ऋग्वेद (5/54/11) में उल्लेख है।

वैदिक युग के बाद परवर्ती साहित्य और कला-कृतियों में आभूषणों के विचित्र रूप तथा प्रकार देखने को मिलते हैं। इस प्रकार के आभूषणों में किरीट, वक्षसूत्र, स्तनसूत्र, स्वर्णसूत्र, मेखला (उदरबन्ध), कटिसूत्र (करधनी) पादजाल-विभूषण (पायजनियाँ) और नूपुर आदि का नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय है। उनके नामों से ही स्पष्ट है कि वे शरीर के किस अंग पर धारण किये जाते थे।

सातवाहन युग की संस्कृति में उत्तम वस्त्र धारण करने के अतिरिक्त आभूषण तथा प्रसाधन के बहुरूप देखने को मिलते है। उस युग में राजा लोग किरीट और मुकुट धारण करते थे। उनके रूप और प्रकार भाँति-भाँति के हुआ करते थे। स्त्री-पुरुष दोनों कानों में कुण्डल पहनते थे। स्त्रियों के कर्णाभरण कई तरह के होते थे यथा कुण्डल, कर्णपूर, कर्णाभूषण और मणिकुंडल आदि। सिर और कानों के अतिरिक्त कंठ, हाथों और पैरों में तरह-तरह के आभूषण पहने जाते थे। कंठ में स्वर्ण का सिक्का (निष्क) पहना जाता था। आज भी आदिवासी तथा पर्वतीय क्षेत्रों की महिलाएँ रजत मुद्राओं की मालाएँ धारण करती हैं। संभवतः प्राचीन काल में इसी भाँति सुवर्ण-मुद्राओं की मालाएँ पहनाने का प्रचलन था। हार इनसे भिन्न होते थे, जिनमें मुक्ता, माणिक आदि रत्न पिरोये जाते थे।

(13) अन्त्येष्टि-क्रियाएँ

वैदिक काल

अन्त्येष्टि क्रियाओं के पूर्ण विवरण या निरूपण के लिए हमें वैदिक काल से आरम्भ करना चाहिए। वैवाहिक विधि-विधानों के समान, अन्त्येष्टि से संबन्धित प्रथाएँ भी वैदिक काल में विभिन्न जनों में भिन्न-भिन्न रही होंगी। किन्तु हमें भिन्न-भिन्न कुलों और वंशों में प्रचलित विधि-विधानों का

कोई वर्णन प्राप्त नहीं है। उसके अतिरिक्त अन्त्येष्टि क्रियाओं में व्यवहृत ऋचाएँ, ऋग्वेद (10, 11-19) और अथर्ववेद (18) में जहाँ वे संकलित है यथाक्रम व्यवस्थित नहीं की गई हैं। तथापि हम संस्कार-सम्बन्धी निम्नलिखित बातों को सरलता से अनुमान कर सकते हैं :—

(अ) जब किसी मनुष्य की मृत्यु होती थी, तो उसे पुर्नजीवित करने के लिए मंत्रों का उच्चारण किया जाता था (अथर्ववेद 7, 53)। जब इसमें सफलता नहीं प्राप्त होती थी तब अन्त्येष्टि क्रियाएँ आरम्भ की जाती थीं।

(आ) शव को स्नान कराया जाता था। (अथर्ववेद 5. 19. 4) और शव को घर से बाहर भेजने पर कहीं मृत्यु घर वापिस न लौट जाए, इस भय से उसके पंजे सुतलियों के गुच्छे से एक साथ बाँध दिये जाते थे।

(इ) शव दो बैलों द्वारा ढोयी जानेवाली गाड़ी पर ले जाया जाता था (अथर्ववेद 2, 46 तैतिरीय आरण्यक 4, 1, 3) जिसके साथ उसके शोकार्त सम्बन्धी तथा सहकर्मी रहते थे (अथर्ववेद 8, 1, 19; 9, 2, 11)।

(ई) श्मशान में शव को वस्त्र पहनाये जाते थे (अथर्ववेद 18, 2, 57)।

(उ) मृत व्यक्ति का मुख गाय के गोबर से ढँक दिया जाता था। (अथर्ववेद 18, 2, 58)।

(ऊ) मृत व्यक्ति के हाथ से धनुष या यष्टि दूर कर दी जाती थी (अथर्ववेद 18, 2, 59-60)।

(ए) चिता पर उसके एक किनारे उसकी विधवा पत्नी लेट जाती थी (ऋग्वेद 10,18, 7, अथर्ववेद 18, 2, 1, 2)।

(ऐ) एक बकरे की बलि दी जातील थी और चिता प्रदीप्त कर दी जाती थी। स्त्रियाँ अपना शोक प्रकट करती थीं (अथर्ववेद 18, 2, 4-8)

(ओ) मृत व्यक्ति के शरीर के विभिन्न भागों से भिन्न-भिन्न स्थानों को जाने के लिए कहा जाता था (ऋग् 10, 16, 3)

(औ) अस्थियाँ संगृहीत कर गाड़ दी जाती थी तथा कभी-कभी अन्त्येष्टि का स्मरण खड़ा कर दिया जाता था (ऋग् 10, 18, 11-13)

(अं) मृतक व्यक्ति को विदाई का संदेश दिया जाता था (ऋग 12, 14, 7-8)

(अः) चिता की अग्नि के सामीप्य के कारण उत्पन्न अशौच के निवारण के लिए उसके सम्बन्धी स्नान करते थे (अथर्ववेद 12, 2, 40-42)।

(क) अपवित्र अग्नि को दूर करने के लिए घर में शुद्ध यज्ञीय अग्नि प्रदीप्त की जाती थी (अथर्ववेद 12, 2, 43- 45)।

(ख) अन्त्येष्टि क्रिया की समाप्ति पर क्रव्याद अग्नि, जो शव के दाह के लिए प्रदीप्त की

जाती थी, बाहर रख दी जाती थी (अथर्व 12, 2, 4)। अग्नि भी, गृहस्वामिनी के पति की होने पर घर को अपने जाल में दृढ़ता-पूर्वक बाँध लेती है, बाहर कर दी जाती थी (अथर्ववेद 12, 2, 38)।

जलाने का उद्देश्य

(क) दाह की प्रथा का एक अन्य उल्लेखनीय प्रयोजन मृत व्यक्ति के प्रेतत्व से मुक्ति की कामना रही होगी। प्रेत का गढ़ (शरीर) अग्नि द्वारा भस्म हो जाता था और वह इसकी ज्वालाओं से भयभीत हो जाता था।

(ख) वन घास तथा कूड़ा-करकट को अग्नि द्वारा ध्वस्त होते हुए देख कर शव के दाह में भी जनों ने उसकी उपयोगिता को पहचाना होगा।

(ग) यद्यपि आरम्भ में उक्त कारण अपेक्षाकृत अधिक क्रियाशील रहे किन्तु सबलतम कारण जिसने दाह की प्रथा को स्थायित्व प्रदान किया, वैदिककाल में प्रचलित भारतीय आर्यो का धार्मिक विश्वास था। भारतीय आर्य अग्नि को पृथ्वी पर स्थित देव-दूत तथा देवताओं को दी हुई आहुतियों को उन तक पहुँचाने वाला समझते थे। वे भौतिक वस्तुएँ जिनसे हव्य बनता था प्रत्यक्ष रूप से अपने स्थूल रूप में स्वर्गस्थ देवताओं तक नहीं पहुच सकती थी अतः अग्नि जैसे दिव्य दूत तथा आहुतियों के वाहक की सेवाओं की आवश्यकता प्रतीत हुई। यह तुलना मानव-शवों तथा यज्ञों में देवों के लिए बलि दिये हुए पशुओं के मृत शरीर तक व्यापक हो गई। मनुष्य की मृत्यु पर उनके शरीर को स्वर्ग भेज देना आवश्यक समझा जाने लगा। उसे अग्नि को सौंप देने से ही यह संभव था। अग्नि के द्वारा शरीर के ध्वस्त तथा भस्मावशेष होने पर पितरों और पूर्वजों में सम्मिलित हो सकता था। दाह की प्रथा के मूल में यह सबलतम धारणा निहित प्रतीत होती है,जो अनिवार्यत धर्म भाव से ओत-प्रोत थी। मनुष्य द्वारा अग्नि का आविष्कार तथा उसे अपने उपयोग में लाने के पूर्व शव या तो नियमतः फेंक दिये जाते थे, अथवा भूमि में गाड़ दिये जाते थे या मांस भक्षी पशुओं और पक्षियों के खाने के लिए खुले मैदान में छोड़ दिये जाते थे। अतः दाह की प्रथा अन्त में ही अस्तित्व में आयी होगी। पारसियों में, जो प्राचीन आर्यो की एक शाखा थे प्रबल अग्निपूजक हो जाने के पश्चात् भी पशु-पक्षियों द्वारा खाने के लिए शव को खुलेमैदान में छोड़ देने की प्रथा प्रचलित रही क्योंकि अग्नि उनके धर्म में इतनी पवित्र मानी जाती थी कि उसे शव जैसी अपवित्र वस्तु से भ्रष्ट करना वे उचित नहीं समझते थे। किन्तु वैदिक आर्य इस विषय में उनसे सहमत नहीं थे और क्योंकि वे अपने प्रिय मृतक को स्वर्ग पहुचाने तथा पितृ-लोक में स्थान देने के लिए अत्यन्त व्यग्र थे अतः उन्होंने उसकी नवीन परिस्थितियों के अनुरूप उसे अपेक्षाकृत गौरवपूर्ण तथा प्रकाशमान रूप में स्वर्ग में स्थानान्तरित करने के लिए मृत शरीर को अग्नि को सौपना पूर्णतः उचित समझा।

एक अन्य धार्मिक विश्वास भी था, जो दाह की प्रथा के प्रसार में सहायक हुआ प्रतीत होता है। यह विश्वास प्रचलित था कि भूत-प्रेत भूमि में मृत व्यक्तियों की आत्मा से उत्पन्न होते हैं। अतः लोगों ने व्यापक रूप से दाह की प्रथा के प्रसार और उसके द्वारा मृत व्यक्तियों को अपने कर्मो का दण्ड या पुरस्कार प्राप्त करने के लिए निर्ऋति या यम-लोक में भेजकर मृत्युलोक में उनकी संख्या कम कर देना आवश्यक समझा। शिशु जो शुद्ध तथा निष्पाप होते हैं और उच्चकोटि के साधु-सन्तों जो अपने जीवन

काल में ही दुष्ट प्रवृत्तियों पर विजय प्राप्त कर चुके होते हैं, और किसी भी प्रकार की हानि से रहित समझकर जिनके शव का निखात किया जाता है, के अतिरिक्त मृतात्मा के कल्याण के लिए हिन्दू आज भी दाह-क्रिया को नितान्त आवश्यक समझते हैं। किन्तु साधारण मनुष्यों तथा गृहस्थों के विषय में यह शवनिखात भय की दृष्टि से देखा जाता है और महात्मा की सद्गति के मार्ग में बाधक समझा जाता है हिन्दू दाह-क्रिया को और्ध्वदैहिक-कृत्य अर्थात् स्वर्ग की ओर गति के लिए आत्मा को शरीर से मुक्त करनेवाली क्रिया कहते हैं। दाह-क्रिया किये बिना मृत-आत्मा अपने भूतपूर्व निवासस्थान का चक्कर काटता रहता और बिना सान्त्वना के कष्ट पाता तथा प्रेत के रूप में महान् संकट में ग्रस्त रहता है यह विश्वास व्यापक है।

प्राक दाह विधि विधान

किशोरावस्था से कम आयु के शिशुओं और बालकों के शव की दाहक्रिया नहीं की जाती थी। मृत शिशुओं को कोमलतापूर्वक गाड़ दिया जाता है। आरण्यक में दिया हुआ प्रथम मन्त्र मृत्यु के तुरन्त पूर्व होम का उल्लेख करता है। किन्तु यह नियम उन्हीं के लिए अनिवार्य है, जिन्होंने अपने जीवनकाल में यज्ञीय अग्नियों को सुरक्षित रखा हो। बौधायन के अनुसार मृतक के दाहिने हाथ का स्पर्श कर गार्हपत्य अग्नि में शुद्ध घृत से पूर्ण चम्मच से चार आहुतियाँ देनी चाहिए। किन्तु भारद्वाज उक्त आहुतियाँ आहवनीय अग्नि देने का विधान करते हैं, और वे इस विषय में मौन हैं कि आहुतियाँ चार होनी चाहिए या नहीं। आश्वलायन के अनुसार उक्त आहुतियाँ आगे चलकर एक भिन्न क्रम में दी जानी चाहिए। हिन्दू-समाज में यज्ञ-प्रधान धर्म के ह्रास के साथ ही इस विधि का महत्व समाप्त हो गया और आजकल बहुत ही थोड़े रूढ़िवादी परिवारों में इसका अनुसरण किया जाता है, इसका स्थान नवीन पौराणिक तथा लोकप्रिय प्रथाओं ने ले लिया है, वे मरणासन्न व्यक्ति के मुख में तुलसी की पत्तियों के साथ जल की कुछ बूँदें या तुलसी-जल डालते हैं। बंगाल में एक अत्यन्त विलक्षण प्रथा विकसित हुई है। उसके अनुसार मरणासन्न व्यक्ति नदी की ओर ले जाया जाता है और मृत्यु के समय उसके देह का अधोभाग जल में डाल दिया जाता है यह क्रिया अन्तर्जली कहलाती है तथा बंगाल के आधुनिक संस्कारों का यह एक नितान्त अरूचिकर अंश है। बोलचाल की अलंकृत भाषा में इसे 'घाटमृत्यु' कहा जाता है। निम्नलिखित कारणों से स्पष्ट है कि यह प्रथा प्राचीन नहीं है। इस नकारात्मक युक्ति पर विचार करते हुए भारत के अन्य भागों में इसकी पूर्ण अनुपस्थिति और इस प्रथा के विषय में प्राचीनतम प्रमाण पुराण होने से यह निश्चयपूर्वक कहा जा सकता है कि इस प्रथा का उदय आधुनिक काल में हुआ (बौधायन धर्मसूत्र 1, 1)। सामान्यतः उद्धृत कोई भी प्रमाण, सोलहवीं शताब्दी के पूर्व का नहीं है, जिसमें इस प्रथा का विध्यात्मक कर्तव्य के रूप में विधान किया गया हो यह प्रथा सम्भवतः रघुनन्दन और उसके समकालीन कर्मकाण्डीय लेखकों के समय से अस्तित्व में आई है।

अर्थी

गृह्यसूत्रों के अनुसार होम के पश्चात् उदुम्बर की लकड़ी की एक अर्थी बनाकर उस पर रोयेंदार कृष्ण मृगचर्म का एक टुकड़ा बिछाकर सिर को दक्षिण की ओर तथा मुँह को ऊपर की ओर कर शव को उस पर लिटा देना चाहिए। आजकल अर्थी बाँस की बनायी जा सकती है, और कृष्ण मृगचर्म का

लोप ही हो गया है। पुत्र, भाई अथवा अन्य सम्बन्धी या अन्य कोई व्यक्ति जो शवदाह करने वाला हो उसे शव से पुराने वस्त्र छोड़ देने के लिए कहना चाहिए और समय के उपयुक्त नये वस्त्र पहनाना चाहिए: 'तू अपने उन वस्त्रों को दूर कर दे, जो तू अभी तक पहनता था, अपने किये हुए इष्ट और पूर्व यज्ञों, ब्राह्मणों को दी हुई दान-दक्षिणा और अपने बन्धुओं को बहुधा दिये हुए उपहारों को स्मरण कर।' इसके पश्चात् मृतक का शरीर बिना रंग के तथा न कटे हुए तथा किनारे से युक्त वस्त्र से ढँक दिया जाता है। शरीर ढँकने के समय यह मन्त्र दुहराया जाता है यह सर्व प्रथम तेरे समीप आता है मृतक व्यक्ति को परलोक में प्रवेश करने के लिए जींण वस्त्र को त्याग कर शुद्ध व नवीन वस्त्र धारण करने पड़ते हैं। तब शव को उक्त आवरण से ढँककर अर्थी पर रखते हैं, और श्मशान की ओर ले जाते है।

शव का उठाना

कतिपय आचार्यो के अनुसार शव वयोवृद्ध दासों द्वारा ले जाया जाना चाहिए तथा अन्य आचार्यो के अनुसार दो बैलों द्वारा ढोयी जानेवाली गाड़ी पर लाद कर ले जाना चाहिए। आपस्तंब गृहसूत्र 4 इस प्रयोजन के लिए विनियोज्य मन्त्र में कहा गया है, 'तुम्हारे जीवन के वहन के लिए मैं इन दो बैलों को गाड़ी में जोतता हूँ जिससे तुम यमलोक को जा सकते हो जहाँ पुण्यकर्मा लोग जाते है''। यह सूचित करता है कि प्राचीनतम प्रथा के अनुसार इस प्रयोजन के लिए गाड़ी का व्यवहार किया जाता था, मनुष्यों का नहीं। आश्वलायन-गृह्यसूत्र के अनुसार केवल एक ही बैल का व्यवहार किया जाता था। कुछ भी हो, प्राचीन सूत्रकार ब्राह्मण का शव ढोने के लिए शूद्र का उपयोग करने में कोई अरुचि नहीं दिखाते जैसे आधुनिक स्मृतियों में पाया जाता है। उक्त स्मृतियों के अनुसार मृतक के रक्त-संबंन्धयों के अतिरिक्त अन्य किसी व्यक्ति को यह कार्य नहीं करना चाहिए तथा किसी विजातीय व्यक्ति को उसे स्पर्श करने से अशौच हो जाता है जिसका निवारण केवल प्रायश्चित्त से ही हो सकता है। यह पक्षपात सर्वप्रथम मनु के समय में प्रकट हुआ। वे कहते है सम्बन्धियों के जीवित रहते हुए मृतक ब्राह्मण को, शूद्र से न ढुलवाये क्योंकि शूद्र के स्पर्श से दूषित होने के कारण अन्त्येष्टि-क्रिया अस्वर्ग्य हो जाती है मनुस्मृति 5, 104। उत्तरवर्त्ती आचार्य भी इसी प्रकार शूद्र-स्पर्श पर बल देते है।

शव यात्रा

शवशत्रा का नेतृत्व साधारणतः मृतक का ज्येष्ट पुत्र या प्रमुख शोकार्त सम्बन्धी करता है। पारस्कर गृह्यसूत्र 3, 10 के अनेक स्थानों में शवयात्रा का नेतृत्व करनेवाला व्यक्ति अपने हाथ में जलती हुई लकड़ी लिए रहता है। जिसे वह गार्हपत्य अग्नि से प्रदीप्त करता है। उसके पीछे अर्थी रहती है जिसका अनुसरण मृतक के सम्बन्धी और मित्र करते है। गृह्यसूत्रों के अनुसार दो वर्ष से अधिक आयु के सभी सपिण्डों को शव के साथ श्मशान तक जाना चाहिए पारस्कर गृह्य सूत्र 3, 10, 8। शवयात्रा में समिलित होने वालों का क्रम उनकी आयु के अनुसार होता है, अर्थात् वयो-वृद्ध आगे आगे चलते हैं और अन्य लोग उनके पीछे। प्राचीन काल में स्त्रियाँ भी अपने केशों को बिखेर व अस्त-व्यस्त कर और कन्धों को धूलि-धूसरित कर श्मशान जाती थीं। मृतक की कनिष्ट पत्नी उनका नेतृत्व करती थी बौधायन धर्मसूत्र 1, 4, 3। किन्तु आजकल यह प्रथा लुप्त हो चुकी है। यात्रा आरम्भ होते समय उनका अग्रणी अधोलिखित मन्त्र की पुनः पुनः आवृति करता है, 'पूषा, जो मार्ग को भलीभाँति जानता है, जिनके

उत्तम प्रशिक्षित पशु हैं, और जो लोक का रक्षक है वह तुम्हें यहाँ से ले जा रहा है, वह तुम्हें पितृ-लोक में स्थानान्तरित कर दे; अग्नि जो यह जानता है, कि तुम्हारे लिए क्या उचित है यहाँ से ले जाये।'

अनुस्तरणी

प्राचीन काल में शव-यात्रा का सर्वाधिक महत्वपूर्ण सदस्य अनुस्तरणी या राजगवी संज्ञक एक पशु होता था (बौधायन गृह्य सूत्र 1, 4, 1)। इस प्रयोजन के लिए एक विशेष प्रकार की गाय चुनी जाती थी। उसका स्थान एक बकरा भी ले सकता था। पशु निम्नलिखित मन्त्र के साथ लाया जाता था, 'लोकों के रक्षक, यह तेरे लिए बलि। सूत्रकारों के अनुसार गाय की बलि देनी चाहिए, किन्तु बलि के समय यदि कोई घटना घट जाती तो पशु मुक्त कर दिया जाता था (आपस्तम्ब गृह्य सूत्र 4, 1)। बलि में विनियोज्य मन्त्र इस प्रकार है—'मृतक के साथी हमने मृतक के अशेष पापों का तेरे द्वारा निराकरण कर दिया है जिससे हमें कोई भी पाप अथवा वार्धक्य के कारण आनेवाली दुर्बलता न आक्रांत करे।'' यदि गाय को मुक्त करना आवश्यक हो जाता था तो उसे तीन बार चिता की प्रदक्षिणा कराई जाती थी। जब कि प्रमुख व्यक्ति प्रत्येक बार मंत्र को दुहराता था। तब वह एक अन्य मंत्र द्वारा शुद्ध की जाती थी, जो इस प्रकार है—''तू अपने दूध द्वारा् मेरे कुल में रहनेवालों, मृतों नवजात शिशुओं तथा भविष्य में जन्म लेने वालों के लिए तृप्ति का साधन हो।'' अन्त में गाय इन शब्दों के साथ मुक्त कर दी जाती थी, ''यह गाय रुद्रों की माता, वसुओं की दुहिता, आदित्यों की स्वसा और हमारे सुख की धात्री हैं, अतः मैं गम्भीरतापूर्वक सभी बुद्धिमान् मनुष्यों से कहता हूँ कि इस शुद्ध तथा अहानिकर गाय को मत मारो, उसे पानी पीने और घास चरने दो। ओम्! मैं इसे मुक्त करता हूँ।'' सम्प्रति किसी भी प्रयोजन के लिए गौ-वध पूर्णतः' निषिद्ध और उसके स्थान पर मृत्यु के तत्काल पूर्व तथा श्मशान में शव-दाह के पूर्व गौ का दान किया जाता है।

ओल्डेनबर्ग के मतानुसार शव के दाह के समय गौ या बकरे की बलि देने में स्थानापन्नता का भाव निहित प्रतीत होता है। अग्नि बकरे के मांस को भस्म कर डालता है, जो शव को आवृत कर लेता और इस प्रकार मृत व्यक्ति को बचा लेता है। उसकी धारणा ऋग्वेद (10, 16, 4) पर आधारित है जो इस प्रकार है—''अज तेरा भाग है, तू इसे अपने तप से तृप्त कर, तेरी ज्वाला इसे तप्त करें। हे जातवेदस् तू अपनी भीषण ज्वालाओं से इसे सुकृतों के लोक में वहन कर। अग्नि की ज्वालाओं से इन गायों को वर्म बनाकर अपनी रक्षा कर उनकी स्थूल मेदा से तू पूर्णतः आच्छन्न हो जा। इस प्रकार अपनी दीप्त ज्वालाओ से तुझ पर आक्रमण करने के लिए उद्यम सफल न हों।

जहाँ तक ऋग्वेदकालीन विचारधारा का सम्बन्ध है, उक्त जर्मरन विद्वान् का मत युक्तियुक्त है। किन्तु सूत्रकाल में विचारधारा में परिवर्तन हुआ और उक्त बलियाँ मृतक की भावी लोक की यात्रा तथा परलोक में निवास के समय भोजन के रूप में दी जाती थीं, जैसा कि उनकी सहवर्ती ऋचाओं से स्पष्ट है (आपस्तब गृह्य सूत्र 4)। परवर्ती काल में यही धारणा दान के रूप में विद्यमान रही, यद्यपि परलोक को भोजन भेजने के प्रकार में परिवर्तन हुआ। प्राचीन काल में अन्त्येष्टि की अग्नि उसे अपनी उर्ध्वगामी ज्वालाओं द्वारा ले जाती थी। आजकल यह ब्राह्मणों की रहस्यपूर्ण शक्ति के माध्यम से किया जाता है। पुनश्च गाय या बकरा केवल भोजन के लिए ही बलि नहीं दिये जाते थे, वे परलोक की यात्रा में मृतक की सहायता तथा मार्गदर्शन भी करते थे, जैसा कि उनके नाम अनुस्तरणी या वैतरणी शब्द से

ज्ञात होता है।

मृतक के घर से श्मशान-भूमि तक की यात्रा तीन भागों में विभक्त है और शवयात्रा प्रत्येक विराम पर रूकती है, जहाँ विशेष विधि विधान किये जाते है। मार्ग में यमसूक्तों का पाठ किया जाता है किन्तु इस समय शव को ले जाते समय साधारणतः हरि या राम के पवित्र नाम को जपने की प्रथा प्रचलित है। जनसंख्या का बहुत बड़ा भाग न तो मार्ग में विहित विधि विधान ही सम्पन्न करता है और न ही यम की स्तुतिपरक वैदिक ऋचाओं का उच्चारण करता है।

दाह

श्मशान-भूमि में पहुँचने के पश्चात् चिता बनाने तथा गड्ढा खनने के लिए स्थान चुना जाताहै। शवदाह के पूर्व श्मशान-भूमि में की जानेवाली क्रियाओं की ओर उक्त आरण्यक में संकेत नहीं किया गया है, जिससे प्रतीत होता है कि आरम्भ में ये क्रियाएँ मन्त्रों के विना ही की जाती थीं। किन्तु गृह्यसूत्र इस विषय में, विशेषतः चिता बनाने के विषय निश्चित नियमों का विधान करते हैं। स्थान के चुनने के विषय में निर्दिष्ट नियम देवताओं के लिए बलि देने के स्थानसम्बन्धी नियमों से बहुत कुछ मिलते-जुलते हैं। इस प्रकार विधिवत चुना स्थान शुद्ध किया जाता है, और भूत प्रेतों के निवारण के लिए एक मन्त्र का उच्चारण किया जाता है। आश्वलायन के अनुसार गड्ढा बारह अँगुल गहरा, पाँच बित्ता चौड़ा, और इतना लम्बा होना चाहिए जितना कि शव के हाथों को ऊपर उठाने पर प्रयोग में आनेवाले ईंधन का प्रकार, चिता की माप तथा निर्माण और अन्य संबंद्ध नियम धार्मिक ग्रन्थों द्वारा निर्धारित हैं और शोकार्त संबन्धियों आदि के स्वेच्छाचार के लिए कोई अवकाश नहीं छोड़ा गया है। कतिपय लेखकों के मतानुसार शव की कुक्षि को तोड़ देना चाहिए और उसकी अंतड़ियों को घी से भर कर उसे कुश से सी देना चाहिये (बौधायन धर्मसूत्र 2, 6)। इसके मूल में शव को शुद्ध करने और दाह को अधिक सुविधाजनक बनाने की भावना निहित थी। आगे चलकर यह प्रथा असंस्कृत तथा निषिद्ध समझी जान लगी। आजकल मृतक के केशों और नखों का कृन्तन और जल से शव का प्रक्षालन शुद्धि के लिए समझा जाता है। अब शव चिता पर रखा जाता है। ब्राह्मण व्यक्ति के शव के हाथ में एक स्वर्ण-पिण्ड, क्षत्रिय के हाथ में धनुष, और वैश्य के हाथ में मणि होना चाहिए वैदिक सूत्रकालों में जब प्रत्येक बात नियमानुसार की जाती थी अनुस्तरणी गाय या बकरा जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है, या तो बलि दे दिया जाता या मुक्त कर दिया जाता था। इस समय यह विधि पूर्णतः अव्यवहृत हो चुकी है।

विधवा का चिता पर लेटना

इस प्रसंग में विधवा के अपने मृतक पति के साथ चिता पर लेटने की प्रथा का उल्लेख करना आवश्यक है, जो यद्यपि इस समय लुप्त हो चुकी है, किन्तु प्राचीन काल में गृह्यसूत्रों के युग तक प्रचलित थी (बौधायन धर्मसूत्र 1, 8)। बौधायन के अनुसार पत्नी को शव के वाम पार्श्व में लेटना चाहिए। आश्वलायन का मत है कि वह उत्तर की ओर सिर के निकट रखी जानी चाहिए। तब अग्निदान करने वाले व्यक्ति को मृतक को इस प्रकार सम्बोधित करना चाहिए, 'हे मर्त्य! यह स्त्री (तुम्हारी पत्नी) भावी लोक में तुम्हारे साथ संयुक्त होने के लिए शव के समीप लेटी है। वह सदैव पतिव्रता स्त्री के पुराणधर्म का पालन करती नही है। उसे इहलोक में रहने की अनुमति प्रदान करो और अपनी सम्पत्ति

अपने वंशजों के लिए छोड़ दो/मृतक के छोटे भाई, शिष्य अथवा सेवक या दास को चिता की ओर बढ़कर स्त्री का बायाँ हाथ पकड़कर उसे चिता से उतरने के लिए कहना चाहिए, 'हे नारी, उठ तू निष्प्राण (गतासु) व्यक्ति के समीप लेटी है; तू इस जीवलोक में आ, अपने गतासु पति को त्याग कर उस व्यक्ति से विवाह कर जो तेरा पाणिग्रहण करे (हस्तग्राभस्य) और तुझसे विवाह के लिए इच्छुक (दिधिषोः) हो (आपस्तम्ब गृह्यसूत्र 4, 24)।

उक्त प्रथा के सन्दर्भ में उच्चारण की जाने वाली ऋचाएँ सर्वप्रथम ऋग्वेद (10, 18, 8, 9) और अथर्ववेद (18, 3, 1-2) के अन्त्येष्टि सूक्तों में उपलब्ध होती हैं इसमें हम सतीप्रथा का कर्मकाण्डीय अवशेष पाते हैं। प्राचीनतर काल में मृत व्यक्ति को प्राप्त उपहार उसके शव के साथ गाड़ या जला दिये जाते थे। इन उपहारों में भोजन, अस्त्र-शस्त्र, वस्त्र, घरेलू पशु आदि होते थे यदा-कदा दास और पत्नियाँ भी मृतक के साथ जला या गाड़ दी जाती थीं। अथर्ववेद (18, 3, 1) में इसे पुराणधर्म या प्राचीन प्रथा कहा गया है। किन्तु यह अमानवीय प्रथा ऋग्वेदकाल में प्रचलित नहीं रही थी। विधवा के चिता पर लेटने की औपचारिकता अभी भी शेष थी। गृह्यसूत्र भी विधवा के वास्तविक दाह के स्थान उक्त कर्मकाण्डीय स्थानापन्न प्रथा का ही विधान करते हैं। ऋग्वेद के ही काल से कर्मकांडीय साहित्य जीवित विधवा के दाह के पक्ष में नहीं है। पद्धतियों और प्रयोगों ने इस प्रथा का पूर्णतः अन्त ही कर दिया, यहाँ तक कि विधवा को श्मशान-भूमि में जाकर दाहक्रिया में सम्मिलित होने की भी आवश्यकता न रही। किन्तु सतीप्रथा का पूर्ण अन्त न हो सका और आगे चलकर कुछ विशिष्ट कुलों और जनों में यह पुनर्जीवित हो उठी। (यह मुख्य रूप से राजपूतों में प्रचलित थी। 1835 में लॉर्ड विलियम वेंटिक ने अन्तिम रूप से इस प्रथा का अन्त कर दिया है)।

दाहः एक यज्ञ

इस प्रकार आरम्भिक क्रियाओं के समाप्त होने पर दाह आरम्भ होता है। जो उस आवहनीय अग्नि में दी हुई आहुति समझी जाती है और जो यज्ञीय आहुति के रूप में शव को स्वर्ग पहुँचाती है। जब चिता प्रदीप्त होने के लिए प्रस्तुत हो जाती है तो उसमें इस प्रार्थना के साथ अग्नि दी जाती है, 'हे अग्ने! इस देह को तू भस्म न कर न इसे कष्ट दे और न इसकी त्वचा और अवयवों को इतस्ततः विकीर्ण ही कर। जातवेद! जब यह शरीर पूर्णतः ध्वस्त हो चुके तो इसकी आत्मा को पितृलोक में ले जा (ऋग्वेद 10, 16,1)। इस प्रार्थना के तत्काल पश्चात् मृतक के विभिन्न अंगों को सम्बोधित किया जाता है, जो इस प्रकार है, ''नेत्र सूर्य के निकट जाये; प्राणवायु वायु-मण्डल में विलीन हो; अपने पुण्य कर्मो के अनुरूप तू स्वर्ग, पृथ्वी या जलीय किसी भी लोक को, जो तेरे लिए कल्याणप्रद हो, जा, तुझे वहाँ भोजन प्राप्त हो, और तू वहाँ सशरीर निवास कर (अथर्ववेद 18, 2, 7)। यह एक नितान्त हृदयवेधक दृश्य है, जब मृतक को उसकेजीवित सम्बन्धी भविष्य में उसके सुखार्थ पूर्ण व्यग्रतापूर्वक सदा के लिए परलोक विदा करते हैं।

सूत्रकाल में गृहस्थ द्वारा रखी हुई तीन या पाँच अग्नियों की ज्वालाओं से दाह होता था और यह भविश्यवाणी की जाती थी, कि मृतक दाह के पश्चात् किस लोक में जायेगा। इसका ध्यान रखा जाता था कि सर्वप्रथम किस अग्नि ने मृतक के शरीर को स्पर्श किया, और उसके आधार पर यह तर्क-वितर्क

किया जाता था कि मृतक ने देवलोक, पितृलोक या अन्य किसी लोक को प्रस्थान किया (आपस्तब गृह्य सूत्र 4, 2-4)। आजकल न तो विविध प्रकार की अग्नियाँ ही घर में रखी जाती हैं और न मृतक के सम्बन्धी ही उसके भावी लोक के विषय तर्क-वितर्क करते हैं।

कतिपय वैदिक शाखा के अनुयायियों में एक प्रथा प्रचलित है जिसके अनुसार घुटने तक गहरा एक गड्ढा खोदा जाता है। परम्परा इसका स्पष्टीकरण इस प्रकार करती है कि मृत यक्ति गड्ढे से उठता है और वाष्प के साथ स्वर्गलोक को चला जाता है।

अन्य वैदिक शाखाओं में प्रचलित प्रथाओं के अनुसार मृतक के शोककुल सम्बन्धी चिता को स्वतः जलने देने के लिए छोड़ देते हैं और दाह-क्रिया करनेवाला व्यक्ति चिता के उत्तर में तीन गड्ढे खनता, उन्हें कंकड़ों और बालू से चिहिन्त करता और उन्हें विषम-संख्यक घड़ों में लाये हुए पानी से भरता है। शवयात्रा में सम्मिलित व्यक्तियों से शुद्धि के लिए उन गड्ढों में स्नान करने की प्रार्थना की जाती है। इसके पश्चात पलाश की शाखाओं से अलंकृत कर एक जुआ, जिसका ऊपरी भाग एक कमजोर सुतली से बँधा रहता है, भूमि पर रख दिया जाता है। शोकार्त व्यक्तियों को उस पर से होकर निकलना पड़ता है अन्त में दाहक्रिया करने वाले उस पर से होकर निकलते हैं और जुए को हटाकर सूर्य का स्तवन करते हैं। (आपस्तम्ब गृह्यसूत्र 4, 2-4)।

लौटना

इसके पश्चात् शव के साथ श्मशान-भूमि जानेवाले लोग बिना आपस में कुछ देखे लौट पड़ते हैं। उनसे शोक की अभिव्यक्ति न होने देने, सिर झुकाए हुए चलने, परस्पर एक दूसरे को सान्त्वना देते हुए, तथा उत्तम कथाएँ कहते हुए चलने के लिए कहा जाता है (पारस्कर गृह्य सूत्र 3, 10)। कहा गया है कि अश्रु-पात मृतक को दग्ध कर देते है (ऋग्वेद 8, 56)। महाभारत से हमें ज्ञात होता है कि व्यास ने अपने भतीजे की मृत्यु के लिए विलाप करने पर युधिष्ठर की भर्त्सना की थी।

उदक कर्म

इसके पश्चात् उदक कर्म या मृतक को जल देने की क्रिया आती है यह अनेक प्रकार से की जाती है। एक आचार्य के अनुसार मृतक की सातवीं या दसवीं पीढ़ी पर्यन्त सभी सम्बन्धी निकटतम नदी या तालाब में स्नान कर अपने को शुद्ध और प्रजापति की स्तुति करते थे। स्नान करते समय वे केवल एक ही वस्त्र पहने रहते थे और यज्ञोपवीत दाहिने कन्धे पर लटकते रहते थे। अनेक आचार्य विधान करते हैं कि बिखरे या अस्त-व्यस्त और देह को धूलि-धूसरित कर लेना चाहिए। शोकार्त व्यक्ति अपना मुख दक्षिण की ओर कर पानी में डुबकी लगाते हैं और मृत व्यक्ति का नाम लेते हुए उसे जल की अंजलि देते हैं। तब वे पानी से बाहर आकर सूखे वस्त्र धारण करते हैं और पहले, पहने हुए वस्त्रों को उतार कर उत्तर की ओर फैलाते है। एक आधुनिक प्रथा के अनुसार उदक-कर्म के पश्चात् एक अत्यन्त मनोरंजक क्रिया की जाती है। स्नान के तुरन्त पश्चात् कौवों के लिए उबले हुए चावल और कलाय (मटर) के कुछ दाने भूमि पर बिखेर दिये जाते हैं। यह उस आदि विश्वास की स्मृति दिला देता है जिसके अनुसार मृतक व्यक्ति पक्षियों के रूप में प्रकट होता है। पक्षियों के साथ मरुतों (पितरों की एक शाखा) की तुलना

से इस धारणा की पुष्टि होती है (ऋग्वेद 1, 58, 7)।

शोकार्त्तों को सान्त्वना

स्नान के पश्चात् मृतक के सम्बन्धी एक स्वच्छ और पवित्र घास से युक्त स्थान की ओर चले जाते हैं। इतिहास और पुराणों से अभिज्ञ व्यक्ति मृत व्यक्ति की प्रशंसा और प्राचीन साहित्य की सान्त्वना देनेवाली कथाओं से शोकार्तों को ढाढ़स बँधाते हैं पारस्कर गृह्यसूत्र 10, 22। वे सूर्यास्त अथवा प्रथम नक्षत्र प्रकट होने के पूर्व गाँव को नहीं लौटते (वही 3, 16, 35)। कतिपय लेखकों के अनुसार वे सूर्योदय के पूर्व घर नहीं जाते पारस्कर गृह्य सूत्र 3, 10, 36। तब युवक पहले चलते हैं और वृद्ध पीछे। यह प्रथा शवयात्रा के श्मशान-भूमि की ओर प्रस्थान करने के क्रम के ठीक विपरीत है। अपने घर पहुँचने पर भीतर प्रवेश करने के पूर्व वे स्वयं को शुद्ध करने के लिए पत्थर, अग्नि, गोबर, अन्न, तिल के बीज, जल और तेल का स्पर्श करते हैं। अन्य आचार्यो के अनुसार घर के द्वार पर वे पिचुमण्ड अथवा नीम की पत्तियाँ चबाते, अपना मुख स्वच्छ करते, जल, अग्नि, गोबर, अन्न, तिल के बीज, जल और तेल का स्पर्श करते हैं। (पारस्कर गृह्य सूत्र 3, 10, 24, 3)।

IV. आर्यों का राजनैतिक जीवन

राजनैतिक जागृति

प्राचीन भारत में वैदिक काल से ही समाज पर्याप्त रूप से प्रगतिशील हो चुका था। उस युग में सांस्कृतिक जीवन के विभिन्न पहलुओं का सम्यक् विकास किया गया था। इस विकास में राजनीति को भी महत्वपूर्ण स्थान प्राप्त था। ऋग्वेदादि वैदिक साहित्य के आलोचनात्मक अध्ययन से तत्कालीन राजनैतिक विकास का पता लगता है। वेदों में राजा, सभा, समिति, राजकृत, राजा का चुनाव, राजाओं का पदच्युत किया जाना आदि के उल्लेख से तत्कालीन राजनैतिक जागृति का स्पष्ट दिग्दर्शन होता है। हमें पता लगता है कि राजा पर प्रजा का पर्याप्त नियंत्रण रहता था। प्रजा में पूरी राजनैतिक जागृति थी। वेदों में वर्णित सभा व समिति राजा का चुनाव भी करती थी। वैदिक काल का यह राजनैतिक विकास उत्तरोत्तर वृद्धिगत होता रहा, तथा ईसा की 9वीं या 10वीं शताब्दि तक राजतन्त्र व प्रजातन्त्र के अन्तर्गत सुविकसित शासन-प्रणाली, विभिन्न शासन संस्थाएँ एवं संविधान, तथा तद्विषयक कितने ही राजनैतिक सिद्धान्त विकसित किसे गये।

प्राचीन भरतीय राजनैतिक संस्थाओं का इतिहास वैदिक युग से ही प्रारंभ होता है। वैदिक व पौराणिक साहित्य के तुलनात्मक अध्ययन से हमें प्राचीन भारत के महत्वपूर्ण राजवंशों का पता चलता है। सूर्य तथा चन्द्रवंश की विभिन्न शाखाओं के कितने ही राजाओं ने भारत के विभिन्न भागों को जीतकर अपना साम्राज्य स्थापित किया था, व चक्रवर्ती की पदवी प्राप्त की थी। इक्ष्वाकु, शर्याति, नाभानेदिष्ट, पुरूरवा, ऐल, ययाति, पूरु, यदु, दुह्यु, भरत, कुरु आदि प्राचीन भारत से महत्वपूर्ण राजा थे, जिनका उल्लेख ऋग्वेद में आता है और जिनकी कीर्तिगाथा पुराणों ने गाई है।

सांस्कृतिक पृष्ठभूमि

प्राचीन भारत में सामाजिक जीवन की संस्कृति पृष्ठभूमि के अनुरूप ही राजनैतिक जीवन का विकास हुआ था। सांस्कृतिक जागृति ने राजनीति को जन्म दिया था। राजपदादि विभिन्न राजनैतिक संस्थाएँ वैदिक काल से लोकहित व लोककल्याण की दृष्टि से विकसित हुई थीं। सभ्यता की प्रारंभिक अवस्था

के कदाचित् वैयक्तिक महत्वाकांक्षा, वैयक्तिक स्वार्थ, पाशविक बल आदि की प्रेरणा से राजनैतिक जीवन का प्रारम्भ हुआ हो, किन्तु वैदिक युग में तो परिस्थिति बिल्कुल बदल चुकी थी। वैदिक साहित्य के आलोचनात्मक अध्ययन से यह स्पष्ट हो जाता है कि जीवन के प्रत्येक पहलू को सांस्कृतिक आधारशिला पर आश्रित किया गया था। तत्कालीन राजनैतिक जीवन भी सांस्कृतिक पृष्ठभूमि पर आधारित था। वैदिक युग में बहुत से राजा हुए। वे परस्पर तथा दस्युओं से युद्ध किया करते थे, किन्तु जहाँ तक उनका अपनी प्रजा से सम्बन्ध था उन्हें राजकाज में जनकल्याण, लोकहित आदि का पूरा ख्याल रखना पड़ता था। तत्कालीन प्रजा अपने राजनैतिक अधिकारों के प्रति पूर्णरूप से जागरूक रहती थी। सांस्कृतिक विकास व दार्शनिक मनोवृत्ति के परिणामस्वरूप समाज में इतना मनोबल विकसित हो गया था कि किसी भी अत्याचार या शोषण का सफल विरोध करने के लिए वह तैयार रहता था। वह किसी भी रूप में दासत्व के बन्धन में फँसना नहीं चाहता था। वह न केवल आध्यात्मिक दृष्टि से किन्तु भौतिक व ऐहिक दृष्टि से भी समस्त बन्धनों को तोड़कर सच्चे सुख की दिशा में अग्रसर होना चाहता था।

(क) राजनैतिक व्यवस्था

वैदिक साहित्य के आलोचनात्मक अध्ययन से स्पष्ट होता है कि तत्कालीन राजनैतिक व्यवस्था की इकाई ग्राम था, जिसका सर्वोपरि अधिकारी ग्रामणी था। बहुत से कुलों से मिल कर ग्राम बनता था। पारिवार या कुल का मुखिया गृहपति कहलाता था जिसकी सत्ता पारिवारिक जीवन में सर्वोपरि थी। पारिवार के सदस्य उसके आधिपत्य में रहते थे। बहुत से ग्रामों से मिलकर विश बनता था व विशों से जन। जन समस्त राष्ट्र के अर्थ में प्रयुक्त होता था।

बहुत से परिवारों से मिलकर ग्राम बनता था। कुछ विद्वानों के मतानुसार परिवारों के छोटे-छोटे ह भी थे जो गो या गोष्ठी कहलाते थे। गोत्र का तात्पर्य उस अहाते से था, जिसमें गायों को सुरक्षित रूप से रखा जाता था। कदाचित् कुछ परिवार मिलकर अपना एक गो रखते थे, इसलिए वे एक गो से सम्बन्धित समझे जाते थे, गो का संरक्षक गोत्रपति कहलाता था। (ए. सी. दास-ऋग्वेदिक कल्चर)। बहुत से गोत्रों का मवेशी चराने के लिए एक सर्वसाधारण चारागाह रहता था, जिसे गोष्ठ कहते थे। गोष्ठ को 'ब्राज' भी कहा जाता था (मैकडोलन व कीथ वेदिक इन्डेक्स)। जिन गोत्रों के लिए एक ही गोष्ठ रहता था उन्हें 'गोष्ठी' नाम से जाना जाता था। (ए. सी. दास-ऋग्वेदिक कल्चर)। बहुत सी गोष्ठियों के समूह को 'ग्राम' नाम से जाना जाता था। (ए. सी. दास -ऋग्वेदिक कल्चर)। ग्राम का मुखिया 'ग्रामणी' कहाता था।

ग्राम के राजनैतिक जीवन का केन्द्र ग्रामणी था। प्रारम्भ में कदाचित् उसका चुनाव होता था, किन्तु बाद में उसका पद वंशक्रमागत बन गया था। नागरिक व सैनिक उत्तरदायित्व से सम्बन्धित कार्यों में वह ग्राम का मुखिया था। ग्रामीण जनता की रक्षा करना, उनको संगठित रखना, ग्राम में शान्ति व व्यवस्था रखना आदि उसके महत्वपूर्ण कर्तव्य थे। उसके नेतृत्व में ग्रामीण वाह्य शत्रुओं से ग्राम की रक्षा करते थे। ग्राम के भूमि संबंधी व अन्य झगड़ों का न्याय भी उसे ही करना पड़ता था। अपराधियों को दण्ड देना भी उसी का कार्य था। प्रत्येक ग्राम के लिए एक एक ग्रामणी रहता था,जो अपने

अपने ग्राम की व्यवस्था करता था। कभी-कभी विभिन्न ग्राम खेतों की सीमा आदि के बारे में परस्पर लड़ाई भी किया करते थे। प्रत्येक पूर्णतया स्वतंत्र रहता था, अपनी भूमि आदि की व्यवस्था तथा अन्य कार्यों में प्रत्येक ग्राम को पूर्ण स्वातन्त्र्य प्राप्त था। ग्रामणी की सहायता के लिये 'ग्रामसभा' रहती थी, जिसमें कदाचित् ग्रामणी का चुनाव भी होता था। प्राचीन भारतीय शासन-व्यवस्था में ग्रामणी का इतना महत्वपूर्ण स्थान था कि उसके पद का उल्लेख वैदिक काल के पश्चात् भी प्राप्त होता है। साहित्य, अर्थशास्त्र, आदि में ग्रामणी का कितने ही स्थलों पर उल्लेख आता है, जहाँ उसके महत्व का दिग्दर्शन कराया गया है।

केन्द्रीय शासन, जिसका नेतृत्व राजा किया करता था, ग्रामणी द्वारा ग्राम से अपना सम्पर्क स्थापित करता था। राजा साधारणतया ग्राम की व्यवस्था में किसी प्रकार का हस्तक्षेप नहीं करता था। प्राचीन भारत में विकेन्द्रीकरण शासन-व्यवस्था का उत्तरदायित्व ग्रामसभा व ग्रामणी पर ही था। कुछ विद्वानों के मतानुसार (मैकडॉनेल व कीथ) ग्रामणी का राजा से जो सम्बन्ध रहता था उससे ज्ञात होता है कि उसकी नियुक्ति राजा द्वारा होती थी या कदाचित यह पद वंश-क्रमागत भी रहा होगा।

विश

बहुत से ग्रामों को मिलाकर कदाचित् विश बनता था। वैदिक साहित्य में विश शब्द जनसाधारण के अर्थ में प्रयुक्त होता है। किन्तु कुछ विद्वान् ग्रामों के समूह के अर्थ में भी उसका प्रयोग मानते हैं(मैकडॉलेन व कीथ-वेदिक इन्डेक्स ए. सी दास-ऋग्वेदिक कल्चर) विश के सर्वोपरि सत्ताधीश को कदाचित् 'विशपति' कहते थे। ऋग्वेद में एक स्थान पर यम को विशपति व पिता (ऋग्वेद 10/135/1 : अत्रा नो विशपतिः पिता पुराणाँ अनु वेनति।) कहकर पुरों का संरक्षक माना गया है। पुर वैदिक युग में ग्रामों की रक्षा के लिए या तो किले थे या चारदीवारी, जिनकी रक्षा की व्यवस्था करना ग्रामों के शासनाधिकारियों का आवश्यकीय कार्य था। वैदिक युग के पश्चात् विशांपति' शब्द राजा के अर्थ में प्रयुक्त होता था। विशपति के अधिकार भी ग्रामणियों के अधिकारों के समान रहते होंगे। उनका मुख्य कर्तव्य विश के अन्तर्गत ग्रामों के पारस्परिक सम्बन्धों को सुव्यवस्थित व सुरक्षित रखना था।

जन

विभिन्न विशों के समुदाय को जन कहते थे। जन का सर्वोपरि सत्ताधीश राजा था, जो वंश क्रमागत रहता था या जिसका चुनाव होता था। वैदिक साहित्य में स्थान-स्थान पर राजपद का उल्लेख है। वरुण को ऋग्वेद में बहुधा राजा शब्द से सम्बोधित किया गया है। जिस प्रकार राजनैतिक जगत् में वरुण की सर्वोपरि सत्ता थी, वही नैतिक नियमों का नियामक था, उसके गुप्तचर सर्वत्र वर्तमान थे, जिनकी दृष्टि से कोई बच नहीं सकता था, उसके बधन पाश पापी व अत्याचारियों के लिए सर्वथा शक्तिशाली थे-ठीक उसी प्रकार भौतिक व राजनैतिक जगत् में राजा का हाल था। राजा के अधीन 'जन' जिस देश विशेष में रहते थे वह जनपद कहलाता था। ऐतरेय ब्राह्मण में जनपद शब्द देश के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है। राजा द्वारा शासित बहुत से जनपद या राष्ट्र- वैदिक युग में वर्तमान थे। ऋग्वेद में कितने ही राजाओं का उल्लेख आता है, जिससे स्पष्ट होता है कि उस युग में समस्त देश विभिन्न राज्यों में या राष्ट्रों में विभाजित था।

उपरोक्त वर्णन से स्पष्ट हो जाता है कि वेदकालीन समाज में राजनैतिक व्यवस्था व संगठन वर्तमान थे, तथा समाज का राजनैतिक जीवन विभिन्न राजनैतिक इकाइयों में विभाजित था, यथा कुल, ग्राम, विश जन या राष्ट्र।

(ख) राजनैतिक जीवन–दस्यु आदि से युद्ध

ऋग्वेद संहिता में तत्कालीन राजनैतिक जीवन भी प्रतिबिम्बित हुआ है। ऋग्वेद में विभिन्न मंत्रों के आलोचनात्मक अध्ययन से स्पष्ट होता है कि तत्कालीन आर्यो को दास, दस्यु आदि आदिम जातियों से कितने ही युद्ध करने पड़े थे। इन्द्र से कितने ही स्थानों पर प्रार्थना की गई है कि वह दास व दस्युओं का नाश करें। एक स्थान पर कहा गया है कि इन्द्र ने दस्युओं को अपनी माया व शक्ति से पूर्णतया पराजित कर उनका दमन किया (ऋ. 2/34/6 वृजनेन वृजिनान्त्स पिपेष मायाभिर्दस्यूँरभिभूत्योजा:)। आगे पुन: कहा गया है कि इन्द्र ने दस्युओं को मारकर आर्यवर्ण की रक्षा की (ऋ. 2/34/6 : हत्वा दस्यून्प्रार्य वर्णमावत्)। एक स्थान पर इन्द्र की प्रशंसा में कहा गया है कि 'इन्द्र ने दासवर्ण को पराजित करके गुफाओं के अन्दर भगा दिया (ऋ. 3/12/4 यो दासं वर्णमधरं गुह्यकं)। जब घनघोर युद्ध होता है, तब दोनों पक्ष के योद्धा अपने अपने रथों में बैठे हुए इन्द्र का ही आह्वान करते हैं (ऋ. 2/12/8 'यं क्रन्दसी संयती विह्वयेते परेऽवर उभया अमित्रा:)। इन्द्र के बिना कोई भी मनुष्य युद्ध मेंजीत नहीं सकता। युद्ध में रत योद्धा सहायता के लिए उसे ही बुलाते है (ऋ. 2/1/9: ''यस्मान्न ऋते विजयन्ते जनासो यं युध्यमाना अवसे हवन्ते)। इसी प्रकरण में इन्द्र को दस्युओं का हन्ता भी कहा गया है (ऋ 2/12/10: ''यो दर्स्योहन्ता स जनास इन्द्र:)। एक और प्रकरण में कहा गया है कि इन्द्र ने शम्बर दास को एक बड़े पर्वत पर से भगा दिया (ऋ. 4/30/14: उत दासं कौलितरं बृहत: पर्वतादधि। अवाहन्निन्द्र शम्बरम्')। एक स्थान पर इन्द्र द्वारा शम्बर को पर्वत पर से मार भगाये जाने का उल्लेख है (ऋ. 6/26/5: --अव गिरेर्दासं शम्बरं हन्प्रावो . . . .)। इसी प्रकरण में आगे कहा गया है कि राजा दभीति व दाससर्दार चुभुरि के मध्य जो युद्ध हुआ उसमें इन्द्र ने 60000 दासों को मार डाला (ऋ. 6/26/6)। इन युद्धों में बहुत से आदिम निवासियों को तथा उनकी स्त्रियों को बन्दी भी बनाया जाता था, तथा धीरे-धीरे उन्हें समाज में अपनी योग्यता के अनुरूप स्थान भी दिया जाता था। इसी प्रकार दास स्त्रियों से विवाह-संबंध भी धीरे-धीरे स्थापित किया जाने लगा। दासों के इस प्रकार समाज में विलीनीकरण के परिणामस्वरूप वर्णव्यवस्था तथा प्रतिलोम व अनुलोम विवाह का प्रादुर्भाव हुआ।

उपरोक्त उल्लेखों से स्पष्ट होता है कि आर्यों को दास, दस्यु आदि आदिम जातियों से कितने ही युद्ध करने पड़े थे, जो कि बड़े घमासान थे व जिनमें आर्यों को बार-बार अपने इष्ट देवता इन्द्र की प्रार्थना करनी पड़ती थी, जिससे उन्हें विजय प्राप्त हो सके। ऋग्वेद के इन्द्र सम्बन्धी मंत्रों का आलोचनात्मक अध्यय ; करने से स्पष्ट होता है कि इन्द्र आर्यों का इष्ट देवता था, जिसके प्रभाव से आर्यो ने दस्युओं के विरुद्ध कितने ही युद्ध जीते व कितने ही दस्युओं को पराजित कर बन्दी बनाया। ऋग्वेदकालीन कार्यों के राजनैतिक जीवन का यह एक महत्वपूर्ण पहलू है, जिसने उनके सामाजिक, धार्मिक, आर्थिक आदि जीवन को प्रभावित किया।

(ग) शासन पद्धति

वैदिक साहित्य के आलोचनात्मक अध्ययन से ज्ञात होता है कि वैदिक युग में शासन सम्बन्धी विभिन्न संविधान प्रचलित थे, जिनके द्वारा विभिन्न राज्यों का शासन-कार्य सम्पादित किया जाता था। ऋग्वेद में स्थान-स्थान पर राजतन्त्र से सम्बन्धित कितने ही पारिभाषिक शब्दों का उल्लेख है। राजा, राज्य आदि शब्द बार-बार उल्लिखित किये गये हैं। समाज में राजपद का इतना महत्व था कि देवताओं के सामर्थ्य, सत्ता व शक्ति को समझाने के लिए उनकी तुलना राजा से की है। राजा के प्रजापालन, प्रजाहित के कार्य आदि से सम्बन्धित कर्तव्यों व आदर्शों को वरुण-सूक्तों से भली भाँति समझा जा सकता है। वैदिक युग के राजा के कर्तव्यों व आदर्शों का सुन्दर चित्रण वरुण सम्बन्धी मन्त्रों में किया गया है। वरुण को बहुधा राजा शब्द से सम्बोधित किया गया है (ऋग्वेद 7/18 19)। इसी प्रकार युद्धों द्वारा अपने राज्य का विकास करना, शत्रुओं का दमन करके उनके राज्यों को जीत अपने राज्य को समृद्धिशील बनाने का प्रयत्न करना आदि से सम्बन्धित राजा के कर्तव्य व आदर्श इन्द्र-सूक्तों में चित्रित किये गये हैं। इसीलिए इन्द्र को आर्यों का राष्ट्रीय देवता भी माना गया है। इससे स्पष्ट होता है कि वैदिक युग में राजतन्त्र बहुत लोकप्रिय था। इसके अतिरिक्त वैदिक साहित्य में कितने ही राजाओं का तथा राजवंशों का भी उल्लेख आता है, उन उल्लेखों से भी राजतन्त्र का महत्व स्पष्ट होता है।

ऋग्वेद आदि वैदिक साहित्य में साम्राज्य (ऋग्वेद1/25/10), सम्राट् (ऋग्वेद 8/16/1) आदि शब्दों का भी उल्लेख कितने ही मन्त्रों में आता है। इसके अतिरिक्त ऋग्वेद में विभिन्न राजाओं के मध्य युद्धों का वर्णन है, उससे भी साम्राज्य-विकास का स्पष्ट पता लगता है। सुदास ने विभिन्न राजाओं को पराजित कर सप्तसिन्धु में अपना साम्राज्य स्थापित किया था।

वैदिक युग का राजपद पूर्णतया निरंकुश नहीं था। सभा (ऋग्वेद 8/4/9; 10/71/102; 7/1/4 अथर्व 19/87/6), समिति (ऋग्वेद 1/95/62; 10/97/6) आदि संस्थानों द्वारा राजपद को भी संचालित व नियन्त्रित किया जाता था। सभा व समिति ने एक प्रकार से जनतांत्रिक वातावरण निर्मित कर दिया था, जिसके परिणामस्वरूप जनतन्त्र शासन प्रणाली का उदय हुआ। यजुर्वेद (16/25) में 'गण' व 'गणपति' शब्दों का जो उल्लेख है, उसे कदाचित् राजनैतिक अर्थ में लिया जा सकता है, क्योंकि उससे आगे के मन्त्रों, में सेनानी, रथी, क्षत्ता आदि का उल्लेख है, और ये शब्द स्पष्टतया राजनैतिक जीवन से सम्बन्धित हैं। इसके अतिरिक्त यजुर्वेद में 'स्वराट्'(15/13) व 'विराट्' (यजु. 15/11) शब्दों का उल्लेख आता है स्वराट् को उत्तर से व विराट् को दक्षिण से सम्बन्धित किया गया है। विद्वानों का मत है कि स्वराट् व विराट् प्रजातन्त्रात्मक शासन-प्रणाली से सम्बन्धित थे। इस प्रकार वैदिक युग में जनतांत्रिक संविधान भी वर्तमान थे।

ऐतरेय ब्राह्मण 8/3/14 में आठ प्रकार के संविधानों का वर्णन आता है। उसमें यह भी बताया गया है कि वे संविधान किन देशों में थे तथा उनके शासकों की पदवियाँ क्या थीं। ऐतरेय ब्राह्मण में वर्णन आता है कि पूर्व दिशा में जो प्राच्यों के शासक हैं, वे साम्राज्य के लिए अभिषिक्त होते है, उनको अभिषिक्त होने पर सम्राट् कहा जाता है। दक्षिण दिशा में सत्वतों के जो शासन हैं वे भौज्य के लिए अभिषिक्त होते है। उन्हें अभिषिक्त होने पर भौज्य कहा जाता है। पश्चिम दिशा में जो नीच्यों या अपाच्यों के शासक हैं वे स्वाराज्य के लिए अभिषिक्त होते हैं उन्हें अभिषिक्त होने पर स्वराष्ट्र कहा जाता है। उत्तर दिशा में हिमालय के निकट जो उत्तर कुरु, उत्तर-मद्र आदि देश हैं उनके शासक वैराज्य के लिए अभिषिक्त

होते हैं, उन्हें अभिषिक्त होने पर विराट् कहा जाता है। मध्यमा प्रतिष्ठा (मध्य देश) में कुरु-पांचाल, सवश, उशीनर आदि के राजा, राज्य के लिए अभिषिक्त होते हैं, अभिषिक्त होने पर उन्हें राजा कहते हैं। ऊर्ध्व दिशा में जो मरुत अंगिरस् आदि देवता हैं, वे पारमेष्ठ्य, माहाराज्य, आधिपत्य, स्वावश आदि के लिए अभिषिक्त होते हैं। इसी प्रकरण में आगे समुद्रपर्यन्त पृथ्वी पर शासन करने वाले सार्वभौम एकराट् शासक का भी उल्लेख आता है (ऐतरेय ब्राह्मण, 8/4/15)। इस प्रकार उपरोक्त वर्णन में आठ प्रकार के संविधान उल्लिखित हैं यथा साम्राज्य, भौज्य, स्वाराज्य, वैराज्य, राज्य, पारमेष्ठ्य, महाराज्य, आधिपत्य, और ये संविधान भारत के विभिन्न भागों में वर्तमान थे। इनके अतिरिक्त समुद्रपर्यन्त सार्वभौम शासक का भी उल्लेख है।

उपरोक्त शासन-संविधानों की शासन-सम्बन्धी क्या विशेषताएँ थीं, इस पर विस्तार रूप से कुछ नहीं कहा जा सकता। किन्तु इन्हें दो विभागों में विभाजित किया जा सकता है, यथा प्रजातन्त्र व राजतन्त्र। भौज्य, स्वाराज्य, वैराज्य आदि प्रजातन्त्रात्मक, तथा राज्य पारमेष्ठ्य, माहाराज्य, आधिपत्य, साम्राज्य आदि राजतंत्रात्मक प्रतीत होते हैं। यदि इन संविधानों पर ऐतिहासिक दृष्टि से विचार किया जाए तो कहा जा सकता है कि उनमें से तीन, स्वाराज्य, साम्राज्य व भौज्य की पुष्टि इतिहास द्वारा होती है। प्राचीन काल में बड़े बड़े साम्राज्यों का सूत्रपात पूर्व में ही हुआ था, जैसे जरासन्ध व शिशुपाल का साम्राज्य तथा नन्द, मौर्य, गुप्त आदि के साम्राज्य स्मिथ-अर्ली हिस्ट्री ऑफ इन्डिया (चौथी आवृति), पृ. 121-154, 318-345, 345-376। इसी प्रकार पश्चिम में प्रजासत्तात्मक राज्यों का आधिक्य रहा है, जैसे मालव, क्षुद्रक, आर्जुनायन (का. प्र. जायसवाल-हिन्दु पॉलिटी, भा, 1, पृ. 91-92)।

(1) राजतंत्र

वैदिक साहित्य के आलोचनात्मक अध्ययन से स्पष्ट होता है कि वैदिक युग के राजनैतिक जीवन में राजतन्त्र का महत्वपूर्ण स्थान था। तत्कालीन भारत में विभिन्न राज्य वर्तमान थे, जिनका शासन साधारणतया राजाओं द्वारा होता था। उस युग में राजा के जो आदर्श, कर्तव्य, उत्तरदायित्व आदि थे, उनका परोक्षरूप से उल्लेख वैदिक साहित्य में यत्र-तत्र किया गया है। वैदिक काल के राजाके कर्तव्यों व उत्तरदायित्वों को साधारणतया दो भागों में विभाजित किया जा सकता है, यथा, (1) राज्य की आंतरिक व्यवस्था, प्रजाहित पालन आदि से सम्बन्धित कर्तव्य (2) राज्य की वैदेशिक नीति से सम्बन्धित कर्तव्य। इन दोनों प्रकार के कर्तव्यों का सुन्दर विवेचन ऋग्वेद के वरुण से सम्बन्धित सूक्तों में किया गया है। वरुण देवता की कल्पना के समय वैदिक ऋषियों के मन में तत्कालीन आदर्श राजा की घरेलू नीति का चित्र था इन्द्र की कल्पना के समय उसकी वैदेशिक नीति का चित्र।

प्राचीन काल में राजोत्पत्ति से सम्बन्धित एक और सिद्धान्त प्रचलित था, जो कि रूसो के ''सामाजिक समझौते'' के सिद्धान्त से मिलता जुलता था। इस सिद्धान्त के अनुसार प्रारंभिक अवस्था में मानव-समाज सत्ययुग में था। किसी प्रकार का भी पाप नहीं था। सब लोग आनन्द में रहते थे। इस कृतयुग में सर्वप्रथम राज्य, राजा, दण्ड, दाण्डिक आदि कुछ भी नहीं थे। सब लोग धर्म से ही परस्पर रक्षा करते थे। किन्तु वे धीरे-धीरे मोहाभिभूत हुए, तथा सन्मार्ग से बिछुड़ने लगे। इस प्रकार उन्हें कष्ट हुआ। वे आपस में लड़ने लगे व समाज में अशान्ति फैलने लगी। इस मत्स्यन्याय से सताये जाने पर उन्होंने मनुवैवस्वत को अपना राजा बनाया तथा उसे धान्यषड्भाग व पण्यदशभाग देने लगे। उसका कर्तव्य

जनता की रक्षा करना था और जनता का कर्तव्य उसके आधिपत्य में रहना था। महाभारत, (शान्तिपूर्व, अ. 66) अर्थशास्त्र (1/14), आदि में इस सिद्धान्त का स्पष्ट उल्लेख है।

शासनोत्पत्ति के विषय में विद्वानों द्वारा एक और सिद्धान्त प्रतिपादित किया जाता है, जिसे पितृपक्षप्राधान्य सिद्धान्त'' (Patiarchal theory) कहते है। इस सिद्धान्त का अभिप्राय यह है कि शासन का सूत्रपात परिवार से प्रारंभ होता है। परिवार में पिता सर्वोपरि रहता है तथा सब पर शासन करने वाला होता है। ज्यों-ज्यों मानव-समाज विकसित होने लगा, त्यों-त्यों पारिवारिक शासन के समान राजकीय शासन का भी विकास हुआ। प्राचीन आर्यों में संभवत: शासन का प्रारंभ इसी प्रकार हुआ होगा। तुलनात्मक भाषा शास्त्र के आधार पर यह कहा जा सकता है कि इस प्रकार शासन का विकास केवल भारतीय आर्यों में ही नहीं हुआ, किन्तु यूरोप के भी आर्यों में भी हुआ। वैदिक काल के 'राजा' 'विशपति' 'जन' 'विश' आदि शब्दों के अपभ्रष्ट रूप यूरोप की मुख्य-मुख्य भाषाओं में पाये जाते हैं, (ग्रिसवोल्ड दी रिलीजन ऑफ दि ऋग्वेद पृ. 3, 4) जिससे स्पष्ट है कि प्राचीन काल के समस्त कार्य भिन्न-भिन्न विभागों में विभक्त थे जिनका मूल 'कुल' था। उन सब विभागों के नाम भी वैदिक भाषा के तदर्थक शब्दों से ही लिए गये हैं। सर हेनरी मेंन इस सिद्धान्त का समर्थन करते हुए लिखते हैं कि सोलहवीं व सत्रहवीं शताब्दी के रूस में लगभग दो सौ या तीन सौ ऐसे परिवार थे जो एक ही गृहपति द्वारा संचालित व शासित किये जाते थे। इसी सिद्धान्त का प्रतिपादन अथर्ववेद (8/10/1-3) में किया गया है, जहाँ कहा गया है कि विराट् सर्वप्रथम वर्तमान था। उसने गार्हपत्य, आहवनीय व दक्षिणाग्नि में प्रवेश किया। उसने सभा, समिति आदि में भी प्रवेश किया।

राजा की उत्पत्ति के सम्बन्ध में एक और सिद्धान्त वैदिक युग में प्रचलित था। इसके अनुसार राजा परमात्मा का अंश माना जाता था। इस सिद्धान्त का उल्लेख शतपथ ब्राह्मण (5/15/14) में आता है, जहाँ राजा को प्रजापति कहा गया है, क्योंकि उसके अधीन कितने ही व्यक्ति रहते हैं। उक्त ग्रंथ में 'चक्रवर्तिन्' शब्द के चक्र को विष्णु के चक्र से सम्बन्धित किया गया है। ऐतरेय ब्राह्मण (8/2/6) में राज्याभिषेक के मन्त्रों में अग्नि, गायत्री, स्वस्ति, वृहस्पति आदि देवताओं से राजा के शरीर में प्रवेश करने की प्रार्थना की गई है। महाभारत (शान्तिपर्व, अ. 59) में वर्णन आता है कि नारायण ने अपने तेज से एक पुत्र उत्पन्न किया, व पृथु वैन्य का सातवां वंशज राजा बनाया गया। विष्णु भगवान् ने उसके शरीर में प्रवेश किया। इसीलिए समस्त विश्व ने उसे परमात्मा समझ उसका आधिपत्य स्वीकार किया। देव व नरदेव में कोई अन्तर नहीं है। मनुजी (मनुस्मृति 7/8) ने भी कहा है कि राजा नररूप में देवता ही हैं। राजा को देवता का अंश मानने का यह मतलब कदापि नहीं था कि वह जो चाहे सो कर सकता था। जो राजा प्रजापालन आदि कर्तव्यों को अच्छी तरह निबाहता था, उसी को देवता कहलाने का अधिकार प्राप्त था अन्य को नहीं। जो राजा प्रजा को सताता था उसे तो महाभारत (अनुशासनपर्व, 61, 32, 33) ने कुत्ते के समान मार डालने का आदेश दिया है, जैसा कि वेन, नहुष आदि वैदिक युग में राजाओं का हाल हुआ।

राज्याभिषेक

वैदिक युग में राजपद के विकास में यज्ञादि धार्मिक कृत्यों का भी महत्वपूर्ण स्थान था। राजपद के विकास में राजसूय, वाजपेय, अश्वमेध, सर्वमेध यज्ञ भी कुछ कम महत्वपूर्ण नहीं थे। राजाओं को

इन सब यज्ञों के द्वारा वीरता, त्याग व तप का परिचय देना पड़ता था, तब कहीं उन्हें 'मूर्धाभिविषक्त' या चक्रवर्ती की पदवी से विभूषित किया जाता था। शतपथ ब्राह्मण (5/1/1 /12: "राज्ञ एव राजसूयम्। राजा वै राजसूयम्। राजा वै राजसूयेनेष्ट्वा भवति . . . .।") में कहा गया है कि राजसूय यज्ञ राजा का ही है। राजसूय यज्ञ करने पर ही राजा यथार्थ में राजा बनता है। ऐतरेय ब्राह्मण (8/15) में ऐन्द्रमहाभिषेक के प्रकरण में दर्शाया गया है कि क्षत्रिय राजा अभिषिक्त होने पर तथा अपने पुरोहित को समुचित आदर प्रदान कर सुकृत, आयु, प्रजा इष्टापूर्त आदि को सफलतापूर्वक प्राप्त करता है।

शतपथ, ऐतरेयादि ब्राह्मणों के आलोचनात्मक अध्ययन से स्पष्ट होता है कि राजा के जीवन में राज्याभिषेक संस्कार अत्यन्त ही महत्पूर्ण था। प्रत्येक राजा को राज्यसिंहासन पर बैठने के पश्चात् अपने पुरोहितों द्वारा राज्याभिषेक करवाना पड़ता था। उसके पश्चात् वह 'मूर्धाभिषिक्त' राजा कहलाता था। विभिन्न तीर्थों के जल से राजा का अभिषेक किया जाता था, तथा उसे रत्नहविष् प्रदान करने पड़ते थे। इस प्रकरण के वर्णन में शतपथब्राह्मण (5/3/1) ने ग्यारह रत्नियों का उल्लेख किया है, जिनका शासनतन्त्र में महत्वपूर्ण स्थान था। वे रत्नी इस प्रकार हैं-सेनानी, पुरोहित, क्षत्र (राजसत्ता का प्रतिनिधि), महिषी, सूत, ग्रामणी क्षतृ (अन्तः पुराध्यक्ष), संग्रहीतृ (कोषाध्यक्ष) भागदुह (कर आदि से सम्बन्धित विभाग का अध्यक्ष), अक्षावाप (आय-व्यय-लेखाध्यक्ष) और गोविकर्तृ (वनाध्यक्ष)। ये रत्नी, जिनका उल्लेख यजुर्वेद तथा पंचविंश आदि ब्राह्मण में भी आता है, वैदिककालीन शासन-व्यवस्था में अवश्य ही महत्वपूर्ण उत्तरदायित्व का निर्वाह करते होंगे। वे कदाचित् मंत्रिमंडल के सदस्य हो या राज्य के उच्च कर्मचारी हों। उनके बारे में निश्चित रूप से कुछ भी नहीं कहा जा सकता। साधारणतया इन रत्नियों में राजा के सम्बन्धी, मंत्री, विभागाध्यक्ष, रानी व पुराहित का समावेश होता था। राज्याभिषेक के अवसर पर इनको जो महत्वपूर्ण स्थान प्रदान किया गया था, उससे स्पष्ट होता है कि राज्य-व्यवस्था में उनका स्थान अत्यन्त ही महत्वपूर्ण था। नये राजा के मानस पर राज्याभिषेक के अवसर पर यही तथ्य अंकित किया जाता था। इस प्रकार यह स्पष्ट हो जाता है कि वैदिक युग में रन्तियों में जिन राज्य-कर्मचारियों का समावेश होता था वे राज्य के सुदृढ़ स्तम्भ माने जाते थे। कदाचित् उनकी नियुक्ति तत्कालीन समिति के सदस्यों में से की जाती होगी। समय के प्रवाह में वैदिक युगों के लुप्त होने पर रत्नी-संस्था भी लुप्त हो गई व उसका स्थान मंत्री, अमात्य या सचिव-परिषद् ने ग्रहण किया।

राजनैतिक वातावरण

वैदिक युग में सामाजिक जीवन की सांस्कृतिक पृष्ठभूमि के अनुरूप ही राजनैतिक जीवन का विकास हुआ था। सांस्कृतिक जागृति ने राजनैतिक जागृति को जन्म दिया था। राजपदादि विभिन्न राजनैतिक संस्थाएँ वैदिक काल से ही लोक-कल्याण की दृष्टि से विकसित की गई थीं। कदाचित् सभ्यता की प्रारम्भिक अवस्था में वैयक्तिक महत्वाकांक्षा, वैयक्तिक स्वार्थ, पाशविक बल आदि की प्रेरणा से राजनैतिक जीवन का प्रारम्भ हुआ हो, किन्तु वैदिक युग में तो परिस्थिति बिल्कुल ही बदल चुकी थी। वैदिक साहित्य के आलोचनात्मक अध्ययन से यह स्पष्ट हो जाता है कि जीवन के प्रत्येक पहलू को सांस्कृतिक आधारशिला पर आश्रित किया गया है। वैदिक युग के राजा को जनहित का पूरा विचार करना पड़ता था। जनता अपने राजनैतिक अधिकारों के लिए पूर्ण रूप से जागरूक थी। सांस्कृतिक विकास व दार्शनिक मनोवृत्ति के कारण समाज में इतना मनोबल विकसित हो गया था कि वह किसी भी

अत्याचार व शोषण का सफल विरोध कर सकता था।

राजसंस्था

वैदिक युग में राजसंस्था सांस्कृतिक व दार्शनिक पृष्ठभूमि पर विकसित हई थी। साधारणतया राजा वंश-क्रमागत रहा करते थे, किन्तु वैदिक साहित्य में उनके निर्वाचन का उल्लेख भी आता है। इस संबंध में मैकडॉनेल, (हिस्ट्री ऑफ संस्कृत लिटरेचर पृ. 158)जिम्यर (Allindiches Leben. 162 ff.) गेल्डनर (Vedische Studien. II, 303) वेबर (Vedische Studien, XVII. 88) प्रभृति पाश्चात्य विद्वानों ने स्पष्टतया कहा है कि वैदिक युग का राजा साधारणतया वंश-क्रमागत था, किन्तु वह निरंकुश नहीं था। उसकी सत्ता, समिति में दर्शाई गई जनता की इच्छा द्वारा नियन्त्रित रहती थी। वैदिक युग में सभा-समिति आदि द्वारा प्रजा राजा पर नियन्त्रण रखती थी।

वैदिक युग में वंशक्रमागत राजाओं के अतिरिक्त प्रजा के प्रतिनिधियों द्वारा निर्वाचित राजा भी रहते थे। ऋग्वेद (10/173/1) तथा अथर्ववेद (6/87/7; 6/88/3) में समिति द्वारा राजा के चुनाव का उल्लेख है, जहाँ समिति के द्वारा राजपद के लिए चुने जाने के पश्चात् राजा को समस्त राष्ट्र का भार वहन करने के लिए कहा गया है, उसे दृढ़तापूर्वक अपने कर्तव्यों का निर्वाह कर राष्ट्र की सेवा करने का आदेश दिया गया है। पर्वत व इन्द्र के समान दृढ़ बनकर अपने मार्ग से विचलित न हो उसे दृढ़ता पूर्वक शत्रु का नाश करना चाहिये। राजा के पदच्युत किये जाने के पश्चात् पुनः निर्वाचित होने का उल्लेख भी वैदिक (अथर्ववेद, 3/4/2; 3/3/4; 3/4/6) साहित्य में आता है। उक्त प्रकरण में राजा को सम्बोधित करके कहा गया है—"तुम्हें जनता राजपद के लिए चुने; ये दिशाएँ तुम्हें चुने। तुम राष्ट्र के कंधे पर बैठो व उस स्थान पर से भौतिक समृद्धि का विकास करो" (अथर्ववेद 3/4/2)। इस प्रकार वैदिक प्रमाणों से सिद्ध हो जाता है कि वैदिक काल में प्रजा के द्वारा राजा का चुनाव होता था। उसे प्रजा की भौतिक समृद्धि की ओर विशेष ध्यान देना पड़ता था। यदि वह अपने कर्तव्यों के निर्वाह में असफल होता तो उसे पदच्युत भी किया जाता था; किन्तु क्षमा-याचना करने पर पदारूढ़ कर दिया जाता था (अथर्ववेद 3/4/6, 7)। उपरोक्त कथन से यह सिद्ध हो जाता है कि वैदिक युग का राजतंत्र प्रजातांत्रिक था, तथा जनता अपने अधिकारों केलिए जागरूक रहती थी।

सभा और समिति

वैदिक युग में राजनैतिक जीवन में सभा व समिति का महत्वपूर्ण स्थान था। इसका उल्लेख वैदिक साहित्य (ऋग्वेद 9/92/6) में कितने ही स्थलों पर आता है। अथर्ववेद (6/88,3; 6/64/2; 5/19/15) में भी ये उल्लिखित हैं। उसमें लिखा है कि सभा व समिति प्रजापति की दो विदुषी पुत्रियाँ है, जिनमें अच्छे-अच्छे सदस्य एकत्रित होकर उत्तम प्रकार से बोलने की इच्छा प्रकट करते हैं। समिति में अच्छे-अच्छे भाषण दिये जाते थे तथा प्रत्येक सदस्य की यह महत्वाकांक्षा रहती थी कि वह अच्छा वक्ता बने (7/12/1, 2)

समिति में राजा को भी उपस्थित रहना पड़ता था। वेदों में कितने ही स्थलों पर राजा के समिति में जाने का उल्लेख है (ऋग्वेद 9/92/6 "राजा न सत्यः समितीरियानः")। उसमें विचारैक्य का रहना व मतभेद का न रहना बहुत ही आवश्यकीय समझा जाता था (ऋग्वेद10/198/3)। वैदिक सहित्य में

राजा के लिए स्पष्ट शब्दों में कहा गया है कि जनता ने उसे चुना है तथा वह राष्ट्र के सर्वोच्च स्थान पर बैठकर अपने कर्तव्यों का पालन करे तथा ऐश्वर्य का भागी बने।

सभा का उल्लेख वैदिक साहित्य में आता है, जहाँ उनका अर्थ किसी उद्‌देश्य से एकत्रित जनता के किसी समुदाय या सम्मेलन का होता है। पाश्चात्य विद्वान हिलीब्रेन्ड के मतानुसार सभा का तात्पर्य उस भवन से है, जहाँ समिति का अधिवेशन हुआ करता था। जिम्मर के मतानुसार सभा से ग्राम पंचायत का बोध होता था जैसा कि यजुर्वेद (3/45 : ''यद्ग्रामे यदरण्ये यत्सभायां यदिन्द्रिये।'') के कुछ उल्लेखों से उनके मतानुसार ज्ञात होता था। किन्तु वैदिक साहित्य में आये हुए सभा के उल्लेखों पर विचार करने से स्पष्ट होता है कि सभा एक स्वतंत्र राजनैतिक संस्था थी, जैसा कि अथर्ववेद (7/12/1-2) में स्पष्टतया समझाया गया है। इसी प्रकार यजुर्वेद (3/45; 20/17) में सभा का एक स्वतंत्र रूप में उल्लेख है, जहाँ ग्राम, अरण्य, सभा आदि में किये गये पाप के रिमार्जन का निर्देश है।

ऋग्वेद में कितने ही स्थलों पर सभा के सदस्यों का उल्लेख आता है, जिससे सिद्ध होता है कि समाज में उनका स्थान बहुत महत्पूर्ण था। 'सभेय' शब्द ऋग्वेद (1/91/20 : ''सादन्यं विदथ्यं सभेयं पितृश्रवणं यो ददाशदस्मै।) में आदरसूचक अर्थ में प्रयुक्त हुआ है। धनाढ्य व्यक्तियों के सभा में जाने का भी उल्लेख (8/4/9) है। अथर्ववेद (19/57/2) मैं राजाओं के सभा में आने का उल्लेख है, तथा सभा, सभ्य, सभासद आदि की रक्षा की प्रार्थना की गई है (अथर्ववेद 19/55/5)। इन उल्लेखों के अतिरिक्त ब्राह्मण, उपनिषद् आदि ग्रन्थों में सभा का राजा से घनिष्ठ सम्बन्ध दर्शाया गया (शतपथ ब्राह्मण 3/3/5/14 छान्दोग्योप 5/3/6;8/14/1) है। उपरोक्त उद्धरणों पर आलोचनात्मक दृष्टि से विचार करने पर स्पष्ट होजाता है कि वैदिक युग में मनोरंजनादि निमित्त स्थानीय सभाओं के अतिरिक्त एक राजनैतिक संस्था भी थी, जिसका संबंध राजा से था। राजा उससे विचार-विनिमय किये विना कुछ नहीं कर सकता था (अथर्ववेद 7/12)। सभा का मुख्य कर्तव्य राजा को सलाह देना था तथा कभी-कभी उसे न्यायाधिकरण का कार्य भी करना पड़ता था (ऋ. 10/71/10 अथर्ववेद 3/28/1; यजु, 30/6; तैत्तिरीय ब्राह्मण 3/4/2/1)। कुछ विद्वानों के मतानुसार सभा, राजा की मन्त्री-परिषद मात्र थी।

ऋग्वेद, अथर्ववेद आदि में समिति का उल्लेख भी कितने ही स्थानों पर आया है, जिसके आलोचनात्मक अध्ययन से समिति के स्वरूप, कर्तव्य आदि का पता लगता है। ऋग्वेद (1/85/8, 9/92/6, 10/97/6) में समिति को राजा से संबंधित किया गया है, तथा उसके राष्ट्रीय महत्व को भी समझाया गया है (ऋग्वेद 10/166/4; 10/191/3) अथर्ववेद (7/12 1-4; 8/10/10-11: 12/1/56; 6/88/3; 5,19.15) में समिति को प्रजापति की पुत्री कहा गया है तथा उसके सदस्यों द्वारा किये जाने वाले वाद-विवाद, मन्त्रणा आदि का उल्लेख है। उसमें यह भी दर्शाया गया है कि उसके निर्णयों को समाज में महत्वपूर्ण स्थान था। इन उल्लेखों से पता चलता है कि सीमिति का सम्बन्ध पूरे समाज से था, और वह राष्ट्र की एक महत्त्वपूर्ण संस्था थी व राजा से उसका घनिष्ठ संबंध भी था। उसमें राष्ट्र से सम्बन्धित महत्वपूर्ण प्रश्नों पर विचार किया जाता था। कदाचित् राजा का चुनाव भी उसमें होता था व अयोग्य राजा को पदच्युत भी किया जाता था। राजा को समिति में नियमपूर्वक उपस्थित रहना पड़ता था।

इस प्रकार वैदिक युग के राजनैतिक जीवन में सभा व समिति का महत्वपूर्ण स्थान था।

(2) जनतांत्रिक वातावरण व प्रजातन्त्र

वैदिक काल में राजपद का विकास जनतांत्रिक ढंग पर हुआ था, जैसा कि 'राजा' शब्द के व्युत्पत्त्यर्थ से स्पष्ट हो जाता है। समाज के कल्याण द्वारा प्रजा को सुखी बनाना राजा का परम पुनीत कर्तव्य माना गया था। इस कार्य के बदले में उसे कृषि की उपज का छठा भाग व वाणिज्य की आय का दसवाँ भाग प्राप्त होता था, जो कि उसके वेतन के समान था। इस प्रकार राजतन्त्र के विकास के इतिहास से स्पष्ट होता है कि समाज के प्रति राजा का महान् उत्तरदायित्व था व समाज सभा, समिति आदि संस्थाओं द्वारा उस पर नियन्त्रण रखता था।

पूर्व वैदिक युग में कदाचित् विशुद्ध रूप में गणतन्त्र का अस्तित्त्व न रहा हो किन्तु राजतन्त्र के रहते हुए भी राजनैतिक वातावरण पूर्णतया जनतान्त्रिक था। ऐसे ही जनतांत्रिक वातावरण में गणतन्त्र-संविधान पल्लवित व पुष्पित हो सकता है। यदि प्राचीन भारत के गणतन्त्रों के इतिहास पर विचार किया जाए तो पता लगेगा कि कदाचित् राजतन्त्र से ही गणतन्त्र का प्रारम्भ हुआ होगा। सभा, समिति आदि द्वारा राजा पर जो नियन्त्रण रखा जाता था, उससे तत्कालीन जनता की राजनैतिक जागरूकता का पता चलता है, इसी जागरूकता के परिणामस्वरूप जनतान्त्रिक वातावरण का निर्माण होने लगा व धीरे-धीरे गणतन्त्रों का भी प्रादुर्भाव हुआ।

ऐतिहासिक दृष्टि से यह कहा जा सकता है कि प्राचीन भारत में उत्तर वैदिक काल में गणतन्त्र-शासन प्रणाली का प्रादुर्भाव हो गया था। यजुर्वेद (16/25 'नमो गणेभ्यो गणपतिभ्य: 23/19 : गणानां त्वा गणपति हवामहे।'') में 'गण' व 'गणपति' शब्दों का उल्लेख आता है किन्तु 'गण' शब्द किस अर्थ में प्रयुक्त हुआ है यह कहना सरल नहीं है। कुछ विद्वानों का मत है कि यजुर्वेद में 'गण' शब्द अर्धसभ्य जातियों का द्योतक है, और 'गणपति' याने उन अर्धसभ्य जातियों के देवता विशेष। पौराणिक देवता गणपति को उसी देवता से संबंधित किया जाता है। यजुर्वेद के सोलहवें अध्याय के पच्चीसवें मंत्र में 'गण' व 'गणपति' शब्दों का जो उल्लेख है, उसे कदाचित् राजनैतिक अर्थ में लिया जा सकता है, क्योंकि उसके आगे के मंत्रों में सेनानी, रथी, क्षत्ता, संग्रहीता आदि का उल्लेख है और ये शब्द स्पष्टरूप से राजनैतिक जीवन से संबंधित हैं। फिर भी इस संबंध में स्पष्टरूप से कुछ भी कहना कठिन है।

उपरोक्त उल्लेखों के आधार पर कहा जा सकता है कि उत्तर वैदिक युग में गणतांत्रिक शासन-प्रणाली का विकास हुआ। यजुर्वेद के समय (लगभग ई. पू. 1200-1000) स्वराज्य शासनप्रणाली कदाचित् उत्तर भारत में थी तथा वैराज्य शासनप्रणाली दक्षिण भारत में, किन्तु ऐतरेय ब्राह्मण के समय (लगभग ई. पू. 800) में वैराज्य शासन प्रणाली उत्तर भारत व हिमालय-प्रदेशों में तथा स्वाराज्य शासन प्रणाली पश्चिम भारत में प्राप्त थी। स्वाराज्य, वैराज्य आदि संविधानों में वाह्य व आन्तरिक भेद क्या थे, इस सम्बन्ध में कुछ भी नहीं कहा जा सकता है। उनके बारे में इतना तो अवश्य कह सकते हैं कि वे दोनों संविधान गणतांत्रिक थे : उनमें निरंकुश शासन के लिए कोई स्थान नहीं था। कदाचित् ये संविधान बहुत लोकप्रिय हो गये थे, इसीलिए दार्शनिक तत्व आदि को समझाने के लिए विराट् आदि शब्द प्रयुक्त किये जाते थे तथा वैदिक छन्दों के नाम भी स्वराट्, विराट् आदि दिये गये थे। ऋग्वेदादि

संहिता के कितने ही मन्त्र इन छन्दों में हैं।

यदि ऐतिहासिक दृष्टि से वेदकालीन गणतांत्रिक शासन-प्रणाली पर विचार किया जाए तो यह कहा जा सकता है कि पूर्व वैदिक युग (लगभग ई. पू. 1500-1200) में राजतन्त्रात्मक शासन-प्रणाली वर्तमान थी। विभिन प्रदेश राजा द्वारा शासित किये जाते थे, किन्तु तत्कालीन राजनैतिक तन्त्र में राजा ही सर्वेसर्वा नहीं था; उसी की निरंकुश इच्छा पर समाज आश्रित नहीं था। समाज का आधारस्तम्भ उसकी सांस्कृतिक पृष्ठभूमि थी,तथा समाज के सर्वागीण जीवन का संचालन नैतिक व आध्यात्मिक तत्वों द्वारा होता था, जिन्हें वैदिक साहित्य में 'ऋत' 'धर्म' आदि शब्दों से सम्बोधित किया गया है। राजनियमों से अधिक शक्तिशाली वरुण के ऋत का अधिकार समाज पर था। ऐसे वातावरण में राजपद निरंकुशवाद की ओर कदम नहीं बढ़ा सका, क्योंकि वह जनतन्त्रात्मक था। अतएव उत्तर वैदिक युग (लगभग ई. पू. 1200-800) में इसी राजतन्त्र में गणतन्त्रात्मक शासनप्रणालियों का विकास हुआ, जिसका स्पष्ट उल्लेख ऐतरेय ब्राह्मण में आता है।

कुछ इतिहासकारों का मत है कि प्राचीन भारत के गणतन्त्रात्मक शासन-प्रणाली का प्रारम्भ जातिगत भावनाओं से होता है। उनके मतानुसार जब आर्य लोग भारत में आये तब वे विभिन्न कबीलों में विभाजित थे, जिनका सामाजिक, राजनैतिक आदि जीवन स्वतंत्र रूप से विकसित होता था, तथा जन्म के सिद्धान्त पर अधिकार के पद प्राप्त होते थे। इन विद्वानों के मतानुसार वेदकालीन सभा, समिति आदि विभिन्न कबीलों के अपने संचालन के लिए जन्म के सिद्धान्त पर आश्रित विभिन्न संस्थाएँ थी। यदि वैदिक साहित्य का आलोचनात्मक अध्ययन किया जाय तो स्पष्ट होगा कि पूर्व वैदिक युग में भी सुसंस्कृत सामाजिक जीवन विकसित हो चुका था व जनता में कबीलों की भावना का लोप हो गया था। उस समय मानव-समाज दो विभागों में बांटा गया था (1) आर्य अथवा सभ्य सुसंस्कृत, (2) दस्यु या दास अथवा असभ्य, जंगली। इन दोनों समुदायों में भी सांस्कृतिक आदान-प्रदान हो गया था। कितने ही दस्यु आर्य सिद्धान्तों व जीवन को अपनाकर आर्यो के सामाजिक व सांस्कृतिक जीवन में घुल मिल गये थे। ऐसी परिस्थिति में यह भावना मानना कि वेदकालीन समाज विभिन्न कबीलों में विभाजित था पूर्णतया असंगत है।

(घ) उत्तर वैदिक काल की शासन पद्धतियाँ

उत्तर वैदिक युग में आदर्शो के उन्मेष तथा सामाजिक संस्थाओं की व्यवस्था के साथ ही राज्य के संघटन में भी विकास दृष्टिगोचर होता है। ऋग्वेद से ज्ञात होता है कि उस युग में प्राय: जनराज्यों की ही परम्परा थी। यदु, पुरु, दृह्य, भरत आदि जनों का उल्लेख इस ग्रन्थ में हुआ है उनका कोई निश्चित भूप्रदेश नहीं था। भ्रमणशील कबीलों के साथ ही उनके राज्य भी बदलते रहते थे। कबीली जीवन के ये संस्कार उत्तर-वैदिक युग तक भी पूर्णत: समाप्त नहीं हुए थे। शतपथ ब्राह्मण (4. 1. 5. 2) से ज्ञात होता है कि एक ग्राम अपने नेता शर्यात मानव के नेतृत्व में इधर-उधर घूमा करता था। इससे स्पष्ट है कि उत्तर-वैदिक युग में भी आर्यो के कुछ समूह अस्थायी जीवन व्यतीत कर रहे थे। प्रादेशिक (Territorial) राज्यों की स्थापना के पश्चात् भी जन-राज्यों की परम्परा का प्रभाव भी पूर्णत: नष्ट नही हो पाया था। राजसूय यज्ञ के 'देवपु-हर्विषी' नामक अनुष्ठान में राजा के लिए जान-राज्य की भी कामना

की गई है।(वाज. सं. 9.40, मै, सं, 2.6.6, मै सं. 1.8.10, काठक सं. 15.5)। यद्यपि विद्वानों ने जान-राज्य के विविध अर्थ किये हैं (द्र. यू. एन घोषाल, स्टडीज इन इण्डियन हिस्ट्री एण्ड कल्चर, पृ. 310) तथापि इस शब्द को पूर्व-वैदिक युगीन जन-राज्यों का संकेत मानना ही अधिक युक्तिसंगत होगा। सम्भवतः जान-राज्य के माध्यम से यह इच्छा व्यक्त की जाती थी कि राजा अपने जन का शासक बने (रामशरण शर्मा, आस्पेक्ट्स आव पोलिटिकल आइडियाज एण्ड इंस्टीटूयशन्स पृ. 120)। ब्राह्मण साहित्य में वर्णित राजसूय यज्ञ के प्रसंग में ऐसे अनेक अनुष्ठानों का विधान है जिनका स्वरूप पूर्णतया आदिम है (वही पुस्तक, पृ. 119-129)। इन्हीं को दृष्टि में रखते हुए घोषाल महोदय ने यहाँ तक कहा है कि उत्तर-वैदिक युग का राज-तंत्र अंशतः कबीली अवस्था में था (घोषाल, हिस्टीरियोग्रैफी एण्ड अदर एसेज, पृ. 288)।

सामान्यतः उत्तर-वैदिक युग तक स्थायी प्रादेशिक-राज्यों की स्थापना हो चुकी थी और पूर्व-वैदिक युग के अधिकांश जन पदों का रूप ग्रहण कर चुके थे (ऐत. ब्रा. 8.3.14)। उनके राजा अब राष्ट्र अर्थात् प्रदेश के भी स्वामी समझे जाने लगे थे उत्तर-वैदिक साहित्य में एकराट् का राज्य-क्षेत्र ससागर पृथ्वी बताया गया है जिससे प्रादेशिक राज्यों का पूर्ण विकास प्रमाणित होता है (ऐत. ब्रा. 8, 16, हिन्दु सभ्यता, पृ. 100)। इस युग के राजा, विश के साथ ही राष्ट्र पर भी प्रभुता स्थापित करने के लिए चिन्तित थे, ऐसा संकेत तैत्तिरीय संहिता में एक अनुष्ठान का महत्व समझे हुए किया गया है। (ऐत. ब्रा. 2.3. 1, उभे एव विशं चराष्ट्रं चावगच्छति) प्रादेशिक राज्यों की स्थापना के परिणामस्वरूप साम्राज्यवादी मनोवृत्ति में वृद्धि हुई। सार्वभौम पद की प्राप्ति के लिए तथा सागर-वेष्टित वसुधा का एकमात्र स्वामी बनने के लिए राजाओं ने वैदिक कर्मकाण्डों का आश्रय लिया। अश्वमेध, वाजपेय और ऐन्द्रमहाभिषेक जैसे यज्ञों की लोकप्रियता में वृद्धि हुई। ब्राह्मण ग्रन्थों में कुरु पंचाल, कोशल और मत्स्य के ऐसे अनेक राजाओं का उल्लेख है जिन्होंने अश्वमेध तथा ऐन्द्र महाभिषेक के द्वारा सार्वभौम प्राप्त किया। शतपथ ब्राह्मण के अनुसार जनमेजय, भीम सेन श्रुतसेन तथा भरत व सत्रजित- शतानीक आदि बारह राजाओं ने अश्वमेध द्वारा सार्वभौम पद प्राप्त किया था। सम्राट् पद की प्राप्ति के लिए सम्भवतः यज्ञ भी किया जाता था। शतपथ ब्राह्मण के अनुसार वाजपेय से सम्राट् बनता है। राज्य हीन है और साम्राज्य श्रेष्ठ (शत. ब्रा. 5.2.2.13)। सम्राट् की वास्तविक स्थिति का ज्ञान तो हमें नहीं है किन्तु इतना स्पष्ट है कि वह राजा से श्रेष्ठ समझा जाता था। राजा लोग सम्राट् पद की कामना करते थे। वैदिक राज्य होमर युगीन यूनानी राज्यों की भाँति ही आकार में छोटे रहे होंगे किन्तु फिर भी सम्राट् का राज्य-क्षेत्र अवश्य कुछ विस्तृत रहा होगा। ऐतरेय ब्राह्मण (7, 3) के अनुसार प्राच्य देश के शासकों का राज्य-क्षेत्र अवश्य कुछ विस्तृत रहा होगा। ऐतरेय ब्राह्मण (7, 3) के अनुसार प्राच्य देश के शासकों का अभिषेक साम्राज्य पद के लिए होता था (ऐत. ब्रा. 7.3. 14)। शतपथ ब्राह्मण में विदेह-राज जनक को जो प्राच्य-देशीय नरेश थे, सम्राट कहा गया है (शत ब्रा. 11.3.1.2-6)। राजसूय के अवसर पर राजा धनुष-वाण लेकर चारों दिशाओं की प्रतीकात्मक विजय के माध्यम से अपने दिग्विजय की कामना की अभिव्यक्ति करता था। उत्तर वैदिक समाज में यह धारणा प्रबल हो चुकी थी कि यज्ञों के सम्पादन से यजमान को अभीप्सित फल की प्राप्ति होती है। ऐतरेय ब्राह्मण में ऐन्द्र महाभिषेक के महत्व का वर्णन करते हुए कहा गया है कि जो व्यक्ति समुद्र पर्यन्त वसुधा का एकराट् होना चाहे वह ऐन्द्र-महाभिषेक द्वारा अभिषिक्त हो (ऐत. ब्रा.

8.15)। ऐसी स्थिति में यह प्रतीत होता है कि बहुधा राजे विशेष राजनीतिक सफलताओं के अभाव में भी इन विशिष्ट यों के सम्पादन से ही सम्राट, एकराट् तथा सर्वभौम पद के अधिकारी मान लिए जाते थे। इस दृष्टि से जनक जैसे राजाओं का सम्राट होना आपत्तिहीन भी प्रतीत होता है, क्योंकि उनके द्वारा किये गये किसी दिग्विजय का उल्लेख परवर्ती संहिताओं और ब्राह्मणों में नहीं मिलता।

इस युग में विभिन्न प्रकार की शासन पद्धतियों का प्रचलन मिलता है। हम जानते हैं कि पूर्व-वैदिक युग के जन-राज्यों की स्थिति शासन-व्यवस्था की दृष्टि से बहुमुखी प्रयोग के लिए विशेष अनुकूल नहीं थी। सुव्यवस्थित शासन-पद्धतियों का विकास तो स्थायी-प्रादेशिक-राज्यों में ही सम्भव था। ऋग्वेद और अथर्ववेद के अध्ययन की शासन-व्यवस्था में राजतन्त्र और जनतन्त्र का मिश्रित रूप दिखाई देता है। किन्तु यजुर्वेद की संहिताओं एवं ब्राह्मणों से इस बात का संकेत मिलता है कि उत्तर वैदिक युग में अनेक प्रकार की शासन-पद्धतियाँ व्यवहृत होने लगी थीं। ऐतरेय ब्राह्मण में साम्राज्य, राज्य, स्वराज्य, भौज्य और वैराग्य नाम की पाँच शासन-प्रणालियों का उल्लेख हुआ है (ऐत, ब्र. 7. 3. 14)। इनमें से प्रथम दो तो निश्चित रूप से राजतन्त्र के ही विभेद है जिनका प्रचलन क्रमशः प्राच्य देश और मध्यदेश में था। उत्तर वैदिक संहिताओं और ब्राह्मणों के अधिकांश की रचना मध्यदेश में हुई। इस बात का स्पष्ट उल्लेख है कि कुरु पांचाल के शासकों ने ही राजसूय यज्ञ का सम्पादन भी विशेष रूप से किया था (शत. ब्रा. 5. 5. 2. 5)। अतः ब्राह्मणों में वर्णित राजसूय अश्वमेध आदि यज्ञों के प्रसंग में नृपतंत्रात्मक राज्यों की व्यवस्था का विस्तृत उल्लेख मिलता है। इसके विपरीत अन्य शासन प्रणालियों के संबन्ध में प्रामाणिक सामग्री का सर्वथा अभाव है। महाभारत और अर्थशास्त्र के अध्ययन से ज्ञात तथ्यों की पृष्ठभूमि में स्वाराज्य, भौज्य और वैराज्य जनतंत्रात्मक राज्य प्रतीत होते हैं। इस प्रसंग में यह उल्लेखनीय है कि उत्तर-वैदिक युगीन सामाजिक वातावरण जनतंत्रात्मक शासन-पद्धतियों के विकास के लिए विशेष अनुकूल नहीं था। यही कारण है कि वैराज्य स्वराज्य और भौज्य शासन-प्रणालियाँ वैदिक संस्कृति के केन्द्र मध्यदेश से दूर, विशेषतः आर्य-प्रभाव से मुक्त प्रदेशों में ही प्रचलित हुई (द्र. इसी अध्याय के अग्रिम पृष्ठों में)। यहाँ उत्तर वैदिक युग में हुये उन सामाजिक परिवर्तनों पर भी न्यूनाधिक रूप से विचार करना आवश्यक है।

वर्ण-व्यवस्था के नवोदित प्रभाव के कारण जनसाधारण राजनीति से पृथक् एवं उदासीन हो चले थे। शतपथ ब्राह्मण में यहाँ तक कहा गया है कि ब्राह्मण राजकार्य के लिऐ व्यर्थ होता है (शत. ब्रा. 5.1/1.12 न वै ब्राह्मणो राज्याय अलं)। ऐसी स्थिति में वैश्यों एवं शूद्रों का राजनीति में विशेष प्रवेश निश्चय ही कठिन रहा होगा। राजनैतिक क्षेत्र में राजन्यों का प्रभाव क्रमशः बढ़ता जा रहा था। परिस्थैतिक साक्ष्य इस बात को प्रमाणित करते हैं कि समिति नामक संस्था, जिसे राष्ट्रीय सभा स्वीकार किया गया है (हिन्दू राजतंत्र, भाग 1, पृ. 12, एन, सी वन्दोपाध्याय-डेवलपमेण्ट आव हिन्दु पालिटी एण्ड पोलिटिकल थियरी, पृ. 118), ब्राह्मण युग तक लुप्त हो चली थी। ब्राह्मण साहित्य में राजसूय के विस्तृत विवरण में समिति का कोई उल्लेख नहीं है। इससे प्रकट होता है कि उत्तर-वैदिक समाज में राजतन्त्रात्मक शासन-पद्धति के विकास के साथ ही जनतंत्रात्मक संस्थाओं का अस्तित्व लुप्तप्राय हो गया (द्र. घेषाल, हिन्दू पब्लिक लाइफ, पृ. 118)। छान्दोग्य उपनिषद में पांचालों की समिति का उल्लेख अवश्य हुआ है जहाँ विद्वान् ब्राह्मणों के साथ उपस्थिति उनके राजा प्रावहण जैवलि ने श्वेतकेतु आरुणेय से पांच प्रश्न पूछे थे (छन्दोग्य

5.3)। जायसवाल महोदय ने यहाँ भी समिति को ऋग्वेद और अथर्ववेद की समिति की भाँति ही राष्ट्रीय सभा माना है तथा इसमें उपस्थित लोगों को जनता द्वारा निर्वाचित प्रतिनिधि माना है (हिन्दू राजतन्त्र, भाग 1, पृ. 13)। उनका यह मत पूर्णतः पूर्वाग्रह-जन्य कल्पना पर आधारित है। क्योंकि इस प्रसंग में समिति शब्द का प्रयोग राज-परिषद के अर्थ में हुआ प्रतीत होता है। बृहदारण्यक उपनिषद (6, 2, 1) में भी श्वेतकेतु संबंधी इस घटना का उल्लेख हुआ है। किन्तु इस प्रसंग में समिति की जगह पांचालों की परिषद का उल्लेख है। इन दोनों प्रसंगों की अतिशय समानता को देखते हुये यह प्रतीत होता है कि समिति और परिषद दोनों शब्दों का प्रयोग एक अर्थ में हुआ है। बृहदारण्यक-उपनिषद से यह भी ज्ञात होता है कि वहाँ भृत्य गण राजा की सेवा में तत्पर थे। इस प्रंसग में समिति द्वारा होने वाली किसी सार्वजनिक कार्य का कोई संकेत नहीं है। उत्तर-वैदिक संस्कृति के केन्द्र कुरु-पंचाल में यदि समिति नामक जन-सभा (Popular assembly) जीवित होती तो ब्राह्मण साहित्य उसके विषय में बिल्कुल मौन कदापि नहीं होता। सूत्र साहित्य तो समिति के नाम से भी अपरिचित है।

ऐतरेय ब्राह्मण के अनुसार वैराज्य शासन प्रणाली का प्रचलन हिमालय के समीपवर्ती प्रवेश उत्तर-कुरु और उत्तर-मद्र में था (7. 3. 14)। जिमर महोदय ने उत्तर कुरु की एकता कश्मीर से स्थापित की है जो असम्भव नहीं प्रतीत होता (जिमर-कारपोरेट लाइफ, पृ. 219 पर उद्धृत, वैदिक इण्डेक्स 1, 84)। मैक्डानेल और कीथ ने वैराज्य को राजतन्त्र का ही एक रूप माना है (वैदिक इण्डेक्स, 2, 221)। किन्तु वैराज्य शब्द का संबंध राजतन्त्र से जोड़ना असंगत प्रतीत होता है, क्योंकि इस प्रसंग में वैराज्य शब्द का प्रयोग जनपद के लिए हुआ है न कि राजा के लिए। काशी प्रसाद जायसवाल और रमेशचन्द्र मजुमदार ने वैराज्य को जनतत्र माना है (हिन्दू राजतंत्र 1, 124, कारपोरेट लाईफ, पृ. 219)।

श्री जायसवाल ने अपने मत को सतर्क प्रस्तुत करने का प्रयास किया है किन्तु उनका यह मत अन्य ज्ञात तथ्यों के अविरुद्ध नहीं है। उन्होंने वैराज्य का अर्थ 'राजा-विहीन' शासन प्रणाली किया है। ऐसी स्थिति में वैराज्य जनतंत्र का भी बोधक हो सकता है और अराजक स्थिति का भी। अथर्ववेद में स्पष्टतया 'विराड' शब्द का प्रयोग अराजक स्थिति के लिए हुआ है (अथर्व, 8, 10, 1 विराड् वा इदमग्र आसीत् तस्या जातायाः सर्वमबिभेदियमेवेदं भविष्यवीति)। फिर वैदिक साहित्य के ही एक अंग ऐतरेय ब्राह्मण में 'विराड' का अर्थ एकमात्र कल्पना के सहारे जनतंत्र करना युक्तिसंगत नहीं प्रतीत होता। संभवतः उत्तर कुरु जैसे सुदूरस्थ पर्वतीय प्रदेशों में वैदिक संस्कृति का अभाव अपेक्षाकृत देर से पड़ा। महाभारत इस बात की सूचना देता है कि उत्तरकुरु नामक प्रदेश में दीर्घकाल तक विवाह की मर्यादा नहीं स्थापित हो सकी थी (यत्र नार्यः कामचारा भवन्ति। 12. 102, 26 बाम्बे संस्करण)। इसका तात्पर्य है कि परिवार नामक संस्था, जौ वैदिक समाज में पूर्णतः स्थिर हो चुकी थी, यहाँ बहुत बाद में व्यवस्थित हुई। हम जानते हैं कि परिवार और व्यक्तिगत संपत्ति की भावना का राज्य के विकास में अनिवार्य योग रहा है (राकहिल-दि लाइफ आफ बुद्ध, पृ. 4-7)। सामाजिक अव्यवस्था की स्थिति में राजनैतिक व्यवस्था की कल्पना निराधार है। असम्भव नहीं है कि अथर्ववेद में वर्णित अराजकता की स्थिति (विराड) उत्तर-कुरु और उत्तर-मद्र में काफी समय तक बनी रही हो। इस अराजक स्थिति में सार्वधिक समस्याओं पर जनता ही विचार करती होगी। इसलिए सम्भवतः ऐतरेय ब्राह्मण में वैराज्य के लिए सम्पूर्ण जनपद के अभिषेक की बात कही गई है। इससे स्पष्ट है कि वैराज्य एक ऐसी स्थिति थी जिसमें

राजशक्ति के अभाव में जनता के विचारों की प्रधानता रही होगी, किन्तु साथ ही राजनैतिक संगठन की चेतना का अभाव रहा होगा। ऐसी दशा में उत्तर-वैदिक युगीन वैराज्य को सुविकसित एवं संगठित प्रजातन्त्र न मानकर अराजक-स्थिति मानना ही अधिक युक्तिसंगत एवं ज्ञात तथ्यों के अनुकूल होगा।

ऐतरेय ब्राह्मण के अनुसार स्वराज्य शासन-प्रणाली का प्रचलन प्रतीची-दिशा (पश्चिम) के नीच्यों और अपाच्यों में था (सायण ने नीच्य और अपाच्य शब्दों का प्रयोग कुत्सित अर्थ में माना है। कुछ विद्वानों ने नीच्यों को सिन्ध नदी के मुहाने के समीप रखने का प्रयास किया है तथा अपाच्यों को उनका पड़ोसी माना है (हिन्दू पालिटी, पृ. 81)। उत्तर-वैदिक, युग की भौगोलिक परिधि इस बात को प्रमाणित करती है कि पंजाब से दक्षिण-पूर्व की ओर बढ़ते हुए वैदिक-जन पश्चिमीय भारत के उपनिवेशीकरण के प्रति उदास ही रहे। इससे स्पष्ट है कि इस युग तक पश्चिमी भारत का अधिकांश भाग वैदिक संस्कृति के प्रभाव क्षेत्र के बाहर था। इसके विपरीत इस क्षेत्र में अनार्य सैन्धव संस्कृति का अस्तित्व दीर्घ काल तक कायम रहा। रंगपुर ओर लोथल के उत्खनन से प्राप्त अवशेषों से यह प्रमाणित है कि सैन्धव-संस्कृति की परम्परायें, पंजाब और सिन्ध में विनष्ट होने के पश्चात् भी पश्चिम में गुजरात और काठियावाड़ तक वैदिक संस्कृति के विकास काल में भी जीवित रही। परिस्थैतिक साक्ष्यों को ध्यान में रखते हुए पश्चिमीय प्रदेशों में प्रचलित स्वराज्य शासन पद्धति को सैन्धव सांस्कृतिक परम्पराओं से सम्बन्धित करना सर्वथा स्वाभाविक होगा। स्वराट वे थे जिनकी स्थिति समानों में ज्येष्ठ की थी। तैत्तिरीय ब्राह्मण में स्वराज्य का अर्थ समान लोगों का नेता होना या ज्येष्ठ्य प्राप्त करना बतलाया गया है। स्वराट शासक की स्थिति गण या संघ के सभापति की थी। महाभारत से यह ज्ञात होता है कि गणों के शासन में कतिपय कुलीन परिवारों का ही हाथ था जिनकी स्थिति समान मानी जाती थी (शान्तिपर्व, अध्याय 107, श्लोक 6, जात्या च सदृशाः सर्वे कुजे सदृशास्तथा)। इस प्रकार स्वाराज्य एक कुलीन तंत्रात्मक-शासन-पद्धति प्रतीत होती है। इस प्रकार की शासन-पद्धति बौद्ध युग में लिच्छवियों में प्रचलित थी। उत्तर-वैदिक युग में विदेह में राजतंत्र का प्रचलन था किन्तु बौद्ध युग तक हम यहाँ गणतंत्र का आकस्मिक विकास देखते हैं। सम्भव है कि इस परिवर्तन के पीछे भी सैन्धव संस्कृति का प्रभाव रहा हो। इस अनुमान के लिए कोई प्रबल आधार तो नहीं है। किन्तु पुरातात्विक साक्ष्यों का सांकेतिक समर्थन अवश्य प्राप्त है। एक तरफ जहाँ, स्वाराज्य शासन-प्रणाली और लिच्छवियों की शासन-प्रणाली में समानता मिलती है वहीं दूसरी ओर मोएन्जोदड़ो से प्राप्त विशाल भवन एवं स्नानागार वैशाली के स्नानागार और अभिषेक पुष्करिणी की याद दिलाते हैं। सैन्धव संस्कृति के प्रभाव का सुदूर पूर्व में वैशाली तक पहुँचना असम्भव अवश्य प्रतीत होगा किन्तु उनकी भौतिक परम्पराओं का प्रभाव निश्चित रूप से कौशाम्बी तक दृष्टिगोचर होता है (जी. आर. शर्मा, एक्सकेवेसन्स एट कौशाम्बी, पृ. 6)। ऐसी स्थिति में इस प्रभाव का वैशाली तक पहुँचना असम्भाव्य नहीं है। दक्षिणात्यों में प्रचलित भौज्य शासन-पद्धति भी स्वाराज्य से मिलती जुलती गणतंत्रात्मक व्यवस्था थी। ऐतरेय ब्राह्मण के अनुसार भौज्य शासन प्रणाली सत्वत (यादवों का ही पुराना नाम) लोगों में प्रचलित थी। जायसवाल महोदय ने गुजरात को भौज्य लोगों का प्राचीनतम निवास-स्थान माना है (हिन्दू पालिटी, पृ. 80)। भोज आज भी काठियावाड़ के एक देसी रियासत का नाम है। इससे प्रतीत होता है कि भौज्य शासन पद्धति का प्रचलन दक्षिण-पश्चिम दिशा में था। ऐतरेय ब्राह्मण के लेखक के लिए गुजरात को दक्षिण मानना अस्वाभाविक नहीं है। सम्भवतः भौज्य वे शासक

थे जो वंशानुगत न होकर एक निश्चित काल के लिए शासक होते थे। भौज्य-शासन एक परिषद की सहायता से चलता था। महाभारत परिषद में होने वाले उग्र वाद-विवाद एवं सदस्यों की पारस्परिक स्पर्धा की भी सूचना देता है (शान्तिपर्व 81-7-11)। महाभारत से ज्ञात होता है कि वासुदेव कृष्ण ऐसे ही भोज्य संघ के प्रमुख थे जिनका संगठन अंधक, वृष्णि, यादव, कुकुद और भोज ने स्वयं को मिलाकर किया था (यादवाः कुकुराः भोजाः सर्वेचन्धकवृष्णयः त्वय्यायत्ता महाबाहो लोका लोकेश्वराश्चये। शान्तिपर्व 81.29)। उत्तर-वैदिक युग में भौज्य शासन प्रणाली का ही प्रचलन था। अथर्ववेद में वीतहव्यों के सहस्रों की संख्या में शासन करने का उल्लेख है, जिससे उनकी गणतंत्रात्मक शासन-प्रणाली प्रमाणित होती है। इन वीतहव्यों का सम्बन्ध है हयों से था जो यादवों की ही एक शाखा थे (डा. राजबली पाण्डेय का लेख, 'इण्डियन हिस्ट्री कांग्रेस 1952, भाग 1, पृ. 79-85)। यादवों में भोज्य शासन प्रणाली का प्रचलन अप्रत्याख्येये है। भोज्य शासन पद्धति भी अधिकांशतः वैदिक संस्कृति से अप्रभावित प्रदेशों में प्रचलित होने के कारण तथा स्वराज्य से मिलती-जुलती होने के कारण अनार्य शासन पद्धति ही प्रतीत होती है। इस प्रसंग में यह बतलाना उचित होगा कि सहस्रों की संख्या में शासन करने वाले वीतहव्य घोर ब्राह्मण-विरोधी थे। अथर्ववेद में ब्राह्मणों के विरोध और शाप के कारण इनके विनाश की बात भी कही गई है।

(1) राजतन्त्र

राजतंत्रात्मक शासन-पद्धति उत्तर-वैदिक युग की सामान्य तथा लोकप्रिय व्यवस्था थी। इस युग के राजाओं ने वैदिक कर्मकांडों में विशेष अभिरूचि दिखाई। राजनैतिक महत्व के विविध यज्ञों के प्रसंग में राजाओं की महत्वकांक्षा, उनके अधिकार और कर्तव्य आदि का सांकेतिक उल्लेख भी हुआ है। ज्ञात तथ्यों के आधार पर यहाँ तक कहा जा सकता है कि राजतंत्रात्मक शासन-व्यवस्था के माध्यम से उत्तर वैदिक काल में सर्वप्रथम राजा की अपेक्षाकृत नियंत्रित सत्ता का विकास तथा जनता के शोषण की प्रक्रिया प्रारम्भ होती है। राजा की शक्ति केवल दैवी विधि-नियम द्वारा सीमित थी (वन्दोपाध्याय, डेवलपमेण्ट आव हिन्दू पालिटी एण्ड पोलिटिकल थियरी, पृ. 125)।

आनुर्वंशिक राजपद

इस बात को सिद्ध करने के लिए पर्याप्त प्रमाण हैं कि प्रारम्भ में राजा के निर्वाचन की ही प्रथा सम्मान्य थी। ऋग्वेद में तो राजा के निवार्चन का उल्लेख मिलता ही है, अथर्ववेद में भी विश द्वारा राजा के वरण की कामना की गई है (3.4.2)। किन्तु निर्वाचन की यह प्रथा उत्तर-वैदिक युग तक राजशक्ति में वृद्धि, राज्य की विशालता तथा जनता की उदासीनता के कारण धीरे-धीरे अव्यावहारिक हो चली थी। ऐतरेय ब्राह्मण (8.12.5; 17. 5) के अनुसार राजा को राजसूय के अवसर पर राज-पितृ भी कहा जाता था (ऐत. आ. 8.18 राजानं राजपितरं) जिनका तात्पर्य है 'भावी राजा के पिता'। इस विरुद से राजपद का आनुवंशिक होना प्रमाणित होता है। शतपथ ब्राह्मण में दस पीढ़ियों से शासित राज्यों का उल्लेख है (शत. ब्रा. 12.9.3.3)। कुरु जनपद में भी वंशानुगत शासन की परम्परा थी। इससे प्रतीत होता है कि इस युग में नृपतन्त्र सामान्यतः वंशानुगत था। वर्ण-व्यवस्था के विकास के कारण विविध वर्ण एवं व्यवसाय वंशानुगत हो गये थे। पैतृक या वंशानुगत व्यवसाय को ग्रहण करना ही धर्म समझा जाने लगा था।

उत्तर-वैदिक युग में भी विश्वामित्र अथवा देवापि न हो सका तो पैतृक व्यवसाय को त्याग कर स्वतंत्रतापूर्वक पौरोहित्य कर सके। ऐसी स्थिति में राजपद का आनुवंशिक होना सामाजिक व्यवस्थापन के अनुकूल भी था। राजा अब विश द्वारा निर्वाचित होने वाला जन का नेता नहीं था। वह स्वयं अब 'विशामत्ता' (विश का भक्षक) बन चुका था (ऐत. ब्रा. 38 और 39.3)। अब राजा को अपनी स्थिति दृढ़ करने के लिए राजन्यों एवं अन्य सजात राजपुत्रों की सहायता अपेक्षित थी। ये सजात राजपुत्र अक्सर प्रतिस्पर्धा से युक्त होने के कारण राजा के लिए विपत्ति हो जाते थे। भ्रातृव्य शब्द का शत्रुवाची अर्थ इसका संकेत करता है। हम जानते हैं कि महाभारत युद्ध के पीछे भ्रातृव्यों का संघर्ष ही था। सम्भवतः इन्हीं सजात राजपुत्रों को दृष्टि में रखते हुए राजा के लिए 'असपत्न' होने की कामना की गई है (यजुर्वेद 8. 40)। शतपथ ब्राह्मण में यह कहा गया है कि राजा वही हो सकता है, जिसे राजा लोग स्वीकार करें, दूसरा नहीं हो सकता (9.3. 4. 5)। यहाँ राजनः राजन्य का पर्यायवाची प्रतीत होता है जिनका समर्थन राजा को अपनी स्थिति सुरक्षित करने के लिए अनिवार्य था। अथर्ववेद के एक मन्त्र के आधार पर यह निष्कर्ष निकाला गया है कि बहुधा कतिपय कारणों से प्रजा ही राजा को निर्वासित भी कर सकती थी तथा यदि जनता उसे पुनः राजपद पर प्रतिष्ठित करना चाहे तो उसे वापस भी बुलाया जा सकता था (अथर्ववेद 3. 3. 5)। किन्तु इस प्रसंग में न तो जनता द्वारा निर्वासन का ही कोई संकेत है और न तो जनता द्वारा उसके पुनः राजपद पर प्रतिष्ठित होने का ही। उक्त मन्त्र में यह कहा गया है कि 'वह जो अन्य क्षेत्र में अवरुद्ध है, वह श्येन द्वारा पराये स्थान से पुनः यहाँ लाया जायगा। अश्विन उसके लिए मार्ग को सुगम कर देगें। सब सजात उसके चारों ओर एकत्र होंगे'। सायणाचार्य के भाष्य से स्पष्ट है कि इस मन्त्र में शत्रूत्सादित राजा का उल्लेख है न कि जनता द्वारा निर्वासित राजा का। इस सूक्त में राजा के पुनरागमन तथा राज्य प्राप्ति के पीछे भी सजातों की सहायता का ही संकेत है न कि विश के।

राजशक्ति का विस्तार एवं राजा के विशेषाधिकार

इस युग में राजाओं की शक्ति का चरम उत्कर्ष दिखाई देता है। अथर्ववेद में उसे योद्धाओं में श्रेष्ठ, धनपति और जनता का स्वामी कहा गया है (अथर्ववेद 4. 22) राजसूय के एक अनुष्ठान के अनुसार ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य प्रत्येक राजा के लिए एक गाय छोड़ता है (तै. सं 1. 8. 26, तै, ब्रा,1. 7. 17)। इसका तात्पर्य यह है कि राजा का प्रभुत्व प्रत्येक वर्ण पर है। उसके क्रोध का आतंक भी क्रमशः बढ़ता जा रहा था (अथर्व, 6. 47. 2 अन्यत्र राज्ञामभियातु मन्युः)। शतपथ ब्राह्मण (5. 4. 3. 21) में अभिषिक्त राजा के सम्बन्ध में कहा गया है कि "जिसका अभिषेक हो गया है वह अब महान हो गया है पृथ्वी अब उससे भय खाती है।" यहाँ पृथ्वी का भय निश्चित रूप से राष्ट्र का भय है। इस प्रकार यह स्पष्ट है कि राजा की सत्ता सर्वकंष्र हो चुकी थी, वह राज्य के सम्पूर्ण क्रिया-चक्र का केन्द्र समझा जाने लगा था (क्षत्रस्य योनिरसि क्षत्रस्य नाभिरसि। शुक्ल यजुर्वेद 20.1) शतपथ ब्राह्मण (5. 2. 1. 25) में भी इसी भाव को प्रकट करते हुए कहा है कि 'यह तुम्हारा राष्ट्र है तुम इसके नियामक और धारणाकर्ता हो। इस युग में हम राजाओं के व्यक्तित्व में दैवी गुणों एवं विशेषणों का भी आरोप पाते हैं। राजा को वरुण के समान धर्मपति कहा गया है। इसके साथ ही इन्द्र की उपाधियाँ भी राजा को लगाई जाने लगी थीं। (ऐत. ब्रा. 8. 2)। राज्याभिषेक के अवसर पर पुरोहित कहता है कि भगवान सविता के ही आदेश से अभिषेक किया जाता है तथा यह अभिषेक मनुष्य द्वारा न होकर पूषन और अश्विनी कुमारों द्वारा ही

सम्पन्न होता है। ऐसा विश्वास था कि अभिषेक के समय राजा के शरीर में अग्नि सविता और वृहस्पति देवता प्रवेश करते हैं। बहुसंख्यक प्रजा द्वारा राजाज्ञा के पालन का एक कारण यह बतलाया गया है कि राजा प्रजापति का प्रत्यक्ष रूप है शत. ब्रा. 5. 1. 5. 14 एष वै प्रजापतेः प्रत्यक्षतमो यद्राजन्यः)। इस प्रकार आंशिक रूप से राजाओं के देवत्व की कल्पना भी प्रारम्भ हो गयी थी। अथर्ववेद के एक उत्तर-कालीन सूक्त में (20, 127.7) राजा परीक्षित को स्पष्ट रूप से मर्त्यों का देवता कहा गया है।

ब्राह्मण युग तक राजा अपने वर्द्धमान प्रभाव के कारण अदंड्य भी समझा जाने लगा था। राजसूय के एक कृत्य के अनुसार पुरोहित एक दंड से बहुत कोमलता पूर्वक राजा के पीठ का स्पर्श करता था। श्री काशी प्रसाद जायसवाल के अनुसार इस प्रतीकात्मक अनुष्ठान द्वारा यह सूचित किया जाता था कि राजा न्याय या दंड के ऊपर नहीं बल्कि उसके अधीन है (हिन्दू पालिटी, पृ. 217)। किन्तु शतपथ ब्राह्मण (5. 4. 4. 7) के अनुसार इसके द्वारा राजा का शरीर दंड-वध से परे हो जाता है। यही आशय कात्यायन श्रौतयूत्र में भी प्रकट किया गया है सू. (15. 7. 6) । इन दोनों उद्धरणों की प्रामाणिकता को दृष्टि में रखने पर यह निर्विवाद रूप से सिद्ध होता है कि इस अनुष्ठान द्वारा पुरोहित न्याय के समक्ष राजा के अदण्ड्य होने की ही घोषणा करता था (द्र. यू. एन वोषाल, हिस्टोरियोग्रैफी एण्ड अदर एसेज, पृ. 269)। राजा का यह न्याय-विषयक विशेषाधिकार उस वातावरण में असम्भव नहीं प्रतीत होता जिसमें वह ऋत के रक्षक वरुण की भाँति साक्षात धर्मपति समझा जाने लगा था। इस कृत्य को पुरोहित के प्रभुत्व का द्योतक मानना (वेबर, पूर्व निर्दिष्ट पुस्तक पृ. 2 पर उद्धृत) अथवा आदिम परम्परा का अवशेष मानना (आर.एस. शर्मा एस्पेक्ट्स आव पोलिटिकल आइडियाज एण्ड इन्स्टीट्यूशन्स, पृ. 123) आवश्यक कल्पनायें हैं।

इस बढ़ती हुई राजशक्ति का तत्कालीन सामाजिक-व्यवस्था पर प्रबल प्रभाव पड़ा। राजनैतिक प्रभुत्व के कारण क्षत्रियों के गौरव में वृद्धि हुई। ऐतरेय ब्राह्मण में विभिन्न वर्णो तथा राजाके सम्बन्ध का संकेत करते हुए राजा को ब्राह्मण को इच्छानुसार निष्काषित करने वाला, वैश्य का भक्षक तथा शूद्रका यथाकाम वध करने वाला कहा गया है (ऐत. ब्रा. 7. 29)। विचारणीय है कि इस प्रसंग में राजा का प्रभाव क्षत्रिय वर्ण पर नहीं दिखलाया गया है क्योंकि वह स्वयं क्षत्रियों का ही प्रतिनिधि था। ऐसी स्थिति में उत्तर वैदिक साहित्य में क्षत्रियों की सामाजिक श्रेष्ठता का प्रतिपादन सर्वथा स्वाभाविक है। तैत्तिरीय ब्राह्मण में यह कहा गया है कि राजा जो चाहता है ब्राह्मण को वही करना पड़ता है (1, 4, 10)। क्षत्रियों की इस वर्धमान प्रभुता तथा सामाजिक श्रेष्ठता का विरोध वैश्य और शूद्र तो नहीं कर सके किन्तु धर्म-प्राण प्रजा के पूज्य धर्माधिकारियों में इसकी प्रतिक्रिया अवश्य हुई। ब्राह्मणों ने क्षत्रियों की बढ़ती हुई शक्ति के प्रतिरोध का विशेष प्रयास तो नहीं किया क्योंकि शक्तिशाली राजन्य ब्राह्मण और धर्म दोनों का गोप्ता समझा जाता था (घोषाल-स्टडीज इन इण्डियन हिस्ट्री एण्ड कल्चर, पृ. 337) किन्तु उन्होंने क्षत्रियों के समक्ष अपनी श्रेष्ठता को सुरक्षित रखने का भरपूर प्रयत्न किया। राजसूय के प्रकरण में देवषुहर्विषी नामक अनुष्ठान के प्रसंग में पुरोहित एकत्र लोगों से कहता था 'हे मनुष्यो, यह तुम्हारा राजा है। हमारे ब्राह्मणों का राजा सोम है (सोमोऽस्माकं ब्राह्मणानां राजा)। शतपथ ब्राह्मण में इसे स्पष्ट करते हुए कहा है कि ब्राह्मण को पार्थिव नरेश के प्रभाव से मुक्त करने का तात्पर्य यह है कि राजा को 'कर' ब्राह्मणोत्तर लोगों से ही लेना चाहिए (शत. ब्रा. 5. 4. 2. 3)। उत्तर वैदिक युगीन ब्राह्मणों की यह मान्यता विरल नहीं है। शतपथ

ब्राह्मण (13. 6. 2. 18) में स्पष्ट कहा गया है कि राजा अपनी सम्पूर्ण भूमि पुरोहितों को दान में देता है तब उस दान के अन्तर्गत ब्राह्मण की सम्पत्ति नहीं आती। वशिष्ठ ने अपने धर्मशास्त्र (1.44) में सम्भवतः इन्हीं वैदिक प्रसंगों के आधार पर यह नियम बना डाला कि राजा को ब्राह्मण पर 'कर' नहीं लगाना चाहिए तथा गौतम धर्मसूत्र में कहा गया कि राजा का शासन ब्राह्मण वर्ग पर नहीं चल सकता (1. 11)। शतपथ के निर्देश तथा उत्तर-वैदिक सामाजिक पृष्ठभूमि को देखते हुए यह नहीं स्वीकार किया जा सकता कि 'राजसूय के अवसर पर पुरोहित द्वारा कहे गये उपर्योक्त वाक्य में राजा को ही सोम (देवता) कहा गया है तथा इस कथन द्वारा राजा की ही श्रेष्ठता व्यक्त की गई है न कि ब्राह्मण की राजसत्ता से मुक्ति' (हिस्टरमैन-दी ऐन्शयेन्ट इण्डियन रायल कन्शपशन, पृ. 77-78 जायवाल-'हिन्दू राजतन्त्र, खण्ड 2, पृ. 50-53)। इतना ही नहीं ब्राह्मण वर्ग ने अपनी सर्वोच्च सामाजिक स्थिति को सुरक्षित रखने के लिए पर्याप्त मनोवैज्ञानिक आधार प्रस्तुत करने का प्रयास किया। राजन्य राष्ट्र के प्रभु थे। उनके सम्मुख बिना उनकी सहमति के अपनी श्रेष्ठता को स्थिर रखना कठिन था। इसलिए राजा द्वारा ब्राह्मण के समक्ष अपनी हीनता का प्रदर्शन तथा ब्राह्मण की श्रेष्ठता का स्वीकरण ही राजा और राष्ट्र दोनों के अभ्युदय का कारण बतलाया गया। शतपथ ब्राह्मण में कहा गया है कि राजा ब्राह्मण के प्रति नम्र होता है वही शत्रु केलिए बलशाली होता है (5. 4. 4. 15)। इसी आशय का एक मन्त्र ऋग्वेद में भी मिलता है, जिसमें यह कहा गया है कि जो राजा पुरोहित का यथेष्ट सम्मान करता है वह शत्रुओं पर विजय तथा प्रजा से सम्मान प्राप्त करता है। इसी प्रकार ऐतरेय ब्राह्मण में भी राजा का ब्राह्मण के वशीभूत होना राष्ट्र के लिए श्रेयस्कर कहा गया (ऐत. ब्रा. 8.4)। राज्याभिषेक के अवसर पर राजा तीन बार ब्राह्मण को नमस्कार करता था। ऐतरेय ब्राह्मण के अनुसार जब तक वह ऐसा करता है, तभी तक उसकी समृद्धि होती है (8. 1)। इस युग में ब्राह्मणों ने कुछ ऐसे भी नियम बनाये जिससे राजनीति में भी उनका प्रवेश अपरिहार्य हो गया। एक तरफ जहाँ उन्होंने अपनी सामाजिक प्रधानता तथा विशिष्ट स्थिति का प्रतिपादन किया वहीं अनिवार्य अनुग्रह द्वारा राजाओं को कृतज्ञ तथा नम्र बनाये रखने का व्यावहारिक प्रयास भी किया। तैत्तिरीय ब्राह्मण में यह स्थापना मिलती है कि विना पुरोहित के देवता, राजा की बलि स्वीकार नहीं करते (1. 7. 1)। शतपथ ब्राह्मण में प्राप्त राजसूय के विवरण से भी स्पष्ट है कि राजा को अपनी स्थिति दृढ़ करने के लिए समाज के विभिन्न वर्गों के सहयोग की आवश्यकता थी तथा देवताओं की कृपा भी अपेक्षित थी। पुरोहित जनमत को भी राजा के अनुकूल करता था और साथ ही यज्ञों द्वारा राजा को दैवी अनुग्रह का पात्र भी बनाता था। ऐतरेय ब्राह्मण के अनुसार जिस राजा के राज्य का गोप्ता ब्राह्मण पुरोहित हो वही अपनी शक्ति से विजय प्राप्त करता है तथा उसी को विश भी एकमत से स्वीकार करती है। राजनैतिक जीवन में ब्राह्मणों की यह महत्ता केवल सैद्धान्तिक नही थी। व्यावहारिक जीवन में भी अधिकांशतः इसे स्वीकृत किया गया था। शतपथ ब्राह्मण को छोड़कर अन्य सभी ग्रन्थों में रत्नियों की सूची में पुरोहित का ही नाम प्रथम है। राजसूय के अवसर पर यज्ञिय तलवार को क्रमशः अनेक उपस्थित लोग धारण करते थे। शुक्ल यजुर्वेद के अनुसार सर्वप्रथम अध्वर्यु ही ग्रहण करता था तथा तत्पश्चात् राजा को देता था। शतपथ ब्राह्मण (4, 4, 15, 19) में इस कृत्य का अभिप्राय बतलाते हुए कहा गया है कि प्रत्येक व्यक्ति तलवार को अपने से निम्न स्तर वाले व्यक्ति को देता है। इन प्रमाणों से स्पष्ट है कि उत्तर-वैदिक युग में सामाजिक जीवन की भांति ही राजनैतिक जीवन में भी ब्राह्मण पुरोहित का पर्याप्त प्रभाव था (देखिए

घोषाल स्टडीज इन इण्डियन हिस्ट्री एण्ड कल्चर, पृ. 322) किन्तु इसका तात्पर्य यह नहीं कि इस युग में राज्य के ऊपर धर्म का अथवा राजा के समक्ष ब्राह्मण का प्रभाव एक पूर्णतः मानय स्थिति थी। यत्र-तत्र ब्राह्मण ग्रन्थों में ही राजनैतिक अवसरों पर पुरोहित का स्थान गौण तथा अन्य पदाधिकारियों का स्थान प्रमुख दिखाई देता है। शतपथ-ब्राह्मण रत्नियों की सूची में पुरोहित के पहले सेनानी को स्थान देता है, शत. ब्रा. 5.3.1) तथा पंचविंश ब्राह्मण में वीरों का उल्लेख करते हुए पुरोहित का नाम राज-भ्राता और राज-पुत्र के बाद रखा गया है। कृष्ण-यजुर्वेद में यज्ञिय तलवार के क्रमिक हस्तांतरण के प्रसंग में शुक्ल यजुर्वेद के विपरीत राजा का नाम प्रथम और पुरोहित से पूर्व है (पंच. ब्रा. 18: 1. 4)। इससे स्पष्ट है कि वैदिक पुरोहित लेखकों के अनुसार भी राज्य पूर्णतया सम्प्रदाय अथवा धर्म द्वारा अनुशासित नहीं था (घोषाल-स्टडीज इन इण्डियन हिस्ट्री एण्ड कल्चर, पृ. 305)। दूसरे इस युग में ऐसे शासक भी अज्ञात नहीं थे जिन्होंने ब्राह्मणों के विरुद्ध आचरण किये। ब्राह्मणों की गाय छीनने वाले राजा के लिए जो भयंकर शाप उच्चरित हुए हैं उनके लक्ष्य ऐसे ही राजे रहे होंगे (अथर्ववेद 12.5, 13;1.1-25) जो धर्मगुरुओं द्वारा राज्य में हस्तक्षेप का विरोध करते थे। ऐसी स्थिति में ही राज्य और धर्म का संघर्ष हुआ होगा। निश्चय ही अपने विशेषाधिकारों का विरोध करने वाले राजाओं को ब्राह्मणों ने अभिशाप दिया होगा तथा उनके पतन के लिए षड्यन्त्र भी किये होंगे। ब्राह्मण ग्रन्थों में ऐसे अनेक उल्लेख हैं कि ब्राह्मणों के विरोध के कारण राजाओं को राज्य तथा सिंहासन से हाथ धोना पड़ा। राजा परक्षित ने ब्राह्मणों के प्रति अनुचित व्यवहार किया जिसके कारण उन्हें राजगद्दी छोड़नी पड़ी। इसी प्रकार दस पीढ़ी से शासनारूढ़ सृंजयोंका राज्य नष्ट हो गया। महाभारत में भी ब्राह्मण-विरोधी राजाओं के पतन की अनेक कथायें उपलब्ध हैं।

(2) राजशक्ति की मर्यादा एवं राजा के कर्तव्य

जैसा कि ऊपर भी संकेत किया जा चुका है, उत्तर वैदिक कालीन राजतंत्र से समिति जैसी लोकसंस्थाओं के लोप के कारण राजसंस्था पर वाह्य अंकुश का अभाव था। कुछ विद्वानों ने राजसूय के प्रसंग में उल्लिखित रत्नियों की समिति का निर्वाचित प्रतिनिधि सिद्ध करने का प्रयास किया है (हिंदू राजतंत्र भाग 2, पृ. 34)। किन्तु जैसा कि हम आगे विचार करेंगे, रत्नि केवल राज्य-कर्मचारी थे। प्रमाणों को दृष्टि में रखते हुए यह नहीं कहा जा सकता कि शासन में महत्वपूर्ण स्थिति रखते हुए भी रत्नि लोग राजशक्ति को मर्यादित करने में समर्थ थे। राजा की प्रभुता सर्वोपरि थी। सम्पूर्ण विश पर उसका प्रभाव था (अथर्ववेद 4. 22. 7)। अपनी स्थिति का लाभ उठाकर कुछ राजे निरंकुश और आततायी भी हो जाते थे। वैदिक साहित्य में ऐसे राजाओं की घोर निन्दा की गयी है। अथर्ववेद (5. 19.15) का कथन है कि अधार्मिक राजा के राज्य में वर्षा नहीं होती और उसे समिति तथा मित्र-वर्ग का सहयोग नहीं प्राप्त होता। शतपथ ब्राह्मण में उस राजा के लिए 'राष्ट्रीय' शब्द का प्रयोग हुआ है जो निरंकुशतापूर्वक राष्ट्र के साधनों का प्रयोग एकमात्र अपने लिए करता है। वहीं पर यह कहा गया है कि जिस प्रकार यव को हरिण खा जाता है उसी प्रकार निरंकुश और अत्याचारी राजा, प्रजा को खा डालता है। साथ ही जिस प्रकार शिकारी, पुष्ट पशु का वध कर डालता है उसी प्रकार निरंकुश राजा प्रजा को नहीं छोड़ता (शत. ब्रा. 13.2. 3. 8)। किन्तु सामान्यतः राजा दैवी पुरातन नियमों तथा सामाजिक परम्पराओं के विरुद्ध आचरण नहीं करता था, (घोषाल-स्टडीज इन इण्डियन हिस्ट्री एण्ड कल्चर, पृ. 349)। विधि नियम साक्षात देवदत्त

माने जाते थे और यह अनिवार्य समझा जाता था कि राजा उनका पालन करे। धर्म से बढ़कर कोई वस्तु नहीं है अतः धर्म का पालन राजा का नित्य और आवश्यक कर्तव्य था (तदेत्क्षत्रस्य क्षत्र यद्धर्मस्तस्माद्धर्मात्परं नास्ति बृहदारण्यक उप. 1.4.14)। इस धर्म के निरूपक ऋषि थे न कि राजा। आपाततः राजा की शक्ति अनियंत्रित और अमर्यादिक अवश्य थी किन्तु वास्तव में उसका शासन पूर्णतया समाज द्वारा निर्धारित नियमों एवं आदर्शों के अनुरूप होने के कारण पर्याप्त रूप से मर्यादित और लोकमतापेक्षी होता था। जनता के धर्मभीरु होने के कारण राजा समाज द्वारा स्थापित मान्यताओं को नहीं तोड़ सकता, था। संसार के सर्वप्रथम राजा वरुण को यह प्रतिज्ञा करनी पड़ी थी कि श्रुति स्मृतियों में जो धर्म कहा गया है, उसका पूरा पालन करूँगा और कभी मनमानी नहीं करूँगा (महाभारत 12.49.116)। सामाजिक नियम राजा की इच्छा से अधिक महत्वपूर्ण थे। राजा वरुण की भांति धर्मपति समझा जाता था (शत. ब्रा. 5.3.3.-6 और 9)। इसका तात्पर्य है कि वरुण की भांति ही राजा द्वारा 'ऋत' की रक्षा की कामना की जाती थी। ऐसी स्थिति में भला राजा स्वयं धर्म की मर्यादाओं का उल्लंघन किस प्रकार कर सकता था। धर्म के विरुद्ध आचरण करने वाले राजाओं के लिए पदभ्रष्ट होने का भय बना रहता था। इस बात के उदाहरण हम दे चुके है किस प्रकार धर्माधिकारियों के विरोध के कारण अनेक राजाओं एवं राजवंशों को राज्य-च्युत होना पड़ा। शतपथ ब्राह्मण (5.4.3.21) में स्पष्ट कहा गया है कि राजा शक्तिशाली होते हुए भी पृथ्वी से भय खाता है कि कहीं पृथ्वी उसे पद-भ्रष्ट न कर दे। इसीलिए राजा पृथ्वी अर्थात् राष्ट्र के साथ मैत्रीपूर्ण संबंध स्थापित करते हुए कहता था 'पृथ्वी तू मेरी माता है। न तू मेरी हत्या कर और न मैं तुम्हारी हत्या करूँ।' इस प्रसंग में राज्यारोहण के समय राजा द्वारा की गई एक प्रतिज्ञा विशेष महत्वपूर्ण है। राजा श्रद्धासहित यह प्रतिज्ञा करता था कि 'जिस रात्रि में मैं पैदा हुआ तथा जिस रात्रि में मैं मरूँगा, इन दोनों के बीच जितने भी यज्ञ या अनुष्ठान मैंने किये हैं, उनसे तथा स्वर्ग लोक और अपनी सन्तान से वंचित हो जाऊँ, यदि तुमसे द्रोह करूँ (ऐत ब्रा. 8.3.15)। वेबर महोदय ने तथा श्री घोषाल ने यह मत प्रतिपादित किया है कि इस प्रसंग में राजा जो प्रतिज्ञा करता था वह पुरोहित के प्रति होती थी (वेबर, स्टडीज इण्डियन हिस्ट्री एण्ड कल्चर, पृ. 330 पर उद्धृत) उनके अनुसार इससे केवल ब्राह्मणों की उस अहंमन्यता का बोध होता है जिसके द्वारा राजा को अपने प्रति विनीत बनाने की कोशिश करते थे। किन्तु राजसूय के अवसर पर समाज के विविध वर्गों के लोग उपस्थित रहते थे। उन सबके प्रति राजा का उत्तरदायित्व था। राज्य उसे पुरोहित अकेला नहीं प्रदान करता था। ऐसी स्थिति में राजसूय जैसे सार्वजनिक महत्व के अवसर पर राजा द्वारा पुरोहित के प्रति अपनी श्रद्धा और कर्तव्यपरायणता दिखलाना सर्वथा अस्वाभाविक और विचित्र लगता है। जायसवाल तथा रमेशचन्द्र मजुमदार का वह मत अधिक ऐतिहासिक और ग्राह्य प्रतीत होता है कि राजा पुरोहित के माध्यम से सम्पूर्ण जनता के प्रति अपनी कर्तव्य निष्ठा के सूचनार्थ इस प्रतिज्ञा को दुहराता था (जायसवाल-हिन्दू राजतंत्र, भाग 2,मजुमदार ऐन्शयेन्ट इण्डिया, पृ. 79) प्राचीन जातियों में प्रजा के प्रति राजा की इस प्रकार की प्रतिज्ञा अन्य देशों में भी मिलती है। मैक्सिको लोगों में राजा सिंहासनारोहण के समय यह प्रतिज्ञा करता था कि उसके राज्य-काल में सूर्य में प्रकाश, बादलों में जल, नदियों में प्रवाह और धरती में उर्वरा शक्ति की प्रचुरता रहेगी (फ्रेजर-गोल्डेन बाऊ, पृ. 87)। इस प्रतिज्ञा में प्रजा और राष्ट्र दोनों के प्रति राजा की निष्ठा प्रकट होती है। साथ ही इस बात का भी संकेत मिलता है कि राजा किस प्रकार अपने कर्तव्य के बंधन में बंधा होता था।

कर्तव्यपरायणता स्वयं राजा की निरंकुशता को मर्यादित करने में काफी हद तक समर्थ थी। राजा के कर्तव्यनिष्ठा के कारण ही अथर्ववेद में उसे राष्ट्र-भृत्य माना गया है (अथर्ववेद 19.37.3)। एक प्राचीन धर्मसूत्र लेखक के अनुसार राजा वास्तव में प्रजा का सेवक है और प्रजा की आय का छठा भाग उसे वेतन के रूप में दिया जाता है (बौ. धर्म सू. 1. 10)।

राजा के कर्तव्य

जब हम राजा के प्रमुख कर्तव्यों एवं उत्तरदायित्वों पर विचार करते हैं तो स्वभावतः राज्य के उद्देश्य के संबंध में भी वैदिक दृष्टिकोण का अनुमान इस प्रसंग में होता है। राजा का प्रमुख कर्तव्य युद्धकाल में शत्रुओं से रक्षा और शान्तिकाल में प्रजापालन था (ऋ. 3. 43. 5 गोपा जनस्य)। स्वहित चिंतन की प्रधानता के कारण पुराहित ने खासतौर पर राजा को 'ब्राह्मणों का गोप्ता' ही कहा। धर्मसूत्र कारों ने राजा के सुरक्षा-कार्य को विशेष महत्व प्रदान करते हुए कहा है कि राजा का कर्तव्य प्रजा का संरक्षण है जिसके लिए उसे प्रजा कीआय का छठा भाग वेतन के रूप में मिलता है (दे. आगे पृ० 414)। किन्तु राजा का कार्य क्षेत्र यहीं तक सीमित नहीं था। राजा वरुण की भांति धृत-व्रत, नियम और व्यवस्था का संरक्षक, साधुओं का प्रतिपालक और दुष्टों को दंड देने वाला समझा जाता था (शत. ब्रा. 5. 3. 3. 6 और 8)। धर्म का संवर्धन, सदाचार को प्रोत्साहन तथा ज्ञान का संरक्षण प्रत्येक राज्यके लिए गौरव का विषय था (छान्दोग्य 5. 11. 5)। राज्य और राजा की स्थिति का उद्देश्य प्रजा का सर्वागींण विकास ही समझा जाता था। अथर्ववेद (16. 8.12-2) का कथन इस बात की पुष्टि करता हैं इन मंत्रों में स्पष्ट रूप से यह कहा गया है कि इस योग्य पुरुष को चुनने से हमारी विजय होगी, हमारी उन्नति होगी, हमारा आरोग्य बढ़ेगा, हमारा तेज, हमारा ज्ञान और हमारा आत्मिक बल बढ़ेगा, हमारा यज्ञ सफल होगा, हमारे पशु पुष्ट होंगे, हमारी सन्तति ठीक होगी और शूर-वीर पुरुष हमारे पास रहेंगे। राजा का वरुण की भांति धर्मपति होना राजा के न्याय सम्बन्धी अधिकारों का भी संकेत करता है। न्याय-कार्य से वरुण का सम्बन्ध ऋग्वेद तथा अथर्ववेद में उल्लिखित उनके गुप्तचरों (स्पशः) से प्रकट होता है। वरुण के गुणों एवं विशेषणों का राजा पर आरोप इस बात की पुष्टि करता है कि उत्तरवैदिक युग तक राजा का न्याय संबंधी अधिकार भी पर्याप्त विस्तृत हो चुका था (घोषाल-स्टडीज इन इण्यिन हिस्ट्री एण्ड कल्चर, पृ. 318-19 काठक सं. 28.4)। वैदिक शासक प्रजा की भौतिक उन्नति के प्रति भी सजग और सचेष्ट रहता था। राजसूय के अवसर पर जब प्रथम बार राजा सिंहासन पर बैठता था तब पुरोहित उससे कहता था कि कृषि के कर्म के लिए, कल्याण के लिए, समृद्धि के लिए और पोषण के लिए यह राज्य तुम्हें दिया जाता है (शत. ब्रा. 5. 2. 1. 25)। इससे स्पष्ट है कि प्रजा की स्मृद्धि और सुख में सम्वर्धन राजा का प्रमुख कर्तव्य था। इस प्रकार शपतथ ब्राह्मण (5. 2. 1. 25) के अनुसार राजा के सिंहासनारोहण का प्रमुख उद्देश्य जनकल्याण ही है। इस प्रसंग में हमें जन कल्याणकारी राज्य को जन्म देने वाली धारणाओं का बीज दिखाई देता है। अथर्ववेद (20, 117, 9-10) में परीक्षित के सफल शासन में प्रजा के सुख-समृद्धि का उल्लेख है। इसी ग्रंथ (3. 4. 4) में यह आशा प्रकट की गई है कि राजा वैभव की वृद्धि करेगा तथा प्रज्ञा में समान रूप से उसका वितरण करेगा। सौभाग्य से उत्तर-वैदिक युग धर्मपरायण, विद्वान एवं दार्शनिक राजाओं का युग था जिनकी कर्तव्यनिष्ठा एवं जनकल्याण की भावना में संदेह नहीं किया जा सकता।

(3) राजकीय आय

धर्मप्रधान होने के कारण वैदिक वाङमय से राज्यों की तत्कालीन आर्थिक व्यवस्था के सम्बन्ध में विशेष ज्ञान नहीं प्राप्त होता। राज्यों के विकास की प्रारम्भिक आय के साधन अत्यन्त सीमित थे। लोग स्वेच्छापूर्वक जो बलि, राजा को उपहार स्वरूप देते थे वही उसे 'कर' के रूप में प्राप्त होता था (द्र. ऐस्पेक्ट्स आफ पोलिटिकल आइडियाज एण्ड इन्स्टीट्यूशनस, पृ. 109)। ऐसी स्थिति में राजा को अपने कर्मचारियों तथा अनुयानियों का भरण पोषण अपनी ही भूमि, चरागाहों और गोधन से प्राप्त होने वाली आय से करना पड़ता था। युद्ध में पराजित शत्रुओं की सम्पत्ति आय में वृद्धि का कारण बनती थी। राज्य-भ्रष्ट राजा के पुनः राज्य प्राप्ति के समय प्रार्थना की जाती थी कि इन्द्र उसे प्रजा से बलि प्राप्त करने में सहायता दें (अथ ते इन्द्रः कवलीः प्रजाः बलितहृतस्करत। ऋ. 10. 176. 6) तथा उसे प्रजा में प्रचुर उपहार और बलि प्राप्त हो (अथर्ववेद 3. 4. 3)। किन्तु ब्राह्मण साहित्य में राजा द्वारा प्रजा से कर देने के अधिकार को पूर्ण मान्यता प्रदान की गई। इस युग तक ऐच्छिक बलि का स्थान नियमित भाग ने ले लिया। राज्य के द्वारा नियुक्त भाग 'धुक'' नामक अधिकारी राजकीय कर की वसूली करता था। राज्याभिषेक के प्रसंग में राजा को 'विशामत्ता' कहा गया है इससे भी यह सिद्ध होता है कि राजा नियमित रूप से प्रजा से कर लेने लगा था। इस युग में कर का अधिकांश बोझ वैश्यों पर ही था। अनेक स्थलों पर उनका वर्णन विशेष रूप से हुआ है (ऐत, ब्रा. 7, 29 शत. ब्रा. 12. 2. 6. 14)। उत्तर-वैदिक युग में पुरोहित वर्ग राज-कर से मुक्ति का दावा करने लगा था। सम्भव है राजा ने भी पुरोहितों के प्रभाव के कारण इसे स्वीकार किया हो। क्षत्रिय शासक वर्ग के थे। शूद्रों के पास विशेष सम्पत्ति नहीं थी। ऐसी स्थिति में वैश्यों पर ही कर का विशेष भार होना सर्वथा स्वाभाविक था। हायकिन्स ने 'विशमत्ता' शब्दके आधार पर मत प्रतिपादित किया है कि वैदिक काल में 'कर' बहुत कठोर थे। किन्तु ब्राह्मण ग्रन्थों में 'अत्ता' शब्द का प्रयोग 'भोक्ता' शब्द के ही अर्थ में हुआ है। यथा एक स्थान पर पति को अत्ता और पत्नी को आद्य कहा गया है (शत. ब्रा. 1. 2. 3. 6)। वैदिक इण्डेक्स के अनुसार इस उक्ति का सूत्र उस पुरानी प्रथा में है जिसमें राजा और उसके कर्मचारियों का पोषण प्रजा के उपहारों से चलता था जिसके अनेक उदाहरण अन्य देशों के इतिहास में भी पाये जाते है (वैदिक इण्डेक्स)। सम्भव है कि राज्याभिषेक के अवसर पर राजा की महत्ता के सूचनार्थ विशामत्ता शब्द का लाक्षणिक प्रयोग हुआ हो। फिर भी इतना अवश्यक है कि ''कर'' का भार मुख्यतः वैश्यों पर था। कुछ अत्याचारी राजा ऐसे भी रहे होंगे जो अपनी शक्ति का दुरूपयोग करके जनता का शोषण करते हों। यह बात शतपथ ब्राह्मण (123. 2. 3. 8) से स्पष्ट है। इस प्रसंग में यह कहा गया है कि जिस प्रकार शिकारी पुष्ट पशु का वध कर देता है उसी प्रकार निरंकुश राजा प्रजा को नहीं छोड़ता। किन्तु निश्चय ही यह सामान्य स्थिति का उल्लेख नहीं है।

इस युग में भागधुक और समाहर्ता नाम के कर्मचारी सम्भवतः कर विभाग से ही संबंधित थे। सम्भवतः भागधुक (राजा का भाग वसूलने वाला) का काम अन्न एवं अन्य उत्पादित सामग्रियों में से राजा का राजकीय भाग एकत्र करना था, तथा दूसरे का नाम इन्हें भंडारी और कोषों में सुरक्षित करना था (इस विषय पर आगे रत्नियों के प्रसंग में विचार किया गया है)। राज्य की आय के प्रमुख स्रोत कृषि और पशु पालन थे। कृषक राजा को फसल का एक भाग दिया करते थे जिसका परिमाण वैदिक साहित्य में नहीं बतलाया गया है। सम्भव है धर्मसूत्र काल की भांति ही इस काल मे

भी राजा उत्पादित वस्तु के छठे भाग का अधिकारी रहा हो। उस युग में पशु-धन का विशेष महत्व था। पशुपालक लोग कर में गाय, बैल और घोड़े दिया करते थे (अथर्ववेद 4. 22. 2) राजा इन सबसे एक निश्चित अंश का ही अधिकारी था। वैदिक काल में वाणिज्य और व्यवसाय अभी विकास की प्रारम्भिक स्थिति में थे इसलिए इस स्रोत से विशेष आय बहुत अधिक नहीं रही होगी।

(4) नरिष्ठा और उसका कार्यक्षेत्र

समिति और सभा के अतिरिक्त न्याय शासन से संबंध एक सर्वोच्च परिषद् थी जिसको "नरिष्ठा" कहा जाता था। इस राष्ट्रीय परिषद के संबंध में अथर्ववेद के एक मंत्र में इस प्रकार कहा गया है—

विद्‌म ते सभे नाम नरिष्टा नाम वा असि।

ये ते के च सभासदस्ते मे सन्तु सवाचस:। 7, 12, 2।।

हे सभे! हमें तेरा नाम ज्ञात है। तेरा "नरिष्टा' नाम ठीक ही प्रसिद्ध है। तेरे जो कोई सभासद हैं, वे हमारे साथ समता का भाषण करने वाले होंगे।"

सायणाचार्य ने इस मंत्र का आशय स्पष्ट करते हुए लिखा है कि नरिष्ठा में अनेक व्यक्तियों द्वारा निर्णीत विषय सब को मान्य हुआ करता था। उसका कोई उल्लंघन नहीं कर सकता था। उसके सभासदों या परिषदों द्वारा एकमत से निर्णीत विषय की अनुलंघनीयता के कारण ही उसको "नरिष्ठा" नाम से कहा गया है। उसका निर्णय अमान्य नहीं हो सकता था, क्योंकि वह समुदाय द्वारा एक स्वर से स्वीकृत होता था।

इस प्रकार उक्त परिषदों के अध्ययन से ज्ञात होता है कि वैदिक युग में शासक तथा शासित या राजा तथा प्रजा के बीच सुसंबंध स्थापित था। राष्ट्र के जो सर्वोच्च प्रतिष्ठित विद्वान् और सुयोग्य प्रख्यात व्यक्ति हुआ करते थे, उनकी विद्या, बुद्धि, योग्यता तथा पटुता का सहयोग एवं लाभ प्राप्त कर राजा राष्ट्र की व्यवस्था करता था।

वैदिक युग की न्याय शासन व्यवस्था की स्थिति से ज्ञात होता है कि यद्यपि उनके प्रति राजा उत्तरदायी होता था, किन्तु नियमन, संचालन तथा सहयोग के लिए सभी क्षेत्रों के श्रेष्ठ लोगों तथा विद्वानों की विभिन्न परिषदें हुआ करती थीं। आगे भी इस परम्परा का प्रभाव लक्षित होता है।

वेदोत्तरकाल में प्रौढ़ों की "राज्य सभा" जनता की "सार्वजनिक सभा' व्यापारियों तथा व्यवासियों का "मंडल" (पूग), राज्यों का "संघ" और कुटुम्बों (कुलों) की "प्रान्त सभाएँ ऐसी ही परिषदें थीं। इन परिषदों का प्रमुख कार्य जनता का प्रतिनिधित्व करके राजा को न्याय तथा शासन के लिए राय देना होता था। कौटिल्य के "अर्थशास्त्र" में इस प्रकार की परिषदों के संबंध में विस्तार से प्रकाश डाला गया है।

ऐसा प्रतीत होता है कि सूत्र ग्रन्थों के बाद उक्त तीनों संस्थाओं का स्थान "परिषद" ने ले लिया। ये परिषदें न्याय, धर्म, शासन, साहित्य, दर्शन, कला और व्यापार-व्यवसाय आदि विभिन्न विषयों से संबंध थीं। वे राजा के द्वारा भी आयोजित होती थी और स्वतंत्र रूप से उनका संगठन एवं अधिवेशन

आयोजित हुआ करते थे।

V. आर्यो का आर्थिक जीवन

आर्थिक विकास का महत्त्व

वेदों के आलोचनात्मक अध्ययन से ज्ञात होता है कि उस समय समाज पर्याप्तरूप से विकसित हो चुका था। उनका आर्थिक जीवन उत्तम प्रकार से व्यवस्थित व संचालित किया गया था, जैसा कि किसी भी सभ्य व प्रगतिशील समाज में पाया जाता है। प्राचीन भारत में वर्गचतुष्टय धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष मानव जीवन का ध्येय था। प्राचीन भारतीय जीवनक्रम में आर्थिक विकास मात्र ही सब कुछ नहीं था, उसमें धर्म का सर्वप्रथम स्थान था। आध्यात्मिकता के मार्ग में प्रवृत्त होने की तैयारी करना व उसी को जीवन का आधार बनाना धर्म कहलाता था। इसी धर्म की भूमिका पर आर्थिक विकास किया जाता था। कृषि, वाणिज्य, व्यवसाय आदि द्वारा द्रव्योपार्जन कर ऐहिक उन्नति करना ही ''अर्थ'' का तात्पर्य था। प्राचीन भारत की वर्णाश्रम व्यवस्था धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष आदि वर्गचतुष्टय की प्राप्ति में सहायक बनती थी। वर्णव्यवस्था में वैश्य वर्ग आर्थिक विकास से सम्बन्धित था, क्योंकि वेदाध्ययन के अतिरिक्त उसका मुख्य कर्तव्य कृषि, वाणिज्य आदि द्वारा आर्थिक विकास के मार्ग में अग्रसर होना था। इसलिए समाज के आर्थिक विकास का सम्पूर्ण उत्तरदायित्व वैश्यों पर था। आश्रम-व्यवस्था में गृहस्थाश्रम को आर्थिक विकास से सम्बन्धित कर सकते हैं। ब्रह्मचर्य, वानप्रस्थ, संन्यास आदि तीन आश्रमों का तो मार्ग ही निराला था। उनकी झुकावट आध्यात्मिकता की ओर रहती थी। केवल गृहस्थाश्रम ही ऐसा था, जिस पर दो प्रकार की जिम्मेवारियाँ रहती थीं। आध्यात्मिक व आर्थिक उन्नति की। उसमें मानव जीवन के सच्चे उद्देश्य को ध्यान में रख कर आर्थिक उन्नति करनी पड़ती थी। यही कारण है कि प्राचीन भारत के गृहस्थ विशेष कर वैश्य धन कमा कर एकत्रित करने को ही अपना जीवन-सर्वस्व नहीं समझते थे। आर्थिक विकास समाज को उन्नत बनाने के लिए था। इस प्रकार हमें प्राचीन भारत के आर्थिक विकास की भूमिका का ज्ञान होता है।

समाज का आर्थिक जीवन अर्थशास्त्र के सिद्धान्तों पर स्थित था। उपभोग, उत्पादन, आदान, प्रदान आदि के बहुत से साधन वर्तमान थे। श्रमविभाग के सिद्धान्त के आधार पर समाज के चार विभाग किये गये थे, जिसका स्पष्ट विवेचन पुरुषसूक्त (ऋग्वेद 10/90, 11-12) में किया गया है

पृथ्वीसूक्त

अथर्ववेद 12/1/1-63; में जो पृथ्वी सूक्त है उसमें वेदकालीन सांस्कृतिक जीवन में पृथ्वी के महत्व को बहुत ही सुन्दर शब्दों में समझाया गया है। कुछ विद्वान् तो इस पृथ्वीसूक्त को वैदिक भारत का राष्ट्र-गीत मानते है वैदिक एज (भारतीय विद्याभवन्), पृ. 410। हमें यहाँ उसके आर्थिक पहलू पर विचार करना है। उक्त सूक्त में सर्वप्रथम कहा गया है कि ''ब्रह्म, सत्य, उग्र, तप, बृहत् व यज्ञ पृथिवी को धारण करते हैं। हमारे भूत व भविष्य की परिरक्षिका यह पृथ्वी हमारे लोक को प्रशस्त बनावे।'' पृथ्वी अनेक सामर्थ्यों से औषधि (वनस्पति) धारण करती है, वह हमारे लिए विस्तृत व वैभवशाली बने (अथर्व. 11/1/2)। जिस पर समुद्र, नदी, जल, अन्न, जनता आदि उत्पन्न हुए है (अथर्व. 12/1/3)। जिस पर प्राणीमात्र जीवन धारण करते हैं, वह भूमि हमें अन्न प्रदान करे। जो सब का भरण-पोषण करने वाली

(वसुधानी) है, जिनके उन्नत व प्रगतिशील प्रदेश (प्रतिष्ठा) विकसित किये हैं, जिसके अन्तर में सुवर्ण (हिरण्यवक्षा) है, जो जंगम प्राणियों को धारण करने वाली है, जो वैश्वानर अग्नि को धारण करती है, वह भूमि हमें इन्द्र (वर्षा), ऋषभ (सांड) व द्रविण (धन) प्रदान करे (12/1/6)। देवता लोग प्रमादरहित होकर जिस पृथिवी की रक्षा करते है, उससे हम प्रिय मधु दुहें। जिस भूमि पर दिनरात समान रूप से बिना प्रमाद जलवर्षा हुआ करती है, उस भूमि से हम 'भूरिधारा पयः' (बहुत सी धाराओं वा जल अथवा दूध) दुहें। वह भूमि मेरे लिए पय (जल) प्रदान करे, जिस प्रकार माता अपने पुत्र को पय (दूध) प्रदान करती है (अथर्ववेद 12/1/10)। हे पृथिवी, तुम्हारी पहाड़ियाँ तुम्हारे बर्फ से ढके हुए पर्वत, तुम्हारे जंगल ये सब आनन्ददायी बनें। मैं इस भूरी, काली, लाल अनेक रूप वाली, ध्रुव, विस्तृत व इन्द्र (वर्षा) द्वारा रक्षित भूमि पर अजय, अहत व अक्षत होकर बसा रहूँ (अथर्व. 12/1/11)। हे पृथ्वी, जो तुम्हारा मध्य है, जो तुम्हारा नाभिस्थल है, और जो पोषक पदार्थ तुम्हारे शरीर में से उत्पन्न होते हैं, वे सब हमें प्रदान करो, हम पर कृपा करो। भूमि मेरी माता है और मैं पृथिवी का पुत्र हूँ। पर्जन्य (मेघ) हमारा पिता है। वह हमारा पोषण करे (अथर्ववेद 12/1/12)। सब औषधियों की माता, दृढ़, धर्म द्वारा धारण की हुई, कल्याणकारी व आनन्ददायिनी इस विस्तृत भूमि पर हम सदैव विचरण करते हैं। जिस भूमि पर शिला, अश्मा व पांसु (धूलि) है और जो दृढ़ है, पृथिवी के उस सुवर्णयुक्त वक्षस्थल को नमस्कार है। हे भूमि, तुम्हारे लिए ग्रीष्म, वर्षा, शरद, हेमन्त, शिशिर व बसन्त ऋतुएँ दिन-रात आदि निर्धारित किये गये हैं, हे पृथ्वी तुम हमारे लिए दुही जाओ। हम जिस धन की कामना करते हैं, वह धन, भूमि हमें प्राप्त करावे (अथर्ववेद 12. 1. 40)। जिस भूमि की पाँच कृषियाँ है,जिस पृथ्वी पर धान्यादि अन्न होते हैं, उस वर्षा रूप मेवा द्वारा पुष्ट की जाने वाली भूमि को नमस्कार है (अथर्व 12/1/42)। नाना प्रकार की विधि को धारण करने वाली पृथ्वी मुझे, धन मणि व सुवर्ण प्रदान करे (अथर्ववेद 12 1/44)। यह पृथ्वी मेरे लिए अच्छी गाय के समान द्रवित की सहस्र धारा दुहावे (अथर्व 12/1/45)। इस भूमि पर जो ग्राम है,जो वन है तथा जो संग्राम, समिति आदि है, उनमें हे पृथ्वी, हम तुम्हारी कीर्ति का गान करें। (अथर्व 12/1/56)।

उपरोक्त पृथिवीसूक्त में वेदकालीन आर्थिक व्यवस्था का काव्यमय भाषा में बहुत ही सुन्दर चित्रण किया है। आर्थिक व्यवस्था धर्म के मौलिक तत्वों पर आश्रित रहनी चाहिये। इस महान् तथ्य को सूक्त के प्रथम मन्त्र में ही समझाया गया है जहाँ कहा गया है कि सत्य, तप, ब्रह्म यज्ञ आदि पृथिवी को धारण करते हैं। इस सूक्त में आर्थिक विकास के कृषि, वन, वनस्पति, खदान, पर्वत, नदी आदि विभिन्न साधनों पर अच्छा प्रकाश डाला गया है। इसमें भूमि को माता तथा पर्जन्य को पिता कहा गया है। कृषि प्रधान देश का, जिसमें पर्जन्य ही जीवनाधार रहता है, इससे अच्छा और वर्णन नहीं हो सकता। वेदकालीन आर्य किस प्रकार कठिन परिश्रम के द्वारा पृथ्वी के सब साधनस्त्रोतों का उपयोग अपने आर्थिक विकास में करते थे यह बात उपरोक्त सूक्त में बहुत ही अच्छी तरह समझाई गई है, जहाँ पृथ्वी के लिए कहा गया है कि वह नाना प्रकार की निधि, वसु, मणि, सुवर्ण आदि धारण करती है, और उससे प्रार्थना की गई है कि एक अच्छी गाय के समान वह द्रविण की सहस्र धारा के रूप में दुही जावे। उक्त सूक्त में पृथिवी को बार-बार 'हिरण्यवक्षा' कहा गया है तथा सुवर्ण-प्राप्ति की इच्छा दर्शाई गई है, जिससे स्पष्ट होता है कि वेदकालीन आर्थिक व्यवस्था में सुवर्ण का अत्यन्त ही महत्वपूर्ण स्थान था।

(क) ग्रामीण व नागरिक जीवन

वैदिक युग की आर्थिक व्यवस्था के दो महत्वपूर्ण पहलू थे — 1. ग्रामीण जीवन, 2. नागरिक जीवन। तत्कालीन अधिकांश जनता ग्रामों में रहती थी, क्योंकि भारत पहिले से ही कृषिप्रधान देश रहा है। वैदिक साहित्य में स्थान-स्थान पर ग्रामों का उल्लेख है ऋग्वेद 1/44/10; 10/146/1; अथर्व. 12/1/56। प्रत्येक ग्राम में अनेक गृह रहते थे, जिसमें उनका मुखिया 'कुलपा' या 'गृहपति' कहलाता था। ये सब ग्राम के मुखिया ग्रामणी के अधीन रहते थे। ग्राम की गायें बाँधने के लिए 'गोत्र' या गोष्ठ' (ऋग्वेद 6, 28, 1) रहते थे, जहाँ वन्य पशुओं अथवा चोरों से उनकी रक्षा की जाती थी। कभी-कभी गायें घर के अहाते में भी रखी जाती थीं, क्योंकि घर में बालकों व बछड़ों के खेलकूद करने का उल्लेख आता है। ऋ. 1/191/4; गाँवों के आस पास खेत (क्षेत्र) रहते थे, जो कि भिन्न-भिन्न परिवारों के वैयक्तिक अधिकार के थे। ऋ 3/31/15;10/33/6 मैकडानेल व कीथ-वेदिक इंडेक्स, पृ. 211। खेतों को ध्यानपूर्वक नापा जाता था, ऋ. 1/110/5; व प्रत्येक खेत का देवता रहता था जो ''क्षेत्रस्य पतिः'' (खेत का मालिक) कहलाता था ऋ. 4/57/1-3)। कृषक अपने-अपने खेत जोतने के पहिले ''क्षेत्रपति'' की पूजा किया करते थे।

गाँव गायों, भैसों, भेड़ों, बकरियों आदि से भरे रहते थे। प्रातः काल गाय, भेड़ आदि को गोप चराने के लिए गाँव के चारागाह में ले जाता (ऋ. 1/25/16/, 10/97/8) था। इसके पूर्व ही गायों को दुह लिया जाता था। गायें साधारणतया तीन बार दुही जाती थीं, तैत्तिरीय संहिता 7/5/3/1; तैत्तिरीय ब्राह्मण 1/4/9/2;। गाँव का आर्थिक जीवन स्वावलम्बन के सिद्धान्त पर आश्रित था। ग्रामीणों की आवश्यकताएँ बहुत कम थी और उन सबकी पूर्ति वे स्वतः कर लिया करते थे कृषि उनका मुख्य उद्योग था। वे जौ (यव) ऋ. 5/85/3, 10/69/3; 10/131/2, चावल (धान या धान्य) ऋ. 5/53/13; 6/13/4 (धत्ते धान्यं) 10/94/13 (मूंग (मुद्र), उड़द (माष), तिल आदि उत्पन्न करते थे। प्रत्येक परिवार के पास बहुत सी गायें रहती थीं, जिससे सिद्ध होता है कि घी, दूध, दही, आदि पर्याप्त मात्रा में प्राप्त होता होगा। भेड़ के ऊन को काता जाता था और उसका कपड़ा बनाया जाता था ऋ. 10/26/6। कुछ लोगों का धंधा ही कपड़ा बुनने का था, जिन्हें ''वाय'' ऋ. 10 /26/6; 10 /106/1; कहा जाता था प्रत्येक परिवार में स्त्रियाँ भी कातने व बुनने का कार्य करती थीं ऋ. 2/3/6, 5/47/6; 5/47/6; अथर्व. 10/7/42; बढ़ई ऋ. 10/119/5; 8/112/2; (त्वष्टा, तक्ष); जो रथ, चाक, नाव, लकड़ी के बरतन (द्रोण) ऋ. 9/65/6 आदि बनाते थे, लुहार ऋ. 9/112/2; 10/72/2; (कर्मार), जो कृषि के औजार व युद्ध के हथियार आदि बनाते थे, कुम्हार ऋ. 120/89/7 (कुम्भगा), माला बनाने वाले ऋ. 8/47/15 चमड़ा पकानेवाले ऋ. 8/5/38, नाई ऋ. 10/142/1, 3; सुनार ऋ. 8/78/3 जो तिष्क आदि सुवर्ण के आभूषण बनाते थे, आदि का गाँव की आर्थिक व्यवस्था में महत्वपूर्ण स्थान था।

कुछ विद्वान् मानते हैं कि वेदकालीन संस्कृति ग्रामीण थी, उस समय नगरों के जीवन का प्रादुर्भाव नहीं हुआ था। किन्तु ऋग्वेद के आलोचनात्मक अध्ययन से कथन का खोखलापन स्पष्ट हो जाता है। कितने ही स्थलों पर सुवर्ण (ऋग्वेद 1/43/5; 3/34/9; 4/10/6; 4/17/11; 1/117/5; 6/47, 23; 8/78/9 उल्लिखित है व धनपति बनने की इच्छा दर्शाई गई है। इसके अतिरिक्त ऋग्वेद में दीर्घप्रसाद 8/10/1; का उल्लेख आता है, जिससे बड़े-बड़े प्रासाद तुल्य भवनों के अस्तित्व का पता लगता है।

यह कहना न होगा कि ऐसे भवन नगरों में ही पाये जा सकते हैं। यजुर्वेद में वर्णित उद्योग धन्धों से भी विकसित नागरिक का पता चलता है। एक बड़े मानव समुदाय के एकत्रित रहने पर उसकी दैनिक आवश्यकता की पूर्ति के साधन भी ढूँढ़े जाते हैं; यहीं से वाणिज्य या व्यापार का प्रारम्भ होता है। गाँवों में उसके विकास की विशेष गुजांइश नहीं रहती। वाणिज्य और नगर का बहुत घनिष्ठ सम्बंध रहता है। ऋग्वेद के पुरुषसूक्त 90/90/11-12 में जो वर्णव्यवस्था का उल्लेख है उसमें वैश्यों को उरू से सम्बन्धित किया गया है। मनु आदि स्मृतिकार कहते हैं कि कृषि, वाणिज्य आदि वैश्य का स्वाभाविक कर्म है (1/90।) इस पर से यह कहा जा सकता है कि वैदिक काल में भी उसका यही काम था। इसीलिए पुरुषसूक्त में उसको समाजरूपी पुरुष की जंघाओं से सम्बन्धित किया गया है। इसमें किंचित भी संदेह नही कि भारत के व्यापारिक व व्यावसायिक इतिहास का प्रारम्भ वैदिक काल से ही होता है। इस व्यापार के केन्द्र नगर ही थे, जिनको वैदिक साहित्य में 'पुर' कहा गया है।

(ख) पुर

वैदिक साहित्य में पुरों का भी उल्लेख आता है ऋग्वेद 1/53/7; 1/131/4; 3/15/4, 4/27/1; पुरों के तात्पर्यों के सम्बन्ध में वैदिक साहित्य के विद्वानों में मतभेद है। कुछ विद्वान् यह मानते हैं कि पुरों से वेदकालीन किलेबन्दी या किलों का बोध होता है, जो गाँवों की रक्षा के लिए रहते थे तथा मिट्टी या पत्थर के बने रहते थे-वैदिक एज (भारतीय विद्याभवन), पृ. 356, 398; मैकडॉनेल्ड; हिस्ट्री ऑफ संस्कृत लिटरैचर, पृ. 158;। अन्य विद्वान् ए. सी. दास ऋग्वेदिक कल्चर,पृ. 45 पुरों को सुरक्षित नगरों के रूप में मानते हैं। यदि पुरों के विभिन्न उल्लेखों को आलोचनात्मक दृष्टि से पढ़ें तो स्पष्ट होगा कि वैदिक साहित्य में 'पुर' शब्द दोनों अर्थों में प्रयुक्त हुआ है। अथर्ववेद 10/2/31-32: "अष्टाचक्रा नवद्वारा देवानां पूरयोध्या में पुरुष की व्युत्पति को (पुरि शेते) समझाते हुए अयोध्या नगरी का उल्लेख किया गया है, जो कि इस प्रकार है-'आठ परिखा व नवद्वारवाली देवनगरी अयोध्या है। उसमें स्वर्ग तुल्य सुवर्ण का भण्डार है, जो ज्योति से ढका हुआ है। उस सुवर्ण भण्डार में तीन प्रकार से सुरक्षा की व्यवस्था है। उसमें जो यक्ष आत्मा के अयोध्या नगरी के आधार पर जीवात्मा से युक्त मानव-शरीर का वर्णन किया गया है, जैसा कि कठोपनिषद् 1/3/3-4; में रथ का रूपक बाँध कर मानव शरीर का वर्णन किया गया है। अयोध्या नगरी के वर्णन से वहाँ के आध्यात्मिक विकास, आर्थिक समृद्धि, नगर रक्षा की सुन्दर व्यवस्था आदि का बोध होता है। इस उल्लेख से स्पष्ट हो जाता है कि वैदिक युग में बड़े-बड़े समृद्धिशाली नगर वर्तमान थे।

वेदकालीन बड़े-बड़े नगर साधारणतया राजनैतिक सत्ता के केन्द्र रहते थे, जहाँ सभा, समिति आदि संस्थाएँ स्थापित थीं, व जो धर्माभिषिक्त राजाओं द्वारा शासित किये जाते थे। प्रजा का योगक्षेम् उन राजाओं के जीवन का उद्देश्य रहता था। उनकी छत्रच्छाया में धर्म, अध्यात्मवाद, साहित्य कला आदि का विकास होता था, जिसके परिणामस्वरूप नगर सांस्कृतिक, आर्थिक, राजनैतिक आदि प्रवृत्तियों के केन्द्र बन जाते थे।

वेदकालीन नगर वाणिज्य, व्यवसाय, उद्योगधन्धे आदि के केन्द्र थे। तत्कालीन समाज का आर्थिक जीवन अर्थशास्त्र के सिद्धान्तों पर स्थित था। उपभोग, उत्पादन, वितरण, विनिमय आदि के बहुत से साधन वर्तमान थे। वैदिक साहित्य में आर्थिक विकास का बोध होता है। ऋग्वेद में कपड़ा बनने वाले

को 'वय' कहा गया है (ऋग्वेद 2/3/6)। पूषा ऊन का कपड़ा बुनने वाला कहा गया है 10/26/6; है। इसके अतिरिक्त रथ बनाने के लिए विभिन्न धातुओं को गलाने, गहने बनाने, हथियार बनाने, घर बनाने, नाव, जहाज आदि बनाने तथा ऐसे अन्य कितने ही उद्योग धन्धों का अप्रत्यक्ष उल्लेख ऋग्वेद में आता है। यजुर्वेद में तो इन सब उद्योगधन्धों को करनेवालों के नाम दिये गये है यजुर्वेद 30/6, 7, 11, 17, 20 यथा रथकार, तक्षा, कौशल, सुराकार, कर्माकार, मणिकासर, इषुकार, धनुष्कार, रज्जुसर्ज, हस्तिप, अश्रवप, हिरण्यकार, वणिक् आदि। यह कहना न होगा कि इन उद्योगधन्धों के विकास के केन्द्र बड़े-बड़े नगर ही थे।

उपरोक्त वर्णन से स्पष्ट होता है कि वैदिक युग की आर्थिक व्यवस्था में ग्राम और नगर दोनों का महत्वपूर्ण स्थान था। सम्पूर्ण देश में गाँव इधर-उधर बिखरे हुए थे, कुछ एक दूसरे के निकट थे, व कुछ दूरी पर थे। ये गाँव सड़कों द्वारा बड़ी-बड़ी थीं, जिन पर माल से लदी हुई बड़ी-बड़ी गाड़ियाँ चल सकती थी, वैदिक युग के आर्य आवागमन के लिए बड़ी-बड़ी गाड़ियों का उपयोग करते थे। ग्रामणी, बड़े-बड़े सामन्त व धनाढ्य व्यापारी अश्वों से युक्त' रथों का उपयोग करते थे। इस प्रकार विभिन्न ग्राम सड़कों (रथ्या) द्वारा नगरों से सम्बन्धित थे। गाँवों की कृषि आदि की उपज, फल, फूल, शाक-भाजी तथा अन्य वन्य पदार्थ गाँवों से सड़कों द्वारा नगरों में ले जाये जाते थे, जहाँ बड़े-बड़े बाजारों में उनको ेचा जाता था। वे नगर वैदेशिक व्यापार के भी केन्द्र हैं।

वेदकालीन आर्थिक विकास कृषि, गोपालन, वाणिज्य, व्यवसाय पर ही आधरित था। कृषि, गोपालन तथा लघु उद्योगों का संबंध गाँवों से था। वाणिज्य वैदेशिक व्यापार बड़े-बड़े उद्योग धन्धे आदि का संबंध नगरों से था।

(ग) कृषि

ऋग्वेद तथा जेद अवेस्ता के साक्ष्य का समवेत अध्ययन करने से यह स्पष्ट होता है कि हिन्द इरानी युग में ही खेती आर्यों का महत्वपूर्ण व्यवसाय बन चुका था। कृषि का हिन्द ईरान युग से ही प्रचलित होना ऋक्संहिता के 'यमम् कृषि' और अवेस्ता के 'यवो करेश' की सहायता से प्रकट होता है। ऋग्वेद 10, 34, 13 में कृषि-कार्य की महत्ता का स्पष्ट उल्लेख हुआ है। किन्तु पूर्व वैदिक युग में हम कृषि का महत्व पशु पालन की अपेक्षा गौण पाते हैं इसका प्रधान कारण ऋग्वैदिक आर्यो का अव्यवस्थित एवं अटनशील जीवन था। उन्हें कृषि के लिए ऐसी सुविधाएँ प्राप्त नहीं थीं, जो उत्तर वैदिक युग में स्थायी जीवन प्रारंभ करने के बाद मिली। ऋग्वेद (10/34/13) में जुआरी से कहा गया है— हे जुआरी! जुआ खेलना छोड़कर खेती करो। उसमें जो लाभ हो उसी से संतुष्ट रहो। इससे स्पष्ट है कि खेती आर्यो का महत्वपूर्ण व्यवसाय बन चुका था।

ऋग्वैदिक युग में कृषि कर्म विकासोन्मुख तथा कृषक जीवन समादृत था। इस प्रसंग में यह उल्लेखनीय है कि वैदिक आर्यों के प्रवेश के पूर्व उत्तरी भारत में जो जातियाँ रहती थीं; उनमें भी कृषि-कर्म का सन्तोषजनक विकास हुआ था। उन्होंने भी अपने अनुभव और ज्ञान के द्वारा उत्तर वैदिक युगीन कृषक् जीवन को समृद्ध किया। सिन्धु-प्रदेश के उत्खनन में गेहूँ के जो नमूने उपलब्ध हुए है, वे जंगली नहीं हो सकते। यहाँ की विशाल जनसंख्या के पोषण के लिए पर्याप्त अन्न की आवश्यकता

थी, जिसकी पूर्ति समुन्नत कृषि कर्म के बिना संभव नहीं थी। यहाँ की उर्वर भूमि तथा वर्षा की प्रचुरता निश्चय ही उत्पादन की वृद्धि में सहायक हुई होगी। कृषि कर्म के लिए यहाँ के निवासी हल का प्रयोग करते थे या नहीं, यह प्राय: अनिश्चित है, क्योंकि उत्खनन में यहाँ इस प्रकार के किसी उपकरण का अवशेष नहीं प्राप्त हुआ है। संभव है काष्ठ निर्मित होने के कारण काल प्रवाह में वे नष्ट हो गये थे। सुमेरियन और सैन्धव संस्कृति के निर्माताओं के भौतिक जीवन में बड़ी समानता थी। ऐसी स्थिति में सैन्धव कृषि के लिए हल और बैल का प्रयोग करते होंगे, यही अनुमान अधिक संभव प्रतीत होता है, जैसा कि ऊपर बताया गया है गंगा घाटी के निषाद भौतिक दृष्टि से अविकसित एवं हल के उपयोग से अपरिचित होते हुए भी आर्यो के आगमन के पूर्व ही छड़ी या कुदाल से भूमि को खोद कर 'झूम प्रणाली' से खेती करते थे।

अवेस्ता में खेती के लिए हल बैल के प्रयोग का उल्लेख है तथा ऋक् संहिता में भी इस बात को सूचित करने वाले प्रसंग पर्याप्त हैं। ऋग्वेद (10, 101, 4) में मेधावी लोगों के द्वारा हल चलाने का उल्लेख है।

भूमि से सम्पत्ति उत्पन्न करने का सबसे प्राचीन और सरल तरीका कृषि है। भारत की भौगोलिक परिस्थिति के कारण यहाँ पहले से ही कृषि कर्म सम्पत्ति के उत्पादन का मुख्य साधन रहा है। वेदों से पता चलता है कि वैदिक युग में कृषि कर्म अत्यन्त पवित्र माना जाता था। वर्षा से संबंधित देवता इन्द्र की स्तुति की गई है (ऋग्वेद 1, 32, 2) पृथ्वी को 'गो' नाम से संबोधित कर पूजनीया माना गया है (ऋग्वेद 5, 59, 3; यजुर्वेद 3, 6)। ऋग्वेद में कितने ही स्थलों पर खेत और तत्संबंधी कितनी ही वस्तुओं का उल्लेख आता है। कृष्ट और अकृष्ट भूमि के लिए विभिन्न शब्द प्रयुक्त किये गये यथा उर्वरा, क्षेत्र, फर्वर आदि। इसी प्रकार खेती के औजारों का भी निर्देश किया गया है, जैसे स्तेग, फल, लागंल, सीता, अस्र आदि (वसु-इन्डो आर्यन पॉलिटी पृ. 82-85)

वैदिक युग में उपजाऊ (उर्वरा) भूमि को बराबर नपे हुए क्षेत्रों (क्षेत्र) में बाँट दिया जाता था (ऋग्वेद 8, 10, 11-12) में वर्णन आता है कि पृथ्वी (पृथु) वैन्य ने सर्वप्रथम मनुष्यों के लिए कृषिकर्म द्वारा फसल पैदा की और इस प्रकार मानव जाति के लिए कृषि का मार्ग प्रशस्त किया। अश्विन देवताओं के आर्यो को हल की सहायता से खेती करना सिखाया (ऋग्वेद 1; 117, 21)। हल को ऋग्वेद में सीर (4, 87, 8; 10, 101, 3-4), (ऋग्वेद 4, 57, 4; अथर्ववेद 2, 8, 4 तैत्तिरीय संहिता 6, 6, 7, 4; निरुक्त, 6, 26 आपस्तम्ब सूत्र 2, 4, 7 में लांगल की चर्चा है।) हल में एक मोटा बाँस बँधा होता था जिसे ईसा कहते थे। ईसा के ऊपर जुआ रखा जाता था। हलवाहे को हाँकने के लिए हलवाले द्वारा प्रयुक्त छड़ी को 'आस्ट्रा' कहा गया है। हल चलाने वाले को 'कीनाश' (4, 57, 8 कीनाशा) कहते थे। हल चलाने से खेत में जो मिट्टी खुद जाती थी तथा उसकी कतार् बनती जाती थी, उसे सीता (ऋग्वेद 4, 57, 6-7) कहते थे। साधारण तथा हल में दो बैल जोते थे, किन्तु कभी-कभी छ: (अथर्व 6, 91, 1), आठ बारह (तैत्तिरीय संहिता 1, 8, 7, 1)। या चौबीस (काठक संहिता 25, 2) भी जोते जाते थे। खेती का कार्य प्रारंभ करने के पहले खेत के देवता क्षेत्रपति की पूजा व स्तुति की जाती थी। ऋग्वेद (4, 57, 1-8) में क्षेत्रपति की स्तुति इन शब्दों में ही गई है—'मित्र के समान क्षेत्रपति की सहायता से विजय की प्राप्त होवे। वह हमारे गाय और घोड़े का पोषण करे और हम पर कृपा करे (ऋग्वेद 4, 57, 1)। हे क्षेत्रपति,

जिस प्रकार गाय मीठे दूध (पय) की धारा प्रदान करती है, उस प्रकार आप हमें मीठे घृत के समान पवित्र और मधुर जल की धारा प्रदान कीजिये (ऋ. 4, 57, 2)। हमारे बैल और पुरुष अच्छी तरह जोतने का काम करें (ऋग्वेद 4, 57, 6) बैलों को जुए से बाँधने की रस्सी (वस्त्रा) अच्छी तरह बाँधी जाये तथा कोड़े का अच्छा उपयोग किया जाये। हे शुन और सीर हमारी प्रार्थना सुनिये, स्वर्ग में जिस पय (जल) को आपने उत्पन्न किया उससे मेरा सेवन कीजिये। हे सौभाग्यशाली सीता, हमारे समीप आओ, हम तुम्हारी वंदना करते हैं, जिससे तुम हमें सौभाग्य और समृद्धि प्रदान करो (ऋग्वेद 4, 57, 7)। इन्द्र, सीता को नीचे दबाये तथा पूषा उसे सुव्यवस्थित करें। वह पयस्वती (जलयुक्त) होकर प्रतिवर्ष हमारे लिए दुही जाये। हमारे हल (उनके मुख पर लगे हुए फाल़) अच्छी तरह से भूमि को जोते, हमारे हल जोतने वाले बैलों के साथ अपने कार्य के लिए आनन्दपूर्वक जावें। मेघ हमें मधु ओर पय (जल) से सुखी करे; शुन व सीर हमारा कल्याण करे।''

कृषि कार्य से संबंध जोताई बोआई के लिए हल, बैल, जुआठ, हंसिया, गाड़ी, नाद (जोश्मला) प्रस्थर, कुठार, लौहदात्र (वसुला) टांगी आदि विभिन्न प्रकार की सामग्री उपयोग में लाईजाती थी (ऋग्वेद 1., 101, 2-11)।

वैदिक युग में खेतों में गोबर ,आदि का खाद भी डाला जाता था। ऋग्वेद में 'शकृत' शब्द गोबर के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है (ऋग्वेद 1, 162, 10)। जब खेतों में अनाज आदि की फसल पक जाती थी तब हँसिये अथवा श्रृणा (ऋग्वेद 1, 58, 4; 10, 101, 3; 10, 106, 6) अथवा दात्र (ऋग्वेद 8, 78, 10) से काट कर गट्ठों अथवा पर्व (ऋग्वेद 10, 48, 7) में बाँधा जाता था। उसके पश्चात् अनाज खलिहान में साफ किया जाता था (ऋग्वेद 10/48/7; 10/71/2) अनाज को साफ करने वाला 'धान्यकृत (ऋग्वेद 10, 94, 13) कहलाता था। अनाज के साफ किये जाने पर उसे भण्डारों में भरा जाता था (ऋग्वेद 10, 68, 3)। नापने वाले बरतन का 'ऊर्दर' और जिस घर में अनाज रखा जाता था। उसे स्थिवि कहते थे (ऋग्वेद 10, 68, 3)।

फसल

ऋक् संहिता में यव और धान्य का उल्लेख है। यव (जौ) संभवत: एक विशेष प्रकार का अन्न था। जौ के लिए अवेस्ता में 'येव' और ग्रीक भाषा में 'जेअ' शब्द है जो ऋग्वेद के 'यव' से समानता रखते हैं। इससे यह संभावना होती है कि ऋग्वेद में भी 'यव'शब्द का प्रयोग जौ के ही अर्थ में हुआ है, न कि सभी प्रकार कें अन्नों के अर्थ में। धान्य, अनाजों का साधारण नाम प्रतीत होता है, यद्यपि सैन्धव स्थलों के उत्खनन से उनके निवासियों में धान की खेती के प्रचलन का संकेत मिलता है, तथापि ऋग्वैदिक आर्य धान की खेती से अपरिचित थे।

यव और धान्य

यव और धान्य वैदिक युग की खास फसलें मालूम होती हैं। ऋग्वेद (1/123! 15; गोभिः यवं; 1/135/8; 2/5/6; 2/14/11) में यव का उल्लेख मिलता है। यव की खेती नियमपूर्वक होती थी। वर्षा होने पर जब भूमि आर्द्र हो जाती है, तब यव की फसल बहुत अच्छी होती है, इस प्रकार का उल्लेख ऋग्वेद में आता है (ऋग्वेद 2/5/6; 5/85/3)। धान्य ऋग्वेद (5; 53, 13, 6, 13, 4, 10, 94, 13) में

बार-बार उल्लिखित है। 'धाना' शब्द उसी अर्थ में प्रयुक्त हुआ है और उसका उल्लेख भी ऋग्वेद में आता है (ऋग्वेद 3/52/5; 6/29/4)। यह संभव है कि ऋग्वेदिक युग में अन्य प्रकार के अन्नाज भी अस्तित्व में हो, जिनको यव व धान्य के अन्तर्गत सम्मिलित किया गया हो। धान्य की उपज के लिए ही नियमित रूप से वर्षा की आवश्यकता होती थी। नियमित वर्षा प्राप्ति के लिए ही वर्षा के देवता इन्द्र की स्तुति की जाती थी और नाना प्रकार के वार्षिक त्रैमासिक आदि यज्ञ किये जाते थे। इन्द्र-वृत्र युद्ध का भी यही उद्देश्य था। इन्द्र को इस कार्य में सहायता पहुँचाने के लिए एक वर्ष तक के यज्ञ किये जाते थे। वृत्र का दूसरा नाम 'शुष्ण' भी था, जो कितनी ही बार वर्षा को रोक देता था। इन्द्र अपने वज्र से और अन्य देवताओं की मदद से शुष्ण या वृत्र को मारकर घनघोर वर्षा करता था, जिसकी चावल की फसल के लिए अत्यन्त आवश्यकता होती थी।

ऋग्वेद में गोधूम, ब्रीहि (एक प्रकार का चावल) आदि का उल्लेख ऋग्वेद में नहीं आता है। परन्तु (ऋग्वेद 3, 56, 7) में घी मिश्रित मीठी रोटी के लिए अनूप शब्द का प्रयोग हुआ है।

वेदकालीन आर्य वर्षा के अतिरिक्त सिंचाई पर भी अपने कृषि कार्य के लिए निर्भर रहते थे। सिंचाई का काम कुओं व नहरों के द्वारा किया जाता था। ऋग्वेद में उल्लेख आता है कि किसान अपने खेतों की सिंचाई करते थे और आवाज करके बोये हुए धान्य के बीजों को खाने वाले पक्षियों को उड़ाते थे (ऋग्वेद 10, 6, 1) 'कूप' शब्द कुएँ के अर्थ में (ऋग्वेद 1, 105, 17) में उल्लिखित है। 'अवत' भी ऋग्वेद (1, 55, 8; 1, 85, 10; 1, 116, 9, 4, 17, 16; 8, 4, 96, 8; 62, 6;10, 25 4)। पानी पत्थर के चक्र से खीचा जाता था, जिससे रस्सी द्वारा बाल्टी (कोश) बन्धी रहती थी। वह बड़ी-बड़ी नालियों द्वारा विभिन्न खेतों में पहुँचाया जाता था (ऋग्वेद 8, 69, 12)। ऋग्वेद (7, 49, 2) में खनित्रिमा उत वा या स्वयंजा: (खोदकर निकाला हुआ पानी) का उल्लेख आता है, जिससे सिंचाई के लिए उपयुक्त पानी की नहरों का बोध होता है। इससे स्पष्ट है कि वैदिक युग में कृत्रिम नहरों द्वारा खेतों की सिचाई की जाती थी।

(घ) उत्तर वैदिक काल में ग्राम्य जीवन

ग्राम्य जीवन

वैदिक काल में ग्राम आत्मनिर्भर इकाई के रूप में संगठित थे। इसके निवासी रक्त संबंधी थे। वे समान रीति-रिवाज, समान उद्देश्य एवं समस्याओं के कारण परस्पर सामुदायिक सूत्र में बँधे थे। सहयोग एव सहानुभूति के बिना ग्राम्य जीवन की सुरक्षा, शान्ति संभव नहीं थी। गाँवों की आन्तरिक व्यवस्था ग्राम सभाओं द्वारा की जाती थी। ग्रामणी ग्राम का प्रधान होता था। 'ग्राम्यवादिन्' गाँव के झगड़ों को तय करता था। इस प्रकार वैदिक ग्राम स्वशासित एवं आन्तरिक मामलों में पूर्णत: स्वतंत्र थे। ग्राम्यजीवन प्राय: सुखी और सम्पन्न था। विभिन्न प्रकार के शिल्पकार रहते थे, जो वस्तु विनिमय के द्वारा एक दूसरे की आवश्यकताओं की पूर्ति करते थे। पशुपालन और कृषि से भोजन की सामग्रियाँ प्रभूत मात्रा में प्राप्त होती थी। शुक्ल यजुर्वेद (3, 43) में कहा गया है कि अन्न से भंडार भरे हैं। पशुओं से गोशालाएँ परिपूर्ण हैं। दूध-दही आदि का कोई अभाव नहीं है। इस प्रकार उत्तर वैदिक समाज आर्थिक दृष्टि से सम्पन्न एवं समृद्ध था। गंगा घाटी के उर्वर खेतों तथा चरागाहों ने आर्यों के अन्न-धन एवं पशु धन, दोनों को अधिक

स्मृद्धि प्रदान किया।

उत्तर वैदिक युग तक परिस्थितियों में परिवर्तन के आर्थिक विकास में नवीन गति और दिशा पाते हैं। आर्य लोग अब स्थायी ग्रामों एवं जनपदों में रहने लगे थे शपतथ ब्राह्म 4, 1, 5, 2-7)। विजित उर्वर प्रदेशों में ग्राम की स्थापना होने लगी थी। विजेता के रूप में विस्तृत उर्वर भूमि पर्याप्त रूप में उपलब्ध हो चुकी थी। ऐसी स्थिति में आर्थिक विकास का क्रम स्वभावत: तीव्रतर हुआ। ग्राम आर्थिक व्यवस्था के केन्द्र बने तथा ग्रामीण आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए अनेक व्यवसायों और उद्योगों का विकास हुआ। दक्षिण पूर्व की ओर गतिशील आर्यो को वनों को साफ करके अपने ग्रामों की स्थापना करनी पड़ी थी। इन्हीं वनों को साफ करके भूमि को कृषि योग्य बनाना पड़ता था। उत्तर वैदिक साहित्य से उपलब्ध प्रमाणों से स्पष्ट होता है कि क्षेत्र और अरण्य पास-पास हुआ करते थे। शतपथ ब्राह्मण (13, 3, 7,11) में दीर्घ अरण्यों का उलेख हुआ है। ऐतरेय ब्राह्मण में पूर्वी भारत के वनों का वर्णन है (3, 44) जिसका धीरे-धीरे विनाश किया जा रहा था। अनेक प्रसंगों से ऐसा प्रतीत होता है कि छोटे-छोटे ग्राम बड़े ग्रामों में तथा बड़े ग्राम नगरों में विकसित हो रहे थे। यजुर्वेद संहिता तथा ब्राह्मणों में महापुरों का उल्लेख मिलता है (तैत्तिरीय संहिता 6, 2 ,3 ,1; काठक संहिता 24, 10; मैत्रायणी संहिता 3, 8,1; ऐतरेय ब्राह्मण 1, 23, 1; ऐतरेय ब्राह्मण 1, 23, 2; गोपथ ब्राह्मण 2, 2, 7)। कुछ-कुछ गाँव पास-पास (शतपथ ब्राह्मण 13, 2, 41)और कुछ दूर-दूर बने थे (छान्दोग्योपनिषद 8, 6, 1)। गाँवों की भीतरी स्थिति के संबंध में ऐसा प्रतीत होता है कि वे खुले हुए और साफ सुथरे हुआ करते थे। उनके भीतर गढ़ (पुर) भी बनवा लिए जाते थे, संभवत: सभी घर अलग-अलग होते थे, अहातों में घिरे होते थे।

भूमि

उत्तर वैदिक युग में भी गोचर भूमि को ग्रामवासियों के सामूहिक उपयोग की वस्तु माना गया है।

भूमि पर राजकीय प्रभुता

वैदिक साहित्य में राजा की सम्पूर्ण भूमि पर राजा का अधिकार सूचित करने वाला कोई प्रमाण नहीं है। पूर्व वैदिक काल में राजा को जनता से केवल 'कर' प्राप्त होता था। वह ग्राम की भूमि का अधिकारी नहीं था। ग्राम की भूमि पर ग्रामवासियों का ही अधिकार था। अथर्ववेद (4/22/2) में इन्द्र से प्रार्थना की गई है कि वह राजा को ग्राम में भाग दिलाये। इससे स्पष्ट है कि उत्तर वैदिक युग के पूर्वार्द्ध में भी ग्राम की सम्पूर्ण भूमि राजा एवं कर्मचारियों के भरण-पोषण के लिए दी जाती थी। यदि राजा सम्पूर्ण सम्पत्ति का स्वामी होता तो फिर इस प्रकार की प्रार्थना नहीं की जाती। सत्य तो यह है कि वैदिक युग में भूमि अधिक और जनसंख्या कम थी। जिस व्यक्ति ने भूमि को साफ किया तथा उस पर कृषि कार्य किया, वही उसका स्वामी बना। राजकीय विधि-नियमों के विकास के अभाव में इस प्रकार की व्यक्तिगत भूमि पर राजा द्वारा हस्तक्षेप का कोई प्रश्न नहीं उठता। इतना अवश्य था कि कालक्रम से राजाओं के अधिकार में भी विस्तृत भू-भाग आ गये थे। उपनिषद् (4/2/4) से ज्ञात होता है कि राजा जन श्रुति-पौत्रायण ने रैक्व नामक व्यक्ति को 'रैक्वपर्ण'' नामक ग्राम दान में दे दिया।

ब्राह्मण साहित्य में यत्र-तत्र-भू- सम्पति के लेने-देने का विरोध संकेतित है, किन्तु अनेक प्रसंगों में स्पष्ट रूप से यज्ञ का सम्पादन करनेवाले पुरोहितों को दान में प्राप्त भूमि का वर्णन हुआ है (शतपथ ब्राह्मण 13, 6, 2, 18; 13, 7, 1, 13 और 14)। शतपथ ब्राह्मण में गार्हपत्य अग्नि के प्रसंग में इस बात का संकेत है कि क्षत्रिय लोग राजा द्वारा प्रदत्त भूमि का विभाजन पारस्परिक समझौते के आधार पर करते थे (शतपथ ब्राह्मण 7, 1, 1, 4) ऋग्वेद (10, 34) में जुआरी द्वारा जुए में सब धन दाँव में लगाने का उल्लेख है, जिसमें उसका घर भी शामिल है। छान्दोग्योपनिषद् (7, 24, 2) में क्षेत्र और आयतन को व्यक्तिगत सम्पति माना गया है, जिसका हस्तान्तरण पूर्णतः संभव था। उत्तर वैदिक युग तक समाज में कृषि का महत्व बढ़ने लगा, जो स्थायी ग्रामीण सभ्यता के लिए सर्वथा आवश्यक था। कृषि के द्वारा उत्पन्न अन्न को ही लोग सम्पूर्ण जगत का पालक मानने लगे थे। तैत्तिरीय उपनिषद (3, 3) के अनुसार "अन्न ही ब्रह्म" है। अन्न से ही समस्त प्राणी उत्पन्न होते हैं; और अन्न से ही सब का जीवन चलता है। विनष्ट होकर सभी अन्न में मिल जाते हैं तथा अन्न में ही एकरूपता प्राप्त करते हैं।

पुरोहितों तथा युद्ध कर्मा राजन्यों को छोड़कर सभी लोग कर्म में योग देते थे। खेती में अधिकांशतः वैश्य लोग प्रवृत थे, इसीलिए अस्ट्रा वैश्यों का चिन्ह बतलाया गया है (काठक संहिता 37/1)। कृषि कर्म में शूद्रों के श्रम का भी पर्याप्त उपयोग होता था। ये शूद्र, सम्पन्न एवं सम्भ्रान्त लोगों की भूमि पर काम करते थे तथा यदा-कदा भूमि सहित दान में भी दिये जाते थे (शांखायन श्रौत सूत्र 20, 10 सहपुरुषो च दीयते) संभव है कि कुछ धनी शूद्र व्यक्तिगत भूमि में भी कृषि कर्म करते रहे हों।

शुनः सीर सीता आदि अनेक देवी देवताओं की स्तुति की जाती थी। बैलों को हल में जोतने बीजवपन करने तथा नवान्न को प्रथम बार ग्रहण करने के लिए अनुष्ठानों की व्यवस्था थी। किसान फसल के पक जाने पर उनका संग्रह करते समय देवताओं के प्रति श्रद्धा स्वरूप कुछ अंश वहीं छोड़ देता था। कृषि से संबंधित इन धार्मिक अनुष्ठानों के पीछे दो भावनायें थी। प्रथमतः कृषक प्रकृति के प्रकोप से फसल की रक्षा के लिए देवताओं को प्रसन्न करने का प्रयास करता था। दूसरे, धान्य संचय के समय कृतज्ञता प्रकट करने के लिए वह देवताओं को बलि देता था। वस्तुतः आज की ही भाँति उस युग में भी भारतीय कृषि कार्य प्राकृतिक संकटों से ग्रस्त रहता था। अनावृष्टि से खेतों की क्षति होती थी, अतः अनेक बार वृष्टि के लिए प्रार्थना की गई है (अथर्व. 7/18)। इसके अतिरिक्त अतिवृष्टि एवं विद्युत्पात से भी खेतों को हानि पहुँचती थी। इस देवी प्रकोपों से मुक्ति के लिए अथर्ववेद में तंत्र मन्त्र का उल्लेख हुआ है। उत्तर वैदिक युग में गंगा की घाटी में बसे कृषकों के लिए बाढ़ भी एक भीषण समस्या रही होगी। अथर्ववेद में उपक्वस, जस्य तथा पतंग आदि कृषिनाशक कीड़ों के नाम दिये गये है जिनसे खेती की रक्षा के लिए अनेक यंत्र तथा उपाय बताये गये हैं। छान्दोग्योपनिषद् (10/1-3) से ज्ञात होता है कि टिड्डियों से फसल की बड़ी क्षति होती थी। एक बार टिड्डियों के कारण समस्त कुर जनपद अकाल ग्रस्त हो गया था।

संहिताओं तथा ब्राह्मणों में कृषक जीवन से संबधित अनेक कार्यों का उल्लेख मिलता है। शतपथ ब्राह्मण (1, 6, 2, 3) में कर्षण (जोतना), वपन (बोना), लवन (काटना) तथा मर्दन (माड़ना) इन चार शब्दों में कृषि की समस्त प्रक्रिया का वर्णन कर दिया गया है। मर्दन के बाद चलनी (तितऊ) अथवा सूप की सहायता से वैदिक युग की तरह ही अन्न को भूसे से अलग किया जाता था (ऋग्वेद इण्डेक्स

1, 182)।

कृषि की सफलता के लिए वैदिक युग में ही सिंचाई के साधन विकसित किये जा चुके थे। अथर्ववेद में वर्षा और कूप के पानी के अतिरिक्त नहरों के पानी का भी उल्लेख हुआ है (3, 13)। पूर्व वैदिक युग में प्रचलित खेतों में पानी पहुँचाने वाली नालियों (कुल्या) का भी उत्तर वैदिक युग में होता था। कूप से पानी निकालने के लिए यदा-कदा संभवतः रहट (चक्र) का भी प्रयोग होता था। वैदिक आर्यों के निवास भूमि पंजाब और गंगा की घाटी के क्षेत्र (कृषि योग्य भूमि) प्रायः उपजाऊ होते थे। नदियों की बाढ़ से नई मिट्टी आती रहती थी, जिससे भूमि की उर्वरा शक्ति बनी रहती थी। खेतों को प्रायः उनकी उर्वरता के कारण ही उर्वर भी कहा गया था फिर भी पैदावार वृद्धि के लिए खाद का प्रयोग किया जाता था। शतपथ ब्राह्मण (2, 1, 1, 7) में गोबर की खाद का उल्लेख है और अथर्ववेद (19, 31, 3) में पशुओं की प्राकृतिक खाद को मूल्यवान माना गया है।

उत्तर वैदिक युग में धान की खेती काफी लोक प्रिय हो चुकी थी। ब्रीहि शब्द जो ऋग्वेद में अनुपलब्ध है, पिछली संहिताओं में खूब मिलता है। हस्तिनापुर के उत्खनन से भी चावल के दाने और धान की भूसी प्रकाश में आये हैं, जिसमें धान के विशेष उत्पादन की बात पुष्ट होती है। तैत्तिरीय संहिता में धान के तीन प्रमुख प्रकार बतलाये गये है, जिन्हें कृष्ण (काला), आशु (शीघ्र पैदा होने वाला) तथा महाब्रीहि बड़े दानों वाला कहा गया है (1, 8, 19, 1)। इन भेदों में 'आशु' संभवतः साठर नामक धान को लक्षित करता है जो साठ दिन में तैयार हो जाता है।

श्री सुनीति कुमार चटर्जी ने यह सिद्ध करने का प्रयास किया है कि प्रोटो आस्ट्राइड जाति के लोगों को चावल की खेती करने का ज्ञान गंगा घाटी में आर्योंके प्रवेश के पहले ही हो चुका था। 'चावल' शब्द ही आर्यों का नहीं वरन् मुंडा भाषा का है। आर्यों के आने के पहले प्रोटो-आस्ट्रलाइड जाति के लोग गंगा के मैदान में रहते थे। ऐसी स्थिति में यह संभावना अधिक युक्ति संगत प्रतीत होती है कि आर्यों ने चावल की खेती करना निषादों से सीखा। (परम्परात प्रमाण पृ० 113 और 421)

उत्तर वैदिक साहित्य में यव और ब्रीहि के अतिरिक्त अन्य प्रकार के अनाजों का उल्लेख मिलता है। अथर्ववेद में ब्रीहि के अतिरिक्त 'तंदुल' का वर्णन हुआ है, जो धान का एक दूसरा किस्म प्रतीत होता है (10/9 6)। इसके अतिरिक्त इस वेद (अथर्व 12/2/53) में माष (उड़द), शारिशाका 3, 14, 5 (सरसों) गन्ना, मिल आदि का भी उल्लेख हुआ है। वाजसनेयी संहिता 18/12; 19/22; 21/29; 7/10; 12/14 में गोधूम, यव, ब्रीहि, मास, भुदग्, मसूर, तिल, श्यामाक, प्रियंगु, नीवार आदि की उपज का वर्णन है। शतपथ ब्राह्मण (12/7/12; 12/7/2/9) में गोधूम (गेहूँ), ब्रीहि (एक प्रकार का चावल) का उल्लेख मिलता है। बृहदारण्यक-उपनिषद् (5/3/22) में कृषित (ग्राम्याणि) अन्न के दस प्रकार बताये गये है 1. चावल (ब्रीहि) 2. जौ (यवाः), 3. तिल (तिलाः), 4. माष (माषा), 5. सरसों 6, राई कोदि के धान्य (अणु-प्रियंगव), 7, ज्वार (गोधूमाः) 8, मसूर (मसूराः) 9, खत्व और 10, (कुल)। तैत्तिरीय संहिता (7, 2, 10, 2) के अनुसार जौ की खेती ग्रीष्म ऋतु में बोने का उल्लेख है। यज्ञ के समय कृषि देव 'पूषन' का विशेष भोज्य हुआ करता था। वह सूप जो (उपवाक्) के अतिरिक्त तिल (तीर्य) का भी बनाया जाता था।

खाद्यान्नों में गेहूँ का प्रमुख स्थान था। मैत्रायणी संहिता (1, 2, 8), वाजसनेयी संहिता (18, 12), शतपथ ब्राह्मण (1, 2, 7, 2) और बृहद्आरण्यक उपनिषद् (6, 3, 22) में गोधूम का गेहूँ के अर्थ में बहुवचन में प्रयोग हुआ है। चावल (ब्रीहि) और जौ (यव) से उसकी स्पष्ट भिन्नता बतायी गयी है।

तिल और माष (अथर्ववेद 2, 8, 3), तैत्तिरीय संहिता (7, 2, 10, 2), मैत्रायणी संहिता (4, 3, 2) वाजसनेयी संहिता (8, 12), शतपथ ब्राह्मण (9, 1, 1, 3) आदि अनेक ग्रन्थों में अन्नों में परिगणित है। तिल से उत्कृष्ट तेल निकाला जाता था। तैत्तिरीय संहिता के उक्त संदर्भ में उर्द और तिल का क्रमशः हेमन्त और शिशिर ऋतु में उगने वाला अन्न कहा गया है। वाजसनेयी संहिता (18, 12) तथा बृहदारण्यक-उपनिषद् में मसूर की गणना दालों में की गई है। तैत्तिरीय ब्राह्मण (3, 8, 14, 6) का मसूरस्यर शब्द भी मसूर का ही द्योतक है। वैदिक युग के अन्नों में ईख (ईक्षु) का भी अथर्ववेद (1, 34, 5), मैत्रायणी संहिता (3, 7, 9; 4, 2, 9) और वाजसनेयी संहिता (25, 1) आदि में उल्लेख है। इन सन्दर्भों में यह स्पष्ट नहीं होता है कि ईख की खेती होती थी या वह स्वयं उगता था।

अनाज बोने की भिन्न-भिन्न ऋतुओं का विशिष्ट वर्णन तैत्तिरीय संहिता में हुआ है। फसलें साल में दो बार बोई जाती थीं। शीतकाल में बोई गई फसल चैत के महीने में पक जाती थी (5/1 /7/3)। बीज बोने का समय जलवायु में विशेष परिवर्तन न होने के कारण बहुत कुछ आधुनिक युग के समान था।

वृक्ष

उत्तर वैदिक युग में बदर, कुवल, करकन्धु, न्यग्रोध, अश्वत्थ, विल्ब, आमलक आदि उपयोगी वृक्षों के नाम भी संहिताओं में मिलते हैं। यह कहना कठिन है कि ये वृक्ष लगाये भी जाते थे या केवल जंगली होते थे। न्यग्रोध और अश्वत्थ जैसे वृक्ष तो निश्चय ही जंगली रहे होंगे। पर्याप्त भूमि अभी कृषि के उपयोग में नहीं लाई जा सकी थी। ऐसे जंगली और विना जुते हुए प्रदेशों में भी अन्न और फल उत्पन्न होते थे। ब्रह्मचारियों को यह सन्देश दिया गया है कि उन्हें बिना जुते भूमि से एकत्रित अन्न से जीवन बसर करना चाहिये।

(ङ) पशुपालन

वैदिक युग के आर्थिक विकास में मवेशियों का महत्वपूर्ण स्थान था। उन्हें धन के रूप में माना जाता था। गाय पालना प्राचीन आर्यों का पवित्र कर्तव्य समझा जाता था। गायें प्राचीन आर्यों की विशेष सम्पत्ति थीं। खेती के लिए बछड़े, शरीर मजबूत बनाने के लिए घी व दूध, देहातों के छोटे-छोटे घर लीपने के लिए गोबर, जलाने के लिए कण्डे आदि सब गाय से ही प्राप्त होते थे। आर्थिक दृष्टि से समाज में गाय का इतना अधिक महत्व था तथा उससे लोग अपने को इतना सुखी मानते थे कि जब स्वर्ग के देवताओं के निवासस्थान की कल्पना की जाती थी, तब उसमें बड़े-बड़े सींगवाली गायें विशेषरूप से रहती थीं।

ऋग्वेद में कितने ही मन्त्रों में गाय का उल्लेख है, जहाँ गाय प्राप्ति की इच्छा दर्शाई गई है। पूषा से प्रार्थना की गई है कि 'हे पूषा हमारी गायों के पीछे चलो व उनकी रक्षा करो ऋग्वेद 6, 54, 6-7। इससे स्पष्ट है कि वेदकालीन समाज के आर्थिक जीवन में गाय को महत्वपूर्ण माना गया था। गाय को

विनिमय के साधन के रूप में भी प्रयुक्त किया जाता था। प्रत्येक परिवार के पास बहुत सी गायें रहती थी, जिनके विनिमय से जीवन की बहुत सी आवश्यकताएँ प्राप्त की जाती थीं। सोम का पौधा गायों के द्वारा खरीदा जाता था। अन्न सामग्री, वस्त्र आदि भी गायों द्वारा प्राप्त किया जाता था। कभी-कभी पत्नी भी गायें देकर प्राप्त की जाती थीं, जैसा कि 'आर्ष विवाह' में हुआ करता था (मनुस्मृति 3/28)। राजाओं व धनाढ्य व्यक्तियों द्वारा ऋषियों को कितनी ही गायें दान में दी जाती थीं। ऋग्वेद में दानस्तुति-मन्त्रों में इसका स्पष्ट उल्लेख है।

ऋग्वेद 6/28/1-8 में एक स्थान पर गाय के महत्व को सुन्दर शब्दों में समझाया गया है—

"गायें आई हैं; उन्होंने हमारा कल्याण किया है। ये गोष्ठ (मवेशी बाँधने का अहाता) में आराम करें और हमें सुखी बनावें। यहाँ वे 'प्रजावती' बहुत से बछड़ों को जन्म देने वाली) व पुरुरूपा (नाना रूपवाली) बनकर इन्द्र के लिये प्रातःकाल दूध देवें। उनका (गायों का) नाश नहीं होता, कोई चोर उन्हें हानि नहीं पहुँचा सकता। कोई शत्रु उन्हें कष्ट नहीं देता। गोपति उन गायों के साथ रहता है व उनसे देवताओं की पूजा करता है। घोड़ा उनकी बराबरी नहीं कर सकता। वे यज्ञ करने वाले के पीछे निर्भीक रूप से दूर-दूर तक विचरण करती है। मुझे गायें भग प्रतीत होती हैं, गायें इन्द्र प्रतीत होती है, ये पवित्र गायें प्रथम सोम के भक्ष (रस) के समान हैं। हे मनुष्यो, ये जो गायें हैं वे इन्द्र हैं। मैं अपने मन व हृदय से इन्द्र को चाहता हूँ। हे गायो! तुम दुबले मनुष्य को बलवान् बना देती हो, कुरूप को सुन्दर बना देती हो। हमारे गृह को कल्याणकारी बनाओ, हमारी सभाओं में तुम्हारी प्रशंसा होती है। अच्छी घास खाकर मवेशियों के पानी-पीने के स्थान में शुद्ध जल पीकर प्रजावती बनो। कोई चोर या पापी तुम्हारा स्वामी न बने; रुद्र के वाणों से तुम्हारी रक्षा होवे।"

ऋग्वेद 10/169/1-4 में एक और स्थान पर गाय का महत्व समझाते हुए उसकी प्रशंसा की गई है जो कि इस प्रकार है—"यह जीवनप्रद वायु गायों पर बहे; वे शक्तिशाली बनस्पतियों को खायें व शक्तिवर्धक जल पियें। इस कल्याणकारी गाय पर रुद्र कृपा करे। हे पर्जन्य, इन गायों का महान् कल्याण करो, जो सरूपा, वरूपा व एकरूपा हैं, जिनके नाम अग्नि, यज्ञ के द्वारा जानता है और जिसको अग्निरसों ने तप से उत्पन्न किया है। हे इन्द्र, जो गायें देवताओं को अपना शरीर प्रदान करती हैं। जिनके सब रूपों को सोम जानता है और जो हमें दूध से पुष्ट करती हैं, उन्हें 'गोष्ठ' (गायें बाँधने का आहाता) में ले आओ। प्रजापति, विश्वेदेवाः व पितरों के साथ होकर मुझे ये गायें प्रदान करे, व इन कल्याणकारी गायों को हमारे 'गोष्ठ' में ले आवे। हमें उन गायों की प्रजा प्राप्त होवे।"

उपरोक्त मन्त्रों में गाय का महत्व, उनकी उपयोगिता व उनकी पवित्रता बहुत ही सुन्दर शब्दों में समझाया गया है। गाय को पालना, उनकी पूजा करना तथा उनसे घी, दूध, मक्खन, दही आदि प्राप्त करना वैदिक आर्यों का परम कर्तव्य था। उपरोक्त वर्णन से यह स्पष्ट हो जाता है कि तत्कालीन सामाजिक, धार्मिक व आर्थिक जीवन में गाय का स्थान अत्यन्त ही महत्वपूर्ण था।

वैदिक युग में गाय के अतिरिक्त बैल का भी बहुत महत्व था। हल आदि जोतने, गाड़ियाँ खींचने तथा खलियान में अनाज तैयार करने में बैलों का उपयोग होता था।

भेड़ बकरी आदि

वैदिक साहित्य से पता चलता है कि गाय, बैल, सांड़ आदि के अतिरिक्त भेड़, बकरी आदि भी पाली जाती थीं (बसु-इन्डो-आर्यन पॉलिटी, पृ. 95-96)। ऋग्वेद में मेष का उल्लेख कितने ही स्थलों पर आया है। 'उर्णवती' शब्द से पता लगता है कि भेड़ों से ऊन निकालने का व्यवसाय भी उस समय ज्ञात था। ऊन के कपड़े भी बनाये जाते थे, जिनका उपयोग जाड़े में आवश्यक हो जाता था। अज व अजा का भी कितनी ही बार उल्लेख आता है। बकरी का दूध पीया जाता था। वैदिक काल से लेकर आज तक भी कितने ही लोग भारत के विभिन्न भागों में भेड़, बकरी आदि पाल कर अपना उदर-निर्वाह करते हैं। यजुर्वेद 30/11 में विभिन्न व्यवसाय करने वालों के वर्णन के अवसर पर 'गोपाल,' 'अविपाल आदि का भी उल्लेख है। 'अविपाल' से भेड़ पालने वाले का अर्थ होता ह। इन उल्लेखों से स्पष्ट है कि वैदिक युग में कुछ लोगों का व्यवसाय भेड़ व बकरी पालना था, जिससे वे अपना उदरनिर्वाह करते थे।

घोड़ा

वेदकालीन आर्यों में जीवन में घोड़े का भी महत्वपूर्ण स्थान था। तैत्तिरीय 7/1/1/4-6 संहिता में कहा गया है कि प्रजापति ने सर्वप्रथम मनुष्यों में ब्राह्मण और पशुओं में बकरी उत्पन्न की। उसके पश्चात् उसने क्षत्रिय व भेड़ उत्पन्न किये। तत्पश्चात् वैश्य व गायें उत्पन्न किये गये और अन्त में शूद्र व घोड़े उत्पन्न किये गये। जिस क्रम से इन पशुओं की उत्पत्ति का उल्लेख है उससे कदाचित् यह कहा जा सकता है कि उक्त क्रम से प्रारम्भिक आर्यो ने उन पशुओं को जंगली अवस्था से पालतू बनाया। घोड़ा अपनी तीव्र गति के कारण प्राचीन काल में बहुत लोकप्रिय बन गया था। घोड़े व रथ से प्राचीन आर्यों के जीवन में महत्वपूर्ण परिवर्तन हुए थे, जिनके कारण उनका सांस्कृतिक विकास भी प्रभावित हुए विना वही रह सका। घोड़ों से जुते हुए रथों में बैठ कर प्राचीन आर्य राजा समस्त भारत में फैल गये थे तथा भारत के बाहर पश्चिमोत्तर की घाटियों से होकर एशिया माइनर, अफ्रिका व यूरोप तक भी पहुँच गये थे। यातायात के साधनों में आजकल जो स्थान रेल, जहाज आदि का है, वही स्थान वैदिक काल में रथ व घोड़ों का था। रथ व घोड़े इतने प्रिय थे कि उन पर से राजाओं के नाम भी रखे जाते थे जैसे दशरथ, नवरथ, अप्रतिरथ, कृशाश्रव, बृहदश्रव, रोहिताश्रव आदि।

घोड़ा एक ईमानदार, सुन्दर, तेज गतिवाला, अदम्य उत्साहयुक्त साहस व सर्वश्रेष्ठ पशु माना जाता था। इसलिए उपरोक्त गुणों की तुलना के लिए उपमान के रूप में उनका प्रयोग किया जाता था। सूर्य, अग्नि, अश्विनौ, मरुत आदि की तुलना घोड़े से की गई है। अश्विनौ नाम ही अश्व से बना है। सूर्य को वायुमण्डल का घोड़ा कहा गया है। अग्नि लाल घोड़े के समान तीव्र गति से आगे बढ़ता है। मरुत तेज दौड़ते हुए घोड़ों पर चढ़कर आते हैं। इन्द्र के पास दो घोड़े थे, जिनपर वह सवारी करता था। घोड़े को कभी-कभी हल जोतने के काम में भी लाया जाता था। किन्तु अधिकांश उपयोग सवारी, रथ खींचने व माल ढोने के लिए किया जाता था। ऋग्वेद में घोड़े की सवारी का (विशेष कर युद्ध के अवसर पर) उल्लेख कितने ही स्थलों पर आता है। ऋग्वेद 1/163/9 में कहा गया है कि इन्द्र इस अश्व पर सर्वप्रथम सवार हुए। एक और स्थान पर कहा गया है (ऋग्वेद 5/61/2) कि "तुम्हारे घोड़े कहाँ हैं? घोड़े की लगाम कहाँ है? तुम किस प्रकार आये?" पीठ पर आस्तरण व नाक में लगाम थी।" "इन

उल्लेखों से स्पष्ट है कि वैदिक काल में घोड़े की सवारी बहुत लोकप्रिय थी। ऋग्वेद के अध्ययन से ज्ञात होता है कि देवताओं को भी घोड़े की सवारी बहुत प्रिय थी। अश्विन देवता घोड़ों पर बैठ कर आते थे (ऋग्वेद 8/5/7, 8)। एक मन्त्र में इन्द्र की स्तुति इस प्रकार की गई है (ऋग्वेद 8/6/36) ''हे इन्द्र, दूर के प्रदेश से दो सुन्दर घोड़ों पर बैठकर हमारे पास आओ और सोम का पान करो।'' इसी प्रकार आदित्य (ऋग्वेद 2/27/22) मरुत (ऋग्वेद 5/61/11; 5/53/3); मित्र व (ऋग्वेद 5/64/7) अग्नि (ऋग्वेद 2/1/6) आदि भी घोड़े की सवारी करते थे। एक स्थान पर ''अश्वपर्णा नर'' (अर्थात् घोड़े रूपी पंख वाले व्यक्ति अर्थात् घुड़सवार) का उल्लेख आता है (ऋग्वेद 6/47/31) ऋग्वेद में कितने ही स्थलों पर ऐसा उल्लेख है, जिससे सिद्ध होता है कि युद्ध में भी घोड़ों का उपयोग किया जाता था (6/46। 13, 14; 9/37/5; 9/86/3; 9/108/2; 10/6/6); (ऋग्वेद 4/38/2; 4/40/1; 4/450/1 में देवताओं के युद्ध में प्रयुक्त किये जाने वाले घोड़े दधिक्रा का विशद वर्णन आता है, जिसमें कहा गया है कि वह वायु के वेग से युद्धभूमि में इधर-उधर दौड़ता था।

ऋग्वेद के एक सूक्त 1/169/1-13 में बहुत ही सुन्दर शब्दों में घोड़े का स्तुत्यात्मक वर्णन किया गया है, जिससे स्पष्ट होता है कि वेदकालीन समाज में घोड़े का कितना महत्वपूर्ण स्थान था। उक्त सूक्त में कहा गया है —''हे घोड़े तुम्हें श्येन के पंख व हरिण की भुजाएँ हैं। इस भूमि पर तुम्हारा जन्म स्तुत्य है। तुम्हारे तीन बन्धन स्वर्ग में है, तीन जल में है व तीन समुद्र के अन्दर में है। तुम आकाश में सूर्य के समान प्रतीत होते हो, जब तुम तीव्रगति से दौड़ते हो। अच्छे मार्गों पर तुम्हारे सिर को धूलधूसरित पक्षी के समान मैंने देखा। यहाँ तुम्हारे उत्तमरूप को मैने देखा। हे घोड़े, रथ, मनुष्य, गाय, भग आदि तुम्हारा अनुसरण करते हैं, देवताओं ने तुम्हारे वीर्य को नापा है। यह घोड़ा हिरण्यशृंग है, उसके पैर मन के समान तीव्रगति वाले हैं।''

उपरोक्त कथन से स्पष्ट होता है कि वैदिक युग की आर्थिक व्यवस्था में पशुपालन का भी अत्यन्त ही महत्वपूर्ण स्थान था। गायों व बैलों द्वारा कृषि प्रधान भारत, वैदिक युग में आश्चर्यजनक विकास कर सका; भेड़, बकरी आदि के व्यवासय का विकास कर अर्ध सभ्य व पहाड़ी जातियाँ अपना उदर निर्वाह करती थीं। इन सब पशुओं में घोड़ा अत्यन्त ही महत्वपूर्ण सिद्ध हुआ, क्योंकि अपने आर्यों के सामाहिक व सांस्कृतिक जीवन में क्रान्ति उत्पन्न कर दी थी। यातायात की व्यवस्था में भी इन पशुओं का विशेष स्थान था। वेदकालीन आर्य अपने पशुओं का भी विशेष ख्याल रखते थे व प्रार्थना करते थे कि ''हमारे द्विपद (मनुष्य) व चतुष्पद् (पशु, चौपाये) आदि सब रोगरहित रहे।''ऋग्वेद 10 /97/20 : ''द्विपच्चतुष्पदस्माकं सर्वमस्त्वनातुरम्।।''

पशुपालन उत्तर वैदिक समाज

उत्तर वैदिक काल में भी कृषि के अतिरिक्त पशुपालन आर्यों का मुख्य व्यवसाय था। कृषि कार्य में विकास के साथ-साथ पशुओं विशेष कर गाय बैलों की महत्ता में वृद्धि हो रही थी। बैलों से खेती का काम लिया जाता था। वे विशेषत: हल जोतने और गाड़ी के काम में लाये जाते थे। जवान तथा शक्तिशाली बैल को 'वृषभ' कहते थे। गाड़ी (अनस) खीचने वाले बैल की अनड्वान संज्ञा थी। बैलों को पालतू और अधिक उपयोगी बनाने के लिए उन्हें 'बधिया' करने की भी प्रथा थी। ऐसे बैल को महानिरष्ट

(वेजतंमजक ठनसस) कहा गया (तैत्तिरीय संहिता 1, 8, 9, 1; काठक संहिता 15, 4,9,; मैत्रायणी संहिता 2, 6, 5)। न केवल साधारण लोग परन्तु राजा लोग भी पशु धन की कामना करते थे। योद्धा की अपेक्षा रहती थी कि लूट में अधिक पशु मिले। अथर्ववेद (4, 21, 2) में गायों के लिए प्रार्थना की गई है। इन्हीं पशुओं को दक्षिणा में देकर राजा लोग पुरोहितों को अनुगृहीत करते थे और विद्वानों का संरक्षण करते थे (बृहदारण्यकोपनिषद 3, 6, 1, 8)। गायों के चोरी चले जाने अथवा जंगली पशुओं का शिकार बन जाने का भी भय बना रहता था। पशुओं के समूह इतने विशाल थे कि उनके कानों पर नाना प्रकार के चिन्ह बनाये जाते थे (मैत्रायणी संहिता 4, 2, 9)। गायों के कानों को छेदने की प्रथा काफी बाद तक पशुपालक समाज में प्रचलित रही, पाणिनि के सूत्रों में भी ऐसे चिन्हों का वर्णन मिलता है। गविष्टि अर्थात् गायों की गवेषणा ही युद्ध का पर्याय माना जाता था।

गाय बैल के अतिरिक्त अनेक पशुओं का उल्लेख है, जिनमें घोड़ा, भैंस, और बकरी महत्वपूर्ण है। अथर्ववेद में हाथी का भी उल्लेख है। ऋग्वैदिक आर्यो का इस पशु से परिचय नहीं था। संभवतः उत्तर वैदिक आर्यो ने हाथी पालने की कला गंगा घाटी में रहने वाले निषादों से सीखा। ऐतरेय ब्राह्मण (4, 9) से ज्ञात होता है कि यदा-कदा गदहों का उपयोग भी गाड़ी खींचने के लिए होता था। घोड़ा तो अपनी शक्ति और गति के लिए प्रसिद्ध ही था। वह आर्य-संस्कृति के प्रसार का अग्रदूत था। घोड़े का उपयोग यदा-कदा गाड़ी के लिए भी होता था, किन्तु अधिकांशतः वे रथ में ही जोते जाते थे, घुड़सवारी भी होती थी (ऋग्वेद 5, 6, 11-3; वाजसनेयी संहिता 3, 10, 13; तैत्तिरीय ब्राह्मण 3, 4, 71)। सिन्धु नदी के तटवर्त्ती प्रदेशों में घोड़े विशेष रूप सें पाये जाते थे (बृहदारण्यक उपनिषद 6, 2 ,13; शांखायन आरण्यक 9, 7), इसीलिए बाद में 'सैन्धव' शब्द घोड़े का पर्यायवाची बन गया। ऋग्वेद (10, 75 8; 1, 3, 10; 2, 41, 18; 6, 61, 3-4) पर सिन्धु और सरस्वती को वाजिनवती कहा गया है। इससे पता चलता है इन प्रदेशों में घोड़ों की बहुलता थी।

(च) वाणिज्य, व्यापार आदि

कृषि व गोपालन के अतिरिक्त वैदिक काल में साम्पत्तिक विकास का एक और साधन था, जिसे वाणिज्य कहा जाता था। कृषि, पशुपालन आदि का सम्बन्ध देहातों से था, जो कि प्राचीन काल में आर्थिक उत्पादन के केन्द्र थे। दैनिक आवश्यकता की वस्तुएँ अधिकांश देहातों में उत्पन्न की जाती थीं। आजकल के समान प्राचीन काल में बड़े-बड़े यन्त्र नहीं थे, जिनके लिये बड़े-बड़े नगरों की आवश्यकताओं की पूर्ति के केन्द्र आवश्यक थे, जो विकसित होकर नगर बन गये।

यजुर्वेद 30/6; 7, 11; 17, 20; में वर्णित उद्योग धन्धों से विकसित नागरिक जीवन का पता चलता है। अधिकांश लोगों का विशेषकर धनाढयों का किसी सत्ता की छत्रछाया में एकत्रित रहना नगरों के अस्तित्व का सूचक होता है। एक बड़े मानव-समुदाय के एकत्रित रहने पर उसकी दैनिक आवश्यकताओं की पूर्ति के साधन भी ढूँढे जाते हैं, यहीं से वाणिज्य या व्यापार का प्रारम्भ होता है। 'वाणिज्य' शब्द 'वणिक्' शब्द से बनता है जिसका अर्थ होता है, बनिया या व्यापारी। यजुर्वेद 30/17; तुलायै वाणिजं ''अथर्ववेद 3/15/1: ''इन्द्रमहं वणिजं चोदयामि'') में 'वाणिज' को तुला (तराजु) से सम्बन्धित किया गया है। इसमें तनिक भी सन्देह नहीं कि भारत के व्यापारिक व व्यावसायिक इतिहास

का प्रारम्भ वैदिक युग से ही होता है। कृषि की ऊपज, घी, दूध, वस्त्र तथा दैनिक जीवन से सम्बन्धित अन्य वस्तुओं द्वारा व्यापार किया जाता था।

वैदिक साहित्य के आलोचनात्मक अध्ययन से ज्ञात होता है कि तत्कालीन समाज आर्थिक दृष्टि से बहुत समृद्धशाली था। ऋग्वेद 10/75/8 में सिन्धु नदी की आर्थिक समृद्धि का सुन्दर चित्रण किया गया है। पंजाब की उपजाऊ भूमि अच्छी-अच्छी फसलें उत्पन्न करती थी, जिनसे लोगों का उदर निर्वाह होता था। ऊन भी बहुत अधिक मात्रा में तैयार किया जाता था, जिससे अच्छे-अच्छे कपड़े, कम्बल, शाल आदि बनाये जाते थे। उपरोक्त वर्णन व्यग्र औद्योगिक जीवन तथा राष्ट्रीय सम्पति व समृद्धि का चित्र उपस्थित करता है। इस साम्पत्तिक समृद्धि से यह भी स्पष्ट है कि तत्कालीन व्यापार बहुत बढ़ा-चढ़ा था। वैदिक काल में व्यापार के दो प्रकार थे (1) आन्तरिक व्यापार व (2) वाह्य व्यापार। आन्तरिक व्यापार से उस व्यापर का तात्पर्य है, जो तत्कालीन भारत के विभिन्न प्रदेशों के मध्य होता था। वाह्य व्यापार से उस व्यापार का बोध होता है, जो विदेशी नाव, जहाज आदि द्वारा किया जाता था। वैदिक काल में दोनों प्रकार का व्यापार अपनी विकसित अवस्था में था।

आन्तरिक व्यापार

वैदिक साहित्य के आलोचनामक अध्ययन से ज्ञात होता है कि खेती की उपज व उद्योग धन्धों द्वारा उत्पादित वस्तुएँ आवश्यकतानुसार एक स्थान से दूसरे स्थान को भेजी जाती थीं। यह कार्य व्यापारियों के दलों द्वारा सम्पादित किया जाता था, जो माल ढोने के लिए बैलों (ऋग्वेद 8/46/30) घोड़े, ऊँट, कुत्ते (ऋग्वेद 8/46/28) तथा गधों (ऋग्वेद 8/56/3) का उपयोग करते थे। इस कार्य के लिए भैंस (महिष) का भी उपयोग किया जाता था, जिसका उल्लेख ऋग्वेद (8/12/8; 9/33/1) में आता है। इस प्रकार माल से लदे हुए पशुओं के साथ व्यापारियों के झुन्ड एक स्थान से दूसरे स्थान को जाते थे तथा माल बेचते व खरीदते थे। कुछ विद्वानों ए. सी. दास-ऋग्वेदिक कल्चर, पृ. 143 का मत है कि ये व्यापारी अधिकांश में पणि थे, जिनका उल्लेख ऋग्वेद में आता है। इस पर आगे जाकर विस्तारपूर्वक विचार किया जायेगा।

इस घूमने-फिरने वाले व्यापारियों के अतिरिक्ति स्थायी व्यापारी भी रहते थे जो बड़े-बड़े नगरों में स्थायी रूप से रहते थे और जहाँ बड़े-बड़े बाजार रहते थे, जिन्हें अथर्ववेद (3/15/5; ''येन धनेन प्रपणं चरामि ····) ''में 'प्रपण' कहा गया है। वैदिक साहित्य में यत्र-तत्र क्रय-विक्रय का उल्लेख भी आता है। ऋग्वेद 4/24/9; में वर्णन आता है कि एक व्यक्ति को बहुमूल्य वस्तु के लिए कम कीमत प्राप्त हुई। वह खरीदने वाले के पास जाकर उस वस्तु को माँगता है। किन्तु खरीददार तैयार नहीं होता। अतएव उसे कम मूल्य ही स्वीकार करनां पड़ता है। इसी प्रकरण में आगे कहा गया (ऋग्वेद 4/24/10) इन्द्र को कौन दस गायों के समान धन से खरीद सकता है? जब वह बढ़ते हुए शत्रुओं का वध कर डालते हैं, तब वह उसके गवादि धन को मुझे ही सौंप देते हैं। इस पर से विल्सन, ग्रिफिथ, मैकडॉनेल, कीथ आदि विद्वान् यह मानते है कि वैदिककाल में इन्द्रदि देवताओं की मूतियों का विक्रय होता था और लोग उन्हें खरीदते थे।

ऋग्वेद के उपरोक्त उल्लेखों से तत्कालीन क्रय-विक्रय के विधि का ज्ञान होता है। एकबार

सौदा हो जाने पर पुनः उसमें किसी प्रकार का परिवर्तन नहीं हो सकता था। क्रेता व विक्रेता दोनों को पूर्व निश्चित सौदे के अनुसार ही व्यापार करना पड़ता था।

सोमविक्रय

अथर्ववेद में वाणिज्य के विकास का उल्लेख अप्रत्यक्षरूप से आता है। उसमें (अथर्ववेद 3/15/1-8) कहा गया है कि ''मैं वणिक् (व्यापारी) इन्द्र को प्रेरित करता हूँ। उसकी कृपा से ये पुर (नगर) हमें प्राप्त होवे। वह हमारे शत्रुओं को मार कर मुझे धन प्रदान करे। द्यावापृथिवी के मध्य देवताओं के विचरण करने के लिए जो बहुत से मार्ग है, वे मेरे लिए दूध व घी से युक्त हो जायें, जिससे उन्हें खरीद कर धन प्राप्त करूँ। अग्नि, हमारा कल्याण होवे मेरे लिए प्रमण (बाजार), विक्रय व प्रतिपण (बाजार में माल आदि बेचना) सफल बनाओ। जिस धन से मैं बाजार में विचरण करता हूँ जिस धन से देवता भी धन की इच्छा करते है, उनके प्रति इन्द्र, प्रजापति, सोम व अग्नि रुचि धारण करे। इस प्रकार हम अपने धन को वृद्धि करें।''

उपरोक्त सूक्त में अप्रत्यक्षरूप से वेदकालीन वाणिज्य पर अच्छा प्रकाश डाला गया है। इन्द्र को व्यापारी कह कर उनसे धन की माँग की गई है। इससे यह ध्वनित होता है उस समय बड़े-बड़े धनाढय व्यापारी रहते थे, जो परोपकार में अपने धन का उपयोग करते थे। पृथ्वी व आकाश के मध्य स्थित जो बहुत से मार्गों का उल्लेख है व जिनको घी-दूध से सम्बन्धित किया गया है, उसमें हम तत्कालीन यातायात के विभिन्न मार्गों की कल्पना कर सकते हैं, जो देश के विभिन्न भागों में बिखरे हुए थे। उन मार्गों का घी-दूध से युक्त होने का तात्पर्य है कि उन मार्गों द्वारा तत्कालीन व्यापारी दूर-दूर के गाँवों तक पहुँचते थे व वहाँ से घी-दूध खरीदकर उनके द्वारा बहुत सा धन कमाते थे। इसके अतिरित्त उक्त सूक्त में व्यापार से सम्बधित कुछ परिभाषिक शब्द भी प्रयुक्त किये गये है, जैसे 'प्रपण,' 'विक्रय,' 'प्रतिपण' आदि। इन सब बातों से हमें वेदकालीन भारत के आन्तरिक व्यापार की उन्नत अवस्था का पता चलता है।

वाह्य व्यापार

वैदिक युग में आन्तरिक व्यापार के समान वाह्य व्यापार भी उन्नत अवस्था में था। ऋग्वेद में समुद्र में चलने वाली नावों (जहाजों) का उल्लेख कितने ही स्थानों पर आता है (ऋग्वेद 1/25/7: 'वेद नावः समुद्रियः; 1/48/3, 1/56/2, 1/12;16/3; 7/88/34)। एक स्थान पर सौ मस्तूल वाले जहाज का भी उल्लेख आता है ऋग्वेद 1/116/5; जिसमें बैठ कर ''भुज्य'' नाम का नाविक समुद्र में बहुत दूर तक चला गया था वह रास्ता भूल गया। अश्विन की स्तुति करने पर वह वापिस लौट आया (ऋग्वेद 1/116/3-5)। धन प्राप्त करने के इच्छुक अपने जहाजों को समुद्र में भेजते थे (ऋग्वेद 1/48/3)। द्रव्य लाभ की इच्छा से बहुत से व्यापारी जहाजों में एक साथ समुद्र यात्रा करते थे (ऋग्वेद 1/5/2)। समुद्रों में स्थित द्वीपों का भी उल्लेख ऋग्वेद (1/169/3; 10/10/1) में आता है। समुद्र का स्वामी वरुण जहाजों के मार्गों व वायु के मार्गों को जानता है, ऐसा उल्लेख ऋग्वेद में आता है। (1/25/7; 1/48/3)। इन उल्लेखों से स्पष्ट होता है कि ऋग्वेदकालीन आर्य समुद्र से पूर्णतया परिचित थे व उनके व्यापारी विदेशों में व्यापार करने के लिए समुद्रयात्रा करते थे। ऋग्वेद में चार समुद्रों का उल्लेख आता है। (ऋ. 9/33/6 : रायः समुद्रांश्चतुरोऽस्मभ्यं सोम विश्वतः। आ पवस्व सहस्रिणः।'') जहाँ सोम से प्रार्थना की गई है कि 'हे

सोम ! हमें चारों समुद्रों का सम्पूर्ण धन प्रदान करो' तथा इन्द्र से प्रार्थना की गई है कि ''हे इन्द्र ! हमें धन धारण करने वाला चारों समुद्र प्रदान करो।'' इन उल्लेखों से स्पष्ट होता है कि वैदिक आर्य व्यापार के लिए दूर-दूर समुद्रों की यात्रा करते थे व बहुत-सा द्रव्य प्राप्त करते थे। ऋग्वेद के एक सूक्त अस्मभ्यं चित्रं वृषणं रयिंदा: (10, 47) (''हमें अद्‌भुत व श्रेष्ठ धन प्रदान करो') शब्दों द्वारा बार-बार धन प्राप्ति के लिए इन्द्र से प्रार्थना की गई है। अन्य स्थानों में भी इन शब्दों का प्रयोग किया गया है। जिस प्रकार आजकल 'लखपति' करोड़पति' आदि शब्द धनाढ्यों के लिए प्रयुक्त किये जाते हैं, उसी प्रकार 'सहस्रिणं 'शतिनं (10, 47, 5) आदि शब्द वेदकालीन धनाढयों के लिए प्रयुक्त किये जाते होंगे।

पणि

दे. पंचम अध्याय-वैदिक अनार्य, पणि का विस्तार से वर्णन किया जायेगा। (पृ. 719-720)

विनिमय के साधन

उपरोक्त वर्णन से स्पष्ट होता है कि वैदिक युग में वाह्य व आन्तरिक व्यापार बहुत विकसित अवस्था में था। अतएव वस्तुओं के क्रय-विक्रय के लिए विनिमय के साधनों का भी विकास हुआ था। उस समय साधारणतया गाय विनिमय का मुख्य साधन थी, जिसके द्वारा वस्तुओं का क्रय-विक्रय किया जा सकता था। इसीलिए पणि लोग अपने साथ बहुत सी गायें रखते थे, व कभी-कभी वे आर्यों की गायें भी चुराते थे। गाय के अतिरिक्त सोने व चाँदी के सिक्के (एस. सी. दास ऋग्वेद कल्चर, पृ. 140) भी विनियम के लिए प्रयुक्त किये जाते थे। निष्क सर्वप्रथम गले का एक सुवर्ण आभूषण था (मैक्डॉलेन व कीथ वैदिक इन्डेक्स 1/454-55), जिसका उल्लेख ऋग्वेद (8, 47, 15 (निष्कं वा); 2, 33, 10 (निष्कं यजतं विश्वरूपम्)। में आता है। विनियम के साधन के रूप में भी निष्क का उल्लेख ऋग्वेद में आता है, जहाँ एक ऋषि को सौ निष्क व सौ घोड़े दान में दिये जाते हैं। (ऋ. 1/126/2)। शतपथब्राह्मण (11/4/1 /1) गोपथब्राह्मण (1/3/6 वेदिक इन्डेक्स 1/54-455) आदि में भी विनिमय मुद्रा के रूप में निष्कों का उल्लेख है। 'मना' भी वैदिक युग का एक सिक्का था, जिसे कदाचित पणि लोग बेबिलोनिया व सीरिया ले गये थे, जहाँ उसे मिना कहते थे। वहाँ से वह धीरे-धीरे प्राचीन यूनान की मुद्रा-व्यवस्था में सम्मिलित कर लिया गया और 'मना' कहलाने लगा (ए. सी दास-ऋग्वेद कल्चर, पृ, 140।)। इसका उल्लेख ऋग्वेद (8/78/2) में आता है, जहाँ इन्द्र से प्रार्थना की गई है कि हमें सुवर्ण मना प्रदान करो। ऋग्वेद (1/173/2, 4/33/2; 10/6/3) में और कितने ही स्थानों में 'मना' का उल्लेख है। चाँदी की मुद्राएँ भी विनिमय के साधन के रूप में प्रयुक्त की जाती थीं। पंचविंश ब्राह्मण (17/1/14) में चाँदी के निष्क का उल्लेख आता है। ऋग्वेद में ''रयि'' शब्द कितनी ही बार प्रयुक्त हुआ है। एक सूक्त (ऋग्वेद 10/47) में तो ''चित्रं वृषणं रयिं दा:'' शब्द आठ बार प्रयुक्त किया गया है। ऋग्वेद (5/33/6: ''स न एनीं वसवानो रयिंदा: प्रार्य: स्तुषेतुविमधस्य दानम्।।') में ''रयिं दा : ('रयि देना') शब्दों का प्रयोग किया गया है। इन उल्लेखों के आधार पर कुछ विद्वानों का मन्तव्य है कि ''रयि'' चाँदी के सिक्के थे, जो साधारणतया दान में दिये जाते थे व जो विनियम के साधन भी थे (ए. सी. दास-ऋग्वेदिक कल्चर, पृ. 141)। उत्तर वैदिक युग में ''शतमान'' भी एक सोने का सिक्का था, जिसका खूब प्रचलन था (वेदिक एज, भारतीय विद्या भवन, पृ. 461)। उपरोक्त वर्णन से स्पष्ट होता है कि वैदिक युग के आर्थिक विकास में मुद्रा-विनिमय का महत्वपूर्ण स्थान था।

व्यापार और वाणिज्य

जैसा कि हम ऊपर देख चुके हैं, कि वैदिक आर्यों की आर्थिक व्यवस्था ग्रामीण थी। कृषि कार्य और पशुपालन ही उनके प्रमुख व्यवसाय थे। व्यापार तथा वाणिज्य का विकास अभी शैशवस्था में था। सम्पूर्ण वैदिक साहित्य में सुदूरवर्त्ती प्रदेशों को जाने वाले सार्थवाहों का कहीं भी स्पष्ट उल्लेख नहीं है। पूर्व वैदिक युग से ही आर्यों को साक्षात् अथवा परम्परा से समुद्र का ज्ञान हो चुका था (ऋग्वेद 1/17, 7, 1, 163, 3; 3, 36/7, 7/6/7; 1/112/6)। यत्र तत्र समुद्र यात्रा तथा नाः समुद्रियः का भी उल्लेख हुआ है। कुछ विद्वान् यहाँ तक मानते हैं कि ऋग्वैदिक आर्य कुशल नाविक थे, तथा विदेशों से सामुद्रिक व्यापार भी करते थे (वैदिक एज पृ. 245 पर उद्धृत वेबर का मत)। ऋग्वेद के एक बालखिल्य सूक्त से पता चलता है कि उचथ्य और ममता के ब्राह्मण पुत्र दीर्घतमा अपनी वृद्धावस्था में मल्लाह बनाये गये थे। ऋग्वेद में सौ डाँडोंवाली नौकाओं के और निकटतम भूमि से तीन दिन की जल यात्रा के संक्षिप्त उल्लेख मिलते हैं। इससे पता चलता है कि आर्य लोग नाव चलाना जानते थे (डी. डी. कोसम्बी, प्राचीन भारत की सभ्यता एवं सस्कृति पृ. 114)। परन्तु पूर्व वैदिक आर्यों का भौतिक दृष्टि से अविकसित एवं अटनशील जीवन व्यापारिक समृद्धि के लिए उपयुक्त नहीं था। ऐसी स्थिति में व्यापार एवं वाणिज्य के क्षेत्र में उनकी उपलब्धियाँ सीमित थीं। वैदिक संस्कृति की पूर्ववर्तिनी सैन्धव सभ्यता के अन्तर्गत सामुद्रिक व्यापार समुन्नत था। आर्य ऋषियों ने यहाँ के व्यापारियों को संभवतः 'पणि' नाम से अभिहित किया है। पणियों का धन आर्यों के आकर्षण का बहुत बड़ा केन्द्र था (ऋग्वेद 6, 13, 3; 6, 53, 3; 1, 94,4)। ऋग्वेद में इन पणियों को ऐश्वर्ययुक्त (ऋग्वेद 1, 33, 2) कृपण तथा दासों से संबंधित बतलाया है, जिससे उनके अनार्यत्व का बोध होता है। आर्यों के आक्रमण के परिणाम स्वरूप सिन्धु प्रदेश की समुन्नत नागरिक सभ्यता धराशायी हो गई और सैन्धव नगरों के पतन के पश्चात् विदेशी व्यापार का मार्ग स्वभावतः अवरुद्ध हो गया।

उत्तर वैदिक युग में आर्येतर जनों द्वारा व्यापार और वाणिज्य को विशेष प्रोत्साहन मिला, क्योंकि आर्य, आर्येतर जातियों में समन्वय हो चुका था। उत्तर वैदिक साहित्य में 'वाणिज्य' के संबंध में कई स्थान पर संकेत मिलते हैं। अथर्ववेद (4, 7, 6) में दूर्श (वस्त्र), पवस्त (चादर) और अजि (चर्म) खरीदने का वर्णन मिलता है। इसी ग्रन्थ से यह भी ज्ञात होता है कि व्यापारी लोग विभिन्न वस्तुओं को लेकर इधर-उधर घूमा करते थे। कभी वे इन वस्तुओं का विनिमय करते थे, तो कभी विक्रय। समय-समय पर उन्हें हिंसक पशुओं एवं डाकुओं का भी सामना करना पड़ता था। अथर्ववेद (34, 15) से ज्ञात होता है कि वस्तुओं को खरीदने एवं बेचने में खूब मोलभाव होता था। आन्तरिक व्यापार प्रायः स्थल मार्ग से होता था। आवागमन की सुविधा के लिए कुछ सड़कें भी थीं (अथर्ववेद 18, 2, 53)। इसी वेद (16, 2, 1) में व्रात्यों के प्रसंग में विपथ का जो उल्लेख हुआ है उससे सामान्यत' यह निष्कर्ष निकलता है कि कुछ सुपथ अवश्य रहे होंगे। व्यापारिक वस्तुओं को ढोने का काम अधिकांशतः पशुओं से लिया जाता था। ऐसे पशुओं में बैल, घोड़े, ऊँट, गदहे और भैंस मुख्य थे। शतपथ ब्राह्मण (13, 4, 3, 11) मे व्याज पर धन देने वाले 'कुसीदिन' का भी उल्लेख हुआ है।

उत्तर वैदिक साहित्य में यत्र-तत्र समुद्र-यात्रा तथा विदेशों से व्यापारिक संबंध के भी संकेत मिलते हैं। प्रक्रिया कर्मकाण्ड प्रधान होने के कारण यजुर्वेद और ब्राह्मण साहित्य में इस विषय पर विशेष

सामग्री अनुपलब्ध है किन्तु अथर्ववेद में अनेक मन्त्र और विशिष्ट शब्द विदेशों से व्यापारिक संबंध की पुष्टि करते हैं। अथर्ववेद में मोती पैदा करने वाले शंख का उल्लेख है जो समुद्र से लाये जाते थे। वाजसनेयी संहिता (31, 7) में समुद्री यात्राओं के लिए उपयोगी सौ डाँडों वाले बड़े जलपोत का भी उल्लेख मिलता है। उपयुक्त उद्धरणों से उत्तर वैदिक युग में सामुद्रिक व्यापार की पुष्टि होती है। साथ ही अथर्ववेद के कुछ शब्दों यहूदी धर्मग्रन्थों, वोगजकुई अभिलेख तथा अन्य असीरियन अभिलेखों के साक्ष्य से उत्तर युगीन भारत तथा पश्चिमी एशिया के राज्यों के बीच व्यापारिक संबंध सूचित होते हैं। आर्यों के आक्रमण और सैन्धव संस्कृति के विध्वंस से उत्पन्न उथल-पुथल के कारण पुरा-ऐतिहासिक भारत एवं पश्चिमी एशिया के बीच व्यापारिक सबंधों में शिथिलता आ गई थी, किन्तु उत्तर वैदिक युग तक ये संबंध पुनः स्थापित हुए। बाइबिल में उल्लिखित ओफिर (आमीर) कर्पस (कपास) और कोफ (कपि) एवं असुरवनिपाल (लगभग सातवीं शताब्दीं ई. पू.) के अभिलेखों में कपड़े के लिए प्रयुक्त सिन्धु शब्द इस प्रसंग में उदाहरणीय है। एशिया माइनर के बोगजकुई के अभिलेख (लगभग 1400 ई. पू.) में मित्र, नासत्य, वरुण प्रभृति वैदिक देवताओं का उल्लेख हुआ है। एशिया माइनर जैसा सुदूरस्थ प्रदेशों के निवासियों का वैदिक देवताओं से परिचय निश्चित रूप से इस बात को सूचित करता है कि उत्तर वैदिक युग में भारत का, पश्चिमी एशिया से पर्याप्त सांस्कृतिक संबंध था। यह संबंध व्यापारिक संपर्क के कारण ही उत्पन्न हुआ होगा। भारतीय साहित्य में भी भारतीय व्यापारियों के पश्चिमी देशों की ओर जाने का वर्णन मिलता है। एक जातक कथा में, जो मूलतः वैदिक कालीन हो सकती है बवेरू राज्य (बैबीलोन) की यात्रा का उल्लेख है। अथर्ववेद में तैमात, उरुमूल, आलगी, विलगी आदि अनेक ऐसे शब्द आये हैं जो विदेशी प्रतीत होते हैं। ग्रिफिथ ह्विटनी तथा ब्लूमफील्ड जैसे विद्वानों ने इन शब्दों को अस्पष्ट बतलाया है, किन्तु बालगंगाधर तिलक इन्हें बैबीलोन की अक्कादी भाषा से आया हुआ मानते हैं। इसमें तैमात तो निश्चय बैबीलोनियन 'तियामत' प्रतीत होता है। 'उरुगूल' शब्द का प्रयोग भी तिलक के अनुसार अक्कसदी भाषा में पाताल के अर्थ में हुआ है। इसी प्रकार वैदिक शब्द अप्सु का संबंध अक्कादी शब्द 'अब्जु' से जोड़ा जा सकता है। श्री तिलक का तो यहाँ तक कहना है कि 'उरुक्रम' 'उरुगाय', 'उर्वशी' तथा 'अप्सुजित' जैसे सभी शब्द अक्कादी शब्दों से व्युत्पन्न हुए होंगे। भारतवासियों का संभवतः बैबीलोनियन ज्ञान-विज्ञान से भी परिचत था। डाक्टर सुनीतिकुमार चटर्जी का विश्वास है कि भारत में भार की इकाई के लिए प्रयुक्त होने वाला 'मन' शब्द 'मीना' से निकाला है। इन तथ्यों के प्रकाश में तथा छठी शताब्दी ई. पू. में भारतीय व्यापार एवं वाणिज्य की समुन्नत दशा तथा नागरिक जीवन के विकास को दृष्टिगत करते हुए उत्तर वैदिक युग में भारत और पश्चिमी एशिया के बीच व्यापारिक संबंध सर्वथा संभव प्रतीत होता है।

(छ) उत्तर वैदिक काल में विनिमय साधन

चाँदी, हिरण्य या स्वर्ण के अतिरिक्त ऋग्वेद (1/175/3; 1/63/9; 4/ 2/17)में 'अयस् शब्द का प्रयोग हुआ है। अथर्ववेद (11/3/5) में अयम् के दो रूपों का उल्लेख हुआ है स्याम् (लोहा) लोहित ताँबा या काँसा। शतपथ ब्राह्मण (5/4/1/1) में लोहायस् और अयस् में भिन्नता बतायी गई है। इन आधारों से विदित होता है कि 'अयस्' ताम्बे का वाचक था। वाजसनेयी संहिता (18/13) में छः धातुओं की तालिका दी गई है (1) स्वर्ण (2) अयस् (3) श्याम (4) लौह (लोहित वर्ण या लाल) का अर्थ

क्रमश लोहा और 'ताम्बा' प्रतीत होता है।

वैदिक युग में हीरा, सुवर्ण, ताँबा, लोहा, ताम्र, सीसा, राँगा आदि वस्तुओं को व्यवसायिक प्रयोजन के लिए उपयोग में लाते थे। इस संबंध में प्रचुर सामग्री वेदों तथा ब्राह्मण ग्रन्थों में सुरक्षित है (यजुर्वेद 18/13; अथर्ववेद11/3; शतपथ ब्राह्मण 5/3/4/1-2)। धातुओं के उपयोग के इस व्यावसायिक पक्ष द्वारा विभिन्न उद्योग व्यवसायों का विकास होकर आर्थिक क्षेत्र में अपूर्व उन्नति हुई।

धातुओं के उपयोग का एक कारण पारस्परिक युद्ध भी था। वैदिक युग में छोटे-बड़े युद्धों में शस्त्रास्त्रों का प्रयोग होता था, जिससे धातुओं का महत्व और मूल्य बढ़ता गया। अश्वमेध यज्ञ जैसे बृहद् अनुष्ठान में राष्ट्र विजय की अभिलाषा करने वाले दिग्विजयी राजाओं की सेनाएँ शस्त्रास्त्र से सुसज्जित होकर ही प्रस्थान करती थीं। इन सन्दर्भो से यह विदित होता है कि धातुओं की उत्तरोत्तर उपयोगिता ने वैदिक युगीन भारत की आर्थिक परिस्थितियों को विकसित करने में महत्वपूर्ण योगदान दिया।

यहाँ उदाहरण स्वरूप प्रसिद्ध दासराज युद्ध को लिया जा सकता है जिसमें 99 हजार नगर ध्वस्त हुए (ऋग्वेद 1/56/6) और कई हजार पुरुष मारे गये (ऋग्वेद 7/18/14)। यह युद्ध सूर्यवंशीय राजा सुदास और पक्थ, भलानस, विषाणिन, अलीनस और शिवास आदि यज्ञ विरोधी अनार्य राजाओं के साथ हुआ था। इसमें तलवार, भाला, धनुष-वाण, कवच, टोप आदि जिन शस्त्रास्त्रों का उपयोग हुआ था, वे सोने तथा लोहे के थे (ऋग्वेद 1/25/13; 1/56/3)। इस प्रकार वैदिक युग की आर्थिक प्रगति में धातुओं का महत्वपूर्ण योगदान रहा और उनके द्वारा तत्कालीन जन-जीवन की उन्नति के अनेक नये क्षेत्र खुले।

(ज) उद्योग (धंधे)

प्राचीन भारत के आर्थिक विकास में विभिन्न उद्योग-धन्धों का भी विशिष्ट स्थान था, जिनका विकास साधरणतया नगरों से संबंधित था। नागरिक जीवन के लिए आवश्यक वस्तुओं के उत्पादन की व्यवस्था नगरों में ही की गयी थी। ऋग्वैदिक युग में नगरों में बड़े-बड़े भवनों का निर्माण किया जाता था, जिन्हें हर्म्य, प्रहर्म्य, सद्म, प्रसद्म, आदि नामों से सम्बोधित किया जाता था। नगरों में पुर (किले) भी रहा करते थे। ऋग्वेद (5/95/1) में सरस्वती नदी को एक लोहे का किला कहा गया है, जिसका उपयोग पणियों के विरुद्ध युद्ध के अवसर पर किया गया था। इस समय बड़े-बड़े रथ भी बनाये जाते थे, जिनका उपयोग युद्ध में किया जाता था, तथा जो आवागमन के मुख्य साधन थे। इस प्रकार यह स्पष्ट होता है कि वैदिक काल के विकसित नागरिक जीवन की आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए विभिन्न उद्योग-धंधों को उन्नत किया गया था, और ये उद्योग धन्धे आर्थिक विकास के मुख्य अंग थे। ऋग्वेद काल में उपरोक्त उद्योग-धन्धे विकसित किये गये थे और इन धन्धों को करने की लोगों को पूरी स्वतंत्रता थी। वे अपनी इच्छानुसार किसी भी उद्योग धन्धे को कर सकते थे। ऋग्वेद (9/112/1-4) में वर्णन आता है कि अलग-अलग लोगों की बुद्धि, विचार आदि अलग-अलग होते हैं। बढ़ई एक टूटी-फूटी वस्तु को चाहता है, वैद्य बीमार आदमी को चाहता है, पुरोहित बलि प्रदान करने वाले को चाहता.है, लुहार सूखी लकड़ियों, पक्षियों के पंख, धातु, अग्नि आदि द्वारा बहुत धनवान् मनुष्य को चाहता है। मैं कवि हूँ, मेरे पिता वैद्य है, मेरी माता अनाज पीसनेवाली है (ऋग्वेद 9/112/3)। हम नाना विचार वाले

अपने-अपने ढंग से द्रव्य प्राप्ति का प्रयत्न करते हैं। प्रत्येक कलापूर्ण कार्य की प्रशंसा की जाती थी और उसके कर्ता का आदर-सत्कार किया जाता था। ऋभुओं ने त्वष्टा द्वारा बनाये हुए एक 'चमस' (यज्ञपात्र) के चार 'चमस' बना दिये थे, जिसके लिए उसका दैवी सत्कार किया गया था। वे बनाने में भी सिद्धहस्त थे (ऋ. 1/161/1-5)। रथ बनाने की कला को इतना महत्व दिया गया था कि वेदमन्त्र बनाने के कौशल की तुलना रथ बनाने के कौशल से की जाती थी (ऋ. 1/61/41; 1/62/13.1/130/6; 1/171/2; 2/19/8; 4/16/20; 5/29/15; 6/32/1)।

सूत उद्योग

वैदिक काल का सबसे अधिक महत्वपूर्ण उद्योग धंधा सूत कातना और कपड़ा बुनना था। ऋग्वेद (2/3/6) में कपड़े बुनने वाले को 'वाय' कहा गया है। 'सिरि' शब्द भी कदाचित् इसी अर्थ में प्रयुक्त हुआ है। तन्तु, तन्त्रु, ओवु, तसर, मयूख आदि शब्द जिनका उल्लेख ऋग्वेद में आता है जो बुनने की कला से संबंधित हैं (6/9/2-3; 10/71/9; 10/130/2; 7/99/3; 10/26/3)। इस प्रसंग में यह उलेखनीय है कि हस्तिनापुर के उत्खनन से चित्रित भूरे मृतपात्रवाले स्तरों से सूई जैसा नुकीला उपकरण भी प्राप्त हुआ है, जिसका उपयोग संभवतः कपड़ा सीने के लिए होता था।

भेड़ों से ऊन भी निकाला जाता था। सिन्धु और पंजाब विशेष रूप से ऊनी वस्त्रों के केन्द्र थे। ऋग्वेद (10/75/8 ऊर्णावति युवतिः) में सिन्धु नदी को सुवास और ऊर्णावती कहा गया है। ऋग्वेद के अन्यत्र स्थल (8/56/3) में भेड़ों को ऊर्णावती कहा गया है। इसी प्रकार ऋग्वेद (4/22/2) में भी 'ऊर्णा' शब्द का प्रयोग हुआ है। इन्द्र को भेड़ों के समान उपकारी कहा गया है (8/89/12)। ऊन के लिए गान्धार की भेड़ें अधिक प्रसिद्ध बताई गई हैं (ऋ. 1/126/7) हैं।

ऐसा प्रतीत होता है कि ऊन की अनेक किस्में थीं। उनमें नरम ऊन (ऊर्णमुदा) का उल्लेख ऋग्वेद (5/5/4) में हुआ है। ऊन की पूलियों को 'पर्वन् (ऋग्वेद 4/22/10) तथा परुषा (ऋग्वेद 9/15/6) कहा गया है। ऋग्वेद (10/26/6) के एक संदर्भ से स्पष्ट होता है कि ऊनी वस्त्रों के निर्माण के लिए 'मेष लोमों' का प्रयोग होता था। असुरराज शम्बर के यहाँ ऊनी वस्त्रों से बना हुआ सोमरस काष्ठ निर्मित कटोरों से भरा रहता था (ऋग्वेद 9/89/47)। सभी प्रकार के वस्त्रों के लिए ऋग्वेद (1/34/1) में वाससः शब्द का प्रयोग है।

चर्म उद्योग

वैदिक युग में जिन उद्योग एवं व्यवसायों के अस्तित्व का पता चलता है उनमें चर्म उद्योग का उल्लेखनीय स्थान था। वेदों तथा वैदिक साहित्य के सन्दर्भों से ज्ञात होता है कि उस समय चर्म उद्योग अपनी चरम उन्नति में था। चमड़े से कमाने और उससे विभिन्न वस्तुओं को बनाने का उद्योग भी विकसित हुआ था (ऋग्वेद 8/5/38)। बैल के चमड़े से धनुष की रस्सी आदि अनेक वस्तुएँ बनाई जाती थीं (ऋग्वेद 6/75/11; 1/121/9; 6/47/26; 6/46/14; 6/53/9; 10/102/2)। बैल के चमड़े की थैलियाँ भी बनाई जाती थीं (ऋग्वेद 10/106/10)। धनुष की प्रत्यंचा और फाँसी पर लटकाने के फंदे आदि भी चर्म से बनाये जाने लगे थे। चमड़े के थैलों का प्रचलन हो चुका था। वैदिक युग में विभिन्न चर्म वस्तुओं का ही नहीं, अपितु चर्म को तैयार करने की विधि का भी ज्ञान था। ऋग्वेद (8/56/3) के एक

सन्दर्भ में चमड़े को सिलाने का और तदनन्तर उसे खूँटियों पर लटकाने का स्पष्ट उल्लेख है।

बढ़ई

ऋग्वेद (1/161/9; 3/60/2; 10/85/5) में युद्ध के लिए रथ, यातायात और खेती के लिए गाड़ी बनाने की कला से संबंधित बहुत सी उपमा और रूपक के प्रयोग से स्पष्ट होता है कि ऋग्वेद काल में बढ़ई का उद्योग धन्धा बहुत विकसित था। वह बढ़ई लकड़ी के सभी प्रकार के काम करता तथा कलापूर्ण कार्य के सम्पादन में भी सिद्धहस्त था। कुलिश अथवा परशु उसका प्रमुख औजार था (ऋ. 3/2/1)। व्यवसाय की महत्ता के कारण उसकी सामाजिक स्थिति आदरणीय थी। धातु के बरतनों के अतिरिक्त लकड़ी के बरतन बनते थे, जिनका उपयोग भोजन आदि के लिए होता था। वैदिक काल में भिषज या वैद्य भी थे जो दवा करके अपनी जीविका चलाते थे (ऋग्वेद 9/122/1)। कर्मार या कार्मार अथवा लोहार रहते थे (ऋग्वेद 4/2/17; 10/72/2; 9/112/2)।

धातुओं का काम करने वाला भट्ठी में कच्ची धातुओं को गलाकर उनसे बहुत सी आवश्यकीय वस्तुएँ बनाता था। घरेलू आवश्यकताओं के बरतन आदि 'अयस्' धातु के बनाये जाते थे। 'अयस्' धातु के संबंध में विद्वानों के मतभेद हैं। इसको कदाचित ताम्बे या लोहे से संबंधित किया जा सकता है -मिट्टी के बरतन कुम्हार बनाते थे। इन बर्तनों का प्रयोग खाने के लिए होता था।

उत्तर वैदिक काल

विविध शिल्प और व्यवसाय

यद्यपि कृषि और पशुपालन वैदिक आर्यों के प्रधान उद्यम थे, तथापि विभिन्न उद्योग और व्यवसाय भी समुचित रूप से विकसित हो गये थे। इन व्यवसायों का संगठन आर्थिक और सामाजिक दोनों दृष्टियों से महत्वपूर्ण था। एक ओर तो वे भौतिक जीवन को समृद्ध बना रहे थे, दूसरी ओर आर्थिक विभाजन और व्यवसायिक विभिन्नता के आधार पर वे पृथक-पृथक सामाजिक वर्गों का स्वरूप धारण करने लगे थे। परिणामत: उत्तर वैदिक युग में वैश्य वर्ण के अन्तर्गत आन्तरिक विभाजन और विघटन की प्रक्रिया प्रारंभ होती है। आर्येतर शिल्पियों के वैदिक समाज में प्रवेश के कारण अनेक शिल्पी, जिनका स्थान समाज में पहले आदरणीय था, शूद्र वर्ण के अन्तर्गत परिगणित हुए। क्रमश व्यवसायों और शिल्पों के आधार पर अनेक जातियों का उदय हुआ। पूर्व वैदिक युग में ही अनेक व्यवसाय और उद्योग अस्तित्व में आ चुके थे (ऋग्वेद 10/142/4; 1/61/4; 7/32/20; 9/112/1; 10/119/5; 10/72/2)। किन्तु उन्हें धारण करने वाले लोग समान रूप से विश के अन्तर्गत थे। उनका कोई पृथक् आर्थिक संगठन नहीं था। ऐसा प्रतीत होता है कि उत्तर वैदिक युग में जब ब्राह्मणों और क्षत्रियों ने अपने प्रवेश निषिद्ध वर्गों के रूप में संगठित किया, तब वैश्यों पर भी इसकी स्वाभाविक प्रतिक्रिया हुई। वैश्य वर्ग के अन्तर्गत व्यवसायों के लोग थे अत: उनका सामूहिक संगठन संभव नहीं था। ऐसी स्थिति में विभिन्न व्यवसायों और शिल्पों को धारण करने वाले लोग पृथक-पृथक आर्थिक ईकाई के रूप में संगठित होने लगे। ऐतरेय ब्राह्मण (3/30/3) में श्रेष्ठी शब्द का उल्लेख है, जो किसी व्यावसायिक संघ का प्रधान प्रतीत होता है। वाजसनेयी संहिता (23/16/1) में उल्लिखित गण और गणपति शब्द भी व्यावसायकि संघों के संघटन का संकेत करते हैं यद्यपि उत्तर वैदिक साहित्य से इन गणों की कार्यप्रणाली के संबंध में विशेष ज्ञान

नहीं प्राप्त होता, तथापि परवर्ती साहित्य से उपलब्ध सायों के प्रकाश में ऐसा प्रतीत होता है कि समान व्यवसायों के अनुसरणकर्ता प्रायः संघ के अन्तर्गत संगठित होते थे। ये संघ व्यापारिक कार्यों की देख-रेख तथा व्यवसायियों के हितों की रक्षा करते थे।

परवर्ती संहिताओं तथा ब्राह्मण ग्रन्थों में अनेक शिल्पियों का उल्लेख हुआ है। पाणिनि के सूत्रों में भी ग्रामों से संबंधित शिल्पजीवियों का उल्लेख मिलता है (अष्टाध्यायी 6/2/62)। नागरिक जीवन के पूर्ण विकसित न होने के कारण विभिन्न उद्योगों के अनुसरणकर्ता प्रायः गाँवों में रहते थे तथा गाँव को आत्म निर्भर आर्थिक इकाई बनाने में योग देते थे। उत्तर वैदिक साहित्य में रथकार, कर्मकार, तक्ष क्षातृ, कुलाल, ईषुकृत, मृगयु, रज्जुसर्ग, ज्याकार, वप, मणिकार, सुराकार, विदलकार, कंटककार आदि विभिन्न व्यवसायियों का अनेकशः उल्लेख हुआ है उद्योगों एवं व्यवसायों की इस विविधता से समुन्नत आर्थिक जीवन का संकेत मिलता है (दे. वैदिक काल का आर्थिक जीवन पृ० 420)।

उपर्युक्त व्यवसायों तथा उद्योगों में कुछ तो निश्चय ही बड़े महत्वपूर्ण थे। उदाहरण के लिए बढ़ई, रथकार, लोहार ग्रामीण अर्थ व्यवस्था के आधार पर स्तम्भ थे। बढ़ई लकड़ी की सहायता से कृषि कर्म के लिये विभिन्न उपयोगी वस्तुओं का निर्माण करता था। साथ ही घरेलू उपयोग की वस्तुओं को बनाता था। कुलिश अथवा परशु उसका प्रमुख औजार था (ऋ. 3. 2. 1)। व्यवसाय की महत्ता के कारण उनकी सामाजिक स्थिति भी समादृत थी। रथकार का उल्लेख ऋक्संहिता में तो नहीं हुआ है किन्तु उत्तरवैदिक युग तक अत्यन्त प्रभावशाली हो चुका था। पूर्व-वैदिक युग में संभवतः रथ बनाने का कार्य तक्ष नहीं करता था, किन्तु परवर्ती युग में उसके कार्य-क्षेत्र का विस्तार होने लगा। परिणामतः रथ-निर्माताओं का एक नया व्यावसायिक वर्ग अस्तित्व में आया (प्रि-हिस्टोरिक इण्डिया, पृ. 280)। यह नवोदित आर्थिक वर्ग तक्षन समाज से ही निकला होगा। रथकार का व्यवसाय इतना महत्वपूर्ण था कि राजकीय सम्मान का विषय समझा जाता था (मै. सं. 2. 6; 5, 4; 3. 8)। रथकार के लिए अग्निहोत्र की व्यवस्था भी थी (तै. ब्रा. 1. 1. 4)। युद्ध एवं प्रसार की स्थिति में रथकार के व्यवसाय का आदरणीय होना सर्वथा स्वाभाविक था। कर्मार (स्मिथ) के लिए भी उत्तर-वैदिक साहित्य में सम्मान सूचक मन्त्र उपलब्ध होते हैं। अथर्ववेद में उन्हें मनीषी शिल्पकारों में स्थान दिया गया है (अथर्ववेद 3.5-6)। वह नित्य उपयोग के लिए धातु के बरतन तथा सोमरस पीने के लिए धातु के प्याले बनाता था। स्वर्णाभूषणों के बनाने वाले को हिरण्यकार कहा गया है (वाज. सं. 30. 17, तै. ब्रा. 3. 4. 14. 1)। ये लोग स्वर्ण से निष्क, कर्णशोभन आदि विविध आभूषण बनाते थे। संभवतः समृद्ध लोगों के लिए स्वर्ण चषक भी बनाये जाते थे (तै. सं. 5. 7. 1. 3. तै. ब्रा 1. 3. 37 शत. ब्रा. 5. 12.1. 90)।

वस्त्र-उद्योग— दे. पृष्ठ 438 पूर्व वैदिक काल में सूत उद्योग।

अथर्ववेद में शण का उल्लेख हुआ है (अथर्ववेद 2. 45)। इससे वस्त्र, आच्छादन, बोरे और चटाईयाँ आदि बनती थीं। धनवान लोग प्रायः रेशमी वस्त्रों का उपयोग करते थे। अनेक स्थानों पर क्षौम और तार्प्य का उल्लेख हुआ है (अथर्ववेद 18, 4, 31, शत. ब्रा. 5. 3. 5. 20)। ये वस्त्र बड़े ही मूल्यवान् माने जाते थे। जिन कपड़ों पर कढ़ाई का काम होता था उन्हें पेशसः कहते थे। पेशसः का उपयोग अधिकाशतः स्त्रियाँ श्रृंगार के लिए करती थीं। उत्सवों में समिलित होने वाली वधुएँ पति-प्राप्ति की कामना से सुन्दर पेशसः धारण करती थीं।

सूत कातने, कपड़ा बुनने तथा ऊन पर कढ़ाई आदि करने का काम विशेषतः स्त्रियों का प्रतीत होता है। शतपथ ब्राह्मण में ऊन से सूत बनाने का कार्य स्त्रियों का विशेष कर्म माना गया है। पंचविश ब्राह्मण (1. 8. 9) में वयित्री शब्द मिलता है जिसका आशय वस्त्र बनानेवाली स्त्री से है। वाजसनेयी संहिता (30. 6) में प्रयुक्त पेशशकारी शब्द इस बात को प्रमाणित करता है कि वस्त्रों को कढ़ाई आदि के द्वारा अलंकृत करने का कार्य भी प्रायः स्त्रियाँ ही करती थीं।

लोकोपयोगी व्यवसायों में कुलाल का व्यवसाय बड़ा ही महत्वपूर्ण था। उत्तर-वैदिक साहित्य में अनेक स्थलों पर कुलाल का उल्लेख हुआ है। शतपथ ब्राह्मण में कुलाल-चक्र के वर्णन से ऐसा प्रतीत होता है कि मिट्टी के घड़े, प्याले, तश्तरियाँ आदि चाक के ऊपर ही बनते थे (शत. ब्रा. 9. 8. 1)। हस्तिनापुर, अहिच्छत्रा रूपड़ प्रभृति स्थानों से भी मृत्पात्रों के जो टुकड़े मिलते हैं वे अधिकांशतः चाक पर बने हुये हैं यद्यपि हस्तनिर्मित मृत्पात्र भी अज्ञात नहीं हैं (एन्श्येन्ट इण्डिया, नं. 10-11, पृ. 11-13)।

इन व्यवसायों के अतिरिक्त कुछ अन्य ऐसे व्यवसाय भी थे जो आर्थिक एवं सामाजिक दोनों दृष्टियों से हीन कहे जा सकते हैं। निश्चय ही इन व्यवसायों का अनुसरण निर्धन और साधन-विहीन लोग करते रहे होंगे। ऐसे व्यवसायियों में कण्टकीकारी, विदलकारी, केवर्त, गाविकर्तन, दाश, धैवर, पाशिन, पुंजिष्ठ आदि प्रमुख थे। इन व्यवसायों से स्पष्ट होता है कि समाज में कुछ लोगों की आर्थिक स्थिति बहुत खराब थी। आर्थिक रूप से हीन तथा घृणित वृत्ति के प्रचलन का कारण असभ्य एवं अर्धबर्बर अनार्य जातियों का वैदिक समाज में प्रवेश भी था। द्विजातियों से इन्हें पृथक् करने का जो प्रयास उत्तर-वैदिक युग से ही दिखाई देता है उसके पीठे एक प्रबल कारण इसका हीन सांस्कृतिक स्तर भी था।

(झ) धातु विज्ञान और लौह युग में प्रवेश

उत्तर वैदिक युग तक अनेक धातुओं का आविष्कार हो चुका था। उपयोगी धातुओं में ''अयस्'' का उल्लेख बार-बार हुआ है किन्तु इसका अर्थ बड़ा ही संदिग्ध है। ''वैदिक इण्डेक्स'' के लेखक ''अयस्'' का अर्थ लोहा मानते हैं किन्तु पुरातात्विक साक्ष्य से ऋग्वेदिक आर्यो का लोहे से परिचय अभी तक असिद्ध है। हस्तिनापुर में उत्खनन से भी ताम्रनिर्मित तीन-फलक ही प्राप्त हुये हैं। अतः ऋग्वेद में उल्लिखित अयस निर्मित तीर फलकों को ताम्र-निर्मित मानना ही अधिक उपयुक्त होगा। ऋग्वेद में अयस् के लिए प्रयुक्त विशेषणों से इस बात का संकेत मिलता है कि यह ताम्र था, जैसा कि अग्नि के विशेषण'' अयो-दंष्ट्रो से स्पष्ट है (ऋग्वेद 1. 88. 5,10. 87. 2)। वस्तुतः ऋग्वेद में ''अयस्'' शब्द का प्रयोग सामान्यतः सभी धातुओं के लिए हुआ प्रतीत होता है। क्योंकि इस संहिता में विभिन्न धातुओं के लिए पृथक् नाम नहीं मिलते। यह ताम्र के साथ-साथ सम्भवतः काँस्य के लिए भी प्रयुक्त होता था (ऋग्वेद में दास-दस्यु लोगों के ''अयसी पुरो'' का उल्लेख हुआ है। यदि ये आयसी पुर सैन्ध व सभ्यता के निर्माताओं के हैं जैसा कि अनेक विद्वानों ने माना है तो निश्चय ही इस प्रसंग में अयस् को काँस्य का पर्यायवाची मानना चाहिए) उत्तर वैदिक काल में सर्वप्रथम प्रत्येक धातु का नाम प्रदान किया गया। ताम्र को अन्य धातुओं से पृथक करने के लिए ''लोहायस'' कहा गया। अथर्ववेद तथा अन्य संहिताओं के बहुधा दो प्रकार के अयस का उल्लेख हुआ है — श्याम और लोहित (अथर्ववेद 8. 5. 4, मैत्रायणी

संहिता 4. 2. 8)। शतपथ ब्राह्मण में अयस् और लौहायस शब्द का प्रयोग ताम्र के अर्थ में हुआ है किन्तु श्याम, जिसका प्रथम बार उल्लेख अथर्ववेद में मिलता है, निश्चित रूप से लोहा (आइरन) प्रतीत होता है। उत्तर वैदिक युग तक लोहे से आर्यों का पूर्ण परिचय हो चुका था जिसके कारण औद्योगिक क्षेत्र में प्रगति का मार्ग प्रशस्त हुआ। पुरातात्विक साक्ष्य से भी यह प्रतीत होता है कि लोहे से वैदिक आर्योंका पूर्ण परिचय उत्तर-वैदिक युग में ही हुआ। इस प्रसंग में यह उल्लेखनीय है कि हस्तिनापुर के उत्खनन में चित्रित भूरे मृत्पात्र वाले स्तर के ऊपरी हिस्से में ही लोहे के बने शस्त्र उपलब्ध हुये हैं (ऐन्श्येन्ट इण्डिया, नं. 10-11, पृ. 1. 85। ताँबे और लोहे के अतिरिक्त सोना, चाँदी, त्रपु (टिन) और शीशा इस युग के अन्य उपयोगी धातु थे (पुरातात्विक साक्ष्य के लिए द्रष्टव्य-ऐन्श्येन्ट इण्डिया, नं. 10-11 पृ. 13)। सोने और चाँदी का उपयोग विभिन्न प्रकार के आभूषणों के निर्माणार्थ होने लगा था तथा आर्थिक दृष्टि से इन धातुओं को विशेष मूल्यवान समझा जाने लगा था। स्थान-स्थान पर दान और दक्षिणा में निष्क एवं शतमान देने का उल्लेख मिलता है।

निष्क, शतमान, सुवर्ण और पाद प्रभृति धातुखण्डों का उल्लेख परवर्ती संहिताओं, ब्राह्मणों तथा उपनिषदों में अनेकत्र ऐसे प्रसंगों में हुआ है जिनसे यह प्रतीत होता है कि इन धातुखण्डों का प्रयोग मुद्रा के रूप में होने लगा था। यद्यपि ताम्रनिर्मित मुद्राओं का उल्लेख सर्वथा अनुपलब्ध है, तथा रजत-निष्क का उल्लेख सर्वथा पंचविंश ब्राह्मण में केवल व्रात्यों के प्रसंग में हुआ है (पंच. ब्रा. 17. 1. 14), तथापि स्वर्ण-पिंडों का दान दक्षिणा के प्रसंग में बार-बार उल्लेख हुआ है। अधिकांशतः निष्क शब्द का प्रयोग आभूषण के अर्थ में हुआ है (निष्कग्रीवः ऋ. 5. 19. 3)। किन्तु अनेक प्रसंगों में निष्क का अर्थ निश्चित रूप से मुद्रा प्रतीत होता है (ऋ. 1. 126. 2, शत ब्रा. 10. 4. 1. 1 गोपथ,ब्रा 1.3.6)। शतमान जो गोलाकार होता था राजसूय के अवसर पर रथ के पहिये में बाँधा जाता था तथा तत्पश्चात् पुरोहित को दक्षिणा-स्वरूप दे दिया जाता था। शतमान का उल्लेख अन्यत्र भी दक्षिणा के रूप में हुआ है (शत. ब्रा. 13. 4. 2. 10)। इसका उल्लेख सुवर्ण के साथ हुआ है तथा इसे (हिरण्य) भी कहा गया है। सम्भव है शतमान एक निश्चित तौल का (सम्भवतः 100 कृष्णल का) एक धातुखण्ड रहा हो तथा विनिमय के साधन के रूप में निष्क के साथ इसका भी उपयोग होता रहा हो। निष्क और शतमान का दक्षिणा और दान की वस्तु के रूप में उल्लेख निश्चित रूप से इसके आर्थिक दृष्टि से मूल्यवान होने का संकेत करता है। काठक संहिता में हिरण्य कृष्णल का उल्लेख हुआ है (काठक. सं. 11.4) जो गुजा के तौल का धातुखंड प्रतीत होता है। बृहदारण्यक-उपनिषद में यह कहा गया है कि विदेह राज जनक ने अपनी सभा में एक दार्शनिक विवाद में भाग लेने वाले विद्वानों में सर्वश्रेष्ठ विद्वान् को एक सहस्र गायों को पुरस्कार में देने की व्यवस्था की थी जिनमें प्रत्येक की सींग में दस पाद, बँधे हुये थे। इस प्रसंग में पाद, सिक्का प्रतीत होता है। पाद संभवतः निष्क, सुवर्ण अथवा शतमान का चौथाई भाग था (ब्राह्मण साहित्य में पाद मंत्र के चौथाई भाग को कहा गया है (ऐत. ब्रा. 4. 4। कौषीतकि ब्राह्मण 26.5 निरुक्त 7.8)। यहाँ तक उल्लेखनीय है कि वैदिक साहित्य में उल्लिखित इन धातुखण्डों के नमूने अभी उपलब्ध नहीं हो सके हैं किन्तु यह सुविदित है कि छठी शताब्दी ईस्वी पूर्व तक मुद्रा का उपयोग प्रचुर मात्रा में होने लगा था। ऐसी स्थिति में मुद्रा-निर्माण के विकास का इतिहास निश्चित रूप से उत्तर वैदिक युग में प्रारम्भ होना चाहिये। इतना अवश्य है कि उत्तर वैदिक युग में अधिकांशतः गायें ही विनिमय का साधन थीं (द्रष्टव्य, जे. एन. आई.

, नं. 15) तथा निष्क सुवर्ण, शतमान और पाद जैसे धातुखण्ड न तो राजा द्वारा नियन्त्रित थे और न चिन्हित (ऐत. ब्रा. 5. 22. 9; 7. 33. 7; 8. 37. 7 इत्यादि)। ऐसी स्थिति में इन्हें आधुनिक अर्थ में सिक्का मानना तो कठिन होगा किन्तु मुद्रा निर्माण की प्रारंभिक आवस्था की दृष्टि में रखते हुए इन्हें सिक्कों का पूर्ववर्ती अविकसित रूप माना जा सकता है।

(ञ) गृह निर्माण एवं विविध घरेलू उपकरण

पूर्व वैदिक युग के आर्य अटनशील थे, अतः घर की कल्पना अधिक नहीं होती थी। परन्तु उत्तर वैदिक ग्रन्थों में घर को सूचित करने वाले गृह, आयतन, पस्त्या, वास्तु, हर्म्य, दुरोण आदि अनेक शब्द मिलते हैं। संभवतः ये विशिष्ट नाम घरों की विशिष्टता को लक्ष्य करके रखे गये थे। चारों ओर से दीवारों से घिरे रहने के कारण घर आयतन तथा द्वारयुक्त होने के कारण 'दुरोण' कहलाता थे। निवास स्थान के अर्थ में वास्तु और पस्त्या शब्द का प्रयोग भी होता था। हर्म्य (धर्म्य) शब्द ऐसे घरों का संकेत करता है, जिसमें सरलतापूर्वक धूप आ सकती हो। वैदिक युगीन भवन अनेक कमरों से युक्त होते थे। यज्ञ के प्रसंग में हविर्धान, अग्निशाला, पत्नीनां सदन, तथा सदस इन चार शब्दों का विशेष उल्लेख मिलता है जिससे साधारण वैदिक गृहों के अनेक कक्षों में विभक्त होने की बात पुष्ट होती है। उत्सव तथा यज्ञों में आने वाले अतिथियों के लिए भी पृथक घर होता था जिसे आवसथ कहते थे (अथर्ववेद 9, 6, 5)। तैत्तिरीय आरण्यक में 'धनधानी' नामक एक विशिष्ट प्रकार के भवन का उल्लेख है (10, 67), जिसका उपयोग संभवतः कोषागार के रूप में होता था। पशुओं के लिए भी अलग कमरे होते थे, जिन्हें शाला कहते थे।

पुरातात्विक साक्ष्यों तथा वैदिक उद्धरणों से यह स्पष्ट होता है कि वैदिक युग के मकान बहुत ही साधारण और कामचलाऊ किस्म के होते थे। भवन-निर्माण के लिए बाँस, मिट्टी, लकड़ी तथा कच्चे ईंट प्रधान साधन थे। अथर्ववेद के दो सूक्तों में गृह-निर्माण की प्रक्रिया का वर्णन बड़े विस्तार के साथ किया गया है (3, 12 और 6, 3)। किन्तु पारिभाषिक शब्दों की दुर्गेयता के कारण रचना पद्धति का यर्थात् विवेचन अत्यन्त दुष्कर हो जाता है। तथापि इनसे वैदिक भवनों की विशेषताओं का पर्याप्त परिचय प्राप्त होता है। पुरातत्व साहित्य के सामूहिक एवं साक्ष्य से ज्ञात होता है कि मकानों की दीवारें अधिकांशतः मिट्टी, कच्चे ईंट अथवा सरकंडे (रीड्स) आदि से बनी होती थी, जिस पर मिट्टी का पलस्तर होता था (एन्श्येन्ट इण्डिया नं. 10-11 पृ. 85)।

यद्यपि पके हुए ईटों का उल्लेख स्थान-स्थान पर यज्ञ वेदी के निर्माण के प्रसंग में हुआ है, किन्तु पुरातात्विक अवशेषों से भवन-निर्माण में पके ईटों का प्रयोग अज्ञात प्रतीत होता है। हस्तिनापुर के उत्खनन से उस युग से संबंधित स्तर में केवल एक खंडित ईंट प्राप्त हुई है। पके ईटों से बस्ती बनी एक भी दीवाल का अवशेष नहीं मिला। यही स्थिति रूपड़ के उत्खनन से भी प्रमाणित है। मकानों की छत प्रायः बाँस के लट्ठों और घास-फूस तथा रबर की सहायता से बनाई जाती थी। पहले बाँस के टुकड़े काट कर ढाँचा बनाने का काम होता था। ढाँचे को संभवतः 'अक्ष' कहते थे (अथर्ववेद 8,8, 18 अक्षुजालाभ्याम्) इस शब्द के अर्थ के संबंध में बड़ा मतभेद है। किन्तु मकान के प्रसंग में ठीक ही उपयुक्त प्रतीत होता है) इसके ऊपर छाजन के लिए 'पलद' तथा तृण रखे जाते थे। इसके पश्चात् पूरे छाजन को रस्सियों से बाँध दिया जाता था। छत को प्रायः छदिस और छन्दस नाम से अभिहित किया गया है। इस प्रकार मकानों

की बनावट बहुत कुछ आजकल के ग्रामीण झोपड़ों की भाँति रही होगी। इतना अवश्य है कि आज के युग में इन झोपड़ों के निर्माण का कारण दीनता है, किन्तु वैदिक युग में इसका कारण निर्माण कौशल का अभाव था। उस युग के समृद्ध लोग भी ऐसे ही वास्तु, हर्म्य और आयतन में रहते थे जो अन्य भवनों की अपेक्षा कुछ विशाल, हवादार तथा अनेक कक्षों से युक्त रहे होंगे।

वैदिक साहित्य में पारिवारिक जीवन में काम आने वाले नाना प्रकार के उपकरणों का उल्लेख मिलता है। उनकी विविधता तथा बनावट से भी तत्कालीन भौतिक जीवन पर कुछ प्रकाश पड़ता है। सर्वप्रथम हम घरेलू उपयोग की वस्तुओं में सोने और बैठने के लिए निर्मित विभिन्न आसनों पर विचार करेंगे।

याज्ञिक अनुष्ठानों के अवसर पर कुश के बने हुए प्रस्तर (ऋग्वेद 10/14/4, अथर्ववेद 16/2/6, तैत्तिरीय संहिता, 17/7/4, वाजसनेयी संहिता 2/18), बर्हि और कूर्च (तैत्तिरीय संहिता 7/5/8/5, बृहद् आरण्यक 2/11/1, ऐतरय आरण्यक 5/1/4) का उपयोग किया जाता था। बैठने और लेटने के लिए चटाइयाँ भी बनाई जाती थीं। कशिपुने (सेज) का निर्माण संभवतः नरकट तथा कट (बेंत की सहायता से होता था (अथर्व 6/138/5)। इसका निर्माण स्त्रियाँ करती थीं। राजा अपने ऐश्वर्य के सूचनार्थ अश्वमेध में हिरण्यकशिपु (स्वर्ण आसन) पर बैठता था (शतपथ ब्राह्मण 13, 4, 3, 1)।

ऐसा प्रतीत होता है कि समृद्धजनों के अन्तः पुरों में बहुमूल्य शैय्या एवं आसनों का उपयोग होता था। ऋग्वेद के एक सूक्त में तल्प, ब्रह्म, और प्रोष्ठ पर लेटी स्त्रियों का उल्लेख है। ये तीनों आसन संभवत रचना और सजावट की दृष्टि से एक दूसरे से भिन्न थे। 'तल्प' एक कीमती पलंग था, जिस पर विवाह के पश्चात् वर-वधू समागन के लिए शयन करते थे। अथर्ववेद के विवाह सूक्त (14/2/31) में वधू को प्रसन्नचित होकर तल्प पर आरोहण करने तथा पति के लिए प्रजा उत्पन्न करने का उपदेश दिया गया है। शतपथ ब्राह्मण में नियमतः उत्पन्न पुत्र की 'ताल्प' संज्ञा दी गई है। इससे भी इस विचार की पुष्टि होती है (13/1/6/2)। छान्दोग्य उपनिषद् (5/10/9) में गुरु तल्प की गणना पाँच पातकियों से की गई है। तल्प की रचना भी पवित्र उदुम्बर वृक्ष की लकड़ी से होती है (तै. ब्रा. 1/2/6/5)। इन सभी बातों पर ध्यान देने से प्रतीत होता है कि तल्प वैवाहिक शैय्या थी जिस पर पति-पत्नी शयन करते थे।

प्रोष्ठशय्या

ऋग्वेद में प्रोष्ठ शय्या में स्त्रियों का उल्लेख है। प्रोष्ठ का उल्लेख तैत्तिरीय ब्राह्मण (7/55/8) में भी हुआ है। यह काष्ठनिर्मित बेंच प्रतीत होता है। इसके निर्माण के विषय में विशेष वर्णन का अभाव है। तल्प और प्रोष्ठ के अतिरिक्त 'ब्रह्म' एक सुखद आसन था। जैसा इसके नाम से ही स्पष्ट है इसका उपयोग लोगों को (विशेषतः स्त्रियों को) एक स्थान से दूसरे स्थान पर ले जाने के लिए होता था। 'ब्रह्म' आधुनिक पालकी और डोली का प्राचीन प्रतिनिधि जान पड़ता है। अथर्ववेद के एक प्रसंग से यह विदित होता है कि श्रान्ता वधुएँ 'ब्रह्म' पर चढ़ती थीं (अथर्ववेद 4/20/3)। अवश्य ही इसका उपयोग वधू के पतिगृह गमन के समय होता रहा होगा (ऋग्वेद 10/38 सूर्या के विवाह के प्रसंग में हम सूर्या को रथ में बैठकर पतिगृह की ओर आते देखते हैं)। इस प्रकार की परम्परा आज भी भारत के ग्राम्य जीवन में प्रचलित दिखाई देती है।

परवर्ती संहिताओं अथर्ववेद (14/2/65; 15/3/2; तैत्तिरीय संहिता 7/5/8/5; वाजसनेयी संहिता 8/59; 16/16) तथा ऐतरेय ब्राह्मण 8/6/12, शतपथ ब्राह्मण 3/3/4/26, 6; 5/2/1/22; 5/4/4/1) में आसन्दी का भी उल्लेख है। इसका उपयोग केवल बैठने के लिए होता था। अतिथियों के आने पर उन्हें बैठने के लिए प्राय: आसन्दी दी जाती थी प्राप्त प्रसंगों के अनुशीलन से ज्ञात होता है कि राजाओं के अभिषेक के अवसर पर उन्हें बैठने के लिए ''आसन्दी'' की व्यवस्था थी। ऐसे अवसरों पर निश्चय ही आसन्दी का प्रयोग राजसिंहासन के रूप में होता था। यह बात जनमेजय की राजधानी के नाम ''आसन्दीवन्त'' से भी प्रमाणित होती है। ऐतरेयब्राह्मण (8/5/6) तथा शतपथ ब्राह्मण (5/4/4/1) में आसन्दी के अंग-प्रत्यंग का विस्तृत वर्णन मिलता है, जिससे अलंकारों से सुसज्जित इस आसन के गौरव का आभास मिलता है। शतपथ ब्राह्मण से ज्ञात होता है कि यह खादिर वृक्ष की लकड़ी अथवा उदुम्बर की लकड़ी से बनाया जाता था।

कमीर

स्मिथ के लिए उत्तर वैदिक साहित्य में सम्मान सूचक मन्त्र मिलते हैं। अथर्ववेद (3/5-6) में उन्हें मनीषी शिल्पकारों में स्थान दिया गया है। वह नित्य उपयोग के लिए धातु के बरतन तथा सोम रस पीने के लिए धातु के प्याले बनाता था।

रथकार— दे० पृ० 440 तृतीय परिच्छेद

कुलाल : कुलाल का वर्णन ऋग्वेद में नहीं मिलता है (दे० पृ० 441)।

हिरण्यकार : अथर्ववेद (3 5/6-7) में सुनार, और सूत (3/5/7) का उल्लेख है। इन सब को यहाँ उपस्तीन् कहा गया है (दे० पृ० 440)।

उत्तर वैदिक युग में भी ऊनी वस्त्रों का प्रयोग होता था। शतपथ ब्राह्मण (12/5/1/1) और वाजसनेयी संहिता (13/50) में ऊन (ऊर्जा) का अनेक बार उल्लेख हुआ है। यह बात विस्मय जनक है कि उत्तर वैदिक साहित्य में कपास का उल्लेख नहीं मिलता है। इससे स्पष्ट होता है कि ऊनी कपड़ों का विशेष उपयोग होता था। सभी प्रकार के वस्त्रों के लिए संभवत: वासस: शब्द का प्रयोग हुआ है। तैत्तिरीय संहिता (2/1/9/7); वाजसनेयी संहिता (2/52); और ऐतरेय ब्राह्मण (1/3) और ऐतरेय ब्राह्मण (1/3) में वाएस शब्द का प्रयोग है।

ऊर्णा शब्द का प्रयोग अनेकश: हुआ है शतपथ ब्राह्मण 12. 5. 1. 13, वाजसनेयी संहिता 13. 50, पंचविश ब्राह्मण 12, 11, 10। इससे अनुमान होता है कि ऊनी कपड़ों का विशेष उपयोग होता था। सिन्ध और पंजाब विशेष रूप से ऊनी वस्त्रों के केन्द्र थे। एतत् संबंधी चर्चा ऊपर हो गयी है (दे० पृ० 429 और 438)

धनवान् लोग प्राय: रेशमी वस्त्रों का उपयोग करते थे। अनेक स्थानों पर ''क्षौम'' और ''तार्प्य'' शब्द का उल्लेख हुआ है (अथर्ववेद 18/4/21), वसानस्तार्प्य चर मैत्रायणी सं. 3/6/7; शत. ब्रा. 5/3/5/20) ये वस्त्र बड़े ही मूल्यवान माने जाते थे। जिन कपड़ों पर कढ़ाई का काम होता था उन्हें पेशस् कहते थे। पेशस् का प्रयोग अधिकांशत: स्त्रियाँ श्रृंगार के लिए करती थीं। उत्सवों में सम्मिलित होने वाली नवयुवतियाँ

पति प्राप्ति की कामना से सुन्दर पेशस् धारण करती थीं (एतत् संबंधी चर्चा दे० पृ० 440)।

चटाई बिनना

गृह उद्योगों में दस्तकारी का वैदिक युग में प्रचलन था। वस्त्र उद्योग, चर्म उद्योग, रथ निर्माण और लकड़ी की तराशी हुई विभिन्न वस्तुओं के अतिरिक्त चटाई बिनना आदि छोटे-छोटे शिल्पों का भी प्रचार-प्रसार था। अथर्ववेद (6/12/8-9) में "कदिश" शब्द का प्रयोग चटाई बिनने या गद्दे बनाने के अर्थ में हुआ है, जिसको स्त्रियाँ नरकट के द्वारा बनाती थीं। इस कार्य के लिए नरकट को पहले पत्थरों से कूट-पीस कर महीन बना दिया जाता था। चटाई (कट) बनाने के लिए बेंतस (बेंत) का भी उपयोग होता था। बेंतस से चटाई बनाने वाले दस्तकार को "वाजसनेयी संहिता (30/8) में विदलकारी और तैत्तिरीय ब्राह्मण (3/4/51) में "विदलकार" कहा गया है। चटाई बिनने के लिए बेंतस को कैसे चीरना फाड़ना चाहिये अथर्ववेद (6/138/5) में इसका उल्लेख है।

इन व्यवसायों के अतिरिक्त कुछ अन्य ऐसे व्यवसाय भी थे, जो आर्थिक एवं सामाजिक दोनों दृष्टियों से हीन कहे जा सकते हैं। निश्चय ही इन व्यवसायों का अनुसरण निर्धन और साधन-विहीन लोग करते रहे होंगे (दे० पृ० 441 अन्तिम परिच्छेद)।